जिनागम ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक १९

☐ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्र मुनि 'दिनकर'

☐ द्वितीय संस्करण

☐ प्रकाशनतिथि
वीरनिर्वाण संवत् २५१७
वि. सं. २०४७
ई. सन् १९९१

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
श्री ब्रज मधुकर स्मृति भवन
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
ब्यावर - ३०५ ९०१

☐ मुद्रक
खंडेलवाला प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्रा. लि.
उदयपुर.
फोन : 76204

☐ मूल्य : ९५) रुपये

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

UTTARADHYAYANA SUTRA

[Original Text, Variant Readings, Hindi Version, Notes etc.]

Inspiring-Soul
Up-pravartaka Shasansevi Rev. Late Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor
(Late)Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator
Rajendra Muni Shastri

Publishers
Sri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

Jinagam Granthamala Publication No. 19

☐ **Direction**
Sadhwi Shri Umraokunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalal 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni

☐ **Promotor**
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendramuni 'Dinkar'

☐ **Second Edition**

☐ **Date of Publication**
Vir-Nirvana Samvat 2517
Vikram Samvat 2047, 1991

☐ **Publisher**
Sri Agam Prakashan Samiti
Sri Brij Madhukar Ismriti Bhawan,
Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.)
Beawar - 305 901

☐ **Printer**
Kotawala Printers & Publishers Pvt. Ltd.
Jaipur.
Phone : 76204

☐ **Price : Rs. 95/-**

समर्पण

जिनका जीवन अध्यात्मसाधना से अनुप्राणित था,

जिनका व्यक्तित्व संयमाराधना से समन्वित था,

जिन्होंने धर्म के विराटरूप का बोध कराया,

जिन्होंने आजीवन निर्ग्रन्थ श्रमण-परम्परा का प्रचार-प्रसार किया,

आज भी संघ जिनके ज्ञान-वैराग्यमय विचारों से उपकृत है,

जिनकी शिष्यानुशिष्य परंपरा विशाल विराटरूप में प्रवर्तमान है,

उन महामहिम, आदरणीय, श्रद्धास्पद

श्रमणशिरोमणि आचार्यश्री

भूधरजी महाराज

के कर-कमलों में

— मधुकर मुनि

(प्रथम संस्करण से)

प्रकाशकीय

उत्तराध्ययन-सूत्र के लिये यह मान्यता है कि श्रमण भगवान महावीर को अंतिमदेशना के समय अपृष्ठ व्याकरण के रूप में इसके छत्तीस अध्ययनों का संगुफन हुआ है। एतदर्थ यहां विशेष ऊहापोह करने का प्रसंग नहीं है। परन्तु मुख्य उल्लेखनीय यह है कि भगवान की समग्र-वाणी का यह सूत्र प्रतिनिधित्व करता है। इसी कारण जनसाधारण में उत्तराध्ययन सूत्र के पठन-पाठन की परम्परा विशेष रूप में देखी जाती है।

श्री आगम प्रकाशन समिति की निर्धारित नीति के अनुसार उत्तराध्ययन सूत्र का प्रथम संस्करण प्रकाशित किया गया था तथा अब पाठकों की मांग एवं आगम बत्तीसी के समस्त ग्रन्थों को उपलब्ध करने की दृष्टि से यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं।

ग्रन्थ के अनुवादक, विवेचक मुनि श्री राजेन्द्र मुनिजी शास्त्री ने अनुवाद के साथ विषय को स्पष्ट करने के लिये यथा प्रसंग आवश्यक विवेचन करके सर्वबोधगम्य बनाने का जो प्रयास किया है, वह प्रशंसनीय है एवं उनके प्रयास के प्रति प्रमोद भाव प्रगट करते हैं।

अंत में हम स्व. युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी म.सा. "मधुकर" के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं, जिनके परोक्ष आर्शीवाद का पाथेय लेकर समिति आगम प्रकाशन के लिये गतिशील है। साथ ही उन सभी महानुभावों का सधन्यवाद आभार मानते हैं, जिनका प्रत्यक्ष-परोक्ष बौद्धिक व आर्थिक सहयोग प्राप्त है।

विशेष निर्देश के रूप में यह ज्ञातव्य है कि आगम-बत्तीसी की मांग बढ़ते जाने से अनेक ग्रन्थों का पुनर्मुद्रण कराया जा रहा है। अभी तक आचारांगसूत्र भाग - 1, 2, ज्ञाताधर्म-कथांग, उपासक दशांग, अनुत्तरौपपातिक और अंतकृत्दशांग ... के द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। सूत्रकृतांगसूत्र का मुद्रण हो रहा है। इस कारण जीवाजीवाभिगम सूत्र द्वितीय भाग व निशीथसूत्र आदि चार छेद सूत्रों के प्रकाशन में विलम्ब हो रहा है।

इस विलम्ब को उपेक्षणीय मानकर आप सभी श्रुतनिधि के प्रचार-प्रसार के पवित्र अनुष्ठान में हमारे सहयोगी बनें, यह आकांक्षा है।

रतनचन्द मोदी — कार्यवाहक अध्यक्ष

सायर मल चोरडिया — महामंत्री

अमरचन्द मोदी — मंत्री

आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र - प्रथम संस्करण के प्रकाशन में विशिष्ट अर्थ सहयोगी

श्रीमान् सेठ मांगीलालजी सुराणा

[जीवन-रेखा]

राजस्थान के जैन बन्धु भारतवर्ष के विभिन्न अंचलों में जाकर बसे हैं और जो जहां बसा है वहां उसने केवल व्यावसायिक एवं औद्योगिक प्रगति ही नहीं की है, किन्तु वहां की सामाजिक प्रवृत्तियों में, शैक्षणिक क्षेत्र में और धर्मसेवा के विविध क्षेत्रों में भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

यहां जिनकी जीवनरेखा अंकित की जा रही है, वे श्रीमांगीलाल जो सा. सुराणा, दिवंगत धर्मप्रेमी, समाजसेवी, वात्सल्यमूर्ति सेठ गुलावचन्द जी सा. के सुपुत्र और मातुश्री पतास बाई के आत्मज हैं, जिन्होंने अपने पिताजी की परम्पराओं को केवल अक्षुण्ण ही नहीं रक्खा है, अपितु खूब समृद्ध भी किया है। आप सिकन्दराबाद (आन्ध्र) के सुराणा-उद्योग के स्वामी हैं।

आपका जन्म नागौर जिले के कुचेरा ग्राम में दिनाङ्क ८ नवम्बर सन् १९३० को हुआ था। उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद से आप वाणिज्य विषय में स्नातक हुए और फिर विधिस्नातक (LL. B.) की परीक्षा भी उत्तीर्ण की। उच्च शिक्षा प्राप्त करके आप अपने पैत्रिक व्यवसाय में लगे किन्तु आपका व्यक्तित्व उसी परिधि में नहीं सिमट रहा। व्यवसाय के साथ विभिन्न संस्थाओं के साथ आपका सम्पर्क हुआ, उनकी सेवा में उल्लेखनीय योग दिया, उनका संचालन किया और आज तक वह क्रम लगातार चालू है। आपके सार्वजनिक कार्यों की सूची विशाल है। जिन संस्थाओं के माध्यम से आप समाज की, धर्म की और देश की सेवा कर रहे हैं, उनकी सूची से ही आपके बहुमुखी कार्यकलापों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। आप निम्नलिखित संस्थाओं से सम्बद्ध हैं, या रहे हैं—

१. अध्यक्ष—श्री जैन सेवासंघ, बोलारम
२. प्रबन्धकारिणी सभा के सदस्य—अ. भारतीय स्था. जैन कॉन्फरेंस
३. भूतपूर्व अध्यक्ष—फैडरेशन ऑफ ए. पी. चेम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इंडस्ट्रीज
४. डाइरेक्टर—ए. पी. स्टेट ट्रेडिंग कॉरपोरेशन
५. डाइरेक्टर—इण्डियन ओवरसीज वैंक, मद्रास
६. अध्यक्ष—साधन-मन्दिर एज्युकेशन सोसाइटी (जो हिन्दी माध्यम से हाई स्कूल चलाती है)
७. अध्यक्ष—हिन्दीप्रचार सभा, बोलारम
८. अध्यक्ष—फ्रेण्ड्स एमेच्यूर आर्टिस्ट एसोसिएशन, हैदराबाद
९. ऑनरेरी जनरल सेक्रेटरी—अखिल भारतीय निर्मातासंघ, ए. पी. बोर्ड, (लगातार छह वर्षों तक)
१०. अध्यक्ष—नेच्यूर क्यूर कॉलेज, हैदराबाद
११. अध्यक्ष—आनन्द आध्यात्मिक शिक्षण संघ ट्रस्ट, सिकन्दराबाद
१२. अध्यक्ष—जैन श्रीसंघ, बोलारम

उल्लिखित तालिका से स्पष्ट है कि आपने आन्ध्रप्रदेश में अपनी उच्चतर योग्यता, सेवा और शिक्षा के कारण विशिष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त की है। किन्तु आपके व्यक्तित्व की पूरी विशिष्टता इतने मात्र से नहीं जानी जा सकती। आपके सार्वजनिक क्रियाकलाप बहुत विस्तृत हैं। यही कारण है कि शासन और प्रजाजन—दोनों ही आपकी योग्यता से लाभ उठाते रहते हैं। आप अनेक शासकीय सलाहकार समितियों में मनोनीत किये जाते हैं, यथा—लेबर एडवाइजरी बोर्ड, ज़ोनल रेलवे, पोस्ट एण्ड टेलीग्राफ मिनिमम वेजेज़ बोर्ड तथा इंडस्ट्रीज़ एडवाइजरी बॉडी आदि।

इस सब के अतिरिक्त आप अनेक अस्पतालों, स्काउट-प्रवृत्ति तथा रोटरी क्लब आदि से जुड़े हुए हैं। भारत-पाकिस्तान-युद्ध के समय आन्ध्रप्रदेशीय डिफेन्स कमेटी की, जो गवर्नमेण्ट बॉडी थी, कार्यकारिणी समिति के मनोनीत सदस्य रह चुके हैं।

स्पष्ट है कि आप जैन-जैनेतर समाज में ही नहीं, शासकीय वर्तुलों में भी समान रूप से सम्मान्य हैं।

सुराणा जी भरे-पूरे परिवार के भी धनी हैं। भाई-बहिन और पुत्रों और पुत्रियों से समृद्ध हैं।

प्रस्तुत आगम के प्रकाशन में आपकी ओर से प्राप्त विशिष्ट आर्थिक सहयोग के लिए समिति आपकी आभारी है। □□

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

कार्यकारिणी समिति

१.	महासती श्री उमरावकुंवरजी म. 'अर्चना'	निर्देशन	
२.	श्री किशनलालजी बैताला	अध्यक्ष	मद्रास
३.	श्री रतनचन्दजी मोदी	कार्यवाहक अध्यक्ष	ब्यावर
४.	श्री धनराजजी विनायकिया	उपाध्यक्ष	ब्यावर
५.	श्री पारसमलजी चोरडिया	उपाध्यक्ष	मद्रास
६.	श्री हुक्मीचन्दजी पारख	उपाध्यक्ष	जोधपुर
७.	श्री एस. किशनचन्दजी चोरडिया	उपाध्यक्ष	मद्रास
८.	श्री जसराजजी पारख	उपाध्यक्ष	दुर्ग
९.	श्री जी. सायरमलजी चोरडिया	महामंत्री	मद्रास
१०.	श्री अमरचन्दजी मोदी	मंत्री	ब्यावर
११.	श्री ज्ञानराजजी मूथा	मंत्री	पाली
१२.	श्री ज्ञानचन्दजी विनायकिया	सहमंत्री	ब्यावर
१३.	श्री जंवरीलालजी शिशोदिया	कोषाध्यक्ष	ब्यावर
१४.	श्री अमरचन्द जी बोथरा	कोषाध्यक्ष	मद्रास
१५.	श्री जालमसिंहजी मेड़तवाल	परामर्शदाता	ब्यावर
१६.	श्री प्रकाशचन्दजी जैन	परामर्शदाता	नागौर
१७	श्री एस. बादलचन्दजी चोरडिया	सदस्य	मद्रास
१८.	श्री मूलचन्दजी सुराणा	सदस्य	नागौर
१९.	श्री दुलीचन्दजी चोरडिया	सदस्य	मद्रास
२०	श्री प्रकाशचन्दजी चौपड़ा	सदस्य	ब्यावर
२१.	श्री मोहनसिंहजी लोढा	सदस्य	ब्यावर
२२	श्री सागरमलजी बैताला	सदस्य	इन्दौर
२३.	श्री जतनराजजी मेहता	सदस्य	मेड़ता सिटी
२४	श्री भंवरलालजी श्रीश्रीमाल	सदस्य	दुर्ग
२५	श्री चन्दनमलजी चोरडिया	सदस्य	मद्रास
२६	श्री सुमेरमलजी मेड़तिया	सदस्य	जोधपुर
२७	श्री आसूमलजी बोहरा	सदस्य	जोधपुर

आदि-वचन
(प्रथम संस्करण से)

विश्व के जिन दार्शनिकों—दृष्टाग्रों/चिन्तकों ने "ग्रात्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या ग्रात्म-साक्षात्कार किया है उन्होंने पर-हितार्थ ग्रात्म-विकास के साधनों तथा पद्धतियों पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। ग्रात्मा तथा तत्सम्वन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन ग्राज ग्रागम/पिटक/वेद/उपनिपद् ग्रादि विभिन्न नामों से विश्रुत है।

जैन दर्शन की यह धारणा है कि ग्रात्मा के विकारों—राग द्वेष ग्रादि को, साधना के द्वारा दूर किया जा सकता है, ग्रौर विकार जव पूर्णतः निरस्त हो जाते हैं तो ग्रात्मा की शक्तियाँ ज्ञान/सुख/वीर्य ग्रादि सम्पूर्ण रूप में उद्घाटित, उद्भासित हो जाती हैं। शक्तियों का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है ग्रौर सर्वज्ञ/ग्राप्त-पुरुप की वाणी; वचन/कथन/प्ररूपणा—"ग्रागम" के नाम से ग्रभिहित होती है। ग्रागम ग्रर्थात् तत्त्वज्ञान, ग्रात्म-ज्ञान तथा ग्राचार-व्यवहार का सम्यक् परिवोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/ग्राप्तवचन।

सामान्यतः सर्वज्ञ के वचनों/वाणी का संकलन नहीं किया जाता, वह विखरे सुमनों की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट ग्रतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुप, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं, संघीय जीवन-पद्धति में धर्म-साधना को स्थापित करते हैं, वे धर्मप्रवर्तक/ग्ररिहंत या तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारिणी वाणी को उन्हीं के ग्रतिशयसम्पन्न विद्वान् शिष्य गणधर संकलित कर "ग्रागम" या शास्त्र का रूप देते हैं ग्रर्थात् जिन-वचन-रूप सुमनों की मुक्त वृष्टि जव मालारूप में ग्रथित होती है तो वह "ग्रागम" का रूप धारण करती है। वही ग्रागम ग्रर्थात् जिन-प्रवचन ग्राज हम सव के लिए ग्रात्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत है।

"ग्रागम" को प्राचीनतम भापा में "गणिपिटक" कहा जाता था। ग्ररिहंतों के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशांग में समाहित होते हैं ग्रौर द्वादशांग/ग्राचारांग-सूत्रकृतांग ग्रादि के अंग-उपांग ग्रादि ग्रनेक भेदोपभेद विकसित हुए हैं। इस द्वादशांगी का ग्रध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए ग्रावश्यक ग्रौर उपादेय माना गया है। द्वादशांगी में भी वारहवाँ अंग विशाल एवं समग्र श्रुतज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका ग्रध्ययन वहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एवं श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यतः एकादशांग का ग्रध्ययन साधकों के लिए विहित हुग्रा तथा इसी ग्रोर सवकी गति/मति रही।

जव लिखने की परम्परा नहीं थी, लिखने के साधनों का विकास भी ग्रल्पतम था, तव ग्रागमों/शास्त्रों को स्मृति के ग्राधार पर या गुरु-परम्परा से कंठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवतः इसलिए ग्रागम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया ग्रौर इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दों का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष वाद तक ग्रागमों का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही ग्राधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्वल्य, गुरुपरम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव ग्रादि ग्रनेक कारणों से धीरे-धीरे ग्रागमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद-मात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणों के लिए यह जहाँ चिन्ता का विपय था, वहाँ चिन्तन की तत्परता एवं जागरूकता को चुनौती भी थी। वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के संरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने विद्वान् श्रमणों का एक सम्मेलन बुलाया ग्रौर स्मृति-दोप से लुप्त होते ग्रागमज्ञान को सुरक्षित एवं संजोकर रखने का ग्राह्वान किया। सर्व-सम्मति से ग्रागमों को लिपि-बद्ध

किया गया। जिनवाणी को पुस्तकारूढ करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुतः आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ। संस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) में आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमों की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी; पर लिपिवद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रों का अन्तिम स्वरूप-संस्कार इसी वाचना में सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकारूढ होने के बाद आगमों का स्वरूप मूल रूप में तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-संघों के आन्तरिक मतभेद, स्मृतिदुर्बलता, प्रमाद एवं भारतभूमि पर बाहरी आक्रमणों के कारण विपुल ज्ञान-भण्डारों का विध्वंस आदि अनेकानेक कारणों से आगम ज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एवं विलुप्त होने से नहीं रुकी। आगमों के अनेक महत्त्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढार्थ का ज्ञान, छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव में, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नहीं होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणों से आगम की पावन धारा संकुचित होती गयी।

विक्रमीय सोलहवीं शताब्दी में वीर लोंकाशाह ने इस दिशा में क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमों के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुनः चालू हुआ। किन्तु कुछ काल बाद उसमें भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धांतिक विग्रह तथा लिपिकारों का अत्यल्प ज्ञान आगमों की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध में बहुत बड़ा विघ्न बन गया। आगम-अभ्यासियों को शुद्ध प्रतियां मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठकों को कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्वत्-प्रयासों से आगमों की प्राचीन चूर्णियाँ, निर्युक्तियाँ, टीकायें आदि प्रकाश में आईं और उनके आधार पर आगमों का स्पष्ट-सुगम भावबोध सरल भाषा में प्रकाशित हुआ। इसमें आगम-स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनों को सुविधा हुई। फलतः आगमों के पठन-पाठन की प्रवृत्ति बढ़ी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कहीं अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढ़ी है। जनता में आगमों के प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है। इस रुचि-जागरण में अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानों तथा भारतीय जैनेतर विद्वानों की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते हैं।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताब्दी से व्यवस्थित चल रहा है। इस महनीय-श्रुत-सेवा में अनेक समर्थ श्रमणों एवं पुरुषार्थी विद्वानों का योगदान रहा है। उनकी सेवायें नींव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हों, पर विस्मरणीय तो कदापि नहीं। स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखों के अभाव में हम अधिक विस्तृत रूप में उनका उल्लेख करने में असमर्थ हैं, पर विनीत व कृतज्ञ तो हैं ही। फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरों का नामोल्लेख अवश्य करना चाहेंगे।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमों—३२ सूत्रों का प्राकृत से खड़ी बोली में अनुवाद किया था। उन्होंने अकेले ही बत्तीस सूत्रों का अनुवाद कार्य सिर्फ ३ वर्ष व १५ दिन में पूर्ण कर अद्भुत कार्य किया। उनकी दृढ लगनशीलता, साहस एवं आगमज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वतः परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय में प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगमपठन बहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी-तेरापंथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमल जी महाराज का संकल्प

मैं जब प्रातःस्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म० के सान्निध्य में आगमों का अध्ययन-अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलांक की टीकाओं से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्हीं के आधार पर मैं अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेवश्री ने कई बार अनुभव किया—यद्यपि यह संस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी है, अब तक उपलब्ध संस्करणों में प्रायः शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूलपाठों में व वृत्ति में कहीं-कहीं अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरूह तो हैं ही। चूंकि गुरुदेवश्री स्वयं आगमों के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हें आगमों के अनेक गूढ़ार्थ गुरु-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अतः वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमों का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्य ज्ञान वाले श्रमण-श्रमणी एवं जिज्ञासु जन लाभ उठा सकें। उनके मन की यह तड़प कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियों के कारण उनका यह स्वप्न-संकल्प साकार नहीं हो सका, फिर भी मेरे मन में प्रेरणा बन कर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल में आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी म०, विद्वद्रत्न श्री घासीलाल जी म० आदि मनीषी मुनिवरों ने आगमों की हिन्दी, संस्कृत, गुजराती आदि भाषाओं में सुन्दर विस्तृत टीकायें लिखकर या अपने तत्त्वावधान में लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम-सम्पादन की दिशा में बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। विद्वानों ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उस में व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान में आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान में तेरापंथ सम्प्रदाय में आचार्य श्री तुलसी एवं युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व में आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए हैं उन्हें देखकर विद्वानों को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय में काफी मतभेद की गुंजाइश है, तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल' आगमों की वक्तव्यता को अनुयोगों में वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा में प्रयत्नशील हैं उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमों में उनकी कार्यशैली की विशदता एवं मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम-साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, विश्रुत मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमों के आधुनिक सम्पादन की दिशा में स्वयं भी कार्य कर रहे है तथा अनेक विद्वानों का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहंगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन में एक संकल्प उठा। आज प्रायः सभी विद्वानों की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कहीं आगमों का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कहीं विशाल व्याख्याएँ की जा रही हैं। एक पाठक के लिए दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को सरलतापूर्वक आगमज्ञान प्राप्त हो सके, एतदर्थ मध्यममार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमों का ऐसा एक संस्करण होना चाहिए जो सरल हो, सुबोध हो, संक्षिप्त और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव ऐसा ही चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य में रख कर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की

थी, सुदीर्घ चिन्तंन के पश्चात् वि. सं. २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय में स्व. गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री व्रजलाल जी म. की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरों तथा सद्गृहस्थों का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नहीं होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एवं प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०, स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकुंवरजी म० की सुशिष्याएँ महासती दिव्यप्रभाजी एम. ए., पी-एच. डी.; महासती मुक्तिप्रभाजी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकुंवरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् पं० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, स्व. पं. श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एवं श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियों का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एवं महेन्द्रमुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकुंवरजी, महासती श्री झणकारकुंवरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसंग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिंहजी लोढ़ा, तथा श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप में हो आता है, जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नों से आगम समिति अपने कार्य में इतनी शीघ्र सफल हो रही है। चार वर्ष के इस अल्पकाल में ही उन्नीस आगम-जिल्दों का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमों का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियों की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपोपूत आत्माओं के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसंघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-संत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनिजनों के सद्भाव-सहकार के बल पर यह संकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)

□□

अनुवादक की कलम से

(प्रथम संस्करण से)

वैदिकपरम्परा में जो स्थान गीता का है, बौद्धपरम्परा में जो स्थान धम्मपद का है, इस्लाम में जो स्थान कुरान का है, पारसियों में जो स्थान अवेस्ता का है, ईसाइयों में जो स्थान बाईबिल का है, वही स्थान जैनपरम्परा में उत्तराध्ययन का है। उत्तराध्ययन भगवान् महावीर की अनमोल वाणी का अनूठा संग्रह है। यह जीवनसूत्र है। आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं नैतिक जीवन के विभिन्न दृष्टिकोणों का इसमें गहराई से चिन्तन है। एक प्रकार से इसमें जीवन का सर्वांगीण विश्लेषण है। यही कारण है कि उत्तराध्ययनसूत्र पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और अनेक आचार्यों की वृत्तियाँ संस्कृतभाषा में लिखी गई हैं। गुजराती और हिन्दी भाषा में भी इस पर बृहत् टीकाएँ लिखी गई हैं। समय-समय पर मूर्धन्य मनीषीगणों की कलमें इस आगम के पावन संस्पर्श को पाकर धन्य हुई हैं। यह एक ऐसा आगम है, जो गम्भीर अध्येताओं के लिए भी उपयोगी है। सामान्य साधकों के लिए भी साधना की इसमें पर्याप्त सामग्री है।

उत्तराध्ययन के महत्त्व, उसकी संरचना, विषय-वस्तु आदि सभी पहलुओं पर परम श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव साहित्यमनीषी श्री देवेन्द्रमुनिजी शास्त्री ने अपनी विस्तृत प्रस्तावना में चिन्तन किया है। अतः मैं उस सम्बन्ध में पुनरावृत्ति न कर प्रबुद्ध पाठकों को उसे ही पढ़ने की प्रेरणा दूँगा। मुझे तो यहाँ संक्षेप में ही अपनी बात कहनी है।

साधना-जीवन में प्रवेश करने के अनन्तर दशवैकालिकसूत्र के पश्चात् उत्तराध्ययनसूत्र को परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म. से मैंने पढ़ा। पढ़ते-पढ़ते मेरा हृदय नत हो गया इस बहुमूल्य आगम-रत्न पर। मुझे लगा, यह आगम रंग-विरंगे सुगन्धित फूलों के गुलदस्ते की तरह है, जिसका मधुर सौरभ पाठक को मुग्ध किये बिना नहीं रह सकता।

उत्तराध्ययन का प्रारम्भ ही विनय से हुआ है। विनय प्रगति का मूलमंत्र है। साधक को गुरुजनों का अनुशासन किस प्रकार मान्य करना चाहिए, यह बात इसमें विस्तार से निरूपित है। साधक को किस प्रकार बोलना, बैठना, खड़े होना, अध्ययन करना आदि सामान्य समझी जाने वाली क्रियाओं पर भी गहराई से चिन्तन कर कहा है—ये क्रियाएँ जीवन-निर्माण की नींव की ईंट के रूप में हैं। इन्हीं पर साधना का भव्य भवन आधृत है। इन सामान्य बातों को बिना समझे, बिना अमल में लाए यदि कोई प्रगति करना चाहे तो वह कदापि सम्भव नहीं है। आज हम देख रहे हैं—परिवार, समाज और राष्ट्र में विग्रह, द्वन्द्व का दावानल सुलग रहा है। अनुशासनहीनता दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ रही है। ऐसी स्थिति में यदि प्रस्तुत शास्त्र के प्रथम अध्ययन का भाव ही मानव के मन में घर कर जाये तो सुख-शांति की सुरीली स्वर-लहरियाँ झनझना सकती हैं।

व्यक्ति जरा-सा कष्ट आने पर कतराता है। पर उसे पता नहीं कि जीवन-स्वर्ण कष्टों की अग्नि में तपकर ही निखरता है। बिना कष्ट के जीवन में निखार नहीं आता, इसीलिए परीषह-जय के सम्बन्ध में चिन्तन कर यह बताया गया है कि परीषह से भयभीत न बनो।

जीवन के लिए मानवता, शास्त्रश्रवण, श्रद्धा और पुरुषार्थ, यह चतुष्टय आवश्यक है। मानव-जीवन मिल भी गया, किन्तु कूकर और शूकर की तरह वासना के दलदल में फँसा रहा, धर्मश्रवण नहीं किया, श्रवण करने पर भी उस पर दृढ निष्ठा नहीं रखी और न पुरुषार्थ ही किया तो सफलतादेवी चरण चूम नहीं सकती। इसलिए इन चारों तत्त्वों पर बल देकर साधक को उत्प्रेरित किया है कि वह अपने जीवन को पावन बनाये।

जीवन में धन, जन, परिजन ही सब कुछ नहीं हैं। जीवन की अन्तिम घड़ियों में वे शरणरूप नहीं हो सकते। धर्म ही सच्चा शरण है। इसी की शरण में जाने से जीवन मंगलमय बनता है। जो फूल खिलता है, वह एक दिन अवश्य ही मुर्झाता है। जन्म लेने वाला मृत्यु का ग्रास बनता ही है, पर मृत्यु कैसी हो, यह प्रश्न अतीत काल से ही दार्शनिकों के मन-मस्तिष्क को झकझोरता रहा है। उसी दार्शनिक पहलू को पांचवें अध्ययन में सुलझाया गया है। छट्ठे अध्ययन में प्रतिपादित है कि आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह से मुक्त होने वाला साधक निर्ग्रन्थ कहलाता है। आसक्ति पश्चात्ताप का कारण है और अनासक्ति सच्चे सुख का मार्ग है, इसलिए साधक को लोभ से मुक्त होकर अलोभ की ओर कदम बढ़ाना चाहिए, यह भाव कपिल-कथानक के द्वारा व्यक्त किया गया है। जब साधक साधना की उच्चतर भूमिका पर पहुँच जाता है तो फिर उसे संसार के पदार्थ अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते। नमि राजर्षि का कथानक इसका ज्वलन्त प्रमाण है। मानव का जीवन क्षणभंगुर है। हवा का तीक्ष्ण झौंका वृक्ष के पीले पत्ते को नीचे गिरा देता है, वही स्थिति मानव के जीवन की है। जो स्वयं को और दूसरों को बंधनों से मुक्त करता है, वही सच्चा ज्ञान है। 'बहुश्रुत' अध्ययन में उसी ज्ञान के सम्बन्ध में गहराई से विश्लेषण किया गया है। जाति से कोई महान् नहीं होता। महान् होता है—सद्गुणों के कारण। सद्गुणों को धारण करने से 'हरिकेशबल' मुनि चाण्डालकुल में उत्पन्न होने पर भी देवों के द्वारा अर्चनीय बन गये। जब स्व-स्वरूप के संदर्शन होते हैं, तब कर्म-बन्धन शिथिल होकर नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को चित्त मुनि ने विविध प्रकार से समझाने का प्रयास किया, पर वह समझ न सका। अतीत जीवन के सुदृढ संस्कार वर्तमान के सघन आवरण को एक क्षण में नष्ट कर देते हैं और आवरण नष्ट होते ही भृगु पुरोहित की तरह साधक साधना के पावन पथ को स्वीकार कर लेते हैं। भिक्षु कौन बनता है? और भिक्षु बनकर क्या करना चाहिए? इसका वर्णन 'स भिक्खू' अध्ययन में प्रतिपादित किया गया है। स्वरूप-बोध और स्वात्मरमणता ही ब्रह्मचर्य का विशद रूप है। ब्रह्मचर्य ही सही समाधि है। जो व्यक्ति भिक्षु बनकर के भी साधना से जी चुराता है, वह 'पाप-श्रमण' है। 'यदि तुम स्वयं अभय चाहते हो तो दूसरों को भी अभय दो', यह बात 'संयतीय' अध्ययन में व्यक्त की गई है। ज्यों-ज्यों सुख-सुविधायें उपलब्ध होती हैं, त्यों-त्यों मानव परतंत्रता में आबद्ध होता जाता है। मृगापुत्र के अध्ययन में यह रहस्य उजागर हुआ है। ऐश्वर्य के अम्बार लगने से और विराट् परिवार होने से कोई 'नाथ' नहीं होता। नाथ वही है, जिसमें विशुद्ध विवेक तथा सच्ची अनासक्तता-निस्पृहता उत्पन्न हो गई है। जैसा बीज होगा, वैसा ही फल प्राप्त होगा। यदि अच्छा फल चाहते हो तो अच्छा कार्य करो। 'समुद्रपालीय' अध्ययन में इसी तथ्य को व्यक्त किया है। महापुरुषों का हृदय स्वयं के लिए वज्र से भी अधिक कठोर होता है तो दूसरों के लिए मक्खन से भी अधिक मुलायम। पशुओं की करुण चीत्कार ने अरिष्टनेमि को भोग से त्याग की ओर बदल दिया तो राजमती की मधुर और विवेकपूर्ण वाणी ने रथनेमि के जीवन की दिशा बदल दी। भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर की परम्परा का तुलनात्मक अध्ययन भी तेईसवें अध्ययन में प्रतिपादित है।

माता का जीवन में अनूठा स्थान है। वह पुत्र को सन्मार्ग बताती है। जैनदर्शन में समिति और गुप्ति को प्रवचनमाता कहा है। सम्यक् प्रवृत्ति 'समिति' है और अशुभ से निवृत्ति 'गुप्ति' है। भारतीय इतिहास में यज्ञ और पूजा का अत्यधिक महत्त्व रहा है। वास्तविक यज्ञ की परिभाषा पच्चीसवें अध्ययन में स्पष्ट की गई है

और ब्राह्मण का सच्चा स्वरूप भी इसमें प्रकट किया गया है। सम्यक् आचार ही समाचारी है। यह 'समाचारी' अध्ययन में प्रतिपादित है। संघ-व्यवस्था के लिए अनुशासन आवश्यक है। यह 'खलुंकीय' नामक सत्ताईसवें अध्ययन में बताया गया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, ये मोक्ष के साधन हैं और इनकी परिपूर्णता ही मोक्ष है। उनतीसवें अध्ययन में सम्यक्त्वपराक्रम के सम्बन्ध में ७४ जिज्ञासाओं एवं समाधानों के द्वारा बहुत ही विस्तार के साथ अनेक विषयों का प्रतिपादन किया गया है। तप एक दिव्य और भव्य रसायन है, जो साधक को परभाव से हटा कर स्वभाव में स्थिर करता है। तप का विशद विश्लेषण जैनदर्शन की अपनी देन है। विवेकयुक्त प्रवृत्ति चरणविधि है। उससे संयम परिपुष्ट होता है। अविवेकयुक्त प्रवृत्ति से संयम दूषित होता है। इसीलिए चरणविधि में विवेक पर बल दिया है। साधना में प्रमाद सबसे बड़ा बाधक है, इसलिए प्रमाद के स्थानों से सतत सावधान रहने हेतु 'अप्रमाद' अध्ययन में विस्तार से विश्लेषण किया गया है। वि-भाव से कर्म-बन्धन होता है और स्व-भाव से कर्म से मुक्ति मिलती है। कर्म की मूल प्रकृतियों का 'कर्मप्रकृति' अध्ययन में वर्णन है। कषाययुक्त प्रवृत्ति कर्मबन्धन का कारण है। शुभाशुभ प्रवृत्ति का मूल आधार शुभ एवं अशुभ लेश्याएँ हैं। लेश्याओं का इस अध्ययन में विश्लेषण है। वीतरागता के लिए असंगता आवश्यक है। केवल गृह का परित्याग करने मात्र से कोई अनगार नहीं बनता। जीव और अजीव का जब तक भेदज्ञान नहीं होता, तब तक सम्यग्दर्शन का दिव्य आलोक जगमगा नहीं सकता, 'जीवाजीवविभक्ति' अध्ययन में इनके पृथक्करण का विस्तृत निरूपण है।

इस प्रकार यह आगम विविध विषयों पर गहराई से चिन्तन प्रस्तुत करता है। विषय-विश्लेषण की दृष्टि से गागर में सागर भरने का महत्त्वपूर्ण कार्य इस आगम में हुआ है। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण जैनदर्शन, जैनचिन्तन और जैनधर्म का सार इस एक आगम में आ गया है। इस आगम का यदि कोई गहराई से एवं सम्यक् प्रकार से परिशीलन कर ले तो उसे जैनदर्शन का भलीभांति परिज्ञान हो सकता है।

उत्तराध्ययन की यह मौलिक विशेषता है कि अनेकानेक विषयों का संकलन इसमें हुआ है। दशवैकालिक और आचारांग में मुख्य रूप से श्रमणाचार का निरूपण है। सूत्रकृतांग में दार्शनिक तत्त्वों की गहराई है। स्थानांग और समवायांग आगम कोशशैली में निर्मित होने से उनमें आत्मा, कर्म, इन्द्रिय, शरीर, भूगोल, खगोल, नय, निक्षेप आदि का वर्णन है, पर विश्लेषण नहीं है। भगवती में विविध विषयों की चर्चाएँ व्यापक रूप से की गई हैं। पर वह इतना विराट् है कि सामान्य व्यक्ति के लिए उसका अवगाहन करना सम्भव नहीं है। ज्ञातासूत्र में कथाओं की ही प्रधानता है। उपासकदशांग में श्रावक-जीवन का निरूपण है। अन्तकृद्दशा और अनुत्तरौपपातिक में साधकों के उत्कृष्ट तप का निरूपण है। प्रश्नव्याकरण में पांच आश्रवों और संवरों का विश्लेषण है तो विपाक में पुण्य-पाप के फल का निरूपण है। नन्दी में पांच ज्ञान के सम्बन्ध में चिन्तन है। अनुयोगद्वार में नय और प्रमाण का विश्लेषण है। छेदसूत्रों में प्रायश्चित्तविधि का वर्णन है। प्रज्ञापना में तत्त्वों का विश्लेषण है। राजप्रश्नीय में राजा प्रदेशी और केशीश्रमण का मधुर संवाद है। इस प्रकार आगम-साहित्य में जीवनस्पर्शी विचारों का गम्भीर चिन्तन हुआ है। किन्तु उत्तराध्ययन में जो सामग्री संक्षेप में संकलित हुई है, वैसी सामग्री अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए अन्य आगमों से इस आगम की अपनी इयत्ता है, महत्ता है। इसमें धर्मकथाएँ भी हैं, उपदेश भी और तत्त्वचर्चाएँ भी हैं। त्याग-वैराग्य की विमल धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। धर्म और दर्शन तथा ज्ञान, दर्शन और चारित्र का इसमें सुन्दर संगम हुआ है।

मेरी चिरकाल से इच्छा थी कि मैं उत्तराध्ययन का अनुवाद, विवेचन व सम्पादन करूँ। उस इच्छा की पूर्ति महामहिम युवाचार्य श्रीमधुकरमुनि जी की पावन प्रेरणा से सम्पन्न हो रही है। युवाचार्यश्री ने यदि प्रबल प्रेरणा न दी होती तो सम्भव है अभी इस कार्य में अधिक विलम्ब होता। आगम का सम्पादन, लेखन करना बहुत

ही परिश्रमसाध्य कार्य है। वीतराग की वाणी के गम्भीर रहस्य को समझ कर उसे भाषा में उतारना और भी कठिन कार्य है, पर मेरा परम सौभाग्य है कि आगम-साहित्य के गम्भीर ज्ञाता, परमश्रद्धेय, सद्गुरुवर्य, उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी म० सा० तथा साहित्यमनीषी पूज्य गुरुदेव श्री देवेन्द्रमुनिजी शास्त्री का सतत मार्गदर्शन मेरे पथ को आलोकित करता रहा है। उन्हीं की असीम कृपा से इस महान् कार्य को करने में मैं सक्षम हो सका हूँ। गुरुदेवश्री ने इस गौरव कार्य को सम्पन्न करने में जो श्रम किया वह शब्दातीत है।

मेरे अनुवाद और सम्पादन को देखकर स्नेहमूर्ति श्रीचन्द सुराणा 'सरस' ने मुक्तकंठ से सराहना की, जिससे मुझे कार्य करने में अधिक उत्साह उत्पन्न हुआ और मैं गुरुजनों के आशीर्वाद से यह कार्य शीघ्र सम्पन्न कर सका।

सम्पादन करते समय मैंने अनेक प्रतियों का उपयोग किया है। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और वृत्तियों का भी यथास्थान उपयोग किया है। वृत्ति-साहित्य में अनेक कथाएँ आई हैं, जो विषय को परिपुष्ट करती हैं। चाहते हुए भी ग्रन्थ की काया अधिक बड़ी न हो जाय, इसलिए मैंने इसमें वे कथाएँ नहीं दी हैं। ज्ञात व अज्ञात रूप में जिन किन्हीं का भी सहयोग मिला है—उसके प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

यहाँ पर मैं परमादरणीया, पूज्य मातेश्वरी महासती श्री प्रकाशवतीजी को भी विस्मृत नहीं कर सकता, जिनके कारण ही मैं संयम-साधना के पथ पर अग्रसर हुआ हूँ तथा परम श्रद्धेया सद्गुरुणी जी, प्रज्ञामूर्ति पुष्पवती जी को भी भूल नहीं सकता, जिनके पथ-प्रदर्शन ने मेरे जीवन को विचारों के आलोक से आपूरित किया है तथा ज्येष्ठ भ्राता श्री रमेशमुनि जी का हार्दिक स्नेह भी मेरे लिए सम्बल रूप रहा है। दिनेशमुनिजी व नरेशमुनिजी को भी विस्मृत नहीं कर सकता, जिनकी सद्भावना सतत मेरे साथ रही है तथा नानीजी स्वर्गीय प्रभावतीजी म. का भी मेरे पर महान् उपकार रहा है। महासती नानकुंवरजी म०, महासती हेमवतीजी का स्नेहपूर्ण आशीर्वाद भी मेरे लिए मार्गदर्शक रहा है। ज्ञात व अज्ञात रूप में जिन किन्हीं का भी सहयोग मुझे मिला है, मैं उन सभी का हार्दिक आभारी हूँ।

आशा है कि मेरा यह प्रयास पाठकों को पसन्द आयेगा। मूर्धन्य मनीषियों से मेरा साग्रह निवेदन है कि वे अपने चिन्तनीय सुझाव हितबुद्धि से मुझे प्रदान करें, ताकि अगले संस्करण को और अधिक परिष्कृत किया जा सके।

—राजेन्द्रमुनि शास्त्री

जैन स्थानक
[illegible]
दि. २ जनवरी, १९८३

उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन

(प्रथम संस्करण से)

☐ देवेन्द्रमुनि शास्त्री

वर्त्तमान में उपलब्ध जैन आगम-साहित्य को अंग, उपांग, मूल और छेद इन चार वर्गों में विभक्त किया गया है। इस वर्गीकरण का उल्लेख समवायांग और नन्दीसूत्र में नहीं है। तत्त्वार्थभाष्य में सर्वप्रथम अंग के साथ उपांग शब्द का प्रयोग आचार्य उमास्वाति ने किया है।[1] उसके पश्चात् सुखबोधा-समाचारी में अंगबाह्य के अर्थ में 'उपांग' शब्द का प्रयोग आचार्य श्रीचन्द्र ने किया।[2] जिस अंग का जो उपांग है, उसका निर्देश "विधिमार्ग-प्रपा" ग्रन्थ में आचार्य जिनप्रभ ने किया है।[3] मूल और छेद सूत्रों का विभाग किस समय हुआ? यह साधिकार तो नहीं कहा जा सकता, पर यह स्पष्ट है कि आचार्य भद्रबाहु ने उत्तराध्ययन और दशवैकालिकनिर्युक्ति में इस सम्बन्ध में कोई भी चर्चा नहीं की है और न जिनदासगणी महत्तर ने ही अपनी उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक की चूर्णियों में इस सम्बन्ध में किंचिन्मात्र भी चिन्तन किया है। न आचार्य हरिभद्र ने दशवैकालिकवृत्ति में और न शान्त्याचार्य ने उत्तराध्ययनवृत्ति में मूलसूत्र के सम्बन्ध में चर्चा की है। इससे यह स्पष्ट है कि ग्यारहवीं शताब्दी तक 'मूलसूत्र' इस प्रकार का विभाग नहीं हुआ था। यदि विभाग हुआ होता तो निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्ति में अवश्य ही निर्देश होता।

'श्रावकविधि' ग्रन्थ के लेखक धनपाल ने, जिनका समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है, ४५ आगमों का निर्देश किया है।[4] विचारसारप्रकरण के लेखक प्रद्युम्नसूरि ने भी ४५ आगमों का निर्देश किया है, जिनका समय तेरहवीं शताब्दी है। उन्होंने भी मूलसूत्र के रूप में विभाग नहीं किया है। आचार्य श्री प्रभाचन्द्र ने 'प्रभावकचरित्र' में सर्वप्रथम अंग, उपांग, मूल, छेद, यह विभाग किया है।[5] उसके बाद उपाध्याय समयसुन्दरजी

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र—पं. सुखलालजी, विवेचन, पृ. ९
   (ख) अन्यथा हि अनिबद्धमंगोपांगशः समुद्रप्रतरणवद् दुरध्यवसेयं स्यात्। —तत्त्वार्थभाष्य १-२०
२. सुखबोधा समाचारी, पृष्ठ ३१ से ३४
३. पं. दलसुख मालवणिया—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १ की प्रस्तावना में पृष्ठ ३८
४. गाथासहस्री में समयसुन्दरगणी ने धनपालकृत 'श्रावकविधि' का निम्न उद्धरण दिया है—'पणयालीसं आगम', श्लोक—२९७, पृष्ठ—१८
५. (क) विचारलेस, गाथा ३४४-३५१ (विचारसार प्रकरण)
   (ख) ततश्चतुर्विधः कार्योऽनुयोगोऽतः परं मया।
   ततोऽङ्गोपांगमूलाख्यग्रन्थच्छेदकृतागमः ॥२४१॥ —प्रभावकचरितम्, दूसरा आर्यरक्षितप्रबन्ध (प्र. सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद)

ने 'समाचारी-शतक' में इसका उल्लेख किया है।[६] सारांश यह है कि 'मूलसूत्र' विभाग की स्थापना तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई।

उत्तराध्ययन, दशवैकालिक प्रभृति आगमों को मूलसूत्र अभिधा क्यों दी गई ? इस सम्बन्ध में विभिन्न मनीषियों ने विभिन्न कल्पनाएँ की हैं। प्रोफेसर विन्टरनीत्ज का अभिमत है—इन आगमों पर अनेक टीकाएँ हैं। इनसे मूलग्रन्थ का पृथक्करण करने के लिए इन्हें मूलसूत्र कहा है।[७] परन्तु उनका यह कथन उचित नहीं है, न उनका तर्क ही वजनदार है, क्योंकि उन्होंने मूलसूत्र की सूची में पिण्डनिर्युक्ति को भी माना है, जबकि उस पर अनेक टीकाएँ नहीं हैं।

डॉ. सारपेन्टियर[८], डॉ. ग्यारीनो[९] और प्रोफेसर पटवर्धन[१०] प्रभृति विद्वानों का यह अभिमत है—इन आगमों में भगवान् महावीर के मूल शब्दों का संग्रह है। इसलिए इन्हें मूलसूत्र कहा गया है। किन्तु उनका भी कथन युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि भगवान् महावीर के मूल शब्दों के कारण ही किसी आगम को मूलसूत्र माना जाय तो सर्वप्रथम आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध को मूलसूत्र मानना चाहिए। क्योंकि पाश्चात्य विचारक डा. हर्मन जैकोबी आदि के अनुसार भगवान् महावीर के मूल शब्दों का सबसे प्राचीन संकलन आचारांग में है।

---

६. समाचारीशतक, पत्र-७६

७. Why these texts are called "root sutras" is not quite clear, Generally the word Mula is used for fundamental text, in contradiction to the commentary. Now as there are old and important commentaries in existence precisely in the case of these texts they are probably termed "Mula-Texts."

—A History of Indian Literature Part II, Page-446.

८. In the Buddhista Work Mahavytpatti 245, 1265 Mulgrantha seems to mean original text that is the words of Buddha himself. Consequently there can be no doubt whatsoever that the Jainas too may have used Mula in the sense of 'Original text' and prehaps not so much in opposition to the later abridgements and commentaries as merely to denote actual words of Mahavira himself.

—The Uttradhyayana Sutra, Page-32

९. The word Mul-sutra is translated as trates originaux.

—ल रिलिजियन द जैन पृष्ठ ७९. (La-Religion the Jain), Page-79.

१०. We find however the word Mula often used in the sense of "Original text" and it is but reasonable to hold that the word Mula appearing in the expression Mula-sutra has got the same sense. Thus the term Mula-Sutra would mean the "Original test" i. e. "The text containing the original words of Mahavira (as received directly from his mouth)". And as a matter of fact we find that the style of Mula Sutras No. 183 (उत्तराध्ययन and दशवैकालिक) as sufficiently ancient to justify the claim made in their favour by original title. that they present and preserve the original words of Mahavira.

—The Dashvaikalika Sutra—A Study, Page-16.

हमारे अपने अभिमतानुसार जिन आगमों में मुख्यरूप से श्रमण के आचार-सम्बन्धी मूलगुण, महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि का निरूपण है और जो श्रमणजीवनचर्या में मूलरूप से सहायक बनते हैं, जिन आगमों का अध्ययन श्रमण के लिए सर्वप्रथम अपेक्षित है, उन्हें मूलसूत्र कहा गया है। हमारे इस कथन का समर्थन इस बात से होता है कि पहले आगमों का अध्ययन आचारांग से प्रारम्भ होता था। जब आचार्य शय्यम्भव ने दशवैकालिकसूत्र का निर्माण किया तो सर्वप्रथम दशवैकालिक का अध्ययन कराया जाने लगा और उसके बाद उत्तराध्ययनसूत्र पढ़ाया जाने लगा।[11] पहले आचारांग के 'शस्त्रपरिज्ञा' प्रथम अध्ययन से शैक्ष की उपस्थापना की जाती थी। पर जब दशवैकालिक की रचना हो गई तो उसके बाद उसके चतुर्थ अध्ययन से उपस्थापना की जाने लगी।[12]

मूलसूत्रों की संख्या के सम्बन्ध में भी ऐकमत्य नहीं है। समयसुन्दरगणी ने १. दशवैकालिक, २. ओघनिर्युक्ति, ३. पिण्डनिर्युक्ति, ४ उत्तराध्ययन, ये चार मूलसूत्र माने हैं।[13] भावप्रभसूरि ने १. उत्तराध्ययन, २. आवश्यक, ३. पिण्डनिर्युक्ति-ओघनिर्युक्ति तथा ४. दशवैकालिक, ये चार मूलसूत्र माने हैं।[14]

प्रोफेसर वेबर, प्रोफेसर बूलर ने १. उत्तराध्ययन, २. आवश्यक और ३. दशवैकालिक, इन तीनों को मूलसूत्र कहा है। डॉ० सारपेन्टियर, डॉ० विन्टरनीत्ज और डॉ० ग्यारीनो ने १. उत्तराध्ययन, २. आवश्यक, ३. दशवैकालिक एवं ४. पिण्डनिर्युक्ति को मूलसूत्र की संज्ञा दी है। डॉ० सुब्रिंग ने १. उत्तराध्ययन, २. दशवैकालिक, ३. आवश्यक तथा ४. पिण्डनिर्युक्ति एवं ५. ओघनिर्युक्ति, इन पांचों को मूलसूत्र बताया है।[15]

स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वारसूत्र को मूलसूत्र मानती हैं।

मूलसूत्रविभाग की कल्पना का आधार श्रुत-पुरुष भी हो सकता है। सर्वप्रथम जिनदासगणी महत्तर ने श्रुत-पुरुष की कल्पना की है।[16] श्रुत-पुरुष के शरीर में बारह अंग हैं, जैसे—प्रत्येक पुरुष के शरीर में दो पैर, दो जंघायें, दो उरु, दो गात्रार्ध (पेट और पीठ), दो भुजाएँ, ग्रीवा और सिर होते हैं, वैसे ही आगम-साहित्य के बारह अंग हैं। अंगबाह्य श्रुत-पुरुष के उपांग-स्थानीय हैं। प्रस्तुत परिकल्पना अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य, इन दो आगमिक वर्गों के आधार पर हुई है। इस वर्गीकरण में मूल और छेद को स्थान प्राप्त नहीं है। आचार्य हरिभद्र, जिनका समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है और आचार्य मलयगिरि, जिनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी है,

---

११. आयारस्स उ उवरिं, उत्तरज्झयणा उ आसि पुव्वं तु।
दसवेयालिय उवरिं इयाणिं किं तेन होवंती उ॥ —व्यवहारभाष्य उद्देशक ३, गाथा १७६
(संशोधक मुनि माणक०, प्र० वकील केशवलाल प्रेमचंद, भावनगर)

१२. पुव्वं सत्थपरिण्णा, अधीय पढियाइ होइ उवट्ठवणा।
इण्हिच्छज्जीवणया, किं सा उ न होउ उवट्ठवणा॥ —व्यवहारभाष्य उद्देशक ३, गाथा १७४

१३. समाचारीशतक।

१४. अथ उत्तराध्ययन—आवश्यक—पिण्डनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति—दशवैकालिक—इति चत्वारि मूलसूत्राणि।
—जैनधर्मवरस्तोत्र, श्लो. ३० की स्वोपज्ञवृत्ति
(लि० भावप्रभसूरि, झवेरी जीवनचन्द साकरचन्द्र)

१५. ए हिस्ट्री आफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ दी जैन्स, पृष्ठ ४४-४५, लेखक एच० आर० कापड़िया

१६. इच्चेतस्स सुत्तपुरिसस्स जं सुत्तं अंगभागठितं तं अंगपविट्ठं भण्णइ। —नन्दीसूत्र चूर्णि, पृष्ठ ४७

उन्होंने भी नन्दीसूत्र की अपनी वृत्तियों में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य को ही स्थान दिया है। आचार्य जिनदासगणी महत्तर के आदर्श को लेकर ही वे चले हैं। अंगप्रविष्ट श्रुत की स्थापना इस प्रकार है—

१. दायाँ पैर	=	आचारांग
२. वायाँ पैर	=	सूत्रकृतांग
३. दाईं जंघा	=	स्थानांग
४. वाईं जंघा	=	समवायांग
५. दायाँ उरु	=	भगवती
६. वायाँ उरु	=	ज्ञाताधर्मकथा
७. उदर	=	उपासकदशा
८. पीठ	=	अन्तकृद्दशा
९. दाईं भुजा	=	अनुत्तरोपपातिकदशा
१०. वाईं भुजा	=	प्रश्नव्याकरण
११. ग्रीवा	=	विपाक
१२. शिर	=	दृष्टिवाद

प्रस्तुत स्थापना में आचारांग और सूत्रकृतांग को, मूलस्थानीय अर्थात् चरणस्थानीय माना है।[१७] दूसरे रूप में भी श्रुत-पुरुष की स्थापना की गई है। उस रेखांकन में आवश्यक, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति और उत्तराध्ययन, इन चारों को मूलस्थानीय माना है। प्राचीन ज्ञानभण्डारों में श्रुत-पुरुष के अनेक चित्र प्राप्त हैं। द्वादश उपांगों की रचना होने के वाद श्रुतपुरुष के प्रत्येक अंग के साथ एक-एक उपांग की कल्पना की गई है। क्योंकि अंगों के अर्थ को स्पष्ट करने वाला उपांग है। किस अंग का कौन-सा उपांग है, वह इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

अंग	उपांग
आचारांग	औपपातिक
सूत्रकृत	राजप्रश्नीय
स्थानांग	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
ज्ञाताधर्मकथा	सूर्यप्रज्ञप्ति
उपासकदशा	चन्द्रप्रज्ञप्ति
अन्तकृत्दशा	निरयावलिया-कल्पिका
अनुत्तरोपपातिकदशा	कल्पावतंसिका
प्रश्नव्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्पचूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णिदशा

---

१७. श्री आगमपुरुषनुं रहस्य, पृष्ठ ५० के सामने (श्री उदयपुर, मेवाड़ के हस्तलिखित भण्डार से प्राप्त प्राचीन) श्री आगमपुरुष का चित्र।

जिस समय पैंतालीस आगमों की संख्या स्थिर हो गई, उस समय श्रुत-पुरुष की जो आकृति बनाई गई है, उसमें दशवैकालिक और उत्तराध्ययन को मूल स्थान पर रखा गया है। पर यह श्रुत-पुरुष की आकृति का रेखांकन बहुत ही बाद में हुआ है। यह भी अधिक सम्भव है कि उत्तराध्ययन, दशवैकालिक को मूलसूत्र मानने का एक कारण यह भी रहा हो।[१८]

जैन आगम-साहित्य में उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का गौरवपूर्ण स्थान है। चाहे श्वेताम्बर-परम्परा के आचार्य रहे हों, चाहे दिगम्बर-परम्परा के, उन्होंने उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का पुनः-पुनः उल्लेख किया है। कषायपाहुड[१९] की जयधवला टीका में तथा गोम्मटसार[२०] में क्रमशः गुणधर आचार्य ने और सिद्धान्त-चक्रवर्ती नेमिचन्द्र ने अंगबाह्य के चौदह प्रकार बताये हैं। उनमें सातवाँ दशवैकालिक है और आठवाँ उत्तराध्ययन है। नन्दीसूत्र में आचार्य देववाचक ने अंगबाह्य श्रुत के दो विभाग किये हैं।[२१] उनमें एक कालिक और दूसरा उत्कालिक है। कालिक सूत्रों की परिगणना में उत्तराध्ययन का प्रथम स्थान है और उत्कालिक सूत्रों की परिगणना में दशवैकालिक का प्रथम स्थान है।

सामान्यरूप से मूलसूत्रों की संख्या चार है। मूलसूत्रों की संख्या के सम्बन्ध में विज्ञों के विभिन्न मत हम पूर्व बता चुके हैं। चाहे संख्या के सम्बन्ध में कितने ही मतभेद हों, पर सभी मनीषियों ने उत्तराध्ययन को मूलसूत्र माना है।

'उत्तराध्ययन' में दो शब्द हैं—उत्तर और अध्ययन। समवायांग में 'छत्तीसं उत्तरज्झयणाइं' यह वाक्य मिलता है।[२२] प्रस्तुत वाक्य में उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों का प्रतिपादन नहीं किन्तु छत्तीस उत्तर अध्ययन प्रतिपादित किये गये हैं। नन्दीसूत्र में भी 'उत्तरज्झयणाणि' यह बहुवचनात्मक नाम प्राप्त है।[२३] उत्तराध्ययन के अन्तिम अध्ययन की अन्तिम गाथा में 'छत्तीसं उत्तरज्झाए' इस प्रकार बहुवचनात्मक नाम मिलता है।[२४] उत्तराध्ययननिर्युक्ति में भी उत्तराध्ययन का नाम बहुवचन में प्रयोग किया गया है।[२५] उत्तराध्ययनचूर्णि में छत्तीस उत्तराध्ययनों का एक श्रुतस्कंध माना है।[२६] तथापि उसका नाम चूर्णिकार ने बहुवचनात्मक माना है। बहुवचनात्मक नाम से यह विदित है कि उत्तराध्ययन अध्ययनों का एक योग मात्र है। यह एककर्तृक एक ग्रन्थ नहीं है।

उत्तर शब्द पूर्व की अपेक्षा से है। जिनदासगणी महत्तर ने इन अध्ययनों की तीन प्रकार ने योजना की है—

---

१८. श्री आगमपुरुषनुं रहस्य, पृष्ठ १४ तथा ४९ के सामने वाला चित्र।

१९. दसवेयालियं उत्तरज्झयणं। —कषायपाहुड (जयधवला सहित) भाग १, पृष्ठ १३/२५

२०. दसवेयालं च उत्तरज्झयणं। —गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ३६७

२१. से किं तं कालियं ? कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—उत्तरज्झयणाइं..................।
से किं तं उक्कालियं ? उक्कालियं अणेगविहं पण्णत्तं तं जहा—दसवेयालियं............। —नंदी.सूत्र ४३

२२. समवायांग, समवाय ३६

२३. नन्दीसूत्र ४३

२४. उत्तराध्ययन ३६/२६८

२५. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा. ४, पृ. २१, पा. टि. ४

२६. एतेसिं चेव छत्तीसाए उत्तरज्झयणाणं समुदयसमितिसमागमेणं उत्तरज्झयणभावसुतक्खंधे त्ति लब्भइ, ताणि पुण छत्तीसं उत्तरज्झयणाणि इमेहिं नामेहिं अणुगंतव्वाणि। —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ८

(१) स-उत्तर —पहला अध्ययन
(२) निरुत्तर —छत्तीसवाँ अध्ययन
(३) स-उत्तर-निरुत्तर —बीच के सारे अध्ययन

परन्तु उत्तर शब्द की प्रस्तुत अर्थयोजना जिनदासगणी महत्तर की दृष्टि से अधिकृत नहीं है।[२७] वे निर्युक्तिकार भद्रबाहु के द्वारा जो अर्थ दिया गया है, उसे प्रामाणिक मानते हैं। निर्युक्ति की दृष्टि से यह अध्ययन आचारांग के उत्तरकाल में पढ़े जाते थे, इसीलिए इस आगम को 'उत्तर अध्ययन' कहा है।[२८] उत्तराध्ययनचूर्णि व उत्तराध्ययन-बृहद्वृत्ति में भी प्रस्तुत कथन का समर्थन है। श्रुतकेवली आचार्य शय्यम्भव के पश्चात् यह अध्ययन दशवैकालिक के उत्तरकाल में पढ़े जाने लगे।[२९] अतः ये उत्तर अध्ययन ही बने रहे हैं। प्रस्तुत उत्तर शब्द की व्याख्या तर्कसंगत है।

दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में उत्तर शब्द की विविध दृष्टियों से परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम की धवलावृत्ति में लिखा—उत्तराध्ययन उत्तर पदों का वर्णन करता है। यह उत्तर शब्द समाधान का प्रतीक है।[३०] अंगपन्नत्ति में आचार्य शुभचन्द्र ने उत्तर शब्द के दो अर्थ किये हैं।[३१]

[१] उत्तरकाल—किसी ग्रंथ के पश्चात् पढ़े जाने वाले अध्ययन।

[२] उत्तर—प्रश्नों का उत्तर देने वाले अध्ययन।

इन अर्थों में उत्तर और अध्ययनों के सम्बन्ध में सत्य तथ्य का उद्घाटन किया गया है। उत्तराध्ययन में ४, १६, २३, २५ और २९ वाँ—ये अध्ययन प्रश्नोत्तरशैली में लिखे गये हैं। कुछ अन्य अध्ययनों में भी आंशिक रूप से कुछ प्रश्नोत्तर आये हैं। प्रस्तुत दृष्टि से उत्तर का 'समाधान' सूचक अर्थ संगत होने पर भी सभी अध्ययनों में वह पूर्ण रूप से घटित नहीं होता है। उत्तरवाची अर्थ संगत होने के साथ ही पूर्णरूप से व्याप्त भी है। इसलिए उत्तर का मुख्य अर्थ यही उचित प्रतीत होता है।

अध्ययन का अर्थ पढ़ना है। किन्तु यहाँ पर अध्ययन शब्द अध्याय के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। निर्युक्ति और चूर्णि में अध्ययन का विशेष अर्थ भी दिया है[३२] पर अध्ययन से उनका तात्पर्य परिच्छेद से है।

---

२७. विणयसुयं सउत्तरं जीवाजीवाभिगमो णिरुत्तरो, सर्वोत्तर इत्यर्थः, सेसज्झयणाणि सउत्तराणि णिरुत्तराणि य, कहं ? परीसहा विणयसुयस्स उत्तरा चउरंगिज्जस्स तु पुव्वा इति काउं णिरुत्तरं।—उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ६

२८. कमउत्तरेण पगयं आयारस्सेव उवरिमाइं तु।
तम्हा उ उत्तरा खलु अज्झयणा हुंति णायव्वा॥ —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा. ३

२९. विशेषश्चायं यथा—शय्यम्भवं यावदेष क्रमः तदाऽऽरतस्तु दशवैकालिकोत्तरकालं पठचन्त इति।
—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५

३०. उत्तरज्झयणं उत्तरपदाणि वण्णेइ। —धवला, पृष्ठ ९७

३१. उत्तराणि अहिज्जंति, उत्तरज्झयणं पदं जिणिंदेहिं। —अंगपण्णत्ति, ३/२५, २६

३२. (क) अज्झप्पस्साणयणं कम्माणं अवचओ उवचियाणं।
अणुवचओ व णवाणं तम्हा अज्झयणमिच्छंति॥
अहिगम्मंति व अत्था अणेण अहियं व णयणमिच्छंति।
अहियं व साहु गच्छइ तम्हा अज्झयणमिच्छंति॥ —उत्तरा. नि., गाथा ६-७

(ख) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पृष्ठ ६-७

(ग) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ७

उत्तराध्ययन की रचना के सम्बन्ध में निर्युक्ति, चूर्णि तथा अन्य मनीषी एक मत नहीं हैं। निर्युक्तिकार भद्रबाहु की दृष्टि से उत्तराध्ययन एक व्यक्ति की रचना नहीं है। उनकी दृष्टि से उत्तराध्ययन कर्तृत्व की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—१. अंगप्रभव, २ जिनभाषित, ३. प्रत्येकबुद्ध-भाषित, ४. संवादसमुत्थित।[३३] उत्तराध्ययन का द्वितीय अध्ययन अंगप्रभव है। वह कर्मप्रवादपूर्व के सत्तरहवें प्राभृत से उद्धृत है।[३४] दसवाँ अध्ययन जिनभाषित है।[३५] आठवाँ अध्ययन प्रत्येकबुद्धभाषित है।[३६] नौवाँ और तेईसवाँ अध्ययन संवाद-समुत्थित है।[३७]

उत्तराध्ययन के मूलपाठ पर ध्यान देने से उसके कर्तृत्व के सम्बन्ध में अभिनव चिन्तन किया जा सकता है।

द्वितीय अध्ययन के प्रारम्भ में यह वाक्य आया है—"सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया।"

सोलहवें अध्ययन के प्रारम्भ में यह वाक्य उपलब्ध है—"सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस बंभचेरसमाहिठाणा पण्णत्ता।"

उनतीसवें अध्ययन के प्रारम्भ में यह वाक्य प्राप्त है—"सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नामऽज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए।"

उपर्युक्त वाक्यों से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि दूसरा, उनतीसवाँ अध्ययन श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्ररूपित है और सोलहवाँ अध्ययन स्थविरों के द्वारा रचित है। निर्युक्तिकार ने द्वितीय अध्ययन को कर्मप्रवादपूर्व से निरूढ माना है।

जब हम गहराई से इस विषय में चिन्तन करते हैं तो सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट ज्ञात होता है कि निर्युक्तिकार ने उत्तराध्ययन को कर्तृत्व की दृष्टि से चार भागों में विभक्त कर उस पर प्रकाश डालना चाहा, पर उससे उसके कर्तृत्व पर प्रकाश नहीं पड़ता, किन्तु विषयवस्तु पर प्रकाश पड़ता है। दसवें अध्ययन में जो विषयवस्तु है, वह भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित है, किन्तु उनके द्वारा रचित नहीं। क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन की अन्तिम गाथा "बुद्धस्स निसम्म भासियं" से यह बात स्पष्ट होती है। इसी प्रकार दूसरे व उनतीसवें अध्ययन के प्रारम्भिक वाक्यों से भी यह तथ्य उजागर होता है।

---

३३. अंगप्पभवा जिणभासिया य पत्तेयबुद्धसंवाया।
बंधे मुक्खे य कया छत्तीसं उत्तरज्झयणा॥ —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा. ४

३४. कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि जं सुत्तं।
सणयं सोदाहरणं तं चेव इहंपि णायव्वं॥ —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा. ६९

३५. (क) जिणभासिया जहा दुमपत्तगादि। —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ७
(ख) जिनभाषितानि यथा द्रुमपुष्पिकाऽध्ययनम्। —उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५

३६. (क) पत्तेयबुद्धभासियाणि जहा काविलिज्जादि। —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ७
(ख) प्रत्येकबुद्धाः कपिलादयः तेभ्य उत्पन्नानि यथा कापिलियाध्ययनम्। —उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५

३७. संवाओ जहा णमिपव्वज्जा केसिगोयमेज्जं च। —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ७
—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ५

छठे अध्ययन की अन्तिम गाथा है—अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तर ज्ञान-दर्शन के धारक, अरिहन्त, ज्ञातपुत्र, भगवान्, वैशालिक महावीर ने ऐसा कहा है।[३८] वैशालिक का अर्थ भगवान् महावीर है।

प्रत्येकबुद्धभाषित अध्ययन भी प्रत्येकबुद्ध द्वारा ही रचे गये हों, यह बात नहीं है। क्योंकि आठवें अध्ययन की अन्तिम गाथा में यह बताया है कि विशुद्ध प्रज्ञावाले कपिल मुनि ने इस प्रकार धर्म कहा है। जो इसकी सम्यक् आराधना करेंगे, वे संसार-समुद्र को पार करेंगे। उनके द्वारा ही दोनों लोक आराधित होंगे।[३९] यदि प्रस्तुत अध्ययन कपिल के द्वारा विरचित होता तो वे इस प्रकार कैसे कहते ?

संवाद-समुत्थित-अध्ययन नौवें और तेईसवें अध्ययनों का अवलोकन करने पर यह परिज्ञात होता है कि वे अध्ययन नमि राजर्षि और केशी-गौतम द्वारा विरचित नहीं हैं। नौवें अध्ययन की अन्तिम गाथा है—संबुद्ध, पण्डित, प्रविचक्षण पुरुष कामभोगों से उसी प्रकार निवृत्त होते हैं जैसे—नमि राजर्षि ![४०] तेईसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा है—समग्र सभा धर्मचर्चा से परम संतुष्ट हुई, अतः सन्मार्ग में समुपस्थित उसने भगवान् केशी और गणधर गौतम की स्तुति की कि वे दोनों प्रसन्न रहें।[४१]

उपर्युक्त चर्चा का सारांश यह है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने उत्तराध्ययन को कर्तृत्व की दृष्टि से चार वर्गों में विभक्त किया है। उसका तात्पर्य इतना ही है कि भगवान् महावीर, कपिल, नमि और केशी-गौतम के उपदेश तथा संवादों को आधार बनाकर इन अध्ययनों की रचना हुई है। इन अध्ययनों के रचयिता कौन हैं ? और उन्होंने इन अध्ययनों की रचना कब की ? इन प्रश्नों का उत्तर न निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने दिया, न चूर्णिकार जिनदासगणी महत्तर ने दिया है और न बृहद्वृत्तिकार शान्त्याचार्य ने ही दिया है।

आधुनिक अनुसंधानकर्त्ता विज्ञों का यह मानना है कि वर्तमान में जो उत्तराध्ययन उपलब्ध है, वह किसी एक व्यक्तिविशेष की रचना नहीं है, किन्तु अनेक स्थविर मुनियों की रचनाओं का संकलन है। उत्तराध्ययन के कितने ही अध्ययन भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित हैं तो कितने ही अध्ययन स्थविरों के द्वारा संकलित हैं।[४२] इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उत्तराध्ययन में भगवान् महावीर का धर्मोपदेश नहीं है। उसमें वीतरागवाणी का अपूर्व तेज कभी छिप नहीं सकता। क्रूर काल की काली आंधी भी उसे धुंधला नहीं कर सकती। वह आज भी प्रदीप्त है और साधकों के अन्तर्जीवन को उजागर करता है। आज भी हजारों भव्यात्मा उस पावन उपदेश को धारण कर अपने जीवन को पावन बना रहे हैं। यह पूर्ण रूप से निश्चित है कि देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक उत्तराध्ययन छत्तीस अध्ययनों के रूप में संकलित हो चुका था। समवायांगसूत्र में छत्तीस उत्तर अध्ययनों के नाम उल्लिखित हैं।

---

३८. 'एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी, अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे,
अरहा नायपुत्ते, भगवं वेसालिए वियाहिए ॥' —उत्तराध्ययन ६।१८

३९. 'इइ एस धम्मे अक्खाए, कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं।
तरिहिन्ति जे उ काहिन्ति तेहिं आराहिया दुवे लोगा ॥' —उत्तराध्ययन ८।२०

४०. 'एवं करेन्ति संबुद्धा पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टन्ति भोगेसु, जहा से नमी रायरिसी ॥' —उत्तराध्ययन ९।६२

४१. 'तोसिया परिसा सव्वा, सम्मग्गं समुवट्ठिया।
संथुया ते पसीयन्तु भयवं केसिगोयमे ॥' —उत्तराध्ययन २३।८९

४२. (क) देखिए—दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणं की भूमिका, आचार्य तुलसी
(ख) उत्तराध्ययनसूत्र की भूमिका, कवि अमरमुनि जी

विषयवस्तु की दृष्टि से उत्तराध्ययन के अध्ययन धर्मकथात्मक, उपदेशात्मक, आचारात्मक और सैद्धान्तिक, इन चार भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। जैसे—

(१) धर्मकथात्मक—७, ८, ९, १२, १३, १४, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २५ और २७

(२) उपदेशात्मक—१, ३, ४, ५, ६ और १०

(३) आचारात्मक—२, ११, १५, १६, १७, २४, २६, ३२ और ३५

(४) सैद्धान्तिक—२८, २९, ३०, ३१, ३३, ३४ और ३६

विक्रम की प्रथम शती में आर्यरक्षित ने आगमों को चार अनुयोगों में विभक्त किया। उसमें उत्तराध्ययन को धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत गिना है।[४३] उत्तराध्ययन में धर्मकथानुयोग की प्रधानता होने से जिनदासगणी महत्तर ने उसे धर्मकथानुयोग माना है,[४४] पर आचारात्मक अध्ययनों को चरणकरणानुयोग में और सैद्धान्तिक अध्ययनों को द्रव्यानुयोग में सहज रूप से ले सकते हैं। उत्तराध्ययन का जो वर्तमान रूप है, उसमें अनेक अनुयोग मिले हुए हैं।

कितने ही विज्ञों का यह भी मानना है कि कल्पसूत्र के अनुसार उत्तराध्ययन की प्ररूपणा भगवान् महावीर ने अपने निर्वाण से पूर्व पावापुरी में की थी।[४५] इससे यह सिद्ध है कि भगवान् के द्वारा यह प्ररूपित है, इसलिए इसकी परिगणना अङ्ग-साहित्य में होनी चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र की अन्तिम गाथा को कितने ही टीकाकार इसी आशय को व्यक्त करने वाली मानते हैं—'उत्तराध्ययन का कथन करते हुए भगवान् महावीर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।' यह प्रश्न काफी गम्भीर है। इसका सहज रूप से समाधान होना कठिन है। तथापि इतना कहा जा सकता है कि उत्तराध्ययन के कितने ही अध्ययनों की भगवान् महावीर ने प्ररूपणा की थी और कितने ही अध्ययन बाद में स्थविरों के द्वारा संकलित हुए। उदाहरण के रूप में—केशी-गौतमीय अध्ययन में श्रमण भगवान् महावीर का अत्यन्त श्रद्धा के साथ उल्लेख हुआ है। स्वयं भगवान् महावीर अपने ही मुखारविन्द से अपनी प्रशंसा कैसे करते? उनतीसवें अध्ययन में प्रश्नोत्तरशैली है, जो परिनिर्वाण के समय सम्भव नहीं है। क्योंकि कल्पसूत्र में उत्तराध्ययन को अपृष्ठव्याकरण अर्थात् विना किसी के पूछे कथन किया हुआ शास्त्र कहा है।

कितने ही आधुनिक चिन्तकों का यह भी अभिमत है कि उत्तराध्ययन के पहले के अठारह अध्ययन प्राचीन हैं और उसके बाद के अठारह अध्ययन अर्वाचीन हैं। किन्तु अपने मन्तव्य को सिद्ध करने के लिए उन्होंने प्रमाण नहीं दिये हैं।

कितने ही विद्वान् यह भी मानते हैं कि अठारह अध्ययन तो अर्वाचीन नहीं हैं। हाँ, उनमें से कुछ अर्वाचीन हो सकते हैं। जैसे—इकतीसवें अध्ययन में आचारांग, सूत्रकृतांग, आदि प्राचीन नामों के साथ दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ जैसे अर्वाचीन आगमों के नाम भी मिलते हैं।[४६] जो श्रुत-

---

४३. अत्र धम्माणुयोगेनाधिकारः। —उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ९

४४. उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ ९

४५. कल्पसूत्र

४६. तेवीमइ सूयगडे रूवाहिएसु सुरेसु अ।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥
पणवीसभावणाहिं उद्देसेसु दसाइणं।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥
अणगारगुणेहिं च पकप्पम्मि तहेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥ —उत्तरा. ३१।१६-१८

केवली भद्रबाहु द्वारा निर्यूढ या कृत हैं।[४७] भद्रबाहु का समय वीरनिर्वाण की दूसरी शती है, इसलिए प्रस्तुत अध्ययन की रचना भद्रबाहु के पश्चात् होनी चाहिए।

अन्तकृद्दशा आदि प्राचीन आगमसाहित्य में श्रमण-श्रमणियों के चौदह पूर्व, ग्यारह अंग या बारह अंगों के अध्ययन का वर्णन मिलता है।[४८] अंगबाह्य या प्रकीर्णक सूत्र के अध्ययन का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। किन्तु उत्तराध्ययन के अट्ठाईसवें अध्ययन में अंग और अंगबाह्य, इन दो प्राचीन विभागों के अतिरिक्त ग्यारह अंग, प्रकीर्णक और दृष्टिवाद का उल्लेख उपलब्ध होता है।[४९] अतः प्रस्तुत अध्ययन भी उत्तरकालीन आगम-व्यवस्था की संरचना होनी चाहिए।

दूसरी बात यह है कि अट्ठाईसवें अध्ययन में द्रव्य[५०], गुण[५१], पर्याय[५२] की जो संक्षिप्त परिभाषायें दी गई हैं, वैसी परिभाषायें प्राचीन आगम साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। वहाँ पर विवरणात्मक अर्थ की प्रधानता है, अतः यह अध्ययन अर्वाचीन प्रतीत होता है।

दिगम्बर साहित्य में उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु का संकेत किया गया है। वह इस प्रकार है—

धवला में लिखा है—उत्तराध्ययन में उद्गम, उत्पादन और एषणा से सम्बन्धित दोषों के प्रायश्चित्तों का विधान है[५३] और उत्तराध्ययन उत्तर पदों का वर्णन करता है।[५४]

---

४७. (क) वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयणाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे॥ —दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति, गा. १

(ख) तेण भगवता आयारपकप्प-दसाकप्प-ववहारा व नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा।
—पंचकल्पभाष्य, गा. २३ चूर्णि

४८. (क) सामाइयमाइयाइं एक्कारसअंगाइं अहिज्जइ। —अन्तकृत., प्रथम वर्ग

(ख) बारसंगी —अन्तकृतदशा, ४ वर्ग, अध्य. १

(ग) सामाइयमाइयाइं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ। —अन्तकृतदशा, ३ वर्ग, अध्य. १

४९. सो होइ अभिगमरुई, सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं।
एक्कारस अंगाइं, पइण्णगं दिट्ठिवाओ य॥ —उत्तरा. २८।२३

५०. द्रव्य—गुणाणमासओ दव्वं (द्रव्य गुणों का आश्रय है)। तुलना करें—क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्य-लक्षणम्। —वैशेषिकदर्शन, प्र. अ. प्रथम आह्निक, सूत्र १५

५१. गुण—एगदव्वस्सिया गुणा। तुलना करें—
द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।
—वैशे. दर्शन, प्र. अ. प्रथम आह्निक सू. १६

५२. पर्याय—लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे। —उत्तराध्ययन

५३. उत्तरज्झयणं उग्गम्मुप्पायणेसणदोसगयपायच्छित्तविहाणं कालादिविसेसिदं वण्णेदि।
—धवला, पत्र ५४५ हस्तलिखित प्रति

५४. उत्तरज्झयणं उत्तरपदाणि वण्णेइ। —धवला, पृ. ९७ (सहारनपुर प्रति)

अंगपण्णत्ती में वर्णन है कि वाईस परीषहों और चार प्रकार के उपसर्गों के सहन का विधान, उसका फल तथा प्रश्नों का उत्तर; यह उत्तराध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।[५५]

हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि उत्तराध्ययन में वीर-निर्वाण गमन का वर्णन है।[५६]

दिगम्बर साहित्य में जो उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु का निर्देश है, वह वर्णन वर्तमान में उपलब्ध उत्तराध्ययन में नहीं है। आंशिक रूप से अंगपण्णत्ती का विषय मिलता है, जैसे (१) वाईस परीषहों के सहन करने का वर्णन—दूसरे अध्ययन में। (२) प्रश्नों के उत्तर—उनतीसवाँ अध्ययन।

प्रायश्चित्त का विधान और भगवान् महावीर के निर्वाण का वर्णन उत्तराध्ययन में प्राप्त नहीं है। यह हो सकता है कि उन्हें उत्तराध्ययन का अन्य कोई संस्करण प्राप्त रहा हो। तत्त्वार्थराजवार्तिक में उत्तराध्ययन को आरातीय आचार्यों [गणधरों के पश्चात् के आचार्यों] की रचना माना है।[५७]

समवायांग[५८] और उत्तराध्ययननिर्युक्ति[५९] आदि में उत्तराध्ययन की जो विषय-सूची दी गई है, वह उत्तराध्ययन में ज्यों की त्यों प्राप्त होती है। अतः यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु प्राचीन है। वीर-निर्वाण की प्रथम शताब्दी में दशवैकालिकसूत्र की रचना हो चुकी थी। उत्तराध्ययन दशवैकालिक के पहले की रचना है, वह आचारांग के पश्चात् पढ़ा जाता था, अतः इसकी संकलना वीरनिर्वाण की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही हो चुकी थी।

क्या उत्तराध्ययन भगवान् महावीर की अन्तिम वाणी है ?

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या उत्तराध्ययन श्रमण भगवान् महावीर की अन्तिम वाणी है ? उत्तर में निवेदन है कि श्रुतकेवली भद्रवाहुस्वामी ने कल्पसूत्र में लिखा है कि श्रमण भगवान् महावीर कल्याणफल-विपाक वाले पचपन अध्ययनों और पाप-फल वाले पचपन अध्ययनों एवं छत्तीस अपृष्ट-व्याकरणों का व्याकरण कर प्रधान नामक अध्ययन का प्ररूपण करते-करते सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।[६०]

इसी आधार से यह माना जाता है कि छत्तीस अपृष्ट-व्याकरण उत्तराध्ययन के ही छत्तीस अध्ययन हैं। उत्तराध्ययन के छत्तीसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा से भी प्रस्तुत कथन की पुष्टि होती है—

"इइ पाउकरे बुद्धे नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धीयसंमए॥"

---

५५. उत्तराणि अहिज्जंति उत्तरज्झयणं पदं जिणिदेहिं।
वावीसपरीसहाणं उवसग्गाणं च सहणविहिं॥
वण्णेदि तप्फलमवि, एवं पण्हे च उत्तरं एवं।
कहदि गुरुसीसयाण पइण्णिय अट्ठमं तु खु॥ —अंगपण्णत्ति, ३।२५-२६

५६. उत्तराध्ययनं वीर-निर्वाणगमनं तथा। —हरिवंशपुराण, १०।१३४

५७. यद्गणधरशिष्यप्रशिष्यैरारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्वलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिवद्धं संक्षिप्तांगार्थवचनविन्यासं तदंगवाह्यम्.......... ....तद्भेदा उत्तराध्ययनादयोऽनेकविधाः।
—तत्त्वार्थवार्तिक, १।२० पृष्ठ ७८

५८. समवायांग, ३६ वाँ समवाय

५९. उत्तराध्ययननिर्युक्ति १८-२६

६०. कल्पसूत्र १४६, पृष्ठ २१०, देवेन्द्रमुनि सम्पादित

जिनदासगणी महत्तर ने इस गाथा का अर्थ इस प्रकार किया है—ज्ञातकुल में उत्पन्न वर्द्धमानस्वामी छत्तीस उत्तराध्ययनों का प्रकाशन या प्रज्ञापन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।[६१]

शान्त्याचार्य ने अपनी बृहद्वृत्ति में उत्तराध्ययनचूर्णि का अनुसरण करके भी अपनी ओर से दो बातें और मिलाई है। पहली बात यह कि भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन के कुछ अध्ययन अर्थ-रूप में और कुछ अध्ययन सूत्र-रूप में प्ररूपित किये।[६२] दूसरी बात उन्होंने परिनिर्वृत्त का वैकल्पिक अर्थ स्वस्थीभूत किया है।[६३]

निर्युक्ति में इन अध्ययनों को जिन-प्रज्ञप्त लिखा है।[६४] बृहद्वृत्ति में जिन शब्द का अर्थ श्रुतजिन-श्रुत-केवली किया है।[६५]

निर्युक्तिकार का अभिमत है कि छत्तीस अध्ययन श्रुतकेवली प्रभृति स्थविरों द्वारा प्ररूपित हैं। उन्होंने निर्युक्ति में इस सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की है कि यह भगवान् ने अन्तिम देशना के रूप में कहा है। बृहद्-वृत्तिकार भी इस सम्बन्ध में संदिग्ध हैं। केवल चूर्णिकार ने अपना स्पष्ट मन्तव्य व्यक्त किया है।

समवायांग में छत्तीस अपृष्ट-व्याकरणों का कोई भी उल्लेख नहीं है। वहाँ इतना ही सूचन है कि भगवान् महावीर अन्तिम रात्रि के समय पचपन कल्याणफल-विपाक वाले अध्ययनों तथा पचपन पाप-फल-विपाक वाले अध्ययनों का व्याकरण कर परिनिर्वृत्त हुए।[६६] छत्तीसवें समवाय में भी जहाँ पर उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों का नाम निर्देश किया है, वहाँ पर भी इस सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं है।

उत्तराध्ययन के अठारहवें अध्ययन की चौबीसवीं गाथा के प्रथम दो चरण वे ही है जो छत्तीसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा के हैं। देखिए—

"इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुडे।
विज्जाचरणसम्पन्ने, सच्चे सच्चपरक्कमे॥" —उत्तरा. १८। २४

"इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धीय संमए॥ —उत्तरा. ३६। २६९

बृहद्वृत्तिकार ने अठारहवें अध्ययन की चौबीसवीं गाथा के पूर्वार्द्ध का जो अर्थ किया है, वही अर्थ छत्तीसवें अध्ययन की अन्तिम गाथा का किया जाय तो उससे यह फलित नहीं होता कि ज्ञातपुत्र महावीर छत्तीस

---

६१. उत्तराध्ययनचूर्णि, पृष्ठ २८१
६२. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ७१२
६३. अथवा पाउकरे त्ति प्रादुरकार्षीत् प्रकाशितवान्, शेषं पूर्ववत्, नवरं 'परिनिर्वृत्तः' क्रोधादिदहनोपशमतः समन्तात्स्वस्थीभूतः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ७१२
६४. तम्हा जिणपन्नत्ते, अणंतगमपज्जवेहि संजुत्ते।
अज्झाए जहाजोगं, गुरुप्पसाया अहिज्जिज्जा॥ —उत्तरा. निर्युक्ति, गा. ५५९
६५. तस्माज्जिनैः श्रुतजिनादिभिः प्ररूपिताः। —उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ७१३
६६. समवायांग ५५

अध्ययनों का प्रज्ञापन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। वहाँ पर अर्थ है—बुद्ध—अवगततत्त्व, परिनिर्वृत्त—शांतीभूत ज्ञातपुत्र महावीर ने इस तत्त्व का प्रज्ञापन किया है।[६७]

उत्तराध्ययन का गहराई से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि इसमें भगवान महावीर की वाणी का संगुंफन सम्यक् प्रकार से हुआ है। यह श्रमण भगवान् महावीर का प्रतिनिधित्व करने वाला आगम है। इसमें जीव, अजीव, कर्मवाद, षट् द्रव्य, नव तत्त्व, पार्श्वनाथ और महावीर की परम्परा प्रभृति सभी विषयों का समुचित रूप से प्रतिपादन हुआ है। केवल धर्मकथानुयोग का ही नहीं, अपितु चारों अनुयोगों का मधुर सगम हुआ है। अत. यह भगवान् महावीर की वाणी का प्रतिनिधित्व करने वाला आगम है। इसमें वीतरागवाणी का विमल प्रवाह प्रवाहित है। इसके अर्थ के प्ररूपक भगवान् महावीर है किन्तु सूत्र के रचयिता स्थविर होने से इसे अगबाह्य आगमों मे रखा है। उत्तराध्ययन शब्दत: भगवान् महावीर की अन्तिम देशना ही है, यह साधिकार तो नहीं कहा जा सकता: क्योंकि कल्पसूत्र में उत्तराध्ययन को अपृष्ट-व्याकरण अर्थात् बिना किसी के पूछे स्वतः कथन किया हुआ शास्त्र बताया है, किन्तु वर्तमान के उत्तराध्ययन में आये हुए केशी-गौतमीय, सम्यक्त्व-पराक्रम अध्ययन जो प्रश्नोत्तर शैली में हैं, वे चिन्तकों को चिन्तन के लिए अवश्य ही प्रेरित करते हैं। केशी-गौतमीय अध्ययन मे भगवान् महावीर का जिस भक्ति और श्रद्धा के साथ गौरवपूर्ण उल्लेख है, वह भगवान् स्वयं अपने लिए किस प्रकार कह सकते है? अत: ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययन में कुछ अंश स्थविरों ने अपनी ओर से संकलित किया हो और उन प्राचीन और अर्वाचीन अध्ययनों को वीरनिर्वाण की एक सहस्राब्दी के पश्चात् देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने संकलन कर उसे एक रूप दिया हो।[६८]

विनयः एक विश्लेषण

प्रस्तुत आगम विषय-विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सूत्र का प्रारम्भ होता है—विनय से। विनय अहंकार-शून्यता है। अहंकार की उपस्थिति में विनय केवल औपचारिक होता है। 'बायजीद एक सूफी सन्त थे। उनके पास एक व्यक्ति आया। उसने नमस्कार कर निवेदन किया कि कुछ जिज्ञासाएँ है। बायजीद ने कहा—पहले झुको! उस व्यक्ति ने कहा—मैंने नमस्कार किया है, क्या आपने नहीं देखा? बायजीद ने मुस्कराते हुए कहा—मैं शरीर को झुकाने की बात नहीं कहता। तुम्हारा अहंकार झुका है या नहीं? उसे झुकाओ! विनय और अहंकार में कही भी तालमेल नहीं है। अहं के शून्य होने से ही मानसिक, वाचिक और कायिक विनय प्रतिफलित होगा। व्यक्ति का रूपान्तरण होगा। कई बार व्यक्ति बाह्य रूप से नम्र दिखता है, किन्तु अन्दर अहं से अकड़ा रहता है। बिना अहंकार को जीते व्यक्ति विनम्र नही हो सकता। विनय का सही अर्थ है—अपने आपको अहं से मुक्त कर देना। जब अहं नष्ट होता है, तब व्यक्ति गुरु के अनुशासन को सुनता है और जो गुरु कहते है, उसे स्वीकार करता है। उनके वचनों की आराधना करता है। अपने मन को आग्रह से मुक्त करता है। विनीत शिष्य को यह परिबोध होता है कि किस प्रकार बोलना, किस प्रकार बैठना, किस प्रकार खड़े होना चाहिए? वह प्रत्येक बात पर गहराई से चिन्तन करता है। आज जन-जीवन में अशान्ति और अनु-

---

६७. इत्येवंरूपं 'पाउकरे' त्ति प्रादुरकार्षीत्—प्रकटितवान् 'बुद्ध.' अवगततत्त्व सन् ज्ञात एव ज्ञातक. जगत्प्रतीत क्षत्रियो वा, स चेह प्रस्तावान्महावीर एव. परिनिर्वृत्तः कषायानलविध्यापनात्समन्ताच्छीतीभूत.।

—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ८८

६८. (क) दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि की भूमिका (आचार्य श्री तुलसी)

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र—उपाध्याय अमरमुनि की भूमिका

शासन-हीनता के काले-कजराले बादल उमड़-घुमड़ कर मंडरा रहे हैं। उसका मूल कारण जीवन के उषा काल से ही व्यक्ति में विनय का अभाव होता जाना है और यही अभाव पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय जीवन में शैतान की आंत की तरह बढ़ रहा है, जिससे न परिवार सुखी है, न समाज सुखी है और न राष्ट्र के अधिनायक ही शान्ति में हैं। प्रथम अध्ययन में शान्ति का मूलमंत्र विनय को प्रतिपादित करते हुए उसकी महिमा और गरिमा के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण है।

प्रथम अध्ययन में विनय का विश्लेषण करते हुए जो गाथाएँ दी गई हैं, उनकी तुलना महाभारत, धम्मपद और थेरीगाथा में आये हुए पद्यों के साथ की जा सकती है। देखिए—

"नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा, पियमप्पियं॥"
—उत्तरा. १।१४

तुलना कीजिए—

"नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्, नाप्यन्यायेन पृच्छतः।
ज्ञानवानपि मेधावी, जडवत् समुपाविशेत्॥"
—शान्तिपर्व २८७।३५

"अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य॥"
—उत्तरा. १।१५

तुलना कीजिए—

"अत्तानञ्चे तथा कयिरा, यथञ्चमनुसासति (?)।
सुदन्तो वत दम्मेथ, अत्ता हि किर दुद्दमो॥"
—धम्मपद १२।३

"पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि॥"
—उत्तरा. १।१७

तुलना कीजिए—

"मा कासि पापकं कम्मं, आवि वा यदि वा रहो।
सचे च पापकं कम्मं, करिस्ससि करोसि वा॥"
—थेरीगाथा २४७

परीषह : एक चिन्तन

द्वितीय अध्ययन में परिषह-जय के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। संयमसाधना के पथ पर कदम बढ़ाते समय विविध प्रकार के कष्ट आते हैं, पर साधक उन कष्टों से घबराता नहीं है। वह तो उस झरने की तरह है, जो वज्र चट्टानों को चीर कर आगे बढ़ता है। न उसके मार्ग को पत्थर रोक पाते हैं और न गहरे गर्त ही। वह तो अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ता रहता है। पीछे लौटना उसके जीवन का लक्ष्य नहीं होता।

स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा निर्जरा के लिए जो कुछ सहा जाता है, वह 'परीषह' है।[६९] परीषह के अर्थ में उपसर्ग शब्द का भी प्रयोग हुआ है। परीषह का अर्थ केवल शरीर, इन्द्रिय, मन को ही कष्ट देना नहीं है, अपितु अहिंसा आदि धर्मों की आराधना व साधना के लिए सुस्थिर बनाना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—सुख से भावित ज्ञान दुःख उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है, इसलिए योगी को यथाशक्ति अपने आपको दुःख से भावित करना चाहिए। जमीन में वपन किया हुआ बीज तभी अंकुरित होता है, जब उसे जल की शीतलता के साथ सूर्य की ऊष्मा प्राप्त हो, वैसे ही साधना की सफलता के लिए अनुकूलता की शीतलता के साथ प्रतिकूलता की ऊष्मा भी आवश्यक है। परीषह साधक के लिए बाधक नहीं, अपितु उसकी प्रगति का ही कारण है। उत्तराध्ययन[७०], समवायांग[७१] और तत्त्वार्थसूत्र[७२] में परीषह की संख्या २२ बताई है। किन्तु संख्या की दृष्टि समान होने पर भी क्रम की दृष्टि से कुछ अन्तर है। समवायांग में परीषह के बाईस भेद इस प्रकार मिलते हैं —

१. क्षुधा	१२. आक्रोश
२. पिपासा	१३. वध
३. शीत	१४. याचना
४. उष्ण	१५. अलाभ
५. दंश-मशक	१६. रोग
६. अचेल	१७. तृण-स्पर्श
७. अरति	१८. जल्ल
८. स्त्री	१९. सत्कार-पुरस्कार
९. चर्या	२०. ज्ञान
१०. निषद्या	२१. दर्शन
११. शय्या	२२. प्रज्ञा

उत्तराध्ययन में १९ परीषहों के नाम व क्रम वही है, किन्तु २०, २१ व २२ के नाम में अन्तर है। उत्तराध्ययन में (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान और (२२) दर्शन है।

नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने[७३] "अज्ञान" परीषह का क्वचित् श्रुति के रूप में वर्णन किया है। आचार्य उमास्वाति ने[७४] 'अचेल' परीषह के स्थान पर 'नाग्न्य' परीषह लिखा है और 'दर्शन' परीषह के स्थान पर 'अदर्शन' परीषह लिखा है। आचार्य नेमिचन्द्र ने[७५] 'दर्शन' परीषह के स्थान पर 'सम्यक्त्व' परीषह माना है। दर्शन और सम्यक्त्व इन दोनों में केवल शब्द का अन्तर है, भाव का नहीं।

---

६९. मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः। —तत्त्वार्थसूत्र ९।८

७०. उत्तराध्ययनसूत्र, दूसरा अध्ययन

७१. समवायांग, समवाय २२

७२. तत्त्वार्थसूत्र—९।८

७३. समवायांग २२

७४. तत्त्वार्थसूत्र ९।९

७५. प्रवचनसारोद्धार, गाथा-६८६

परीषहों की उत्पत्ति का कारण ज्ञानावरणीय, अन्तराय, मोहनीय और वेदनीय कर्म हैं। ज्ञानावरणाय-कर्म प्रज्ञा और अज्ञान परीषहों का, अन्तरायकर्म अलाभ परीषह का, दर्शनमोहनीय अदर्शन परीषह का और चारित्रमोहनीय अचेल, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार, इन सात परीषहों का कारण है। वेदनीयकर्म क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और जल्ल, इन ग्यारह परीषहों का कारण है।[७६]

अधिकारी-भेद की दृष्टि से जिसमें सम्पराय अर्थात् लोभ-कषाय की मात्रा कम हो, उस दसवें सूक्ष्मसम्पराय में[७७] तथा ग्यारहवें उपशान्तमोह और बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में (१) क्षुधा (२) पिपासा (३) शीत (४) उष्ण (५) दंशमशक (६) चर्या (७) प्रज्ञा (८) अज्ञान (९) अलाभ (१०) शय्या (११) वध (१२) रोग (१३) तृणस्पर्श और (१४) जल्ल, ये चौदह परीषह ही संभव हैं। शेष मोहजन्य आठ परीषह वहाँ मोहोदय का अभाव होने से नहीं हैं। दसवें गुणस्थान में अत्यल्प मोह रहता है। इसलिए प्रस्तुत गुणस्थान में भी मोहजन्य आठ परीषह संभव न होने से केवल चौदह ही होते हैं।

तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में[७८] (१) क्षुधा (२) पिपासा (३) शीत (४) उष्ण (५) दंश-मशक (६) चर्या (७) वध (८) रोग (९) शय्या (१०) तृणस्पर्श और (११) जल्ल, ये वेदनीयजनित ग्यारह परीषह सम्भव हैं। इन गुणस्थानों में घातीकर्मों का अभाव होने से शेष ११ परीषह नहीं हैं।

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि १३वें और १४वें गुणस्थानों में परीषहों के विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के दृष्टिकोण में किंचित् अन्तर है और उसका मूल कारण है—दिगम्बर परम्परा केवली में कवलाहार नहीं मानती है। उसके अभिमतानुसार सर्वज्ञ में क्षुधा आदि ११ परीषह तो हैं, पर मोह का अभाव होने से क्षुधा आदि वेदना रूप न होने के कारण उपचार मात्र से परीषह हैं।[७९] उन्होंने दूसरी व्याख्या भी की है। 'न' शब्द का अध्याहार करके यह अर्थ लगाया है—जिनमें वेदनीयकर्म होने पर भी तदाश्रित क्षुधा आदि ११ परीषह मोह के अभाव के कारण बाधा रूप न होने से हैं ही नहीं।

सुत्तनिपात[८०] में तथागत बुद्ध ने कहा—मुनि शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, वात, आतप, दंश और सरीसृप का सामना कर खड्गविषाण की तरह अकेला विचरण करे। यद्यपि बौद्धसाहित्य में कायक्लेश को किंचित् मात्र भी महत्त्व नहीं दिया गया, किन्तु श्रमण के लिए परीषहसहन करने पर उन्होंने भी बल दिया है।

कितनी ही गाथाओं की तुलना बौद्धग्रन्थ—थेरगाथा, सुत्तनिपात तथा धम्मपद और वैदिकग्रन्थ—महाभारत, भागवत और मनुस्मृति में आये हुए पद्यों के साथ की जा सकती है। उदाहरण के रूप में हम नीचे वह तुलना दे रहे हैं। देखिए—

---

७६. भगवतीसूत्र ८-८

७७. सूक्ष्मसम्परायच्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश। —तत्त्वार्थसूत्र ९।१०

७८. एकादश जिने। —तत्त्वार्थसूत्र ९।११

७९. तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलाल जी संघवी), पृष्ठ २१६

८०. सीतं च उण्हं च खुदं पिपासं वातातपे डंस सिरीसिपे च।
सब्बानिपेतानि अभिसंभवित्वा एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

—सुत्तनिपात, उरगवग्ग ३-१८

"कालीपव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए।
मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमनसो चरे॥"

—उत्तराध्ययन २।३

तुलना कीजिए—

"काल (ला) पव्वंगसंकासो, किसो धम्मनिसन्थतो।
मत्तञ्ञू अन्नपाणम्हि, अदीनमनसो नरो॥"

—थेरगाथा २४६, ६८६

"अष्टचक्रं हि तद् यानं, भूतयुक्तं मनोरथम्।
तत्राद्यौ लोकनाथौ तौ, कृशौ धमनिसंततौ॥"

—शान्तिपर्व ३३४।११

"एवं चीर्णेन तपसा, मुनिर्धमनिसंगतः"

—भागवत ११।१८।९

"पंसुकूलधरं जन्तुं, किसं धमनिसन्थतं।
एकं वनस्मिं झायन्तं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥"

—धम्मपद २६।१३

"पुट्ठो य दंसमसएहिं, समरेव महामुणी।
नागो संगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं॥"

—उत्तराध्ययन २।१०

तुलना कीजिए—

"फुट्ठो डंसेहि मसंकेहि, अरञ्ञस्मिं ब्रहावने।
नागो संगामसीसे व, सतो तत्राऽधिवासये॥"

—थेरगाथा ३४, २४७, ६८७

"एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए॥"

—उत्तराध्ययन २।१८

तुलना कीजिए—

"एक एव चरेन्नित्यं, सिद्ध्यर्थमसहायवान्।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्, न जहाति न हीयते॥"

—मनुस्मृति ६।४२

"असमाणो चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गहं।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए॥"

—उत्तरा० २।१९

तुलना कीजिए—

"अनिकेतः परितपन्, वृक्षमूलाश्रयो मुनिः।
अयाचकः सदा योगी, स त्यागी पार्थ! भिक्षुकः॥"

—शान्तिपर्व १२।१०

"सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा, न य वित्तासए परं॥"
—उत्तरा. २।२०

तुलना कीजिए—
"पांसुभिः समभिच्छिन्नः, शून्यागारप्रतिश्रयः।
वृक्षमूलनिकेतो वा, त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः॥"
—शान्तिपर्व ९।१३

"सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गामकण्टगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, न ताओ मणसीकरे॥"
—उत्तरा. २।२५

तुलना कीजिए—
"सुत्वा रुसितो बहुं वाचं, समणाणं पुथुवचनानं।
फरुसेन ते न पतिवज्जा, न हि सन्तो पटिसेनिकरोन्ति॥"
—सुत्तनिपात, व. ८, १४।१८

"अणुक्कसाई, अप्पिच्छे, अन्नाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा, नाणुतप्पेज्ज पन्नवं॥"
—उत्तराध्ययन २।३९

तुलना कीजिए—
"चक्खूहि नेव लोलस्स, गामकथाय आवरये सोतं।
रसे च नानुगिज्झेय्य, न च ममायेथ किंचि लोकस्मिं॥"
—सुत्त. व. ८, १४।८

प्रस्तुत अध्ययन में 'खेत्तं वत्थुं हिरण्णं' वाली जो गाथा है, वैसी गाथा सुत्तनिपात में भी उपलब्ध है। देखिए—

"खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं।
चत्तारि कामखन्धाणि, तत्थ से उववज्जई॥"
—उत्तराध्ययन ३।१७.

तुलना कीजिए—
"खेत्तं वत्थुं हिरञ्ञं वा, गवास्सं दासपोरिसं।
थियो बन्धू पुथू कामे, यो नरो अनुगिज्झति॥"
—सुत्त. व. ८, १।४.

तृतीय अध्ययन में मानवता, सद्धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयम-साधना में पुरुषार्थ—इन चार विषयों पर चिन्तन किया गया है। मानवजीवन अत्यन्त पुण्योदय से प्राप्त होता है। भगवान् महावीर ने "दुल्लहे खलु माणुसे भवे" कह कर मानवजीवन की दुर्लभता बताई है तो आचार्य शंकर ने भी "नरत्वं दुर्लभं लोके" कहा है। तुलसीदास ने भी रामचरितमानस में कहा—

"बड़े भाग मानुस तन पावा।
सुर-नर मुनि सब दुर्लभ गावा॥"

मानवजीवन की महत्ता का कारण यह है कि वह अपने जीवन को सद्गुणों से चमका सकता है। मानव-तन मिलना कठिन है किन्तु 'मानवता' प्राप्त करना और भी कठिन है। नर-तन तो चोर, डाकू एवं बदमाशों को भी मिलता है पर मानवता के अभाव में वह तन मानव-तन नहीं, दानव-तन है। मानवता के साथ ही निष्ठा की भी उतनी ही आवश्यकता है, क्योंकि विना निष्ठा के ज्ञान प्राप्त नहीं होता। गीताकार ने भी "श्रद्धावान् लभते ज्ञानं" कहकर श्रद्धा की महत्ता प्रतिपादित की है। जब तक साधक की श्रद्धा समीचीन एवं सुस्थिर नहीं होती, तब तक साधना के पथ पर उसके कदम दृढ़ता से आगे नहीं बढ़ सकते, इसलिए श्रद्धा पर बल दिया गया है। साथ ही धर्मश्रवण के लिए भी प्रेरणा दी गई है। धर्मश्रवण से जीवादि तत्त्वों का सम्यक् परिज्ञान होता है और सम्यक् परिज्ञान होने से साधक पुरुषार्थ के द्वारा सिद्धि को वरण करता है।

जागरूकता का सन्देश

चतुर्थ अध्ययन का नाम समवायांग में[८१] 'असंखयं है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति में 'प्रमादाप्रमाद' नाम दिया है।[८२] निर्युक्तिकार ने अध्ययन में वर्णित विषय के आधार पर नाम दिया है तो समवायांग में जो नाम है वह प्रथम गाथा के प्रथम पद पर आधृत है। अनुयोगद्वार से भी इस बात का समर्थन होता है।[८३] व्यक्ति सोचता है—अभी तो मेरी युवावस्था है, धर्म वृद्धावस्था में करूँगा, पर उसे पता नहीं कि वृद्धावस्था आयेगी अथवा नहीं? इसलिए भगवान् ने कहा—धर्म करने में प्रमाद न करो! जो व्यक्ति यह सोचते हैं कि अर्थ पुरुषार्थ है, अतः अर्थ मेरा कल्याण करेगा, पर उन्हें यह पता नहीं कि अर्थ अनर्थ का कारण है। तुम जिस प्रकार के कर्मों का उपार्जन करोगे उसी प्रकार का फल प्राप्त होगा। "कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि"—कृत कर्मों को भोगे विना छुटकारा नहीं है। इस प्रकार अनेक जीवनोत्थान के तथ्यों का प्रतिपादन प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है और साधक को यह प्रेरणा दी गई है कि वह प्रतिपल-प्रतिक्षण जागरूक रहकर साधना के पथ पर आगे बढ़े।

चतुर्थ अध्ययन की प्रथम और तृतीय गाथा में जो भाव अभिव्यक्त हुए हैं, वैसे ही भाव बौद्धग्रन्थ—अंगुत्तरनिकाय तथा थेरगाथा में भी आये हैं। हम जिज्ञासुओं के लिए यहाँ पर उन गाथाओं को तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करने हेतु दे रहे हैं। देखिए—

"असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, कण्णू विहिंसा अजया गहिन्ति॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र ४।१

तुलना कीजिए—

"उपनीयति जीवितं अप्पमायु, जरूपनीतस्स न सन्ति ताणा।
एतं भयं मरणे पेक्खमाणो, पुञ्ञानि कयिराथ सुखावहानि॥"

—अंगुत्तरनि., पृष्ठ १५९

"तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि॥"

—उत्तराध्ययन ४।३

---

८१. छत्तीसं उत्तरज्झयणा प० तं०—विणयसुयं ....असंखयं ....! —समवायांग, समवाय ३६

८२. पंचविहो अ पमाओ इहमज्झयणंमि अप्पमाओ य।
वण्णिएज्ज उ जम्हा तेण पमायप्पमायंति॥ —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा १८१

८३. अनुयोगद्वार, सूत्र १३० : पाठ के लिए देखिये पृ. ३९ पा. टि. १

तुलना कीजिए—

"चोरो यथा सन्धिमुखे गहीतो, सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो।
एवं पजा पेच्च परम्हि लोके, सकम्मुना हञ्ञति पापधम्मो॥"
—थेरगाथा ७८९

मृत्यु : एक चिन्तन

पांचवें अध्ययन में अकाम-मरण के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। भारत के तत्त्वदर्शी ऋषि महर्षि और सन्तगण जीवन और मरण के सम्बन्ध में समय-समय पर चिन्तन करते रहे हैं। जीवन सभी को प्रिय है और मृत्यु अप्रिय है। जीवित रहने के लिए सभी प्रयास करते हैं और चाहते हैं कि हम दीर्घकाल तक जीवित रहें। उत्कट जिजीविषा प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है। पर सत्य यह है कि जीवन के साथ मृत्यु का चोली-दामन का सम्बन्ध है। न चाहने पर भी मृत्यु निश्चित है, यहाँ तक कि मृत्यु की आशंका से मानव और पशु ही नहीं अपितु स्वर्ग के अनुपम सुखों को भोगने वाले देव और इन्द्र भी कांपते हैं। संसार में जितने भी भय हैं, उन सब में मृत्यु का भय सबसे बढ़कर है। पर चिन्तकों ने कहा—तुम मृत्यु से भयभीत मत बनो! जीवन और मरण तो खेल है। तुम खिलाड़ी बनकर कलात्मक ढंग से खेलो, चालक को मोटर चलाने की कला आनी चाहिए तो मोटर को रोकने की कला भी आनी चाहिए। जो चालक केवल चलाना ही जानता हो, रोकने की कला से अनभिज्ञ हो, वह कुशल चालक नहीं होता। जीवन और मरण दोनों ही कलाओं का पारखी ही सच्चा पारखी है। जैसे हँसते हुए जीना आवश्यक है, वैसे ही हँसते हुए मृत्यु को वरण करना भी आवश्यक है। जो हँसते हुए मरण नहीं करता है, वह अकाममरण को प्राप्त होता है। अकाममरण विवेकरहित और सकाममरण विवेकयुक्त मरण है। अकाममरण में विषय-वासना की प्रबलता होती है, कषाय की प्रधानता होती है और सकाममरण में विषय-वासना और कषाय का अभाव होता है। सकाममरण में साधक शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् मानता है। शुद्ध दृष्टि से आत्मा विशुद्ध है, अनन्त आनन्द-मय है। शरीर का कारण कर्म है और कर्म से ही मृत्यु और पुनर्जन्म है। इसलिए उस साधक के मन में न वासना होती है और न दुर्भावना ही होती है। वह विना किसी कामना के स्वेच्छा से प्रसन्नता-पूर्वक मृत्यु को इसलिए वरण करता है कि उसका शरीर अब साधना करने में सक्षम नहीं है। अतः समाधिपूर्वक सकाममरण की महिमा आगम व आगमेतर साहित्य में गाई गई है।

सकाममरण को पण्डितमरण भी कहते हैं। पण्डितमरण के अनेक भेद-प्रभेदों की चर्चाएँ आगम-साहित्य में विस्तार से निरूपित हैं। बालमरण के भी अनेक भेद-प्रभेद हैं। विस्तारभय से उन सभी की चर्चा हम यहाँ नहीं कर रहे हैं। आत्म-बलिदान और समाधिमरण में बहुत अन्तर है। आत्म-बलिदान में भावना की प्रबलता होती है। बिना भावातिरेक के आत्म-बलिदान सम्भव नहीं है। समाधिमरण में भावातिरेक नहीं होता। उसमें विवेक और वैराग्य की प्रधानता होती है।

आत्मघात और संलेखना—संथारे में भी आकाश-पाताल जितना अन्तर है। आत्मघात करने वाले के चेहरे पर तनाव होता है, उसमें एक प्रकार का पागलपन आ जाता है। आकुलता-व्याकुलता होती है। जबकि समाधिमरण करने वाले की मृत्यु आकस्मिक नहीं होती। आत्मघाती में कायरता होती है, कर्त्तव्य से पलायन की भावना होती है, पर पण्डितमरण में वह वृत्ति नहीं होती। वहाँ प्रबल समभाव होता है। पण्डितमरण के सम्बन्ध में जितना जैन मनीषियों ने चिन्तन किया है, उतना अन्य मनीषियों ने नहीं।

बौद्धपरम्परा में इच्छापूर्वक मृत्यु को वरण करने वाले साधकों का संयुक्तनिकाय में समर्थन भी किया है। सीठ, सप्पदास, गोधिक, भिक्षुवक्कली[८४], कुलपुत्र और भिक्षुछन्न[८५], ये असाध्य रोग से ग्रस्त थे। उन्होंने आत्महत्याएँ कीं। तथागत बुद्ध को ज्ञात होने पर उन्होंने अपने संघ को कहा—ये भिक्षु निर्दोष हैं। इन्होंने आत्महत्या कर परिनिर्वाण को प्राप्त किया है। आज भी जापानी बौद्धों में हाराकीरी (स्वेच्छा से शस्त्र के द्वारा आत्महत्या) की प्रथा प्रचलित है। बौद्धपरम्परा में शस्त्र के द्वारा उसी क्षण मृत्यु को वरण करना श्रेष्ठ माना है। जैनपरम्परा ने इस प्रकार मरना अनुचित माना है, उसमें मरने की आतुरता रही हुई है।

वैदिकपरम्परा के ग्रन्थों में आत्महत्या को महापाप माना है। पाराशरस्मृति में उल्लेख है—क्लेश, भय, घमण्ड, क्रोध आदि के वशीभूत होकर जो आत्महत्या करता है, वह व्यक्ति ६० हजार वर्ष तक नरक में निवास करता है।[८६] महाभारत की दृष्टि से भी आत्महत्या करने वाला कल्याणप्रद लोक में नहीं जा सकता।[८७] वाल्मीकि रामायण[८८], शांकरभाष्य[८९], वृहदारण्यकोपनिषद्[९०], महाभारत[९१], आदि ग्रन्थों में आत्मघात को अत्यन्त हीन माना है। जो आत्मघात करते हैं, उनके सम्बन्ध में मनुस्मृति[९२], याज्ञवल्क्य[९३], उपनस्मृति[९४], कूर्मपुराण[९५], अग्निपुराण[९६], पाराशरस्मृति[९७] आदि ग्रन्थों में बताया है कि उन्हें जलाञ्जलि भी नहीं देनी चाहिए।

जहाँ एक ओर आत्मघात को निंद्य माना है तो दूसरी ओर विशेष पापों के प्रायश्चित्त के रूप में आत्मघात का समर्थन भी किया है, जैसे मनुस्मृति में आत्मघाती, मदिरापायी ब्राह्मण, गुरुपत्नीगामी को उग्र शस्त्र,

---

८४. संयुक्तनिकाय-२१-२-४-५.
८५. (क) संयुक्तनिकाय-३४-२-४-४
(ख) History of Suicide in India —Dr. Upendra Thakur p.107
८६. अतिमानादतिक्रोधात्स्नेहाद्वा यदि वा भयात्।
उद्बध्नीयात्स्त्री पुमान्वा गतिरेषा विधीयते॥
पूयशोणितसम्पूर्णे अन्धे तमसि मज्जति।
षष्टिवर्षसहस्राणि नरकं प्रतिपद्यते॥ —पाराशरस्मृति ४-१-२
८७. महाभारत, आदिपर्व १७९, २०.
८८. वाल्मीकि रामायण ८३,८३
८९. आत्मनं घ्नन्तीत्यात्महनः। के ते जनाः येऽविद्वांस……………अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणात्……… …प्राकृतविद्वांसो आत्महन उच्यन्ते.
९०. वृहदारण्यकोपनिषद् ४, ४-११
९१. महाभारत, आदिपर्व १७८-२०
९२. मनुस्मृति ५, ८९
९३. याज्ञवल्क्य ३, ६
९४. उपनस्मृति ७. २
९५. कूर्मपुराण, उत्त. २३-७३
९६. अग्निपुराण १५७-३२
९७. पाराशरस्मृति ४, ४-७

अग्नि आदि से आत्मघात करने का विधान है[९८] क्योंकि वह उससे शुद्ध होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति[९९], गौतमस्मृति[१००], वशिष्ठस्मृति[१०१], आपस्तम्भीय धर्मसूत्र[१०२], महाभारत[१०३] आदि में इसी तरह से शुद्धि के उपाय बताये हैं। जिसके फलस्वरूप काशीकरवट, प्रयाग में अक्षयवट से कूदकर आत्महत्या करने की प्रथाएँ प्रचलित हुई। इस प्रकार मृत्युवरण को एक पवित्र और श्रेष्ठ धार्मिक आचरण माना गया। महाभारत के अनुशासनपर्व[१०४] वनपर्व[१०५], मत्स्यपुराण[१०६] में स्पष्ट वर्णन है—अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, गिरिपतन, विषप्रयोग या अनशन द्वारा देहत्याग करने पर ब्रह्मलोक अथवा मुक्ति प्राप्त होती है।

प्रयाग, सरस्वती, काशी आदि तीर्थस्थलों में आत्मघात करने का विधान है। महाभारत में कहा है—वेदवचन या लोकवचन से प्रयाग में मरने का विचार नहीं त्यागना चाहिए।[१०७] इसी प्रकार कूर्मपुराण[१०८], पद्मपुराण[१०९], स्कन्दपुराण[११०], मत्स्यपुराण[१११], ब्रह्मपुराण[११२] लिङ्गपुराण[११३] में स्पष्ट उल्लेख है कि जो इन स्थलों पर मृत्यु को वरण करता है, भले ही वह स्वस्थ हो या अस्वस्थ, मुक्ति को अवश्य ही प्राप्त करता है।

वैदिकपरम्परा के ग्रन्थों में परस्पर विरोधी वचन प्राप्त होते हैं। कहीं पर आत्मघात को निकृष्ट माना है तो कहीं पर उसे प्रोत्साहन भी दिया गया है। कहीं पर जैनपरम्परा की तरह समाधिमरण का मिलता-जुलता वर्णन है। किन्तु जल-प्रवेश, अग्निप्रवेश, विषभक्षण, गिरिपतन, शस्त्राघात के द्वारा मरने का वर्णन अधिक है। इस प्रकार मृत्यु के वरण में कषाय की तीव्रता रहती है। श्रमण भगवान् महावीर ने इस प्रकार के मरण को बालमरण कहा है। क्योंकि ऐसे मरण में समाधि का अभाव होता है।

---

९८. सुरां पीत्वा द्विजो महोदग्निवर्णा सुरां पिवेत्।
तया स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्विषात्ततः॥ —मनुस्मृति ११, ९०, ९१, १०३, १०४

९९. याज्ञवल्क्यस्मृति ३, २४८, ३-२५३

१००. गौतमस्मृति २३, १

१०१. (क) वशिष्ठस्मृति २०, १३-१४
(ख) आचार्य-पुत्र-शिष्य-भार्यासु चैवम्। —वशिष्ठस्मृति १८-१५

१०२. आपस्तंबीय धर्मसूत्र १९, २५, १-२-३-४-५-६-७

१०३. महाभारत—अनुशासनपर्व, अ. १२

१०४. महाभारत—अनुशासनपर्व २५, ६१-६४

१०५. महाभारत—वनपर्व ८५-८३

१०६. मत्स्यपुराण १८६, ३४-३५

१०७. न वेदवचनात् तात! न लोकवचनादपि।
मतिरुत्क्रमणीया ते प्रयागमरणं प्रति॥ —महाभारत, वनपर्व ८५,८३

१०८. कूर्मपुराण १, ३६, १४७; १, ३७३, ४

१०९. पद्मपुराण आदिकाण्ड ४४-३, १-१६-१४, १५

११०. स्कन्दपुराण २२, ७६

१११. मत्स्यपुराण १८६, ३४-३५

११२. ब्रह्मपुराण ६८, ७५, १७७, १६-१७, १७७, २५

११३. लिङ्गपुराण ९२, १६८-१६९

इस्लामधर्म में स्वैच्छिक मृत्यु का विधान नहीं है। उसका मानना है कि खुदा की अनुमति के बिना निश्चित समय के पूर्व किसी को मरने का अधिकार नहीं है। इसी प्रकार ईसाईधर्म में भी आत्महत्या का विरोध किया गया है। ईसाइयों का मानना है कि न तुम्हें दूसरों को मारना है और न स्वयं मरना है।[११४]

संक्षेप में कहा जाय तो उत्तराध्ययन में मृत्यु के सन्निकट आने पर चारों प्रकार के आहार का त्याग कर आत्मध्यान करते हुए जीवन और मरण की कामना से मुक्त होकर समभाव पूर्वक प्राणों का विसर्जन करना "पण्डित-मरण" या "सकाम-मरण" है। जो व्यक्ति जन, परिजन, धन आदि में मूच्छित होकर मृत्यु को वरण करता है, उसका मरण "बाल-मरण" या "अकाम-मरण" है। अकाम और बाल मरण को भगवान् महावीर ने त्याज्य बताया है।

निर्ग्रन्थ : एक अध्ययन

छट्ठे अध्ययन का नाम 'क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय' है। 'निर्ग्रन्थ' शब्द जैन-परम्परा का एक विशिष्ट शब्द है। आगम-साहित्य में शताधिक स्थानों पर निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग हुआ है। बौद्धसाहित्य में "निग्गंठो नायपुत्तो" शब्द अनेकों बार व्यवहृत हुआ है।[११५] तपागच्छ पट्टावली में यह स्पष्ट निर्देश है कि गणधर सुधर्मास्वामी से लेकर आठ पट्ट-परम्परा तक निर्ग्रन्थ-परम्परा के रूप में विश्रुत थी। सम्राट अशोक के शिलालेखों में 'निगंठ' शब्द का प्रयोग हुआ है।[११६] जो निर्ग्रन्थ का ही रूप है। ग्रन्थियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक स्थूल और दूसरी सूक्ष्म। आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करना 'स्थूल-ग्रन्थ' कहलाता है तथा आसक्ति का होना 'सूक्ष्म-ग्रन्थ' है। ग्रन्थ का अर्थ गांठ है। निर्ग्रन्थ होने के लिए स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही ग्रन्थियों से मुक्त होना आवश्यक है। राग-द्वेष आदि कषायभाव 'आभ्यन्तर ग्रन्थियाँ' हैं। उन्हीं ग्रन्थियों के कारण बाह्यग्रन्थ एकत्रित किया जाता है। श्रमण इन दोनों ही ग्रन्थियों का परित्याग कर साधना के पथ पर अग्रसर होता है। प्रस्तुत अध्ययन में इस सम्बन्ध में गहराई से अनुचिन्तन किया गया है।

दुःख का मूल : आसक्ति

सातवें अध्ययन में अनासक्ति पर बल दिया है। जहाँ आसक्ति है, वहाँ दुःख है, जहाँ अनासक्ति है, वहाँ सुख है। इन्द्रियाँ क्षणिक सुख की ओर प्रेरित होती हैं, पर वह सच्चा सुख नहीं होता। वह सुखाभास है। प्रस्तुत अध्ययन में पांच उदाहरणों के माध्यम से विषय को स्पष्ट किया गया है। पांचों दृष्टान्त अत्यन्त हृदयग्राही हैं। प्रस्तुत अध्ययन का नाम समवायांग[११७] और उत्तराध्ययननिर्युक्ति[११८] में "उरब्भिज्जं" है। अनुयोगद्वार

---

११४. Thou shalt not kill, neither thyself nor another.

११५. विसुद्धिमग्गो, विनयपिटक

११६. (क) श्री सुधर्मस्वामिनोऽष्टौ सूरीन् यावत् निर्ग्रन्थाः।

—तपागच्छ पट्टावली (पं. कल्याणविजय संपादित) भाग १, पृष्ठ २५३

(ख) निघंठेसु पि मे कटे (,) इमे वियापटा होहंति। —दिल्ली-टोपरा का सप्तम स्तम्भलेख

११७. समवायांग, समवाय ३६

११८. उरभाउणामगोयं, वेयंतो भावओ उ ओरब्भो।
तत्तो समुट्ठियमिणं, उरब्भिज्जन्ति अज्झयणं॥

—उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २४६

में "एलइज्ज" नाम प्राप्त होता है।[119] प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम गाथा में भी 'एलयं' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। उरभ्र और एलक, ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं, अतः ये दोनों शब्द आगम-साहित्य में आये हैं। इनके अर्थ में कोई भिन्नता नहीं है।

लोभ

आठवें अध्ययन में लोभ की अभिवृद्धि का सजीव चित्रण किया गया है। लोभ उस सरिता की तेज धारा के सदृश है जो आगे बढ़ना जानती है, पीछे हटना नहीं। ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों द्रौपदी के चीर की तरह लोभ बढ़ता चला जाता है। लोभ को नीतिकारों ने पाप का बाप कहा है। अन्य कषाय एक-एक सद्गुण का नाश करता है, पर लोभ सभी सद्गुणों का नाश करता है। क्रोध, मान, माया के नष्ट होने पर भी लोभ की विद्यमानता में वीतरागता नहीं आती। बिना वीतराग बने सर्वज्ञ नहीं बनता। कपिल केवली के कथानक द्वारा यह तथ्य उजागर हुआ है। कपिल के अन्तर्मानस में लोभ की बाढ़ इतनी अधिक आ गई थी कि उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उसका मन विरक्ति से भर गया। वह सब कुछ छोड़कर निर्ग्रन्थ बन गया। एक बार तस्करों ने उसे चारों ओर से घेर लिया। कपिल मुनि ने संगीत की सुरीली स्वर-लहरियों में मधुर उपदेश दिया। संगीत के स्वर तस्करों को इतने प्रिय लगे कि वे भी उन्हीं के साथ गाने लगे। कपिल मुनि के द्वारा प्रस्तुत अध्ययन गाया गया था, इसलिए इस अध्ययन का नाम "कापिलीय" अध्ययन है। वादीवेताल शान्तिसूरि ने अपनी बृहद्वृत्ति में इस सत्य को व्यक्त किया है।[120] जिनदासगणी महत्तर ने प्रस्तुत अध्ययन को 'ज्ञेय' माना है।[121] "अधुवे असासयंमि, संसारम्मि दुक्खपउराए" यह ध्रुव पद था, जो प्रत्येक गाथा के साथ गाया गया। कितने ही तस्कर तो प्रथम गाथा को सुनकर ही संबुद्ध हो गये। कितनेक दूसरी, तीसरी गाथा को सुनकर संबुद्ध हुए। इस प्रकार ५०० तस्कर प्रतिबुद्ध होकर मुनि बने। प्रस्तुत अध्ययन में ग्रन्थित्याग, संसार की असारता, कुतीर्थियों की अज्ञता, अहिंसा, विवेक, स्त्री-संगम प्रभृति अनेक विषय चर्चित हैं। कपिल स्वयंबुद्ध थे। उन्हें स्वयं ही बोध प्राप्त हुआ था।

आठवें अध्ययन में कहा गया है—जो साधु लक्षणशास्त्र, स्वप्नशास्त्र और अंगविद्या का प्रयोग करता है, वह साधु नहीं है। यही बात तथागत बुद्ध ने भी सुत्तनिपात में कही है। उदाहरण के लिए देखिए—

जे लक्खणं च सुविणं च, अंगविज्जं च जे पउंजन्ति।
न हु ते समणा वुच्चन्ति, एवं आयरिएहिं अक्खायं॥"

—उत्तराध्ययन ८।१३

---

११९. अनुयोगद्वार, सूत्र १३०

१२०. ....ताहे ताणवि पंचवि चोरसयाणि ताले कुट्टेंति, सोऽवि गायति धुवगं, "अधुवे असासयंमि, संसारंमि दुक्खपउराए। किं णाम तं होज्ज कम्मयं, जेणाहं दुग्गइं ण गच्छेज्जा ॥१॥" एवं सव्वत्थ सिलोगन्तरे धुवगं गायति 'अधुवेत्यादि', तत्थ केइ पढमसिलोगे संबुद्धा, केइ बीए, एवं जाव पंचवि सया संबुद्धा पव्वतियत्ति। ....स हि भगवान् कपिलनामा........ धुवकं सङ्गीतवान्। —बृहद्वृत्ति, पत्र २८९

१२१. गेयं णाम सरसंचारेण, जधा काविलिज्जे—"अधुवे असासयंमि, संसारम्मि दुक्खपउराए।............ न गच्छेज्जा।" —सूत्रकृतांगचूर्णि, पृष्ठ ७

तुलना कीजिए—

> "आथब्बणं सुपिनं लक्खणं, नो विदहे अथो पि नक्खत्तं ।
> विरुतं च गब्भकरणं. तिकिच्छं मामको न सेवेय्य ।।"
>
> —सुत्त., व. ८, १४।१३

नवमें अध्ययन में नमि राजर्षि संयम-साधना के पथ को स्वीकार करते हैं। उनकी परीक्षा के लिए इन्द्र ब्राह्मण के रूप को धारण कर आता है। उनके वैराग्य की परीक्षा करना चाहता है। पर नमि राजर्षि अध्यात्म के अन्तस्तल को स्पर्श किये हुए महान् साधक थे। उन्होंने कहा—कामभोग त्याज्य हैं, वे तीक्ष्ण शल्य हैं। भयंकर विष के सदृश हैं, आशीविष सर्प के समान हैं। जो इन काम-भोगों की इच्छा करता है, उनका सेवन करता है, वह दुर्गति को प्राप्त होता है। इन्द्र ने उन्हें प्रेरणा दी—अनेक राजा-गण आपके अधीन नहीं हैं, प्रथम उन्हें अधीन करके बाद में प्रव्रज्या ग्रहण करना। राजर्षि ने कहा—एक मानव रणक्षेत्र में लाखों वीर योद्धाओं पर विजय-वैजयन्ती फहराता है, दूसरा आत्मा को जीतता है। जो अपनी आत्मा को जीतता है, वह उस व्यक्ति की अपेक्षा महान् है।

प्रस्तुत संवाद में इन्द्र ब्राह्मण-परम्परा का प्रतिनिधि है तो नमि राजर्षि श्रमण-परम्परा के प्रतिनिधि है। इन्द्र ने गृहस्थाश्रम का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए उसे घोर आश्रम कहा। क्योंकि वैदिक-परम्परा का आघोष था—चार आश्रमों में गृहस्थाश्रम मुख्य है। गृहस्थ ही यजन करता है, तप तपता है। जैसे—नदी और नद समुद्र में आकर स्थित होते हैं, वैसे ही सभी आश्रमी गृहस्थ पर आश्रित हैं।[१२२]

नवमें अध्ययन के नमि राजर्षि की जो कथावस्तु है, उस कथावस्तु की आंशिक तुलना महाजनजातक, सोनकजातक, माण्डव्य मुनि और जनक, जनक और भीष्म के कथानकों से की जा सकती है। हमने विस्तारभय से उन कथानकों को यहाँ पर नहीं दिया है। यहाँ हम नवमें अध्ययन की कुछ गाथाओं की तुलना जातक, धम्मपद, अंगुत्तरनिकाय, दिव्यावदान और महाभारत के पद्यों के साथ कर रहे हैं। उदाहरण स्वरूप देखिए—

> "सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किंचणं ।
> मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचणं ।।"
>
> —उत्तराध्ययनसूत्र ९।१४

तुलना कीजिए—

> "सुसुखं वत जीवाम ये सं नो नत्थि किंचनं ।
> मिथिलाय डय्हमानाय न मे किंचि अडय्हथ ।।"
>
> —जातक ५३९, श्लोक १२५, जातक ५२९; श्लोक-१६; धम्मपद-१५

---

१२२. गृहस्थ एव यजते, गृहस्थस्तप्यते तपः ।
चतुर्णामाश्रमाणां तु, गृहस्थश्च विशिष्यते ।।
यथा नदी नदाः सर्वे, समुद्रे यान्ति संस्थितिम् ।
एवमाश्रमिणः सर्वे, गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ।।
—वाशिष्ठधर्मशास्त्र, ८।१४-१५

"सुसुखं वत जीवामि, यस्य मे नास्ति किंचन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां, न मे दह्यति किंचन ॥"

—मोक्षधर्मपर्व, २७६।२

"जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र ९।३४

तुलना कीजिए—

"यो सहस्सं सहस्सेन, संगामे मानुसे जिने ।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे संगामजुत्तमो ॥"

—धम्मपद ८।४

"जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए ।
तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचणं ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र ९।४०

तुलना कीजिए—

"मासे मासे सहस्सेन यो यजेथ सतं समं ।
एकं च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये ॥
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ।
यो च वस्ससतं जन्तु अग्गिं परिचरे वने ॥
एकं च भावितत्तानं, मुहुत्तमपि पूजये ।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं ॥"

—धम्मपद ८।७,८

"यो ददाति सहस्राणि, गवामश्वशतानि च ।
अभयं सर्वभूतेभ्यः, सदा तमभिवर्तते ॥"

—शान्तिपर्व २९८।५

"मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए ।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसिं ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र ९।४४

तुलना कीजिए—

"मासे मासे कुसग्गेन, बाला भुंजेथ भोजनं ।
न सो संखतधम्मानं, कलं अग्घति सोलसिं ॥"

—धम्मपद ५।११

"अट्ठंगुप्रेतस्स उपोसथस्स, कलं पि ते नानुभवंति सोलसिं ।"

—अंगु. नि., पृष्ठ २२१

"सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि, इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया ॥"

—उत्तराध्ययन. ९।४८

तुलना कीजिए—

"पर्वतोपि सुवर्णस्य, समो हिमवता भवेत् ।
नालं एकस्य तद् वित्तं, इति विद्वान् समाचरेत् ॥"

—दिव्यावदान, पृष्ठ २२४

"पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र ९।४९

तुलना कीजिए—

"यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
सर्वं तन्नालमेकस्य, तस्माद् विद्वाञ्छमं चरेत् ॥"

—अनुशासनपर्व ९३।४०

"यत् पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति, पश्यन्न मुह्यति ॥"

—उद्योगपर्व ३९।८४

"यद् पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
एकस्यापि न पर्याप्तं, तदित्यवितृष्णां त्यजेत् ॥"

—विष्णुपुराण ४।१०।१०

वैदिकदृष्टि में गृहस्थाश्रम को प्रमुख माना गया है। इन्द्र ने कहा—राजर्षि ! इस महान् आश्रम को छोड़ कर तुम अन्य आश्रम में जाना चाहते हो, यह उचित नहीं है। यहीं पर रहकर धर्म का पोषण करो एवं पौषध में रत रहो ! नमि राजर्षि ने कहा—हे ब्राह्मण ! मास-मास का उपवास करके पारणा में कुशाग्र मात्र आहार ग्रहण करने वाला गृहस्थ मुनिधर्म की सोलहवीं कला भी प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार गृहस्थजीवन की अपेक्षा श्रमणजीवन को श्रेष्ठ बताया गया है। अन्त में इन्द्र नमि राजर्षि के दृढ़ संकल्प को देखकर अपना असली रूप प्रकट करता है और नमि राजर्षि की स्तुति करता है। प्रस्तुत अध्ययन में ब्राह्मण-संस्कृति और श्रमण-संस्कृति का पार्थक्य प्रकट किया गया है।

जागरण का सन्देश

दसवें अध्ययन में भगवान् महावीर द्वारा गौतम को किया गया उद्बोधन संकलित है। गौतम के माध्यम से सभी श्रमणों को उद्बोधन दिया गया है। जीवन की अस्थिरता, मानवभव की दुर्लभता, शरीर और इन्द्रियों की धीरे-धीरे क्षीणता तथा त्यक्त कामभोगों को पुनः न ग्रहण करने की शिक्षा दी गई है। जीवन की नश्वरता द्रुमपत्र की उपमा से समझाई गई है। यह उपमा अनुयोगद्वार आदि में भी प्रयुक्त हुई है। वहाँ पर कहा है—पके हुए पत्तों को गिरते देख कोपलें खिलखिला कर हँस पड़ीं। तब पके हुए पत्तों ने कहा—जरा ठहरो ! एक

दिन तुम पर भी वही बीतेगी जो आज हम पर बीत रही है![123] इस उपमा का उपयोग परवर्ती साहित्य में कवियों ने जमकर किया है।

दसवें अध्ययन में बताया है—जैसे शरद्‌ऋतु का रक्त कमल जल में लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार भगवान् महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा—तू अपने स्नेह का विच्छेद कर निर्लिप्त बन! यही बात धम्मपद में भी कही गई है। भाव एक है, पर भाषा में कुछ परिवर्तन है। उदाहरण के रूप में देखिए—

"वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं गोयम! मा पमायए॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र १०।२८

तुलना कीजिए—

"उच्छिन्द सिनेहमत्तनो, कुमुदं सारदिकं व पाणिना।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय. निब्बानं सुगतेन देसितं॥"

—धम्मपद २०।१३

बहुश्रुतता : एक चिन्तन

ग्यारहवें अध्ययन मे बहुश्रुत की भाव-पूजा का निरूपण है। इसीलिए प्रस्तुत अध्ययन का नाम "बहुश्रुत-पूजा" है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने बहुश्रुत का अर्थ चतुर्दशपूर्वी किया है। प्रस्तुत अध्ययन में बहुश्रुत के गुणों का वर्णन है। यों बहुश्रुत के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट, ये तीन भेद किये हैं। जघन्य—निशीथशास्त्र का ज्ञाता, मध्यम—निशीथ से लेकर चौदह पूर्व के पहले तक का ज्ञाता और उत्कृष्ट—चौदहपूर्वों का वेत्ता। प्रस्तुत अध्ययन में विविध उपमाओं से तेजस्वी व्यक्तित्व को उभारा गया है। वस्तुतः ये उपमाएँ इतनी वास्तविक हैं कि पढ़ते-पढ़ते पाठक का सिर सहज ही श्रद्धा से बहुश्रुत के चरणों में नत हो जाता है। बहुश्रुतता प्राप्त होती है—विनय से। विनीत व्यक्ति को प्राप्त करके ही श्रुत फलता और फूलता है। जिसमें क्रोध, प्रमाद, रोग, आलस्य और स्तब्धता ये पांच विघ्न हैं, वह बहुश्रुतता प्राप्त नहीं कर सकता। विनीत व्यक्ति ही बहुश्रुतता का पूर्ण अधिकारी है।

बारहवें अध्ययन में मुनि हरिकेशबल के सम्बन्ध में वर्णन है। हरिकेश चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए थे। किन्तु तप के दिव्य प्रभाव से वे देवताओं के द्वारा भी वन्दनीय बन गये थे। प्रस्तुत अध्ययन में दान के लिए सुपात्र कौन है? इस सम्बन्ध में कहा है—जिसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह की प्रधानता है, वह दान का पात्र नहीं है। स्नान के सम्बन्ध में भी चिन्तन किया गया है। हरिकेश मुनि ने ब्राह्मणों से कहा—बाह्य स्नान से आत्मशुद्धि नहीं होती, क्योंकि वैदिकपरम्परा में जलस्नान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया था। हरिकेशबल मुनि से पूछा गया—आपका जलाशय कौन-सा है, शान्तितीर्थ कौन-सा है, आप कहाँ पर स्नान कर कर्मरज को धोते हैं। मुनि ने कहा—अकलुषित एवं आत्मा के प्रसन्न लेश्या वाला धर्म मेरा जलाशय

---

१२३. परिजूरियपेरंतं, चलंतविंटं पडंतनिच्छीरं।
पत्तं वसणप्पत्तं, कालप्पत्तं भणइ गाहं॥१२०॥
जह तुब्भे तह अम्हे, तुम्हेऽवि होहिहा जहा अम्हे।
अप्पाहेई पडंतं, पंडुयपत्तं किसलयाणं॥१२१॥

—अनुयोगद्वार, सूत्र १४६

है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्तितीर्थ है। जहाँ पर स्नान कर मैं विमल, विशुद्ध और सुशीतल होकर कर्मरज का त्याग करता हूँ। यह स्नान कुशल पुरुषों द्वारा इष्ट है। यह महा स्नान है, अतः ऋषियों के लिए प्रशस्त है। इस धर्म-नद में स्नान किये हुए महर्षि विमल, विशुद्ध होकर उत्तम गति (मुक्ति) को प्राप्त हुए हैं। निर्ग्रन्थपरम्परा में आत्मशुद्धि के लिए बाह्य स्नान को स्थान नहीं दिया गया है। एकदण्डी, त्रिदण्डी परिव्राजक स्नानशील और शुचिवादी थे।[१२४] आचार्य संघदासगणी ने त्रिदण्डी परिव्राजक को श्रमण कहा है।[१२५] आचार्य शीलांक ने भी उसे श्रमण माना है।[१२६] आचार्य वट्टकेर ने तापस, परिव्राजक, एकदण्डी, त्रिदण्डी आदि को श्रमण कहा है।[१२७] ये श्रमण जल-स्नान को महत्त्व देते थे, किन्तु निर्ग्रन्थपरम्परा ने स्नान को अनाचीर्ण कहा है। बौद्ध-परम्परा में पहले स्नान का निषेध नहीं था। बौद्ध भिक्षु नदियों में स्नान करते थे। एक बार बौद्ध भिक्षु 'तपोदा' नदी में स्नान कर रहे थे। राजा श्रेणिय बिम्बिसार वहाँ स्नान के लिए पहुँचे। भिक्षुओं को स्नान करते देखकर वे एक ओर रहकर प्रतीक्षा करते रहे। रात्रि होने पर भी भिक्षु स्नान करते रहे। भिक्षुओं के जाने के बाद श्रेणिय बिम्बिसार ने स्नान किया। नगर के द्वार बन्द हो चुके थे। अतः राजा को वह रात बाहर ही बितानी पड़ी। प्रातः गन्ध-विलेपन कर राजा बुद्ध के पास पहुँचा। तथागत ने पूछा—आज इतने शीघ्र गन्धविलेपन कैसे हुआ? राजा ने सारी बात कही। बुद्ध ने राजा को प्रसन्न कर रवाना किया। तथागत बुद्ध ने भिक्षुओं को बुलाकर कहा—तुम राजा के देखने के पश्चात् भी स्नान करते रहे, यह ठीक नहीं किया। उन्होंने नियम बनाया—जो भिक्षु पन्द्रह दिन से पूर्व स्नान करेगा, उसे 'पाचित्तिय' दोष लगेगा। गर्मी के दिनों में पहनने तथा शयन करने के वस्त्र पसीने से गन्दे होने लगे तब बुद्ध ने कहा—गर्मी के दिनों में पन्द्रह दिन के अन्दर भी स्नान किया जा सकता है। रुग्णता तथा वर्षा-आंधी के समय में भी स्नान करने की छूट दी गई।[१२८] भगवान् महावीर ने साधुओं के लिए प्रत्येक परिस्थिति में स्नान करने का स्पष्ट निषेध किया। स्नान के सम्बन्ध में कोई अपवाद नहीं रखा। उत्तराध्ययन[१२९], आचारचूला[१३०], सूत्रकृतांग[१३१] दशवैकालिक[१३२] आदि में श्रमणों के लिए स्नान करने का वर्जन है। श्रमण भगवान् महावीर के समय कितने ही चिन्तक प्रातःस्नान करने से ही मोक्ष मानते थे। भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में उसका विरोध करते हुए कहा—स्नान करने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं

---

१२४. परिहत्ता—परिव्राजका एकदण्डित्रिदण्ड्यादयः स्नानशीलाः शुचिवादिनः।
—मूलाचार, पंचाचाराधिकार ६२, वृत्ति

१२५.. निशीथसूत्र, भाग २, पृष्ठ २, ३, ३३२

१२६. सूत्रकृतांग-१।१।३।८ वृत्ति

१२७. मूलाचार, पंचाचाराधिकार ६२

१२८. Sacred Book of the Buddhists Vol. XI Part. II LVII P. P. 400-405

१२९. (क) उण्हाहितत्ते मेहावी, सिणाणं नो वि पत्थए।
गायं नो परिसिंचेज्जा, न वीएज्जा य अप्पयं॥
—उत्तराध्ययन २।९

(ख) उत्तराध्ययन १५।८

१३०. आचारचूला २.२.२.१; २.१३

१३१. सूत्रकृतांग १.७.२१.२२; १.९.१३

१३२. दशवैकालिक, अध्ययन ६, गाथा ६०-६१

है।[133] जो जल-स्पर्श से ही मुक्ति मानते हैं, वे मिथ्यात्वी हैं। यदि जल-स्नान से कर्म-मल नष्ट होता है तो पुण्य-फल भी नष्ट होगा, अतः यह धारणा भ्रान्त है।

प्रस्तुत अध्ययन में हिंसात्मक यज्ञ की निरर्थकता भी सिद्ध की है। यज्ञ वैदिकसंस्कृति की प्रमुख मान्यता रही है। वैदिकदृष्टि से यज्ञ की उत्पत्ति का मूल विश्व का आधार है। पापों के नाश के लिए, शत्रुओं के संहार के लिए, विपत्तियों के निवारण के लिए, राक्षसों के विध्वंस के लिए, व्याधियों के परिहार के लिए यज्ञ आवश्यक है। यज्ञ से सुख, समृद्धि और अमरत्व प्राप्त होता है। ऋग्वेद में कहा है—यज्ञ इस भुवन की उत्पत्ति करने वाले संसार की नाभि है। देव तथा ऋषिगण यज्ञ से ही उत्पन्न हुए हैं। यज्ञ से ही ग्राम, अरण्य और पशुओं की सृष्टि हुई है। यज्ञ ही देवों का प्रमुख एवं प्रथम धर्म है।[134] जैन और बौद्ध परम्परा ने यज्ञ का विरोध किया। उत्तराध्ययन के नवमें, बारहवें, चौदहवें और पच्चीसवें अध्ययनों में यज्ञ का विरोध इसलिए किया है कि उसमें जीवों की हिंसा होती है। वह धर्म नहीं अपितु पाप है। साथ ही वास्तविक आध्यात्मिक यज्ञ का स्वरूप भी इन अध्ययनों में स्पष्ट किया गया है। उस समय निर्ग्रन्थ श्रमण यज्ञ के वाड़ों में भिक्षा के लिए जाते थे और यज्ञ की व्यर्थता बताकर आत्मिक-यज्ञ की सफलता का प्रतिपादन करते थे।[135] तथागत बुद्ध भिक्षुसंघ के साथ यज्ञमण्डप में गये थे। उन्होंने अल्प सामग्री के द्वारा महान् यज्ञ का प्रतिपादन किया। उन्होंने 'कूटदन्त' ब्राह्मण को पाँच महाफलदायी यज्ञ बताये थे। वे ये हैं—[१] दानयज्ञ, [२] त्रिशरणयज्ञ-[३] शिक्षापदयज्ञ, [४] शीलयज्ञ, [५] समाधियज्ञ।[136]

इस तरह बारहवें अध्ययन में श्रमण-संस्कृति की दृष्टि से विपुल सामग्री है। प्रस्तुत कथा प्रकारान्तर से बौद्धसाहित्य में भी आई है। उस कथा का सारांश इस प्रकार है—वाराणसी का मंडव्यकुमार प्रतिदिन सोलह सहस्र ब्राह्मणों को भोजन प्रदान करता था। एक बार मातंग पण्डित हिमालय के आश्रम से भिक्षा के लिए वहाँ आया। उसके मलिन और जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को देख कर उसे वहाँ से लौट जाने को कहा गया। मातंग पण्डित ने मंडव्य को उपदेश देकर दान-क्षेत्र की यथार्थता प्रतिपादित की। मंडव्य के साथियों ने मातंग को खूब पीटा। नगर के देवताओं ने क्रुद्ध होकर ब्राह्मणों की दुर्दशा की। श्रेष्ठी कन्या 'दिट्ठमंगला' वहाँ पर आई। उसने वहाँ की स्थिति देखी। उसने स्वर्ण कलश और प्याले लेकर मातंग पंडित से जाकर क्षमायाचना की। मातंग पण्डित ने ब्राह्मणों को ठीक होने का उपाय बताया। दिट्ठमंगला ने ब्राह्मणों को दान-क्षेत्र की यथार्थता बतलाई।[137]

उत्तराध्ययन के बारहवें अध्ययन की अनेक गाथाओं का ही रूप मातंग जातक की अनेक गाथाओं में ज्यों का त्यों मिलता है।[138] डा. घाटगे का मानना है कि बौद्धपरम्परा की कथा-वस्तु विस्तार के साथ लिखी गई है। उसमें अनेक विचारों का सम्मिश्रण हुआ है। जबकि जैनपरम्परा की कथा-वस्तु में अत्यन्त सरलता है तथा हृदय को छूने की विशेषता रही हुई है। इससे यह स्पष्ट है कि बौद्ध कथावस्तु से जैन कथावस्तु प्राचीन है। मातंग

---

१३३. "पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो।"

—सूत्रकृतांग १.७.१३

१३४. वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ ४०

१३५. उत्तराध्ययन १२।३८-४४; २५।५-१६

१३६. दीघनिकाय, १।५ पृ. ५३-५५

१३७. जातक, चतुर्थ खण्ड—४९७, मातंगजातक पृष्ठ ५८३-५९७

१३८. धर्मकथानुयोग : एक सांस्कृतिक अध्ययन, लेखक—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

जातक में ब्राह्मणों के प्रति तीव्र रोष व्यक्त किया गया है। ब्राह्मणों को अपराध हो जाने से भूठन खाने के लिए उत्प्रेरित करना और उन्हें धोखा देना, ये ऐसे तथ्य हैं जो साम्प्रदायिक भावना के प्रतीक हैं।[१३९] पर जैन कथा में मानवता और सहानुभूति रही हुई है।[१४०]

चित्त और संभूत

तेरहवें अध्ययन में चित्त और संभूत के पारस्परिक सम्बन्ध और विसम्बन्ध का वर्णन है। इसलिए इस अध्ययन का नाम निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने 'चित्रसंभूतीय' लिखा है। ब्रह्मदत्त की उत्पत्ति से अध्ययन का प्रारम्भ होता है। व्याख्या-साहित्य में सम्पूर्ण कथा विस्तार के साथ दी गई है। चित्र और संभूत पूर्व भव में भाई थे। चित्र का जीव पुरिमताल नगर में सेठ का पुत्र हुआ और मुनि बना। संभूत का जीव ब्रह्म राजा का पुत्र ब्रह्मदत्त बना। चित्र का जीव जो मुनि हो गया था, ब्रह्मदत्त को संसार की असारता बताकर श्रामण्यधर्म स्वीकार करने के लिए प्रेरणा देता है पर ब्रह्मदत्त भोगों में अत्यन्त आसक्त था। अतः उसे उपदेश प्रिय नहीं लगा। पांचवीं, छठी और सातवीं गाथा में उनके पूर्व जन्मों का उल्लेख हुआ है। आचार्य नेमिचन्द्र ने सुखबोधावृत्ति में उनके पूर्व के पांच भवों का विस्तार से वर्णन किया है।[१४१]

बौद्ध जातकसाहित्य में भी यह कथा प्रकारान्तर से मिलती है। तथागत बुद्ध ने जन्म-जन्मान्तरों तक परस्पर मैत्रीभाव रहता है, यह बताने के लिए यह कथा कही थी। उज्जयिनी के बाहर चाण्डाल ग्राम था। बोधिसत्व ने भी वहाँ जन्म ग्रहण किया था और दूसरे एक प्राणी ने भी वहाँ जन्म लिया था। उनमें से एक का नाम चित्त था और दूसरे का नाम संभूत था। वहाँ पर उनके जीवन के सम्बन्ध में चिन्तन है। उनके तीन पूर्व भवों का भी उल्लेख है। जो इस प्रकार है—

[१] नरेञ्जरा सरिता के तट पर हरिणी की कोख से उत्पन्न होना।

[२] नर्मदा नदी के किनारे बाज के रूप में उत्पन्न होना।

---

१३९. Annals of the Bhandarkar oriental Research Institute, Vol. 17 (1935, 1936) 'A few Parallels in Jains and Buddhist works', Page 345, by A. M. Ghatage, M. A.
This must have also led the writer to include the other story in the same Jataka. And such an attitude, must have arisen in later times as the effect of sectarian bias.

१४०. Annals of the Bhandarkar Oriental Researcn Institute, Vol. 17. (1935-1936) 'A few Parallels in Jain and Buddhist works', Page 345, by A. M. Ghatage, M. A.

१४१. आसिमो भायरा दो वि, अन्नमन्नवसाणुगा।
अन्नमन्नमणूरत्ता, अन्नमन्नहिएसिणो ॥
दासा दसण्णे आसी, मिया कालिंजरे नगे।
हंसा मयंगतीरे, सोवागा कासिभूमिए ॥
देवा य देवलोगम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया।
इमा नो छट्ठिया जाई, अन्नमन्नेण जा विणा ॥ —उत्तराध्ययनसूत्र, १३/५-७

[३] चित्त का जीव कौशाम्बी में पुरोहित का पुत्र और संभूत का जीव पांचाल राजा के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ।[१४२]

दोनों भाई परस्पर मिलते हैं। चित्त ने संभूत को उपदेश दिया किन्तु संभूत का मन भोगों से मुड़ा नहीं। अतः चित्त ने उसके सिर पर धूल फैंकी और वहाँ से हिमालय की ओर प्रस्थित हो गया। राजा संभूत को वैराग्य हुआ। वह भी उसके पीछे-पीछे हिमालय की ओर चला। चित्त ने उसे योग-साधना की विधि बताई। दोनों ही योग की साधना कर ब्रह्म देवलोक में उत्पन्न हुए।

उत्तराध्ययन के प्रस्तुत अध्ययन की गाथाएँ चित्त-संभूत जातक के अन्दर प्रायः मिलती-जुलती हैं। उत्तराध्ययन की कथा विस्तृत है। उसमें अनेक अवान्तर कथाएँ भी हैं। वे सारी कथाएँ ब्रह्मदत्त से सम्बन्धित हैं। जैन दृष्टि से चित्त मुनिधर्म की आराधना कर एवं सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर मुक्त होते हैं। ब्रह्मदत्त कामभोगों में आसक्त बनकर नरकगति को प्राप्त होता है। बौद्धपरम्परा की दृष्टि से संभूत को ब्रह्मलोकगामी बताया गया है। डा. घाटगे का अभिमत है कि जातक का पद्यविभाग गद्यविभाग से अधिक प्राचीन है। गद्यभाग बाद में लिखा गया है। इस तथ्य की पुष्टि भाषा और तर्क के आधार से होती है। तथ्यों के आधार से यह भी सिद्ध है कि उत्तराध्ययन की कथावस्तु प्राचीन है। जातक का गद्यभाग उत्तराध्ययन की रचनाकाल से बहुत बाद में लिखा गया है। उसमें पूर्व भवों का सुन्दर संकलन है, किन्तु जैन कथावस्तु में वह छूट गया है।[१४३]

उत्तराध्ययन के तेरहवें अध्ययन में जो गाथाएँ आई हैं, उसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति महाभारत के शान्तिपर्व और उद्योगपर्व में भी हुई है। हम यहाँ उत्तराध्ययन की गाथाओं के साथ उन पद्यों को भी दे रहे हैं, जिससे प्रबुद्ध पाठकों को सहज रूप से तुलना करने में सहूलियत हो। देखिए—

"जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मिसहरा भवंति ॥"
—उत्तराध्ययन १३/२२

तुलना कीजिये—

"तं पुत्रपशुसम्पन्नं, व्यासक्तमनसं नरम्।
सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव, मृत्युरादाय गच्छति ॥
सचिन्वानकमेवैनं, कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवादाय, मृत्युरादाय गच्छति ॥"
—शान्ति. १७५/१८, १९

"न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥"
—उत्तराध्ययनसूत्र १३/२३

---

१४२. जातक, संख्या ४९८, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ ६००

१४३. Annals of the Bhandarkar oriental Research Institute, Vol. 17., (1935-1936) : A few Parallels in Jain and Buddhist works, P. 342-343, by A. M. Ghatage, M. A.

तुलना कीजिए—

"मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या उत्क्षिप्य राजन् ! स्वगृहान्निर्हरन्ति ।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति ॥"

—उद्योग. ४०/१५

"अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं, कर्मान्वेति स्वयं कृतम् ।"

—उद्योग. ४०/१८

"चेच्चा दुपयं च चउप्पयं च, खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुंदर पावगं वा ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र १३/२४

तुलना कीजिए—

"अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते, वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र, पुण्येन पापेन च चेष्ट्यमानः ॥"

—उद्योगपर्व ४०/१७

"तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से, चिईगयं डहिय उ पावगेणं ।
भज्जा य पुत्ता वि य नायओ य, दायारमन्नं अणुसंकमन्ति ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र १३/२५

तुलना कीजिए—

"उत्सृज्य विनिवर्त्तन्ते, ज्ञातयः सुहृदः सुताः ।
अपुष्पानफलान् वृक्षान्, यथा तात ! पतत्रिणः ॥"

—उद्योग. ४०/१७

"अनुगम्य विनाशान्ते, निवर्तन्ते ह बान्धवाः ।
अग्नौ प्रक्षिप्य पुरुषं, ज्ञातयः सुहृदस्तथा ॥"

—शान्ति. ३२१/७४

"अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ, न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा ।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति, दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र १३/३१

तुलना कीजिए—

"अच्चयन्ति अहोरत्ता.. ।
....॥

—थेरगाथा १४८

सरपेन्टियर ने प्रस्तुत अध्ययन की तीन गाथाओं को अर्वाचीन माना है, किन्तु उसके लिए उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया है। उत्तराध्ययन के चूर्णि व अन्य व्याख्या-साहित्य में कहीं पर भी इस सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों ने ऊहापोह नहीं किया है। ये तीनों गाथाएँ प्रकरण की दृष्टि से भी उपयुक्त प्रतीत होती हैं, क्योंकि इन गाथाओं का सम्बन्ध आगे की गाथाओं से है। यह सत्य है कि प्रारम्भ की तीन गाथाएँ आर्या छन्द में निबद्ध हैं तो आगे की अन्य गाथाएँ अनुष्टुप्, उपजाति प्रभृति विभिन्न छन्दों में निर्मित हैं। किन्तु छन्दों की पृथकता के कारण उन गाथाओं को प्रक्षिप्त और अर्वाचीन मानना अनुपयुक्त है।

इषुकारीय कथा : एक चिन्तन

चौदहवें अध्ययन में राजा इषुकार, महारानी कमलावती, भृगु पुरोहित, यशा पुरोहित-पत्नी तथा भृगु पुरोहित के दोनों पुत्र, इन छह पात्रों का वर्णन है। पर राजा की प्रधानता होने के कारण इस अध्ययन का नाम "इषुकारीय" रखा गया है, ऐसा निर्युक्तिकार का मंतव्य है।[१४४]

श्रमण भगवान् महावीर के युग में अनेक विचारकों की यह धारणा थी कि बिना पुत्र के सद्गति नहीं होती।[१४५] स्वर्ग सम्प्राप्त नहीं होता। अतः प्रत्येक व्यक्ति को गृहस्थ-धर्म का पालन करना चाहिए। जिससे सन्तानोत्पत्ति होगी और लोक तथा परलोक, दोनों सुधरेंगे। परलोक को सुखी बनाने के लिए पुत्रप्राप्ति हेतु विविध प्रयत्न किये जाते थे। भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दों में इस मान्यता का खण्डन किया। उन्होंने कहा—स्वर्ग और नरक की उपलब्धि सन्तान से नहीं होती। यहाँ तक कि माता-पिता, भ्राता, पुत्र, स्त्री आदि कोई भी कर्मों के फल-विपाक से बचाने में समर्थ नहीं हैं। सभी को अपने ही कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इस कथन का चित्रण प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है।

आचार्य भद्रबाहु ने प्रस्तुत अध्ययन में आये हुए सभी पात्रों के पूर्वभव, वर्तमानभव और निर्वाण का संक्षेप में वर्णन किया है। इस अध्ययन में यह भी बताया गया है कि माता-पिता मोह के वशीभूत होकर पुत्रों को मिथ्या बात कहते हैं—जैन श्रमण बालकों को उठाकर ले जाते हैं। वे उनका मांस खा जाते हैं। किन्तु जब बालकों को सही स्थिति का परिज्ञान होता है तो वे श्रमणों के प्रति आकर्षित ही नहीं होते किन्तु श्रमणधर्म को स्वीकार करने को उद्यत हो जाते हैं। इस अध्ययन में पिता और पुत्र का मधुर संवाद है। इस संवाद में पिता ब्राह्मणसंस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रहा है तो पुत्र श्रमणसंस्कृति का। ब्राह्मणसंस्कृति पर श्रमणसंस्कृति की विजय बताई गई है। उनकी मौलिक मान्यताओं की चर्चा है। पुरोहित भी त्यागमार्ग को ग्रहण करता है और उसकी पत्नी आदि भी।

प्रस्तुत अध्ययन का गहराई से अध्ययन करने पर यह भी स्पष्ट होता है कि उस युग में यदि किसी का कोई उत्तराधिकारी नहीं होता था तो उसकी सम्पत्ति का अधिकारी राजा होता था। भृगु पुरोहित का परिवार दीक्षित हो गया तो राजा ने उसकी सम्पत्ति पर अधिकार करना चाहा, किन्तु महारानी कमलावती ने राजा से निवेदन किया—जैसे वमन किये हुए पदार्थ को खाने वाले व्यक्ति की प्रशंसा नहीं होती, वैसे ही ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को ग्रहण करने वाले की प्रशंसा नहीं हो सकती। वह भी वमन खाने के सदृश है। आचार्य भद्रबाहु ने प्रस्तुत अध्ययन के राजा का नाम 'सीमन्धर' दिया है[१४६] तो वादीवैताल शान्तिसूरि ने लिखा है—'इषुकार' यह राज्यकाल का नाम है तो 'सीमन्धर' राजा का मौलिक नाम होना संभव है।[१४७]

---

१४४. उसुआरनामगोए वेयंतो भावओ अ उसुआरो।
तत्तो समुट्ठियमिणं उसुआरिज्जंति अज्झयणं॥

—उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ३६२

१४५. "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च।
गृहिधर्ममनुष्ठाय, तेन स्वर्गं गमिष्यति॥"

१४६. सीमंधरो य राया ......।

—उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ३७३

१४७. अत्र चेषुकारमिति राज्यकालनाम्ना सीमन्धरश्चेति मौलिकनाम्नेति सम्भावयामः।

—बृहद्वृत्ति, पत्र ३९४

हस्तीपालजातक बौद्धसाहित्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसमें कुछ परिवर्तन के साथ यह कथा उपलब्ध है। हस्तीपालजातक में कथावस्तु के आठ पात्र हैं। राजा ऐसुकारी, पटरानी, पुरोहित, पुरोहित की पत्नी, प्रथम पुत्र हस्तीपाल, द्वितीय पुत्र अश्वपाल, तृतीय पुत्र गोपाल, चौथा पुत्र अजपाल, ये सब मिलाकर आठ पात्र हैं। ये चारों पुत्र न्यग्रोधवृक्ष के देवता के वरदान से पुरोहित के पुत्र होते हैं। चारों प्रव्रजित होना चाहते हैं। पिता उन चारों पुत्रों की परीक्षा करता है। चारों पुत्रों के साथ पिता का संवाद होता है। चारों पुत्र क्रमशः पिता को जीवन की नश्वरता, संसार की असारता, मृत्यु की अविकलता और कामभोगों की मोहकता का विश्लेपण करते हैं। पुरोहित भी प्रव्रज्या ग्रहण करता है। उसके बाद ब्राह्मणी प्रव्रज्या लेती है। अन्त में राजा और रानी भी प्रव्रजित हो जाते हैं।

सरपेन्टियर की दृष्टि से उत्तराध्ययन की कथा जातक के गद्यभाग से अत्यधिक समानता लिए हुए है। वस्तुतः जातक से जैन कथा प्राचीन होनी चाहिए।[१४८] डॉ. घाटगे का मन्तव्य है कि जैन कथावस्तु जातककथा से अधिक व्यवस्थित, स्वाभाविकता और यथार्थता को लिए हुए है। जैन कथावस्तु से जातक में संगृहीत कथा-वस्तु अधिक पूर्ण है। उसमें पुरोहित के चारों पुत्रों के जन्म का विस्तृत वर्णन है। जातक में पुरोहित के चार पुत्रों का उल्लेख है, तो उत्तराध्ययन में केवल दो का। उत्तराध्ययन में राजा और पुरोहित के बीच किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, जबकि जातक में पुरोहित और राजा का सम्बन्ध है। पुरोहित राजा के परामर्श से ही पुत्रों की परीक्षा लेता है। स्वयं राजा भी उनकी परीक्षा लेने में सहयोग करता है। जैनकथा के अनुसार पुरोहित का कुटुम्ब दीक्षित होने पर राजा सम्पत्ति पर अधिकार करता है। उसका प्रभाव महारानी कमलावती पर पड़ता है और वह श्रमणधर्म को ग्रहण करना चाहती है तथा राजा को भी दीक्षित होने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। जैन कथावस्तु में जो ये तथ्य हैं, वे बहुत ही स्वाभाविक और यथार्थ हैं। जातक कथावस्तु में ऐसा नहीं हो पाया है। जातक कथा में न्यग्रोधवृक्ष के देवता के द्वारा पुरोहित को चार पुत्रों का वरदान मिलता है परन्तु राजा को एक पुत्र का वरदान भी नहीं मिलता है, जबकि राज्य के संरक्षण के लिए उसे एक पुत्र की अत्यधिक आवश्यकता है। इन्हीं तथ्यों के आधार से डॉ. घाटगे उत्तराध्ययन की कथावस्तु को प्राचीन और व्यवस्थित मानते हैं।[१४९]

प्रस्तुत अध्ययन की कथावस्तु महाभारत के शान्तिपर्व अध्याय १७५ तथा २७७ से मिलती-जुलती है। महाभारत के दोनों अध्यायों का प्रतिपाद्य विषय एक है। केवल नामों में अन्तर है। दोनों अध्यायों में महाराजा युधिष्ठिर भीष्म पितामह से कल्याणमार्ग के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत करते हैं। उत्तर में भीष्म पितामह प्राचीन इतिहास का एक उदाहरण देते हैं, जिसमें एक ब्राह्मण और मेधावी पुत्र का मधुर संवाद है। पिता ब्राह्मणपुत्र मेधावी से कहता है — वेदों का अध्ययन करो, गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर पुत्र पैदा करो, क्योंकि उससे पितरों की सद्गति होगी। यज्ञों को करने के पश्चात् वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट होना। उत्तर में मेधावी ने कहा—संन्यास संग्रहण करने के लिए काल की मर्यादा अपेक्षित नहीं है। अत्यन्त वृद्धावस्था में धर्म नहीं हो सकता। धर्म के लिए

---

१४८. This legend certainly Presents a rather striking resemblance to the Prose introduction of the Jataka 509, and must consequently be old.

—The Uttaradhyayana Sutra, page 332, Foot note No. 2

१४९. Annals of the Bhandarkar Oriental Research institue, Vol. 17 (1935-1936), 'A few parallels in Jain and Buddhist works', page-343, 344

मध्यम वय ही उपयुक्त है। किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। यज्ञ करना कोई आवश्यक नहीं है। जिस यज्ञ में पशुओं की हिंसा होती है, वह तामस यज्ञ है। तप, त्याग और सत्य ही शान्ति का राजमार्ग है। सन्तान के द्वारा कोई पार नहीं उतरता। धन, जन परित्रायक नहीं हैं, इसलिए आत्मा की अन्वेषणा की जाये।

उत्तराध्ययन के और महाभारत के पद्यों में अर्थसाम्य ही नहीं शब्दसाम्य भी है। शब्दसाम्य को देखकर जिज्ञासुओं को आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। विस्तारभय से हम यहाँ उत्तराध्ययन की गाथाओं और महाभारत के श्लोकों की तुलना प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। संक्षेप में संकेत मात्र दे रहे हैं।[१५०] साथ ही उत्तराध्ययन और जातककथा में आये हुए कुछ पद्यों का भी यहाँ संकेत सूचित कर रहे हैं, जिससे पाठकों को तुलनात्मक अध्ययन करने में सहूलियत हो।[१५१]

प्रस्तुत अध्ययन की ४४ और ४५ वीं गाथा में जो वर्णन है, वह वर्णन जातक के अठारहवें श्लोक में दी गई कथा से जान सकते हैं। वह प्रसंग इस प्रकार है — जब पुरोहित का सम्पूर्ण परिवार प्रव्रजित हो जाता है, राजा उसका सारा धन मंगवाता है। रानी को परिज्ञात होने पर उसने राजा को समझाने के लिए एक उपाय किया। राजप्रांगण में कसाई के घर से मांस मंगवा कर चारों ओर बिखेर दिया। सीधे मार्ग को छोड़कर सभी तरफ जाल लगवा दिया। मांस को देखकर दूर-दूर से गृद्ध आये। उन्होंने भरपेट मांस खाया। जो गिद्ध समझदार थे, उन्होंने सोचा—हम मांस खाकर बहुत ही भारी हो चुके हैं, जिससे हम सीधे नहीं उड़ सकेंगे। उन्होंने खाया हुआ मांस वमन के द्वारा बाहर निकाल दिया। हल्के होकर सीधे मार्ग से उड़ गये, वे जाल में नहीं फँसे। पर जो गिद्ध बुद्धू थे, वे प्रसन्न होकर गिद्धों के द्वारा वमित मांस को खाकर अत्यधिक भारी हो गये। वे गिद्ध सीधे उड़ नहीं सकते थे। टेढ़े-मेढ़े उड़ने से वे जाल में फँस गये। उन फँसे हुए गिद्धों में से एक गिद्ध महारानी के पास लाया गया। महारानी ने राजा से निवेदन किया—आप भी गवाक्ष से राजप्रांगण में गिद्धों का दृश्य देखें। जो गिद्ध खाकर वमन कर रहे हैं, वे अनन्त आकाश में उड़े जा रहे हैं और जो खाकर वमन नहीं कर रहे हैं, वे मेरे चंगुल में फँस गये हैं।[१५२]

सरपेन्टियर ने प्रस्तुत अध्ययन की उनपचास से तिरेपनवीं गाथाओं को मूल नहीं माना है। उनका अभिमत

---

१५०. उत्तराध्ययन, अध्य. १४, गाथा-४, महाभारत-शान्तिपर्व, अ. १७५, श्लोक-२३, उत्तरा. अ. १४, गा. ९, महा. शान्ति. अ. १७५, श्लोक. ६, उत्तरा. १४, गा. १२ महा. शान्ति. अ. १७५, श्लोक-७१, १८, २५ २६, ३६; उत्तरा. १४, गा. १५, महाभारत शा. १७५, पू. २०, २१, २२, उ. १४, गा. १७,महा. अ. १७५, पू. ३७, ३८, उ. १४ गा. २१, महा. अ. १७५ पू. ७, उत्तरा. १४, गा. २२, महा. अ. १७५, श्लोक ८, उ. १४ गा. २३, महा. अ. १७५, श्लोक ९, उत्तरा. १४ गा. २५, महा. अ. १७५ श्लोक १०, ११, १२; उत्तरा. १४ गा. २८, महा. अ. १७५ श्लोक १५; उ. १४ गा. ३७, म. अ. १७ श्लोक ३९.

१५१. उत्तरा. अ. १४ गा. ९, हस्तीपाल जातक संख्या-५०९. गा. ४; उत्तरा. अ. १४ गा. १२, हस्ती. जा. सं. ५०९ गा. ५; उत्तरा. अ. १४ गा. १३, हस्ती. सं. ५०९ गा. ११; उत्तरा. अ. १४ गा. १५, हस्ती. सं. ५०९ गा. १२; उत्तरा. अ. १४ गा. २०, हस्ती. सं. ५०९ गा. १०; उत्तरा. अ, १४ गा. २७, हस्ती. सं. ५०९ गा. ७; उत्तरा. अ. १४ गा. ३८, हस्ती. सं. ५०९ गा. १८; उत्तरा. अ. १४ गा. ४८, हस्ती. सं. ५०९ गा. २०।

१५२. जातक संख्या ५०९, ५वां खण्ड, पृष्ठ ७५.

है। ये पाँचों गाथाएँ मूलकथा से सम्बन्धित नहीं है सम्भव है जैन कथाकारों ने बाद में निर्माण कर यहाँ रखा हो[153]। पर उसका उन्होंने कोई ठोस आधार नहीं दिया है।

प्रस्तुत कथानक में आये हुए संवाद से मिलता-जुलता वर्णन मार्कण्डेय पुराण में भी प्राप्त होता है। वहाँ पर जैमिनि ने पक्षियों से प्राणियों के जन्म आदि के सम्बन्ध में विविध जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की हैं। उन जिज्ञासाओं के समाधान में उन्होंने एक संवाद प्रस्तुत किया — भार्गव ब्राह्मण ने अपने पुत्र धर्मात्मा सुमति को कहा — वत्स! पहले वेदों का अध्ययन करके गुरु की सेवा-शुश्रूषा कर, गार्हस्थ्य जीवन सम्पन्न कर, यज्ञ आदि कर। फिर पुत्रों को जन्म देकर संन्यास ग्रहण करना, उससे पहले नहीं।[154] सुमति ने पिता से निवेदन किया - पिताजी! जिन क्रियाओं को करने का आप मुझे आदेश दे रहे हैं, वे क्रियाएँ मैं अनेक बार कर चुका हूं। मैंने विविध शास्त्रों का व शिल्पों का अध्ययन भी अनेक बार किया है। मुझे यह अच्छी तरह से परिज्ञात हो गया है कि मेरे लिए वेदों का क्या प्रयोजन है?[155] मैंने इस विराट् विश्व में बहुत ही परिभ्रमण किया है। अनेक माता-पिता के साथ मेरा सम्बन्ध हुआ। संयोग और वियोग की घड़ियाँ भी देखने को मिलीं। विविध प्रकार के सुखों और दुःखों का अनुभव किया। इस प्रकार जन्म-मरण को प्राप्त करते-करते मुझे ज्ञान की अनुभूति हुई है। पूर्व जन्मों को मैं स्पष्ट रूप से देख रहा हूँ। मोक्ष में सहायक जो ज्ञान है वह मुझे प्राप्त हो चुका है। उस ज्ञान की प्राप्ति के बाद यज्ञ-याग, वेदों की क्रिया मुझे संगत नहीं लगती। अब मुझे आत्मज्ञान हो चुका है और उसी उत्कृष्ट ज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति होगी।[156]।

भार्गव ने कहा – वत्स! तू ऐसी बहकी-बहकी बातें कर रहा है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि किसी ऋषि या देव ने तुझे शाप दिया है, जिससे यह तेरी स्थिति हुई है।[157]

सुमति ने कहा—तात! मैं पूर्व जन्म में ब्राह्मण था। मैं प्रतिपल-प्रतिक्षण परमात्मा के ध्यान में तल्लीन रहता था, जिससे आत्मविद्या का चिन्तन मुझ में पूर्ण विकसित हो चुका था। मैं सदा साधना में रत रहता था। मुझे अतीत के लाखों जन्मों की स्मृति हो आई। धर्मत्रयी में रहे हुए मानव को जाति-स्मरण ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। मुझे यह आत्मज्ञान पहले से ही प्राप्त है। इसलिए अब मैं आत्म-मुक्ति के लिए प्रयास करूँगा।[158] उसके बाद सुमति अपने पिता भार्गव को मृत्यु का रहस्य बताता है। इस प्रकार इस संवाद में वेदज्ञान की निरर्थकता बताकर आत्मज्ञान की सार्थकता सिद्ध की है।

प्रस्तुत संवाद के सम्बन्ध में विन्टरनीत्ज का अभिमत है—यह बहुत कुछ सम्भव है—यह संवाद जैन और बौद्ध परम्परा का रहा होगा। उसके बाद उसे महाकाव्य या पौराणिक साहित्य में सम्मिलित कर लिया गया हो![159]

153, The Verses From 49 to the end of the Chapter Certainly do not belong to original legend, But must have been composed by the Jain author.

—The Uttaradhyana Sutra, Page-335

१५४. मार्कण्डेय पुराण-१०/११, १२
१५५. मार्कण्डेय पुराण-१०/१६, १७
१५६. मार्कण्डेय पुराण-१०/२७, २८, २९
१५७. मार्कण्डेय पुराण-१०/३४, ३५
१५८. मार्कण्डेय पुराण—१०।३७, ४४
१५९. The Jainas in the History of Indian Literature, P. 7.

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तराध्ययन के चौदहवें अध्ययन में जो वर्णन है, उसकी प्रतिच्छाया वैदिक और बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में भी प्राप्त है। उदाहरण के रूप में देखिए—

"अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते पडिट्ठप्प गिहंसि जाया !
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं, आरण्णगा होह मुणी पसत्था ॥"
[उ. १४।९]

तुलना कीजिए—

"वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र ! पुत्रानिच्छेत् पावनार्थं पितॄणाम् ।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो, वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥"
(शान्तिपर्व—१७५।६; २७७।६; जातक—५०९।४)

"वेया अहीया न भवन्ति ताणं, भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं ।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं, को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥"
(उत्तरा. १४।१२)

तुलना कीजिए—

"वेदा न सच्चा न च वित्तलाभो, न पुत्तलाभेन जरं विहन्ति ।
गन्धे रमे मुच्चनं आहु सन्तो, सकम्मुना होति फलूपपत्ति ॥"
(जातक—५०९।६)

"इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं ।
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाए ? ॥"
[उत्तरा. १४।१५]

तुलना कीजिए—

"इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम् ।
एवमीहासुखासक्तं, मृत्युरादाय गच्छति ॥"
[शान्ति. १७५।२०]

विस्तारभय से हम उन सभी गाथाओं का अन्य ग्रन्थों के आलोक में तुलनात्मक अध्ययन नहीं दे रहे हैं। विशेष जिज्ञासु लेखक का "जैन आगम साहित्य: मनन और मीमांसा" ग्रन्थ में तुलनात्मक अध्ययन शीर्षक निबन्ध देखें।

भिक्षु : एक विश्लेषण

पन्द्रहवें अध्ययन में भिक्षुओं के लक्षणों का निरूपण है। जिसकी आजीविका केवल भिक्षा हो, वह 'भिक्षु' कहलाता है। सच्चा सन्त भी भिक्षा से आहार प्राप्त करता है तो पाखण्डी साधु भी भिक्षा से ही आहार प्राप्त करता है। इसीलिए दोनों ही प्रकार के भिक्षुओं की संज्ञा 'भिक्षु' है। जैसे स्वर्ण अपने सद्गुणों के कारण कृत्रिम स्वर्ण से पृथक् होता है वैसे ही सद्भिक्षु अपने सद्गुणों के कारण असद्भिक्षु से पृथक् होता है। स्वर्ण को जब कसौटी पर कसते हैं तो वह खरा उतरता है। कृत्रिम स्वर्ण, स्वर्ण के सदृश दिखाई तो देता है किन्तु कसौटी पर कसने से अन्य गुणों के अभाव में वह खरा नहीं उतरता है। इसीलिए वह शुद्ध सोना नहीं है। केवल नाम और रूप से सोना, सोना नहीं होता; वैसे ही केवल नाम और वेश से कोई सच्चा भिक्षु नहीं होता। सद्गुणों से ही जैसे सोना, सोना होता है वैसे ही सद्गुणों से भिक्षु भी ! संवेग, निर्वेद, विवेक, सुशील संसर्ग, आराधना,

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय, शान्ति, मार्दव, आर्जव, अदीनता, तितिक्षा, आवश्यक, शुद्धि, ये सभी सच्चे भिक्षु के लिंग हैं। भिक्षु का निरुक्त है—जो भेदन करे वह भिक्षु है। कुल्हाड़ी से वृक्ष का भेदन करना द्रव्य-भिक्षु का लक्षण हो सकता है, भाव-भिक्षु तो तप रूपी कुल्हाड़ी से कर्मों का भेदन करता है। जो केवल भीख मांगकर खाता है किन्तु दारायुक्त है, त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है, मन, वचन और काया से सावद्य प्रवृत्ति करता है, वह द्रव्य-भिक्षु है। केवल भिक्षाशील व्यक्ति ही भिक्षु नहीं है। किन्तु जो अहिंसक जीवन जीता है, संयममय जीवन यापन करता है वह भिक्षु है। इससे यह स्पष्ट है कि भिखारी अलग है और भिक्षु अलग है।

भिक्षु को प्रत्येक वस्तु याचना करने पर मिलती है। मनोवांछित वस्तु मिलने पर वह प्रसन्न नहीं होता और न मिलने पर अप्रसन्न नहीं होता। वह तो दोनों ही स्थितियों में समभाव से रहता है। श्रमण आवश्यकता की सम्पूर्ति के लिए किसी के सामने हीन भावना से हाथ नहीं पसारता। वह वस्तु की याचना तो करता है किन्तु आत्मगौरव की क्षति करके नहीं। वह महान् व्यक्तियों की न तो चापलूसी करता है और न छोटे व्यक्तियों का तिरस्कार। न धनवानों की प्रशंसा करता है और न निर्धनों की निन्दा। वह सभी के प्रति समभाव रखता है। इस प्रकार समत्व की साधना ही भिक्षु के आचार-दर्शन का सार है। फ्रायड का मन्तव्य है—चैतसिक जीवन और सम्भवतया स्नायविक जीवन की भी प्रमुख प्रवृत्ति है—आन्तरिक उद्दीपकों के तनाव को नष्ट कर एवं साम्यावस्था को बनाये रखने के लिए सदैव प्रयासशील रहना![१६०]

प्रस्तुत अध्ययन में भिक्षु के जीवन का शब्दचित्र प्रस्तुत किया गया है। इससे उस युग की अनेक दार्शनिक व सामाजिक जानकारियाँ भी प्राप्त होती हैं। उस समय कितने ही श्रमण व ब्राह्मण मंत्रविद्या का प्रयोग करते थे, चिकित्साशास्त्र का उपयोग करते थे। भगवान् महावीर ने भिक्षुओं के लिए उसका निषेध किया। वमन, विरेचन और धूम्रनेत्र ये प्राचीन चिकित्सा-प्रणाली के अंग थे। धूम्रनेत्र का प्रयोग मस्तिष्क सम्बन्धी रोगों के लिए होता था। आचार्य जिनदास के अभिमतानुसार रोग की आशंका और शोक आदि से बचने के लिए अथवा मानसिक आह्लाद के लिए धूप का प्रयोग किया जाता था।[१६१] आचार्य नेमिचन्द्र ने उत्तराध्ययन की वृहद्वृत्ति में धूम को 'मेनसिल' आदि से सम्बन्धित माना है।[१६२] चरक में 'मेनसिल' आदि के धूम को 'शिरोविरेचन' करने वाला माना है।[१६३] सुश्रुत के चिकित्सास्थान के चालीसवें अध्याय में धूम का विस्तार से वर्णन है। सूत्रकृतांग में धूपन और धूमपान दोनों का निषेध है। 'विनयपिटक' के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि बौद्ध भिक्षु धूमपान करने लगे थे तब तथागत बुद्ध ने उन्हें धूमनेत्र की अनुमति दी।[१६४] उसके पश्चात् भिक्षु स्वर्ण, रौप्य आदि के धूमनेत्र रखने लगे।[१६५] इससे यह स्पष्ट है कि भिक्षु और संन्यासियों में धूमपान न करने के लिए धूमनेत्र रखने की प्रथा थी। पर भगवान् महावीर ने श्रमणों के लिए इनका निषेध किया।

---

१६०. Beyond the pleasure principle–S. Freud. उद्धृत अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन, पृष्ठ-२४६।

१६१. धूवणेत्ति नाम आरोग्गपडिकम्मं करेइ धूमंपि, इमाए सोगाइणो न भविस्संति।
—दशवैकालिक-जिनदासचूर्णि, पृष्ठ-११५

१६२. धूमं-मनःशिलादिसम्बन्धि। —उत्तराध्ययन-नेमिचन्द्रवृत्ति, पत्ना-२१७

१६३. चरकसंहिता सूत्र-५।२३.

१६४. अनुजानामि भिक्खवे धूमनेत्तं ति!
—विनयपिटक, महावग्ग ६।२।७

१६५. विनयपिटक, महावग्ग-६।२।७

वमन का अर्थ उल्टी करना—'मदन' फल आदि के प्रयोग से आहार को उल्टी के द्वारा बाहर निकालना है। इसे ऊर्ध्वविरेक कहा है।[166] अपानमार्ग के द्वारा स्नेह आदि का प्रक्षेप 'वस्तिकर्म' कहलाता है। चरक आदि में विभिन्न प्रकार के वस्तिकर्मो का वर्णन है।[167] जुलाब के द्वारा मल को दूर करना विरेचन है। इसे अधोविरेक भी कहा है।[168] उस युग में आजीवक आदि श्रमण छिन्नविद्या, स्वरविद्या, भौम, अन्तरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, दण्ड, वास्तुविद्या, अंगविकार एवं स्वरविज्ञान विद्याओं से आजीविका करते थे, जिससे जन-जन का अन्तर्मानस आकर्षित होता था। साधना में विघ्नजनक होने से भगवान् ने इनका निषेध किया।

ब्रह्मचर्य : एक अनुचिन्तन

सोलहवें अध्ययन में ब्रह्मचर्य-समाधि का निरूपण है। अनन्त, अप्रतिम, अद्वितीय, सहज आनन्द आत्मा का स्वरूप है। वासना विकृति है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—विकृति से बचकर स्वरूपबोध प्राप्त करना। प्रश्नव्याकरण सूत्र में विविध उपमाओं के द्वारा ब्रह्मचर्य की महिमा और गरिमा गाई है। जो ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना करता है वही समस्त व्रत, नियम, तप, शील, विनय, सत्य, संयम आदि की आराधना कर सकता है। ब्रह्मचर्य व्रतों का सरताज है, यहाँ तक कि ब्रह्मचर्य स्वयं भगवान् है। ब्रह्मचर्य का अर्थ मैथुन-विरति या सर्वेन्द्रिय संयम है। सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह आदि व्रतों का सम्बन्ध मानसिक भूमिका से है, पर ब्रह्मचर्य के लिए दैहिक और मानसिक ये दोनों भूमिकाएँ आवश्यक हैं। इसीलिए ब्रह्मचर्य को समझने के लिए शरीरशास्त्र का ज्ञान भी जरूरी है।

मोह और शारीरिक स्थिति, ये दो अब्रह्म के मुख्य कारण हैं। शारीरिक दृष्टि से मनुष्य जो आहार करता है उससे रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य बनता है।[169] वीर्य सातवीं भूमिका में बनता है। उसके पश्चात् वह ओज रूप में शरीर में व्याप्त होता है। ओज केवल वीर्य का ही सार नहीं है, वह सभी धातुओं का सार है। हमारे शरीर में अनेकों नाड़ियाँ हैं। उन नाड़ियों में एक नाड़ी कामवाहिनी है। वह पैर के अंगूठे से लेकर मस्तिष्क के पिछले भाग तक है। विविध आसनों के द्वारा इस नाड़ी पर नियंत्रण किया जाता है। आहार से जो वीर्य बनता है, वह रक्त के साथ भी रहता है और वीर्याशय के अन्दर भी जाता है। जब वीर्याशय में वीर्य की मात्रा अधिक पहुंचती है तो वासनाएँ उभरती हैं। अतः ब्रह्मचारी के लिए यह कठिन समस्या है। क्योंकि जब तक जीवन है तब तक आहार तो करना ही पड़ता है। आहार से वीर्य का निर्माण होगा। वह वीर्याशय में जायेगा और पहले का वीर्य बाहर निकलेगा। वह क्रम सदा जारी रहेगा। इसीलिए भारतीय ऋषियों ने वीर्य को मार्गान्तरित करने की प्रक्रिया बताई है। मार्गान्तरित करने से वीर्य वीर्याशय में कम जाकर ऊपर सहस्रार चक्र में अधिक मात्रा में जाने से साधक ऊर्ध्वरेता बन सकता है। आगमसाहित्य में साधकों के लिए घोर ब्रह्मचारी शब्द व्यवहृत हुआ है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में घोर ब्रह्मचारी उसे माना है जिसका वीर्य स्वप्न में भी स्खलित नहीं होता। स्वप्न में भी उसके मन में अशुभ संकल्प पैदा नहीं होते।

---

१६६. सूत्रकृतांग १।९।१२ प. १८० : टीका

१६७. चरक, सिद्धिस्थान १.

१६८. (क) दशवैकालिक-अगस्त्यसिंहचूर्णि पृष्ठ ६२
(ख) सूत्रकृतांग टीका १।९।१२. पत्रा १८०.

१६९. रसाद् रक्तं ततो मांसं, मांसान् मेदस्ततोऽस्थि च। अस्थिभ्यो मज्जा ततः शुक्रं........।
—अष्टांगहृदय अ. ३, श्लोक ६.

ब्रह्मचारी के लिए आहार का विवेक रखना आवश्यक है। अतिमात्रा में और प्रणीत आहार ये दोनों ही त्याज्य है। गरिष्ठ आहार का सरलता से पाचन नहीं होता, इसीलिए कब्ज होती है, कब्ज से कुवासनायें उत्पन्न होती हैं और उनसे वीर्य नष्ट होता है। इसलिए उतना आहार करो जिससे पेट भारी न हो। मलावरोध से वायु का निर्माण होता है। जितना अधिक वायु का निर्माण होगा, वीर्य पर उतना ही अधिक दवाव पड़ेगा, जिससे ब्रह्मचर्य के पालन में कठिनता होगी। जननेन्द्रिय और मस्तिष्क ये दोनों वीर्य-व्यय के मार्ग हैं। भोगी तथा रोगी व्यक्ति कामवासना से ग्रस्त होकर तथा वायुविकार आदि शारीरिक रोग होने पर वीर्य का व्यय जननेन्द्रिय के माध्यम से करते हैं। योगी लोग वीर्य के प्रवाह को नीचे से ऊपर की ओर मोड़ देते हैं जिससे कामवासना घटती है। ऊपर की ओर प्रवाहित होने वाले वीर्य का व्यय मस्तिष्क में होता है। जननेन्द्रिय के द्वारा जो वीर्य व्यय होता है, वह अब्रह्मचर्य है। यदि वह सीमित मात्रा में व्यय होता है तो शरीर पर उतना प्रभाव नहीं होता पर मन में मोह उत्पन्न होने से आध्यात्मिक दृष्टि से हानि होती है।

जिस व्यक्ति की अब्रह्म के प्रति आसक्ति होती है, उसकी वृषणग्रन्थियाँ रस, रक्त का उपयोग वहि:स्राव उत्पन्न करती हैं जिससे अन्त:स्राव उत्पन्न करने वाले अवयव उससे वंचित रह जाते हैं। उनमें जो क्षमता आनी चाहिए, वह नहीं आ पाती। फलत: शरीर में विविध प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। इसी वात को आयुर्वेद के आचार्यों ने एक रूपक के माध्यम से स्पष्ट किया है। सात क्यारियों में से सातवीं क्यारी में वड़ा खड्डा हो और जल को वाहर निकलने के लिए छेद हो तो सारा जल उस गड्ढे में एकत्रित होगा। यही स्थिति अब्रह्म के कारण शुक्रक्षय की होती है। छहों रस शुक्र धातु की पुष्टि में लगते हैं। किन्तु अत्यन्त अब्रह्म के सेवन करने वाले का शुक्र पुष्ट नहीं होता। जिसके फलस्वरूप अन्य धातुओं की पुष्टि नहीं हो पाती और शरीर में नाना प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं। इन्द्रियविजेता ही ब्रह्मचर्य का पालन कर पाता है। ब्रह्मचर्य के पालन से शरीर में अपूर्व स्थिरता, मन में स्थिरता, अपूर्व उत्साह और सहिष्णुता आदि सद्गुणों का विकास होता है।

कितने ही चिन्तकों का यह मानना है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य से शरीर और मन पर जैसा अनुकूल प्रभाव होना चाहिए, वह नहीं होता। उनके चिन्तन में आंशिक सच्चाई है। और वह यह है—जब ब्रह्मचर्य का पालन स्वेच्छा से न कर विवशता से किया जाता है, तन से तो ब्रह्मचर्य का पालन होता है किन्तु मन में विकार भावनाएँ होने से वह ब्रह्मचर्य हानिप्रद होता है किन्तु जिस ब्रह्मचर्य में विवशता नहीं होती, आन्तरिक भावना से जिसका पालन किया जाता है, विकारी भावनाओं को उदात्त भावनाओं की ओर मोड़ दिया जाता है, उस ब्रह्मचर्य का तन और मन पर श्रेष्ठ प्रभाव पड़ता है।

जो लोग ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना चाहते हैं वे गरिष्ठ आहार व दर्पकर आहार ग्रहण न करें और मन पर भी नियंत्रण करें! जब काम-वासना मस्तिष्क के पिछले भाग से उभरे तब उसके उभरते ही उस स्थान पर मन को एकाग्र कर शुभ संकल्प किया जाए तो वह उभार शान्त हो जायेगा। कामजनक अवयवों के स्पर्श से भी वासना उभरती है, इसीलिए प्रस्तुत अध्ययन में ब्रह्मचर्यसमाधि के दश स्थानों का उल्लेख किया गया है।

स्थानांग और समवायांग में भी नौ गुप्तियों का वर्णन है। जो पाँचवाँ स्थान उत्तराध्ययन में बताया गया है वह स्थानांग और समवायांग में नहीं है। उत्तराध्ययन में जो दसवाँ स्थान निरूपित है, वह स्थानांग और समवायांग में आठवाँ स्थान है। शेष वर्णन समान है। उत्तराध्ययन का 'दश-समाधिस्थान' वर्णन वड़ा ही मनोवैज्ञानिक है। शयन, आसन, कामकथा आदि ब्रह्मचर्य की साधना में विघ्नरूप हैं। इन विघ्नों के निवारण करने से ही ब्रह्मचर्य सम्यक् प्रकार से पालन किया जाता है।

आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में[१७०] और पं. आशाधर जी ने[१७१] अनगारधर्मामृत में शील आराधना में विघ्न समुत्पन्न करने वाले दश कारण बताये हैं। उन सभी कारणों में प्रायः उत्तराध्ययन में निर्दिष्ट कारण ही हैं। कुछ कारण पृथक् भी हैं। इन सभी कारणों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट है कि जैन आगमसाहित्य तथा उसके पश्चात्वर्ती साहित्य में जिस क्रम से निरूपण हुआ है, वैसा शृंखलाबद्ध निरूपण वेद और उपनिषदों में नहीं हुआ है। दक्षस्मृति में[१७२] कहा गया है—मैथुन के स्मरण कीर्तन, क्रीड़ा, देखना, गुह्य भाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रिया ये आठ प्रकार बताये गये हैं—इनसे अलग रहकर ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए।

त्रिपिटक साहित्य में ब्रह्मचर्य-गुप्तियों का जैन साहित्य की तरह व्यवस्थित क्रम प्राप्त नहीं है किन्तु कुछ छुटपुट नियम प्राप्त होते हैं। उन नियमों में मुख्य भावना है—अशुचि भावना! अशुचि भावना से शरीर की आसक्ति दूर की जाती है। इसे ही कायगता स्मृति कहा है।[१७३]

श्रेष्ठश्रमण और पापश्रमण में अन्तर

सत्तरहवें अध्ययन में पाप-श्रमण के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारों का सम्यक् प्रकार से पालन करता है, वह श्रेष्ठ श्रमण है। श्रामण्य का आधार आचार है। आचार में मुख्य अहिंसा है। अहिंसा का अर्थ है—सभी जीवों के प्रति संयम करना। जो श्रमणाचार का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं करता और जो अकर्त्तव्य कार्यो का आचरण करता है, वह पाप-श्रमण है। जो विवेकभ्रष्ट श्रमण है, वह सारा समय खाने-पीने और सोने में व्यतीत कर देता है। न समय पर प्रतिलेखन करता है और न समय पर स्वाध्याय-ध्यान आदि ही। समय पर सेवा-शुश्रूषा भी नहीं करता है। वह पाप-श्रमण है। श्रमण का अर्थ केवल वेष-परिवर्तन करना नहीं, जीवन परिवर्तन करना है। जिसका जीवन परिवर्तित—आत्म-निष्ठ-अध्यात्मनिरत हो जाता है, भगवान् महावीर ने उसे श्रेष्ठ श्रमण की अभिधा से अभिहित किया है।

प्रस्तुत अध्ययन में पापश्रपण के जीवन का शब्दचित्र संक्षेप में प्रतिपादित है।

गागर में सागर

अठारहवें अध्ययन में राजा संजय का वर्णन है। एक बार राजा संजय शिकार के लिए केशर उद्यान में गया। वहाँ उसने संत्रस्त मृगों को मारा। इधर उधर निहारते हुए उसकी दृष्टि मुनि गर्दभाल पर गिरी। वे

---

१७०. मूलाचार ११।१३, १४

१७१. अनगारधर्मामृत ४।६१

१७२. ब्रह्मचर्य्यं सदा रक्षेदष्टधा मैथुनं पृथक्।
स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्॥
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः॥
न ध्यातव्यं न वक्तव्यं न कर्त्तव्यं कदाचन।
एतैः सर्वैः सुसम्पन्नो यतिर्भवति नेतरः॥
—दक्षस्मृति ७।३१-३३

१७३. (क) सुत्तनिपात १।११
(ख) विशुद्धिमग्ग (प्रथम भाग) परिच्छेद ८, पृष्ठ २१८-२६०
(ग) दीघनिकाय (महापरिनिव्वाणसुत्त) २।३

ध्यानमुद्रा में थे। उन्हें देखकर राजा संजय भयभीत हुआ। वह सोचने लगा—मैंने मुनि की आशातना की है। मुनि से क्षमायाचना की। मुनि ने जीवन की अस्थिरता, पारिवारिक जनों की असारता और कर्म-परिणामों की निश्चितता का प्रतिपादन किया। जिससे राजा के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह मुनि बन गया। एक बार एक क्षत्रिय मुनि ने संजय मुनि से पूछा—आप कौन हैं, आपका नाम और गोत्र क्या है, किस प्रकार आचार्यों की सेवा करते हो? कृपा करके बताइये। मुनि संजय ने संक्षेप में उत्तर दिया। उत्तर सुनकर मुनि बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने मुनि संजय को जैन प्रवचन में सुदृढ़ करने के लिए अनेक महापुरुषों के उदाहरण दिये। इस अध्ययन में अनेक चक्रवर्तियों का उल्लेख हुआ है। भरत चक्रवर्ती भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे। इन्हीं के नाम पर प्रस्तुत देश का नाम 'भारतवर्ष' हुआ। इन्होंने षट्खण्ड के साम्राज्य का परित्याग कर श्रमणधर्म स्वीकार किया था। दूसरे चक्रवर्ती सगर थे। अयोध्या में इक्ष्वाकुवंशीय राजा जितशत्रु का राज्य था। उसके भाई का नाम सुमित्रविजय था। विजया और यशोमती ये दो पत्नियाँ थीं। विजया के पुत्र का नाम अजित था, जो द्वितीय तीर्थंकर के नाम से विश्रुत हुए और यशोमती के पुत्र का नाम सगर था, जो द्वितीय चक्रवर्ती हुआ।

तृतीय चक्रवर्ती का नाम मघव था। ये श्रावस्ती नगरी के राजा समुद्रविजय की महारानी भद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। सनत्कुमार चतुर्थ चक्रवर्ती थे। ये कुरु जांगल जनपद में हस्तिनापुर नगर के निवासी थे। उनके पिता का नाम अश्वसेन और माता का नाम सह देवी था। शान्तिनाथ हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम अचिरा देवी था। ये पाँचवें चक्रवर्ती हुए। राज्य का परित्याग कर श्रमण बने और सोलहवें तीर्थंकर हुए। कुन्थु हस्तिनापुर के राजा सूर के पुत्र थे। इनकी माता का नाम श्री देवी था। ये छठे चक्रवर्ती हुए। अन्त में राज्य का परित्याग कर श्रमण बने। तीर्थ की स्थापना कर सत्तरहवें तीर्थंकर हुए। 'अर' गजपुर के राजा सुदर्शन के पुत्र थे। इनकी माता का नाम देवी था। ये सातवें चक्रवर्ती हुए। राज्य-भार को छोड़कर श्रमणधर्म में दीक्षित हुए। तीर्थ की स्थापना करके अठारहवें तीर्थंकर हुए। नवें चक्रवर्ती महापद्म थे। ये हस्तिनापुर के पद्मोत्तर राजा के पुत्र थे। उनकी माता का नाम झाला था। उनके दो पुत्र हुए—विष्णुकुमार और महापद्म। महापद्म नौवें चक्रवर्ती हुए। हरिसेण दसवें चक्रवर्ती हुए। ये काम्पिल्यपुर नगर के निवासी थे। इनके पिता का नाम महाहरिश था और माता का नाम 'मेरा' था। जय राजगृह नगर के राजा समुद्रविजय के पुत्र थे। इनकी माँ का नाम वप्रका था। ये ग्यारहवें चक्रवर्ती के रूप में विश्रुत हुए।

भरत से लेकर जय तक तीर्थंकरों और चक्रवर्तियों का अस्तित्व काल प्राग्-ऐतिहासिक काल है। इन सभी ने संयम-मार्ग को ग्रहण किया। दशार्णभद्र दशार्ण जनपद के राजा थे। ये भगवान् महावीर के समकालीन थे। नमि विदेह के राजा थे। चूड़ी की नीरवता के निमित्त से प्रतिबुद्ध हुए थे। कुम्भजातक में मिथिला के निमि राजा का उल्लेख है। वह गवाक्ष में बैठा हुआ राजपथ की शोभा निहार रहा था। एक चील मांस का टुकड़ा लिए हुए आकाश में जा रही थी। इधर-उधर से गिद्धों ने उसे घेर लिया। एक गिद्ध ने उस मांस के टुकड़े को पकड़ लिया। दूसरा छोड़ कर चल दिया। राजा ने देखा—जिस पक्षी ने मांस का टुकड़ा लिया, उसे दुःख सहन करना पड़ा है और जिसने मांस का टुकड़ा छोड़ा उसे सुख मिला। जो कामभोगों को ग्रहण करता है, उसे दुःख मिलता है। मेरी सोलह हजार पत्नियाँ हैं। मुझे उनका परित्याग कर सुखपूर्वक रहना चाहिए। निमि ने भावना की वृद्धि से प्रत्येक-बोधि को प्राप्त किया।[१७४] करकण्डु कलिंग के राजा थे। वे बूढ़े बैल को देखकर प्रतिबुद्ध हुए। वे सोचने लगे—एक दिन यह बैल बछड़ा था, युवा हुआ। इसमें अपार शक्ति थी। आज इसकी आँखें गड़ी जा रही हैं, पैर

---

१७४. कुम्भकारजातक (संख्या ४०८) जातक खण्ड ४, पृष्ठ ३९

लड़खड़ा रहा है। उसका मन वैराग्य से भर गया। संसार की परिवर्तनशीलता का भान होने से वह प्रत्येक-बुद्ध हुआ।

बौद्ध साहित्य[१७५] में भी कलिंग राष्ट्र के दन्तपुर नगर का राजा करकण्डु था। एक दिन उसने फलों से लदे हुए आम्र वृक्ष को देखा। उसने एक आम तोड़ा। राजा के साथ जो अन्य व्यक्ति थे उन सभी ने आमों को एक-एक कर तोड़ लिया। वृक्ष फलहीन हो गया। लौटते समय राजा ने उसे देखा। उसकी शोभा नष्ट हो चुकी थी। राजा सोचने लगा—वृक्ष फलसहित था, तब तक उसे भय था। धनवान् को सर्वत्र भय होता है। अकिंचन को कहीं भी भय नहीं। मुझे भी फलरहित वृक्ष की तरह होना चाहिए। वह विचारों की तीव्रता से प्रत्येकबुद्ध हो गया।

द्विमुख पांचाल के राजा थे। ये इन्द्रध्वज को देखकर प्रतिबोधित हुए। बौद्ध साहित्य में भी दुमुख राजा का वर्णन है।[१७६] वे उत्तरपांचाल राष्ट्र में कम्पिल नगर के अधिपति थे। वे भोजन से निवृत्त होकर राजाङ्गण की श्री को निहार रहे थे। उसी समय ग्वालों ने व्रज का द्वार खोल दिया। दो सांडों ने कामुकता के अधीन होकर एक गाय का पीछा किया। दोनों परस्पर लड़ने लगे। एक के सींग से दूसरे सांड की आंतें बाहर निकल आईं और वह मर गया। राजा चिन्तन करने लगा—सभी प्राणी विकारों के वशीभूत होकर कष्ट प्राप्त करते हैं। ऐसा चिन्तन करते हुए वह प्रत्येकबोधि को प्राप्त हो गया।

नग्गति गांधार का राजा था। वह मंजरी-विहीन आम्रवृक्ष को निहारकर प्रत्येकबुद्ध हुआ। बौद्ध साहित्य में भी 'नग्गजी' नाम के राजा का वर्णन है।[१७७] वह गांधार राष्ट्र के तक्षशिला का अधिपति था। उसकी एक स्त्री थी। वह एक हाथ में एक कंगन पहन कर सुगन्धित द्रव्य को पीस रही थी। राजा ने देखा—एक कंगन के कारण न परस्पर रगड़ होती है और न ध्वनि ही होती है। उस स्त्री ने कुछ समय के बाद दूसरे हाथ से पीसना प्रारम्भ किया। उस हाथ में दो कंगन थे। परस्पर घर्षण से शब्द होने लगा। राजा सोचने लगा—दो होने से रगड़ होती है और साथ ही ध्वनि भी। मैं भी अकेला हो जाऊँ जिससे संघर्ष नहीं होगा और वह प्रत्येकबुद्ध हो गया।

उत्तराध्ययन में जिन चार प्रत्येकबुद्धों का उल्लेख है, वैसा ही उल्लेख बौद्ध साहित्य में भी हुआ है किन्तु वैराग्य के निमित्तों में व्यत्यय है। जैन कथा में वैराग्य का जो निमित्त नग्गती और नमि का है, वह बौद्ध कथाओं में करकण्डु और नग्गजी का है। उत्तराध्ययन सुखबोधावृत्ति में तथा अन्य ग्रन्थों में इन चार प्रत्येकबुद्धों की कथाएँ बहुत विस्तार के साथ आई हैं। उनमें अनेक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तथ्यों का संकलन है, जबकि बौद्ध कथाओं में केवल प्रतिबुद्ध होने के निमित्त का ही वर्णन है।

विण्टरनीत्ज का अभिमत है—जैन और बौद्ध साहित्य में जो प्रत्येकबुद्धों की कथाएँ आई हैं, वे प्राचीन भारत के श्रमण-साहित्य की निधि हैं।[१७८] प्रत्येकबुद्धों का उल्लेख वैदिक परम्परा के साहित्य में नहीं हुआ है। महाभारत[१७९] में जनक के रूप में जिस व्यक्ति का उल्लेख हुआ है, उसका उत्तराध्ययन में नमि के रूप में

---

१७५. कुम्भकारजातक (संख्या ४०८) जातक, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ ३७

१७६. कुम्भकारजातक (संख्या ४०८) जातक, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ ३९-४०

१५७. कुम्भकारजातक (संख्या ४०८) जातक, चतुर्थ खण्ड, पृष्ठ ३९

१७८. The Jainas in the History of Indian Literature, P. 8.

१७९. महाभारत, शान्तिपूर्ण, अध्याय—१७८, २१८, २७६.

उल्लेख है। यद्यपि मूलपाठ में उनके प्रत्येकबुद्ध होने का उल्लेख नहीं है। यह उल्लेख सर्वप्रथम उत्तराध्ययन निर्युक्ति में हुआ है। उसके पश्चात् टीका-साहित्य में।

उदायन : एक परिचय

'उदायन' सिन्धु सौवीर जनपद के राजा थे। इनके अधीन सोलह जनपद, वीतभय आदि तीन सौ तिरेसठ नगर और महासेन आदि दश मुकुटधारी राजा थे। वैशाली के गणतंत्र के राजा चेटक की पुत्री उदायन की पटरानी थी। भगवती[१८०] सूत्र में उदायन का प्रसंग प्राप्त है। उदायन का पुत्र अभीचकुमार निर्ग्रन्थ धर्म का उपासक था। राजा उदायन ने अपना राज्य अभीचकुमार को न देकर अपने भानजे केशी को दिया। 'केशी' को राज्य देने का कारण यही था कि वह राज्य में आसक्त होकर कहीं नरक न जाए। किन्तु राज्य न देने के कारण अभीचकुमार के मन में द्रोह उत्पन्न हुआ। उदायन को, उसकी दिवंगत धर्मपत्नी जो देवी बनी थी वह स्वर्ग से आकर धर्म की प्रेरणा प्रदान करती है। राजा उदायन को दीक्षा प्रदान करने के लिए श्रमण भगवान् महावीर मगध से विहार कर सिन्धु सौवीर पधारते हैं। उदायन मुनि उत्कृष्ट तप का अनुष्ठान प्रारम्भ करते हैं। स्वाध्याय और ध्यान में अपने आपको पूर्ण रूप से समर्पित कर देते हैं। दीर्घ तपस्या तथा अरस-नीरस आहार से उनका शरीर अत्यन्त कृश हो चुका था, शारीरिक बल क्षीण होने से रुग्ण रहने लगे। जब रोग ने उग्र रूप धारण किया तो स्वाध्याय, ध्यान आदि में विघ्न उपस्थित हुआ। वैद्यों ने दही के प्रयोग का परामर्श दिया। राजर्षि ने देखा—वीतभय में गोकुल की सुलभता है। उन्होंने वहाँ से विहार किया और वीतभय पधारे। राजा केशी को मंत्रियों ने राजर्षि के विरुद्ध यह कह कर भड़काया कि राजर्षि राज्य छीनने के लिए आये हैं। केशी ने राजर्षि के शहर में आने का निषेध कर दिया। एक कुम्भकार के घर में उन्होंने विश्राम लिया। राजा केशी ने उन्हें मरवाने के लिए आहार में विष मिलवा दिया। पर रानी प्रभावती, जो देवी बनी थी, वह विष का प्रभाव क्षीण करती रही। एक बार देवी की अनुपस्थिति में विषमिश्रित आहार राजर्षि के पात्र में आ गया। वे उसे शान्त भाव से खा गये। शरीर में विष व्याप्त हो गया। उन्होंने अनशन किया और केवलज्ञान की उन्हें प्राप्ति हुई। देवी के प्रकोप से वीतभय नगर धूलिसात् हो गया।[१८१]

बौद्ध साहित्य में भी राजा उदायन का वर्णन मिलता है। अवदान कल्पलता के अनुसार उनका नाम उद्रायण था।[१८२] दिव्यावदान के अनुसार रुद्रायण था।[१८३] आवश्यकचूर्णि में उदायन का नाम उद्रायण भी मिलता है।[१८४] वह सिन्धु-सौवीर देश का स्वामी था। उसकी राजधानी रोरुक थी। दिवंगत पत्नी ही उसे धर्ममार्ग के लिए उत्प्रेरित करती है। उद्रायण सिन्धु-सौवीर से चलकर मगध पहुँचता है। बुद्ध उसे दीक्षा प्रदान करते हैं। दीक्षित होने के बाद वे अपनी राजधानी में जाते हैं और दुष्ट अमात्यों की प्रेरणा से उनका वध होता है। बौद्ध दृष्टि से रुद्रायण ने अपना राज्य अपने पुत्र शिखण्डी को सौंपा था। अंत में देवी के प्रकोप के कारण रोरुक धूलिसात् हो जाता है। विज्ञों का यह मन्तव्य है कि प्रस्तुत रुद्रायण प्रकरण बौद्ध साहित्य में बाद से आया है क्योंकि हीनयान परम्परा के ग्रन्थों में यह वर्णन प्राप्त नहीं है। महायानी परम्परा के त्रिपिटक, जो संस्कृत में हैं,

---

१८०. भगवतीसूत्र शतक-१३, उद्देशक ६

१८१. उत्तराध्ययनसूत्र-भावगणि विरचित वृत्ति, अध्य० १८, पत्र ३८०-३८८

१८२. अवदान कल्पलता—अवदान ४०, क्षेमेन्द्र सं. शरत्चन्द्रदास और पं. हरिमोहन विद्याभूषण

१८३. दिव्यावदान—रुद्रायणावदान ३७, सं. डॉ. पी. एल. वैद्य, प्रका. मिथिला विद्यापीठ-दरभंगा

१८४. उद्दायण राया, तावसभत्तो —आवश्यकचूर्णि पूर्वार्द्ध पत्र ३९९

उनमें यह वर्णन सम्प्राप्त है। डॉ. पी. एल. वैद्य का अभिमत है कि दिव्यावदान की रचना ई. सन् २०० से ३५० तक के मध्य में हुई है। इसीलिए जैन परम्परा के उदायन को ही बौद्ध परम्परा में रुद्रायणावदान के रूप में परिवर्तित किया है। दोनों ही परम्पराओं में एक ही व्यक्ति दीक्षित कैसे हो सकता है? बौद्ध परम्परा की अपेक्षा जैन परम्परा का 'उदायण प्रकरण' अधिक विश्वस्त है।

प्रस्तुत अध्ययन में उदायन का केवल नाम निर्देश ही हुआ है। हमने दोनों ही परम्पराओं के आधार से संक्षेप में उल्लेख किया है।

काशीराज का नाम नन्दन था और वे सातवें बलदेव थे। वे वाराणसी के राजा अग्निशिख के पुत्र थे। इनकी माता का नाम जयन्ती और लघुभ्राता का नाम दत्त था।

'विजय' द्वारकावती नगरी के राजा ब्रह्मराज के पुत्र थे। इनकी माता का नाम सुभद्रा था तथा लघुभ्राता का नाम द्विपृष्ठ था। नेमिचन्द्र ने उत्तराध्ययनवृत्ति में लिखा है—आवश्यकचूर्णि में 'नन्दन' और 'विजय' इनका उल्लेख है। हम उसी के अनुसार उनका यहाँ पर वर्णन दे रहे हैं। यदि यहाँ पर वे दोनों व्यक्ति दूसरे हों तो आगम-साहित्य के मर्मज्ञ उनकी अन्य व्याख्या कर सकते हैं।[१८५] इससे यह स्पष्ट है कि नेमिचन्द्र को इस सम्बन्ध में अनिश्चितता थी। शान्त्याचार्य ने अपनी टीका में इस सम्बन्ध में कोई चिन्तन प्रस्तुत नहीं किया है। काशीराज और विजय के पूर्व उदायन राजा का उल्लेख हुआ है, जो श्रमण भगवान् महावीर के समय में हुए थे। उनके बाद बलदेवों का उल्लेख संगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन में पहले तीर्थंकर, चक्रवर्ती, और राजाओं के नाम क्रमशः आये हैं, इसीलिए प्रकरण की दृष्टि से महावीर युग के ही ये दोनों व्यक्ति होने चाहिए। स्थानांग सूत्र में[१८६] भगवान् महावीर के पास आठ राजाओं ने दीक्षा ग्रहण की, उसमें काशीराज शंख का भी नाम है। सम्भव है, काशीराज से शंख राजा का यहाँ अभिप्राय हो। भगवान् महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले राजाओं में विजय नाम के राजा का उल्लेख नहीं है। पोलासपुर में विजय नाम के राजा थे। उनके पुत्र अतिमुक्त कुमार ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली परन्तु उनके पिता ने भी दीक्षा ली, ऐसा उल्लेख प्राप्त नहीं है।[१८७] विजय नाम का एक अन्य राजा भी भगवान् महावीर के समय हुआ था, जो मृगगाँव नगर का था। उसकी रानी का नाम मृगा था।[१८८] वह दीक्षित हुआ हो, ऐसा भी उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। विज्ञों के लिए अन्वेषणीय है।

महाबल राजा का भी नाम इस अध्ययन में आया है। टीकाकार नेमिचन्द्र ने महाबल की कथा विस्तार से उट्टंकित की है।[१८९] और उसका मूल स्रोत उन्होंने भगवती बताया है।[१९०] महाबल हस्तिनापुर के राजा बल के पुत्र थे। उनकी माता का नाम प्रभावती था। वे तीर्थंकर विमलनाथ की परम्परा के आचार्य धर्मघोष के पास दीक्षित हुए थे। बारह वर्ष श्रमण-पर्याय में रह कर वे ब्रह्मदेवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से वाणिज्य ग्राम में श्रेष्ठी के पुत्र सुदर्शन बने। इन्होंने भगवान् महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। यह कथा देने के पश्चात्

---

१८५. उत्तराध्ययन सुखबोधावृत्ति, पत्र-२५६

१८६. स्थानांग सूत्र, ठाणा ८, सूत्र ४१

१८७. अन्तगडदशा सूत्र, वर्ग ६

१८८. विपाकसूत्र, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन १

१८९. व्याख्याप्रज्ञप्ति

१९०. उत्तराध्ययन, सुखबोधावृत्ति, पत्र २५९

नेमिचन्द्र ने लिखा है—महाबल यही है अथवा अन्य ?, यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते । हमारी दृष्टि से ये महाबल अन्य होने चाहिए। यह अधिक सम्भव है कि विपाकसूत्र में आये हुए महापुर नगर का अधिपति बल का पुत्र महाबल हो।[191]

इस प्रकार अठारहवें अध्ययन में तीर्थंकर और चक्रवर्ती राजाओं का निरूपण हुआ है, जो ऐतिहासिक और प्राग्-ऐतिहासिक काल में हुए हैं और जिन्होंने साधना-पथ को स्वीकार किया था। इनके साथ ही दशार्ण, कलिंग, पांचाल, विदेह, गांधार, सौवीर, काशी आदि जनपदों का भी उल्लेख हुआ है। साथ ही भगवान् महावीर के युग में प्रचलित क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद, आदि वादों का भी उल्लेख हुआ है। अठारहवें अध्ययन में इस तरह प्रचुर सामग्री रही हुई है।

उन्नीसवें अध्ययन में मृगा रानी के पुत्र का वर्णन होने से अध्ययन का नाम 'मृगापुत्र' रखा गया है। एक बार महारानियों के साथ आनन्द-क्रीड़ा करते हुए मृगापुत्र नगर की सौन्दर्य-सुषमा निहार रहे थे। उनकी दृष्टि राजमार्ग पर चलते हुए एक तेजस्वी मुनि पर गिरी। वे टकटकी लगाकर मंत्रमुग्ध से उन्हें देखते रहे। मृगापुत्र को सहज स्मृति हो आई—मैं भी पूर्वजन्म में ऐसा ही साधु था। उन्हें भोग बन्धन-रूप प्रतीत हुए। संसार में रहना उन्हें अब असह्य हो गया। माता-पिता ने श्रामण्य-जीवन की कठोरता समझाई—वत्स ! श्रामण्य-जीवन का मार्ग फूलों का नहीं कांटों का है। नंगे पैरों, जलती हुए आग पर चलने के सदृश है। साधु होना लोहे के जव चबाना है, दहकती ज्वालाओं को पीना है। कपड़े के थैले को हवा से भरना है, मेरु पर्वत को तराजू पर रखकर तोलना है, महासमुद्र को भुजाओं द्वारा तैरना है। इतना ही नहीं तलवार की धार पर नंगे पैरों से चलना है। इस उग्र श्रमण जीवन को धीर, वीर, गंभीर साधक ही पार कर सकता है। तुम तो बहुत ही सुकुमार हो। इस कठोर श्रमणचर्या का कैसे पालन कर सकोगे ? उत्तर में मृगापुत्र ने नरकों की दारुण वेदना का चित्रण प्रस्तुत किया। नरकों में इस जीव ने कितनी ही असह्य वेदनाओं को सहन किया है। अन्त में माता-पिता कहते हैं—रुग्ण होने पर वहाँ कौन चिकित्सा करेगा ?

मृगापुत्र ने कहा—जब जंगल में पशु रुग्ण होते हैं, उनकी कौन चिकित्सा करता है ? वे पहले की तरह ही स्वस्थ हो जाते हैं। वैसे ही मैं भी पूर्ण स्वस्थ हो जाऊँगा। अन्त में माता-पिता की अनुमति से मृगापुत्र ने संयम ग्रहण किया और पवित्र श्रामण्य-जीवन का पालन कर सिद्धि को वरण किया।

प्रस्तुत अध्ययन में आई एक गाथा की तुलना बौद्ध ग्रन्थ 'महावग्ग' में आई हुई गाथा से कर सकते हैं—

देखिये—

"जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो॥" (उत्तरा. १९।१५)

तुलना कीजिए—

"जातिपि दुक्खा जरापि दुक्खा।
व्याधिपि दुक्खा मरणंपि दुक्खं॥" (महावग्ग—१।६।१९)

निर्ग्रन्थ : एक चिन्तन

बीसवें अध्ययन का नाम "महानिर्ग्रन्थीय" है। जैन श्रमणों का आगमिक प्राचीन नाम निर्ग्रन्थ है। आचार्य अगस्त्यसिंह ने लिखा है—ग्रन्थ का अर्थ बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह है। जो उस ग्रन्थ से पूर्णतया मुक्त

१९१. विपाकसूत्र, श्रुतस्कन्ध-२, अध्ययन-७

होता है, वह निर्ग्रन्थ है।[192] निर्ग्रन्थ की व्याख्या इस प्रकार की गई है—जो राग-द्वेष से रहित होने के कारण एकाकी है, बुद्ध है, आश्रव-रहित है, संयत है, समितियों से युक्त है, सुसमाहित है, आत्मवाद का ज्ञाता है, विज्ञ है, बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के स्रोत जिसके छिन्न हो चुके हैं, जो पूजा-सत्कार, लाभ का अर्थी (इच्छुक) नहीं है, केवल धर्मार्थी है, धर्मविद् है, मोक्षमार्ग की ओर चल पड़ा है, साम्यभाव का आचरण करता है, दान्त है, बन्धन-मुक्त होने के योग्य है, वह निर्ग्रन्थ है।[193] आचार्य उमास्वाति ने लिखा है—जो कर्मग्रन्थि के विजय के लिए प्रयास करता है, वह निर्ग्रन्थ है।[194]

प्रस्तुत अध्ययन में महानिर्ग्रन्थ अनाथ मुनि का वर्णन होने से इसका नाम 'महानिर्ग्रन्थीय' रखा गया है। सम्राट् श्रेणिक ने मुनि के दिव्य और भव्य रूप को निहार कर प्रश्न किया—यह महामुनि कौन हैं? और क्यों श्रमण बने हैं? मुनि ने उत्तर में अपने आपको 'अनाथ' बताया। अनाथ शब्द सुनकर राजा श्रेणिक अत्यन्त विस्मित हुआ। इस रूप-लावण्य के धनी का अनाथ होना उसे समझ में नहीं आया। मुनि ने अनाथ शब्द की विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत की। राजा ने पहली बार सनाथ और अनाथ का रहस्य समझा। उसके ज्ञान-चक्षु खुल गये। उसने निवेदन किया—मैं आप से धर्म का अनुशासन चाहता हूँ। राजा श्रेणिक को मुनि ने सम्यक्त्व-दीक्षा प्रदान की।

प्रस्तुत आगम में मुनि के नाम का उल्लेख नहीं है पर प्रसंग से यही नाम फलित होता है। दीघनिकाय में 'मण्डीकुक्षि' के नाम पर 'मद्दकुच्छि' यह नाम दिया है।[195] डा. राधाकुमुद बनर्जी ने मण्डीकुक्षि उद्यान में राजा श्रेणिक के धर्मानुरक्त होने की बात लिखी है।[196] साथ ही प्रस्तुत अध्ययन की ५८ वीं गाथा में 'अणगारसिंह' शब्द व्यवहृत हुआ है। उस शब्द के आधार से वे अणगारसिंह से भगवान् महावीर को ग्रहण करते हैं पर उनका यह मानना सत्य-तथ्य से परे है। क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन में मुनि ने अपना परिचय देते हुए अपने को कौशाम्बी का निवासी बताया है। सम्राट् श्रेणिक का परिचय हमने अन्य आगमों की प्रस्तावना में विस्तार से दिया है, इसलिए यहाँ विस्तृत रूप से उसकी चर्चा नहीं की जा रही है।

प्रस्तुत अध्ययन में आई हुई कुछ गाथाओं की तुलना धम्मपद, गीता और मुण्डकोपनिषद् आदि से की जा सकती है—

"अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं॥ (उत्तरा. २०।३६)
"अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ॥ (उत्तरा. २०।३७)

तुलना कीजिए—

"अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया।
अत्तना व सुदन्तेन, नाथं लभति दुल्लभं॥"

---

१९२. निग्गंथाणं ति विप्पमुक्कत्ता निरूविज्जति। —दशवैकालिक, अगस्त्यसिंह चूर्णि पृष्ठ ५९
१९३. सूत्रकृतांग १।१६।६
१९४. ग्रन्थः कर्माष्टविधं, मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च।
तज्जयहेतोरशठं, संयतते यः स निर्ग्रन्थः॥ —प्रशमरतिप्रकरण, श्लोक १४२
१९५. दीघनिकाय भाग २, पृ. ९१
१९६. हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ. १८७

"अत्तना व कतं पापं अत्तजं · अत्तसम्भवं ।
अभिमन्थति दुम्मेधं, वजिरं वरममयं मणिं ॥"
"अत्तना व कतं पापं, अत्तना संकिलिस्सति ।
अत्तना अकतं पापं, अत्तना व विसुज्झति ॥ (धम्मपद १२।४,५,९)

"न तं अरी कण्ठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते पच्छाणुतावेण दयाविहूणे ॥" (उत्तर. २०।४८)

तुलना कीजिए—

दिसो दिसं यं त कयिरा, वेरी वा पन वैरिनं ।
मिच्छापणिहितं चित्तं, पापियो नं ततो करे ॥ (धम्मपद ३।१०)

दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं, निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के ।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं, समुद्दपाले अपुणागमं गए ॥ (उत्तरा. २०।४)

तुलना कीजिए—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनं परमं साम्यमुपैति ॥ (मुण्डकोपनिषद् ३।१।३)

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में चिन्तन की विपुल सामग्री है। इस में यह भी प्रदर्शित किया गया है कि द्रव्यलिङ्ग को धारण करने मात्र से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। यह भाव गाथा इकतालीस से पचास तक में प्रदर्शित किये गये हैं। उन की तुलना सुत्तनिपात-महावग्ग पवज्जा सुत्त से सहज रूप से की जा सकती है।

समुद्रयात्रा

इक्कीसवें अध्ययन में समुद्रपाल का वर्णन है। इसलिये वह "समुद्रपालीय" नाम से विश्रुत है। इस अध्ययन में समुद्रयात्रा का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। उस युग में भारत के साहसी व्यापारी व्यापार हेतु दूर-दूर तक जाते थे। अतीत काल से ही नौकाओं के द्वारा व्यापार करने की परम्परा भारत में थी।[१९७] ऋग्वेद में इस प्रकार की नौकाओं का वर्णन है, जो समुद्र में चलती थीं। नाविकों के द्वारा समुद्र में बहुत दूर जाने पर मार्ग विस्मृत हो जाने पर वे पूषा की संस्तुति करते थे जिस से सुरक्षित लौट सकें।

बौद्ध जातकसाहित्य में ऐसे जहाजों का वर्णन है जिन में पांच सौ व्यापारी एक साथ यात्रा करते थे।[१९८] विनय-पिटक में 'पूर्ण' नाम के एक व्यापारी का उल्लेख है जिस ने छः बार समुद्रयात्रा की थी। संयुक्तनिकाय[१९९] अंगुत्तरनिकाय[२००] में वर्णन है कि छः-छः मास तक नौकाओं द्वारा समुद्रयात्रा की जाती थी। दीघनिकाय[२०१] में यह भी वर्णन है कि समुद्रयात्रा करने वाले व्यापारी अपने साथ कुछ पक्षी रखते थे। जब जहाज समुद्र में बहुत दूर पहुँच जाता और आस-पास में कहीं पर भी भूमि दिखाई नहीं देती तब उन पक्षियों को

---

१९७. ऋग्वेद १।२५।७, १।४८।३, १।५६।२, १।११६।३, २।४८।३, ७।८८।३-४
१९८. पण्डार जातक २।१२८, ५।७५
१९९. संयुक्तनिकाय २।११५, ५।५१
२००. अंगुत्तरनिकाय ४।२७
२०१. दीघनिकाय १।२२२

आकाश में छोड़ दिया जाता। यदि टापू कहीं सन्निकट होता तो वे पक्षी लौट कर नहीं आते। और दूर होने पर वे पुनः इधर-उधर आकाश में चक्कर लगा कर आ जाते थे।

भगवान् ऋषभदेव ने जलपोतों का निर्माण किया था।[२०२] जैन साहित्य में जलपत्तन के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[२०३] सुत्रकृतांग[२०४] उत्तराध्ययन[२०५] आदि आगम साहित्य में कठिन कार्य की तुलना समुद्रयात्रा से की है। वस्तुतः उस युग में समुद्रयात्रा अत्यधिक कठिन थी।

सूत्रकृतांग[२०६] में लेप नामक गाथा-पति का उल्लेख है, जिस के पास अनेक यान थे। सिंहलद्वीप, जावा सुमात्रा प्रभृति स्थलों पर अनेक व्यापारीगण जाया करते थे। ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में[२०७] जिनपालित और जिनरक्षित गाथापति का वर्णन है, जिन्होंने बारह बार समुद्रयात्रा की थी। अरणंक श्रावक आदि के यात्रावर्णन भी ज्ञाताधर्मकथा में है।[२०८] व्यापारीगण स्वयं के यानपात्र भी रखते थे, जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक माल लेकर जाते थे। उसमें स्वर्ण, सुपारी आदि अनेक वस्तुएँ होती थीं। उस समय भारत में स्वर्ण अत्यधिक मात्रा में था, जिस का निर्यात दूसरे देशों में होता था। इस प्रकार सामुद्रिक व्यापार बहुत उन्नत अवस्था में था।

इस अध्ययन में यह भी बताया गया है कि उस युग में जो व्यक्ति तस्करकृत्य करता था, उसको उग्र दण्ड दिया जाता था। वधभूमि में ले जाकर वध किया जाता था। वह लालवस्त्रों से आवेष्टित होता, उसके गले में लाल कनेर की माला होती, जिससे दर्शकों को पता लग जाता कि इसने अपराध किया है। वह कठोर दण्ड इसलिये दिया जाता कि अन्य व्यक्ति इस प्रकार के अपराध करने का दुस्साहस न करें। तस्करों की तरह दुराचारियों को भी शिरोमुण्डन, तर्जन, ताडन, लिङ्गच्छेदन, निर्वासन और मृत्यु प्रभृति विविध दण्ड दिये जाते थे। सूत्रकृतांग,[२०९] निशीथचूर्णि,[२१०] मनुस्मृति,[२११] याज्ञवल्क्यस्मृति[२१२] आदि में विस्तार से इस विषय का निरूपण है। प्रस्तुत अध्ययन में उस युग की राज्य-व्यवस्था का भी उल्लेख है। भारत में उस समय अनेक छोटे-मोटे राज्य थे। उनमें परस्पर संघर्ष भी होता था। अतः मुनि को उस समय सावधानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने का सूचन किया गया है।

अरिष्टनेमि और राजीमती

बाईसवें अध्ययन में अन्धक कुल के नेता समुद्रविजय के पुत्र रथनेमि का वृत्तान्त है। रथनेमि अरिष्टनेमि

---

२०२. आवश्यकनिर्युक्ति २१४
२०३. (क) बृहत्कल्प, भाग २, पृ. ३४२
(ख) आचारांगचूर्णि पृ. २८१
२०४. सूत्रकृतांग १।११।५
२०५. उत्तराध्ययन ८।६
२०६. सूत्रकृतांग—२।७।६९.
२०७. ज्ञाताधर्मकथा—१।९.
२०८. ज्ञाताधर्मकथा—१।१७, पृष्ठ-२०१.
२०९. सूत्रकृतांग—४।१।२२.
२१०. निशीथचूर्णि—१५।५०६० की चूर्णि.
२११. मनुस्मृति—८।३७४.
२१२. याज्ञवल्क्यस्मृति—३।५।२३२.

अर्हत् के लघुभ्राता थे। राजीमती, जिनका वैवाहिक सम्बन्ध अरिष्टनेमि से तय हुआ था किन्तु विवाह के कुछ समय पूर्व ही अरिष्टनेमि को वैराग्य हो गया और वे मुनि बन गये। अरिष्टनेमि के प्रव्रजित होने के पश्चात् रथनेमि राजीमती पर आसक्त हो गये। किन्तु राजीमती का उपदेश श्रवण कर रथनेमि प्रव्रजित हुए। एक बार पुनः रैवतक पर्वत पर वर्षा से प्रताड़ित साध्वी राजीमती को एक गुफ़ा में वस्त्र सुखाते समय नग्न अवस्था में देखकर रथनेमि विचलित हो गये। राजीमती के उपदेश से वे पुनः संभले और अपने दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप करते हैं।

जैन साहित्य के अनुसार राजीमती उग्रसेन की पुत्री थी। विष्णु पुराण के अनुसार उग्रसेन की चार पुत्रियां थी—कंसा, कंसवती, सुतनु और राष्ट्रपाली।[२१३] इस नामावली में राजीमती का नाम नहीं आया है। यह बहुत कुछ सम्भव है—सुतनु ही राजीमती का अपरनाम रहा हो। क्योंकि प्रस्तुत अध्ययन की ३७वीं गाथा में रथनेमि राजीमती को 'सुतनु' नाम से सम्बोधित करते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में अन्धकवृष्णि शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन हरिवंश पुराण के अनुसार यदुवंश का उद्भव हरिवंश से हुआ है। यदुवंश में नरपति नाम का एक राजा था। उसके शूर और सुवीर ये दो पुत्र थे। सुवीर को मथुरा का राज्य दिया गया और शूर को शौर्यपुर का। अन्धकवृष्णि आदि शूर के पुत्र थे और भोजकवृष्णि आदि सुवीर के पुत्र थे। अन्धक-वृष्णि की प्रमुख रानी का नाम सुभद्रा था। उनके दस पुत्र हुए, जो निम्नलिखित हैं—(१) समुद्रविजय, (२) अक्षोभ्य, (३) स्तमित सागर, (४) हिमवान्, (५) विजय, (६) अचल, (७) धारण, (८) पूरण, (९) अभिचन्द्र, (१०) वसुदेव। ये दसों पुत्र दशार्ह के नाम से विश्रुत हैं। अन्धकवृष्णि की (१) कुन्ती, (२) मद्री ये दो पुत्रियां थीं। भोजकवृष्णि की मुख्य पत्नी पद्मावती थी। उसके उग्रसेन, महासेन और देवसेन ये तीन पुत्र हुए।[२१४] उत्तरपुराण में देवसेन के स्थान पर महाद्युतिसेन नाम आया है।[२१५] उनके एक पुत्री भी थी, जिसका नाम गांधारी था।

अन्धककुल के नेता समुद्रविजय के अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि ये चार पुत्र थे। वासुदेव श्रीकृष्ण आदि अंधकवृष्णिकुल के नेता वसुदेव के पुत्र थे। वैदिक-साहित्य में इनकी वंशावली पृथक् रूप से मिलती है।[२१६] इस अध्ययन में भोज, अन्धक और वृष्णि इन तीन कुलों का उल्लेख हुआ है। भोजराज शब्द राजीमती के पिता समुद्रविजय जी के लिए प्रयुक्त हुआ है। वासुदेव श्रीकृष्ण का अरिष्टनेमि के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध था। वे अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे। उन्होंने राजीमती को दीक्षा ग्रहण करते समय जो आशीर्वाद दिया था वह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है और साथ ही श्रीकृष्ण के हृदय की धार्मिक भावना का भी प्रतीक है। वह आशीर्वाद इस प्रकार से है—**संसारसागरं घोरं, तर कन्ने! लहुं लहुं।**" हे कन्ये! तू घोर संसार-सागर को शीघ्रता से पार कर।[२१७]

इस अध्ययन की सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि पथभ्रष्ट पुरुष को नारी सही मार्ग पर

---

२१३. विष्णुपुराण ४।१४।२१

२१४. हरिवंशपुराण १८।६-१६ आचार्य जिनसेन

२१५. उत्तरपुराण ७०।१०

२१६. (क) देखिए—लेखक का भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन
(ख) एन्शिएण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन, पृष्ठ १०४-१०७ पारजीटर

२१७. उत्तराध्ययन २२-३१

भरती है। उसका नारायणी रूप इसमें उजागर हुआ है। नारी वासना की दास नहीं, किन्तु उपासना की ओर बढ़ने वाली पवित्र प्रेरणा की स्रोत भी है। जब वह साधना के पथ पर बढ़ती है तो उसके कदम आगे से आगे बढ़ते ही चले जाते हैं। वह अपने लक्ष्य पर बढ़ना भी जानती है।

समस्याएँ और समाधान

तेवीसवें अध्ययन में भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के तेजस्वी नक्षत्र केशीकुमार श्रमण और भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गौतम का ऐतिहासिक संवाद है। भगवान् पार्श्व तेवीसवें तीर्थंकर थे। भगवान् महावीर ने 'पुरुषादानीय' शब्द का प्रयोग पार्श्वनाथ के लिए किया है। यह उनके प्रति आदर का सूचक है। भगवान् पार्श्व के हजारों शिष्य भगवान् महावीर के समय विद्यमान थे। भगवती में 'कालास्यवैशिक'[२१८] अनगार, 'गांगेय' अनगार[२१९] तथा अन्य अनेक स्थविर[२२०] और सूत्रकृतांग[२२१] में 'उदकपेढाल' आदि पार्श्वापत्य श्रमणों ने भगवान् महावीर के शासन को स्वीकार किया था। प्रस्तुत अध्ययन में पार्श्वापत्य श्रमणों में और भगवान् महावीर के श्रमणों में जिन बातों को लेकर अन्तर था, उसका निरूपण है। यह निरूपण ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस अन्तर का मूल कारण भी गणधर गौतम ने केशीकुमार श्रमण को बताया है। प्रथम तीर्थंकर के श्रमण ऋजु और जड़ थे। अन्तिम तीर्थंकर के श्रमण वक्र और जड़ होते हैं और मध्यवर्ती बावीस तीर्थंकरों के श्रमण ऋजु और प्राज्ञ थे। प्रथम तीर्थंकर के श्रमणों के लिए आचार को पूर्ण रूप से समझ पाना कठिन था। चरम तीर्थंकर के श्रमणों के लिए आचार का पालन करना कठिन है। किन्तु मध्यवर्ती तीर्थंकरों के श्रमण उसे यथावत् समझने और सरलता से उसका पालन करते थे। इन्हीं कारणों से आचार के दो रूप हुए हैं—चातुर्याम धर्म और पंचयाम धर्म। केशीश्रमण की इस जिज्ञासा पर कि एक ही प्रयोजन के लिए अभिनिष्क्रमण करने वाले श्रमणों के वेश में यह विचित्रता क्यों है? एक रंग-बिरंगे बहुमूल्य वस्त्रों को धारण करते हैं और एक अल्प मूल्य वाले श्वेत वस्त्रधारी हैं। गणधर गौतम ने समाधान करते हुए कहा—मोक्ष की साधना का मूल ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। वेश तो बाह्य उपकरण है, जिससे लोगों को यह ज्ञात हो सके कि ये साधु हैं। 'मैं साधु हूँ।' इस प्रकार ध्यान रखने के लिए ही वेष है। सचेल परम्परा के स्थान पर अचेल परम्परा का यही उद्देश्य है। यहाँ पर अचेल का अर्थ अल्पवस्त्र है।

भगवान् पार्श्व के चातुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है। वहाँ पर बाह्य वस्तुओं की अनासक्ति को व्यक्त करने वाला 'बहिद्धादाणविरमण-बहिस्तात् आदान-विरमण' शब्द है। भगवान् महावीर ने उसके स्थान पर ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दो शब्दों का प्रयोग किया है। ब्रह्मचर्य शब्द वैदिक साहित्य में व्यवहृत था पर महाव्रत के रूप में 'ब्रह्मचर्य शब्द' का प्रयोग भगवान् महावीर ने किया। वैदिक साहित्य में इसके पूर्व ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग महाव्रत के रूप में नहीं हुआ। इसी तरह अपरिग्रह शब्द का प्रयोग भी महाव्रत के रूप में सर्वप्रथम ऐतिहासिककाल में भगवान् महावीर ने ही किया है। जाबालोपनिषद्[२२२],

---

२१८. भगवतीसूत्र १।९.
२१९. भगवतीसूत्र ९।३२.
२२०. भगवतीसूत्र ५।९.
२२१. सूत्रकृतांग २।७.
२२२. जाबालोपनिषद्—५.

नारदपरिव्राजकोपनिषद्[२२३], तेजोविन्दूपनिषद्[२२४], याज्ञवल्क्योपनिषद्[२२५], आरुणिकोपनिषद्[२२६], गीता[२२७], योगसूत्र[२२८] आदि ग्रन्थों में अपरिग्रह शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु वे सारे ग्रन्थ भगवान् महावीर के बाद के हैं, ऐसा ऐतिहासिक मनीषियों का मत है। भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में 'अपरिग्रह' शब्द का प्रयोग महान् व्रत के रूप में नहीं हुआ है।

डॉ. हर्मन जेकोबी ने लिखा है—जैनों ने अपने व्रत ब्राह्मणों से उधार लिए हैं।[२२९] उनका यह मन्तव्य है—ब्राह्मण संन्यासी अहिंसा, सत्य, अचौर्य, सन्तोष और मुक्तता इन व्रतों का पालन करते थे। उन्हीं का अनुसरण जैनियों ने किया है। डॉ. जेकोबी की प्रस्तुत कल्पना केवल निराधार कल्पना ही है। उसका वास्तविक और ठोस आधार नहीं है। ब्राह्मण परम्परा में पहले व्रत नहीं थे। बोधायन आदि में जो निरूपण है वह बहुत ही बाद का है। ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान् पार्श्व के समय व्रत-व्यवस्था थी। वही व्रत-व्यवस्था भगवान् महावीर ने विकसित की थी। तथागत बुद्ध ने उसे अष्टाङ्गिक मार्ग के रूप में स्वीकार किया और योगदर्शन में यम-नियमों के रूप में उसे ग्रहण किया गया। गांधीजी के आश्रमधर्म का आधार भी वही है। ऐसा धर्मानन्द कौशाम्बी का भी अभिमत है।[२३०] डॉ. रामधारीसिंह दिनकर[२३१] का मन्तव्य है—हिन्दूत्व और जैनधर्म परस्पर में घुल-मिलकर इतने एकाकार हो गये हैं कि आज का सामान्य हिन्दू यह जानता भी नहीं है कि अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह जैनधर्म के उपदेश थे न कि हिन्दूत्व के। आधुनिक अनुसन्धान से यह स्पष्ट हो चुका है कि व्रतों की परम्परा का मूलस्रोत श्रमण-संस्कृति है।[२३२]

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में युग-युग के सघन संशय और उलझे हुए विकल्पों का सही समाधान है। इस संवाद में समत्व की प्रधानता है। इस प्रकार के परिसंवादों से ही सत्य-तथ्य उजागर होता है, श्रुत और शील का समुत्कर्ष होता है। इस अध्ययन में आत्मविजय और मन का अनुशासन करने के लिए जो उपाय प्रदर्शित किये गये हैं, वे आधुनिक तनाव के युग में परम उपयोगी है। चंचल मन को एकाग्र करने के लिए धर्मशिक्षा आवश्यक बताई है।[२३३] वही बात गीताकार ने भी कही है—मन को वश में करने के लिए अभ्यास

---

२२३. नारद परिव्राजकोपनिषद् ३।८।६

२२४. तेजोविन्दूपनिषद् १।३

२२५. याज्ञवल्क्योपानंपद् २।१

२२६. आरुणिकोपनिषद् ३

२२७. गीता ६।१०

२२८. योगसूत्र २।३०

२२९. "It is therefore probable that the Jain as have borrowed their own Vows from the Brahmans, not From the Buddhists."

—The Sacred Books of the East, Vol. XXII, Introduction P. 24

२३०. भगवान् पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, भूमिका पृष्ठ ६

२३१. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ १२५

२३२. देखिए—लेखक का भगवान् पार्श्वनाथ : एक समीक्षात्मक अध्ययन।

२३३. उत्तराध्ययन सूत्र—२३।५८

और वैराग्य आवश्यक है।[234] आचार्य पतंजलि का भी यही अभिमंत रहा है।[235]

प्रवचन माताएं—

चौवीसवें अध्ययन का नाम 'समिईओ' है। समवायांग सूत्र में यह नाम प्राप्त है।[236] उत्तराध्ययन-निर्युक्ति में प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'प्रवचनमात' या 'प्रवचनमाता' मिलता है।[237] सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान को 'प्रवचन' कहा जाता है। उसकी रक्षा हेतु पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ माता के सदृश हैं। ये प्रवचन-माताएँ चारित्ररूपा हैं द्वादशांगी में ज्ञान, दर्शन और चारित्र का ही विस्तार से निरूपण है। इसलिये द्वादशांगी प्रवचनमाता का ही विराट् रूप है। लौकिक जीवन में माँ की महिमा विश्रुत है। वह शिशु के जीवन के संवर्धन के साथ ही संस्कारों का सिंचन करती है। वैसे ही आध्यात्मिक जीवन में ये प्रवचन-माताएँ जगदम्बा के रूप में हैं। इसलिये भी इन्हें प्रवचनमाता कहा है।[238] प्रसव और समाना इन दोनों अर्थों में माता शब्द का व्यवहार हुआ है। भगवान् जगत्-पितामह के रूप में हैं।[239] आत्मा के अनन्त आध्यात्मिक-सद्गुणों को विकसित करने वाली ये प्रवचनमाताएँ हैं।

प्रतिक्रमण सूत्र के वृत्तिकार आचार्य नमि[240] ने समिति की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि प्राणातिपात प्रभृति पापों से निवृत्त रहने के लिये प्रशस्त एकाग्रतापूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् प्रवृत्ति समिति है। साधक का अशुभ योगों से सर्वथा निवृत्त होना गुप्ति है। आचार्य उमास्वातिजी ने भी लिखा[241] है—मन, वचन और काय के योगों का जो प्रशस्त निग्रह है, वह गुप्ति है।

आचार्य शिवार्य ने लिखा है कि जिस योद्धा ने सुदृढ़ कवच धारण कर रखा हो, उस पर तीक्ष्ण वाणों की वर्षा हो तो भी वे तीक्ष्ण वाण उसे बींध नहीं सकते। वैसे ही समितियों का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला श्रमण जीवन के विविध कार्यों में प्रवृत्त होता हुआ पापों से निर्लिप्त रहता है।[242] जो श्रमण आगम के रहस्य को नहीं जानता किन्तु प्रवचनमाता को सम्यक् प्रकार से जानता है, वह स्वयं का भी कल्याण करता है और दूसरों का भी! श्रमणों के आचार का प्रथम और अनिवार्य अंग प्रवचनमाता है, जिस के माध्यम से श्रामण्य धर्म का विशुद्ध रूप से पालन किया जा सकता है।

---

२३४ "चंचलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि वलवत् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम्॥"
—गीता ६।३४

'अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते।
—गीता ६।३५

२३५. "अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः।"
—पातंजल योगदर्शन

२३६. समवायांगसूत्र समवाय ३६

२३७. उत्तराध्ययन निर्युक्ति-गाथा ४५८, ४५९

२३८. उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २४ गाथा-१

२३९. नन्दीसूत्र-स्थविरावली गाथा-१

२४०. सम्-एकीभावेन, इतिः-प्रवृत्तिः समितिः

२४१. तत्त्वार्थसूत्र अ. ९ सू. ४

२४२. मूलाराधना ६, १२०२।

प्रस्तुत अध्ययन में समितियों और गुप्तियों का सम्यक् निरूपण हुआ है !

ब्राह्मण—

पच्चीसवें अध्ययन में यज्ञ का निरूपण है। यज्ञ वैदिक संस्कृति का केन्द्र है। पापों का नाश, शत्रुओं का संहार, विपत्तियों का निवारण, राक्षसों का विध्वंस, व्याधियों का परिहार, इन सब की सफलता के लिये यज्ञ आवश्यक माना गया है। क्या दीर्घायु, क्या समृद्धि, क्या अमरत्व का साधन सभी यज्ञ से उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में ऋषि ने कहा—यज्ञ इस उत्पन्न होने वाले संसार की नाभि है। उत्पत्तिप्रधान है। देव तथा ऋषि यज्ञ से समुत्पन्न हुए। यज्ञ से ही ग्राम और अरण्य के पशुओं की सृष्टि हुई। अश्व, गाएं, भेड़ें, अज, वेद आदि का निर्माण भी यज्ञ के कारण ही हुआ। यज्ञ ही देवों का प्रथम धर्म था।[२४३] इस प्रकार ब्राह्मण-परम्परा यज्ञ के चारों ओर चक्कर लगा रही है। भगवान् महावीर के समय सभी विज्ञ ब्राह्मणगण यज्ञकार्य में जुटे हुए थे। श्रमण भगवान् महावीर ने और उनके संघ के अन्य श्रमणों ने 'वास्तविक यज्ञ क्या है? तथा सच्चा ब्राह्मण-कौन है ?' इस सम्बन्ध में अपना चिन्तन प्रस्तुत किया। जिस यज्ञ में जीवों की विराधना होती है उस यज्ञ का भगवान् ने निषेध किया है। जिस में तप और संयम का अनुष्ठान होता है। वह भाव यज्ञ है।

ब्राह्मण शब्द की, जो जातिवाचक बन-चुका था, यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत अध्ययन में की गई है। जातिवाद पर करारी चोट है। मानव जन्म से श्रेष्ठ नहीं, कर्म से श्रेष्ठ बनता है। जन्म से ब्राह्मण नहीं, कर्म से ब्राह्मण होता है। मुण्डित होने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता। ओंकार का जाप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता। अरण्य में रहने मात्र से मुनि नहीं होता। दर्भ-वल्कल आदि धारण करने-मात्र से कोई तापस नहीं हो जाता। समभाव से श्रमण होता है। ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि एवं तपस्या से तापस होता है।

जिस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में ब्राह्मण की परिभाषा की गई है, उसी प्रकार की परिभाषा धम्मपद में भी प्राप्त होती है। उदाहरण के रूप में प्रस्तुत अध्ययन की कुछ गाथाओं के साथ धम्मपद की गाथाओं की तुलना करें—

तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं॥
—(उत्तरा. अ. २५ गा. २२)

तुलना कीजिए—

निधाय दंडं भूतेसु, तसेसु थावरेसु च।
यो हन्ति न घातेति, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥
—(धम्मपद २६।२३,)

कोहा व जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं॥
—(उत्तरा. अ. २५।२३)

---

२४३. ऋग्वेद—वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ ४०

तुलना कीजिये—

अकक्कसं विञ्ञापनिं गिरं सच्चं उदीरये।
याय नाभिसजे कंचि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥
(धम्मपद २६।२६)

जहा पोम्मं जले जायं नोवलिप्पई वारिणा।
एवं अलित्तो कामेहि, तं वयं ब्रूम माहणं ॥
(उत्तरा. २५।२६)

तुलना कीजिये—

वारिपोक्खरपत्ते व आरग्गेरिव सासपो।
यो न लिम्पति कामेसु, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥
(धम्मपद २६।१९)

"न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥'
(उत्तराध्ययन २५।२९)

तुलना कीजिये—

"न मुण्डकेण समणो, अब्बतो अलिकं भणं।
इच्छालोभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति ॥
न तेन भिक्खु सो होति, यावता भिक्खते परे।
विस्सं धम्मं समादाय, भिक्खु होति न तावता ॥"
(धम्मपद १९।९,११)

"न जटाहि न गोत्तेहि, न जच्चा होति ब्राह्मणो।
मौनाद्धि स मुनिर्भवती, नारण्यवसनान्मुनिः ॥"
(उद्योगपर्व-४३।३५)

"समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो ॥
कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥"
(उत्तराध्ययन २५।३०,३१)

तुलना कीजिए—

"..।
समितत्ता हि पापानं समणो ति पवुच्चति ॥
(धम्मपद १९।१०)

"पापानि परिवज्जेति स मुनी तेन सो मुनी।
यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति ॥
(धम्मपद १९।१४)

न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मणो ।
कम्मुना ब्राह्मणो होति, कम्मुना होति अब्राह्मणो ॥
कस्सको कम्मुना होति, सिप्पिको होति कम्मुना ।
वाणिजो कम्मुना होति, पेस्सिको होति कम्मुना ॥
(सुत्तनिपात, महा. ९।५७,५८)
न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो ॥''
(सुत्तनिपात उर. ७।२१,२७)

समाचारी : एक विश्लेषण

छब्बीसवें अध्ययन में समाचारी का निरूपण है। समाचारी जैन संस्कृति का पारिभाषिक शब्द है। शिष्ट जनों के द्वारा किया गया—क्रिया-कलाप समाचारी है।[२४४] उत्तराध्ययन में ही नहीं, भगवती,[२४५] स्थानांग[२४६] आदि अन्य आगमों में भी समाचारी का वर्णन मिलता है। आवश्यकनिर्युक्ति में भी समाचारी पर चिन्तन किया गया है दृष्टिवाद के नौवें पूर्व की आचार नामक तृतीय वस्तु के बीसवें ओघप्राभृत में समाचारी के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तार के साथ निरूपण था। पर वह वर्णन सभी श्रमणों के लिए सम्भव नहीं था। जो महान् मेधावी सन्त होते थे, उनका अध्ययन करते थे। अतः आगम-मर्मज्ञ आचार्यों ने सभी सन्तों के लाभार्थ ओघनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों का निर्माण किया। प्रवचनसारोद्धार, धर्मसंग्रह आदि उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी समाचारी का निरूपण है। उपाध्याय यशोविजयजी ने समाचारीप्रकरण नामक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना की है।

श्रमणाचार के वृत्तात्मक आचार और व्यवहारात्मक आचार ये दो भेद हैं। महाव्रत वृत्तात्मक आचार है और व्यवहारात्मक आचार समाचारी है। समाचारी के ओघ समाचारी और पदविभाग समाचारी ये दो भेद हैं। प्रथम समाचारी का अन्तर्भाव धर्मकथानुयोग में और दूसरी समाचारी का अन्तर्भाव चरणकरणानुयोग में किया गया है। आवश्यकनिर्युक्ति में समाचारी के ओघसमाचारी, दशविध समाचारी और पदविभाग समाचारी ये तीन प्रकार बतलाए हैं। ओघसमाचारी का प्रतिपादन ओघनिर्युक्ति में किया गया है और पदविभाग समाचारी छेदसूत्र में वर्णित है।

दिगम्बरग्रन्थों में समाचारी के स्थान पर 'समाचार' और 'सामाचार' ये दो शब्द आये हैं। आचार्य वट्टकेर ने उसके चार अर्थ किये हैं—(१) समता का आचार (२) सम्यक् आचार (३) सम आधार (४) समान आचार।[२४७]

श्रमण-जीवन में दिन-रात में जितनी भी प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे सभी समाचारी में अन्तर्गत हैं। समाचारी संघीय जीवन जीने की श्रेष्ठतम कला है। समाचारी से परस्पर एकता की भावना विकसित होती है, जिससे संघ को बल प्राप्त होता है।

---

२४४. उत्तराध्ययन, अध्ययन २६
२४५. भगवतीसूत्र, २५।७
२४६. स्थानांग १०, सूत्र ७४९
२४७. समदा सामाचारो, सम्माचारो समो व आचारो ।
सव्वेसिं सम्माणं समाचारो हु आचारो ॥ —मूलाचार, गा. १२३

प्रस्तुत अध्ययन में दशविध ओघ-समाचारी का निरूपण हुआ है। इस सम्बन्ध में हमने विस्तार के साथ "जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप" ग्रन्थ में निरूपण किया है।[२४८] विशेष जिज्ञासु वहाँ देख सकते हैं।

अनुशासन हीनता का प्रतीक : अविनय

सत्ताईसवें अध्ययन में दुष्ट बैल की उद्दण्डता के माध्यम से अविनीत शिष्य का चित्रण किया गया है। संघ-व्यवस्था के लिए अनुशासन आवश्यक है। विनय, अनुशासन का अंग है तो अविनय अनुशासनहीनता का प्रतीक है। जो साधक अनुशासन की उपेक्षा करता है वह अपने जीवन को महान् नहीं बना सकता। गर्गगोत्रीय गार्ग्य मुनि एक विशिष्ट आचार्य थे, योग्य गुरु थे किन्तु उनके शिष्य उद्दण्ड, अविनीत और स्वच्छन्द थे। उन शिष्यों के अभद्र व्यवहार से समत्व साधना में विघ्न उपस्थित होता हुआ देखकर आचार्य गार्ग्य उन्हें छोड़कर एकाकी चल दिये। अनुशासनहीन अविनीत शिष्य दुष्ट बैल की भाँति होता है जो गाड़ी को तोड़ देता है और स्वामी को कष्ट पहुँचाता है। इसी तरह अविनीत शिष्य आचार्य और गुरुजनों को कष्टदायक होता है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति में अविनीत शिष्य के लिए दंशमशक, जलोका, वृश्चिक प्रभृति विविध उपमाओं से अलंकृत किया है। इस अध्ययन में जो वर्णन है वह प्रथम अध्ययन 'विनयश्रुत' का ही पूरक है।

प्रस्तुत अध्ययन की निम्न गाथा की तुलना बौद्ध ग्रन्थ की थेरगाथा से की जा सकती है—

"खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि भज्जन्ति धिइदुब्बला ॥" —(उत्तराध्ययन २७।८)

तुलना कीजिए—

"ते तथा सिक्खिता बाला, अञ्ञमञ्ञमगारवा।
नादयिस्सन्ति उपज्झाये, खलुंको विय सारथिं ॥" —(थेरगाथा ९७९)

मोक्षमार्ग : एक परिशीलन

अट्ठाईसवें अध्ययन में मोक्षमार्गगति का निरूपण हुआ है। मोक्ष प्राप्य है और उसकी प्राप्ति का उपाय मार्ग है। प्राप्ति का उपाय जब तक नहीं मिलता तब तक प्राप्य प्राप्त नहीं होता। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये मोक्षप्राप्ति के साधन हैं। इन साधनों की परिपूर्णता ही मोक्ष है। जैन आचार्यों ने तप का अन्तर्भाव चारित्र में करके परवर्ती साहित्य में त्रिविध साधना का मार्ग प्रतिपादित किया है। आचार्य उमास्वति ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है।[२४९] आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार और नियमसार में, आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में त्रिविध-साधना मार्ग का विधान किया है। बौद्धदर्शन में भी शील, समाधि और प्रज्ञा का विधान किया गया है। गीता में भी ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग इस त्रिविध साधना का उल्लेख हुआ है। जैसे—जैनधर्म में तप का स्वतन्त्र विवेचन होने पर भी उसे सम्यक् चारित्र के अन्तर्भूत माना गया है वैसे ही गीता के ध्यानयोग को कर्मयोग में सम्मिलित कर लिया गया है। इसी प्रकार पश्चिम में भी त्रिविध साधना और साधना-पथ का भी निरूपण किया गया है। स्वयं को जानो (Know Thyself) स्वयं को स्वीकार करो (Accept Thyself) और स्वयं ही बन जाओ (Be Thyself) ये पाश्चात्य परम्परा में तीन नैतिक आदेश उपलब्ध होते हैं।[२५०]

---

२४८. "जैन आचार: सिद्धान्त और स्वरूप ग्रन्थ" —ले. देवेन्द्रमुनि पृष्ठ ८९९-९१०

२४९. 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र १

२५०. (क) साइकोलाजी एण्ड मॉरल्स, पृष्ठ १८९.
(ख) देखिए जैन, बौद्ध और गीता का साधनामार्ग डा. सागरमल जैन

प्रस्तुत अध्ययन में कहा है—दर्शन के विना ज्ञान नहीं होता और जिसमें ज्ञान नहीं होता, उसका आचरण सम्यक् नहीं होता। सम्यक् आचरण के अभाव में आसक्ति से मुक्त नहीं बना जाता और विना आसक्तिमुक्त बने मुक्ति नहीं होती। इस दृष्टि से निर्वाण-प्राप्ति का मूल ज्ञान, दर्शन और चारित्र की परिपूर्णता है। कितने ही आचार्य दर्शन को प्राथमिकता देते हैं तो कितने ही आचार्य ज्ञान को। गहराई से चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि दर्शन के विना ज्ञान सम्यक् नहीं होता। आचार्य उमास्वाति ने भी पहले दर्शन और उसके बाद ज्ञान को स्थान दिया है। जब तक दृष्टिकोण यथार्थ न हो तब तक साधना की सही दिशा का भान नहीं होता और उसके विना लक्ष्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। सुत्तनिपात में भी बुद्ध कहते हैं—मानव का श्रेष्ठ धन श्रद्धा है[२५१]। श्रद्धा से मानव इस संसार रूप बाढ़ को पार करता है।[२५२] श्रद्धावान् व्यक्ति ही प्रज्ञा को प्राप्त करता है।[२५३] गीता में भी श्रद्धा को प्रथम स्थान दिया है। गीताकार ने ज्ञान की महिमा और गरिमा का संकीर्तन किया है। "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"—कहने के बाद कहा—वह पवित्र ज्ञान उसी को प्राप्त होता है जो श्रद्धवान् है।—"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" [२५४]। सैद्धान्तिक दृष्टि से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति युगपत् होती है, अर्थात् दृष्टि सम्यक् होते ही मिथ्या-ज्ञान सम्यग्ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है। अतएव दोनों का पौर्वापर्य कोई विवाद का विषय नहीं है।

ज्ञान और दर्शन के बाद चारित्र का स्थान है। चारित्र साधनामार्ग में गति प्रदान करता है। इसलिए चारित्र का अपने आप में महत्त्व है। जैन दृष्टि से रत्नत्रय के साकल्य में ही मोक्ष की निष्पत्ति मानी गई है। वैदिक परम्परा में ज्ञाननिष्ठा, कर्मनिष्ठा और भक्तिमार्ग ये तीनों पृथक्-पृथक् मोक्ष के साधन माने जाते रहे हैं। इन्हीं मान्यताओं के आधार पर स्वतंत्र सम्प्रदायों का भी उदय हुआ। आचार्य शंकर केवल ज्ञान से और रामानुज केवल भक्ति से मुक्ति को स्वीकार करते हैं। पर जैन दर्शन ने ऐसे किसी एकान्तवाद को स्वीकार नहीं किया है।

प्रस्तुत अध्ययन में चौथी गाथा से लेकर चौदहवीं गाथा तक ज्ञानयोग का प्रतिपादन है। पन्द्रहवीं गाथा से लेकर इकतीसवीं गाथा तक श्रद्धायोग का निरूपण है। बत्तीसवीं गाथा से लेकर चौतीसवीं गाथा तक कर्मयोग का विश्लेषण है। ज्ञान से तत्त्व को जानो, दर्शन से उस पर श्रद्धा करो, चारित्र से आश्रव का निरुंधन करो एवं तप से कर्मों का विशोधन करो! इस तरह इस अध्ययन में चार मार्गों का निरूपण कर उसे आत्मशोधन का प्रशस्त-पथ कहा है। इसी पथ पर चलकर जीव शिवत्व को प्राप्त कर सकता है। कर्ममुक्त हो सकता है।

सम्यक्त्व : विश्लेषण

उनतीसवाँ अध्ययन सम्यक्त्व-पराक्रम है। जो साधक सम्यक्त्व में पराक्रम करते हैं, वे ही सही दिशा की ओर अग्रसर होते हैं। सम्यक्त्व के कारण ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् बनते हैं। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने सम्यक्त्व और सम्यक्दर्शन इन दोनों शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थ किया है।[२५५] पर सामान्य रूप से सम्यक्दर्शन और सम्यक्त्व ये दोनों एक ही अर्थ में व्यवहृत होते रहे हैं। सम्यक्त्व यथार्थता का परिचायक है। सम्यक्त्व का एक अर्थ तत्त्व-रुचि भी है।[२५६]. इस अर्थ में सम्यक्त्व, सत्याभिरुचि या सत्य की अभीप्सा है। सम्यक्त्व

२५१. सुत्तनिपात १०/२

२५२. सुत्तनिपात १०।४

२५३. "सद्दहानो लभते पञ्ञं" —सुत्तनिपात १०।६

२५४. गीता १०।३०

२५५. विशेषावश्यकभाष्य १८७-९०

२५६. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ५, पृष्ठ २४२५.

मुक्ति का अधिकार-पत्र है। आचारांग में सम्यग्दृष्टि का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा—सम्यक्दृष्टि पाप का आचरण नहीं करता[२५७]। सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया है—जो व्यक्ति विज्ञ हैं, भाग्यवान् है, पराक्रमी है पर यदि उसका दृष्टिकोण असम्यक् है तो उसका दान, तप आदि समस्त पुरुषार्थ फल की आकांक्षा वाला होने से अशुद्ध होता है।[२५८] अशुद्ध होने से वह मुक्ति की ओर न ले जाकर बन्धन की ओर ले जाता है। इसके विपरीत सम्यक्दृष्टि वीतरागदृष्टि से सम्पन्न होने के कारण उसका कार्य फल की आकांक्षा से रहित और शुद्ध होता है।[२५९] आचार्य शंकर ने भी गीताभाष्य में स्पष्ट शब्दों में सम्यग्दर्शन के महत्त्व को व्यक्त करते हुए लिखा है—सम्यग्दर्शननिष्ठ पुरुष संसार के बीज रूप, अविद्या आदि दोषों का उन्मूलन नहीं कर सकें, ऐसा कभी सम्भव नहीं है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो सम्यग्दर्शनयुक्त पुरुष निश्चित रूप से निर्वाण प्राप्त करता है।[२६०] अर्थात् सम्यग्दर्शन होने से राग यानि विषयासक्ति का उच्छेद होता है और राग का उच्छेद होने से मुक्ति होती है।

सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक जीवन का प्राण है। प्राण-रहित शरीर मुर्दा है, वैसे ही सम्यग्दर्शन-रहित साधना भी मुर्दा है। वह मुर्दे की तरह त्याज्य है। सम्यग्दर्शन जीवन को एक सही दृष्टि देता है, जिससे जीवन उत्थान की ओर अग्रसर होता है। व्यक्ति की जैसी दृष्टि होगी, वैसे ही उसके जीवन की सृष्टि होगी। इसलिए यथार्थ दृष्टिकोण जीवन-निर्माण की सबसे प्राथमिक आवश्यकता है। प्रस्तुत अध्ययन में उसी यथार्थ दृष्टिकोण को संलक्ष्य में रखकर एकहत्तर प्रश्नोत्तरों के माध्यम से साधना-पद्धति का मौलिक निरूपण किया गया है। ये प्रश्नोत्तर इतने व्यापक हैं कि इनमें प्रायः समग्र जैनाचार समा जाता है

तप : एक विहंगावलोकन—

तीसवें अध्ययन में तप का निरूपण है। सामान्य मानवों की यह धारणा है कि जैन परम्परा में ध्यान-मार्ग या समाधि-मार्ग का निरूपण नहीं है। पर उनकी यह धारणा सत्य-तथ्य से परे है। जैसे योगपरम्परा में अष्टाङ्गयोग का निरूपण है, वैसे ही जैन-परम्परा में द्वादशांग तप का निरूपण है। तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करने पर सम्यक् तप का गीता के ध्यानयोग और बौद्धपरम्परा के समाधिमार्ग में अत्यधिक समानता है।

तप जीवन का ओज है, शक्ति है। तपोहीन साधना खोखली है। भारतीय आचारदर्शनों का गहराई से अध्ययन करने पर सूर्य के प्रकाश की भांति यह स्पष्ट होगा कि प्रायः सभी आचार-दर्शनों का जन्म तपस्या की गोद में हुआ है। वे वहीं पले-पुसे और विकसित हुए हैं। अजित-केस कम्बलिन् घोर भौतिकवादी था। गोशालक एकान्त नियतिवादी था। तथापि वे तप-साधना में संलग्न रहे। तो फिर अन्य विचार-दर्शनों में तप का महत्त्व हो, इसमें शंका का प्रश्न ही नहीं है। यह सत्य है कि तप के लक्ष्य और स्वरूप के सम्बन्ध में मतैक्य का अभाव रहा है पर सभी परम्पराओं ने अपनी-अपनी दृष्टि से तप की महत्ता स्वीकार की है।

श्री भरतसिंह उपाध्याय ने "बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन" नामक ग्रन्थ में लिखा है—भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उदात्त एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, वह सब तपस्या से ही सम्भूत है, तपस्या से ही इस राष्ट्र का बल या ओज उत्पन्न हुआ है........तपस्या भारतीय दर्शनशास्त्र की ही नहीं, किन्तु उसके समस्त इतिहास की प्रस्तावना है............प्रत्येक चिन्तनशील प्रणाली चाहे वह आध्यात्मिक हो, चाहे

---

२५७. "समत्तदंसी न करेइ पावं" —आचरांग।३।३।२.

२५८. सूत्रकृतांग १।८।२२-२३

२५९. सूत्रकृतांग १।८।२२-२३

२६०. गीता—शांकरभाष्य १८।१२

अभौतिक, सभी तपस्या की भावना से अनुप्राणित हैं........उसके वेद, वेदांग, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र आदि विद्या के क्षेत्र जीवन की साधना रूप तपस्या के एकनिष्ठ उपासक हैं।"[२६१]

जैन तीर्थंकरों के जीवन का अध्ययन करने से स्पष्ट है—वे तप साधना के महान् पुरस्कर्ता थे। श्रमण भगवान् महावीर साधन-काल के साढ़े बारह वर्ष में लगभग ग्यारह वर्ष निराहार रहे। उनका सम्पूर्ण साधनाकाल आत्मचिन्तन, ध्यान और कायोत्सर्ग में व्यतीत हुआ। उनका जीवन तप की जीती-जागती प्रेरणा है। जैन साधना का लक्ष्य शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि है। आत्मा का शुद्धीकरण है। तप का प्रयोजन है—प्रयासपूर्वक कर्म-पुद्गलों को आत्मा से अलग-थलग कर विशुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट करना। इसलिए भगवान् महावीर ने कहा—तप आत्मा के परिशोधन की प्रक्रिया है[२६२], आबद्ध कर्मों का क्षय करने की पद्धति है।[२६३] तप से पाप-कर्मों को नष्ट किया जाता है। तप कर्म-निर्जरण का मुख्य साधन है। किन्तु तप केवल कायक्लेश या उपवास ही नहीं, स्वाध्याय, ध्यान, विनय आदि सभी तप के विभाग हैं। जैनदृष्टि से तप के बाह्य और आभ्यन्तर दो प्रकार हैं। बाह्य तप के अनशन, अवमोदरिका, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता, ये छह प्रकार हैं। इनके धारण आचरण से देहाध्यास नष्ट होता है। देह की आसक्ति साधना का महान् विघ्न है। देहासक्ति से विलासिता और प्रमाद समुत्पन्न होता है, इसलिए जैन श्रमण का विशेषण 'वोसट्ठ-चत्तदेहे" दिया गया है। बाह्य तप स्थूल है, वह बाहर से दिखलाई देता है जबकि आभ्यन्तर तप को सामान्य जनता तप के रूप में नहीं जानती। तथापि उसमें तप का महत्त्वपूर्ण एवं उच्च पक्ष निहित है। उसके भी प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ये छह प्रकार हैं जो उत्तरोत्तर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते चले गये हैं।

वैदिक परम्परा में भी तप की महत्ता रही है। वैदिक ऋषियों का आघोष है—तपस्या से ही ऋत और और सत्य उत्पन्न हुए[२६४]। तप से ही वेद उत्पन्न हुए[२६५], तप से ही ब्रह्म की अन्वेषणा की जाती है,[२६६] तप से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की जाती है और तप से ही ब्रह्मलोक प्राप्त किया जाता है,[२६७] तप से ही लोक में विजय प्राप्त की जाती है।[२६८] मनु ने तो कहा है—तप से ही ऋषिगण त्रैलोक्य में चराचर प्राणियों को देखते हैं।[२६९] इस विश्व में जो कुछ भी दुर्लभ और दुस्तर है, वह सब तपस्या से साध्य है, तपस्या की शक्ति दुरतिक्रम है।[२७०] महापातकी तथा निम्न आचरण करने वाले भी तप से तप्त होकर किल्विषी योनि से मुक्त हो जाते हैं।[२७१]

---

२६१. "बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन" पृष्ठ ७१-७२
२६२. उत्तराध्ययन २८-३५
२६३. उत्तराध्ययन २९।२७
२६४. ऋग्वेद १०।१९०।१
२६५. मनुस्मृति ११।२४३
२६६. मुण्डकोपनिषद् १।१।८
२६७. अथर्ववेद ११।३।५।१९
२६८. सत्पथब्राह्मण ३।४।४।२७
२६९. मनुस्मृति ११।२३७
२७०. मनुस्मृति ११।२३८.
२७१. मनुस्मृति ११।२३९

बौद्ध साधना-पद्धति में भी तप का उल्लेख हुआ है, पर बौद्ध धर्मावलम्बी मध्यममार्गी होने से जैन और वैदिक परम्परा की तरह कठोर आचार के अर्थ में वहां तप शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। वहाँ तप का अर्थ है—चित्तशुद्धि का निरन्तर अभ्यास करना! बुद्ध ने कहा—तप, ब्रह्मचर्य आर्यसत्यों का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार ये उत्तम मंगल है।[२७२] दिट्ठठिविज्जसुत्त में कहा—किसी तप या व्रत के करने से किसी के कुशल धर्म बढ़ते हैं, अकुशल धर्म घटते हैं तो उसे अवश्य करना चाहिए।[२७३] मज्झिमनिकाय—महासिंहनादसुत्त में बुद्ध सारीपुत्त से अपनी उग्र तपस्या का विस्तृत वर्णन करते हैं।[२७४] सुत्तनिपात में बुद्ध बिम्बिसार से कहते हैं—अब मैं तपश्चर्या के लिए जा रहा हूं, उस मार्ग में मेरा मन रमता है।[२७५] तथागत बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् भी बौद्ध भिक्षुओं में धुत्तंग अर्थात् जंगलों में रहकर विविध प्रकार की तपस्याएं करने आदि का महत्त्व था। विसुद्धिमग्ग और मिलिन्दप्रश्न में ऐसे धुत्तंगों के ये सारे तथ्य बौद्ध धर्म के तप के महत्त्व को उजागर करते हैं।

जिस प्रकार जैन साधना में तपश्चर्या का आभ्यन्तर और बाह्य तप के रूप में वर्गीकरण हुआ है, वैसा वर्गीकरण बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में नहीं है। मज्झिमनिकाय कन्दरसुत्त में एक वर्गीकरण है[२७६]—बुद्ध ने चार प्रकार के मनुष्य कहे—(1) आत्मन्तप और परन्तप (2) परन्तप और आत्मन्तप (3) जो आत्मन्तप भी और परन्तप भी (4) जो आत्मन्तप भी नहीं और परन्तप भी नहीं! यों विकीर्ण रूप से बौद्ध साहित्य में तप के वर्गीकरण प्राप्त होते हैं किन्तु वे वर्गीकरण इतने सुव्यवस्थित नहीं है। वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में तप के तीन रूप मिलते हैं—शारीरिक, वाचिक और मानसिक[२७७] और सात्विक राजस और तामस।[२७८] जो तप श्रद्धापूर्वक फल की आकांक्षा से रहित निष्काम भाव से किया जाता है, वह 'सात्विक' तप है। जो तप अज्ञानतापूर्वक स्वयं को एवं दूसरों को कष्ट देने के लिए किया जाता है वह 'तामस तप' है। और जो तप सत्कार, सन्मान तथा प्रतिष्ठा के लिए किया जाता है, वह 'राजस' तप है।

प्रस्तुत अध्ययन में जैन दृष्टि से तप का निरूपण किया गया है। तप ऐसा दिव्य रसायन है, जो शरीर और आत्मा के यौगिक भाव को नष्ट कर आत्मा को अपने मूल स्वभाव में स्थापित करता है। अनादि-अनन्त काल के संस्कारों के कारण आत्मा का शरीर के साथ तादात्म्य-सा हो गया है। उसे तोड़े बिना मुक्ति नहीं होती। उसे तोड़ने का तप एक अमोघ उपाय है। उसका सजीव चित्रण इस अध्ययन में हुआ है।

एकतीसवें अध्ययन में श्रमणों की चरणविधि का निरूपण होने से इस अध्ययन का नाम भी चरणविधि है। चरण-चारित्र में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों रही हुई हैं। मन, वचन, काया के सम्यक् योग का प्रवर्तन समिति है। समिति में यतनाचार मुख्य है। गुप्ति में अशुभ योगों का निवर्तन है। यहाँ पर निवृत्ति का अर्थ पूर्ण निषेध नहीं है और प्रवृत्ति का अर्थ पूर्ण विधि नहीं है। प्रवृत्ति में निवृत्ति और निवृत्ति में प्रवृत्ति है। विवेकपूर्वक प्रवृत्ति संयम है और अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति असंयम है। अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति से संयम सुरक्षित नहीं रह सकता, इसलिए साधक को अच्छी तरह से जानना चाहिए कि अविवेकयुक्त प्रवृत्तियां कौन सी हैं?

---

२७२. सुत्तनिपात १६।१०

२७३. अंगुत्तरनिकाय दिट्ठठिविज्जसुत्त

२७४. मज्झिमनिकाय, महासिंहनादसुत्त

२७५. सुत्तनिपात २७।२०

२६६. मज्झिमनिकाय, कन्दरसुत्त, पृष्ठ २०७-२१०

२७७. गीता १७।१४-१६

२७८. गीता १७।१७-१९

साधक को आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की रागात्मक चित्त-वृत्ति से दूर रहना चाहिए। न वह हिंसक व्यापार करे, और न भय से भयभीत ही रहे। जिन क्रिया-कलापों से आश्रव होता है, वे क्रिया-स्थान हैं। श्रमण उन क्रिया-स्थानों से सदा अलग रहें। अविवेक से असंयम होता है और अविवेक से अनेक अनर्थ होते हैं। इसलिए श्रमण असंयम से सतत दूर रहें। साधना की सफलता व पूर्णता के लिए समाधि आवश्यक है, इसलिए असमाधि-स्थानों से श्रमण दूर रहे। आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मार्ग में स्थित रहता है, वह समाधि है। शबल दोष साधु के लिए सर्वथा त्याज्य है। जिन कार्यों के करने से चारित्र की निर्मलता नष्ट होती है, चारित्र मलीन होने से करबूर हो जाता है, उन्हें शबल दोष कहते हैं।[२७९] शबल दोषों का सेवन करने वाले श्रमण भी शबल कहलाते हैं। उत्तर गुणों में अतिक्रमादि चारों दोषों का एवं मूलगुणों में अनाचार के अतिरिक्त तीन दोषों का सेवन करने से चारित्र शबल होता है। जिन कारणों से मोह प्रबल होता है, उन मोह-स्थानों से भी दूर रह कर प्रतिपल-प्रतिक्षण साधक को धर्म-साधना में लीन रहना चाहिए, जिससे वह संसार-चक्र से मुक्त होता है।

प्रस्तुत अध्ययन में इस प्रकार विविध विषयों का संकलन हुआ है। यहाँ यह चिन्तनीय है कि छेदसूत्र के रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु हैं, जो भगवान् महावीर के अष्टम पट्टधर थे। उनका निर्वाण वीरनिर्वाण एक सौ सत्तर के लगभग हुआ है। उनके द्वारा निर्मित छेदसूत्रों का नाम प्रस्तुत अध्ययन की सत्तरहवीं और अठारहवीं गाथा में हुआ है। वे गाथाएं इसमें कैसे आई ? यह चिन्तनीय है।

साधना का विघ्न : प्रमाद

बत्तीसवें अध्ययन में प्रमाद का विश्लेषण है। प्रमाद साधना में विघ्न है। प्रमाद को निवारण किये बिना साधक जितेन्द्रिय नहीं बनता। प्रमाद का अर्थ है—ऐसी प्रवृत्तियाँ, जो साधना में बाधा उपस्थित करती हैं, साधक की प्रगति को अवरुद्ध करती हैं। उत्तराध्ययन निर्युक्ति में प्रमाद के पाँच प्रकार बताये हैं[२८०]—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। स्थानांग में प्रमाद-स्थान छह बताये हैं।[२८१] उसमें विकथा के स्थान पर द्यूत और छठा प्रतिलेखनप्रमाद दिया है। प्रवचनसारोद्धार में[२८२] आचार्य नेमीचन्द्र ने प्रमाद के अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, धर्म में अनादर, मन, वचन और काया का दुष्परिणाम, ये आठ प्रकार बताये हैं।

साधना की दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन में विपुल सामग्री है। साधक को प्रतिपल-प्रतिक्षण जागरूक रहने का संदेश दिया है। जैसे भगवान् ऋषभदेव एक हजार वर्ष तक अप्रमत्त रहे, एक हजार वर्ष में केवल एक रात्रि को उन्हें निद्रा आई थी। श्रमण भगवान् महावीर बारह वर्ष, तेरह पक्ष साधना-काल में रहे। इतने दीर्घकाल में केवल एक अन्तर्मुहूर्त्त निद्रा आई। भगवान् ऋषभ और महावीर ने केवल निद्रा-प्रमाद का सेवन किया था।[२८३] शेष समय वे पूर्ण अप्रमत्त रहे। वैसे ही श्रमणों को अधिक से अधिक अप्रमत्त रहना चाहिए।

---

२७९. समवायांग, अभयदेववृत्ति २१

२८०. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५२०

२८१. स्थानांग ६, सूत्र ५०२

२८२. प्रवचनसारोद्धार, द्वार २०७ गाथा ११२२-११२३

२८३. (क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५२३-५२४
(ख) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र-६२०.

अप्रमत्त रहने के लिए साधक विषयों से उपरत रहे, आहार पर संयम रखे। दृष्टिसंयम, मन, वचन और काया का संयम एवं चिन्तन की पवित्रता अपेक्षित है। बहुत व्यापक रूप से अप्रमत्त रहने के संबंध में चिन्तन हुआ है।

प्रस्तुत अध्ययन में आई हुई कुछ गाथाओं की तुलना धम्मपद, सुत्तनिपात, श्वेताश्वतर उपनिषद् और गीता आदि के साथ की जा सकती है:—

"न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइं विवज्जयन्तो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो"

(उत्तराध्ययन-32।5)

तुलना कीजिए—

"सचे लभेथ निपक सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
अभिभूय्य सब्बानि परिस्सयानि, चरेय्य तेनत्तमनो सतीमा॥
नो चे लभेथ निपकं सहायं, सद्धिं चरं साधुविहारिधीरं।
राजाव रट्ठं विजितं पहायं, एको चरे मातंगरञ्ञेव नागो।
एकस्य चरितं सेय्यो, नत्थि बाले सहायता।
एको चरे न च पापानि कायिरा।
अप्पोस्सुक्को मातंगरञ्ञेव नागो॥ (धम्मपद, २३।९,१०,११)
"अद्धा पसंसाम सहायसंपदं सेट्ठा समा सेवितव्वा सहाया।
एते अलद्धा अनवज्जभोजी, एगो चरे खग्गविसाणकप्पो॥"

(सुत्तनिपात्त, उर. ३।१३)

"जहा य किंपागफसा मणोरमा, रसेण लण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्ड जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुण विवागे॥" (उत्तराध्ययन-३२।२०)

तुलना कीजिए—

"त्रयी धर्ममधर्मार्थं किंपाकफलसन्निभम्।
नास्ति तात! सुखं किञ्चिदत्र दुःखशताकुले॥" (शांकरभाष्य, श्वेता. उप., पृष्ठ-२३.)
"एविन्दियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करेन्ति किंचि॥"

(उत्तराध्ययन-३२।१००)

तुलना कीजिए—

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधिगच्छति॥" (गीता-२।६४.)

कर्म:

तेतीसवें अध्ययन में कर्म-प्रकृतियों का निरूपण होने के कारण "कर्मप्रकृति" के नाम से यह अध्ययन विश्रुत है। कर्म भारतीय दर्शन का चिर परिचित शब्द है। जैन, बौद्ध और वैदिक सभी परम्पराओं ने कर्म को स्वीकार किया है। कर्म को ही वेदान्ती 'अविद्या', बौद्ध 'वासना', सांख्य 'क्लेश', और न्याय-वैशेषिक 'अदृष्ट'

कहते हैं। कितने ही दर्शन कर्म का सामान्य रूप से केवल निर्देश करते हैं तो कितने ही दर्शन कर्म के विभिन्न पहलुओं पर चिन्तन करते हैं। न्यायदर्शन की दृष्टि से अदृष्ट आत्मा का गुण है। श्रेष्ठ और निकृष्ट कर्मों का आत्मा पर संस्कार पड़ता है। वह अदृष्ट है। जहाँ तक अदृष्ट का फल सम्प्राप्त नहीं होता तब तक वह आत्मा के साथ रहता है। इसका फल ईश्वर के द्वारा मिलता है।[२८४] यदि ईश्वर कर्मफल की व्यवस्था न करे तो कर्म पूर्ण रूप से निष्फल हो जाएँ। सांख्यदर्शन ने कर्म को प्रकृति का विकार माना है।[२८५] उनका अभिमत है—हम जो श्रेष्ठ या कनिष्ठ प्रवृत्तियाँ करते हैं, उनका संस्कार प्रकृति पर पड़ता है और उन प्रकृति के संस्कारों से ही कर्मों के फल प्राप्त होते हैं। बौद्धों ने चित्तगत वासना को कर्म कहा है। यही कार्यकारण भाव के रूप में सुख-दुख का हेतु है। जैनदर्शन ने कर्म को स्वतंत्र पुद्‌गल तत्त्व माना है। कर्म अनन्त पौद्‌गलिक परमाणुओं के स्कन्ध हैं। सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं। जीवात्मा की जो श्रेष्ठ या कनिष्ठ प्रवृत्तियाँ होती हैं, उनके कारण वे आत्मा के साथ बंध जाते हैं। यह उनकी बंध अवस्था कहलाती है। बंधने के पश्चात् उनका परिपाक होता है। परिपाक के रूप में उनसे सुख, दु:ख के रूप में या आवरण के रूप में फल प्राप्त होता है। अन्य दार्शनिकों ने कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध ये तीन अवस्थाएं बताई हैं। वे जैनदर्शन के बंध, सत्ता और उदय के अर्थ को ही अभिव्यक्त करती हैं। कर्म के कारण ही जगत् की विभक्ति[२८६] विचित्रता[२८७] और समान साधन होने पर भी फल-प्राप्ति में अन्तर रहता है। वन्ध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश, ये चार भेद हैं। कर्म का नियत समय-से पूर्व फल प्राप्त होना 'उदीरणा' है, कर्म की स्थिति और विपाक की वृद्धि होना 'उद्‌वर्तन' है, कर्म की स्थिति और विपाक में कमी होना 'अपवर्तन' है और कर्म की सजातीय प्रकृतियों का एक दूसरे के रूप में परिवर्तन होना 'संक्रमण' है। कर्म का फलदान 'उदय' है। कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी उदय में आने के लिए उन्हें अक्षम बना देना 'उपशम' है। दूसरे शब्दों में कहें तो कर्म की वह अवस्था जिसमें उदय और उदीरणा सम्भव नहीं है वह 'उपशम' है। जिसमें कर्मों का उदय और संक्रमण नहीं हो सके किन्तु उद्‌वर्तन और अपवर्तन की सम्भावना हो, वह 'निधत्ति' है। जिसमें उद्‌वर्तन, अपवर्तन, संक्रमण एवं उदीरणा इन चारों अवस्थाओं का अभाव हो, वह 'निकाचित' अवस्था है। कर्म वन्धने के पश्चात् अमुक समय तक फल न देने की अवस्था का नाम 'अबाधाकाल' है। जिस कर्म की स्थिति जितने सागरोपम की है, उतने ही सौ वर्ष का उसका अबाधाकाल होता है। कर्मों की इन प्रक्रियाओं का जैसा विश्लेषण जैन साहित्य में हुआ है, वैसा विश्लेषण अन्य साहित्य में नहीं हुआ। योगदर्शन में नियतविपाकी, अनियतविपाकी और आवापगमन के रूप में कर्म की त्रिविध अवस्था का निरूपण है। जो नियत समय पर अपना फल देकर नष्ट हो जाता है, वह 'नियतविपाकी' है। जो कर्म बिना फल दिये ही आत्मा से पृथक् हो जाता है, वह 'अनियतविपाकी' है। एक कर्म का दूसरे में मिल जाना 'आवापगमन' है।

जैनदर्शन की कर्म-व्याख्या विलक्षण है। उसकी दृष्टि से कर्म पौद्‌गलिक हैं। जब जीव शुभ अथवा अशुभ प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है तब वह अपनी प्रवृत्ति से उन पुद्‌गलों को आकर्षित करता है। वे आकृष्ट पुद्‌गल आत्मा के सन्निकट अपने विशिष्ट रूप और शक्ति का निर्माण करते हैं। वे 'कर्म' कहलाते हैं। यद्यपि कर्मवर्गणा के पुद्‌गलों में कोई स्वभाव भिन्नता नहीं होती पर जीव के भिन्न भिन्न अध्यवसायों के कारण कर्मों की प्रकृति और स्थिति

---

२८४. "ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात्" —न्यायसूत्र-४।१

२८५. 'अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्' —सांख्यसूत्र, ५।२५

२८६. भगवती—१२।१२०.

२८७. 'कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना मानसं च तत्।' —अभिधर्मकोश—४।१.

में भिन्नता आती है। कर्मों की मूल आठ प्रकृतियाँ हैं। उन प्रकृतियों की अनेक उत्तर प्रकृतियाँ हैं। प्रत्येक कर्म की पृथक्-पृथक् स्थिति हैं। स्थितिकाल पूर्ण होने पर वे कर्म नष्ट हो जाते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन में कर्मों की प्रकृतियों का और उनके अवान्तर भेदों का निरूपण हुआ है। कर्म के सम्बन्ध में हमने विपाक सूत्र की प्रस्तावना में विस्तार से लिखा है, अतः जिज्ञासु इस सम्बन्ध में उसे देखने का कष्ट करें।

लेश्या : एक विश्लेषण—

चौतीसवें अध्ययन में लेश्याओं का निरूपण है। इसीलिए इसका नाम "लेश्या-अध्ययन" है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति में इस अध्ययन का विषय कर्म-लेश्या कहा है।[२८८] कर्मबन्ध के हेतु रागादि भावकर्म लेश्या है। जैन दर्शन के कर्मसिद्धान्त को समझने में लेश्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण है। जीव से पुद्गल और पुद्गल से जीव प्रभावित होते हैं। जीव को प्रभावित करने वाले पुद्गलों के अनेक समूह हैं। उनमें से एक समूह का नाम 'लेश्या' है। वादिवेताल शान्तिसूरि ने लेश्या का अर्थ आणविक आभा, कान्ति, प्रभा और छाया किया है।[२८९] आचार्य शिवार्य ने लिखा है—लेश्या छाया-पुद्गलों से प्रभावित होने वाले जीव के परिणाम हैं।[२९०] प्राचीन जैन-साहित्य में शरीर के वर्ण, आणविक आभा, और उनसे प्रभावित होने वाले विचार इन तीनों अर्थों में लेश्या पर चिन्तन किया है। नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने शरीर का वर्ण और आणविक आभा को द्रव्य-लेश्या माना है।[२९१] आचार्य भद्रबाहु का भी यही अभिमत है।[२९२] उन्होंने विचार को भाव-लेश्या कहा है। द्रव्य-लेश्या पुद्गल है। इसलिए उसे वैज्ञानिक साधनों के द्वारा भी जाना जा सकता है। द्रव्य-लेश्या के पुद्गलों पर वर्ण का प्रभाव अधिक होता है।

जिसके सहयोग से आत्मा कर्म में लिप्त होता है वह 'लेश्या' है।[२९३] दिगम्बर आचार्य वीरसेन के शब्दों में कहा जाए तो आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कराने वाली प्रवृत्ति लेश्या है।[२९४] मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग के द्वारा कर्मों का सम्बन्ध आत्मा से होता है। आचार्य पूज्यपाद ने कषायों के उदय से अनुरंजित मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को लेश्या कहा है।[२९५] आचार्य अकलंक ने भी उसी परिभाषा का अनुसरण किया है।[२९६] संक्षेप में कहा जाए तो कषाय और योग लेश्या नहीं है, पर वे उसके कारण हैं। इसलिए लेश्या का अन्तर्भाव न योग में किया जा सकता है और न कषाय में। कषाय और योग के संयोग से एक तीसरी अवस्था उत्पन्न होती है। जैसे—दही और शक्कर के संयोग से श्रीखण्ड तैयार होता है। कितने ही आचार्यों का

२८८. "अहिगारो कम्मलेसाए" —उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा—५४१

२८९. लेशयति श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या-अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्धदीप्तरूपा छाया"।
—उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ६५०

२९०. मूलाराधना ७।१९०७

२९१. (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४९४
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा-५३९

२९२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५४०

२९३. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४८९

२९४. षट्खण्डागम, धवलावृत्ति ७।२।१, सूत्र ३, पृष्ठ ७

२९५. तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि २।६

२९६. तत्त्वार्थराजवार्तिक २।६।८, पृष्ठ १०९

अभिमत है कि लेश्या में कषाय की प्रधानता नहीं होती किन्तु योग की प्रधानता होती है। केवलज्ञानी में कषाय का पूर्ण अभाव है पर योग की सत्ता रहती है, इसलिए उसमें शुक्ल लेश्या है। उत्तराध्ययन के टीकाकार शान्तिसूरि का मन्तव्य है कि द्रव्यलेश्या का निर्माण कर्मवर्गणा से होता है।[२९७] यह द्रव्यलेश्या कर्मरूप है। तथापि यह आठ कर्मों से पृथक् है, जैसे—कार्मण शरीर। यदि लेश्या को कर्मवर्गणा-निष्पन्न माना जाए तो वह कर्मस्थिति-विधायक नहीं बन सकती। कर्मलेश्या का सम्बन्ध नामकर्म के साथ है। उसका सम्बन्ध शरीर-रचना सम्बन्धी पुद्गलों से है। उसकी एक प्रकृति शरीरनामकर्म है। शरीरनामकर्म के एक प्रकार के पुद्गलों का समूह कर्मलेश्या है[२९८] द्वितीय मान्यता की दृष्टि से लेश्या द्रव्य कर्म निस्यन्द है। निस्यन्द का अर्थ बहते हुए कर्म प्रवाह से है। चौदहवें गुणस्थान में कर्म की सत्ता है, प्रवाह है पर वहां लेश्या नहीं है। वहाँ पर नये कर्मों का आगमन नहीं होता। कषाय और योग से कर्मबन्धन होता है। कषाय होने पर चारों प्रकार के बंध होते हैं। प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध का सम्बन्ध योग से है तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का सम्बन्ध कषाय से। केवल योग में स्थिति और अनुभाग बन्ध नहीं होता, जैसे तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरिहन्तों के ऐर्यापथिक बन्ध होता है, किन्तु स्थिति, और अनुभाग बन्ध नहीं होता। जो दो समय का काल बताया गया है वह काल वस्तुतः कर्म पुद्गल ग्रहण करने का और उत्सर्ग का काल है। वह स्थिति और अनुभाग का काल नहीं है।

तृतीय अभिमतानुसार लेश्याद्रव्य योगवर्गणा के अन्तर्गत स्वतन्त्र द्रव्य हैं। बिना योग के लेश्या नहीं होती। लेश्या और योग में परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। प्रश्न उठता है—क्या लेश्या को योगान्तर्गत मानना चाहिए? या योगनिमित्त द्रव्यकर्म रूप? यदि वह लेश्या द्रव्यकर्म रूप है तो घातीकर्मद्रव्य रूप है अथवा अघातिकर्मद्रव्य रूप है? लेश्या घातीकर्मद्रव्य रूप नहीं है, क्योंकि घातिकर्म नष्ट हो जाने पर भी लेश्या रहती है। यदि लेश्या को अघातिकर्मद्रव्य स्वरूप माने तो चौदहवें गुणस्थान में अघाति कर्म विद्यमान रहते हैं पर वहाँ लेश्या का अभाव है। इसलिए योग-द्रव्य के अन्तर्गत ही द्रव्यस्वरूप लेश्या मानना चाहिए।

लेश्या से कषायों में अभिवृद्धि होती है क्योंकि योगद्रव्य में कषाय-अभिवृद्धि करने की शक्ति है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अपना कर्तृत्व दिखाते हैं। जिस व्यक्ति को पित्त-विकार हो उसका क्रोध सहज रूप से बढ़ जाता है। ब्राह्मी वनस्पति का सेवन ज्ञानावरण कर्म को कम करने में सहायक है। मदिरापान करने से ज्ञानावरण का उदय होता है। दही का उपयोग करने से निद्रा में अभिवृद्धि होती है। निद्रा दर्शनावरण कर्म का औदयिक फल है। अतः स्पष्ट है कषायोदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति ही [लेश्या] स्थितिपाक में सहायक होती है।[२९९]

गोम्मटसार में आचार्य नेमिचन्द्र ने योगपरिणाम लेश्या का वर्णन किया है।[३००] आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में[३०१] और गोम्मटसार के कर्मकाण्ड खण्ड में[३०२] कषायोदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहा

---

२९७. "कर्मद्रव्यलेश्या इति सामान्याऽभिधानेऽपि शरीरनामकर्मद्रव्याण्येव कर्मद्रव्यलेश्या। कार्मणशरीरवत् पृथगेव कर्माष्टकात् कर्मवर्गणानिष्पन्नानि कर्मलेश्याद्रव्याणीति तत्त्वं पुनः।"
—उत्तरा. अ. ३४ टी., पृष्ठ ६५०

२९८. उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन-३४ टीका, पृष्ठ ६५० शान्तिसूरि

२९९. प्रज्ञापना १७, टीका, पृष्ठ ३३०

३००. गोम्मटसार, जीवकाण्ड ५३१

३०१. "भावलेश्या कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते"। —सर्वार्थसिद्धि अ. २, सू. २

३०२. "जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होदि।
तत्तो दोण्णं कज्जं बन्धचउत्थं समुद्दिट्ठं॥ —जीवकाण्ड, ४८६

है। इस परिभाषा के अनुसार दसवें गुणस्थान तक ही लेश्या हो सकती है। प्रस्तुत परिभाषा अपेक्षाकृत होने से पूर्व की परिभाषाओं से विरुद्ध नहीं है।

भगवती, प्रज्ञापना और पश्चाद्वर्ती साहित्य में लेश्या पर व्यापक रूप से चिन्तन किया गया है। विस्तार-भय से हम उन सभी पहलुओं पर यहाँ चिन्तन नहीं कर रहे हैं। पर यह निश्चित है कि जैन मनीषियों ने लेश्या का वर्णन किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं लिया है। उसका यह अपना मौलिक चिन्तन है।[303] प्रस्तुत अध्ययन में संक्षेप में कर्मलेश्या के नाम, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य का निरूपण किया है। इन सभी पहलुओं पर श्यामाचार्य ने विस्तार से प्रज्ञापना में लिखा है। व्यक्ति के जीवन का निर्माण उसके अपने विचारों से होता है। वह अपने को जैसा चाहे, बना सकता है। बाह्य जगत् का प्रभाव आन्तरिक जगत् पर होता है और आन्तरिक जगत् का प्रभाव बाह्य जगत् पर होता है। वे एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। पुद्गल से जीव प्रभावित होता है और जीव से पुद्गल प्रभावित होता है। दोनों का परस्पर प्रभाव ही प्रभा है, आभा है, कान्ति है, और वही आगम की भाषा में लेश्या है।

अनगार धर्म : एक चिन्तन

पैंतीसवें अध्ययन में अनगारमार्गगति का वर्णन है। केवल गृह का परित्याग करने से अनगार नहीं होता, अनगारधर्म एक महान् धर्म है। अत्यन्त सतर्क और सजग रहकर इस धर्म की आराधना और साधना की जाती है। केवल बाह्य संग का त्याग ही पर्याप्त नहीं है। भीतर से असंग होना आवश्यक है। जब तक देह आदि के प्रति रागादि सम्बन्ध रहता है तब तक साधक भीतर से असंग नहीं बन सकता। इसीलिए एक जैनाचार्य ने लिखा है— "कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्त्यते" "जिस हृदय में कामनाओं का वास है, वहाँ संसार है" अनगार कामनाओं से ऊपर उठा हुआ होता है, इसीलिए वह असंग होता है। संग का अर्थ लेप या आसक्ति है। प्रस्तुत अध्ययन में उसके हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म-सेवन, इच्छा-काम, लोभ, संसक्त स्थान, गृहनिर्माण, अन्नपाक, धनार्जन की वृत्ति, प्रतिबद्ध-भिक्षा, स्वादवृत्ति और पूजा की अभिलाषा, ये तेरह प्रकार बताए हैं इन वृत्तियों से जो असंग होता है वही श्रमण है। श्रमणों के लिए इस अध्ययन में कहा गया है कि मुनि धर्म और शुक्लध्यान का अभ्यास करें साथ ही **"सुक्कज्झाणं झियाएज्जा"** अर्थात् शुक्लध्यान में रमण करे। जब तक अनगार जीए तब तक असंग जीवन जीए और जब उसे यह ज्ञात हो कि मेरी मृत्यु सन्निकट आ चुकी है तो आहार का परित्याग कर अनशनपूर्वक समाधि-मरण को वरण करे। जीवन-काल में देह के प्रति जो आसक्ति रही हो उसे शनैः शनैः कम करने का अभ्यास करे। देह को साधना का साधन मानकर देह के प्रतिबन्ध से मुक्त हो। यही अनगार का मार्ग है। अनगार दुःख के मूल को नष्ट करता है। वह साधना के पथ पर बढ़ते समय श्मशान, शून्यागार तथा वृक्ष के नीचे भी निवास करता है। जहाँ पर शीत आदि का भयंकर कष्ट उसे सहन करना पड़ता है, वहाँ पर उसे वह कष्ट नहीं मानकर इन्द्रिय-विजय का मार्ग मानता है। अहिंसा धर्म की अनुपालना के लिए वह भिक्षा आदि के कष्ट को भी सहर्ष स्वीकार करता है। इस तरह इस अध्ययन में अनगार से सम्बन्धित विपुल सामग्री दी गई है।

जीव-अजीव : एक पर्यवेक्षण

छत्तीसवें अध्ययन में जीव और अजीव के विभागों का वर्णन है। जैन तत्त्वविद्या के अनुसार जीव और अजीव ये दो मूल तत्त्व हैं। अन्य जितने भी पदार्थ हैं, वे इनके अवान्तर विभाग हैं। जैन दृष्टि से द्रव्य आत्म-केन्द्रित है। उसके अस्तित्व का स्रोत किसी अन्य केन्द्र से प्रवहमान नहीं है। जितना वास्तविक और स्वतन्त्र चेतन द्रव्य है, उतना ही वास्तविक और स्वतन्त्र अचेतन तत्त्व है। चेतन और अचेतन का विस्तृत रूप ही यह जगत् है।

---

३०३. देखिए लेखक का प्रस्तुत ग्रन्थ—"चिन्तन के विविध आयाम"। —'लेश्या : एक विश्लेषण लेख'

न चेतन से अचेतन उत्पन्न होता है और न अचेतन से चेतन। इस दृष्टि से जगत् अनादि अनन्त है। यह परिभाषा द्रव्यस्पर्शी नय के आधार पर है। रूपान्तरस्पर्शी नय की दृष्टि से जगत् सादि सान्त भी है। यदि द्रव्यदृष्टि से जीव अनादि-अनन्त हैं तो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि पर्यायों की दृष्टि से वह सादि सान्त भी हैं। उसी प्रकार अजीव द्रव्य भी अनादि अनन्त है। पर उसमें भी प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। इस तरह अवस्था विशेष की दृष्टि से वह सादि सान्त है। जैन दर्शन का यह स्पष्ट अभिमत है कि असत् से सत् कभी उत्पन्न नहीं होता। इस जगत् में नवीन कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। जो द्रव्य जितना वर्तमान में है, वह भविष्य में भी उतना ही रहेगा और अतीत में भी उतना ही था। रूपान्तरण की दृष्टि से ही उत्पाद और विनाश होता है। यह रूपान्तरण ही सृष्टि का मूल है।

अजीव द्रव्य के धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और पुद्गलास्तिकाय, क्रमशः गति, स्थिति, अवकाश, परिवर्तन, संयोग और वियोगशील तत्त्व पर आधृत हैं। मूर्त्त और अमूर्त्त का विभाग शतपथ-ब्राह्मण[३०४], बृहदारण्यक[३०५] और विष्णुपुराण[३०६] में हुआ है। पर जैन आगम-साहित्य में मूर्त्त और अमूर्त्त के स्थान पर रूपी और अरूपी शब्द अधिक मात्रा में व्यवहृत हुए हैं। जिस द्रव्य में वर्ण, रस, गंध और स्पर्श हो वह रूपी है और जिस में इनका अभाव हो, वह अरूपी है। पुद्गल द्रव्य को छोड़कर शेष चार द्रव्य अरूपी हैं।[३०७] अरूपी द्रव्य जन सामान्य के लिए अगम्य हैं। उनके लिए केवल पुद्गल द्रव्य गम्य है। पुद्गल के स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु ये चार प्रकार हैं। परमाणु पुद्गल का सबसे छोटा विभाग है। इससे छोटा अन्य विभाग नहीं हो सकता। स्कन्ध उनके समुदाय का नाम है। देश और प्रदेश ये दोनों पुद्गल के काल्पनिक विभाग हैं। पुद्गल की वास्तविक इकाई परमाणु है। परमाणु रूपी होने पर भी सूक्ष्म होते हैं। इसलिए वे दृश्य नहीं हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म स्कन्ध भी दृग्गोचर नहीं होते।

आगम-साहित्य में परमाणुओं की चर्चा बहुत विस्तार के साथ की गई है। जैनदर्शन का मन्तव्य है—इस विराट् विश्व में जितना भी सांयोगिक परिवर्तन होता है, वह परमाणुओं के आपसी संयोग-वियोग और जीव-परमाणुओं के संयोग-वियोग से होता है। 'भारतीय संस्कृति' ग्रन्थ में शिवदत्त ज्ञानी ने लिखा है—"परमाणुवाद वैशेषिक दर्शन की ही विशेषता है। उसका आरम्भ-प्रारम्भ उपनिषदों से होता है। जैन आजीवक आदि के द्वारा भी उसका उल्लेख किया गया है। किन्तु कणाद ने उसे व्यवस्थित रूप दिया।"[३०८] पर शिवदत्त ज्ञानी का यह लिखना पूर्ण प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि उपनिषदों का मूल परमाणु नहीं, ब्रह्मविवेचन है। डॉ. हर्मन जैकोबी ने परमाणु सिद्धान्त के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है—'हम जैनों को प्रथम स्थान देते हैं, क्योंकि उन्होंने पुद्गल के सम्बन्ध में अतीव प्राचीन मतों के आधार पर अपनी पद्धति को संस्थापित किया है।[३०९] हम यहाँ अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही यह बताना चाहते हैं कि अजीव द्रव्य का जैसा निरूपण जैन दर्शन में व्यवस्थित रूप से हुआ है, वैसा अन्य दर्शनों में नहीं हुआ।

---

३०४. शतपथब्राह्मण १४।५।३।१

३०५. बृहदारण्यक २।३।१

३०६. विष्णुपुराण

३०७. उत्तराध्ययन सूत्र ३६।४

३०८. भारतीय संस्कृति, पृष्ठ २२९

३०९. एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग २, पृष्ठ १९९-२००

अजीव की तरह जीवों के भी भेद-प्रभेद किये गये हैं। वे विभिन्न आधारों से हुए हैं। एक विभाजन काय को आधार मानकर किया गया है, वह है—स्थावरकाय और त्रसकाय। जिनमें गमन करने की क्षमता का अभाव है, वह स्थावर हैं। जिनमें गमन करने की क्षमता है, वह त्रस हैं। स्थावर जीवों के पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति ये पांच विभाग हैं। तेज और वायु एकेन्द्रिय होने तथा स्थावर नाम कर्म का उदय होने से स्थावर होने पर भी गति-त्रस भी कहलाते हैं। प्रत्येक विभाग के सूक्ष्म और स्थूल ये दो विभाग किये गये हैं। सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं और स्थूल जीव लोक के कुछ भागों में होते हैं। स्थूल पृथ्वी के मृदु और कठिन ये दो प्रकार हैं। मृदु पृथ्वी के सात प्रकार हैं तो कठिन पृथ्वी के छत्तीस प्रकार हैं। स्थूल जल के पांच प्रकार हैं, स्थूल वनस्पति के प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर ये दो प्रकार हैं। जिनके एक शरीर में एक जीव स्वामी रूप में होता है, वह प्रत्येकशरीर है। जिसके एक शरीर में अनन्त जीव स्वामी रूप में होते हैं, वे साधारणशरीर हैं। प्रत्येकशरीर वनस्पति के बारह प्रकार हैं तो साधारणशरीर वनस्पति के अनेक प्रकार हैं।

त्रस जीवों के इन्द्रियों की अपेक्षा द्वि-इन्द्रिय, त्रि-इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये चार प्रकार है।[३१०] द्वि-इन्द्रिय आदि अभिप्रायपूर्वक गमन करते हैं। वे आगे भी बढते हैं तथा पीछे भी हटते हैं। संकुचित होते हैं, फैलते हैं, भयभीत होते हैं, दौड़ते हैं। उनमें गति और आगति दोनों होती हैं। वे सभी त्रस हैं। द्वि-इन्द्रिय, त्रि-इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिमज होते हैं। पंचेन्द्रिय जीव सम्मूर्च्छिमज और गर्भज ये दोनों प्रकार के होते हैं। गति की दृष्टि से पंचेन्द्रिय के नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार प्रकार हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच के जलचर, स्थलचर, खेचर ये तीन प्रकार हैं।[३११] जलचर के मत्स्य, कच्छप आदि अनेक प्रकार हैं। स्थलचर की चतुष्पद और परिसर्प ये दो मुख्य जातियाँ हैं।[३१२] चतुष्पद के एक खुर वाले, दो खुर वाले, गोल पैर वाले, नख सहित पैर वाले, ये चार प्रकार है। परिसर्प की भुजपरिसर्प, उरपरिसर्प ये दो मुख्य जातियाँ हैं। खेचर की चर्मपक्षी, रोमपक्षी, समुद्गकपक्षी और विततपक्षी ये चार मुख्य जातियाँ हैं।

जीव के संसारी और सिद्ध ये दो प्रकार भी हैं। कर्मयुक्त जीव संसारी और कर्ममुक्त सिद्ध हैं। सम्यग्-दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा सम्यक् तप से जीव कर्म बन्धनों से मुक्त बनता है। सिद्ध जीव पूर्ण मुक्त होते हैं, जब कि संसारी जीव कर्ममुक्त होने के कारण नाना रूप धारण करते रहते हैं।

षट् द्रव्यों में जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ही सक्रिय हैं, शेष चारों द्रव्य निष्क्रिय हैं। जीव और पुद्गल ये दोनों द्रव्य कथंचित् विभाव रूप में परिणमते हैं। शेष चारों द्रव्य सदा-सर्वदा स्वाभाविक परिणमन को ही लिये रहते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, ये तीनों द्रव्य संख्या की दृष्टि से एक-एक हैं। काल द्रव्य असंख्यात हैं। जीव द्रव्य अनन्त हैं और पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त हैं। जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों में संकोच और विस्तार होता है किन्तु शेष चार द्रव्यों में संकोच और विस्तार नहीं होता। आकाशद्रव्य अखण्ड होने पर भी उसके लोकाकाश और अलोकाकाश ये दो विभाग किए गए हैं। जिसमें धर्म, अधर्म, काल, जीव, पुद्गल ये पाँच द्रव्य रहते हैं, वह आकाशखण्ड लोकाकाश है। जहाँ इनका अभाव है, सिर्फ आकाश ही है वह अलोकाकाश है। धर्म और अधर्म ये दो द्रव्य सदा लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित हैं, जबकि अन्य द्रव्यों की वैसी स्थिति नहीं है।

पुद्गल द्रव्य के अणु और स्कन्ध ये दो प्रकार हैं। अणु का अवगाह्य क्षेत्र आकाश का एक प्रदेश है और स्कन्धों की कोई नियत सीमा नहीं है। दोनों प्रकार के पुद्गल अनन्त-अनन्त हैं।[३१३]

---

३१०. उत्तराध्ययन सूत्र ३६।१०७-१२६.
३११. उत्तराध्ययन ३६।१७१.
३१२. उत्तराध्ययन ३६।१७९.
३१३. आचारांग १।९।१।१४

कालद्रव्य द्रव्यों के परिवर्तन में सहकारी होता है। समय, पल, घड़ी, घंटा, मुहूर्त, प्रहर, दिन-रात, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष आदि के भेदों को लेकर वह भी आदि अन्त सहित है। द्रव्य की अपेक्षा अनादिनिधन है।

प्रज्ञापना[३१४] तथा जीवाजीवाभिगम[३१५] सूत्रों में विविध दृष्टियों से जीव और अजीव के भेद-प्रभेद किये गये हैं। हमने यहाँ पर प्रस्तुत आगम में आये हुए विभागों को लेकर ही संक्षेप में चिन्तन किया है। प्रस्तुत अध्ययन के अन्त में समाधिमरण का भी सुन्दर निरूपण हुआ है। इस तरह यह आगम ज्ञान-विज्ञान व अध्यात्म-चिन्तन का अक्षय कोश है।

व्याख्यासाहित्य :—

उत्तराध्ययननिर्युक्ति—

मूल ग्रन्थ के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए आचार्यों ने समय-समय पर व्याख्या-साहित्य का निर्माण किया है। जैसे वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिए महर्षि यास्क ने निघंटु भाष्य रूप निर्युक्ति लिखी वैसे ही आचार्य भद्रबाहु ने जैन आगमों के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए प्राकृत भाषा में निर्युक्तियों की रचना की। आचार्य भद्रबाहु ने दश निर्युक्तियों की रचना की। उनमें उत्तराध्ययन पर भी एक निर्युक्ति है। इस निर्युक्ति में छह सौ सात गाथाएँ हैं। इसमें अनेक पारिभाषिक शब्दों का निक्षेप पद्धति से व्याख्यान किया गया है और अनेक शब्दों के विविध पर्याय भी दिये हैं। सर्वप्रथम उत्तराध्ययन शब्द की परिभाषा करते हुए उत्तर पद का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, दिशा, ताप-क्षेत्र, प्रज्ञापक, प्रति, काल, संचय, प्रधान, ज्ञान, क्रम, गणना और भाव इन पन्द्रह निक्षेपों से चिन्तन किया है।[३१६] उत्तर का अर्थ क्रमोत्तर किया है।[३१७]

निर्युक्तिकार ने अध्ययन पद पर विचार करते हुए नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार द्वारों से 'अध्ययन' पर प्रकाश डाला है। प्राग् बद्ध और बध्यमान कर्मों के अभाव से आत्मा को जो अपने स्वभाव में ले जाना है, वह अध्ययन है। दूसरे शब्दों में कहें तो—जिससे जीवादि पदार्थों का अधिगम है या जिससे अधिक प्राप्ति होती है अथवा जिससे शीघ्र ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि होती है, वह अध्ययन है।[३१८] अनेक भवों से आते हुए अष्ट प्रकार के कर्म-रज का जिससे क्षय होता है, वह भावाध्ययन है। निर्युक्ति में पहले पिण्डार्थ और उसके पश्चात् प्रत्येक अध्ययन की विशेष व्याख्या की गई है। प्रथम अध्ययन का नाम विनयश्रुत है। श्रुत का भी नाम आदि चार निक्षेपों से विचार किया है। निह्नव आदि द्रव्यश्रुत हैं और जो श्रुत में उपयुक्त है वह भावश्रुत है। संयोग शब्द की भी विस्तार से व्याख्या की है। संयोग सम्बन्ध संसार का कारण है। उससे जीव कर्म में आबद्ध होता है। उस संयोग से मुक्त होने पर ही वास्तविक आनन्द की उपलब्धि होती है।[३१९]

---

३१४. प्रज्ञापना, प्रथम पद

३१५. जीवाजीवाभिगम, प्रतिपत्ति १-९

३१६. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १

३१७. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथ ३

३१८. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५ व ७

३१९. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५२.

द्वितीय अध्ययन में परीषह पर भी निक्षेप दृष्टि से विचार है। द्रव्य निक्षेप आगम और नो-आगम के भेद से दो प्रकार का है। नो-आगम परीषह, ज्ञायक-शरीर, भव्य और तद् व्यतिरिक्त इस प्रकार तीन प्रकार का है। कर्म और नोकर्म रूप से द्रव्य परीषह के दो प्रकार हैं। नोकर्म रूप द्रव्य परीषह सचित्त, अचित्त और मिश्र रूप से तीन प्रकार के है। भाव परीषह में कर्म का उदय होता है। उसके कुतः, कस्य, द्रव्य, समवतार, अध्यास, नय, वर्तना, काल, क्षेत्र, उद्देश, पृच्छा, निर्देश और सूत्रस्पर्श ये तेरह द्वार हैं।[320] क्षुत् पिपासा की विविध उदाहरणों के द्वारा व्याख्या की है। तृतीय अध्ययन में चतुरंगीय शब्द की निक्षेप पद्धति से व्याख्या की है और अंग का भी नामाङ्ग, स्थापनाङ्ग, द्रव्याङ्ग और भावाङ्ग के रूप में चिन्तन करते हुए द्रव्याङ्ग के गंधाङ्ग, औषधाङ्ग, मद्याङ्ग, आतोद्याङ्ग, शरीराङ्ग और युद्धाङ्ग ये छह प्रकार बताये हैं। गंधाङ्ग के जमदग्नि जटा, हरेणुका, शबर निवसनक (तमालपत्र), सपिन्निक, मल्लिकावासित, ओसीर, ह्रवेर, भद्रदारु, शतपुष्पा, आदि भेद हैं। इनसे स्नान और विलेपन किया जाता था।

औषधाङ्ग गुटिका में पिण्डदारु, हरिद्रा, माहेन्द्रफल, सुण्ठी, पिप्पली, मरिच, आर्द्रक, बिल्वमूल और पानी ये अष्ट वस्तुएँ मिली हुई होती है। इससे कण्डु, तिमिर, अर्ध शिरोरोग, पूर्ण शिरोरोग, तार्तीयक, चातुर्थिक, ज्वर, मूषकदंश, सर्पदंश शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं[321]। द्राक्षा के सोलह भाग, धातकीपुष्प के चार भाग, एक आढ़क इक्षुरस इनसे मद्याङ्ग बनता है। एक मुकुन्दातुर्य, एक अभिमारदारुक, एक शाल्मली पुष्प, इनके बंध से पुष्पोन्मिश्र बाल बंध विशेष होता है। सिर, उदर, पीठ, बाहु, उरु, ये शरीराङ्ग हैं। युद्धाङ्ग के भी यान, आवरण, प्रहरण, कुशलत्व, नीति, दक्षत्व, व्यवसाय, शरीर, आरोग्य ये नौ प्रकार बताये गये हैं। भावाङ्ग के श्रुताङ्ग और नोश्रुताङ्ग ये दो प्रकार हैं। श्रुताङ्ग के आचार आदि बारह प्रकार हैं। नोश्रुतांग के चार प्रकार हैं। ये चार प्रकार ही चतुरंगीय के रूप में विश्रुत हैं। मानव भव की दुर्लभता विविध उदाहरणों के द्वारा बताई गई है। मानव भव प्राप्त होने पर भी धर्म का श्रवण कठिन है। और उस पर श्रद्धा करना और भी कठिन है। श्रद्धा पर चिन्तन करते हुए जमालि आदि सात निह्नवों का परिचय दिया गया है।[322].

चतुर्थ अध्ययन का नाम असंस्कृत है। प्रमाद और अप्रमाद दोनों पर निक्षेप दृष्टि से विचार किया गया है। जो उत्तरकरण से कृत अर्थात् निर्वर्तित है, वह संस्कृत है। शेष असंस्कृत हैं। करण का भी नाम आदि छह निक्षेपों से विचार है। द्रव्यकरण के संज्ञाकरण, नोसंज्ञाकरण ये दो प्रकार हैं। संज्ञाकरण के कटकरण, अर्थकरण और वेलुकरण ये तीन प्रकार हैं। नोसंज्ञाकरण के प्रयोगकरण और विस्रसाकरण ये दो प्रकार हैं। विस्रसाकरण के सादिक और अनादिक ये दो भेद हैं। अनादि के धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन प्रकार हैं। सादिक के चतुस्पर्श, अचतुस्पर्श ये दो प्रकार हैं। इस प्रकार प्रत्येक के भेद-प्रभेद करके उन सभी की विस्तार से चर्चा करते हैं। इस निर्युक्ति में यत्र-तत्र अनेक शिक्षाप्रद कथानक भी दिये हैं। जैसे—गंधार, श्रावक, तोसलीपुत्र, स्थूलभद्र, स्कन्दकपुत्र, ऋषि पाराशर, कालक, करकण्डु आदि प्रत्येकबुद्ध, हरिकेश, मृगापुत्र, आदि। निह्नवों के जीवन पर भी प्रकाश डाला गया है। भद्रबाहु के चार शिष्यों का राजगृह के वैभार पर्वत की गुफा में शीत परीषह से और मुनि सुवर्णभद्र के मच्छरों के घोर उपसर्ग से कालगत होने का उल्लेख भी है। इसमें अनेक उक्तियाँ सूक्तियों के रूप में हैं। उदाहरण के रूप में देखिए—

---

३२०. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ६५ से ६८ तक।

३२१. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४९-१५०

३२२. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १५९-१७८.

"राई सरिसवमित्ताणि परछिद्दाणि पाससि ।
अप्पणो बिल्लमित्ताणि पासंतोऽवि न पाससि ॥"

"तू राई के बराबर दूसरों के दोषों को तो देखता है पर बिल्व जितने बड़े स्वयं के दोषों को देखकर भी नहीं देखता है ।"

"सुहिओ हु जणो न वुज्झई"—सुखी मनुष्य प्रायः जल्दी नहीं जाग पाता ।

"भावंमि उ पव्वज्जा आरम्भपरिग्गहच्चाओ"—हिंसा और परिग्रह का त्याग ही वस्तुतः भावप्रव्रज्या है ।

उत्तराध्ययन-भाष्य—

निर्युक्तियों की व्याख्या शैली बहुत ही गूढ़ और संक्षिप्त थी । निर्युक्तियों का लक्ष्य केवल पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना था । निर्युक्तियों के गुरु गम्भीर रहस्यों को प्रकट करने के लिए भाष्यों का निर्माण हुआ । भाष्य भी प्राकृत भाषा में ही पद्य रूप में लिखे गये । भाष्यों में अनेक स्थलों पर मागधी और सौरसेनी के प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं । उनमें मुख्य छन्द आर्या है । उत्तराध्ययनभाष्य स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध नहीं है । शान्तिसूरिजी की प्राकृत टीका में भाष्य की गाथाएँ मिलती हैं । कुल गाथाएँ ४५ हैं । ऐसा ज्ञात होता है कि अन्य भाष्यों की गाथाओं के सदृश इस भाष्य की गाथाएँ भी निर्युक्ति के पास मिल गई हैं । प्रस्तुत भाष्य में बोटिक की उत्पत्ति, पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक आदि निर्ग्रन्थों के स्वरूप पर प्रकाश डाला है ।

उत्तराध्ययनचूर्णि—

भाष्य के पश्चात् चूर्णि साहित्य का निर्माण हुआ । निर्युक्ति और भाष्य पद्यात्मक हैं तो चूर्णि गद्यात्मक है । चूर्णि में प्राकृत और संस्कृत मिश्रित भाषा का प्रयोग हुआ है । उत्तराध्ययन चूर्णि उत्तराध्ययन निर्युक्ति के आधार पर लिखी गई है । इसमें संयोग, पुद्गल बंध, संस्थान, विनय, क्रोधावारण, अनुशासन, परीषह, धर्मविघ्न, मरण, निर्ग्रन्थ-पंचक, भयसप्तक, ज्ञान-क्रिया एकान्त, प्रभृति विषयों पर उदाहरण सहित प्रकाश डाला है । चूर्णिकार ने विषयों को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन ग्रन्थों के उदाहरण भी दिए हैं । उन्होंने अपना परिचय देते हुए स्वयं को वाणिज्यकुलीन कोटिकगणीय, वज्रशाखी, गोपालगणी महत्तर का अपने आपको शिष्य कहा है ।[323]

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन चूर्णि ये दोनों एक ही आचार्य की कृतियाँ हैं, क्योंकि स्वयं आचार्य ने चूर्णि में लिखा है—'मैं प्रकीर्ण तप का वर्णन दशवैकालिक चूर्णि में कर चुका हूँ ।' इससे स्पष्ट है कि दशवैकालिक चूर्णि के पश्चात् ही उत्तराध्ययन चूर्णि की रचना हुई है ।

---

३२३. "वाणिजकुलसंभूओ, कोडियगणिओ उ वयरसाहीतो ।
गोवालियमहत्तरओ, विक्खाओ आसि लोगंमि ॥ १ ॥
ससमयपरसमयविऊ, ओयस्सी दित्तिमं सुगंभीरो ।
सीसगणसंपरिवुडो, वक्खाणरतिप्पिओ आसी ॥ २ ॥
तेसिं सीसेण इमं, उत्तरज्झयणाण चुण्णिखंडं तु ।
रइयं अणुग्गहत्थं, सीसाणं मंदवुद्धीणं ॥ ३ ॥
जं एत्थं उस्सुत्तं, अयाणमाणेण विरतितं होज्जा ।
तं अणुओगधरा मे, अणुचिंतेउं समारेंतु ॥ ४ ॥ —उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ २८३.

उत्तराध्ययन की टीकाए :—

शिष्यहितावृत्ति (पाइअटीका) :—

निर्युक्ति एवं भाष्य प्राकृत भाषा में थे। चूर्णि में प्रधान रूप से प्राकृत भाषा का और गौण रूप से संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ। उसके बाद संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखी गई। टीकाएँ संक्षिप्त और विस्तृत दोनों प्रकार की मिलती हैं। उत्तराध्ययन के टीकाकारों में सर्वप्रथम नाम वादीवैताल शान्तिसूरि का है। महाकवि धनपाल के आग्रह से शान्तिसूरि ने चौरासी वादियों को सभा में पराजित किया जिससे राजा भोज ने उन्हें 'वादि-वैताल' की उपाधि प्रदान की। उन्होंने महाकवि धनपाल की तिलकमंजरी का संशोधन किया था।

उत्तराध्ययन की टीका का नाम शिष्यहितावृत्ति है। इस टीका में प्राकृत की कथाओं व उद्धरणों की बहुलता होने के कारण इसका दूसरा नाम पाइअटीका भी है। यह टीका मूलसूत्र और निर्युक्ति इन दोनों पर है। टीका की भाषा सरस और मधुर है। विषय की पुष्टि के लिए भाष्य-गाथाएं भी दी गई हैं और साथ ही पाठान्तर भी। प्रथम अध्ययन की व्याख्या में नय का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। नय की संख्या पर चिन्तन करते हुए लिखा है—पूर्वविदों ने सकलनदसंग्राही सात सौ नयों का विधान किया है। उस समय "सप्तशत शतार नयचक्र" विद्यमान था। तत्संग्राही विधि आदि का निरूपण करने वाला बारह प्रकार के नयों का "द्वादशारनयचक्र" भी विद्यमान था और वह वर्तमान में भी उपलब्ध है।

द्वितीय अध्ययन में वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद ने ईश्वर की जो कल्पना की और वेदों को अपौरुषेय कहा, उस कल्पना को मिथ्या बताकर तार्किक दृष्टि से उसका समाधान किया। अचेल परीषह पर विवेचन करते हुए लिखा—वस्त्र धर्मसाधना में एकान्त रूप से बाधक नहीं है। धर्म का मूल रूप से बाधक तत्त्व कषाय है। कषाययुक्त धारण किया गया वस्त्र पात्रादि की तरह बाधक है। जो धार्मिक साधना के लिए वस्त्रों को धारण करता है, वह साधक है।

चौथे अध्ययन में जीवप्रकरण पर विचार करते हुए जीव-भावकरण के श्रुतकरण और नोश्रुतकरण ये दो भेद किये गये हैं। पुनः श्रुतकरण के बद्ध और अबद्ध ये दो भेद हैं। बद्ध के निशीथ और अनिशीथ ये दो भेद हैं। उनके भी लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किये गये हैं। निशीथ सूत्र आदि लोकोत्तर निशीथ है और बृहदारण्यक आदि लौकिक निशीथ हैं। आचारांग आदि लोकोत्तर अनिशीथ श्रुत हैं। पुराण आदि लौकिक अनिशीथ श्रुत हैं। लौकिक और लोकोत्तर भेद से अबद्ध श्रुत के भी दो प्रकार हैं। अबद्ध श्रुत के लिए अनेक कथाएँ दी गई हैं।

प्रस्तुत टीका में विशेषावश्यक भाष्य, उत्तराध्ययनचूर्णि, आवश्यकचूर्णि, सप्तशतारनयचक्र, निशीथ, बृहदारण्यक, उत्तराध्यनभाष्य, स्त्रीनिर्वाणसूत्र आदि ग्रन्थों के निर्देश हैं। साथ ही जिनभद्र, भर्तृहरि, वाचक सिद्धसेन, वाचक अश्वसेन, वात्स्यायल, शिव शर्मन, हारिल्लवाचक, गंधहस्तिन्, जिनेन्द्रबुद्धि, प्रभृति व्यक्तियों के नाम भी आये हैं। वादीवैताल शान्तिसूरि का समय विक्रम की ग्यारहवीं शती है।

सुखबोधा वृत्ति

उत्तराध्ययन पर दूसरी टीका आचार्य नेमिचन्द्र की सुखबोधावृत्ति है। नेमिचन्द्र का अपर नाम देवेन्द्रगणि भी था। प्रस्तुत टीका में उन्होंने अनेक प्राकृतिक आख्यान भी उट्टंकित किये हैं। उनकी शैली पर आचार्य हरिभद्र और वादीवैताल शान्तिसूरि का अधिक प्रभाव है। शैली की सरलता व सरसता के कारण उसका नाम सुखबोधा रखा गया है। वृत्ति में सर्वप्रथम तीर्थंकर, सिद्ध, साधु, श्रुत, देवता को नमस्कार किया गया है।

वृत्तिकार ने वृत्तिनिर्माण का लक्ष्य स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शान्त्याचार्य की वृत्ति गम्भीर और बहुत अर्थ वाली है। ग्रन्थ के अन्त में स्वयं को गच्छ, गुरुभ्राता, वृत्तिरचना के स्थान, समय आदि का निर्देश किया है। आचार्य नेमिचन्द्र बृहद्गच्छीय उद्योतनाचार्य के प्रशिष्य उपाध्याय आम्रदेव के शिष्य थे। उनके गुरुभ्राता का नाम मुनिचन्द्र सूरि था, जिनकी प्रबल प्रेरणा से ही उन्होंने बारह हजार श्लोक प्रमाण इस वृत्ति की रचना की। विक्रम-संवत् ग्यारह सौ उनतीस में वृत्ति अणहिलपाटन में पूर्ण हुई।[324]

उसके पश्चात् उत्तराध्ययन पर अन्य अनेक विज्ञ मुनि, तथा अन्य अनेक विभिन्न सन्तों व आचार्यों ने वृत्तियां लिखी हैं। हम यहाँ संक्षेप में सूचन कर रहे हैं। विनयहंस ने उत्तराध्ययन पर एक वृत्ति का निर्माण किया। विनयहंस कहाँ के थे? यह अन्वेषणीय है। संवत् १५५२ में कीर्तिवल्लभ ने, संवत् १५५४ में उपाध्याय कमलसंयत ने, संवत् १५५० में तपोरत्न वाचक ने, गुणशेखर, लक्ष्मीवल्लभ ने, संवत् १६८९ में भावविजय ने, हर्षनन्द गणी ने, संवत् १७५० में उपाध्याय धर्ममन्दिर, संवत् १५४६ में उदयसागर, मुनिचन्द्र सूरि, ज्ञानशील गणी, अजितचन्द्र सूरि, राजशील, उदयविजय, मेघराज वाचक, नगरसी गणी, अजितदेव सूरि, माणक्यशेखर, ज्ञानसागर आदि अनेक मनीषियों ने उत्तराध्ययन पर संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखीं। उनमें से कितनीक टीकाएँ विस्तृत हैं तो कितनी ही संक्षिप्त हैं। कितनी ही टीकाओं में विषय को सरल व सुबोध बनाने के लिए प्रसंगानुसार कथाओं का भी उपयोग किया गया है।

लोकभाषाओं में अनुवाद और व्याख्याएँ

संस्कृत प्राकृत भाषाओं की टीकाओं के पश्चात् विविध लोकभाषाओं में संक्षिप्त टीकाओं का युग प्रारम्भ हुआ। संस्कृत भाषा की टीकाओं में विषय को सरल व सुबोध बनाने का प्रयास हुआ था, साथ ही उन टीकाओं में जीव, जगत्, आत्मा, परमात्मा, द्रव्य आदि की दार्शनिक गम्भीर चर्चाएं होने के कारण जन-सामान्य के लिए उन्हें समझना बहुत ही कठिन था। अतः लोकभाषाओं में, सरल और सुबोध शैली में बालावबोध की रचनाएँ प्रारम्भ हुई। बालावबोध के रचयिताओं में पार्श्वचन्द्र गणी और आचार्य मुनि धर्मसिंहजी का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है।

बालावबोध के बाद आगमों के अनुवाद अंग्रेजी, गुजराती और हिन्दी इन तीन भाषाओं में मुख्य रूप से हुए हैं। जर्मन विद्वान् डॉ० हरमन जैकोबी ने चार आगमों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। उनमें उत्तराध्ययन भी एक है। वह अनुवाद सन् १८९५ में ऑक्सफोर्ड से प्रकाशित हुआ। उसके पश्चात् वही अनुवाद सन् १९६४ में मोतीलाल बनारसीदास (देहली) ने प्रकाशित किया। अंग्रेजी प्रस्तावना के साथ उत्तराध्ययन जार्ल चारपेन्टियर, उप्पसाला ने सन् १९२२ में प्रकाशित किया। सन् १९५४ में आर. डी. वाडेकर और वैद्य पूना द्वारा मूल ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। सन् १९३८ में गोपालदास जीवाभाई पटेल ने गुजराती छायानुवाद, सन् १९३४ में हीरालाल हंसराज जामनगर वालों ने अपूर्ण गुजराती अनुवाद प्रकाशित किया। सन् १९५२ में गुजरात विद्यासभा—

३२४. विश्रुतस्य महीपीठे, बृहद्गच्छस्य मण्डनम्।
श्रीमान् विहारुकप्रष्ठः, सूरिरुद्योतनाभिधः ॥ ९ ॥
शिष्यस्तस्याऽऽम्रदेवोऽभूदुपाध्यायः सतां मतः।
यत्रैकान्तगुणापूर्णे, दोषैर्लेभे पदं न तु ॥ १० ॥
श्रीनेमिचन्द्रसूरिरुद्धृतवान्, वृत्तिकां तद्विनेयः।
गुरुसोदर्यश्रीमन्मुनिचन्द्राचार्यवचनेन ॥ ११ ॥

अहमदाबाद से गुजराती अनुवाद टिप्पणों के साथ एक से अठारह अध्ययन प्रकाशित हुए। सन् १९५४ में जैन प्राच्य विद्या भवन- अहमदाबाद से गुजराती अर्थ एवं धर्मकथाओं के साथ एक से पन्द्रह अध्ययन प्रकाशित हुए। संवत् १९९२ में मुनि सन्तबाल जी ने भी गुजराती अनुवाद प्रकाशित किया। वीर संवत् २४४६ में आचार्य अमोलक-ऋषिजी ने हिन्दी अनुवाद सहित उत्तराध्ययन का संस्करण निकाला। वी. सं. २४८९ में श्री रतनलाल जी डोशी-सैलाना ने तथा वि. सं २०१० में पं. घेवरचन्द जी बांठिया—बीकानेर ने एवं वि. सं. १९९२ में श्वे. स्था. जैन कॉन्फ्रेंस—बम्बई द्वारा मुनि सौभाग्यचन्द्र सन्तबाल जी ने हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया।

सन् १९३९ से १९४२ तक उपाध्याय श्री आत्माराम जी म. ने जैनशास्त्रमाला कार्यालय—लाहौर से उत्तराध्ययन पर हिन्दी में विस्तृत विवेचन प्रकाशित किया। उपाध्याय आत्माराम जी म. का यह विवेचन भावपूर्ण, सरल और आगम के रहस्य को स्पष्ट करने में सक्षम है। सन् १९६७ में मुनि नथमल जी ने मूल, छाया, अनुवाद, टिप्पण युक्त अभिनव संस्करण श्वे. तेरापंथी महासभा—कलकत्ता से प्रकाशित किया है। इस संस्करण के टिप्पण भावपूर्ण हैं।

सन् १९५९ से १९६१ तक पूज्य घासीलाल जी म. ने उत्तराध्ययन पर संस्कृत टीका का निर्माण किया था। वह टीका हिन्दी, गुजराती अनुवाद के साथ जैनशास्त्रोद्धार समिति—राजकोट से प्रकाशित हुई। सन्मतिज्ञानपीठ आगरा से साध्वी चन्दना जी ने मूल व भावानुवाद तथा संक्षिप्त टिप्पणों के साथ उत्तराध्ययन का संस्करण प्रकाशित किया है। उसका दुर्लभजी केशवजी खेताणी द्वारा गुजराती में अनुवाद भी बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

आगमप्रभावक पुण्यविजय जी म. ने प्राचीनतम प्रतियों के आधार पर विविध पाठान्तरों के साथ जो शुद्ध आगम संस्करण महावीर विद्यालय-बम्बई से प्रकाशित करवाये हैं उनमें उत्तराध्ययन भी है। धर्मोपदेष्टा फूलचन्दजी म. ने मूलसुत्तागमे में, मुनि कन्हैयालाल जी कमल ने 'मूलसुत्ताणि' में, महासती शीलकुँवर जी ने 'स्वाध्याय सुधा' में और इनके अतिरिक्त पन्द्रह-बीस स्थानों से मूल पाठ प्रकाशित हुआ है। आधुनिक युग में शताधिक श्रमण-श्रमणियाँ उत्तराध्ययन को कंठस्थ करते हैं तथा प्रतिदिन उसका स्वाध्याय भी। इससे उत्तराध्ययन की महत्ता स्वयं सिद्ध है। उत्तराध्ययन के हिन्दी में पद्यानुवाद भी अनेक स्थलों से प्रकाशित हुए हैं। उनमें श्रमणसूर्य मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी म. तथा आचार्य हस्तीमल जी म. के पद्यानुवाद पठनीय हैं। इस तरह आज तक उत्तराध्ययन पर अत्यधिक कार्य हुआ है।

प्रस्तुत सम्पादन

उत्तराध्ययन के विभिन्न संस्करण समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं और उन संस्करणों का अपने आप में विशिष्ट महत्त्व भी रहा है। प्रस्तुत संस्करण आगम प्रकाशन समिति ब्यावर (राज.) के अन्तर्गत प्रकाशित होने जा रहा है। इस ग्रन्थमाला के संयोजक और प्रधान सम्पादक हैं—श्रमणसंघ के भावी आचार्य श्री मधुकर मुनि जी म.। मधुकर मुनि जी शान्त प्रकृति के मूर्धन्य मनीषी सन्तरत्न हैं। उनका संकल्प है—आगम-साहित्य को अधुनातन भाषा में प्रकाशित किया जाए। उसी संकल्प को मूर्त्तरूप देने के लिए ही स्वल्पावधि में अनेक आगमों के अभिनव संस्करण प्रबुद्ध पाठकों के करकमलों में पहुँच चुके हैं जिससे जिज्ञासुओं को आगम के रहस्य समझने में सहूलियत हो गई है। उसी पवित्र लड़ी की कड़ी में उत्तराध्ययन का यह अभिनव संस्करण है।

इस संस्करण की यह मौलिक विशेषता है कि इसमें शुद्ध मूल पाठ है। भावानुवाद है और साथ ही विशेष स्थलों पर आगम के गम्भीर रहस्य को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन व्याख्या-साहित्य के आधार पर सरल और सरस विवेचन भी है। विषय गम्भीर होने पर भी प्रस्तुतीकरण सरल और सुबोध है। इसके सम्पादक, विवेचक और अनुवादक हैं—राजेन्द्रमुनि साहित्यरत्न, शास्त्री, काव्यतीर्थ, 'जैन सिद्धान्ताचार्य', जो परम श्रद्धेय, राजस्थान-

केसरी, अध्यात्मयोगी, उपाध्याय पूज्य सद्गुरुवर्य श्री पुष्करमुनि जी म. के प्रशिष्य हैं, जिन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं में लिखा है। उनका आगमसम्पादन का यह प्रथम प्रयास प्रशंसनीय है। यदि युवाचार्यश्री का अत्यधिक आग्रह नहीं होता तो सम्भव है, इस सम्पादनकार्य में और भी अधिक विलम्ब होता। पर युवाचार्य श्री की प्रबल प्रेरणा ने मुनिजी को शीघ्र कार्य सम्पन्न करने के लिए उत्प्रेरित किया।[1] तथापि मुनिजी ने बहुत ही निष्ठा के साथ यह कार्य सम्पन्न किया है, इसलिए वे साधुवाद के पात्र हैं। मेरा हार्दिक आशीर्वाद है कि वे साहित्यिक क्षेत्र में अपने मुस्तैदी कदम आगे बढ़ायें। आगमों का गहन अध्ययन कर अधिक से अधिक श्रुतसेवा कर जिनशासन की शोभा में श्रीवृद्धि करें।

उत्तराध्ययन एक ऐसा विशिष्ट आगम है, जिसमें चारों अनुयोगों का सुन्दर समन्वय हुआ है। यद्यपि उत्तराध्ययन की परिगणना धर्मकथानुयोग में की गई है, क्योंकि इसके छत्तीस अध्ययनों में से चौदह अध्ययन धर्मकथात्मक हैं। प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और दशम ये छह अध्ययन उपदेशात्मक हैं। इन अध्ययनों में साधकों को विविध प्रकार से उपदेशात्मक प्रेरणाएँ दी गई हैं। द्वितीय, ग्यारहवाँ, पन्द्रहवाँ, सोलहवाँ, सत्तरहवाँ, चौबीसवाँ, छब्बीसवाँ, बत्तीसवाँ और पैंतीसवाँ अध्ययन आचारात्मक है। इन अध्ययनों में श्रमणाचार का गहराई से विश्लेषण हुआ है। अट्ठाईसवाँ, उनतीसवाँ, तीसवाँ, इकतीसवाँ, तेतीसवाँ, चौतीसवाँ, छत्तीसवाँ ये सात अध्ययन सैद्धान्तिक हैं। इन अध्ययनों में सैद्धान्तिक विश्लेषण गम्भीरता के साथ हुआ है। छत्तीस अध्ययनों में चौदह अध्ययन-धर्मकथात्मक होने से इसे धर्मकथानुयोग में लिया गया है। विषयबाहुल्य होने के कारण प्रत्येक विषय पर बहुत ही विस्तार के साथ सहज रूप से लिखा जा सकता है। मैंने प्रस्तावना में न अति संक्षिप्त और न अति विस्तृत शैली को ही अपनाया है। अपितु मध्यम शैली को आधार बनाकर उत्तराध्ययन में आये हुए विविध विषयों पर चिन्तन किया है। यदि विस्तार के साथ इन सभी पहलुओं पर लिखा जाता तो एक विराट्काय ग्रन्थ सहज रूप से बन सकता था।

उत्तराध्ययन की तुलना श्रीमद् भागवत गीता के साथ की जा सकती है। इस दृष्टि से प्रतिभामूर्ति पं. मुनि श्रीमल्लजी ने "जैन दृष्टि से गीता" नामक ग्रन्थ में प्रयास किया है। इसी तरह कुछ विद्वानों ने उत्तराध्ययन की तुलना 'धम्मपद' के साथ करने का भी प्रयत्न किया है। समन्वयात्मक दृष्टि से यह प्रयास प्रशंसनीय है। पार्श्वनाथ शोध संस्थान वाराणसी से उत्तराध्ययन पर उत्तराध्ययन:एक परिशीलन के रूप में शोध प्रबन्ध भी प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार उत्तराध्ययन पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, संस्कृत भाषाओं में अनेक टीकाएँ और उसके पश्चात् विपुल मात्रा में हिन्दी अनुवाद और विवेचन लिखे गये हैं, जो इस आगम की लोकप्रियता का ज्वलन्त उदाहरण हैं। अन्य आगमों की भाँति प्रस्तुत आगम का संस्करण भी अत्यधिक लोकप्रिय होगा। प्रबुद्ध वर्ग इसका स्वाध्याय कर अपने जीवन को आध्यात्मिक आलोक से आलोकित करेंगे, यही मंगल मनीषा!

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

जैन स्थानक
चांदावतों का नोखा
दि. २७ जनवरी
माँ महासती प्रभावती जी की प्रथम पुण्यतिथि

---

१. जिनकी प्रेरणा के फलस्वरूप प्रस्तुत संस्करण तैयार हुआ, अत्यन्त परिताप है कि जिनागम-ग्रन्थमाला के संयोजक, प्रधानसम्पादक एवं प्राण श्रद्धेय युवाचार्यजी इसके प्रकाशन से पूर्व ही देवलोकवासी हो गए।—सम्पादक

विषयानुक्रम

प्रथम अध्ययन-विनयसूत्र

द्वितीय अध्ययन-परीषह-प्रविभक्ति

तृतीय अध्ययन : चतुरंगीय

चतुर्थ अध्ययन : असंस्कृत

पंचम अध्ययन : अकाममरणीय

छठा अध्ययन : निर्ग्रन्थीय

सप्तम अध्ययन : उरभ्रीय

अष्टम अध्ययन : कापिलीय

नवम अध्ययन : नमिप्रव्रज्या

दशम अध्ययन : द्रुमपत्रक

ग्यारहवाँ अध्ययन : बहुश्रुतपूजा

बारहवाँ अध्ययन : हरिकेशीय

तेरहवाँ अध्ययन : चित्र-सम्भूतीय

चौदहवाँ अध्ययन : इषुकारीय

पन्द्रहवाँ अध्ययन : सभिक्षुकम्

सोलहवाँ अध्ययन : ब्रह्मचर्य समाधिस्थल

सत्रहवाँ अध्ययन : पापश्रमणीय

अठारहवाँ अध्ययन : संजयीय

उन्नीसवाँ अध्ययन : मृगापुत्रीय

वीसवाँ अध्ययन : महानिर्ग्रन्थीय

इक्कीसवाँ अध्ययन : समुद्रपालीय

बाईसवाँ अध्ययन : रथनेमीय

तेईसवाँ अध्ययन : केशी-गौतमीय

चौवीसवाँ अध्ययन : प्रवचनमाता

पच्चीसवाँ अध्ययन : यज्ञीय

छव्वीसवाँ अध्ययन : सामाचारी

सत्ताईसवाँ अध्ययन: खलुंकीय

अट्ठाईसवाँ अध्ययन: मोक्षमार्गगति

उनतीसवाँ अध्ययन : सम्यक्त्वपराक्रम

तीसवाँ अध्ययन : तपोमार्गगति

इकतीसवाँ अध्ययनः चरणविधि

बत्तीसवाँ अध्ययन: प्रमादस्थान

तेतीसवाँ अध्ययन: कर्मप्रकृति

चौतीसवाँ अध्ययन : लेश्या

पैंतीसवाँ अध्ययन : अनगार मार्गगति

छत्तीसवाँ अध्ययन : जीवाजीवविभक्ति

□□

उत्तरज्झयणाणि

[उत्तराध्ययनसूत्र]

प्रथम अध्ययन : विनयसूत्र

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत प्रथम अध्ययन का नाम चूर्णि के अनुसार 'विनयसूत्र' है।[1] निर्युक्ति, बृहद्वृत्ति एवं समवायांगसूत्र के अनुसार 'विनयश्रुत'[2] है। 'श्रुत' और सूत्र दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

* इस अध्ययन में विविध पहलुओं से भिक्षाजीवी निर्ग्रन्थ निःसंग अनगार के विनय की श्रुति अथवा विनय के सूत्रों का निरूपण किया गया है।[3]

* विनय मुक्ति का प्रथम चरण है, धर्म का मूल है तथा दूसरा आभ्यन्तर तप है। विनयरूपी मूल के विना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी पुष्प नहीं प्राप्त होते तो मोक्षरूप फल की प्राप्ति भी कहाँ से होगी ?

* मूलाचार के अनुसार विनय की पृष्ठभूमि में निम्नोक्त गुण निहित हैं—(१) शुद्ध धर्माचरण, (२) जीतकल्प-मर्यादा, (३) आत्मगुणों का उद्दीपन, (४) आत्मिक शुद्धि, (५) निर्द्वन्द्वता, (६) ऋजुता, (७) मृदुता (नम्रता, निश्छलता, निरहंकारिता), (८) लाघव (अनासक्ति), (९) गुण-गुरुओं के प्रति भक्ति, (१०) आह्लादकता, (११) कृति—वन्दनीय पुरुषों के प्रति वन्दना, (१२) मैत्री, (१३) अभिमान का निराकरण, (१४) तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन एवं (१५) गुणों का अनुमोदन।[4]

* यद्यपि प्रस्तुत अध्ययन में विनय की परिभाषा नहीं दी है, किन्तु विनयी और अविनयी के स्वभाव और व्यवहार तथा उसके परिणामों की चर्चा विस्तार से की है, उस पर से विनय और अविनय की परिभाषा स्पष्ट हो जाती है। व्यक्ति का वाह्य व्यवहार एवं आचरण ही उसके अन्तरंग भावों का प्रतिविम्ब होता है। इसलिए प्रस्तुत अध्ययन में वर्णित विनीत शिष्य

---

१. प्रथममध्ययनं विनयसुत्तमिति, विनयो यस्मिन् सूत्रे वर्ण्यते तदिदं विनयसूत्रम्। —उ. चू., प. ८

२. (क) उत्तरा. निर्युक्ति गा. २८—तत्थज्झयणं पढमं विणयसुयं। (ख) विनयश्रुतमिति द्विपदं नाम। बृ. वृ., प. १५
(ग) 'छत्तीसं उत्तरज्झयणा प. तं—विणयसुयं········।' —समवायांग, समवाय ३६

३. एवं धम्मस्स विणओ मूलं, परमो से मोक्खो।
जेण किंत्ति सुयं सिग्घं निस्सेसं चाभिगच्छई॥ —दशवै. अ. ९, उ. २, गा. २

४. आयारजीदकप्पगुणदीवणा, अत्तसोधी णिज्जंजा।
अज्जव-मद्दव-लाहव-भत्ती-पल्हादकरणं च॥
कित्ती मित्ती माणस्स भंजणं, गुरुजणे य वहुमाणं।
तित्थयराणं आणा, गुणाणुमोदो य विणयगुणा॥ —मूलाचार ५।२१३-२१४

के विविध व्यवहार एवं आचरण पर से विनय के निम्नोक्त अर्थ फलित होते हैं—(१) गुरु-आज्ञा-पालन, (२) गुरु की सेवा-शुश्रूषा, (३) इंगिताकारसंप्रज्ञता, (४) सुशील (सदाचार)-सम्पन्नता, (५) अनुशासन-शीलता, (६) मानसिक-वाचिक-कायिक नम्रता, (७) आत्मदमन, (८) अनाशातना, (९) गुरु के प्रति अप्रतिकूलता, (१०) गुरुजनों की कठोर शिक्षा का सहर्ष स्वीकार, (११) यथाकालचर्या, आहारग्रहण-सेवनविवेक, भाषाविवेक आदि साधुसमाचारी का पालन।[१]

※ विनय का अर्थ यहाँ दासता, दीनता या गुरु की गुलामी नहीं है, न स्वार्थसिद्धि के लिए किया गया कोई दुष्ट उपाय है और न कोई औपचारिकता है। सामाजिक व्यवस्थामात्र भी नहीं है। अपितु गुणी जनों और गुरुजनों के महान् मोक्षसाधक पवित्र गुणों के प्रति सहज प्रमोदभाव है, जो गुरु और शिष्य के साथ तादात्म्य एवं आत्मीयता का काम करता है। उसी के माध्यम से गुरु प्रसन्नतापूर्वक अपनी श्रुतसम्पदा एवं आचारसम्पदा से शिष्य को लाभान्वित करते हैं।[२]

※ बृहद्वृत्ति के अनुसार विनय के मुख्य दो रूप फलित होते हैं—लौकिकविनय एवं लोकोत्तर-विनय। लौकिकविनय में अर्थविनय, कामविनय, भयविनय और लोकोपचारविनय आते हैं और लोकोत्तरविनय, जो यहाँ विवक्षित है, और जिसे यहाँ मोक्षविनय कहा गया है, उसके ५ भेद किये गए हैं—दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय, तपोविनय और उपचारविनय। औपपातिकसूत्र में इसी के ७ प्रकार बताए हैं—(१) ज्ञानविनय, (२) दर्शनविनय, (३) चारित्रविनय, (४) मनविनय, (५) वचनविनय, (६) कायविनय और (७) लोकोपचारविनय।

※ विनय का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया गया है—अष्टविध कर्मों का जिससे विनयन—उन्मूलन किया जाए। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन में मोक्षविनय ही अभीष्ट है।[३]

※ प्रस्तुत अध्ययन की दूसरी, अठारहवीं से २२ वीं तक और तीसवीं गाथा में लोकोपचारविनय की दृष्टि से विनीत के व्यवहार का वर्णन किया है। उसके ७ विभाग हैं—(१) अभ्यास-वृत्तिता, (२) परछन्दानुवृत्तिता, (३) कार्यहेतु-अनुलोमता, (४) कृतप्रतिक्रिया, (५) आर्त्त-गवेषणा, (६) देशकालज्ञता और (६) सर्वार्थ-अप्रतिलोमता।[४] इसी प्रकार ९, १५, १६, ३८, ३९, ४० वीं गाथा मनोविनय के सन्दर्भ में, १०, ११, १२, १४, २४, २५, ३६, ४१ वीं गाथा वचनविनय के सन्दर्भ में, १७ से २२ एवं ३०, ४०, ४३, ४४ वीं गाथा कायविनय के सन्दर्भ में, ८ वीं एवं २३ वीं गाथा ज्ञानविनय के सन्दर्भ में, १७ से २२ तक दर्शनविनय

---

१. उत्तराध्ययन अ. १, गाथा २, ७, ८ से १४ तक, १५-१६, १७ से २२ तक, २४-२५, २७ से ३० तक, ३१ से ४४ तक।

२. उत्तरा. गा. ४६,

३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १६ (ख) औपपातिकसूत्र २०,
(ग) **विनयति—नाशयति सकलक्लेशकारकमष्टप्रकारं कर्म स विनयः।** —आवश्यक म. अ. १

(अनाशातना और शुश्रूषविनय) के सन्दर्भ में तथा शेष गाथाएँ चारित्रविनय (समाचारी-पालन, भिक्षाग्रहण-आहार-सेवनविवेक, अनुशासनविनय आदि) के सन्दर्भ में प्रतिपादित हैं ।[1]

※ प्रस्तुत अध्ययन में विनयी और अविनयी के स्वभाव, व्यवहार और आचरण का सांगोपांग वर्णन है ।

※ अध्ययन के उपसंहार में ४५ से ४८ वीं गाथा तक विनीत शिष्य की उपलब्धियों का विनय की फलश्रुति के रूप में वर्णन किया गया है । कुल मिला कर मोक्षविनय का सांगोपांग वर्णन किया गया है ।[2]

१. 'से किं तं लोगोवयारविणए ? सत्तविहेप. तं. ....।' —औपपातिक. ३०

२. उत्तराध्ययन मूल अ. १

पढमं अज्झयणं : विणयसुत्तं

प्रथम अध्ययन : विनयसूत्रम्

विनय-निरूपण-प्रतिज्ञा—

१. संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो ।
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ॥

[१] जो सांसारिक संयोगों (-आसक्तिमूलक वन्धनों) से विप्रमुक्त (-विशेषरूप से—सर्वथा दूर) है, अनगार (-अगाररहित—गृहत्यागी) है तथा भिक्षु (-निर्दोष भिक्षा पर जीवननिर्वाह करने वाला) है; उसके विनय (-अनुशासन अथवा आचार) का मैं क्रमशः प्रतिपादन करूंगा। (तुम) मुझ से (ध्यानपूर्वक) सुनो।

विवेचन—संयोग दो प्रकार के हैं। वाह्यसंयोग—परिवार, गृह, धन, धान्य आदि। आभ्यन्तर संयोग—विषयवासना, कषाय, काम, मोह, ममत्व तथा वौद्धिक पूर्वग्रह आदि।[1]

अणगारस्स भिक्खुणो—में अणगार+स्स-भिक्खुणो (अनगार-अस्व-भिक्षोः), यों पदच्छेद करने पर अर्थ होता है—जो गृहत्यागी है, जिसके पास अपना कुछ भी नहीं है, सव कुछ याचित है; अर्थात्—जो अकिंचन है और जो भिक्षाप्राप्ति के लिए जाति आदि अपनेपन का परिचय देकर दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं करता, ऐसा निर्दोष अनात्मीय-भिक्षाजीवी।[2]

विनय के तीन अर्थ—नम्रता,[3] आचार[4] और अनुशासन।[5] प्रस्तुत में विनय का अर्थ

---

१. 'संयोगात् सम्बन्धात् वाह्याभ्यन्तर-भेदभिन्नात्। तत्र मात्रादिविषयाद् वाह्यात्, कषायाविविषयाच्चान्तरात्।'
—सुखवोधावृत्ति, पत्र १

२. (क) अनगारस्य परकृतगृहनिवासित्वात् तत्रापि ममत्वमुक्तत्वात् संगरहितस्य। —सुखवोधावृत्ति, पत्र १
(ख) अथवा.......अस्वेषु भिक्षुरस्वभिक्षुः—जात्याद्यनाजीवनादनात्मीकृतत्वेन अनात्मीयानेव गृहिणोऽन्नादि भिक्षते इति कृत्वा.......अनगारश्चासावस्वभिक्षुश्च अनगारास्वभिक्षुः।
—वृहद्वृत्ति (शान्त्याचार्यकृत) पत्र १९

३. औपपातिकसूत्र २० तथा स्थानांग, स्थान ७ में वर्णित ७ प्रकार के विनय नम्रता के अर्थ में हैं।

४. ज्ञातासूत्र, १।५ के अनुसार आगारविनय (श्रावकाचार) और अनगारविनय (श्रमणाचार), ये दो भेद आचार अर्थ के प्रतिपादक हैं।

५. विनय अर्थात् नियम (Discipline), अथवा भिक्षु-भिक्षुणियों के आचारसम्वन्धी नियम।
—देखें विनयपिटक, भूमिका—राहुलसांकृत्यायन

श्रमणाचार तथा अनुशासन ही मुख्यतया समझना चाहिए; जो कि जैनशास्त्रों और बौद्धग्रन्थों में भी पाया जाता है।[1]

विनीत और अविनीत के लक्षण—

२. आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने, से 'विणीए' त्ति वुच्चई ॥

[२] जो गुरुजनों की आज्ञा (विध्यात्मक आदेश) और निर्देश (संकेत या सूचना) के अनुसार (कार्य) करता है, गुरुजनों के निकट (सान्निध्य में) रह कर (मन और तन से) शुश्रूषा करता है तथा उनके इंगित और आकार को सम्यक् प्रकार से जानता है, वह 'विनीत' कहा जाता है।

३. आणाऽनिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए ।
पडिणीए असंबुद्धे, 'अविणीए' त्ति वुच्चई ॥

[३] जो गुरुजनों की आज्ञा एवं निर्देश के अनुसार (कार्य) नहीं करता, गुरुजनों के निकट रह कर शुश्रूषा नहीं करता, उनसे प्रतिकूल व्यवहार करता है तथा जो असम्बुद्ध (—उनके इंगित और आकार के बोध अथवा तत्त्वबोध से रहित) है; वह 'अविनीत' कहा जाता है।

विवेचन—आज्ञा और निर्देश—प्राचीन आचार्यों ने इन दोनों शब्दों को एकार्थक माना है।[2] अथवा आज्ञा का अर्थ—आगमसम्मत उपदेश या मर्यादाविधि एवं निर्देश का अर्थ—उत्सर्ग और अपवाद रूप से उसका प्रतिपादन किया गया है।[3] अथवा आज्ञा का अर्थ गुरुवचन और निर्देश का अर्थ शिष्य द्वारा स्वीकृतिकथन है। विनीत का प्रथम लक्षण आज्ञा और निर्देश का पालन करना है।[4]

उपपातकारक—बृहद्वृत्ति के अनुसार—सदा गुरुजनों का सान्निध्य (सामीप्य) रखने वाला अर्थात्—जो शरीर से उनके निकट रहे, मन से उनका सदा ध्यान रखे।[5] चूर्णि के अनुसार—उनकी शुश्रूषा करने वाला—जो वचन सुनते रहने की इच्छा से तथा सेवाभावना से युक्त हो। इस प्रकार उपपातकारक विनीत का दूसरा लक्षण है।[6]

इंगियागारसंपन्ने—इंगित का अर्थ है—शरीर की सूक्ष्मचेष्टा जैसे—किसी कार्य के विधि या निषेध के लिए सिर हिलाना, आँख से इशारा करना आदि, तथा आकार—शरीर की स्थूल चेष्टा,

---

१. प्रस्तुत अध्ययन में अनुशासन, आज्ञापालन, संघीय नियम-मर्यादा आदि अर्थों में भी विनय शब्द प्रयुक्त हुआ है।

२. देखें उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. २६

३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. २६ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४४

४. यद्वाज्ञा—सौम्य ! इदं च कुरु, इदं मा कार्षीरिति गुरुवचनमेव, तस्या निर्देशः—इदमित्थमेव करोमि, इति निश्चयाभिधानं, तत्करः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४४

५. 'उप-समीपे पतनं—स्थानमुपपातः, दृग्वचनविषयदेशावस्थानं, तत्कारकः।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४४

६. उपपतनमुपपातः शुश्रूषाकरणमित्यर्थः। —उत्तरा. चूर्णि, पृ. २६

जैसे—उठने के लिए आसन की पकड़ ढीली करना, घड़ी की ओर देखना या जम्भाई लेना आदि।[1] इन दोनों को सम्यक् प्रकार से जानने वाला—सम्प्रज्ञ। इसका 'सम्पन्न' रूपान्तर करके युक्त अर्थ भी किया गया है, जो यहाँ अधिक संगत नहीं है।[2] यह विनीत का तीसरा लक्षण है।

अविनीत दुःशील का निष्कासन एवं स्वभाव—

४. जहा सुणी पूइ-कण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सील-पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई॥

[४] जिस प्रकार सड़े कान की कुतिया [घृणापूर्वक] सभी स्थानों से निकाल दी जाती है, उसी प्रकार गुरु के प्रतिकूल आचरण करने वाला दुःशील वाचाल शिष्य भी सर्व जगह से [अपमानित कर के] निकाल दिया जाता है।

५. कण-कुण्डगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए॥

[५] जिस प्रकार सूअर चावलों की भूसी को छोड़ कर विष्ठा खाता है, उसी प्रकार अज्ञानी (मृग=पशुबुद्धि) शिष्य शील (सदाचार) को छोड़कर दुःशील (दुराचार) में रमण करता है।

विवेचन—दुस्सील—जिसका शील-स्वभाव, समाधि या आचार रागद्वेषादि दोषों से विकृत है, वह दुःशील कहलाता है।[3]

मुहरी—शब्द के तीन रूप—मुखरी, मुखारि और मुधारि। मुखरी—वाचाल, मुखारि—जिसका मुख [जीभ] दूसरे को अरि बना लेता है, मुधारि—व्यर्थ ही बहुत-सा असम्बद्ध बोलने वाला।[4]

सव्वसो निक्कसिज्जइ—दो अर्थ—सर्वतः एवं सर्वथा। सर्वतः अर्थात्-कुल, गण, संघ, समुदाय, आदि सब स्थानों से, अथवा सर्वथा—बिलकुल निकाल दिया जाता है।[5]

कणकुंडगं—दो अर्थ—चावलों की भूसी अथवा चावलमिश्रित भूसी, पुष्टिकारक एवं सूअर का प्रिय भोजन।

मिए—का शब्दशः अर्थ है—मृग। बृहद्वृत्तिकार का आशय है—अविनीत शिष्य मृग की तरह अज्ञ (पशुबुद्धि) होता है। जैसे—संगीत के वशीभूत होकर मृग छुरा हाथ में लिये वधिक को—अपने मृत्युरूप अपाय को नहीं देख पाता, वैसे ही दुःशील अविनीत भी दुराचार के कारण अपने भव-भ्रमणरूप अपाय को नहीं देख पाता।[6]

---

१. **इंगितं**—निपुणमतिगम्यं प्रवृत्ति-निवृत्तिसूचकं ईषद्भ्रूशिरःकम्पादिः,
आकारः—स्थूलधीसंवेद्यः प्रस्थानादि-भावाभिव्यंजको दिगवलोकनादिः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४४

२. (क) सम्प्रज्ञः—सम्यक् प्रकर्षेण जानाति—इंगिताकारसम्प्रज्ञः। —बृहद्वृत्ति पत्र ४४
(ख) सम्पन्नः युक्तः, सम्पन्नवान् सम्पन्नः। —सुखबोधा. पत्र १, उत्त. चूर्णि पृ. २७

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५

४. वही, पत्र ४५

५. (क) वही, पत्र ४५ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. २७

६. वही, पत्र ४५

विनय का उपदेश और परिणाम—

६. सुणियाऽभावं साणस्स, सूयरस्स नरस्स य।
विणए ठवेज्ज अप्पाणं, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥

[६] अपना आत्महित चाहने वाला साधु, (सड़े कान वाली) कुतिया और(विष्ठाभोजी) सूअर के समान, दुःशील से होने वाले अभाव (—अशोभन=हीनस्थिति) को सुन (समझ) कर अपने आपको विनय (धर्म) में स्थापित करे।

७. तम्हा विणयमेसेज्जा, सीलं पडिलभे जओ।
वुद्ध-पुत्त नियागट्ठी, न निक्कसिज्जइ कण्हुई ॥

[७] इसलिए विनय का आचरण करना चाहिए, जिससे कि शील की प्राप्ति हो। जो बुद्धपुत्र (प्रबुद्ध गुरु का पुत्रसम प्रिय), मोक्षार्थी शिष्य है, वह कहीं से (गच्छ, गण आदि से) नहीं निकाला जाता।

विवेचन—बुद्धपुत्त दो रूपान्तर—बुद्धपुत्र—आचार्यादि का पुत्रवत् प्रीतिपात्र शिष्य, बुद्धवुत्त—(बुद्धव्युक्त)—अवगततत्त्व तीर्थंकरादि द्वारा उक्त ज्ञानादि या द्वादशांगरूप आगम।[1] **नियागट्ठी** दो रूप—**नियागार्थी**—मोक्षार्थी और **निजकार्थी**—आत्मार्थी (निज आत्मा के सिवाय शेष सब पर हैं, इस दृष्टि से आत्मरमणार्थी), अथवा ज्ञानादित्रय का अर्थी—अभिलाषी, अथवा आगमज्ञान का अभिलाषी।[2]

अनुशासनरूप विनय की दशसूत्री—

८. निसन्ते सियाऽमुहरी, बुद्धाणं अन्तिए सया।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ॥

[८] (शिष्य) वृद्ध (-गुरु) जनों के निकट सदा प्रशान्त रहे, वाचाल न बने, (उनसे) अर्थयुक्त (पदों को) सीखे और निरर्थक बातों को छोड़ दे।

९. अणुसासिओ न कुप्पेज्जा, खंति सेवेज्ज पण्डिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए ॥

[९] (गुरु के द्वारा) अनुशासित होने पर पण्डित (—बुद्धिमान् शिष्य) क्रोध न करे, क्षमा का सेवन करे [—शान्त रहे], क्षुद्र [—बाल या शीलहीन] व्यक्तियों के साथ संसर्ग, हास्य और क्रीड़ा से दूर रहे।

१. (क) सुखबोधा, पत्र ३; बृहद्वृत्ति, पत्र ४६
(ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. २८, बृहद्वृत्ति, पत्र ४६

२. (क) सुखबोधा, पत्र ३; बृहद्वृत्ति, पत्र ४६
(ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ३५, २८; बृहद्वृत्ति, पत्र ४६

१०. मा य चण्डालियं कासी, बहुयं मा य आलवे ।
कालेण य अहिज्जित्ता, तओ झाएज्ज एगगो ॥

[१०] शिष्य (क्रोधावेश में आ कर कोई) चाण्डालिक कर्म (अपकर्म) न करे और न ही बहुत बोले (—बकवास करे) । अध्ययन (स्वाध्याय-) काल में अध्ययन करके तत्पश्चात् एकाकी ध्यान करे ।

११. आहच्च चण्डालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइ वि ।
कडं 'कडे' त्ति भासेज्जा, अकडं 'नो कडे' त्ति य ॥

[११] (आवेशवश) कोई चाण्डालिक कर्म (कुकृत्य) कर भी ले तो उसे कभी भी न छिपाए । (यदि कोई कुकृत्य) किया हो तो 'किया' और न किया हो तो 'नहीं किया' कहे ।

विवेचन—अनुशासन के दश सूत्र—(१) गुरुजनों के समीप सदा प्रशान्त रहे, (२) वाचाल न बने, (३) निरर्थक बातें छोड़ कर सार्थक पद सीखे, (४) अनुशासित होने पर क्रोध न करे, (५) क्षमा धारण करे, (६) क्षुद्रजनों के साथ सम्पर्क, हास्य एवं क्रीड़ा न करे, (७) चाण्डालिक कर्म न करे, (८) अध्ययनकाल में अध्ययन करके फिर ध्यान करे, (९) अधिक न बोले, (१०) कुकृत्य किया हो तो छिपाए नहीं, जैसा हो, वैसा गुरु से कहे ।[1]

निसंते—निशान्त के तीन अर्थ—(१-२) अत्यन्त शान्त रहे अर्थात्—अन्तस् में क्रोध न हो, बाह्य आकृति प्रशान्त हो, (३) जिसकी चेष्टाएँ अत्यन्त शान्त हों ।[2]

अट्ठजुत्ताणि—अर्थयुक्त के तीन अर्थ—(१) हेयोपादेयाभिधायक अर्थयुक्त—आगम (उपदेशात्मक सूत्र) वचन, (२) मुमुक्षुओं के लिए अर्थ—मोक्ष से संगत उपाय और (३) साधुजनोचित अर्थयुक्त ।[3]

निरट्ठाणि—निरर्थक के तीन अर्थ—(१) डित्थ, डवित्थ आदि अर्थशून्य, निरुक्तशून्य पद, (२) कामशास्त्र, काममनोविज्ञान या स्त्रीविकथादि अनर्थकर वचन, (३) लोकोत्तर अर्थ-प्रयोजन या उद्देश्य से रहित शास्त्र ।[4]

कीडं—क्रीडा के तीन अर्थ—(१) खेलकूद, (२) मनोविनोद या किलोल आदि, (३) अंत्याक्षरी, प्रहेलिका हस्तलाघव आदि से जनित कौतुक ।[5]

चंडालियं—के तीन अर्थ—(१) चण्ड(क्रोध भयादि) के वशीभूत होकर अलीक—असत्यभाषण (२) चाण्डाल जाति में होने वाले क्रूरकर्म, (३) 'मा अचंडालियं' पद मान कर—हे अचण्ड—सौम्य ! अलीक—(गुरुवचन या आगमवचन का विपरीत अर्थ-कथन करके) असत्याचरण मत करो ।[6]

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, मूल अ. १, गा. ८ से ११ तक
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४६-४७ (ख) सुखबोधा, पत्र ३ (ग) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. २८
३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४६-४७ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. २८
४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४७ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. २९ (ग) सुखबोधा, पत्र ३
५-६. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४७ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. २९

अत्यधिक भाषण-निषेध के तीन मुख्य कारण—(१) वोलने का विवेक न रहने से असत्य वोला जाएगा या विकथा करने लगेगा, (२) अधिक वोलने से ध्यान, स्वाध्याय, अध्ययन आदि में विक्षेप होगा, (३) वातक्षोभ या वात कुपित होने की शंका है।[1]

समय पर अध्ययन और एकाकी ध्यान—साधु के लिए स्वाध्याय, अध्ययन, भोजन, प्रतिक्रमण आदि सभी प्रवृत्तियाँ यथाकाल और मण्डली में करने का विधान प्रवचनसारोद्धार में सूचित किया है, किन्तु ध्यान एकाकी (द्रव्य से विविक्त शय्यासनादियुक्त तथा भाव से रागद्वेषादिरहित होकर) किया जाता है; जैसा कि उत्तराध्ययनचूर्णि में लौकिक प्रतिपत्ति का संकेत है—एक का ध्यान, दो का अध्ययन और तीन आदि का ग्रामान्तरगमन।[2]

अविनीत और विनीत शिष्य का स्वभाव—

१२. मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो।
कसं व दट्ठुमाइण्णे, पावगं परिवज्जए॥

[१२.] जैसे गलिताश्व (अडियल-अविनीत घोड़ा) वार-वार चावुक की अपेक्षा रखता है, वैसे (विनीत शिष्य) (गुरु के आदेश) वचन की अपेक्षा न करे किन्तु जैसे आकीर्ण (उत्तम जाति का शिक्षित) अश्व चावुक को देखते ही उन्मार्ग को छोड़ देता है, वैसे ही गुरु के आकारादि को देख कर ही पापकर्म (अशुभ आचरण) को छोड़ दे।

१३. अणासवा थूलवया कुसीला, मिउंपि चण्डं पकरेंति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया, पसायए ते हु दुरासयं पि॥

[१३.] गुरु के वचनों को नहीं सुनने वाले, ऊटपटांग वोलने वाले (स्थूलभाषी) और कुशील (दुष्ट) शिष्य मृदु स्वभाव वाले गुरु को भी चण्ड (क्रोधी) वना देते हैं, जव कि गुरु के मनोऽनुकूल चलने वाले एवं दक्षता से युक्त (निपुणता से कार्य सम्पन्न करने वाले) शिष्य, दुराशय (शीघ्र ही कुपित होने वाले दुराश्रय) गुरु को भी झटपट प्रसन्न कर लेते हैं।

विवेचन—गलियस्स—गलिताश्व का अर्थ है—अविनीत घोड़ा। उत्तराध्ययननिर्युक्ति में गंडी (उछलकूद मचाने वाला), गली (पेट में कुछ निगलने पर ही चलने वाला) और मराली (गाड़ी आदि में जोतने पर मृतक-सा होकर वैठ जाने वाला—मरियल अथवा लात मारने वाला), ये तीनों शब्द दुष्ट घोड़े और वैल के अर्थ में पर्यायवाची हैं।[3]

१. वृहद्वृत्ति, पत्र ४७

२. उक्तं हि—'एकस्य ध्यानं, द्वयोरध्ययनं, त्रिप्रभृति ग्रामः' एवं लौकिकाः संप्रतिपन्नाः।'

—उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. २९

३. (क) वृहद् वृत्ति, पत्र ४८

(ख) 'गंडी गली मराली, अस्से गोणे य हुंति एगट्ठा।'

—उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा. ६४

आइण्णे—आकीर्ण का अर्थ है—विनीत या प्रशिक्षित अश्व। आकीर्ण, विनीत और भद्रक ये तीन शब्द विनीत घोड़े और बैल के अर्थ में समानार्थक हैं।[१]

दुरासयं—दो अर्थ—(१) दुराशय (दुष्ट आशय वाले) और (२) दुराश्रय अत्यन्त क्रोधी होने के कारण दुःख से बड़ी मुश्किल से) आश्रय पाने वाले (ठिकाने आने वाले—शान्त होने वाले) गुरु को।[२]

अतिक्रोधी चण्डरुद्राचार्य का उदाहरण—उज्जयिनी नगरी के बाहर उद्यान में एक बार चण्डरुद्राचार्य सशिष्य पधारे। एक नवविवाहित युवक अपने मित्रों के साथ उनके पास आया और कहने लगा—'भगवन्! मुझे संसार से तारिये!' उसके साथी भी कहने लगे—'यह संसार से विरक्त नहीं हुआ है, यह आपको चिढ़ा रहा है।'

इस पर चण्डरुद्राचार्य क्रोधावेश में आ कर कहने लगे—'ले आ, तुझे दीक्षा देता हूँ।' यों कह कर उसका मस्तक पकड़ कर झटपट लोच कर दिया।

आचार्य द्वारा उक्त युवक को मुण्डित करते देख, उसके साथी खिसक गए। नवदीक्षित शिष्य ने कहा—'गुरुदेव! अब यहाँ रहना ठीक नहीं है, अन्यत्र विहार कर दीजिए, अन्यथा यहाँ के परिचित लोग आ कर हमें तंग करेंगे।' अतः आचार्य ने मार्ग का प्रतिलेखन किया और शिष्य के अनुरोध पर उसके कंधे पर बैठ कर चल पड़े।

रास्ते में अंधकार के कारण रास्ता साफ न दिखने से शिष्य के पैर ऊपर नीचे पड़ने लगे। इस पर चण्डरुद्र आचार्य कुपित हुए और शिष्य को भला-बुरा कहने लगे। पर शिष्य ने समभावपूर्वक गुरु के कठोर वचन सहे। सहसा एक खड्डे में पैर पड़ने के कारण गुरु ने मुण्डित सिर पर डंडा फटकारा, सिर फूट गया, रक्त की धारा बह चली, फिर भी शिष्य ने शान्ति से सहन किया, कोमल वचनों से गुरु को शान्त करने का प्रयत्न किया। इस उत्कृष्ट क्षमा के फलस्वरूप उच्चतमभावधारा के साथ शिष्य को केवलज्ञान हो गया। केवलज्ञान के प्रकाश में अब उसके पैर सीधे पड़ने लगे। फिर भी गुरु ने व्यंग में कहा—'दुष्ट! डंडा पड़ते ही सीधा हो गया। अब तुझे रास्ता कैसे दीखने लगा?'

उसने कहा—'गुरुदेव! आपकी कृपा से प्रकाश हो गया।' इससे चण्डरुद्राचार्य के परिणामों की धारा बदली। वे केवलज्ञानी शिष्य की अशतना एवं इतने कठोर प्रताडन के लिए पश्चात्ताप-पूर्वक क्षमायाचना करने लगे। शिष्य पर प्रसन्न हो कर उसकी नम्रता, क्षमा, समता और सहिष्णुता की प्रशंसा करने लगे।

इसी प्रकार जो शिष्य विनीत हो कर गुरु के वचनों को सहन करता है, वह अतिक्रोधी गुरु को भी चण्डरुद्र की तरह प्रसन्न कर लेता है।[३]

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४८
 (ख) **'आइन्ने य विणीए भद्दए वावि एगट्ठा।'** —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा. ६४
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९

विनीत का वाणीविवेक (वचनविनय)—

१४. नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं ॥

[१४.] (विनीत शिष्य) (गुरु के) विना पूछे कुछ भी न बोले; पूछने पर असत्य न बोले। (कदाचित्) क्रोध (आ भी जाए तो उस) को निष्फल (असत्य—अभावयुक्त) कर दे। (गुरु के) प्रिय और अप्रिय (वचन या शिक्षण) दोनों को धारण करे, (उस पर राग और द्वेष न करे)।

विवेचन—कोहं असच्चं कुव्वेज्जा—गुरु के द्वारा किसी अपराध या दोष पर अत्यन्त फटकारे जाने पर भी क्रोध न करे। कदाचित् क्रोध उत्पन्न भी हो जाए तो उसे कुविकल्पों से बचा कर विफल कर दे। यह इस पंक्ति का आशय है।

कुलपुत्र का दृष्टान्त—एक कुलपुत्र के भाई को शत्रु ने मार डाला। उसकी माता ने जोश में आकर कहा—पुत्र! भ्रातृघातक को मार कर बदला लो। वह उसे खोजने गया। बहुत समय भटकने के बाद अपने भाई के हत्यारे को जीवित पकड़ लाया और माता के समक्ष उपस्थित किया। शत्रु उसकी माता की शरण में आ गया। कुलपुत्र ने पूछा—'हे भ्रातृघातक! तुझे कैसे मारूं?' शत्रु ने गिड़गिड़ाकर कहा—'जैसे शरणागत को मारते हैं।' इस पर उसकी मां ने कहा—'पुत्र! शरणागत को नहीं मारा जाता।' कुलपुत्र बोला—'फिर मैं अपने क्रोध को कैसे सफल करूं?' माता ने कहा—'बेटा! क्रोध सर्वत्र सफल नहीं किया जाता। इस क्रोध को विफल करने में ही तुम्हारी विशेषता है।' उसने शत्रु को छोड़ दिया।[1]

आत्मदमन और परदमन का अन्तर एवं फल—

१५. अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥

[१५.] अपनी आत्मा का ही दमन करना चाहिए; क्योंकि आत्मा का दमन ही कठिन है। दमित आत्मा ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है।

१६. वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहि दम्मन्तो, बन्धणेहि वहेहि य ॥

[१६.] (शिष्य आत्मविनय के सन्दर्भ में विचार करे—) अच्छा तो यही है कि मैं संयम और तप (बाह्य-आभ्यन्तर) द्वारा अपना आत्मदमन करूं; बन्धनों और वध (ताड़न-तर्जन-प्रहार आदि) के द्वारा मैं दूसरों से दमित किया जाऊँ, यह अच्छा नहीं है।

विवेचन—अप्पा चेव दमेयव्वो—आत्मा शब्द यहाँ इन्द्रियों और मन के अर्थ में है। अर्थात्—मनोज्ञ-अमनोज्ञ (इष्ट-अनिष्ट) विषयों में राग और द्वेष के वश दुष्ट गज की तरह उन्मार्गगामी इन्द्रियों और मन का स्वयं विवेकरूपी अंकुश द्वारा उपशमन (दमन) करे।

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४९
(ख) वही, पत्र ४९

दुद्दमो का अर्थ—दुर्जय है, क्योंकि आत्मा (इन्द्रिय-मन) को जीत लेने पर दूसरे सब (वाह्य दमनीयों) पर विजय पाई जा सकती है।

दान्त आत्मा उभयत्र सुखी—दान्त आत्मा महर्षिगण इस लोक में भी सर्वत्र पूजे जाते हैं, सुखी रहते हैं और परलोक में भी सुगति या मोक्षगति पा कर सुखी होते हैं।

आत्मदमन ही श्रेष्ठ—आत्मदमन, संयम और तप के द्वारा स्वेच्छा से इन्द्रिय और मन को रागद्वेष से बचाना है, जो अपने अधीन है, किन्तु परदमन में परतंत्रता है, प्रतिक्रिया है, रागद्वेपादि के कारण मानसिक संक्लेश भी है।[1]

सेचनक हाथी का दृष्टान्त--यूथपति द्वारा अपने बच्चे को मारे जाने के भय से एक हथिनी ने तापसों के आश्रम में गजशिशु का प्रसव किया। वह ऋषिकुमारों के साथ-साथ आश्रम के बगीचे को सींचता था, इसलिए उसका सेचनक नाम रख दिया। जवान होने पर यूथपति को मार कर वह स्वयं यूथपति बना। उसने आवेश में आ कर आश्रम को भी नष्टभ्रष्ट कर डाला। श्रेणिक राजा के पास तापसों की फरियाद पहुँची तो वह सेचनक हाथी को पकड़ने के लिए निकला। एक देवता ने देखा कि श्रेणिक इसे अवश्य पकड़ेगा और बन्धन में डालेगा। अतः देवता ने उस हाथी के कान में कहा—'पुत्र! श्रेणिक तुझे बन्धन में जकड़े और मारपीट कर ठीक करे, इसकी अपेक्षा तू स्वयं अपने आपका दमन कर ले।' यह सुन कर वह हाथी रात को ही श्रेणिक राजा की हस्तिशाला में पहुँच गया और खंभे से बन्ध गया। इसी प्रकार मोक्षार्थी विनीत साधक को तपसंयम द्वारा स्वयं विषय-कषायों का शमन (दमन) करना श्रेयस्कर है, विशिष्ट सकामनिर्जरा का कारण है। दूसरों के द्वारा दमन से अकामनिर्जरा ही होगी।[2]

अनाशातना-विनय के मूलमंत्र

१७. पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइ वि॥

[१७.] प्रकट में (लोगों के समक्ष) अथवा एकान्त में वाणी से अथवा कर्म से कदापि प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ) आचार्यों के प्रतिकूल आचरण नहीं करना चाहिए।

१८. न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं, सयणे नो पडिस्सुणे॥

[१८.] कृत्यों (वन्दनीय आचार्यादि) के बराबर (सट कर) न बैठे, आगे और पीछे भी (सट कर या विमुख हो कर) न बैठे, उनके (अतिनिकट) जांघ से जांघ सटा कर (शरीर से स्पर्श हो, ऐसे) भी न बैठे। बिछौने (शयन) पर (बैठा-बैठा) ही (उनके कथित आदेश को) श्रवण, स्वीकार न करे (किन्तु आसन छोड़ कर पास आकर स्वीकार करे)।

१९. नेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिण्डं व संजए।
पाए पसारिए वावि, न चिट्ठे गुरुणन्तिए॥

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३३ २. वही, पत्र ५०

[१९.] संयमी मुनि गुरुजनों के समीप पालथी लगा कर न बैठे, पक्षपिण्ड करके अथवा दोनों पैरों (टांगों) को पसार कर न बैठे।

२०. आयरिएहिं वाहिन्तो, तुसिणीओ न कयाइ वि।
पसाय-पेही नियागट्ठी, उवचिट्ठे गुरुं सया॥

[२०.] गुरु के प्रसाद (-कृपाभाव) को चाहने वाला मोक्षार्थी शिष्य, आचार्यों के द्वारा बुलाए जाने पर कदापि (किसी भी स्थिति में) मौन न रहे, किन्तु निरन्तर गुरु के समीप (सेवा में) उपस्थित रहे।

२१. आलवन्ते लवन्ते वा, न निसीएज्ज कयाइ वि।
चइऊणमासणं धीरो, जओ जत्तं पडिस्सुणे॥

[२१.] गुरु के द्वारा एक वार अथवा अनेक वार बुलाए जाने पर धीर (बुद्धिमान्) शिष्य कदापि बैठा न रहे, किन्तु आसन छोड़कर (उनके आदेश को) यत्नपूर्वक (सावधानी से) स्वीकार करे।

२२. आसण-गओ न पुच्छेज्जा, नेव सेज्जा-गओ कया।
आगम्मुक्कुडुओ सन्तो, पुच्छेज्जा पंजलीउडो॥

[२२.] आसन अथवा शय्या पर बैठा-बैठा कोई बात गुरु से न पूछे, किन्तु उनके समीप आ कर, उकड़ू आसन से बैठ कर और हाथ जोड़ कर (जो भी पूछना हो,) पूछे।

विवेचन—आशातना के कारण—(१) आचार्यों के प्रतिकूल आचरण मन-वचन-काय से करने से, (२) उनके समीप सट कर बैठने से, (३) उनके आगे या पीछे सट कर या पीठ देकर बैठने से (४) जांघ से जांघ सटा कर बैठने से, ५) शय्या पर बैठे-बैठे ही उनके आदेश को स्वीकार करने से, (५) पालथी लगा कर बैठने से, (६) दोनों हाथों से शरीर को बांध कर बैठने से, (७) दोनों टांगें पसार कर बैठने से, (८) उनके द्वारा बुलाने पर चुप रहने पर, (९) एक या अनेक वार बुलाये जाने पर भी बैठे रहने से, (१०) अपना आसन छोड़कर उनके आदेश को यत्नपूर्वक स्वीकार न करने से, (११) आसन पर बैठे-बैठे ही कोई बात गुरु से पूछने से और प्रश्न पूछते समय गुरु के निकट न आकर उकड़ू आसन से न बैठ कर तथा हाथ न जोड़ने से। ये और ऐसी ही कई बातें गुरुजनों की आशातना की कारण हैं। अनाशातनाविनय के लिए इन्हें छोड़ना अनिवार्य है।[1]

वाया अदुव कम्मुणा—वाणी से प्रतिकूल व्यवहार—तुम क्या जानते हो? तुझे कुछ आता-जाता तो है नहीं! **कर्म से प्रतिकूल आचरण**—गुरु के पैर लगाना, ठोकर मारना, उनके उपकरणों को फेंक देना या पैर लगाना आदि।[2]

आवि वा जइ वा रहस्से—आवि—जनसमक्ष प्रकट में, **रहस्से**—विविक्त उपाश्रयादि में, एकान्त में या अकेले में।[3]

१. उत्तराध्ययनसूत्र, मूल अ. १, गा. १७ से २२ तक
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५४
३. वही, पत्र ५४

किच्चाण—कृत्यानां—कृति—वन्दना के योग्य, आचार्यादि के ।[1]

पल्हत्थियं—पालथी-घुटनों और जांघों पर वस्त्र लपेटने की क्रिया ।[2]

पक्खपिंडं—दोनों भुजाओं से जांघों को वेष्टित करके बैठना पक्षपिण्ड कहलाता है ।[3]

जओ जत्तं पडिस्सुणे—दो अर्थ—(१) जहाँ गुरु विराजमान हों, वहाँ जा कर उनकी उपदिष्ट वाणी को—प्रेरणा को स्वीकार करे । (२) अथवा यत्नवान् होकर गुरु के आदेश को स्वीकार करे ।[4]

उवचिट्ठे—दो अर्थ—(१) पास में जाकर बैठे या खड़ा रहे, (२ मैं सिर झुकाकर वन्दन करता हूँ, इत्यादि कहता हुआ सविनय गुरु के पास जाए ।[5]

पंजलिउडो-पंजलीगडे—दो रूप—(१) प्रकर्ष भावों से दोनों हाथ जोड़कर, (२) प्रकर्षरूप से अन्तःकरण की प्रीतिपूर्वक अंजलि करके ।[6]

विनीत शिष्य को सूत्र-अर्थ-तदुभय बताने का विधान

२३. एवं विणय-जुत्तस्स सुत्तं अत्थं च तदुभयं ।
पुच्छमाणस्स सीसस्स वागरेज्ज जहासुयं ॥

(२३) विनययुक्त शिष्य के द्वारा इस प्रकार (विनीतभाव से) पूछने पर (गुरु) सूत्र, अर्थ और तदुभय (दोनों) का यथाश्रुत (जैसे सुना या जाना हो, वैसे) प्रतिपादन करे ।

विवेचन—सुत्तं अत्थं च तदुभयं—सूत्र—कालिक-उत्कालिक शास्त्र, **अर्थ**—उनका अर्थ और **तदुभय**—दोनों उनका आशय, तात्पर्य आदि भी ।[7]

जहासुयं—गुरु आदि से जैसा सुना-जाना है, न कि अपनी कल्पना से जाना हुआ ।[8]

श्रुतविनयप्रतिपत्ति—आचार्यादि के लिए शास्त्रों में चतुर्विध प्रतिपत्ति बताई गई है—(१) उद्यत होकर शिष्य को सूत्रपाठ ग्रहण कराए, (२) अर्थ को प्रयत्नपूर्वक सुनाए, (३) जिस सूत्र के

१. 'कृतिः—वन्दनकं, तदर्हन्ति कृत्याः·······आचार्यादयः ।'—बृहद्वृत्ति, पत्र ५४
२. 'पर्यस्तिकां—जानुजंघोपरिवस्त्रवेष्टनाऽऽत्मिकाम् ।'—बृहद्वृत्ति, पत्र ५४
३. (क) पंक्खपिंडो-दोहिं वि बाहाहिं उरूग-जाणूणि घेत्तूण अच्छणं ।'—उत्त. चूर्णि, प. ३५
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५४
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५
५. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ३५, (ख) बृहद् वृत्ति, पत्र ५५ (ग) सुखबोधा, पत्र ८
६. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५
पंजलिउडेत्ति—'प्रकृष्ट' भावाऽन्विततयांऽजलिपुटमस्येति प्रांजलिपुटः ।'
पंजलीगडे—प्रकर्षेण अन्तःप्रीत्यात्मकेन कृतो—विहितोऽजलिः उभयकरमीलनात्मकोऽनेनेति प्रकृताञ्जलिः । कृतशब्दस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् ।
७. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५
८. वही, पत्र ५५

लिए जो योगोद्वहन (उपधान तप आदि) हो, उसकी विधि परिणामपूर्वक बताए, (४) शास्त्र को अधूरा न छोड़ कर सम्पूर्ण शास्त्र की वाचना दे।[1]

विनीत शिष्य द्वारा करणीय भाषा-विवेक—

२४. मुसं परिहरे भिक्खू न य ओहारिणिं वए।
भासा-दोसं परिहरे मायं च वज्जए सया॥

[२४.] भिक्षु असत्य (मृषाभाषा) का परिहार (त्याग) करे, निश्चयात्मक भाषा न बोले; भाषा के (अन्य परिहास, संशय आदि) दोषों को भी छोड़े तथा माया (कपट) का सदा परित्याग करे।

२५. न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा उभयस्सन्तरेण वा॥

[२५.] (किसी के द्वारा) पूछने पर भी अपने लिए, दूसरों के लिए अथवा दोनों के लिए या निष्प्रयोजन ही सावद्य (पापकारी भाषा) न बोले, न निरर्थक बोले और न मर्मभेदी वचन कहे।

विवेचन—उभयस्संतरेण वा—उभय—अपने और दूसरे दोनों के लिए, अथवा बिना ही प्रयोजन के (अकारण) न बोले।[2]

अकेली नारी के साथ अवस्थान-संलाप-निषेध—

२६. समरेसु अगारेसु सन्धीसु य महापहे।
एगो एगित्थिए सद्धिं नेव चिट्ठे न संलवे॥

[२६.] लोहार आदि की शालाओं (समरों) में, घरों में, दो घरों के बीच की सन्धियों में या राजमार्गों (महापथों-सड़कों) पर अकेला (साधु) अकेली स्त्री के साथ न तो खड़ा रहे और न संलाप (बातचीत) करे।

विवेचन—समर शब्द के ५ अर्थ फलित होते हैं—(१) लोहार की शाला, (२) नाई की दूकान, लोहकारशाला, खरकुटी या अन्य नीचस्थान, (३) युद्धस्थान, जहाँ एक साथ दोनों पक्ष के शत्रु एकत्र होते हैं, (४) समूह का एकत्र होना, मिलना या मेला और (५) 'स्मर' ऐसा रूपान्तर करने पर कामदेवसम्बन्धी स्थान, व्यभिचार का अड्डा या कामदेवमन्दिर. अर्थ भी हो सकता है।[3]

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५५
२. 'उभयस्से 'त्ति—आत्मनः परस्य च प्रयोजनमिति गम्यते, अंतरेण वेत्ति—विना वा प्रयोजनमित्युपस्कारः।
—बृहद् वृत्ति, पत्र ५७, सुखबोधा पत्र ८
३. (क) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ.-३७ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५७, समम‍रिभिर्वर्तन्ते इति समराः।
(ग) Samara Coming together, Meeting concourse, confluence.
—Sanskrit-English Dictionary p. 1170
(घ) 'समर—स्मरगृह या कामदेवगृह।'—अंगविज्जा भूमिका, पृ. ६३,

अगारेसु के दो अर्थ—(१) शून्यागारों में, (२) घरों में।[1]

संधीसु के दो अर्थ—(१) घरों के बीच की सन्धियों में, (२) दो दीवारों के बीच के प्रच्छन्न स्थानों में।[2]

विनीत के लिए अनुशासन-स्वीकार का विधान—

२७. जं मे बुद्धाणुसासन्ति सीएण फरुसेण वा।
'मम लाभो' त्ति पेहाए पयओ तं पडिस्सुणे॥

[२७.] 'सौम्य (शीतल—कोमल) अथवा कठोर शब्द से प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ आचार्य) मुझ पर जो अनुशासन करते हैं, वह मेरे लाभ के लिए है,' ऐसा विचार कर प्रयत्नपूर्वक उस अनुशासन (शिक्षावचन) को स्वीकार करे।

२८. अणुसासणमोवायं दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मन्नए पण्णो वेसं होइ असाहुणो॥

[२८.] आचार्य के द्वारा किया जाने वाला प्रसंगोचित मृदु या कठोर अनुशासन (औपाय), दुष्कृत का निवारक होता है। प्राज्ञ (बुद्धिमान्) शिष्य उसे हितकारक मानता है, वही (अनुशासन) असाधु-अविनीत मूढ़ के लिए द्वेष का कारण बन जाता है।

२९. हियं विगय-भया बुद्धा फरुसं पि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं खन्ति-सोहिकरं पयं॥

[२९.] भय से मुक्त मेधावी (प्रबुद्ध) शिष्य गुरु के कठोर अनुशासन को भी हितकर मानते हैं, किन्तु वही क्षमा और चित्त शुद्धि करने वाला (गुण-वृद्धि का आधारभूत) अनुशासन-पद मूढ शिष्यों के लिए द्वेष का कारण हो जाता है।

विवेचन—अणुसासंति—अनुशासन शब्द यहाँ शिक्षा, उपदेश, नियंत्रण आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[3]

'सीएण फरुसेण वा'—शीत शब्द के दो अर्थ—(१) सौम्य शब्द और (२) समाधानकारी शब्द। परुष का अर्थ है—कर्कश—कठोर शब्द।[4]

'ओवायं' के दो रूपान्तर—औपायम् और औपपातम्। औपायम् का अर्थ है—कोमल और कठोर वचनादि रूप उपाय से होने वाला। उपपात का अर्थ है—समीप रहना, गुरु की सेवाशुश्रूषा में रहना, उपपात से होने वाला कार्य औपपात है।[5]

---

१. (क) 'अगारं नाम सुण्णागारं'—उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ३७
   (ख) 'अगारेषु-गृहेषु।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ७०

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५७ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ३७

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५७

४. वही, पत्र ५७

५. वही, पत्र ५७-५८

खंति-सोहिकरं—दो अर्थ—(१) क्षमा और शुद्धि—आशयविशुद्धता करने वाला, (२) क्षान्ति की शुद्धि निर्मलता करने वाला। गुरु का अनुशासन क्षान्ति का हेतु है और मार्दवादि शुद्धि कारक हैं।[१]

पयं—पद का अर्थ हैं—स्थान, अर्थात्-ज्ञानादिगुण प्राप्ति का स्थान।[२]

विनीत की गुरुसमक्ष बैठने की विधि—

३०. आसणे उवचिट्ठेज्जा अणुच्चे अकुए थिरे।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई निसीएज्जऽप्पकुक्कुए॥

[३०.] (शिष्य) ऐसे आसन पर बैठे, जो गुरु के आसन से ऊँचा नहीं (नीचा) हो, जिससे कोई आवाज न निकलती हो और स्थिर हो (जिसके पाये जमीन पर टिके हुए हों)। ऐसे आसन से प्रयोजन होने पर भी बार-बार न उठे तथा (किसी गाढ़) कारण के बिना न उठे। बैठे तब स्थिर एवं शान्त होकर बैठे—हाथ पैर आदि से चपलता न करे।

विवेचन—'अणुच्चे' शब्द की व्याख्या—जो आसन गुरु के आसन से द्रव्यतः नीचा हो और भावतः अल्पमूल्य वाला आदि हो।[३]

'अकुए' शब्द के दो रूप, दो अर्थ—(१) **अकुजः**—जो आसन (पाट, चौकी आदि) आवाज न करता हो, (२) **अकुचः**—जो अकम्पमान हो, लचीला न हो।[४]

'अल्पोत्थायी' के दो अर्थ—(१) अल्पोत्थायी—प्रयोजन होने पर कम ही उठे, अथवा (२) प्रयोजन होने पर भी बार-बार न उठे।[५]

निरुत्थायी—निमित्त या प्रयोजन (कारण) के बिना न उठे।[६]

'अल्पोकुक्कुए'—के दो अर्थ—चूर्णि में 'अल्प' का 'निषेध' अर्थ है, जबकि बृहद्वृत्ति में 'थोड़ा' और 'निषेध' दोनों अर्थ किये हैं। इन अर्थों की दृष्टि से 'अप्पकुक्कुए' (१) हाथ-पैर आदि से असत् चेष्टा (कौत्कुच्य) न करे, अथवा (२) हाथ-पैर आदि से थोड़ा स्पन्दन (हलन-चलन) करे, ये दो अर्थ हैं।[७]

यथाकालचर्या का निर्देश—

३१. कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जित्ता काले कालं समायरे॥

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८
२. वही, पत्र ५८
३. वही, पत्र ५८-५९
४. वही, पत्र ५८-५९
५. वही, पत्र ५८-५९
६. वही, पत्र ५८-५९
७. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ३८ (ख) सुखबोधा, पत्र ११, (ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ५८-५९

[३१.] भिक्षु यथासमय (भिक्षा के लिए) निकले और समय पर लौट आए। (उस-उस क्रिया के) असमय (अकाल) में (उस क्रिया को) न करके जो क्रिया जिस समय करने की हो, उसे उसी समय पर करे।

विवेचन—कालचर्या से लाभ, अकालचर्या से हानि—जिस प्रकार किसान वर्षाकाल में बीज बोता है तो उसे समय पर अनाज की फसल मिलती है, उसी प्रकार उस-उस काल में उचित भिक्षा, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमणादि क्रिया के करने से साधक को स्वाध्याय ध्यान आदि के लिए समय मिल जाता है, साधना से सिद्धि का लाभ मिलता है, उस क्रिया में मन भी लगता है। किन्तु जैसे कोई किसान वर्षाकाल बीत जाने पर बीज बोता है तो उसे अन्न की फसल नहीं मिलती, इसी प्रकार असमय में भिक्षाचर्या आदि करने से यथेष्ट लाभ नहीं मिलता, मन को भी संक्लेश होता है, साधना में तेजस्विता नहीं आती, स्वाध्याय-ध्यानादि कार्यक्रम अस्तव्यस्त हो जाता है।[1]

भिक्षाग्रहण एवं आहारसेवन की विधि—

३२. परिवाडीए न चिट्ठेज्जा भिक्खू दत्तेसणं चरे।
पडिरूवेण एसित्ता मियं कालेण भक्खए॥

[३२.] (भिक्षा के लिए गया हुआ) भिक्षु परिपाटी (भोजन के लिए जनता की पंक्ति) में खड़ा न रहे, वह गृहस्थ के दिये गए आहार की एषणा करे तथा मुनिमर्यादा के अनुरूप (प्रतिरूप) एषणा करके शास्त्रोक्त काल में (आवश्यकतापूर्तिमात्र) परिमित भोजन करे।

३३. नाइदूरमणासन्ने नन्नेसिं चक्खु-फासओ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा लंघिया तं नइक्कमे॥

[३३.] यदि पहले से ही अन्य भिक्षु (गृहस्थ के द्वार पर) खड़े हों तो उनसे न अतिदूर और न अतिसमीप खड़ा रहे, न अन्य (गृहस्थ) लोगों की दृष्टि के समक्ष खड़ा रहे, किन्तु अकेला (भिक्षुओं और दाताओं की दृष्टि से बच कर एकान्त में) खड़ा रहे। अन्य भिक्षुओं को लांघ कर भोजन लेने के लिए घर में न जाए।

३४. नाइउच्चे व नीए वा नासन्ने नाइदूरओ।
फासुयं परकडं पिण्डं पडिगाहेज्ज संजए॥

[३४.] संयमी साधु प्रासुक (अचित्त) और परकृत (अपने लिए नहीं बनाया गया) आहार ग्रहण करे, किन्तु अत्यन्त ऊँचे या बहुत नीचे स्थान से लाया हुआ तथा न अत्यन्त निकट से दिया जाता हुआ आहार ले और न अत्यन्त दूर से।

३५. अप्पपाणेऽप्पबीयंमि पडिच्छन्नंमि संवुडे।
समयं संजए भुंजे जयं अपरिसाडियं॥

---

१. बृहत्वृत्ति का आशय, पत्र ५९

[३५.] संयमी साधु प्राणी और बीजों से रहित, ऊपर से ढँके हुए और दीवार आदि से संवृत मकान (उपाश्रय) में अपने सहधर्मी साधुओं के साथ भूमि पर न गिराता हुआ यत्नपूर्वक आहार करे।

३६. सुकडे त्ति सुपक्के त्ति सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुणिट्ठिए सुलट्ठे त्ति सावज्जं वज्जए मुणी॥

[३६.] (आहार करते समय) मुनि. भोज्य पदार्थों के सम्बन्ध में—'बहुत अच्छा किया है, बहुत अच्छा पकाया है, (घेवर आदि) खूब अच्छा छेदा (काटा) है, अच्छा हुआ है, जो इस करेले आदि का कड़वापन मिट अपहृत हो) गया है, अच्छी तरह निर्जीव (प्रासुक) हो गया है अथवा चूरमे आदि में घी अच्छा भरा (रम गया या खपा) है, 'यह बहुत ही सुन्दर है—इस प्रकार के सावद्य (पापयुक्त) वचनों का प्रयोग न करे।

विवेचन—पडिरूवेण के पांच अर्थ—चूर्णिसम्मत अर्थ (१) प्रतिरूप—शोभन रूपवाला, (२) उत्कृष्ट वेश वाला अर्थात्—रजोहरण, गोच्छग और पात्रधारक, और जिनप्रतिरूपक यानी तीर्थंकर के समान पाणिपात्र हो कर भोजन करने वाला। प्रकरणसंगत अर्थ—स्थविरकल्पी या जिनकल्पी, जिस वेश में हो, उसी रूप में। प्रतिरूप का अर्थ प्रतिबिम्ब भी है, अतः अर्थ हुआ—तीर्थंकर या चिरन्तन मुनियों के समान वेश वाला।[1]

भिक्षागत-दोषों के त्याग का संकेत—'नाइउच्चे व नीए वा' ऊर्ध्वमालापहृत और अधोमालापहृत दोषों की ओर, **'नासन्ने नाइदूरओ'** ये दो पद गोचरी के लिए गये हुए मुनि के द्वारा गृहस्थ-गृहप्रवेश की मर्यादा की ओर संकेत करते हैं तथा फासुयं, परकडं, पिंडं आदि भिक्षादोषों के त्याग का संकेत दशवैकालिक में मिलता है।[2]

अप्पपाणे अप्पबीयंमि—इन दोनों में अल्प शब्द अभाववाचक है। इन दोनों पदों का क्रमशः अर्थ होता है—प्राणी रहित या द्वीन्द्रियादिजीव-रहित स्थान में, बीज (एकेन्द्रिय) से रहित स्थान में। उपलक्षण से इन दोनों पदों का अर्थ होता है—समस्त त्रस-स्थावर जन्तुओं से रहित स्थान में।[3]

पडिच्छन्नंमि संवुडे—इन दोनों का अर्थ क्रमशः ऊपर से ढँके हुए स्थान—उपाश्रय में तथा पार्श्व में दीवार आदि से संवृत स्थान—उपाश्रय में होता है। इन दोनों पदों के विधान का आशय यह है कि साधु खुले में भोजन न करे, क्योंकि वहाँ संपातिम (ऊपर से गिरने वाले) सूक्ष्म जीवों का उपद्रव संभव है। अतः ऐसे स्थान में आहार करे जो ऊपर से छाया हुआ हो तथा बगल में भी भींत, टाटी या पर्दा आदि से ढँका हुआ हो। 'संवुडे' शब्द स्थान के विशेषण के अतिरिक्त

१. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ३९,
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५९
(ग) सुखबोधा, पत्र ११
२. (क) दशवैकालिक ५।१।६७-६८-६९
(ख) वही, अ. ५।१।२८
(ग) वही, ८।२३, ८।५१
३. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ४०
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०

चूर्णिकार और शान्त्याचार्य द्वारा संवृत (सर्वेन्द्रियगुप्त—संयत) या साधु का विशेषण भी माना गया है ।[1]

समयं—दो अर्थ हैं—(१) साथ में और (२) समतापूर्वक । यह शब्द गच्छ-वासी साधुओं की समाचारी का द्योतक है । 'भुंजे' क्रिया के साथ इसका आशय यह है कि मडण्लीभोजी साधु अपने सहधर्मी साधुओं को निमंत्रित करके उनके साथ आहार करे, अकेले न करे । चूर्णि में इस अर्थ के अतिरिक्त यह भी बताया है कि यदि अकेला भोजन करे तो समभावपूर्वक करे ।[2]

विनीत और अविनीत शिष्य के स्वभाव एवं आचरण से गुरु प्रसन्न और अप्रसन्न—

३७. रमए पण्डिए सासं हयं भद्दं व वाहए ।
बालं सम्मइ सासन्तो गलियस्सं व वाहए ॥

[३७.] मेधावी (पण्डित—विनीत) शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु वैसा ही प्रसन्न होता है, जैसे कि वाहक (अश्वशिक्षक) उत्तम अश्व को हांकता हुआ प्रसन्न रहता है । जैसे दुष्ट घोड़े को हांकता हुआ उसका वाहक खिन्न होता है, वैसे ही अबोध (अविनीत, बाल) शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु खिन्न होता है ।

३८. 'खड्डुया मे चवेडा मे अक्कोसा य वहा य मे ।'
कल्लाणमणुसासन्तो पावदिट्ठि त्ति मन्नई ।

[३८.] गुरु के कल्याणकारी अनुशासन को पापदृष्टि वाला शिष्य ठोकर और चांटा मारने, गाली देने और प्रहार करने के समान कष्टकारक समझता है ।

३९. 'पुत्तो मे भाय नाइ' त्ति साहू कल्लाण मन्नई ।
पावदिट्ठी उ अप्पाणं सासं 'दासं व' मन्नई ॥

[३९.] गुरु मुझे पुत्र, भाई और स्व (ज्ञाति) जन की तरह आत्मीय समझ कर शिक्षा देते हैं, ऐसा विचार कर विनीत शिष्य उनके अनुशासन को कल्याणकारी मानता है, किन्तु पापदृष्टि वाला कुशिष्य (हितानुशासन से) शासित होने पर भी अपने को दास के समान मानता है ।

४०. न कोवए आयरियं, अप्पाणं पि न कोवए ।
बुद्धोवघाई न सिया, न सिया तोत्तगवेसए ॥

[४०.] शिष्य को चाहिए कि वह न तो आचार्य को कुपित करे और न (उनके कठोर अनुशासनादि से) स्वयं कुपित हो । आचार्य (प्रबुद्ध गुरु) का उपघात करने वाला न हो और न (गुरु को खरी-खोटी सुनाने की ताक में उनका) छिद्रान्वेषी हो ।

---

१. (क) सुखबोधा, पत्र १२
   (ख) 'संवुडो नाम सव्वेंदियगुत्तो' संवृतो वा सकलाश्रवविरमणात् ।
   (ग) संवृते—पार्श्वतः कटकुड्यादिना संकटद्वारे, अटव्यां कडगादिषु'—बृहद्वृत्ति, पत्र ६-६१

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१
   (ख) सुखबोधा, पत्र १२
   (ग) उत्तरा. चूर्णि, पृ. ४०

४१. आयरियं कुवियं नच्चा पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंजलिउडो वएज्ज 'न पुणो' त्ति य ॥

[४१.] (अपने किसी अयोग्य व्यवहार से) आचार्य को कुपित हुआ जान कर विनीत शिष्य प्रतीति (-प्रीति-) कारक वचनों से उन्हें प्रसन्न करे; हाथ जोड़ कर उन्हें शान्त करे और कहे कि 'फिर कभी ऐसा नहीं करूंगा।'

४२. धम्मज्जियं च ववहारं बुद्धेहायरियं सया।
तमायरन्तो ववहारं गरहं नाभिगच्छई ॥

[४२.] जो व्यवहार धर्म से अर्जित है और प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ) आचार्यों द्वारा आचरित है, सदैव उस व्यवहार का आचरण करता हुआ मुनि कहीं भी गर्हा को प्राप्त (निन्दित) नहीं होता।

४३. मणोगयं वक्कगयं जाणित्ताऽऽयरियस्स उ।
तं परिगिज्झ वायाए कम्मुणा उववायए ॥

[४३.] आचार्य के मनोगत और वाक्य (वचन)—गत भाव को जान कर शिष्य उसे (सर्व-प्रथम) वाणी से ग्रहण (स्वीकार) करके, (फिर उसे) कार्यरूप में परिणत करे।

४४. वित्ते अचोइए निच्चं खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठं सुकयं किच्चाइं कुव्वई सया ॥

[४४.] (विनयीरूप से) प्रसिद्ध शिष्य (गुरु द्वारा) प्रेरित न किये जाने पर भी कार्य करने के लिए सदा प्रस्तुत रहता है, अच्छी तरह प्रेरित किये जाने पर तो वह तत्काल उन कार्यों को सदा यथोपदिष्ट रूप से भलीभांति सम्पन्न कर लेता है।

विवेचन—रमए—अभिरतिमान्, प्रीतिमान् या प्रसन्न होता है।

सासं—दो अर्थ—(१) आज्ञा देता हुआ, (२) प्रमादवश स्खलना होने पर शिक्षा देता हुआ।

खड्डुया—तीन अर्थ—(१) ठोकर (२) लात (३) टक्कर मारना।[1]

बुद्धोपघाई—बुद्धों—आचार्यो के उपघात के तीन प्रकार हैं—(१) **ज्ञानोपघात**—यह आचार्य अल्पश्रुत है या ज्ञान को छिपाता है, (२) **दर्शनोपघात**—यह आचार्य उन्मार्ग की प्ररूपणा या उसमें श्रद्धा करता है, (३) **चारित्रोपघात**—यह आचार्य कुशील है या पार्श्वस्थ (पासत्थ) है, इत्यादि प्रकार से व्यवहार करने वाला आचार्य का उपघाती होता है। अथवा जो शिष्य आचार्य की वृत्ति (जीवनयात्रा) का उपघात करता है, वह भी बुद्धोपघाती है।

उदाहरण—कोई वृद्ध गणिगुणसम्पन्न आचार्य विहार करना चाहते हुए भी जघाबल क्षीण होने के कारण एक नगर में स्थिरवासी हो गए। वहाँ के श्रावकगण भी अपना अहोभाग्य समझ कर उनकी सेवा करते थे; किन्तु आचार्य को दीर्घजीवी देख गुरुकर्मा शिष्य सोचने लगे—हम लोग कब तक इन अजंगम (अगतिशील) की परिचर्या करते रहेंगे? अतः ऐसा कोई उपाय करें, जिससे आचार्य स्वयं अनशन कर लें। वहाँ के श्रावकगण तो प्रतिदिन सरस आहार लेने के लिए भिक्षा करने वाले साधुओं

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२

को आग्रह करते, परन्तु वे भिक्षा में पूर्ण नीरस आहार लाते और कहते—"भंते ! हम क्या करें ? यहाँ के श्रावक लोग अच्छा आहार देते ही नहीं, वे विवेकहीन हैं।" उधर श्रावक लोगों के द्वारा सरस आहार लेने का आग्रह करने पर साधु उन्हें कहते—"आचार्य शरीर-निर्वाह के प्रति अत्यन्त निरपेक्ष हो गए हैं, अब वे सरस, स्निग्ध आहार नहीं लेना चाहते। वे यथाशीघ्र संलेखना करना चाहते हैं।" यह सुन कर श्रद्धालु भक्त श्रावकों ने आकर सविनय प्रार्थना की—"भगवन् ! आप भुवनभास्कर तेजस्वी परोपकारी आचार्य हैं। आप हमारे लिए भारभूत नहीं हैं। हम यथाशक्ति आपकी सेवा के लिए तत्पर हैं। आपकी सेवा करके हम स्वयं को धन्य समझते हैं। आपके शिष्य साधु भी आपकी सेवा करना चाहते हैं, वे भी आपसे क्षुब्ध नहीं हैं। फिर आप असमय में ही संलेखना क्यों कर रहे हैं ?" इंगितज्ञ आचार्य ने जान लिया कि शिष्यों की बुद्धि विकृत होने के कारण ऐसा हुआ है। अतः अब इस अप्रीतिहेतुक प्राण-धारण से क्या प्रयोजन है ? धर्मार्थी पुरुष को अप्रीति उत्पन्न करना उचित नहीं। अतः वे तत्काल श्रावकों से कहते हैं—"मैं स्थिरवासी होकर कितने दिन तक इन विनीत साधुओं और आप श्रावकगण को सेवा में रोके रखूंगा ? अतः श्रेष्ठ यही है कि मैं उत्तम अर्थ को स्वीकार करूँ।" इस प्रकार श्रावकों को समझाकर आचार्य ने अनशन कर लिया।

यह है आचार्य को अपनी दुश्चेष्टाओं से अनशन आदि के लिए बाध्य करने वाले बुद्धोपघाती शिष्यों का दृष्टान्त ![1]

तोत्तगवेसए—तोत्त—तोत्र का अर्थ है—जिससे व्यथित किया जाए। द्रव्यतोत्र चाबुक प्रहार आदि हैं और भावतोत्र हैं—दोषोद्भावन, तिरस्कारयुक्त वचन, व्यथा पहुंचाने वाले वचन अथवा छिद्रान्वेषण आदि।[2]

पत्तिएणं—दो रूप—प्रातीतिकेन, प्रीतिकेन। इनके अर्थ क्रमशः शपथादि पूर्वक प्रतीतिकारक वचनों से एवं प्रीति—शान्तिपूर्वक हार्दिक भक्ति से।[3]

विनीत को लौकिक और लोकोत्तर लाभ—

४५. नच्चा नमइ मेहावी लोए कित्ती से जायए।
हवई किच्चाणं सरणं भूयाणं जगई जहा ॥

[४५.] पूर्वोक्त विनयसूत्रों (या विनयपद्धतियों) को जान कर जो मेधावी मुनि उन्हें कार्यान्वित करने में विनत हो (झुक-लग) जाता है, उसकी लोक में कीर्ति होती है। प्राणियों के लिए जिस प्रकार पृथ्वी आश्रयभूत (शरण) होती है, उसी प्रकार विनयी शिष्य धर्माचरण (उचित अनुष्ठान) करने वालों के लिए आश्रय (आधार) होता है।

४६. पुज्जा जस्स पसीयन्ति संबुद्धा पुव्वसंथुया।
पसन्ना लाभइस्सन्ति विउलं अट्ठियं सुयं ॥

[४६.] शिक्षण-काल से पूर्व ही उसके विनयाचरण से सम्यक् प्रकार से परिचित (संस्तुत),

१. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ४२ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६२-६३
२. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ४२ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६२
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ६३.

सम्बुद्ध, (सम्यक् वस्तुतत्त्ववेत्ता) पूज्य आचार्य आदि उस पर प्रसन्न रहते हैं। प्रसन्न होकर वे उसे मोक्ष के प्रयोजनभूत (या अर्थगम्भीर) विपुल श्रुतज्ञान का लाभ करवाते हैं।

४७. स पुज्जसत्थे सुविणीयसंसए मणोरुई चिट्ठइ कम्म-संपया।
तवोसमायारिसमाहिसंवुडे महज्जुई पंच वयाइं पालिया॥

[४७.] (गुरुजनों की प्रसन्नता से विपुल शास्त्रज्ञान प्राप्त) वह शिष्य पूज्यशास्त्र- होता है, उसके समस्त संशय दूर हो जाते हैं। वह गुरु के मन को प्रीतिकर होता है तथा कर्मसम्पदा से युक्त हो कर रहता है। वह तप-समाचारी और समाधि से संवृत (सम्पन्न) हो जाता है तथा पांच महाव्रतों का पालन करके वह महान् द्युतिमान् (तपोदीप्ति-युक्त) हो जाता है।

४८. स देव-गन्धव्व-मणुस्सपूइए चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं।
सिद्धे वा हवइ सासए देवे वा अप्परए महिड्ढिए॥
—त्ति बेमि।

[४८.] देवों, गन्धर्वों और मनुष्यों से पूजित वह विनीत शिष्य मल-पंक-पूर्वक निर्मित इस देह को त्याग कर या तो शाश्वत सिद्ध (मुक्त) होता है, अथवा अल्प कर्मरज वाला महान् ऋद्धिसम्पन्न देव होता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—विनयी शिष्य को प्राप्त होने वाली बारह उपलब्धियाँ—(१) लोकव्यापी कीर्ति, (२) धर्माचरणकर्त्ताओं के लिए आधारभूत होना, (३) पूज्यवरों की प्रसन्नता, (४) विनयाचरण से परिचित पूज्यों की प्रसन्नता से प्रचुर श्रुतज्ञान-प्राप्ति, (५) शास्त्रीयज्ञान की सम्माननीयता, (६) सर्व-संशय-निवृत्ति, (७) गुरुजनों के मन को रुचिकर, (८) कर्मसम्पदा की सम्पन्नता, (९) तपःसमाचारी एवं समाधि की सम्पन्नता, (१०) पंचमहाव्रत पालन से महाद्युतिमत्ता, (११) देव-गन्धर्व-मानव-पूजनीयता, (१२) देहत्याग के पश्चात् सर्वथा मुक्त अथवा अल्पकर्मा महर्द्धिक देव होना।[1]

किच्चाणं—यहाँ कृत्य शब्द का अर्थ है—उचित अनुष्ठान (स्वधर्मोचित आचरण) करने वाला अथवा कलुषित अन्तःकरणवृत्ति वाले विनयाचरण से दूर लोगों से पृथक् रहने वाला।[2]

अट्ठियंसुयं—दो अर्थ—(१) अर्थ अर्थात् मोक्ष जिसका प्रयोजन हो वह, तथा (२) अर्थ—अर्थ से युक्त ही जो प्रयोजनरूप हो वह अर्थिक, श्रुत—श्रुतज्ञान। **पुज्जसत्थे**—तीन रूप : तीन अर्थ—(१) **पूज्यशास्त्र**—जिसका शास्त्रीय ज्ञान जनता में पूज्य—सम्माननीय होता है, (२) **पूज्यशास्ता**—जो अपने शास्ता—गुरु को पूज्य—पूजायोग्य बना देता है, अथवा वह स्वयं पूज्य शास्ता (आचार्य या गुरु अथवा अनुशास्ता) बन जाता है, (३) **पूज्यशस्त**—स्वयं पूज्य एवं शस्त—प्रशंसनीय (प्रशंसास्पद) बन जाता है।[3]

'मणोरुई चिट्ठइ'—की व्याख्या-गुरुजनों के विनय से शास्त्रीय ज्ञान में विशारद शिष्य उनके मन में प्रीतिपात्र (रुचिकर) होकर रहता है।

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र मूल, अ. १, गा. ४५ से ४८ तक

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६६

३. वही, पत्र ६६

कम्मसंपया—बृहद्वृत्ति के अनुसार दो अर्थ—(१) कर्मसम्पदा—दशविध समाचारी रूप कर्म-क्रिया से सम्पन्न और (२) योगजविभूति से सम्पन्न।

समाचारीसम्पन्नता का प्रशिक्षण—प्राचीनकाल में क्रिया की उपसम्पदा के लिए साधुओं की विशेष नियुक्ति पूर्वक उत्तराध्ययनसूत्र के २६ वें अध्ययन में वर्णित दशविध समाचारी का प्रशिक्षण दिया जाता था और उसकी पालना कराई जाती थी।

योगजविभूतिसम्पन्नता की व्याख्या—चूर्णि के अनुसार अक्षीणमहानस आदि लब्धियों से युक्तता है, बृहद्वृत्ति के अनुसार—श्रमणक्रियाऽनुष्ठान के माहात्म्य से समुत्पन्न पुलाक आदि लब्धिरूप सम्पत्तियों से सम्पन्नता है।

'मणोरुई चिट्ठइ कम्मसंपया'—इसे एक वाक्य मान कर बृहद्वृत्ति में व्याख्या इस प्रकार की गई है—कर्मों की—ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की उदय-उदीरणारूप विभूति—कर्मसम्पदा है, इस प्रकार की कर्मसम्पदा अर्थात् कर्मों का उच्छेद करने की शक्तिमत्ता में जिसकी मनोरुचि रहती है। अथवा **'मणोरुहं चिट्ठइ कम्मसंपयं'** पाठान्तर मान कर इसकी व्याख्या की गई है—विनय मनोरुचित फल-सम्पादक होने से वह मनोरुचित (मनोवांछित) कर्मसम्पदा (शुभप्रकृतिरूप—पुण्यफलरूप) का अनुभव करता रहता है।[1]

मलपंकपुव्वयं—दो अर्थ—(१) आत्मशुद्धि का विघातक होने से पाप-कर्म एक प्रकार का मल है और वही पंक है। इस शरीर की प्राप्ति का कारण कर्ममल होने से वह भावतः मलपंक-पूर्वक है, (२) इस शरीर की उत्पत्ति माता के रज और पिता के वीर्य से होती है, माता का रज-मल है और पिता का वीर्य पंक है, अतः यह देह द्रव्यतः भी मल-पंक (रज-वीर्य) पूर्वक है।

अप्परए—दो रूप: दो अर्थ (१) **अल्परजाः**—जिसके बध्यमान कर्म अल्प हैं, (२) **अल्परत**—जिसमें मोहनीयकर्मोदयजनित रत-क्रीड़ा का अभाव हो।[2]

॥ प्रथम : विनयसूत्र अध्ययन समाप्त ॥

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६६ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ४४

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६७

(क) 'माओउयं पिउसुक्कं ति वंचनात् रक्तशुक्रे एव मलपंकौ तत्पूर्वकं—मलपंकपूर्वकम्।

(ख) अप्परएत्ति—अल्पमिति अविद्यमानं रतमिति क्रीडितं मोहनीयकर्मोदयजनितमस्य अल्परतो लवसप्तमादिः, अल्परजाः वा प्रतनुबध्यमानकर्मा।

द्वितीय अध्ययन : परीषह-प्रविभक्ति

अध्ययन-सार

※ प्रस्तुत द्वितीय अध्ययन का नाम परीषह-प्रविभक्ति है।

※ संयम के कठोर मार्ग पर चलने वाले साधक के जीवन में परीषहों का आना स्वाभाविक है, क्योंकि साधु का जीवन पंच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की मर्यादाओं से बंधा हुआ है। उन मर्यादाओं के पालन से साधुजीवन की सुरक्षा होती है। मर्यादाओं का पालन करते समय संयममार्ग से च्युत करने वाले कष्ट एवं संकट ही साधु की कसौटी हैं कि उन कष्टों एवं संकटों का हंसते-हंसते धैर्य एवं समभाव से सामना करना और अपनी मौलिक मर्यादाओं की लक्ष्मणरेखा से बाहर न होना, अपने अहिंसादि धर्मों को सुरक्षित रखना उन पर विजय पाना है। प्रस्तुत अध्ययन में साधु, साध्वियों के लिए क्षुधा, पिपासा आदि २२ परीषहों पर विजय पाने का विधान है।

※ सच्चे साधक के लिए परीषह बाधक नहीं, अपितु कर्मक्षय करने में साधक एवं उपकारक होते हैं। साधक मोक्ष के कठोर मार्ग पर चलते हुए किसी भी परीषह के आने पर घबराता नहीं, उद्विग्न नहीं होता, न ही अपने मार्ग या व्रत-नियम-संयम की मर्यादा-रेखा से विचलित होता है। वह शान्ति से, धैर्य से समभावपूर्वक या सम्यग्ज्ञानपूर्वक उन्हें सहन करके अपने स्वीकृत पथ पर अटल रहता है। उन परीषहों के दबाव में आकर वह अंगीकृत प्रतिज्ञा के विरुद्ध आचरण नहीं करता। वह वस्तुस्थिति का द्रष्टा होकर उन्हें मात्र जानता है, उनसे परिचित रहता है, किन्तु आत्मजागृतिपूर्वक संयम की सुरक्षा का सतत ध्यान रखता है।

※ परीषह का शब्दशः अर्थ होता है—जिन्हें (समभावपूर्वक आर्त्तध्यान के परिणामों के विना) सहा जाता है, उन्हें परीषह कहते हैं।[1] यहाँ कष्ट सहने का अर्थ अज्ञानपूर्वक, अनिच्छा से, दबाव से, भय से या किसी प्रलोभन से मन, इन्द्रिय और शरीर को पीड़ित करना नहीं है। समभावपूर्वक कष्ट सहने के पीछे दो प्रयोजन होते हैं—(१) मार्गाच्यवन और (२) निर्जरा अर्थात् जिनोपदिष्ट स्वीकृत मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिए और निर्जरा—समभावपूर्वक सह कर कर्मों को क्षीण करने के लिए। यही परीषह का लक्षण है।[2]

※ परीषह-सहन या परीषह-विजय का अर्थ जानबूझ कर कष्टों को बुला कर शरीर, इन्द्रियों या मन को पीड़ा देना नहीं है और न आए हुए कष्टों को लाचारी से सहन करना है। परीषह-विजय का अर्थ है—दुःख या कष्ट आने पर भी संक्लेश मय परिणामों का न होना, या अत्यन्त भयानक क्षुधादि वेदनाओं को सम्यग्ज्ञानपूर्वक समभाव से शान्तिपूर्वक सहन करना, अथवा क्षुधादि वेदना

---

१. परिषह्यत इति परिषहः। —राजवार्तिक ९।२।६।५९२।२

२. मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः। —तत्त्वार्थ. ९।८

उपस्थित होने पर निजात्मभावना से उत्पन्न निर्विकार नित्यानन्दरूप सुखामृत अनुभव से विचलित न होना परीषहजय है ।[1]

※ अनगारधर्मामृत में बताया गया है कि जो संयमी साधु दुःखों का अनुभव किये विना ही मोक्ष-मार्ग को ग्रहण करता है, वह दुःखों के उपस्थित होते ही भ्रष्ट हो सकता है ।[2] इसलिए परीषहजय का फलितार्थ हुआ कि प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति को साधना के सहायक होने के क्षणों तक प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना, न तो मर्यादा तोड़ कर उसका प्रतीकार करना है और न इधर-उधर भागना है, न उससे बचने का कोई गलत मार्ग खोजना है । परीषह आने पर जो साधक उससे न घबरा कर मन की आदतों का या सुविधाओं का शिकार नहीं बनता, वातावरण में बह नहीं जाता, वरन् उक्त परीषह को दुःख या कष्ट न मान कर ज्ञाता-द्रष्टा बन कर स्वेच्छा से सीना तान कर निर्भय एवं निर्द्वन्द्व हो कर संयम की परीक्षा देने के लिए खड़ा हो जाता है, वही परीषहविजयी है । वस्तुतः साधक का सम्यग्ज्ञान ही आन्तरिक अनाकुलता एवं सुख का कारण बनकर उसे परीषहविजयी बनाता है ।

※ परीषह और कायक्लेश में अन्तर है । कायक्लेश एक बाह्यतप है, जो उदीरणा करके, कष्ट सह कर कर्मक्षय करने के उद्देश्य से स्वेच्छा से झेला जाता है । वह ग्रीष्मऋतु में आतापना लेने, शीतऋतु में अपावृत स्थान में सोने, वर्षाऋतु में तरुमूल में निवास करने, अनेकविध प्रतिमाओं को स्वीकार करने, शरीरविभूषा न करने एवं नाना आसन करने आदि अर्थों में स्वीकृत है ।[3] जबकि परीषह मोक्षमार्ग पर चलते समय इच्छा के विना प्राप्त होने वाले कष्टों को मार्गच्युत न होने और निर्जरा करने के उद्देश्य से सहा जाता है ।

※ प्रस्तुत अध्ययन में कर्मप्रवादपूर्व के १७ वें प्राभृत से उद्धृत करके संयमी के लिए सहन करने योग्य २२ परीषहों का स्वरूप तथा उन्हें सह कर उन पर विजय पाने का निर्देश है ।[4] इन में से वीस परीषह प्रतिकूल हैं, दो परीषह (स्त्री और सत्कार) अनुकूल हैं, जिन्हें आचारांग में उष्ण और शीत कहा है ।

※ इन परीषहों में प्रज्ञा और अज्ञान की उत्पत्ति का कारण ज्ञानावरणीयकर्म है, अलाभ का अन्तरायकर्म है, अरति, अचेल, स्त्री, निषद्या, याचना, आक्रोश, सत्कार-पुरस्कार की उत्पत्ति का कारण चारित्रमोहनीय, 'दर्शन' का दर्शनमोहनीय और शेष ११ परीषहों की उत्पत्ति का कारण वेदनीयकर्म है ।[5]

※ प्रस्तुत अध्ययन में परीषहों के विवेचन रूप में संयमी की चर्या का सांगोपांग निरूपण है । □□

---

१. (क) भगवती-आराधना विजयोदया ११५९।२८ (ख) कार्तिकेयानुप्रेक्षा ९८, (ग) द्रव्यसंग्रहटीका ३५ । १४६ । १०

२. अनगारधर्मामृत ६।८३

३. (क) ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा । उग्गा जहा धरिज्जंति कायकिलेसं तमाहियं ॥—उत्तरा. ३०।२७
(ख) औपपातिकसूत्र १९ सू.

४. कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडंमि जं सुत्तं । सणयं सोदाहरणं तं चेव इहंपि णायव्वं ॥—उत्तरा. निर्युक्ति, गा. ६९.

५. देखिये तत्त्वार्थसूत्र अ. ९।९ में २२ परीषहों के नाम

६. तत्त्वार्थसूत्र अ. ९, १३ से १६ सू. तक

बीयं अज्झयणं : द्वितीय अध्ययन

परीसह-पविभत्ती : परीषह-प्रविभक्ति

परीषह और उनके प्रकार : संक्षेप में—

१. सुयं मे, आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—

इह खलु बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा ।

[१] आयुष्मन् ! मैंने सुना है, भगवान् ने इस प्रकार कहा है—श्रमण-जीवन में बाईस परीषह होते (आते) हैं, जो काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित हैं ; जिन्हें सुन कर, जान कर, अभ्यास के द्वारा परिचित कर, पराभूत (पराजित) कर, भिक्षाचर्या के लिये पर्यटन करता हुआ भिक्षु परीषहों से स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर विहत (विचलित या स्खलित) नहीं होता ।

२. कयरे खलु ते बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा ?

[२-प्र.] वे बाईस परीषह कौन-से हैं, जो काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित हैं, जिन्हें सुन कर, जान कर, अभ्यास के द्वारा परिचित (अभ्यस्त) कर, पराजित कर, भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन करता हुआ भिक्षु उनसे स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर विचलित नहीं होता ?

विवेचन—आउसं—यहाँ 'आयुष्मन्' सम्बोधन गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा जम्बूस्वामी के प्रति किया गया है । इसका आशय यह है कि इस अध्ययन का निरूपण सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को लक्ष्य करके किया है ।[1]

पवेइया—के दो अर्थ:—दो रूप—(१) **प्रविदिताः**—भगवान् ने केवलज्ञान के प्रकाश में प्रकर्षरूप से स्वयं साक्षात्कार करके ज्ञात किए—जाने । सर्वज्ञ के विना यह साक्षात्कार हो नहीं सकता । अतः स्वयंसम्बुद्ध सर्वज्ञ भगवान् ने इन परीषहों का स्वरूप जाना, (२) **प्रवेदिता**—भगवान् ने इनका प्ररूपण किया ।[2]

परीषहों से पराजित न होने के उपाय—प्रथम सूत्र में सुधर्मास्वामी ने परीषहों से पराजित न होने के निम्नोक्त उपाय बताए हैं—(१) परीषहों का स्वरूप एवं निर्वचन गुरुमुख से श्रवण करके, (२) इनका स्वरूप यथावत् जान कर (३) इन्हें जीतने का पुनः पुनः अभ्यास करके, इनसे परिचित

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ८२

२. (क) वही, पत्र ८२ : प्रविदिताः प्रकर्षेण स्वयं साक्षात्कारित्वलक्षणेन ज्ञाताः ।

(ख) उत्तरज्झयणाणि भा. १ सानुवाद, सं.-मुनि नथमलजी, : 'प्रवेदित हैं'

होकर, (४) परीषहों के सामर्थ्य का सामना करके, उन्हें पराभूत करके या दवा कर। इसका फलितार्थ यह हुआ कि साधक को इन उपायों से परीषहों पर विजय पाना चाहिए।[1]

पुट्ठो नो विहन्नेज्जा का भावार्थ यह है कि परीषहों के द्वारा आक्रान्त होने पर साधक पूर्वोक्त उपायों को अजमाए तो विविध प्रकार से संयम तथा शरीरोपघातपूर्वक विनाश को प्राप्त नहीं होता।[2]

भिक्खायरियाए परिव्वयंतो—यहाँ शंका होती है कि परीषहों के नामों को देखते हुए २२ ही परीषह विभिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न होते हैं, फिर केवल भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन के समय ही इनकी उत्पत्ति का उल्लेख क्यों किया गया ? इसका समाधान बृहद्वृत्ति में यों किया गया है कि भिक्षाटन के समय ही अधिकांश परीषह उत्पन्न होते हैं, जैसा कि कहा है—'**भिक्खायरियाए बावीसं परीसहा उदीरिज्जंति।**' प्रत्येक परीषह का स्वरूप प्रसंगवश शास्त्रकार स्वयं ही बताएँगे।[3]

३—इमे खलु ते बावीसं परीसहा समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय, भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा, तं जहा—

१ दिगिंछा-परीसहे २ पिवासा-परीसहे ३ सीय-परीसहे ४ उसिण-परीसहे ५ दंस-मसय-परीसहे ६ अचेल-परीसहे ७ अरइ-परीसहे ८ इत्थी-परीसहे ९ चरिया-परीसहे १० निसीहिया-परीसहे ११ सेज्जा-परीसहे १२ अक्कोस-परीसहे १३ वह-परीसहे १४ जायणा-परीसहे १५ अलाभ-परीसहे १६ रोग-परीसहे १७ तण-फास-परीसहे १८ जल्ल-परीसहे १९ सक्कार-पुरक्कार-परीसहे २० पन्ना-परीसहे २१ अन्नाण-परीसहे २२ दंसण-परीसहे।

[३-उ.] वे बाईस परीषह ये हैं, जो काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित हैं ; जिन्हें सुन कर, जान कर, अभ्यास के द्वारा परिचित कर, पराजित कर, भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन करता हुआ भिक्षु उनसे स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर विचलित नहीं होता। यथा—१-क्षुधापरीषह, २-पिपासापरीषह, ३-शीतपरीषह, ४-उष्णपरीषह, ५-दंश-मशक-परीषह, ६-अचेल-परीषह, ७-अरति-परीषह, ८-स्त्री-परीषह, ९-चर्या-परीषह, १०-निषद्या-परीषह, ११-शय्या-परीषह, १२-आक्रोश-परीषह, १३-वध-परीषह, १४-याचना-परीषह, १५-अलाभ-परीषह, १६-रोग-परीषह, १७-तृणस्पर्श-परीषह, १८-जल्ल-परीषह, १९-सत्कार-पुरस्कार-परीषह, २०-प्रज्ञा-परीषह, २१-अज्ञान-परीषह और २२-दर्शन-परीषह।

भगवत्-प्ररूपित परीषह-विभाग-कथन की प्रतिज्ञा—

१. परीसहाणं पविभत्ती कासवेणं पवेइया।
तं भे उदाहरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे॥

[१] 'काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने परीषहों के जो जो विभाग (पृथक्-पृथक् स्वरूप और भाव की अपेक्षा से) बताए हैं, उन्हें मैं तुम्हें कहूँगा; मुझ से तुम अनुक्रम से सुनो।'

१. उत्तराध्ययनसूत्र मूल, बृहद्वृत्ति, पत्र ८२: '**जे भिक्खू सुच्चा नच्चा जिच्चा अभिभूय……पुट्ठो नो विहन्नेज्जा।**'

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ८२   ३. वही, पत्र ८३

विवेचन—पविभत्ति—प्रकर्षरूप से स्वरूप, विभाग एवं भावों की अपेक्षा से पृथक्ता का नाम प्रविभक्ति है। इसे वर्तमान भाषा में विभाग या भेद कहते हैं।[1]

(१) क्षुधा परीषह—

२. दिगिंछा-परिगए देहे तवस्सी भिक्खु थामवं।
न छिन्दे, न छिन्दावए न पए, न पयावए ॥

[२] शरीर में क्षुधा व्याप्त होने पर भी संयमबल से युक्त भिक्षु फल आदि का स्वयं छेदन न करे और न दूसरों से छेदन कराए, उन्हें न स्वयं पकाए और न दूसरों से पकवाए।

३. काली-पव्वंग-संकासे किसे धमणि-संतए।
मायन्ने असण-पाणस्स अदीण-मणसो चरे ॥

[३] (दीर्घकालिक क्षुधा के कारण) शरीर के अंग काकजंघा (कालीपर्व) नामक तृण जैसे सूख कर पतले हो जाएँ, शरीर कृश हो जाए, धमनियों का जालमात्र रह जाए, तो भी अशन-पानरूप आहार की मात्रा (मर्यादा) को जानने वाला भिक्षु अदीनमना (—अनाकुल-चित्त) हो कर (संयममार्ग में) विचरण करे।

विवेचन—क्षुधापरीषह : स्वरूप और प्रथम स्थान का कारण—'क्षुधासमा नास्ति शरीर-वेदना' (भूख के समान कोई भी शारीरिक वेदना नहीं है) कह कर चूर्णिकार ने क्षुधा-परीषह को परीषहों में सर्वप्रथम स्थान देने का कारण बताया है। क्षुधा की चाहे जैसी वेदना उठने पर संयम-भीरु साधु के द्वारा आहार पकाने-पकवाने, फलादि का छेदन करने-कराने, खरीदने-खरीदाने की वाञ्छा से निवृत्त होकर तथा अपनी स्वीकृत मर्यादा के विपरीत अनेषणीय—अकल्पनीय आहार न लेकर क्षुधा को समभावपूर्वक सहना **क्षुधापरीषह** है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार क्षुधावेदना की उदीरणा होने पर निरवद्य आहारगवेषी जो भिक्षु निर्दोष भिक्षा न मिलने पर या अल्प मात्रा में मिलने पर क्षुधावेदना को सहता है, किन्तु अकाल या अदेश में भिक्षा नहीं लेता, लाभ की अपेक्षा अलाभ को अधिक गुणकारी मानता है, वह क्षुधापरीषह-विजयी है। क्षुधापरीषह-विजयी नवकोटि-विशुद्ध भिक्षामर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता, यह शान्त्याचार्य का अभिमत है।[2]

काली-पव्वंग-संकासे—कालीपर्व का अर्थ चूर्णिकार, बृहद्वृत्तिकार 'काकजंघा' नामक तृण-विशेष करते हैं। मुनि नथमलजी के मतानुसार हिन्दी में इसे 'घुंघची या गुंजा का वृक्ष' कहा जाता है। परन्तु यह अर्थ समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि गुंजा का वृक्ष नहीं होता, बेल होती है। डॉ. हरमन जेकोबी, डॉ. सांडेसरा आदि ने 'काकजंघा' का अर्थ 'कौए की जांघ' किया है।

बृहद्वृत्ति के अनुसार काकजंघा नामक तृणवृक्ष के पर्व स्थूल और उसके मध्यदेश कृश होते हैं, उसी प्रकार जिस भिक्षु के घुटने, कोहनी आदि स्थूल और जंघा, ऊरु (साथल), बाहु आदि कृश हो गए हों, उसे कालीपर्वसकाशांग (कालीपव्वंगसंकासे) कहा जाता है।[3]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ८३
२. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ५२ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ८४
(ग) प्रवचनसारोद्धार, द्वार ८ (घ) तत्त्वार्थ. सर्वार्थसिद्धि अ. ९।९।४२०।६
३. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ५३ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ८४
(ग) The Sacred Books of the East—Vol XLV, P. 10, (घ) उत्तराध्ययन, पृ. १७

धमणि-संतए—जिसका शरीर केवल धमनियों—शिराओं (नसों) से व्याप्त (जालमात्र) रह जाए उसे 'धमनिसन्तत' कहते हैं। 'धम्मपद' में भी 'धमनिसन्थतं' शब्द का प्रयोग आया है, जिसका अर्थ है—'नसों से मढ़े शरीर वाली।' भागवत में भी **'एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसन्ततः'** प्रयोग आया है। वहाँ भी यही अर्थ है। वस्तुतः उत्कट तप के कारण शरीर के रक्त-मांस सूख जाने से वह अस्थिचर्मावशेष रह जाता है, तब उस कृश शरीर के लिए ऐसा कहा जाता है।[1]

तृतीय गाथा का निष्कर्ष—क्षुधा से अत्यन्त पीड़ित होने पर नवकोटि शुद्ध आहार प्राप्त होने पर भी भिक्षु लोलुपतावश अतिमात्रा में आहार-सेवन न करे तथा नवकोटि शुद्ध आहार मात्रा में भी न मिलने पर दैन्यभाव न लाए, अपितु क्षुत्परीषह सहन करे।[2]

दृष्टान्त—हस्तिमित्र मुनि अपने गृहस्थपक्षीय पुत्र हस्तिभूत के साथ दीक्षित होकर विचरण करते हुए भोजकटक नगर के मार्ग में एक अटवी में पैर में कांटा चुभ जाने से आगे चलने में असमर्थ हो गए। साधुओं ने कहा—'हम आपको अटवी पार करा देंगे।' परन्तु हस्तिमित्र मुनि ने कहा—मेरी आयु थोड़ी है। अतः मुझे यहीं अनशन करा कर आप सब लोग इस क्षुल्लक साधु को लेकर चले जाइए। उन्होंने वैसा ही किया। परन्तु क्षुल्लक साधु पिता के मोहवश आधे रास्ते से वापस लौट आया। पिता (मुनि) कालधर्म पा चुके थे। किन्तु क्षुल्लक साधु उसे जीवित समझ कर वहीं भूखा-प्यासा घूमता रहा, किन्तु फलादि तोड़ कर नहीं खाए। देव बने हुए हस्तिमित्र मुनि अपने शरीर में प्रविष्ट होकर क्षुल्लक से कहने लगे—पुत्र, भिक्षा के लिए जाओ। देवमाया से निकटवर्ती कुटीर में बसे हुए नर-नारी भिक्षा देने लगे। उधर दुर्भिक्ष समाप्त होने पर वे साधु भोजकटक नगर से वहाँ लौटे, क्षुल्लक साधु को लेकर आगे विहार किया। सबने क्षुधार्त्त क्षुल्लक साधु के द्वारा क्षुधापरीषह सहन करने की प्रशंसा की।[3]

(२) पिपासा-परीषह—

४. तओ पुट्ठो पिवासाए दोगुंछी लज्ज-संजए।
सीओदगं न सेविज्जा वियडस्सेसणं चरे॥

[४] असंयम (—अनाचार) से घृणा करने वाला, लज्जाशील संयमी भिक्षु पिपासा से आक्रान्त होने पर भी शीतोदक (—सचित्त जल) का सेवन न करे, किन्तु प्रासुक जल की गवेषणा करे।

५. छिन्नावाएसु पन्थेसु आउरे सुपिवासिए।
परिसुक्क-मुहेऽदीणे तं तितिक्खे परीसहं॥

[५] यातायातशून्य एकान्त निर्जन मार्गों में भी तीव्र पिपासा से आतुर (व्याकुल) होने

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ८४
(ख) पंसूकूलधरं जन्तुं किसं धमनिसन्थतं।
एकं वनस्मि झायंतं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ —धम्मपद
(ग) भागवत, ११।१८।९

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ८४

३. वही, पत्र ८५

पर, (यहाँ तक कि) मुख सूख जाने पर भी मुनि अदीनभाव से उस (पिपासा-) परीषह को सहन करे।

विवेचन—प्यास की चाहे जितनी और चाहे जहाँ (वस्ती में या अटवी में) वेदना होने पर भी तत्त्वज्ञ साधु द्वारा अंगीकृत मर्यादा के विरुद्ध सचित्त जल न लेकर समभावपूर्वक उक्त वेदना को सहना पिपासा-परीषह है। 'सर्वार्थसिद्धि' में बताया गया है कि जो अतिरूक्ष आहार, ग्रीष्मकालीन आतप, पित्तज्वर और अनशन आदि के कारण उत्पन्न हुई तथा शरीर और इन्द्रियों का मंथन करने वाली पिपासा का (सचित्त जल पी कर) प्रतीकार करने में आदरभाव नहीं रखता और पिपासारूपी अग्नि को संतोषरूपी नए मिट्टी के घड़े में भरे हुए शीतल सुगन्धित समाधिरूपी जल से शान्त करता है, उसका पिपासापरीषहजय प्रशंसनीय है।[1]

सीओदगं—का अर्थ 'ठंडा पानी' इतना ही करना भ्रान्तिमूलक है, क्योंकि ठंडा जल सचित्त भी होता है, अचित्त भी। अतः यहाँ शीतोदक अप्रासुक-सचित्त जल का सूचक है।

वियडस्स—विकृत जल—अग्नि या क्षारीय पदार्थों आदि से विकृति को प्राप्त—शस्त्रपरिणत अचित्त पानी को कहते हैं।[2]

दृष्टान्त—उज्जयिनीवासी धनमित्र, अपने पुत्र धनशर्मा के साथ प्रव्रजित हुआ। एक दिन वे दोनों अन्य साधुओं के साथ एलकाक्ष नगर की ओर रवाना हुए। क्षुल्लक साधु अत्यन्त प्यासा था। उसका पिता धनमित्र मुनि उसके पीछे-पीछे चल रहा था। रास्ते में नदी आई। पिता ने कहा—लो पुत्र, यह पानी पी लो। धनमित्र नदी पार करके एक ओर खड़ा रहा। धनशर्मा मुनि ने नदी को देख कर सोचा—"मैं इन जीवों को कैसे पी सकता हूँ?" उसने पानी नहीं पिया। अतः वहीं समभाव से उसने शरीर छोड़ दिया। मर कर देव बना। उस देव ने साधुओं के लिए स्थान-स्थान पर गोकुलों की रचना की और मुनियों को छाछ आदि देकर पिपासा शान्त की। सभी मुनिगण नगर में पहुँचे। पिछले गोकुल में एक मुनि अपना आसन भूल गए, अतः वापस लेने आए, पर वहाँ न तो गोकुल था, न आसन। सभी साधुओं ने इसे देवमाया समझी। बाद में वह देव आकर अपने भूतपूर्व पिता (धनमित्र मुनि) को छोड़ कर अन्य सभी साधुओं को वन्दन करने लगा। धनमित्र मुनि को वन्दन न करने का कारण पूछने पर बताया कि 'इन्होंने मुझे कहा था कि तू नदी का पानी पी ले। यदि मैं उस समय सचित्त जल पी लेता तो संसार-परिभ्रमण करता।' यों कह कर देव लौट गया। इसी तरह पिपासापरीषह सहन करना चाहिए।[3]

(३) शीतपरीषह—

६. चरन्तं विरयं लूहं सीयं फुसइ एगया।
नाइवेलं मुणी गच्छे सोच्चाणं जिणसासणं॥

[६] (अग्निसमारम्भादि से अथवा असंयम से) विरत और (स्निग्ध भोजनादि के अभाव में)

१. (क) आवश्य. मलयगिरि टीका १ अ० (ख) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२०।१२

२. (क) शीतं शीतलं, स्वरूपस्थतोयोपलक्षणमेतत् ततः स्वकायादिशस्त्रानुपहतमप्रासुकमित्यर्थः।

(ख) 'वियडस्स त्ति'—विकृतस्य वह्न्यादिना विकारं प्रापितस्य, प्रासुकस्येति यावत्; प्रक्रमादुदकस्य।

—बृहद्वृत्ति, पत्र ८६

३. वही, पत्र ८७

रूक्ष (अथवा अनासक्त) हो कर (ग्रामानुग्राम अथवा मुक्तिमार्ग में) विचरण करते हुए मुनि को एकदा (—शीतकाल आदि में) सर्दी सताती है, फिर भी मननशील मुनि जिनशासन (वीतराग की शिक्षाओं) को सुन (समझ) कर अपनी वेला (साध्वाचार-मर्यादा का अथवा स्वाध्याय आदि की वेला) का अतिक्रमण न करे।

७. 'न मे निवारणं अत्थि छवित्ताणं न विज्जई।
अहं तु अग्गिं सेवामि'—इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

[७] (शीतपरीषह से आक्रान्त होने पर) भिक्षु ऐसा न सोचे कि 'मेरे पास शीत के निवारण का साधन नहीं है तथा ठंड से शरीर की रक्षा करने के लिए कम्बल आदि वस्त्र भी नहीं हैं, तो क्यों न मैं अग्नि का सेवन कर लूं।'

विवेचन—शीतपरीषह : स्वरूप—बंद मकान न मिलने से शीत से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी साधु द्वारा अकल्पनीय अथवा मर्यादा-उपरान्त वस्त्र न लेकर तथा अग्नि आदि न जला कर, न जलवा कर तथा अन्य लोगों द्वारा प्रज्वलित अग्नि का सेवन न कर के शीत के कष्ट को समभावपूर्वक सहना शीतपरीषह है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार—पक्षी के समान जिसके आवास निश्चित नहीं हैं, वृक्षमूल, चौपथ या शिलातल पर निवास करते हुए बर्फ के गिरने पर, ठंडी बर्फीली हवा के लगने पर उसका प्रतीकार करने की इच्छा से जो निवृत्त है, पहले अनुभव किये गए प्रतीकार के हेतुभूत पदार्थों का जो स्मरण नहीं करता, और जो ज्ञान-भावनारूपी गर्भागार में निवास करता है, उसका शीतपरीषहविजय प्रशंसनीय है।[1]

दृष्टान्त—राजगृह नगर के चार मित्रों ने [illegible]बाहुस्वामी के पास दीक्षा ग्रहण की। शास्त्राध्ययन करके चारों ने एकलविहारप्रतिमा अंगीकार की। एक बार वे तृतीय प्रहर में भिक्षा लेकर लौट रहे थे। सर्दी का मौसम था। पहले मुनि को आते-आते चौथा प्रहर वैभारगिरि की गुफा के द्वार तक बीत गया। वह वहीं रह गया। दूसरा नगरोद्यान तक, तीसरा उद्यान के निकट पहुँचा और चौथा मुनि नगर के पास पहुँचा तब तक चौथा पहर समाप्त हो गया। अतः ये तीनों भी जहाँ पहुँचे थे वहीं ठहर गए। इनमें से सबसे पहले मुनि का, जो वैभारगिरि की गुफा के द्वार पर ठहरा था, भयंकर सर्दी से पीड़ित होकर रात्रि के प्रथम पहर में स्वर्गवास हो गया। दूसरा मुनि दूसरे पहर में, तीसरा तीसरे पहर में और चौथा मुनि चौथे पहर में स्वर्गवासी हुआ। ये चारों शीतपरीषह सहने के कारण मर कर देव बने। इसी प्रकार प्रत्येक साधु-साध्वी को समतापूर्वक शीतपरीषह सहना चाहिए।[2]

(४) उष्णपरीषह—

८. उसिण-परियावेणं परिदाहेण तज्जिए।
घिंसु वा परियावेणं सायं नो परिदेवए ॥

[८] गर्म भूमि, शिला, लू आदि के परिताप से, पसीना, मैल या प्यास के दाह से अथवा

१. (क) वृहद्वृत्ति, पत्र ८७ (ख) सर्वार्थसिद्धि ९।९।६२१।३
२. वृहद्वृत्ति, पत्र ८७

ग्रीष्मकालीन सूर्य के परिताप से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी मुनि ठंडक, शीतकाल आदि के सुख के लिए विलाप न करे (— व्याकुल न बने)।

९. उण्हाहितत्ते मेहावी सिणाणं नो वि पत्थए।
गायं नो परिसिंचेज्जा न वीएज्जा य अप्पयं॥

[९] गर्मी से संतप्त होने पर भी मेधावी मुनि नहाने की इच्छा न करे और न ही जल से शरीर को सींचे-(गीला करे) तथा पंखे आदि से थोड़ी-सी भी (अपने शरीर पर) हवा न करे।

विवेचन—उष्णपरिषह : स्वरूप एवं विजय—दाह, ग्रीष्मकालीन सूर्यकिरणों का प्रखर ताप, लू, तपी हुई भूमि, शिला आदि की उष्णता से तप्त मुनि द्वारा उष्णता की निन्दा न करना, छाया आदि ठंडक की इच्छा न करना, न उसकी याद करना, पंखे आदि से हवा न करना, अपने शिर को ठंडे पानी से गीला न करना; इत्यादि प्रकार से उष्णता की वेदना को समभाव से सहन करना, उष्णपरीषहजय है। राजवार्तिक के अनुसार—निर्वात और निर्जल तथा ग्रीष्मकालीन सूर्य की किरणों से सूख कर पत्तों के गिर जाने से छायारहित वृक्षों से युक्त वन में स्वेच्छा से जिसका निवास है, अथवा अनशन आदि आभ्यन्तर कारणवश जिसे दाह उत्पन्न हुई है तथा दवाग्निजन्य दाह, अतिकठोर वायु (लू), और आतप के कारण जिसका गला और तालु सूख रहे हैं, उनके प्रतीकार के बहुत से उपायों को जानता हुआ भी उनकी चिन्ता नहीं करता, जिसका चित्त प्राणियों की पीड़ा के परिहार में संलग्न है, वही मुनि उष्णपरीषहजयी है।[1]

परिदाहेण—दो प्रकार के दाह हैं—बाह्य और आन्तरिक। पसीना, मैल आदि से शरीर में होने वाला दाह बाह्य परिदाह है और पिपासाजनित दाह आन्तरिक परिदाह है। यहाँ दोनों प्रकार के 'परिदाह' गृहीत हैं।[2]

अप्पयं—दो रूप: दो अर्थ—आत्मानं—अपने शरीर को, अथवा **अल्पकं**—थोड़ी-सी भी।[3]

दृष्टान्त—तगरा नगरी में अर्हन्मित्र आचार्य के पास दत्त नामक वणिक् अपनी पत्नी भद्रा और पुत्र अर्हन्नक के साथ प्रव्रजित हुआ। दीक्षा लेने के बाद पिता ही अर्हन्नक की सब प्रकार से सेवा करता था। वह भिक्षा के लिए भी नहीं जाता और न ही कहीं विहार करता, अतः अत्यन्त सुकुमार एवं सुखशील हो गया। दत्त मुनि के स्वर्गवास के बाद अन्य साधुओं द्वारा प्रेरित करने पर वह बालकमुनि अर्हन्नक गर्मी के दिनों में सख्त धूप में भिक्षा के लिए निकला। धूप से बचने के लिए वह बड़े-बड़े मकानों की छाया में बैठता-उठता भिक्षा के लिए जा रहा था। तभी उसके सुन्दर रूप को देख कर एक सुन्दरी ने उसे बुलाया और विविध भोगसाधनों के प्रलोभन में फंसा कर वश में कर लिया। अर्हन्नक भी उस सुन्दरी के मोह में फंस कर विषयासक्त हो गया। उसकी माता भद्रा साध्वी पुत्रमोह में पागल हो कर 'अर्हन्नक-अर्हन्नक' चिल्लाती हुई गली-गली में घूमने लगी। एक दिन गवाक्ष में बैठे हुए अर्हन्नक ने अपनी माता की आवाज सुनी तो वह महल से नीचे उतर

१. (क) आवश्यक मलयगिरि टीका अ. २ (ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक. ९।९।७।६०९।१२

२. परिदाहेन—बहिः स्वेदमलाभ्यां वह्निना वा, अन्तश्च तृषया जनितदाहस्वरूपेण।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ८९

३. अप्पयं त्ति—'आत्मानमथवा अल्पमेवाल्पकम् किं पुनर्बहु।'—बृहद्वृत्ति, पत्र ८९

कर आया, अत्यन्त श्रद्धावश माता के चरणों में गिर कर बोला—'माँ ! मैं हूँ, आपका अर्हन्नक।' स्वस्थचित्त माता ने उसे कहा—'वत्स ! तू भव्यकुलोत्पन्न है, तेरी ऐसी दशा कैसे हुई ?' अर्हन्नक बोला—'माँ ! मैं 'चारित्रपालन नहीं कर सकता !' माता ने कहा—'तो फिर अनशन करके ऐसे असंयमी जीवन का त्याग करना अच्छा है।' अर्हन्नक ने साध्वी माता के वचनों से प्रेरित होकर तपतपाती गर्म शिला पर लेट कर पादपोपगमन अनशन कर लिया। इस प्रकार उष्णपरीषह को सम्यक् प्रकार से सहने के कारण वह समाधिमरणपूर्वक मर कर आराधक बना।[1]

(५) दंशमशक-परीषह—

१०. पुट्ठो य दंस-मसएहिं-समरेव महामुणी।
नागो संगाम-सीसे वा सूरो अभिहणे परं॥

[१०] महामुनि डांस एवं मच्छरों के उपद्रव से पीड़ित होने पर भी समभाव में ही स्थिर रहे। जैसे—युद्ध के मोर्चे पर (अगली पंक्ति में) रहा हुआ शूर हाथी (बाणों की परवाह न करता हुआ) शत्रुओं का हनन करता है, वैसे ही शूरवीर मुनि भी परीषह-बाणों की कुछ भी परवा न करता हुआ क्रोधादि (या रागद्वेषादि) अन्तरंग शत्रुओं का दमन करे।

११. न संतसे न वारेज्जा मणं पि न पओसए।
उवेहे न हणे पाणे भुंजन्ते मंस-सोणियं॥

[११] (दंश-मशकपरीषहविजेता) भिक्षु उन (दंश-मशकों के उपद्रव) से संत्रस्त (—उद्विग्न) न हो और न उन्हें हटाए। (यहाँ तक कि) मन में भी उनके प्रति द्वेष न लाए। मांस और रक्त खाने-पीने पर भी उपेक्षाभाव (उदासीनता) रखे, उन प्राणियों को मारे नहीं।

विवेचन—दंशमशकपरीषह : स्वरूप और व्याख्या—यहाँ दंश-मशकपद से उपलक्षण से जूं, लीख, खटमल, पिस्सू, मक्खी, छोटी मक्खी, कीट, चींटी, विच्छू आदि का ग्रहण करना चाहिए। शान्त्याचार्य ने मांस काटने और रक्त पीने वाले अत्यन्त पीड़क-(दंशक) शृगाल, भेड़िये, गीध, कौए आदि तथा भयंकर हिंस्र वन्य प्राणियों को भी 'दंशमशक' के अन्तर्गत गिनाया है। अतः देह को पीड़ा पहुँचाने वाले उपर्युक्त दंश-मशकादि प्राणियों के द्वारा मांस काटने, रक्त चूसने या अन्य प्रकार से पीड़ा पहुँचाने पर भी मुनि द्वारा उन्हें हटाने-भगाने के लिए धूंआ आदि न करना या पंखे आदि से न हटाना, उन पर द्वेषभाव न लाना, न मारना, ये बेचारे अज्ञानी आहारार्थी हैं, मेरा शरीर इनके लिए भोज्य है, भले ही खाएँ, इस प्रकार उपेक्षा रखना दंशमशकपरीषहजय है। उपर्युक्त शरीर-पीड़क प्राणियों द्वारा की गई बाधाओं को विना प्रतीकार किये सहन करता है, मन-वचन-काय से उन्हें बाधा नहीं पहुँचाता, उस वेदना को समभाव से सह लेता है, वही मुनि दंशमशकपरीषह-विजयी है।[2]

'न संतसे': दो अर्थ—(१) दंशमशक आदि से संत्रस्त—उद्विग्न—क्षुब्ध न हो, (२) दंशमशकादि से व्यथित किये जाने पर भी हाथ, पैर आदि अंगों को हिलाए नहीं।[3]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ९०

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ९१ (ख) पंचसंग्रह, द्वार ४, (ग) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२१।१०

३. (क) न संत्रसेत् नोद्विजेत् दंशादिभ्य इति गम्यते, यद्वाऽनेकार्थत्वाद्धातूनां न कम्पयेत्तैस्तुद्यमानोऽपि अंगानीति शेषः।—बृहद्वृत्ति, पत्र ९१ (ख) न संत्रसति अंगानि कम्पयति विक्षिपति वा।—उत्तरा. चूर्णि पृ. ५९

उदाहरण—चम्पानगरी के जितशत्रु राजा के पुत्र युवराज सुमनुभद्र ने सांसारिक कामभोगों से विरक्त होकर धर्मघोष आचार्य से दीक्षा ली। एकलविहारप्रतिमा अंगीकार करके वह एक बार सीलन वाले निचले प्रदेश में विहार करता हुआ शरत् काल में एक अटवी में रात को रह गया। रात भर में उसे भयंकर मच्छरों ने काटा; फिर भी समभाव से उसने सहन किया। फलतः उसी रात्रि में कालधर्म पा कर वह देवलोक में गया।[1]

(६) अचेलपरीषह—

१२. 'परिजुण्णेहि वत्थेहिं होक्खामि त्ति अचेलए।'
अदुवा सचेलए होक्खं' इइ भिक्खू न चिन्तए॥

[१२] 'वस्त्रों के अत्यन्त जीर्ण हो जाने से अब मैं अचेलक (निर्वस्त्र-नग्न) हो जाऊँगा; अथवा अहा! नये वस्त्र मिलने पर फिर मैं सचेलक हो जाऊँगा'; मुनि ऐसा चिन्तन न करे। (अर्थात्—दैन्य और हर्ष दोनों प्रकार का भाव न लाए।)

१३. 'एगयाऽचेलए होइ सचेले यावि एगया।'
एयं धम्महियं नच्चा नाणी नो परिदेवए॥

[१३] विभिन्न एवं विशिष्ट परिस्थितियों के कारण साधु कभी अचेलक भी होता है और कभी सचेलक भी होता है। दोनों ही स्थितियाँ यथाप्रसंग मुनिधर्म के लिए हितकर समझ कर ज्ञानवान् मुनि (वस्त्र न मिलने पर) खिन्न न हो।

विवेचन—एगया...० शब्द की व्याख्या—गाथा में प्रयुक्त एगया (एकदा) शब्द से मुनि की जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक अवस्थाएँ तथा वस्त्राभाव एवं सवस्त्र आदि अवस्थाएँ परिलक्षित होती हैं। चूर्णिकार के अनुसार मुनि जब जिनकल्प-अवस्था को स्वीकार करता है तब अचेलक होता है। अथवा स्थविरकल्प-अवस्था में वह दिन में, ग्रीष्मऋतु में या वर्षाऋतु में वर्षा नहीं पड़ती हो तब अचेलक रहता है। शिशिररात्र (पौष और माघ), वर्षारात्र (भाद्रपद और आश्विन), वर्षा गिरते समय तथा प्रभातकाल में भिक्षा के लिए जाते समय वह सचेलक रहता है।

बृहद्वृत्ति के अनुसार जिनकल्प-अवस्था में मुनि अचेलक होता है तथा स्थविरकल्प-अवस्था में भी जब वस्त्र दुर्लभ हो जाते हैं या सर्वथा वस्त्र मिलते नहीं या वस्त्र उपलब्ध होने पर भी वर्षाऋतु के विना उन्हें धारण न करने की परम्परा होने से या वस्त्रों के जीर्णशीर्ण हो जाने पर वह अचेलक हो जाता है।[2]

इस पर से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्थविरकल्पी मुनि अपने साधनाकाल में ही अचेलक और सचेलक दोनों अवस्थाओं में रहता है। इसी का समर्थन आचारांगसूत्र में मिलता है—'हेमन्त के चले जाने और ग्रीष्म के आ जाने पर मुनि एकशाटक (एक चादर धारण करने वाला) या अचेल हो जाए।'[3]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ९१
२. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ६० (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ९२-९३ (ग) सुखबोधा., पत्र २२
३. आचारांग १।८।४।५०-५२

रात को हिमपात, ओस आदि के जीवों की हिंसा से बचने तथा वर्षाकाल में जल-जीवों से बचने के लिए वस्त्र पहनने-ओढ़ने का भी विधान मिलता है।[1]

स्थानांगसूत्र में पांच कारणों से अचेलक को प्रशस्त माना गया है—(१) उसके प्रतिलेखना अल्प होती है, (२) उपकरण तथा कषाय का लाघव होता है, (३) उसका रूप वैश्वासिक (विश्वस्त) होता है, (४) उसका तप (उपकरणसंलीनता रूप) जिनानुमत होता है और (५) विपुल इन्द्रिय-निग्रह होता है।[2]

इसी अध्ययन की ३४ और ३५ वीं गाथा में जो अचेलकत्व फलित होता है वह भी जिन-कल्पी या विशिष्ट अभिग्रहधारी मुनि की अपेक्षा से है।[3]

(७) अरतिपरीषह—

१४. गामाणुगामं रीयन्तं अणगारं अकिंचणं।
अरई अणुप्पविसे तं तितिक्खे परीसहं॥

[१४] एक गाँव से दूसरे गाँव विचरण करते हुए अकिंचन (निर्ग्रन्थ) अनगार के मन में यदि कभी संयम के प्रति अरति (—अरुचि=अधृति) उत्पन्न हो जाए तो उस परीषह को सहन करे।

१५. अरइं पिट्ठओ किच्चा विरए आय-रक्खिए।
धम्मारामे निरारम्भे उवसन्ते मुणी चरे॥

[१५] (हिंसा आदि से) विरत, (दुर्गतिहेतु दुर्ध्यानादि से) आत्मा की रक्षा करने वाला, धर्म में रतिमान् (आरम्भप्रवृत्ति से दूर) निरारंभ मुनि (संयम में) अरति को पीठ देकर (अरुचि से विमुख होकर) उपशान्त हो कर विचरण करे।

विवेचन—अरतिपरीषह : स्वरूप और विजय—गमनागमन, विहार, भिक्षाचर्या, साधु-समाचारीपालन, अहिंसादिपालन, समिति-गुप्ति-पालन आदि संयमसाधना के मार्ग में अनेक कठिनाइयों—असुविधाओं के कारण अरुचि न लाते हुए धैर्यपूर्वक उसमें रस लेना, धर्मरूपी आराम (बाग) में स्वस्थचित्त होकर सदैव विचरण करना, अरतिपरीषहजय है। अरतिमोहनीयकर्मजन्य मनोविकार है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार जो संयमी साधु इन्द्रियों के इष्टविषय-सम्बन्ध के प्रति निरुत्सुक है, जो गीत-नृत्य-वादित्र आदि से रहित शून्य घर, देवकुल, तरुकोटर या शिला, गुफा आदि में स्वाध्याय, ध्यान और भावना में रत है, पहले देखे हुए, सुने हुए और अनुभव किये हुए विषय-भोगों के स्मरण, विषय-भोग सम्बन्धी कथा के श्रवण तथा काम-शर प्रवेश के लिए जिसका हृदय निश्छिद्र है एवं जो प्राणियों पर सदैव दयावान् है, वही अरतिपरीषहजयी है।[4]

---

१. तह निसि चाउक्कालं सज्झाय-झाणसाहणमिसीणं।
हिम-महिया वासोसारयाइरक्खाणिमित्तं तु॥ —बृहद्वृत्ति, पत्र ९६

२. स्थानांग, स्थान ५, उ. ३, सू. ४५५

३. उत्तरा. अ. २, गा. ३४-३५

४. [क] आवश्यक, अ. ४
[ख] तत्त्वार्थ. सर्वार्थसिद्धि, ९।९।४१२।७

धम्मारामे--दो अर्थ--(१) **धर्मारामः**--जो साधक सब ओर से धर्म में रमण करता है, (२) **धर्मारामः**--पालनीय धर्म ही जिस साधक के लिए आनन्द का कारण होने से आराम (बगीचा) है, वह ।[1]

उदाहरण--कौशाम्बी में तापसश्रेष्ठी मर कर अपने घर में ही 'सूअर' बना । एक दिन उसके पुत्रों ने उस सूअर को मार डाला, वह मर कर वहीं सर्प हुआ । उसे जातिस्मरणज्ञान हुआ । पूर्वभव के पुत्रों ने उसे भी मार दिया । मर कर वह अपने पुत्र का पुत्र हुआ । जातिस्मरणज्ञान होने से वह संकोचवश मूक रहा । एक बार चार ज्ञान के धारक आचार्य ने उसकी स्थिति जान कर उसे प्रतिबोध दिया, वह श्रावक बना । एक अमात्यपुत्र पूर्वजन्म में साधु था, मरकर देव बना था, वही उक्त मूक के पास आया और बोला--मैं तुम्हारा भाई बनूंगा, तुम मुझे धर्मबोध देना । मूक ने स्वीकार किया । वह देव मूक की माता की कुक्षि से जन्मा । मूक उसे साधुदर्शन आदि को ले जाता परन्तु वह दुर्लभबोधि किसी तरह भी प्रतिबुद्ध न हुआ । अतः मूक ने दीक्षा ले ली । चारित्रपालन कर वह देव बना । मूक के जीव देव ने अपनी माया से अपने भाई को प्रतिबोध देने के लिए जलोदर-रोगी बना दिया । स्वयं वैद्य के रूप में आया । जलोदर-रोगी ने उसे रोगनिवारण के लिए कहा तो वैद्य रूप देव ने कहा--'तुम्हारा असाध्य रोग मैं एक ही शर्त पर मिटा सकता हूँ, वह यह कि तुम पीछे-पीछे यह औषध का बोरा उठा कर चलो ।' रोगी ने स्वीकार किया । वैद्यरूप देव ने उसका जलोदररोग शान्त कर दिया । अब वह वैद्यरूप देव के पीछे-पीछे औषधों के भारी भरकम बोरे को उठाए-उठाए चलता । उसे छोड़कर वह घर नहीं जा सकता था । जाऊँगा तो पुनः जलोदररोगी बन जाऊँगा, यह डर था । एक गाँव में कुछ साधु स्वाध्याय कर रहे थे । वैद्यरूप देव ने उससे कहा--'यदि तू इससे दीक्षा ले लेगा तो मैं तुझे शर्त से मुक्त कर दूंगा ।' बोझ ढोने से घबराए हुए मूक भ्राता ने दीक्षा ले ली । वैद्यदेव के जाते ही उसने दीक्षा छोड़ दी । देव ने उसको पुनः जलोदररोगी बना दिया और दीक्षा अंगीकार करने पर ही उस वैद्यरूपधारी देव ने उसे छोड़ा । यों तीन बार उसने दीक्षा ग्रहण करने और छोड़ने का नाटक किया । चौथी बार वैद्यरूपधारी देव साथ रहा । आग से जलते हुए एक गाँव में वह घास हाथ में लेकर प्रवेश करने लगा तो उक्त साधु ने कहा--'जलते हुए गाँव में क्यों प्रवेश कर रहे हो ?' उसने कहा--'आप मना करने पर भी कषायों से जलते हुए गृहवास में क्यों बार-बार प्रवेश करते हैं ?' वह इस पर भी नहीं समझा । दोनों एक अटवी में पहुँचे, तब देव उन्मार्ग से चलने लगा । इस पर साधु ने कहा--'उन्मार्ग से क्यों जाते हो ?', देव बोला--'आप विशुद्ध संयम मार्ग को छोड़ कर आधि-व्याधिरूप कण्टकाकीर्ण संसारमार्ग में क्यों जाते हैं ?' इस पर भी वह नहीं समझा । फिर दोनों एक यक्षायतन में पहुँचे । यक्ष की बार-बार अर्चा करने पर भी वह अधोमुख गिर जाता था । इस पर साधु ने कहा--'यह अधम यक्ष पूजित होने पर भी अधोमुख क्यों गिर जाता है ?' देव ने कहा--'आप इतने वन्दित-पूजित होने पर भी बार-बार संयममार्ग से क्यों गिर जाते हैं ?' इस पर साधु चौंका । परिचय पूछा । देव ने अपना विस्तृत परिचय दिया । उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया और अब उसकी संयम में रुचि एवं दृढता हो गई । जिस प्रकार मूक भ्राता की देवप्रतिबोध से संयम में रति हुई; इसी प्रकार साधु को संयम में अरति आ जाए तो उस पर ज्ञानबल से विजय पाना चाहिए ।[2]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ९४

२. वही, पत्र ९५

(८) स्त्रीपरीषह—

१६. 'संगो एस मणुस्साणं जाओ लोगंमि इत्थिओ।'
जस्स एया परिन्नाया सुकडं तस्स सामण्णं ॥

[१६.] 'लोक में जो स्त्रियाँ हैं, वे पुरुषों के लिए संग(—आसक्ति की कारण) हैं' जिस साधक को ये यथार्थरूप में परिज्ञात हो जाता है, उसका श्रामण्य-साधुत्व सफल (सुकृत) होता है।

१७. एवमादाय मेहावी 'पंकभूया उ इत्थिओ'।
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा चरेज्जऽत्तगवेसए ॥

[१७.] ब्रह्मचारी के लिये स्त्रियाँ पंक (—दलदल) के समान (फंसा देने वाली) हैं; इस बात को बुद्धि से भली भांति ग्रहण करके मेधावी मुनि उनसे अपने संयमी जीवन का विनिघात (विनाश) न होने दे, किन्तु आत्मस्वरूप की गवेषणा करता हुआ (श्रमणधर्म में) विचरण करे।

विवेचन—स्त्रीपरीषह : स्वरूप और विजय—एकान्त बगीचे या भवन आदि स्थानों में नवयौवना, मदविभ्रान्ता और कामोन्मत्ता एवं मन के शुभ संकल्पों का अपहरण करती हुई ललनाओं द्वारा बाधा पहुँचाने पर इन्द्रियों और मन के विकारों पर नियंत्रण कर लेना तथा उनकी मंद मुस्कान, कोमल सम्भाषण, तिरछी नजरों से देखना, हँसना, मदभरी चाल से चलना और कामवाण मारना आदि को 'ये रक्त-मांस आदि अशुचि का पिण्ड हैं, मोक्षमार्ग की अर्गला हैं' इस प्रकार के चिन्तन से तथा मन से, उनके प्रति कामबुद्धि न करके विफल कर देना स्त्रीपरीषहजय है और इस प्रकार चिन्तन करने वाले साधक स्त्रीपरीषहविजयी हैं।[१]

'परिन्नाया' शब्द की व्याख्या—'इहलोक—परलोक में ये महान् अनर्थहेतु हैं' इस प्रकार ज्ञपरिज्ञा से सब प्रकार से स्त्रियों का स्वरूप विदित कर लेना और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से मन से उनकी आसक्ति त्याग देना, परिज्ञात कहलाता है।[२]

उदाहरण—कोशागणिकासक्त स्थूलभद्र ने विरक्त होकर आचार्य सम्भूतिविजय से दीक्षा ले ली। जब चातुर्मास का समय निकट आया तो गुरु की आज्ञा से स्थूलभद्रमुनि ने गणिकागृह में, शेष तीनों गुरुभाइयों में से एक ने सर्प की बांबी पर, एक ने सिंह की गुफा में और एक ने कुएँ के किनारे पर चातुर्मास किया। जब चारों मुनि चातुर्मास पूर्ण करके गुरु के पास पहुँचे तो गुरु ने स्थूलभद्र के कार्य को 'दुष्कर—दुष्करकारी' बताया, शेष तीनों शिष्यों को केवल दुष्करकारी कहा। पूछने पर समाधान किया कि सर्प, सिंह या कूप-तटस्थान तो सिर्फ शरीर को हानि पहुँचा सकते थे, किन्तु गणिकासंग तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र का सर्वथा उन्मूलन कर सकता था। स्थूलभद्र का यह कार्य तो तीक्ष्ण खड्ग की धार पर चलने के समान या अग्नि में कूद कर भी न जलने जैसा है। यह स्त्री-परीषहविजय है। परन्तु एक साधु इस वचन पर अश्रद्धा ला कर अगली बार वेश्यागृह में चातुर्मास बिताने आया, मगर असफल हुआ। वह स्त्रीपरीषह में पराजित हो गया।[३]

---

१. [क] पंचसंग्रह, द्वार ४, [ख] सर्वार्थसिद्धि, ९।९।९।४२२।११
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ९६
३. वही, पत्र ९६-९७

(९) चर्या परीषह—

१८. एग एव चरे लाढे अभिभूय परीसहे ।
गामे वा नगरे वावि निगमे वा रायहाणिए ॥

[१८] साधुजीवन की विभिन्न चर्याओं से लाढ (—प्रशंसित या आढ्य) मुनि परीषहों को पराजित करता हुआ एकाकी (राग-द्वेष से रहित)- ही ग्राम में, नगर में, निगम में अथवा राजधानी में विचरण करे ।

१९. असमाणो चरे भिक्खू नेव कुज्जा परिग्गहं ।
असंसत्तो गिहत्थेहिं अणिएओ परिव्वए ॥

[१९] भिक्षु (गृहस्थादि से) असमान (असाधारण—विलक्षण) होकर विहार करे । ग्राम, नगर आदि में या आहारादि किसी पदार्थ में ममत्वबुद्धिरूप परिग्रह न करे । वह गृहस्थों से असंसक्त (असम्बद्ध—निर्लिप्त) होकर रहे तथा सर्वत्र अनिकेत (गृहबन्धन से मुक्त) रहता हुआ परिभ्रमण करे ।

विवेचन—चर्यापरीषह स्वरूप और विजय—बन्धमोक्षतत्त्वज्ञ तथा वायु की तरह निःसंगता और अप्रतिबद्धता धारण करके मासकल्पादि नियमानुसार तपश्चर्यादि के कारण अत्यन्त अशक्त होने पर भी पैदल विहार करना, पैर में कांटे, कंकड़ आदि चुभने से खेद उत्पन्न होने पर भी पूर्वभुक्त यान—वाहनादि का स्मरण न करना तथा यथाकाल सभी साधुचर्याओं का सम्यक् परिपालन करना चर्यापरीषह है । इस परीषह का विजयी चर्यापरीषहविजयी है ।[1]

लाढे—चार अर्थ—(१) प्रासुक एषणीय आहार से अपना निर्वाह करने वाला, (२) साधुगुणों के द्वारा जीवनयापन करने वाला, (३) प्रशंसावाचक देशीय पद अर्थात्—शुद्ध चर्याओं के कारण प्रशंसित, (४) लाढ—राढदेश, जहाँ भगवान् महावीर ने विचरण करके घोर उपसर्ग सहन किये थे ।[2]

एग एव : चार अर्थ—(१) एकाकी—राग-द्वेषविरहित, (२) निपुण, गुणी सहायक के अभाव में अकेला विचरण करने वाला गीतार्थ साधु, (३) प्रतिमा धारण करके तदनुसार आचरण करने के लिए जाने वाला अकेला साधु, (४) कर्मसमूह नष्ट होने से मोक्षगामी या कर्मक्षय करने हेतु मोक्ष प्राप्तियोग्य अनुष्ठान के लिये जाने वाला एकाकी साधु ।[3]

---

१. (क) पंचसंग्रह, द्वार ४ (ख) तत्त्वार्थ. सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२३।४

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १०७
लाढेत्ति—लाढयति प्रासुकैषणीयाहारेण, साधुगुणैर्वाऽऽत्मानं यापयतीति लाढः प्रशंसाभिधायि वा देशीपदमेतत् ।
(ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ६६ (ग) सुखबोधा, पत्र ३१
(ग) लाढेसु अ उवसग्गा घोरा"""। —आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ४८२

३. एग एवेति रागद्वेषविरहितः, चरेत् अप्रतिबद्धविहारेण विहरेत् ।
सहायवैकल्यतो वा एकस्तथाविधः गीतार्थो, यथोक्तम्—
न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एक्को ऽवि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥
—बृहद्वृत्ति, पत्र १०७ —उत्त. ३२, गा. ५

एकः उक्तरूपः स एवैककः, एको वा प्रतिमाप्रतिपत्त्यादौ गच्छतीत्येकगः ।
एकं वा कर्मसाहित्यविगमतो मोक्षं गच्छति-तत्प्राप्तियोग्यानुष्ठानप्रवृत्तेर्यातीत्येकगः । —बृहद्वृत्ति, पत्र १०९

असमाणो : 'असमान' के ४ अर्थ—(१) गृहस्थ से असदृश (विलक्ष), (२) अतुल्य-विहारी—जिसका विहार अन्यतीर्थिकों के तुल्य नहीं है, (३) अ+समान—मान=अहंकार (आडम्बर) से रहित होकर, (४) असन् (असन्निहित)-जिसके पास कुछ भी संग्रह नहीं है—संग्रहरहित होकर।[1]

(१०) निषद्यापरीषह—

२०. सुसाणे सुन्नगारे वा रुक्ख-मूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा न य वित्तासए परं॥

[२०] श्मशान में, शून्यागार (सूने घर) में अथवा वृक्ष के मूल में एकाकी (रागद्वेषरहित) मुनि अचपलभाव से बैठे; आसपास के अन्य किसी भी प्राणी को त्रास न दे।

२१. तत्थ से चिट्ठमाणस्स उवसग्गाभिधारए।
संका-भीओ न गच्छेज्जा उट्ठित्ता अन्नमासणं॥

[२१] वहाँ (उन स्थानों में) बैठे हुए यदि कोई उपसर्ग आ जाए तो उसे समभाव से धारण करे, (कि 'ये मेरे अजर अमर अविनाशी आत्मा की क्या क्षति करेंगे?') अनिष्ट की शंका से भयभीत हो कर वहाँ से उठ कर अन्य स्थान (आसन) पर न जाए।

विवेचन—निषद्यापरिषह : स्वरूप और विजय—निषद्या के अर्थ—उपाश्रय एवं वैठना ये दो हैं। प्रस्तुत में वैठना अर्थ ही अभिप्रेत है। अनभ्यस्त एवं अपरिचित श्मशान, उद्यान, गुफा, सूना घर, वृक्षमूल या टूटा-फूटा खण्डहर या ऊबड़-खावड़ स्थान आदि स्त्री-पशु-नपुंसकरहित स्थानों में रहना, नियत काल तक निषद्या (आसन) लगा कर बैठना, वीरासन, आम्रकुब्जासन आदि आसन लगा कर शरीर से अविचल रहना, सूर्य के प्रकाश और अपने इन्द्रियज्ञान से परीक्षित प्रदेश में नियमानुष्ठान (प्रतिमा या कायोत्सर्गादि साधना) करना, वहाँ सिंह, व्याघ्र आदि की नाना प्रकार की भयंकर ध्वनि सुन कर भी भय न होना, नाना प्रकार का उपसर्ग (दिव्य, तैर्यञ्च और मानुष्य) सहन करते हुए मोक्ष मार्ग से च्युत न होना; इस प्रकार निषद्याकृत वाधा का सहन करना निषद्यापरीषहजय है। जो इस निषद्याजनित वाधाओं को समभावपूर्वक सहन करता है, वह निषद्यापरीषह-विजयी कहलाता है।[2]

सुसाणे सुन्नगारे रुक्खमूले—इन तीनों का अर्थ स्पष्ट है। ये तीनों एकान्त स्थान के द्योतक हैं। इनमें विशिष्ट साधना करने वाले मुनि ही रहते हैं।[3]

(११) शय्यापरीषह—

२२. उच्चावयाहिं सेज्जाहिं तवस्सी भिक्खु थामवं।
नाइवेलं विहन्नेज्जा पावदिट्ठी विहन्नई॥

[२२] ऊँची-नीची (—अच्छी-बुरी) शय्या (उपाश्रय) के कारण तपस्वी और (शीतातपादि-

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १०७ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ६७
२. (क) पंचसंग्रह, द्वार ४ (ख) तत्त्वार्थ. सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२३।७
३. (क) दशवैकालिक १०।१२ (ख) उत्तरा. मूल, अ १५।४, १६।३।१, ३२।१२, १३।१६, ३५।४-९

सहन-) सामर्थ्यवान् भिक्षु (संयम-) मर्यादा को भंग न करे (हर्ष-विषाद न करे), पापदृष्टि वाला साधु ही (हर्ष-विषाद से अभिभूत हो कर) मर्यादा-भंग करता है।

२३. पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं कल्लाणं अदु पावगं।
'किमेगरायं करिस्सइ' एवं तत्थऽहियासए॥

[२३] प्रतिरिक्त (स्त्री आदि की बाधा से रहित एकान्त) उपाश्रय पाकर, भले ही वह अच्छा हो या बुरा; उसमें मुनि समभावपूर्वक यह सोच कर रहे कि यह एक रात क्या करेगी ? (—एक रात्रि में मेरा क्या बनता-बिगड़ता है ?) तथा जो भी सुख-दुःख हो उसे सहन करे।

विवेचन—शय्यापरीषह : स्वरूप और विजय—स्वाध्याय, ध्यान और विहार के श्रम के कारण थक कर खर (खुरदरा), विषम (ऊबड़-खाबड़) प्रचुर मात्रा में कंकड़ों, पत्थर के टुकड़ों या खप्परों से व्याप्त, अतिशीत या अतिउष्ण भूमि वाले गंदे या सीलन भरे, कोमल या कठोर प्रदेश वाले स्थान या उपाश्रय को पाकर आर्त्त-रौद्रध्यानरहित होकर समभाव से साधक का निद्रा ले लेना, यथाकृत एक पार्श्वभाग से या दण्डायित आदि रूप से शयन करना, करवट लेने से प्राणियों को होने वाली बाधा के निवारणार्थ जो गिरे हुए लकड़ी के टुकड़े के समान या मुर्दे के समान करवट न बदलना, अपना चित्त ज्ञानभावना में लगाना, देव-मनुष्य-तिर्यञ्चकृत उपसर्गों से विचलित न होना, अनियतकालिक शय्याकृत (आवासस्थान सम्बन्धी) बाधा को सह लेना शय्यापरीषहजय है। जो साधक शय्या सम्बन्धी इन बाधाओं को सह लेता है, वह शय्यापरीषहविजयी है।[1]

उच्चावयाहिं : तीन अर्थ—(१) ऊँची-नीची, (२) शीत, आतप, वर्षा आदि के निवारक गुणों के कारण या सहृदय सेवाभावी शय्यातर के कारण उच्च और इन से विपरीत जो सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि के निवारण के अयोग्य, बिलकुल खुली, जिसका शय्यातर कठोर एवं छिद्रान्वेषी हो, वह नीची (अवचा), (३) नाना प्रकार की।[2]

नाइवेलं विहन्नेज्जा : तीन अर्थ—(१) स्वाध्याय आदि की वेला (समय) का अतिक्रमण करके समाचारी भंग न करे, (२) यहाँ मैं शीतादि से पीड़ित हूँ, यह सोच कर वेला—समतावृत्ति का अतिक्रमण करके अन्यत्र—दूसरे स्थान में न जाए, (३) उच्च—उत्तम शय्या (उपाश्रय) को पाकर—'अहो ! मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि मुझे सभी ऋतुओं में सुखकारी ऐसी अच्छी शय्या (वसति या उपाश्रय) मिला है,' अथवा अवच (खराब) शय्या पाकर—'आह ! मैं कितना अभागा हूँ कि मुझे शीतादि निवारक शय्या भी नहीं मिली, इस प्रकार हर्षविषादादि करके समतारूप अति उत्कृष्ट मर्यादा का विघात—उल्लंघन न करे।[3]

कल्लाणं अदु पावगं : तीन अर्थ—(१) कल्याण—शोभन, अथवा पापक—अशोभन—धूल, कचरा, गन्दगी आदि से भरा होने से खराब, (२) साताकारी—असाताकारी, अथवा पारिपार्श्विक वातावरण अच्छा होने से शान्ति एवं समाधिदायक होने से मंगलकारी और पारिपार्श्विक वातावरण गन्दा, कामोत्तेजक, अश्लील, हिंसादि-प्रोत्साहक होने से तथा कोलाहल होने से अशान्तिप्रद एवं

---

१. (क) पंचसंग्रह, द्वार ४ (ख) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२३।११
२. बृहद्वृत्ति, पत्र. १०९
३, वही. पत्र १०९

असमाधिदायक अथवा वहाँ किसी व्यन्तरादि का उपद्रव होने से तथा स्वाध्याय-ध्यानादि में विघ्न पड़ने से अमंगलकारी, अथवा (३) किसी पुण्यशाली के द्वारा निर्मित विविध मणिकिरणों से प्रकाशित, सुदृढ़, मणिनिर्मित स्तम्भों से तथा चाँदी आदि धातु की दीवारों से समृद्ध, प्रकाश और हवा से युक्त वसति-उपाश्रय कल्याणरूप है और जीर्ण-शीर्ण, टूटा-फूटा, खण्डहर-सा बना हुआ, टूटे हुए दरवाजों से युक्त, ठूंठ य लकड़ियों की छत से ढका, जहाँ इधर-उधर घास, कूड़ा-कचरा, धूल, राख, भूसा बिखरा पड़ा है, यत्र-तत्र चूहों के बिल हैं, नेवले, बिल्ली, कुत्तों आदि का अबाध प्रवेश है, मल-मूत्र आदि की दुर्गन्ध से भरा है, मक्खियाँ भिनभिना रही हैं, ऐसा उपाश्रय पापरूप है।[1]

अहियासए : दो अर्थ—(१) सुख हो या दुःख, समभावपूर्वक सहन करे, (२) वहाँ रहे।

(१२) आक्रोशपरीषह—

२४. अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं तम्हा भिक्खू न संजले॥

[२४] यदि कोई भिक्षु को गाली दे तो उसके प्रति क्रोध न करे। क्रोध करने वाला भिक्षु बालकों (अज्ञानियों) के सदृश हो जाता है, इसलिए भिक्षु (आक्रोशकाल में) संज्वलित न हो (-क्रोध से भभके नहीं)।

२५. सोच्चाणं फरुसा भासा दारुणा गाम-कण्टगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा न ताओ मणसीकरे॥

[२५] दारुण (असह्य) ग्रामकण्टक (कांटे की तरह चुभने वाली) कठोर भाषा को सुन कर भिक्षु मौन रहे, उसकी उपेक्षा करे, उसे मन में भी न लाए।

विवेचन—आक्रोशपरीषह : स्वरूप और सहन—मिथ्यादर्शन के उद्रेक से क्रोधाग्नि को उद्दीप्त करने वाले क्रोधरूप, आक्रोशरूप, कठोर, अवज्ञाकर, निन्दारूप, तिरस्कारसूचक असभ्य वचनों को सुनते हुए भी जिसका चित्त उस ओर नहीं जाता, यद्यपि तत्काल उसका प्रतीकार करने में समर्थ है, फिर भी यह सब पापकर्म का विपाक (फल) है इस तरह जो चिन्तन करता है, उन शब्दों को सुन कर जो तपश्चरण की भावना में तत्पर होता है और जो कषायविष को अपने हृदय में लेशमात्र भी अवकाश नहीं देता, उसके आक्रोशपरीषह-सहन अवश्य होता है।[3]

अक्कोसेज्ज०……की व्याख्या—आक्रोश शब्द तिरस्कार, अनिष्टवचन, क्रोधावेश में आकर गाली देना इत्यादि अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'धर्मसंग्रह' में बताया है—साधक आक्रुष्ट होने पर भी अपनी क्षमाश्रमणता जानता हुआ प्रत्याक्रोश न करे, वह अपने प्रति आक्रोश करने वाले की उपकारिता का विचार करे। 'प्रवचनसारोद्धार' में बताया गया है—आक्रुष्ट बुद्धिमान् को तत्त्वार्थ के चिन्तन में अपनी बुद्धि लगानी चाहिए, यदि आक्रोशकर्ता का आक्रोश सच्चा है तो उसके प्रति क्रोध करने की क्या आवश्यता है ? बल्कि यह सोचना चाहिए कि यह परम उपकारी मुझे हितशिक्षा देता

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र १०९

२. (क) वही, पत्र १०९-११० (ख) उत्तरा. (साध्वी चन्दना), पृ. २२

३. (क) तत्त्वार्थ. सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२४ (ख) पंचाशक, १३ विवरण

है, भविष्य में ऐसा नहीं करूँगा। यदि आक्रोश असत्य है तो रोष करना ही नहीं चाहिए। "किसी साधक को जाते देख कोई व्यक्ति उस पर व्यंग्य कसता है कि यह चाण्डाल है या ब्राह्मण, अथवा शूद्र है या तापस? अथवा कोई तत्त्वविशारद योगीश्वर है?" इस प्रकार का वार्तालाप अनेक प्रकार के विकल्प करने वाले वाचालों के मुख से सुन कर महायोगी हृदय में रुष्ट और तुष्ट न होकर अपने मार्ग से चला जाता है। गाली सुन कर वह सोचे—जितनी इच्छा हो गाली दो, क्योंकि आप गालीमान् हैं, जगत् में विदित है कि जिसके पास जो चीज होती है, वही देता है। हमारे पास गालियाँ नहीं हैं, इसलिए देने में असमर्थ हैं। इस प्रकार आक्रोश वचनों का उत्तर न देकर धीर एवं क्षमाशील अर्जुन-मुनि की तरह जो उन्हें समभाव से सहता है, वही अत्यन्त लाभ में रहता है।[1]

पडिसंजले—प्रतिसंज्वलन : तीन अर्थ—चूर्णिकार ने संज्वलन के दो अर्थ प्रस्तुत किये हैं—(१) रोषोद्गम और (२) मानोदय। प्रतिसंज्वलन का लक्षण उन्हीं के शब्दों में—

> 'कंपति रोषादग्निः संधुक्षितवच्च दीप्यतेऽनेन।
> तं प्रत्याक्रोशत्याहन्ति च हन्येत येन स मतः ॥'

जो रोष से कांप उठता है, अग्नि की भांति धधकने लगता है, रोषाग्नि प्रदीप्त कर देता है, जो आक्रोश के प्रति आक्रोश और घात के प्रति प्रत्याघात करता है, वही प्रतिसंज्वलन है।

[२] (बदला लेने के लिए) गाली के बदले में गाली देना, अर्थ बृहद्वृत्तिकार ने किया है।[2]

१. (क) आक्रोशनमाक्रोशोऽसभ्यभाषात्मकः, उत्त. अ. २ वृत्ति, 'आक्रोशोऽनिष्टवचनं'—आवश्यक. ४ अ. 'आक्रोशेत्तिरस्कुर्यात्'—बृ. वृ., पत्र १४०

(ख) 'आक्रुष्टो हि नाक्रोशेत्, क्षमाश्रमणतां विदन्।
प्रत्युताक्रुष्टरि यतिश्चिन्तयेदुपकारिताम् ॥ —धर्मसंग्रह, अधि. ३

(ग) आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या।
यदि सत्यं कः कोपः ? यद्यनृतं 'किमिह कोपेन ?' —प्रवचन, द्वार ८६

(घ) चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः।
किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि वा ॥
इत्यस्वल्पविकल्पजल्पमुखरैः संभाष्यमाणो जनैर्।
नो रुष्टो, नहि चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति ॥

(ङ) ददतु ददतु गालीं गालिमन्तो भवन्तः,
वयमिह तदभावात् गालिदानेऽप्यशक्ताः।
जगति विदितमेतत् दीयते विद्यमानं,
नहि शशकविषाणं कोऽपि कस्मै ददाति ॥

२. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ७२ (ख) उत्तरज्झयणाणि (मुनि नथमल), अ. २, पृ. २०

गामकंटगा—ग्रामकण्टक : दो व्याख्या—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार— इन्द्रियग्राम (इन्द्रिय-समूह) अर्थ में तथा कानों में कांटों की भांति चुभने वाली प्रतिकूलशब्दात्मक भाषा। (२) मूलाराधना के अनुसार ग्राम्य (गंवार) लोगों के वचन रूपी कांटे।[1]

(१३) वधपरीषह—

२६. हओ न संजले भिक्खू मणं पि न पओसए।
तितिक्खं परमं नच्चा भिक्खु-धम्मं विचिंतए॥

[२६] मारे-पीटे जाने पर भी भिक्षु (बदले में) क्रोध न करे, मन को भी (दुर्भावना से) प्रदूषित न करे, तितिक्षा (क्षमा—सहिष्णुता) को (साधना का) परम अंग जान कर श्रमणधर्म का चिन्तन करे।

२७. समणं संजयं दन्तं हणेज्जा कोई कत्थई।
'नत्थि जीवस्स नासु' त्ति एवं पेहेज्ज संजए॥

[२७] संयत और दान्त श्रमण को कोई कहीं मारे—(वध करे) तो उसे ऐसा अनुप्रेक्षण (चिन्तन) करना चाहिए कि 'आत्मा का नाश नहीं होता।'

विवेचन—वध के दो अर्थ—(१) डंडा, चाबुक और बेंत आदि से प्राणियों को मारना-पीटना, (२) आयु, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास आदि प्राणों का वियोग कर देना।[2]

वधपरीषहजय का लक्षण—तीक्ष्ण, तलवार, मूसल, मुद्गर, चाबुक, डंडा आदि अस्त्रों द्वारा ताड़न और पीड़न आदि से जिस साधक का शरीर तोड़ा-मरोड़ा जा रहा है, तथापि मारने वालों पर लेशमात्र भी द्वेषादि मनोविकार नहीं आता, यह मेरे पूर्वकृत दुष्कर्मो का फल है; ये बेचारे क्या कर सकते हैं? इस शरीर का जल के बुलबुले के समान नष्ट होने का स्वभाव है, ये तो दुःख के कारण शरीर को ही बाधा पहुँचाते है, मेरे सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र को कोई नष्ट नहीं कर सकता; इस प्रकार जो साधक विचार करता है, वह बसूले से छीलने और चन्दन से लेप करने, दोनों परिस्थितियों में समदर्शी रहता है, ऐसा साधक ही वधपरीषह पर विजय पाता है।[3]

भिक्खुधम्मं—भिक्षुधर्म से यहाँ क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दशविध श्रमणधर्म से अभिप्राय है।[4]

समणं—'समण' के तीन रूप : तीन अर्थ—(१) श्रमण (२) समन-सममन और (३) शमन। श्रमण का अर्थ है—साधना के लिए स्वयं आध्यात्मिक श्रम एवं तप करने वाला, समन का अर्थ हैं—

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ११०
(ख) ग्रसते इति ग्रामः इन्द्रियग्रामः, तस्येन्द्रियग्रामस्य कटगा जहा पंथे गच्छंताणं कंटगा विघ्नाय, तहा सद्दादयोऽवि इन्द्रियग्रामकंटया मोक्षिणां विघ्नाय। —उत्तरा. चूर्णि, पृ ७०
(ग) मूलाराधना, आश्वास ४, श्लोक ३०१
२. (क) सर्वार्थसिद्धि ७।२५।३६६।२ (ख) वही, ६।११।३२९।२
३. वही, ६।९।४२४।९, चारित्रसार १२९।३
४. स्थानांग में देखें-दशविध श्रमणधर्म १०।७१२

जिसका मन रागद्वेषादि प्रसंगों में सम है, जो समत्व में स्थिर है, शमन का अर्थ है—जिसने कषायों एवं अकुशल वृत्तियों का शमन कर दिया है, जो उपशम, क्षमाभाव एवं शान्ति का आराधक है।[1]

वध-प्रसंग पर चिन्तन—यदि कोई दुष्ट व्यक्ति साधु को गाली दे तो सोचे कि गाली ही देता है, पीटता तो नहीं, पीटने पर सोचे—पीटता ही तो है, मारता तो नहीं, मारने पर सोचे—यह शरीर को ही मारता है, मेरी आत्मा या आत्मधर्म का हनन तो यह कर नहीं सकता, क्योंकि आत्मा और आत्मधर्म दोनों शाश्वत, अमर, अमूर्त्त हैं। धीर पुरुष तो लाभ ही मानता है।[2]

१४. याचनापरीषह—

२८. दुक्करं खलु भो निच्चं अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वं से जाइयं होइ नत्थि किंचि अजाइयं॥

[२८] अहो! अनगार भिक्षु की यह चर्या वास्तव में दुष्कर है कि उसे (वस्त्र, पात्र, आहार आदि) सब कुछ याचना से प्राप्त होता है। उसके पास अयाचित (—बिना मांगा हुआ) कुछ भी नहीं होता।

२९. गोयरग्गपविट्ठस्स पाणी नो सुप्पसारए।
'सेओ अगार-वासु' त्ति इह भिक्खू न चिन्तए॥

[२९] गोचरी के लिए (गृहस्थ के घर में) प्रविष्ट भिक्षु के लिए गृहस्थ वर्ग के सामने हाथ पसारना आसान नहीं है। अतः भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे कि (इससे तो) गृहवास ही श्रेयस्कर (अच्छा) है।

विवेचन—याचनापरीषह-विजय—भिक्षु को वस्त्र, पात्र, आहार-पानी, उपाश्रय आदि प्राप्त करने के लिए दूसरों (गृहस्थों) से याचना करनी पड़ती है, किन्तु उस याचना में किसी प्रकार की दीनता, हीनता, चाटुकारिता, मुख की विवर्णता या जाति-कुलादि बता कर प्रगल्भता नहीं होनी चाहिए। शालीनतापूर्वक स्वधर्मपालनार्थ या संयमयात्रा निर्वाहार्थ याचना करना साधु का धर्म है। इस प्रकार विधिपूर्वक जो याचना करते हुए घबराता नहीं, वह याचनापरिषह पर विजयी होता है।[3]

पाणी नो सुप्पसारए : व्याख्या—याचना करने वाले को दूसरों के सामने हाथ पसारना 'मुझे दो', इस प्रकार कहना सरल नहीं है। चूर्णि में इसका कारण बताया है—कुबेर के समान धनवान् व्यक्ति भी जब तक 'मुझे दो' यह वाक्य नहीं कहता, तब तक तो उसका कोई तिरस्कार नहीं करता, किन्तु 'मुझे दो' ऐसा कहते ही वह तिरस्कारभाजन बन जाता है। नीतिकार भी कहते हैं—

'गतिभ्रंशो मुखे दैन्यं, गात्रस्वेदो विवर्णता।
मरणे यानि चिह्नानि, तानि चिह्नानि याचके॥'

---

१. श्रमणसूत्र : श्रमण शब्द पर निर्वचन (उत्त. अमरमुनि) पृ. ५४-५५ —उत्त. चूर्णि पृ. ७२

२. अक्कोस-हणण-मारण-धम्मब्भंसाण बालसुलभाणं।
लाभं मन्नति धीरो, जहुत्तराणं अभावंमि॥

३. (क) पंचसंग्रह, द्वार ४ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १११ (ग) सर्वार्थसिद्धि ९।९।८२५

चाल में लड़खड़ाना, मुख पर दीनता, शरीर में पसीना आना, चेहरे का रंग फीका पड़ जाना आदि जो चिह्न मरणावस्था में पाए जाते हैं, वे सब चिह्न याचक के होते हैं।

इसीलिए याचना करना मृत्युतुल्य होने से परीषह बताया गया है।[1]

(१५) अलाभपरीषह—

३०. परेसु घासमेसेज्जा भोयणे परिणिट्ठिए।
लद्धे पिण्डे अलद्धे वा नाणुतप्पेज्ज संजए॥

[३०.] (गृहस्थों के घरों में) भोजन परिनिष्ठित हो (पक) जाने पर साधु गृहस्थों से ग्रास (भोजन) की एषणा करे।

पिण्ड (-आहार) थोड़ा मिलने पर या कभी न मिलने पर संयमी मुनि इसके लिए अनुताप (खेद) न करे।

३१. 'अज्जेवाहं न लब्भामि अवि लाभो सुए सिया।'
जो एवं पडिसंचिक्खे अलाभो तं न तज्जए॥

[३१] 'आज मुझे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ, सम्भव है कल प्राप्त हो जाय', जो साधक इस प्रकार परिसमीक्षा करता (सोचता) है, उसे अलाभपरीषह (कष्ट) पीड़ित नहीं करता।

विवेचन—अलाभपरीषह-विजय—नानादेशविहारी भिक्षु को उच्च-नीच-मध्यम कुलों में भिक्षा न मिलने पर चित्त में संक्लेश न होना, दाताविशेष की परीक्षा का औत्सुक्य न होना, न देने या न मिलने पर ग्राम, नगर, दाता आदि की निन्दा-भर्त्सना नहीं करना, अलाभ में मुझे परम तप है, इस प्रकार संतोषवृत्ति, लाभ-अलाभ दोनों में समता रखना, अलाभ की पीड़ा को सहना, अलाभ-परीषहविजय है।

परेसु—गृहस्थों से।

(१६) रोगपरीषह—

३२. नच्चा उप्पइयं दुक्खं वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो थावए पन्नं पुट्ठो तत्थऽहियासए॥

[३२] रोगादिजनित दुःख (कर्मोदय से) उत्पन्न हुआ जानकर तथा (रोग की) वेदना से पीड़ित होने पर दीन न बने। रोग से विचलित होती हुई प्रज्ञा को समभाव में स्थापित (स्थिर) करे। संयमी जीवन में रोगजनित कष्ट आ पड़ने पर समभाव से सहन करे।

३३. तेगिच्छं नाभिनन्देज्जा संचिक्खऽत्तगवेसए।
एवं खु तस्स सामण्णं जं न कुज्जा, न कारवे॥

[३३] आत्म-गवेषक मुनि चिकित्सा का अभिनन्दन (समर्थन या प्रशंसा) न करे। (रोग हो जाने पर) समाधिपूर्वक रहे। उसका श्रामण्य यही है कि रोग उत्पन्न होने पर भी चिकित्सा न करे, न कराए।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र १११

विवेचन—रोगपरीषह : स्वरूप—देह से आत्मा को पृथक् समझने वाला भेदविज्ञानी साधक विरुद्ध खानपान के कारण शरीर में रोगादि उत्पन्न होने पर उद्विग्न नहीं होता, अशुचि पदार्थों के आश्रय, अनित्य व परित्राणरहित इस शरीर के प्रति निःस्पृह होने के कारण रोग की चिकित्सा कराना पसंद नहीं करता है। वह अदीन मन से रोग की पीड़ा को सहन करता है, सैंकड़ों व्याधियाँ होने पर भी संयम को छोड़ कर उनके आधीन नहीं होता। उसी को रोगपरीषह-विजयी समझना चाहिए।[1]

जं न कुज्जा न कारवे : शंका-समाधान—मुनि भयंकर रोग उत्पन्न होने पर चिकित्सा न करे, न कराए; यह विधान क्या सभी साधुवर्ग के लिए है? इस शंका का समाधान शान्त्याचार्य इस प्रकार करते हैं, यह सूत्र (गाथा) जिनकल्पी, प्रतिमाधारी की अपेक्षा से है, स्थविरकल्पी की अपेक्षा से इसका आशय यह है कि साधु सावद्य चिकित्सा न करे, न कराए। चूर्णि में किसी विशिष्ट साधक का उल्लेख न करके बताया है कि श्रामण्य का पालन नीरोगावस्था में किया जा सकता है। किन्तु यह बात महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सभी साधुओं की शारीरिक-मानसिक स्थिति, योग्यता एवं सहनशक्ति एक-सी नहीं होती। इसलिए रोग का निरवद्य प्रतीकार करना संयमयात्रा के लिए आवश्यक हो जाता है। चिकित्सा कराने पर भी रोगजनित वेदना तो होती ही है, उस परीषह को समभाव से सहना चाहिए।[2]

(१७) तृणस्पर्शपरीषह

३४. अचेलगस्स लूहस्स संजयस्स तवस्सिणो।
तणेसु सयमाणस्स हुज्जा गाय-विराहणा॥

[३४] अचेलक एवं रूक्ष शरीर वाले संयत तपस्वी साधु को घास पर सोने से शरीर में विराधना (चुभन—पीड़ा) होती है।

३५. आयवस्स निवाएणं अउला हवइ वेयणा।
एवं नच्चा न सेवन्ति तन्तुजं तण-तज्जिया॥

[३५] तेज धूप पड़ने से (घास पर सोते समय) अतुल (तीव्र) वेदना होती है, यह जान कर तृणस्पर्श से पीड़ित मुनि वस्त्र (तन्तुजन्य पट) का सेवन नहीं करते।

विवेचन—तृणस्पर्शपरीषह—तृण शब्द से सूखा घास, दर्भ, तृण, कंकड़, कांटे आदि जितने भी चुभने वाले पदार्थ हैं, उन सब का ग्रहण करना चाहिए। ऐसे तृणादि पर सोने-बैठने, लेटने आदि से चुभने, शरीर छिल जाने से या कठोर स्पर्श होने से जो पीड़ा, व्यथा होती है, उसे समभावपूर्वक सहन करना—तृणस्पर्शपरीषहजय है।[3]

---

१. (क) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२५।९ (ख) धर्मसंग्रह, अधिकार ३
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १२० (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ. ७७
३. (क) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२६।१
(ख) आवश्यक मलय. वृत्ति, अ. १, खण्ड २

अचेलगस्स—अचेलक (निर्वस्त्र) जिनकल्पिक साधुओं की दृष्टि से यह कथन है। किन्तु स्थविरकल्पी सचेलक के लिए भी यह परीषह तब होता है, जब दर्भ, घास आदि के संस्तारक पर जो वस्त्र बिछाया गया हो, वह चोरों द्वारा चुरा लिया गया हो, अथवा वह वस्त्र अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो, ऐसी स्थिति में दर्भ, घास आदि के तीक्ष्ण स्पर्श को समभाव से सहन किया जाता है। घास आदि से शरीर छिल जाने पर सूर्य की प्रखर किरणों या नमक आदि क्षार पदार्थ पड़ने पर हुई असह्य वेदना को सहना भी इसी परीषह के अन्तर्गत है।[1]

उदाहरण—श्रावस्ती के जितशत्रु राजा का पुत्र भद्र कामभोगों से विरक्त होकर स्थविरों के पास प्रव्रजित हुआ। कालान्तर में एकलविहारप्रतिमा अंगीकार करके वैराज्य देश में गया। वहाँ गुप्तचर समझ कर उसे गिरफ्तार कर लिया गया। उसे मारपीट कर घायल कर दिया और खून रिसते हुए घाव पर क्षार छिड़क कर ऊपर से दर्भ लपेट दिया। अब तो पीड़ा का पार न रहा। किन्तु भद्र मुनि ने समभावपूर्वक उस परीषह को सहन किया।[2]

(१८) जल्लपरीषह (मलपरीषह)

३६. किलिन्नगाए मेहावी पंकेण व रएण वा।
घिंसु वा परितावेण सायं नो परिदेवए॥

ग्रीष्मऋतु में (पसीने के साथ धूल मिल जाने से शरीर पर जमे हुए) मैल से, कीचड़ से, रज से अथवा प्रखर ताप से शरीर के क्लिन्न (लिप्त या गीले) हो जाने पर मेधावी श्रमण साता (सुख) के लिए परिदेवन (—विलाप) न करे।

३७. वेएज्ज निज्जरा-पेही आरियं धम्मऽणुत्तरं।
जाव सरीरभेउ त्ति जल्लं काएण धारए॥

(३७) निर्जरापेक्षी मुनि अनुत्तर (श्रेष्ठ) आर्यधर्म (वीतरागोक्त श्रुत-चारित्रधर्म) को पा कर शरीर-विनाश-पर्यन्त जल्ल (प्रस्वेदजन्य मैल) शरीर पर धारण किये रहे। उसे (तज्जनित परीषह को) समभाव से वेदन करे।

विवेचन—जल्लपरीषह : स्वरूप और सहन—इसे मलपरीषह भी कहते हैं। जल्ल का अर्थ है—पसीने से होने वाला मैल। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की तीक्ष्ण किरणों के ताप से उत्पन्न हुए पसीने के साथ धूल चिपक जाने पर मैल ज़मा होने से शरीर से दुर्गन्ध निकलती है, उसे मिटाने के लिए ठंडे जल से स्नान करने की अभिलाषा न करना, क्योंकि सचित्त ठंडे पानी से अप्कायिक जीवों की विराधना होती है तथा शरीर पर मैल जमा होने के कारण दाद, खाज आदि चर्मरोग होने पर भी तैलादि मर्दन करने, चन्दनादि लेपन करने आदि की भी अपेक्षा न रखना तथा उक्त कष्ट से उद्विग्न न होकर समभाव पूर्वक सहना और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी विमल जल से प्रक्षालन करके कर्ममलपंक को दूर

१. (क) अचेलकत्वादीनि तु तपस्विविशेषणानि। मा भूत सचलेकस्य तृणस्पर्शासम्भवेन अरूक्षस्य।

(ख) पंचसंग्रह, द्वार २ —बृहद्वृत्ति, पत्र १२१

२. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, अ. २

करने के लिए निरन्तर उद्यत रहना जल्लपरीषहजय कहलाता है।[1]

(१९) सत्कार-पुरस्कारपरीषह

३८. अभिवायणमब्भुट्ठाणं सामी कुज्जा निमन्तणं।
जे ताइं पडिसेवन्ति न तेसिं पीहए मुणी॥

[३८] राजा आदि शासकवर्गीय जन अभिवादन, अभ्युत्थान अथवा निमंत्रण के रूप में सत्कार करते हैं और जो अन्यतीर्थिक साधु अथवा स्वतीर्थिक साधु भी उन्हें (सत्कार-पुरस्कारादि को) स्वीकार करते हैं, मुनि उनकी स्पृहा न करे।

३९. अणुक्कसाई अप्पिच्छे अन्नाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झेज्जा नाणुतप्पेज्ज पन्नवं॥

[३९] अल्प कषाय वाला, अल्प इच्छाओं वाला, अज्ञात कुलों से भिक्षा (आहार की एषणा) करने वाला, अलोलुप भिक्षु (सत्कार-पुरस्कार पाने पर) रसों में गृद्ध-आसक्त न हो। प्रज्ञावान् भिक्षु (दूसरों को सत्कार पाते देख कर) अनुताप (मन में खेद) न करे।

विवेचन—सत्कार-पुरस्कारपरीषह—सत्कार का अर्थ—पूजा-प्रशंसा है, पुरस्कार का अर्थ है—अभ्युत्थान, आसनप्रदान, अभिवादन-नमन आदि। सत्कार-पुरस्कार के अभाव में दीनता न लाना, सत्कार-पुरस्कार की आकांक्षा न करना, दूसरों की प्रसिद्धि, प्रशंसा, यश-कीर्ति, सत्कार-सम्मान आदि देख कर मन में ईर्ष्या न करना, दूसरों को नीचा दिखा कर स्वयं प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि प्राप्त करने की लिप्सा न करना सत्कार-पुरस्कारपरीषहविजय है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार—'यह मेरा अनादर करता है, चिरकाल से मैंने ब्रह्मचर्य का पालन किया है, मैं महातपस्वी हूँ, स्वसमय-परसमय का निर्णयज्ञ हूँ, मैंने अनेक वार परवादियों को जीता है, तो भी मुझे कोई प्रणाम, या मेरी भक्ति नहीं करता, उत्साह से आसन नहीं देता, मिथ्यादृष्टि का ही आदर-सत्कार करते हैं, उग्रतपस्वियों की व्यन्तरादिक देव पूजा करते थे, अब वे भी हमारी पूजा नहीं करते, जिसका चित्त इस प्रकार के खोटे अभिप्राय से रहित है, वही वास्तव में सत्कार-पुरस्कारपरीषहविजयी है।[2]

अणुक्कसाई - तीनरूप : चार अर्थ—शान्त्याचार्य के अनुसार—(१) **अनुत्कशायी**—सत्कार आदि के लिए अनुत्सुक, अनुत्कण्ठित (जो उत्कण्ठित न हो), (२) **अनुत्कषायी**—जिस के कषाय प्रबल न हों—अनुत्कटकषायी, (३) **अणुकषायी**—सत्कार आदि न करने वालों पर क्रोध न करने वाला तथा सत्कारादि प्राप्त होने पर अहंकार न करने वाला; आचार्य नेमिचन्द्र भी इसी अर्थ का समर्थन करते हैं। चूर्णिकार के अनुसार 'अणुकषायी' का अर्थ अल्प कषाय (क्रोधादि) वाला है।[3]

---

१. (क) धर्मसंग्रह, अधि. ३
(ख) पंचसंग्रह, द्वार ४ (ग) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२६।४
(घ) चारित्रसार १२५।६

२. (क) आवश्यक वृत्ति, म. १ अ. (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १२४ (ग) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२६।९

३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १२४ और ४२० (ख) सुखबोधा, पत्र ४९,
(ग) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ८१

अप्पिच्छे—'अल्पेच्छ' के तीन अर्थ—शान्त्याचार्य के अनुसार—(१) थोड़ी इच्छा वाला, (२) इच्छारहित—निरीह—निःस्पृह; आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार—(३) जो भिक्षु धर्मोपकरणप्राप्ति मात्र का अभिलाषी हो, सत्कार-पूजा आदि की आकांक्षा नहीं करता।[1]

अन्नाएसी—अज्ञातैषी—दो अर्थः—(१) जो भिक्षु ज्ञाति, कुल, तप, शास्त्रज्ञान आदि का परिचय दिये बिना, अज्ञात रह कर आहारादि की एषणा करता है, (२) अज्ञात—अपरिचित कुलों से आहारादि की एषणा करने वाला।[2]

(२०) प्रज्ञापरीषह

४०. 'से नूणं मए पुव्वं कम्माणाणफला कडा।
जेणाहं नाभिजाणामि पुट्ठो केणइ कण्हुई॥'

[२०] अवश्य ही मैंने पूर्वकाल में अज्ञानरूप फल देने वाले दुष्कर्म किये हैं, जिससे मैं किसी के द्वारा किसी विषय में पूछे जाने पर कुछ भी उत्त : देना नहीं जानता।

४१. 'अह पच्छा उइज्जन्ति कम्माणाणफला कडा।'
एवमस्सासि अप्पाणं नच्चा कम्मविवागयं॥

[४१] 'अज्ञानरूप फल देने वाले पूर्वकृत कर्म परिपक्व होने पर उदय में आते हैं'—इस प्रकार कर्म के विपाक को जान कर मुनि अपने को आश्वस्त करे।

विवेचन—प्रज्ञापरीह—प्रज्ञा विशिष्ट बुद्धि को कहते हैं। प्रज्ञापरीषह का प्रवचनसारोद्धार के अनुसार अर्थ—प्रज्ञावानों की प्रज्ञा को देख कर अपने में प्रज्ञा के अभाव में उद्वेग या विषाद का अनुभव न होना तथा प्रज्ञा का उत्कर्ष होने पर गर्व—मद न करना, किन्तु इसे कर्मविपाक मानकर अपनी आत्मा को आश्वस्त—स्वस्थ रखना प्रज्ञापरीषहजय है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार 'मैं अंग, पूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रों में विशारद हूँ तथा शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र में निपुण हूँ। मेरे समक्ष दूसरे लोग सूर्य की प्रभा से अभिभूत हुए खद्योत के समान जरा भी शोभा नहीं देते; इस प्रकार के विज्ञानमद का अभाव हो जाना प्रज्ञापरीषहजय है।[3]

उदाहरण—उज्जयिनी से कालकाचार्य अपने अतिप्रमादी शिष्यों को छोड़ कर अपने शिष्य सागरचन्द्र के पास स्वर्णभूमि नगरी पहुँचे। सागरचन्द्र ने उन्हें एकाकी जान कर उनकी ओर कोई

१, (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १२५ : अल्पा—स्तोका धर्मोपकरणप्राप्तिमात्रविषयत्वेन, न तु सत्कारादि-कामितया महती; अल्पशब्दस्याभाववाचित्वेन अविद्यमाना वा इच्छा-वाञ्छा वा यस्येति अल्पेच्छः।

(ख) अल्पेच्छः—धर्मोपकरणमात्राभिलाषी, न सत्काराद्याकांक्षी। —सुखबोधा पत्र ४९

२. (क) 'न ज्ञापयति—'अहमेवंभूतपूर्वमासम्, न वा क्षपको बहुश्रुतो वेति' अज्ञातैषी'—उ. चू., पृ. ८१

(ग) अज्ञातमज्ञातेन एषते—भिक्षतेऽसौ अज्ञातैषी, निश्रादिरहित इत्यर्थः।—उ. चू., पृ. २३५

(ग) अज्ञातो—जातिश्रुतादिभिः एषति—उञ्छति अर्थात्—पिण्डादीत्यज्ञातैषी:।

—बृहद्वृत्ति, पत्र १२५

३. (क) प्रवचनसारोद्धार द्वार ८६ (ख) धर्मसंग्रह अधि. ३

(ग) तत्त्वार्थ. सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२७।४

लक्ष्य न दिया। कालकाचार्य ने भी अपना परिचय नहीं दिया। एक दिन सागरचन्द्र मुनि ने परिषद् में व्याख्यान दिया, सब ने उनके व्याख्यान की प्रशंसा की। कालकाचार्य से सागरचन्द्रमुनि ने पूछा—'मेरा व्याख्यान कैसा था?' वह बोले—'अच्छा था।' फिर मुनि आचार्य के साथ तर्कवितर्क करने लगे, किन्तु वृद्ध आचार्य की युक्तियों के आगे वे टिक न सके। इधर कुछ समय के बाद कालकाचार्य के वे अतिप्रमादी शिष्य उन्हें ढूंढ़ते-ढूंढ़ते स्वर्णभूमि पहुँचे। उन्होंने उपाश्रय में आ कर सागरचन्द्रमुनि से पूछा—'क्या यहाँ कालकाचार्य आए हैं?' सागरचन्द्र मुनि ने कहा—'एक वृद्ध के सिवाय और कोई यहाँ नहीं आया है।' अतिप्रमादी शिष्यों ने कालकाचार्य को पहचान लिया, वे चरणों में गिर कर उनसे क्षमायाचना करने लगे। यह देख सागरचन्द्र मुनि भी उनके चरणों में गिरे और क्षमायाचना करते हुए बोले—'गुरुदेव, क्षमा करें, मैं आपको नहीं पहचान सका। अल्प ज्ञान से गर्वित होकर मैंने आपकी आशातना की।" आचार्य ने कहा—'वत्स! श्रुतगर्व नहीं करना चाहिए।'[1]

इस प्रकार जैसे सागरचन्द्र मुनि प्रज्ञापरीषह से पराजित हो गए थे, वैसे साधक को पराजित नहीं होना चाहिए।

(२१) अज्ञानपरीषह

४२. 'निरट्ठगम्मि विरओ मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्खं नाभिजाणामि धम्मं कल्लाण पावगं ॥'

[४२] मैं व्यर्थ ही मैथुन आदि सांसारिक सुखों से विरत हुआ, मैंने इन्द्रिय और मन का संवरण (विषयों से निरोध) वृथा किया; क्योंकि धर्म कल्याणकारी है या पापकारी, यह मैं प्रत्यक्ष तो कुछ भी नहीं देख (—जान) पाता हूँ; (मुनि ऐसा न सोचे।)

४३. 'तवोवहाणमादाय पडिमं पडिवज्जओ।
एवं पि विहरओ मे छउमं न नियट्टई ॥'

[४३] तप और उपधान को स्वीकार करता हूँ, प्रतिमाओं को भी धारण (एवं पालन) करता हूँ; इस प्रकार विशिष्ट साधनापथ पर विहरण करने पर भी मेरा छद्म अर्थात् ज्ञानावरणीयादि कर्म का आवरण दूर नहीं हो रहा है;—('ऐसा चिन्तन न करे।')

विवेचन—अज्ञानपरीषह—अज्ञान का अर्थ—ज्ञान का अभाव नहीं, किन्तु अल्पज्ञान या मिथ्याज्ञान है। यह परीषह अज्ञान के सद्भाव और अभाव—दोनों प्रकार से होता है। अज्ञान के रहते साधक में दैन्य, अश्रद्धा, भ्रान्ति आदि पैदा होती है। जैसे—मैं अब्रह्मचर्य से विरत हुआ, दुष्कर तपश्चरण किया, धर्मादि का आचरण किया, मेरा चित्त निरन्तर अप्रमत्त रहता है, यह मूर्ख है, पशुतुल्य है, कुछ नहीं जानता, इत्यादि तिरस्कारवचनों को भी मैं सहन करता हूँ, फिर भी मेरी छद्मस्थता नहीं मिटी, ज्ञानावरणीयादि कर्मों का क्षय होकर अभी तक मुझे अतिशयज्ञान प्राप्त नहीं हुआ—इस प्रकार का विचार करना, इस परीषह से हारना है और इस प्रकार का विचार न करना, इस परीषह पर विजय पाना है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमवश दूसरी ओर अज्ञान

१. (क) उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा. १२० (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १२७

दूर हो जाने और अतिशय श्रुतज्ञान प्राप्त हो जाने पर वहुश्रुत होने के कारण अनेक साधु-साध्वियों को वाचना देते रहने के कारण मन में गर्व, ग्लानि, झुंझलाहट आना, इससे तो मूर्ख रहता तो अच्छा रहता, अतिशय श्रुतज्ञानी होने के कारण अब मुझे सभी साधुसाध्वी वाचना के लिए तंग करते हैं। न मैं सुख से सो सकता हूँ, न खा-पी सकता हूँ, न आराम कर सकता हूँ, इस प्रकार का विचार करने वाला साधक ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध कर लेता है और अज्ञानपरीषह से भी वह पराजित हो जाता है। अत: ऐसा विचार न करके मन में विषाद और गर्व को निकाल कर निर्जरार्थ अज्ञानपरीषह को समभावपूर्वक सहना अज्ञान-परीषह-विजय है।[1]

उवहाणं—उपधान—आगमों का विधिवत् अध्ययन करते समय परम्परागत-विधि के अनुसार प्रत्येक आगम के लिए निश्चित आयंबिल आदि तप करने का विधान। आचार-दिनकर में इसका स्पष्ट वर्णन है।[2]

(२२) दर्शनपरीषह (—अदर्शनपरीषह)

४४. 'नत्थि नूणं परे लोए इड्ढी वावि तवस्सिणो।
अदुवा वंचिओ मि' त्ति इइ भिक्खू न चिन्तए॥

[४४] "निश्चय ही परलोक नहीं हैं, तपस्वी की ऋद्धि भी नहीं है, हो न हो, मैं (तो धम के नाम पर) ठगा गया हूँ,"—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे।

४५. 'अभू जिणा अत्थि जिणा अदुवावि भविस्सई।
मुसं ते एवमाहंसु' इइ भिक्खू न चिन्तए॥

[४५] भूतकाल में जिन हुए थे, वर्तमान में जिन है, और भविष्य में भी जिन होंगे, ऐसा जो कहते हैं, वे असत्य कहते हैं,—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे।

विवेचन—दर्शनपरीषह—दिगम्बर परम्परा में इसके वदले अदर्शनपरीषह प्रसिद्ध है। दोनों का लक्षण प्राय: मिलता-जुलता है। दर्शन का एक अर्थ यहाँ सम्यग्दर्शन है। एकान्त क्रियावादी आदि ३६३ वादियों के विचित्र मत सुन कर भी सम्यक् रूप से सहन करना—निश्चलचित्त से सम्यग्दर्शन को धारण करना, दर्शनपरीषहसहन है। अथवा दर्शनव्यामोह न होना दर्शनपरीषह-सहन है। अथवा जिन, अथवा उनके द्वारा कथित जीव, अजीव, धर्म-अधर्म, परभव आदि परोक्ष होने के कारण मिथ्या हैं, ऐसा चिन्तन न करना दर्शनपरीषह-सहन है।[3]

इड्ढी वावि तवस्सिणो—तपस्या आदि से तपस्वियों को प्राप्त होने वाली ऋद्धि—शक्ति विशेष, जिसे 'योगजविभूति' कहा जाता है। पातंजलयोगदर्शन के विभूतिपाद में ऐसी योगजविभूतियों

---

१. (क) सर्वार्थसिद्धि ९।९।४२७
(ख) आवश्यक. अ. ४ (ग) उत्तराध्ययन, अ. २ वृत्ति
२, (क) वृहद्वृत्ति, पत्र १२८, ३४७
(ख) आचारदिनकर, विभाग १, योगोद्वहनविधि, पत्र ८६-११०
३. (क) उत्तराध्ययन, अ. २ (ख) भगवती., श. ८ उ. ८ (ग) धर्मसंग्रह अ. पत्र, ३

का वर्णन है, औपपातिक आदि जैन आगमों में ऐसी तपोजनित ऋद्धियों का उल्लेख मिलता है। ऋद्धि शब्द का यही अर्थ गृहीत किया गया है। बृहद्वृत्तिकार ने चरणरज से सर्वरोग-शान्ति, तृणाग्र से सर्वकाम-प्रदान, प्रस्वेद से रत्नमिश्रित स्वर्णवृष्टि, हजारों महाशिलाओं को गिराने की शक्ति आदि ऋद्धियों का उल्लेख किया है।[1]

दर्शनपरीषह के विषय में आर्य आषाढ़ के अदर्शन-निवारणार्थ स्वर्ग से समागत शिष्यों का उदाहरण द्रष्टव्य है।

उपसंहार

४६. एए परीसहा सव्वे कासवेण पवेइया।
जे भिक्खू न विहन्नेज्जा पुट्ठो केणइ कण्हुई॥
—त्ति बेमि।

[४६] काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने इन सभी परीषहों का प्ररूपण किया है। इन्हें जान कर कहीं भी इनमें से किसी भी परीषह से स्पृष्ट-आक्रान्त होने पर भिक्षु इनसे पराजित न हो, ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ द्वितीय अध्ययन : परीषह प्रविभक्ति सम्पूर्ण ॥

---

१. (क) ऋद्धिर्वा तपोमाहात्म्यरूपा''''सा च आमर्षौषध्यादिः। —बृहद्वृत्ति, पत्र १३१
(ख) औपपातिक. सूत्र १५

तृतीय अध्ययन : चतुरंगीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत तृतीय अध्ययन का नाम चतुरंगीय है, यह नाम अनुयोगद्वारसूत्रोक्त नामकरण के दस हेतुओं में से आदान (प्रथम) पद के कारण रखा गया है।[1]

* अनादिकाल से प्राणी की संसारयात्रा चली आ रही है। उसकी जीवननौका विभिन्न गतियों, योनियों और गोत्रों में दुःख, परतंत्रता एवं अज्ञान-मोह के थपेड़े खाती हुई स्वतंत्रसुख—आत्मिक सुख का अवसर नहीं पाती। फलतः दुःख और यातना से मुक्त होने का कोई उपाय नहीं मिलता। किन्तु प्रबल पुण्यराशि के संचित होने पर उसे इस दुःखद संसारयात्रा की परेशानी से मुक्त होने के दुर्लभ अवसर प्राप्त होते हैं। वे चार दुर्लभ अवसर ही चार दुर्लभ परम अंग हैं, जिनकी चर्चा इस अध्ययन में हुई है। जीवन के ये चार प्रशस्त अंग हैं। ये अंग प्रत्येक प्राणी द्वारा अनायास ही प्राप्त नहीं किये जा सकते। चारों दुर्लभ अंगों का एक ही व्यक्ति में एकत्र समाहार हो, तभी वह धर्म की पूर्ण आराधना करके इस दुर्लभ संसारयात्रा से मुक्ति पा सकता है, अन्यथा नहीं। एक भी अंग की कमी व्यक्ति के जीवन को अपूर्ण रखती है। इसलिए ये चारों अंग उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं।

* प्रस्तुत अध्ययन में—(१) मनुष्यत्व, (२) सद्धर्म-श्रवण, (३) सद्धर्म में श्रद्धा और (४) संयम में पराक्रम—इन चारों अंगों की दुर्लभता का क्रमशः प्रतिपादन है।

* सर्वप्रथम इस अध्ययन में मनुष्यजन्म की दुर्लभता का प्रतिपादन ६ गाथाओं में किया गया है। यह तो सभी धर्मों और दर्शनों ने माना है कि मनुष्यशरीर प्राप्त हुए विना मोक्ष—जन्ममरण से, कर्मों से, रागद्वेषादि से मुक्ति - नहीं हो सकती। इसी देह से इतनी उच्च साधना हो सकती है और आत्मा से परमात्मा बना जा सकता है। परन्तु मनुष्यदेह को पाने के लिए पहले एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक की तथा मनुष्यगति और मनुष्ययोनियों के सिवाय अन्य गतियों और योनियों तक की अनेक घाटियाँ पार करनी पड़ती हैं, वहुत लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। कभी देवलोक, कभी नरक और कभी आसुरी योनि में मनुष्य कई जन्ममरण करता है। मनुष्य गति में भी कभी अत्यन्त भोगासक्त क्षत्रिय बनता है, कभी चाण्डाल और संस्कारहीन जातियों में उत्पन्न हो कर बोध ही नहीं पाता। अतः वह शरीर की भूमिका से ऊपर नहीं उठ पाता। तिर्यञ्चगति में तो एकेन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तक आध्यात्मिक विकास की प्रथम किरण भी प्राप्त होनी कठिन है। निष्कर्ष यह है कि देव, धर्म की पूर्णतया आराधना नहीं कर सकते, नारक जीव सतत भीषण दुःखों से प्रताड़ित रहते हैं, अतः उनमें

---

१. से किं तं आयाणपएणं ?····चाउरंगिज्जं, असंखयं, अहातत्थियं अद्दइज्जं ···जण्णइज्जं····एलइज्जं····से तं आयाणपएणं।

—अनुयोगद्वार, सूत्र १३०

सद्धर्म-विवेक ही जागृत नहीं होता। तिर्यञ्चगति में पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में कदाचित् क्वचित् पूर्व-जन्मसंस्कारप्रेरित धर्माराधना होती है, किन्तु वह अपूर्ण होती है। वह उन्हें मोक्ष की मंजिल तक नहीं पहुँचा सकती। मनुष्य में धर्मविवेक जागृत हो सकता है, परन्तु अधिकांश मनुष्य विषयसुखों की मोहनिद्रा में ऐसे सोये रहते हैं कि वे सांसारिक कामभोगों के दलदल में फंस जाते हैं, अथवा साधनविहीन व्यक्ति कामभोगों की प्राप्ति की पिपासा में सारी जिंदगी बिता कर इन परम दुर्लभ अंगों को पाने के अवसर खो देते हैं। उनकी पुनः पुनः दीर्घ संसारयात्रा चलती रहती है। कदाचित् पूर्वजन्मों के प्रबल पुनीत संस्कारों एवं कषायों की मन्दता के कारण, प्रकृति की भद्रता से, प्रकृति की विनीतता से, दयालुता—सदय-हृदयता से एवं अमत्सरता—परगुणसहिष्णुता से मनुष्यायु का बन्ध हो कर[1] मनुष्यजन्म प्राप्त होता है। इसी कारण मनुष्यभव दुर्लभता के दस दृष्टान्त[2] निर्युक्ति में प्रतिपादित किये हैं। निर्युक्तिकार ने मनुष्यजन्म प्राप्त होने के साथ-साथ जीवन की पूर्ण सफलता के लिए और भी १० बातें दुर्लभ बताई हैं। जैसे कि—(१) उत्तम क्षेत्र, (२) उत्तम जाति-कुल, (३) सर्वांगपरिपूर्णता, (४) नीरोगता, (५) पूर्णायुष्य, (६) परलोक-प्रवणबुद्धि, (७) धर्मश्रवण, (८) धर्म-स्वीकरण, (९) श्रद्धा और (१०) संयम।[3] इसीलिए मनुष्यशरीर प्राप्त होने पर भी शास्त्रकार ने मनुष्यता की प्राप्ति को सबसे महत्त्वपूर्ण एवं दुर्लभ माना है। वह प्राप्त होती है—शुभ कर्मों के उदय से तथा क्रमशः तदनुरूप आत्मशुद्धि होने से।[4] यही कारण है कि यहाँ सर्वप्रथम मनुष्यता-प्राप्ति ही दुर्लभ बताई है।

* तत्पश्चात् द्वितीय दुर्लभ अंग है—धर्मश्रवण। धर्मश्रवण की रुचि प्रत्येक मनुष्य में नहीं होती। जो महारम्भी एवं महापरिग्रही हैं, उन्हें तो सद्धर्मश्रवण की रुचि ही नहीं होती। अधिकांश लोग दुर्लभतम मनुष्यत्व को पा कर भी धर्मश्रवण का लाभ नहीं ले पाते, इसके धर्मश्रवण में विघ्नरूप १३ कारण (काठिये) निर्युक्तिकार ने बताए हैं- (१) आलस्य, (२) मोह (पारिवारिक या शारीरिक मोह के कारण विलासिता में डूब जाना, व्यस्तता में रहना), (३) अवज्ञा या अवर्ण—(धर्मशास्त्र या धर्मोपदेशक के प्रति अवज्ञा या गर्हा का भाव), (४) स्तम्भ (जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य आदि का मद-अहंकार), (५) क्रोध (अप्रीति), (६) प्रमाद (निद्रा, विकथा आदि), (७) कृपणता (द्रव्य-व्यय की आशंका), (८) भय, (९) शोक (इष्टवियोग-अनिष्टसंयोगजनित चिन्ता), (१०) अज्ञान (मिथ्या धारणा), (११) व्याक्षेप (व्याकुलता), (१२) कुतूहल (नाटक आदि देखने की आकुलता), (१३) रमण

---

१. 'चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्साउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं.—पगतिभद्दयाए, पगतिविणीययाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरिताए।' —स्थानांग, स्थान ४, सू. ६३०

२. चुल्लग पासगधन्ने, जूए रयणे य सुमिण चक्के य।
चम्म जुगे परमाणू, दस दिट्ठंता मणुअलंभे॥ —उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा. १६०

३. माणुस्सखित्त जाई कुलरूवारोग्ग आउयं बुद्धी।
सवणुग्गह सद्धा, संजमो अ लोगंमि दुल्लहाइं॥' —उ. निर्युक्ति, गा. १५९

४. कम्माणं तु पहाणाए·······जीवासोहिमणुप्पत्ता आययंति मणुस्सयं।' —उत्तरा., अ. ३, गा. ७

(क्रीड़ापरायणता)।[1] सद्धर्मश्रवण न होने पर मनुष्य हेयोपादेय, श्रेय-अश्रेय, हिताहित, कार्याकार्य का विवेक नहीं कर सकता। इसीलिए मनुष्यता के बाद सद्धर्मश्रवण को परम दुर्लभ बताया है।

※ श्रवण के बाद तीसरा दुर्लभ अंग है—श्रद्धा—यथार्थ दृष्टि, धर्मनिष्ठा, तत्त्वों के प्रति रुचि और प्रतीति। जिसकी दृष्टि मिथ्या होती है, वह सद्धर्म, सच्छास्त्र एवं सत्तत्त्व की बात जान-सुन कर भी उस पर श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि नहीं करता। कदाचित् सम्यक् दृष्टिकोण के कारण श्रद्धा भी कर ले, तो भी उसकी ऋजुप्रकृति के कारण सद्गुरु एवं सत्संग के अभाव में या कुदृष्टियों एवं अज्ञानियों के संग से असत्तत्त्व एवं कुधर्म के प्रति भी श्रद्धा का झुकाव हो सकता है, जिसका संकेत बृहद्वृत्तिकार ने[2] किया है। सुदृढ एवं निश्चल-निर्मल श्रद्धा की दुर्लभता बताने के लिए ही निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन में सात निह्नवों की कथा दी है।[3] इस कारण यह कहा जा सकता है कि सच्ची श्रद्धा-धर्मनिष्ठा परम दुर्लभ है।

※ अन्तिम दुर्लभ परम अंग है—संयम में पराक्रम—पुरुषार्थ। बहुत-से लोग धर्मश्रवण करके, तत्त्व समझ कर श्रद्धा करने के बाद भी उसी दिशा में तदनुरूप पुरुषार्थ करने से हिचकिचाते हैं। अतः जानना-सुनना और श्रद्धा करना एक बात है और उसे क्रियान्वित करना दूसरी। सद्धर्म को क्रियान्वित करने में चारित्रमोह का क्षयोपशम, प्रबल संवेग, प्रशम, निर्वेद (वैराग्य), प्रबल आस्था, आत्मबल, धृति, संकल्पशक्ति, संतोष, अनुद्विग्नता, आरोग्य, वातावरण, उत्साह आदि अनिवार्य हैं। ये सब में नहीं होते। इसीलिए सबसे अन्त में संयम में पुरुषार्थ को दुर्लभ बताया है, जिसे प्राप्त करने के बाद कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता।

※ अध्ययन के अन्त में ११ वीं से २० वीं तक दस गाथाओं में दुर्लभ चतुरंगीय प्राप्ति के अनन्तर धर्म की सांगोपांग आराधना करने की साक्षात् और परम्पर फलश्रुति दी गई है। संक्षेप में, सर्वांगीण धर्माराधना का अन्तिम फल मोक्ष है।

□□

---

१. आलस मोहऽवन्ना, थंभा कोहा पमाय किविणता।
भयसोगा अन्नाणा, वक्खेव कुऊहला रमणा॥ —उत्तरा. निर्युक्ति, गा. १६१

२. ननु एवंविधा अपि केचिदत्यन्तमृजवः सम्भवेयुः?········स्वयमागमानुसारिमतयोऽपि गुरुप्रत्ययाद्विपरीतमर्थं प्रतिपन्नाः। —उत्त. बृहद्वृत्ति, पत्र १५२

३. बहुरयपएस अव्वत्तसमुच्छ दुग-तिग-अबद्धिका चेव।
एएसिं निग्गमणं वुच्छामि अहाणुपुव्वीए॥
बहुरय जमालिपभवा, जीवपएसा य तीसगुत्ताओ।
अव्वत्ताऽऽसाढाओ, सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ॥
गंगाए दो किरिया, छलगा तेरासियाण उप्पत्ती।
थेरा य गुट्ठमाहिल पुट्ठमबद्धं परूविंति॥ —उत्त. निर्युक्ति, गा. १६४ से १६६ तक

तइअं अज्झयणं : चाउरंगिज्जं

तृतीय अध्ययन : चतुरंगीयम्

महादुर्लभ : चार परम अंग

**१. चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं॥**

[१] इस संसार में जीवों के लिए चार परम अंग दुर्लभ हैं—(१) मनुष्यत्व, (२) सद्धर्म का श्रवण, (३) श्रद्धा और (४) संयम में वीर्य (पराक्रम)।

विवेचन—परमंगाणि—अत्यन्त निकट उपकारी तथा मुक्ति के कारण होने से ये परम अंग हैं।[1]

सुई सद्धा—श्रुति और श्रद्धा ये दोनों प्रसंगवश धर्मविषयक ही अभीष्ट हैं।[2]

विविध घाटियाँ पार करने के बाद : दुर्लभ मनुष्यत्वप्राप्ति

**२. समावन्नाण संसारे नाणा-गोत्तासु जाइसु।
कम्मा नाणा-विहा कट्टु पुढो विस्संभिया पया॥**

[२] नाना प्रकार के कर्मों का उपार्जन करके, विविध नाम-गोत्र वाली जातियों में उत्पन्न होकर पृथक्-पृथक् रूप से प्रत्येक संसारी जीव (प्रजा) समस्त विश्व में व्याप्त हो जाता है—अर्थात् संसारी प्राणी समग्र विश्व में सर्वत्र जन्म लेते हैं।

**३. एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं आहाकम्मेहिं गच्छई॥**

[३] जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार कभी देवलोकों में, कभी नरकों में और कभी असुरनिकाय में जाता है—जन्म लेता है।

**४. एगया खत्तिओ होई तओ चण्डाल-वोक्कसो।
तओ कीड-पयंगो य तओ कुन्थु-पिवीलिया॥**

[४] यह जीव कभी क्षत्रिय होता है, कभी चाण्डाल, कभी वोक्कस (—वर्णसंकर), होता है, उसके पश्चात् कभी कीट-पतंगा और कभी कुन्थु और कभी चींटी होता है।

---

१. परमाणि च तानि अत्यासन्नोपकारित्वेन अंगानि, मुक्तिकारणत्वेन परमंगानि। —बृहद्वृत्ति, पत्र १५६

२. बृहद्वृत्ति, पत्र १५६

५. एवमावट्ट-जोणीसु पाणिणो कम्मकिब्बिसा।
न निविज्जन्ति संसारे सव्वट्ठेसु व खत्तिया॥

[५] जिस प्रकार क्षत्रिय लोग समस्त अर्थो (कामभोगों, सुखसाधनों एवं वैभव-ऐश्वर्य) का उपभोग करने पर भी निर्वेद (—विरक्ति) को प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार कर्मो से कलुषित जीव अनादिकाल से आवर्त्तस्वरूप योनिचक्र में भ्रमण करते हुए भी संसारदशा से निर्वेद नहीं पाते (—'जन्ममरण के भंवर-जाल से मुक्त होने की इच्छा नहीं करते)।'

६. कम्म-संगेहिं सम्मूढा दुक्खिया बहु-वेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु विणिहम्मन्ति पाणिणो॥

[६] कर्मों के संग से सम्मूढ़, दुःखित और अत्यन्त वेदना से युक्त जीव मनुष्येतर योनियों में पुनः पुनः विनिघात (त्रास) पाते हैं।

७. कम्माणं तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययन्ति मणुस्सयं॥

[७] कालक्रम से कदाचित् (मनुष्यगति-निरोधक विलष्ट) कर्मो का क्षय हो जाने से जीव तद‌नुरूप (आत्म—) शुद्धि को प्राप्त करते हैं, तदनन्तर वे मनुष्यता प्राप्त करते हैं।

विवेचन—मनुष्यत्वप्राप्ति में बाधक कारण—(१) एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक नाना गोत्र वाली जातियों में जन्म, (२) देवलोक, नरकभूमि एवं आसुरकाय में जन्म, (३) तिर्यञ्चगति-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय में जन्म, (४) क्षत्रिय (राजा आदि) की तरह भोग-साधनों की प्रचुरता के कारण संसारदशा से अविरक्ति, (५) मनुष्येतर योनियों में सम्मूढता एवं वेदना के कारण मनुष्यत्वप्राप्ति का अभाव, (६) मनुष्यगतिनिरोधक कर्मो का क्षय होने पर भी तदनुरूप आत्मशुद्धि का अभाव।[1]

मनुष्यत्व—दुर्लभता के विषय में दस दृष्टान्त— (१) **चोल्लक** अर्थात्—भोजन। ब्रह्मदत्त राजा ने चक्रवर्ती पद मिलने पर एक ब्राह्मण पर प्रसन्न हो कर उसकी याचना एवं इच्छानुसार चक्री के षट्खण्डपरिमित राज्य में प्रतिदिन एक घर से खीर का भोजन मिल जाने की मांग स्वीकार की। अतः सबसे प्रथम दिन उसने चक्रवर्ती के यहाँ बनी हुई परम स्वादिष्ट खीर खाई। परन्तु जैसे उस ब्राह्मण को चक्रवर्ती के घर की खीर खाने का अवसर जिंदगी में दूसरी बार मिलना दुर्लभ है, वैसे ही इस जीव को मनुष्यजन्म पुनः मिलना दुर्लभ है। (२) **पाशक**—जुआ खेलने का पासा। चाणक्य की आराधना से प्रसन्न देव द्वारा प्रदत्त पासों के प्रभाव से उस का पराजित होना दुर्लभ बना, उसी प्रकार यह मनुष्यजन्म दुर्लभ है। (३) **धान्य**—समस्त भारत क्षेत्र के सभी प्रकार के धान्यों (अनाजों) का गगनचुम्बी ढेर लगा कर उसमें एक प्रस्थ सरसों मिला देने पर उसके ढेर में से पुनः प्रस्थप्रमाण सरसों के दाने अलय-अलग करना बड़ा दुर्लभ है, वैसे ही जीव का मनुष्यभव से छूट कर चौरासी लक्ष योनि में मिल जाने पर पुनः मनुष्यजन्म मिलना अतिदुर्लभ है। (४) **द्यूत**—रत्नपुरनृप रिपुमर्दन ने अपने पुत्र वसुमित्र को राजा के जीवित रहते राज्य प्राप्त करने की रीति बता दी कि १००८

१. उत्तराध्ययन, मूल अ. ३, गा. २ से ७ तक।

खम्भे तथा प्रत्येक खम्भे के १००८ कोनों वाले सभाभवन के प्रत्येक कोने को जुए में (एक वार दाव से) जीत ले, तभी उस द्यूतक्रीड़ाविजयी राजकुमार को राज्य मिल सकता है। राजकुमार ने ऐसा ही किया, किन्तु द्यूत में प्रत्येक कोने को जीतना उसके लिए दुर्लभ हुआ, वैसे ही मनुष्यभव प्राप्त होना दुर्लभ है। (५) रत्न—धनद नामक कृपण वणिक् किसी सम्बन्धी के आमन्त्रण पर अपने पुत्र वसुप्रिय को जमीन में गाड़े हुए रत्नों की रक्षा के लिए नियुक्त करके परदेश चला गया। वापिस आ कर देखा तो रत्न वहाँ नहीं मिले, क्योंकि उसके चारों पुत्रों ने रत्न निकाल कर वेच दिये थे और उनसे प्राप्त धनराशि से व्यापार करके कोटिध्वज वन गये थे। वृद्ध पिता के द्वारा वापिस रत्न नहीं मिलने पर घर से निकाल दिये जाने की धमकी देने पर चारों पुत्रों ने विक्रीत रत्नों का वापस मिलना दुर्लभ वताया, वैसे ही एक वार हाथ से निकला हुआ मनुष्यभव पुनः मिलना दुर्लभ है। (६) **स्वप्न**—मूलदेव नामक क्षत्रिय को परदेश जाते हुए एक कार्पटिक मिला। मार्ग में कांचनपुर के वाहर तालाव पर दोनों सोए। पिछली रात को दोनों ने मुख में चन्द्रप्रवेश का स्वप्न देखा। मूलदेव ने कार्पटिक से स्वप्न को गोपनीय रखने को कहा, पर वह प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वप्न का वृत्तान्त कहता फिरा। किसी ने उससे कहा—"आज शनिवार है, इसलिए तुम्हें घृत-गुड़ सहित रोटी एवं तेल मिलेंगे।" यही हुआ। उधर मूलदेव ने एक स्वप्नपाठक ब्राह्मण से स्वप्नफल जानना चाहा, तो अपनी पुत्री के साथ विवाह करने की शर्त पर स्वप्नफल वताने को कहा। मूलदेव ने ब्राह्मणपुत्री के साथ विवाह करना स्वीकार किया। दामाद वन गया तो विप्र ने कहा—"आज से सातवें दिन आप इस नगर के राजा वनेंगे।" यही हुआ। मूलदेव को राजा वने देख उक्त कार्पटिक को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ। वह राज्यलक्ष्मी के हेतु चन्द्रपान के स्वप्न के लिए पुनः पुनः उसी स्थान पर सोने लगा, किन्तु अव उस कार्पटिक को चन्द्रपान का स्वप्न आना अति दुर्लभ था, वैसे ही एक वार मनुष्यजन्म चूकने पर पुनः मनुष्यजन्म की प्राप्ति अतिदुर्लभ है। (७) **चक्र**—मथुरा नरेश जितशत्रु ने अपनी पुत्री इन्दिरा के विवाह के लिए स्वयंवरमण्डप वनवाया, उसके निकट वड़ा खम्भा गड़वाया, जिसके ऊर्ध्वभाग में, घूमने वाले ४ चक्र उलटे और चार सीधे लगवाए। उन चक्रों पर राधा नामक घूमती हुई पुतली रखवा दी। खंभे के ठीक नीचे तेल से भरा हुआ एक कड़ाह रखवाया। शर्त यह रखी कि जो व्यक्ति राधा के वामनेत्र को वाण से वींध देगा, उसे ही मेरी पुत्री वरण करेगी। स्वयंवर में समागत राजकुमारों ने वारी-वारी से निशाना साधा, मगर किसी का एक चक्र से और किसी का दूसरे से टकरा कर वाण गिर गया। अन्त में जयन्त राजकुमार ने वाण से पुतली के वामनेत्र की कनीनिका को वींध दिया। राजपुत्री इन्दिरा ने उसके गले में वरमाला डाल दी। जैसे राधावेध का साधना दुष्कर कार्य है, उसी प्रकार मनुष्य जन्म को हारे हुए प्रमादी को पुनः मनुष्यजन्मप्राप्ति दुर्लभ है। (८) **कूर्म**—कछुआ। शैवालाच्छादित सरोवर में एक कछुआ सपरिवार रहता था। एक वार किसी कारण वश शैवाल हट जाने से एक छिद्र हो गया। कछुए ने अपनी गर्दन वाहर निकाली तो स्वच्छ आकाश में शरत्कालीन पूर्ण चन्द्रविम्व देखा। आश्चर्यपूर्वक आनन्दमग्न हो, वह इस अपूर्व वस्तु को दिखाने के लिए अपने परिवार को लेकर जव उस स्थल पर आया, तो वह छिद्र हवा के झोंके से पुनः शैवाल से आच्छादित हो चुका था। अतः उस अभागे कछुए को जैसे पुनः चन्द्रदर्शन दुर्लभ हुआ, वैसे ही प्रमादी जीव को पुनः मनुष्यजन्म मिलना महादुर्लभ है। (९) **युग**—असंख्यात द्वीपों और समुद्रों के वाद असंख्यात योजन विस्तृत एवं सहस्र योजन गहरे अन्तिम समुद्र—स्वयंभूरमण में कोई देव पूर्वदिशा की ओर गाड़ी का एक जुआ डाल दे तथा पश्चिम दिशा की ओर उसकी

कीलिका डाले। अब वह कीलिका वहाँ से बहती-बहती चली आए और बहते हुए इस जुए से मिल जाए तथा वह कीलिका उस जुए के छेद में प्रविष्ट हो जाए, यह अत्यन्त दुर्लभ है, इसी तरह मनुष्य-भव से च्युत हुए प्रमादी को पुनः मनुष्यभव की प्राप्ति अति दुर्लभ है। (१०) **परमाणु**—कौतुकवश किसी देव ने माणिक्यनिर्मित स्तम्भ को वज्रप्रहार से तोड़ा, फिर उसे इतना पीसा कि उसका चूरा-चूरा हो गया। उस चूर्ण को एक नली में भरा और सुमेरु शिखर पर खड़े होकर फूंक मारी, जिससे वह चारों तरफ उड़ गया। वायु के प्रबल झौंके उस चूर्ण को प्रत्येक दिशा में दूर-दूर ले गए। उन सब परमाणुओं को एकत्रित करके पुनः उस माणिक्य स्तम्भ का निर्माण करना दुष्कर है, वैसे ही मनुष्य-भव से च्युत जीव को पुनः मनुष्यभव मिलना दुर्लभ है।[1]

खत्तिओ, चंडाल, वोक्कसो—तीन शब्द संग्राहक हैं—(१) क्षत्रियशब्द से वैश्य, ब्राह्मण आदि उत्तम जातियों का, (२) चाण्डाल शब्द से निषाद, श्वपच आदि नीच जातियों का और (३) वोक्कस शब्द से सूत, वैदेह, आयोगव आदि संकीर्ण (वर्णसंकर) जातियों का ग्रहण किया गया है। चूर्णि के अनुसार ब्राह्मण से शूद्रस्त्री में उत्पन्न निषाद अथवा ब्राह्मण से वैश्यस्त्री में उत्पन्न अम्वष्ठ और निषाद से अम्बष्ठस्त्री में उत्पन्न वोक्कस कहलाता है।[2]

आवट्टजोणीसु—आवर्त्त का अर्थ परिवर्त्त है, आवर्त्तप्रधान योनियाँ आवर्त्तयोनियाँ हैं—चौरासी लाख प्रमाण जीवोत्पत्तिस्थान हैं, उनमें अर्थात्—योनिचक्रों में।[3]

कम्मकिब्बिसा—दो अर्थ—कर्मों से किल्विष=अधम, अथवा जिनके कर्म किल्विष—अशुभ—मलिन हों।[4]

सव्वट्ठेसु व खत्तिया—व्याख्या—जिस प्रकार क्षत्रिय—राजा आदि सर्वार्थों—सभी मानवीय काम-भोगों में आसक्त हो जाते हैं, उसी प्रकार भवाभिनन्दी पुनः पुनः जन्म-मरण करते हुए उसी (संसार) में आसक्त हो जाते हैं।[5]

विस्संभिया पया=विश्वभृतः प्रजाः—पृथक्-पृथक् एक-एक योनि में क्वचित् कदाचित् अपनी उत्पत्ति से प्राणी सारे जगत् को भर देते हैं, सारे जगत् में व्याप्त हो जाते हैं। कहा भी है—

---

१. (क) उत्तराध्ययन (प्रियदर्शिनी व्याख्या) पू. घासीलालजी म., अ. ३ टीका का सार, पृ. ५७४ से ६२५ तक
   (ख) जैन कथाएँ, भाग ६८
२. (क) उत्तरा. चूर्णि., पृ. ९६
   (ख) इह च क्षत्रियग्रहणादुत्तमजातयः चाण्डालग्रहणान्नीचजातयो, बुक्कसग्रहणाच्च संकीर्णजातयः उपलक्षिताः।
   —उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र १८२-१८३
३. आवर्त्तः परिवर्त्तः, तत्प्रधाना योनयः—चतुरशीतिलक्षप्रमाणानि जीवोत्पत्तिस्थानानि आवर्त्तयोनयस्तासु।
   —सुखबोधा, पत्र ६८
४. कर्मणा—उक्तरूपेण किल्विषाः—अधमाः कर्म्मकिल्विषाः, किल्विषानि क्लिष्टतया निकृष्टानि अशुभानुबंधीनि कर्म्माणि येषां ते किल्विषकर्म्माणः। —बृहद्वृत्ति, पत्र १८३
५. बृहद्वृत्ति, पत्र १८४

'णत्थि किर सो पएसो, लोए वालग्गकोडिमेत्तो वि ।
जम्मणमरणावाहा, जत्थ जिएहिं न संपत्ता ।।'

'लोक में वाल की अग्रकोटि-मात्र भी कोई ऐसा प्रदेश नहीं है, जहाँ जीवों ने जन्म-मरण न पाया हो ।'[1]

धर्म-श्रवण की दुर्लभता

८. माणुस्सं विग्गहं लद्धुं सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति तवं खन्तिमहिंसयं ।।

[८] मनुष्य-देह पा लेने पर भी धर्म का श्रवण दुर्लभ है, जिसे श्रवण कर जीव तप, क्षान्ति (क्षमा-सहिष्णुता) और अहिंसा को अंगीकार करते हैं ।

विवेचन—धर्मश्रवण का महत्त्व—धर्मश्रवण मिथ्या-त्वतिमिर का विनाशक, श्रद्धा-रूप ज्योति का प्रकाशक, तत्त्व-अतत्त्व का विवेचक, कल्याण और पाप का भेदप्रदर्शक, अमृत-पान के समान एकान्त हितविधायक और हृदय को आनन्दित करने वाला है । ऐसे श्रुत-चारित्ररूप धर्म का श्रवण मनुष्य को प्रवल पुण्य से मिलता है । धर्मश्रवण से ही व्यक्ति तप, क्षमा और अहिंसा आदि को स्वीकार करता है ।[2]

तव, खंतिमहिंसयं : तीनों संग्राहकशब्द—तप—अनशन आदि १२ प्रकार के तप, संयम और इन्द्रियनिग्रह का, क्षान्ति—क्रोधविजय रूप क्षमा, कष्टसहिष्णुता तथा उपलक्षण से मान आदि कपायों के विजय का तथा **अहिंसाभाव**—उपलक्षण से मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन एवं परिग्रह से विरमणरूप व्रत का संग्राहक है ।[3]

धर्मश्रद्धा की दुर्लभता

९. आहच्च सवणं लद्धुं सद्धा परमदुल्लहा ।
सोच्चा नेआउयं मग्गं बहवे परिभस्सई ।।

[९] कदाचित् धर्म का श्रवण भी प्राप्त हो जाए, तो उस पर श्रद्धा होना परम दुर्लभ है, (क्योंकि) वहुत से लोग नैयायिक मार्ग (न्यायोपपन्न सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयात्मक मोक्षपथ) को सुन कर भी उससे परिभ्रष्ट—(विचलित) हो जाते हैं ।

विवेचन—धर्मश्रद्धा का महत्त्व—धर्मविपयक रुचि संसारसागर पार करने के लिए नौका है, मिथ्यात्व-तिमिर को दूर करने के लिए दिनमणि जैसी है, स्वर्ग-मोक्षसुखप्रदायिनी चिन्तामणि-

---

१. वृहद्वृत्ति, पत्र १८२

२, (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनी टीका, अ.३, पृ.६३९.
(ख) देखिये दशवैकालिकसूत्र, अ.४ गा.१० में धर्मश्रवण माहात्म्य—
सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ।।

३. (क) वृहद्वृत्ति, पत्र १८४ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनी टीका, अ.३, पृ.६३९

समा है, क्षपकश्रेणी पर आरूढ होने के लिए निसरणी है,' कर्मरिपु को पराजित करने वाली और केवलज्ञान—केवलदर्शन की जननी है।[1]

नेआउयं—दोरूप : दो अर्थ— (१)**नैयायिक**—न्यायोपपन्न—न्यायसंगत, (२) **नैर्यातृकमोक्ष**—दु:ख के आत्यन्तिक क्षय की ओर या संसारसागर से पार ले जाने वाला।[2]

बहवे परिभस्सई—बहुत-से परिभ्रष्ट हो जाते हैं। इसका भावार्थ यह है कि जमालि आदि की तरह बहुत-से सम्यक् श्रद्धा से विचलित हो जाते हैं।

दृष्टान्त--सुखबोधा टीका, एवं आवश्यकनिर्युक्ति आदि में इस सम्बन्ध में मार्गभ्रष्ट सात निह्नवों का दृष्टान्त सविवरण प्रस्तुत किया गया है। वे सात निह्नव इस प्रकार हैं—

(१) **जमालि**—क्रियमाण (जो किया जा रहा है, वह अपेक्षा से) कृत (किया गया) कहा जा सकता है, भगवान् महावीर के इस सिद्धान्त को इसने अपलाप किया, इसे मिथ्या बताया और स्थविरों द्वारा युक्तिपूर्वक समझाने पर अपने मिथ्याग्रह पर अड़ा रहा। उसने पृथक् मत चलाया।

(२) **तिष्यगुप्त**—सप्तम आत्मप्रवाद पूर्व पढ़ते समय किसी नय की अपेक्षा से एक भी प्रदेश से हीन जीव को जीव नहीं कहा जा सकता है, इस कथन का आशय न समझ कर एकान्त आग्रह पकड़ लिया कि अन्तिम प्रदेश ही जीव है, प्रथम-द्वितीयादि प्रदेश नहीं। आचार्य वसु ने उसे इस मिथ्याधारणा को छोड़ने के लिए बहुत कहा। युक्तिपूर्वक समझाने पर भी उसने कदाग्रह न छोड़ा। किन्तु वे जब आमलकप्पा नगरी में आए तो उनकी मिथ्या प्ररूपणा सुनकर भगवान् महावीर के श्रावक मित्रश्री सेठ ने अपने घर भिक्षा के लिए प्रार्थना की। भिक्षा में उन्हें मोदकादि में से एक तिलप्रमाण तथा घी आदि में से एक बिन्दुप्रमाण दिया। कारण पूछने पर कहा—आपका सिद्धान्त है कि अन्तिम एक प्रदेश ही पूर्ण जीव है, तथैव मोदकादि का एक अवयव भी पूर्ण मोदकादि हैं। आपकी दृष्टि में जिनवचन सत्य हो, तभी मैं तदनुसार आपको पर्याप्त भिक्षा दे सकता हूँ। तिष्यगुप्त ने अपनी भूल स्वीकार की, आलोचना करके शुद्धि करके पुन: सम्यक्बोधि प्राप्त की।

(३) **आषाढ़ाचार्य—शिष्य**—हृदयशूल से मृत आषाढ़ आचार्य ने अपने शिष्यों को प्रथम देवलोक से आकर साधुवेष में अगाढयोग की शिक्षा दी। बाद में पुन: देवलोकगमन के समय शिष्यों को वस्तुस्थिति समझाई और वह देव अपने स्थान को चले गए। उनके शिष्यों ने संशयमिथ्यात्वग्रस्त होकर अव्यक्तभाव को स्वीकार किया। वे कहने लगे—हमने अज्ञानवश असंयत देव को संयत समझ कर वन्दना की, वैसे ही दूसरे लोग तथा हम भी एक दूसरे को नहीं जान सकते कि हम असंयत हैं या संयत? अतः हमें समस्त वस्तुओं को अव्यक्त मानना चाहिए, जिससे मृषावाद भी न हो, असंयत को वन्दना भी न हो। राजगृहनृप बलभद्र श्रमणोपासक ने अव्यक्त निह्नवों का नगर में आगमन सुन

१. उत्तराध्ययन, प्रियदर्शनीव्याख्या, अ. ३, पृ. ६४१

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १८५ 'नैयायिकः न्यायोपपन्न इत्यर्थः।'

(ख) उत्तराध्ययनचूर्णि। नयनशीलो नैयायिकः।

(ग) नयनशीलो नेयाइओ (नैर्यातृकः) मोक्षं नयतीत्यर्थः। —सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ. ४५७

(घ) बुद्धचर्या, पृ. ४६७, ४८९

कर उन्हें अपने सुभटों से बंधवाया और पिटवाकर अपने पास मंगवाया। उनके पूछने पर कि श्रमणोपासक होकर आपने हम श्रमणों पर ऐसा अत्याचार क्यों करवाया ? राजा ने कहा—आपके अव्यक्त मतानुसार हमें कैसे निश्चय हो कि आप श्रमण हैं या चोर ? मैं श्रमणोपासक हूँ या अन्य ? इस कथन को सुनकर वे सब प्रतिबुद्ध हो गए। अपनी मिथ्या धारणा के लिए मिथ्यादुष्कृत देकर पुनः स्थविरों की सेवा में चले गए।

(४) **अश्वमित्र**—महागिरि आचार्य के शिष्य कौण्डिन्य अपने शिष्य अश्वमित्र मुनि को दशम विद्यानुप्रवाद पूर्व की नैपुणिक नामक वस्तु का अध्ययन करा रहे थे। उस समय इस आशय का एक सूत्रपाठ आया कि "वर्तमानक्षणवर्ती नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौवीस दण्डकों के जीव द्वितीयादि समयों में विनष्ट (व्युच्छिन्न) हो जाएँगे। इस पर से एकान्त क्षणक्षयवाद का आग्रह पकड़ लिया कि समस्त जीवादि पदार्थ प्रतिक्षण में विनष्ट हो रहे हैं, स्थिर नहीं है।" कौण्डिन्याचार्य ने उन्हें अनेकान्तदृष्टि से समझाया कि व्युच्छेद का अर्थ—वस्तु का सर्वथा नाश नहीं है, पर्यायपरिवर्तन है। अतः यही सिद्धान्त सत्य है कि—"समस्त पदार्थ द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत हैं, पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत।" परन्तु अश्वमित्र ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा। राजगृहनगर के शुल्काध्यक्ष श्रावकों ने उन समुच्छेदवादियों को चाबुक आदि से खूब पीटा। जब उन्होंने कहा कि आप लोग श्रावक होकर हम साधुओं को क्यों पीट रहे हैं ? तब उन्होंने कहा—"आपके क्षणविनश्वर सिद्धान्तानुसार न तो हम वे आपके श्रावक हैं जिन्होंने आपको पीटा है, क्योंकि वे तो नष्ट हो गए, हम नये उत्पन्न हुए हैं तथा पिटने वाले आप भी श्रमण नहीं रहे, क्योंकि आप तो अपने सिद्धान्तानुसार विनष्ट हो चुके हैं।" इस प्रकार शिक्षित करने पर उन्हें प्रतिबोध हुआ। वे सब पुनः सत्य सिद्धान्त को स्वीकार कर अपने संघ में आ गए।

(५) **गंगाचार्य**—उल्लुकातीर नगर के द्वितीय तट पर धूल के परकोटे से परिवृत एक खेड़ा था। वहाँ महागिरि के शिष्य धनगुप्त आचार्य का चातुर्मास था। उनका शिष्य था—आचार्य गंग, जिसका चौमासा उल्लुकानदी के पूर्व तट पर बसे उल्लूकातीर नगर में था। एक बार शरत्काल में आचार्य गंग अपने गुरु को वन्दना करने जा रहे थे। मार्ग में नदी पड़ती थी। केशविहीन मस्तक होने से सूर्य की प्रखर किरणों के आतप से उनका मस्तक तप रहा था, साथ ही चरणों में शीतल जल का स्पर्श होने से शीतलता आ गई। मिथ्यात्वकर्मोदयवश उनकी बुद्धि में यह आग्रह घुसा कि एक समय में जीव एक ही क्रिया का अनुभव करता है, यह आगमकथन वर्तमान में क्रियाद्वय के अनुभव से सत्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इस समय मैं एक साथ शीत और उष्ण दोनों स्पर्शों का अनुभव कर रहा हूँ। आचार्य धनगुप्त ने उन्हें विविध युक्तियों से सत्य सिद्धान्त समझाया, मगर उन्होंने दुराग्रह नहीं छोड़ा। संघबहिष्कृत होकर वे राजगृह में आए। वहाँ मणिप्रभ यक्ष ने द्विक्रियावाद की असत्प्ररूपणा से कुपित होकर मुद्गरप्रहार किया। कहा—"भगवान् ने स्पष्टतया यह प्ररूपणा की है कि एक जीव को क्रियाद्वय का एक साथ अनुभव नहीं होता (एक साथ दो उपयोग नहीं होते)। वास्तव में आपकी भ्रान्ति का कारण समय की अतिसूक्ष्मता है। अतः असत्प्ररूपणा को छोड़ दो, अन्यथा मुद्गर से मैं तुम्हारा विनाश कर दूंगा।" यक्ष के युक्तियुक्त तथा भयप्रद वचनों से प्रतिबुद्ध होकर गंगाचार्य ने दुराग्रह का त्याग करके आत्मशुद्धि की।

(६) **षडुलूक रोहगुप्त**—श्रीगुप्ताचार्य का शिष्य रोहगुप्त अंतरंजिका नगरी में उनके दर्शनार्थ आया। वहाँ पोट्टशाल परिव्राजक ने यह घोषणा की "मैंने लोहपट्ट पेट पर इसलिए बांध

रखा है, मेरा पेट अनेक विद्याओं से पूर्ण होने के कारण फट रहा है। तथा जामुन वृक्ष की शाखा इसलिए लें रखी है कि इस जम्बूद्वीप में मेरा कोई प्रतिवादी नहीं रहा।" रोहगुप्त मुनि ने गुरुदेव श्रीगुप्तचार्य से बिना पूछे ही उसकी इस घोषणा एवं पटहवादन को रुकवा दिया। श्रीगुप्ताचार्य से जब बाद में रोहगुप्त मुनि ने यह बात कही तो उन्होंने कहा—तुमने अच्छा नहीं किया। वाद में पराजित कर देने पर भी वह परिव्राजक वृश्चिकादि ७ विद्याओं से तुम पर उपद्रव करेगा। परन्तु रोहगुप्त ने वादविजय और उपद्रवनिवारण के लिए आशीर्वाद देने का कहा तो गुरुदेव ने मायूरी आदि सात ७ विद्याएँ प्रतीकारार्थ दीं तथा क्षुद्र विद्याकृत उपसर्ग-निवारणार्थ रजोहरण मंत्रित करके दे दिया। रोहगुप्त राजसभा में पहुँचा। परिव्राजक ने जीव और अजीव—राशिद्वय का पक्ष प्रस्तुत किया जो वास्तव में रोहगुप्त का ही पक्ष था, रोहगुप्त ने उसे पराजित करने हेतु स्वसिद्धान्तविरुद्ध 'जीव, अजीव और नो जीव,' यों राशित्रय का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। नोजीव में उदाहरण बताया—छिपकली आदि की कटी हुई पूंछ आदि। इससे परिव्राजक ने वाद में निरुत्तर होकर रोषवश रोहगुप्त को नष्ट करने हेतु उस पर वृश्चिकादि विद्याओं का प्रयोग किया, परन्तु रोहगुप्त ने उनकी प्रतिपक्षी सात विद्याओं के प्रयोग से वृश्चिकादि सबको भगा दिया। सब ने परिव्राजक को पराजित करके नगरबहिष्कृत कर दिया।

गुरुदेव के पास आकर रोहगुप्त ने त्रिराशि के पक्ष के स्थापन से विजयप्राप्ति का वृत्तान्त बतलाया तो उन्होंने कहा—यह तो तुमने सिद्धान्त-विरुद्ध प्ररूपणा की है। अतः राजसभा में जा कर ऐसा कहो कि 'मैंने तो सिर्फ परिव्राजक का मान मर्दन करने के उद्देश्य से त्रिराशि पक्ष उपस्थित किया था, हमारा सिद्धान्त द्विराशिवाद का ही है।' परन्तु रोहगुप्त बहुत समझाने पर भी अपने दुराग्रह पर अड़ा रहा। गुरु के साथ प्रतिवाद करने को उद्यत हो गया। फलतः बलश्री राजा की राजसभा में गुरु-शिष्य का छह महीने तक विवाद चला। अन्त में राजा आदि के साथ श्रीगुप्ताचार्य कुत्रिकापण पहुँचे, वहाँ जाकर जीव और अजीव क्रमशः मांगा तो दुकानदार ने दोनों ही पदार्थ दिखला दिये। परन्तु 'नोजीव' मांगने पर दुकानदार ने कहा—'नोजीव' तो तीन लोक में भी नहीं है। तीन लोक में जो जो चीजें हैं, वे सब यहाँ मिलती हैं। नोजीव तीन लोक में है ही नहीं। दूकानदार की बात सुन कर आचार्य महाराज ने उसे फिर समझाया, वह नहीं माना, तब रोहगुप्त को पराजित घोषित करके राजसभा से बहिष्कृत कर दिया। गच्छबहिष्कृत होकर रोहगुप्त ने वैशेषिकदर्शन चलाया।

[७] **गोष्ठामाहिल**—आचार्य आर्यरक्षित ने दुर्बलिकापुष्यमित्र को योग्य समझकर जब अपना उत्तराधिकारी आचार्य घोषित कर दिया तो गोष्ठामाहिल ईर्ष्या से जल उठा। एक बार आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र जब अपने शिष्य विन्ध्यमुनि को नौवें पूर्व—प्रत्याख्यानप्रवाद की वाचना दे रहे थे तब पाठ आया—**पाणाइवायं पच्चक्खामि जावज्जीवाए,'** इस पर प्रतिवाद करते हुए गोष्ठामाहिल बोले—'जावज्जीवाए' यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसा कहने से प्रत्याख्यान सीमित एवं सावधिक हो जाता है एवं उसमें 'भविष्य में मारूँगा' ऐसी आकांक्षा भी संभव है। आचार्यश्री ने समझाया—इस प्ररूपणा में उत्सूत्रप्ररूपणादोष, मर्यादाविहीन, कालावधिरहित होने से अकार्यसेवन तथा भविष्य में देवादि भवों में प्रत्याख्यान न होने से व्रतभंग का दोष लगने की आशंका है। 'यावज्जीव' से मनुष्यभव तक ही गृहीत व्रत का निरतिचाररूप से पालन हो सकता है। इस प्रकार समझाने पर भी गोष्ठामाहिल ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा तो संघ ने शासनदेवी से विदेहक्षेत्र में विहरमान तीर्थंकर से सत्य का निर्णय करके आने की प्रार्थना की। वह वहाँ जाकर संदेश लाई कि

जो आचार्य कहते हैं, वह सत्य है, गोष्ठामाहिल मिथ्यावादी निह्नव है। फिर भी गोष्ठामाहिल न माना तब संघ ने उसे बहिष्कृत कर दिया। इस प्रकार गोष्ठामाहिल सम्यक्-श्रद्धाभ्रष्ट हो गया।[1]

इसी कारण शास्त्र में कहा गया है कि श्रद्धा परम दुर्लभ है।

संयम में पुरुषार्थ की दुर्लभता

१०. सुइं च लद्धुं सद्धं च वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि नो एणं पडिवज्जए॥

[१०] धर्मश्रवण (श्रुति) और श्रद्धा प्राप्त करके भी (संयम में) वीर्य (पराक्रम) होना अति दुर्लभ है। बहुत-से व्यक्ति संयम में अभिरुचि रखते हुए भी उसे सम्यक्तया अंगीकार नहीं कर पाते।

विवेचन—संयम में पुरुषार्थ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं दुर्लभ—मनुष्यत्व, धर्मश्रवण एवं श्रद्धा युक्त होने पर भी अधिकांश व्यक्ति चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से संयम—चारित्र में पुरुषार्थ नहीं कर सकते। वीर्य का अभिप्राय यहाँ चारित्र-पालन में अपनी शक्ति लगाना है, वही सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण एवं दुर्लभ है। वही कर्मरूपी मेघपटल को उड़ाने के लिए पवनसम, मोक्षप्राप्ति के लिए विशिष्ट कल्पवृक्षसम, कर्ममल को धोने के लिए जल-तुल्य, भोगभुजंग के विष के निवारणार्थ मंत्रसम है।[2]

दुर्लभ चतुरंगप्राप्ति का अनन्तरफल

११. माणुसत्तंमि आयाओ जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं संवुडे निद्धुणे रयं॥

[११] मनुष्यदेह में आया हुआ (अथवा मनुष्यत्व को प्राप्त हुआ) जो व्यक्ति धर्म-श्रवण करके उस पर श्रद्धा करता है, वह तपस्वी (मायादि शल्यत्रय से रहित प्रशस्त तप का आराधक), संयम में वीर्य (पुरुषार्थ या शक्ति) को उपलब्ध करके संवृत (आश्रवरहित) होता है तथा कर्मरज को नष्ट कर डालता है।

१२. सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ घय-सित्त व्व पावए॥

[१२] जो ऋजुभूत (सरल) होता है, उसे शुद्धि प्राप्त होती है और जो शुद्ध होता है, उसमें धर्म ठहरता है। (जिसमें धर्म स्थिर है, वह) घृत से सिक्त (-सींची हुई) अग्नि की तरह परम निर्वाण (विशुद्ध आत्मदीप्ति) को प्राप्त होता है।

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १८५ (ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ९८
(ग) सुखबोधा पत्र ६९-७५ (घ) आवश्यकनिर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, पत्र ४०१

२. (क) उत्तराध्ययन प्रियदर्शिनी व्याख्या, अ. ३, पृ. ७८८ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १८६

१३. विगिंच कम्मुणो हेउं जसं संचिणु खन्तिए ।
पाढवं सरीरं हिच्चा उड्ढं पक्कमई दिसं ॥

[१३] (हे साधक !) कर्म के हेतुओं को दूर कर, क्षमा से यश (यशस्कर विनय अथवा संयम) का संचय कर । ऐसा साधक ही पार्थिव शरीर का त्याग करके ऊर्ध्वदिशा (स्वर्ग या मोक्ष) की ओर गमन करता है ।

विवेचन—चतुरंगप्राप्ति : अनन्तरफलदायिनी—(१) चारों अंगों को प्राप्त प्रशस्त तपस्वी नये कर्मों को आते हुए रोक कर अनाश्रव (संवृत) होता है, पुराने कर्मों की निर्जरा करता है, (२) चतुरंग-प्राप्ति के बाद मोक्ष के प्रति सीधी—निर्विघ्न प्रगति होने से शुद्धि—कषायजन्य कलुषता का नाश—होती है । शुद्धिविहीन आत्मा कषायकलुषित होने से धर्मभ्रष्ट भी हो सकता है, परन्तु जब शुद्धि हो जाती है तब उस आत्मा में धर्म स्थिर हो जाता है, धर्म में स्थिरता होने पर घृतसिक्त अग्नि की तरह तप-त्याग एवं चारित्र से परम तेजस्विता को प्राप्त कर लेता है । (३) अतः कर्म के मिथ्यात्वादि हेतुओं को दूर करके जो साधक क्षमादि धर्मसम्पत्ति से यशस्कर संयम की वृद्धि करता है, वह इस शरीर को छोड़ने के बाद सीधा ऊर्ध्वगमन करता है—या तो पंच अनुत्तर विमानों में से किसी एक में या फिर सीधा मोक्ष में जाता है । यह चतुरंगप्राप्ति का अनन्तर—आसन्न फल है ।[1]

निव्वाणं परम जाइ : व्याख्या—(१) चूर्णिकार के अनुसार निर्वाण का अर्थ मोक्ष है, (२-३) शान्त्याचार्य के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—स्वास्थ्य अथवा जीव-मुक्ति । स्वास्थ्य का अर्थ है—स्व (आत्मा) में अवस्थिति—आत्मरमणता । कषायों से रहित शुद्ध व्यक्ति में जब धर्म स्थिर हो जाता है, तब आत्मस्वरूप में उसकी अवस्थिति सहज हो जाती है । स्व में स्थिरता से ही साधक में उत्तरोत्तर सच्चे सुख की वृद्धि होती है । आगम के अनुसार एक मास की दीक्षापर्याय वाला श्रमण व्यन्तर देवों की तेजोलेश्या का अतिक्रमण कर जाता है । आत्मस्थ साधक चक्रवर्ती के सुखों को भी अतिक्रमण कर जाता है । इस प्रकार के परम उत्कृष्ट स्वाधीन सुख का अनुभव आत्मस्वरूप या आत्मगुणों में स्थित को होता है, यही स्वस्थता निर्वृत्ति (परम सुख की स्थिति) अथवा इसी जीवन में मुक्ति (जीवन्मुक्ति) है, जिसका स्वरूप 'प्रशमरति' में बताया गया है—

**'निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥**

अर्थात्—जिन सुविहित साधकों ने आठ मद एवं मदन (काम) को जीत लिया है, जो मन-वचन-काया के विकारों से रहित हैं, जो 'पर' की आशा (अपेक्षा—स्पृहा) से निवृत्त हैं, उनके लिए यहीं मुक्ति है ।[2]

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १८६ (ख) उत्तराध्ययन प्रियदर्शिनीव्याख्या, अ. ३, पृ. ७९०
२. (क) 'निर्वृत्तिः निर्वाणम्'—उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ९९
(ख) 'निर्वाणं—निर्वृत्तिर्निर्वाणं स्वास्थ्यमित्यर्थः, परमं—प्रकृष्टम् ।'
यद्वा निर्वाणमिति जीवन्मुक्तिम् ।'—बृहद्वृत्ति, पत्र १८९
(ग) प्रशमरति, श्लोक २३८ (घ) सुखबोधा, पत्र ७६
(घ) तणसंथारणिसण्णो वि मुणिवरो भट्ठरायमयमोहो
जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टी वि ॥ —सुखबोधा, पत्र ७६

घयसित्तव्व पावए—प्रस्तुतगाथा में निर्वाण की तुलना घृतसिक्त अग्नि से की है, जो प्रज्वलित होती है, बुझती नहीं। इसलिए निर्वाण का अर्थ आत्मा की प्रज्वलित तेजोमयी स्थिति है, जिसे चाहे मुक्ति—जीवन्मुक्ति कह लें या स्वस्थता कह लें, बात एक ही है।[1]

दुर्लभ चतुरंगप्राप्ति का परम्परागत फल

१४. विसालिसेहिं सीलेहिं जक्खा उत्तर-उत्तरा।
महासुक्का व दिप्पन्ता मन्नन्ता अपुणच्चवं॥

[१४] विविध शीलों (व्रताचरणों) के पालन से यक्ष (महनीय ऋद्धिसम्पन्न देव) होते हैं। वे उत्तरोत्तर (स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति एवं लेश्या की अधिकाधिक) समृद्धि के द्वारा महाशुक्ल (चन्द्र, सूर्य) की भाँति दीप्तिमान होते हैं और वे 'स्वर्ग से पुनः च्यवन नहीं होता,' ऐसा मानने लगते हैं।

१५. अप्पिया देवकामाणं कामरूव-विउव्विणो।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठन्ति पुव्वा वाससया बहू॥

[१५] (एक प्रकार से) दिव्य काम-भोगों के लिए अपने आपको अर्पित किये हुए वे देव इच्छानुसार रूप बनाने (विकुर्वणा करने) में समर्थ होते हैं तथा ऊर्ध्व कल्पों में पूर्ववर्ष-शत अर्थात्—सुदीर्घ काल तक रहते हैं।

१६. तत्थ ठिच्चा जहाठाणं जक्खा आउक्खए चुया।
उवेन्ति माणुसं जोणिं से दसंगेऽभिजायई॥

[१६] वे देव उन कल्पों में (अपनी शीलाराधना के अनुरूप) यथास्थान अपनी-अपनी काल-मर्यादा(स्थिति) तक ठहर कर,आयुक्षय होने पर वहाँ से च्युत होते हैं और मनुष्ययोनि पाते हैं, जहाँ वे दशांग भोगसामग्री से युक्त स्थान में जन्म लेते हैं।

१७. खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च पसवो दास-पोरुसं।
चत्तारि काम-खन्धाणि तत्थ से उववज्जई॥

[१७] क्षेत्र (खेत, खुली जमीन), वास्तु (गृह, प्रासाद आदि), स्वर्ण, पशु और दास-पोष्य (या पौरुषेय), ये चार कामस्कन्ध जहाँ होते हैं, वहाँ वे उत्पन्न होते हैं।

१८. मित्तवं नायवं होइ उच्चागोए य वण्णवं।
अप्पायंके महापन्ने अभिजाए जसोबले॥

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १८६—
'स च न तथा तृणादिभिर्दीप्यते यथा घृतेनेति अस्य घृतसिक्तस्य निर्वृत्तिरनुगीयते।'

(ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. ९९—
तृण-तुप-पलाल-करीपादिभिरिंधनविशेषैरिध्यमानो न तथा दीप्यते यथाघृतेनेत्यतोऽनुमानात् ज्ञायते यथा घृतेनाभिषिक्तोऽधिकं भाति।

[१८] वे सन्मित्रों से युक्त, ज्ञातिमान् उच्चगोत्रीय, सुन्दर वर्ण वाले (सुरूप), नीरोग, महाप्राज्ञ, अभिजात—कुलीन, यशस्वी, और बलवान् होते हैं।

१९. भोच्चा माणुस्सए भोए अप्पडिरूवे अहाउयं।
पुव्वं विसुद्ध-सद्धम्मे केवलं बोहि बुज्झिया॥

[१९] आयु-पर्यन्त (यथायुष्य) मनुष्यसम्बन्धी अनुपम (अप्रतिरूप) भोगों को भोग कर भी पूर्वकाल में विशुद्ध सद्धर्म के आराधक होने से वे निष्कलंक (केवलीप्रज्ञप्त धर्मप्राप्तिरूप) बोधि का अनुभव करते हैं।

२०. चउरंगं दुल्लहं नच्चा संजमं पडिवज्जिया।
तवसा धुयकम्मंसे सिद्धे हवइ सासए॥
—त्ति बेमि।

[२०] पूर्वोक्त चार अंगों को दुर्लभ जान कर वे साधक संयम-धर्म को अंगीकार करते हैं, तदनन्तर तपश्चर्या से कर्म के सब अंशों को क्षय कर वे शाश्वत सिद्ध (मुक्त) हो जाते हैं।
—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—जक्खा—यक्ष शब्द का प्राचीन अर्थ यहाँ ऊर्ध्वकल्पवासी देव है। यज् धातु से निष्पन्न यक्ष शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है—जिनकी इज्या—पूजा की जाए, वह यक्ष है। अथवा तथाविध ऋद्धि-समुदाय होने पर भी अन्त में क्षय को प्राप्त होता है, वह 'यक्ष' है।[1]

महासुक्का—महाशुक्ल—अतिशय उज्ज्वल प्रभा वाले सूर्य, चन्द्र आदि को कहा गया है। जक्खा शब्द के साथ 'उत्तर-उत्तरा' और 'महासुक्का' शब्द होने से ऊपर-ऊपर के देवों का सूचक यक्ष शब्द है तथा वे महाशुक्लरूप चन्द्र, सूर्य आदि के समान देदीप्यमान हैं। इससे उन देवों की शरीर-सम्पदा प्रतिपादित की गई है।[2]

कामरूपविउव्विणो—चार अर्थ—(१) कामरूपविकुर्विणः—इच्छानुसार रूप-विकुर्वणा करने के स्वभाव वाले, **(२) कामरूपविकरणाः**—यथेष्ट रूपादि बनाने की शक्ति से युक्त, (३) आठ प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त, (४) एक साथ अनेक आकार वाले रूप बनाने की शक्ति से सम्पन्न।[3]

पुव्वा वाससया बहू—८४ लाख वर्ष को ८४ लाख वर्ष से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, उसे पूर्व कहते हैं। ७०५६०००००००००० अर्थात् सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्षों का

१. (क) इज्यन्ते पूज्यन्ते इति यक्षाः, यान्ति वा तथाविधर्द्धिसमुदयेऽपि क्षयमिति यक्षाः। —बृहद्वृत्ति. पत्र १८३
(ख) उत्तरज्झयणाणि टिप्पण (मुनि नथमलजी), अ. ३, पृ. २९
२. महाशुक्लाः—अतिशयोज्ज्वलतया चन्द्रादित्यादयः। —बृहद्वृत्ति, पत्र १८३
३. (क) कामतो रूपाणि विकुर्वितुं शीलं येषां ते इमे कामरूपविकुर्विणः।
(ख) अष्टप्रकारैश्वर्ययुक्ता इत्यर्थः। —उत्तरा. चूर्णि, पृ. १०१
(ग) कामरूपविकरणाः—यथेष्टरूपादिनिर्वर्तनशक्तिसमन्विताः। —सुखबोधा पत्र ७७
(घ) 'युगपदनेकाकाररूपविकरणशक्तिः कामरूपित्वमिति।' तत्त्वार्थराजवार्तिक ३।३६, पृ. २०३

एक पूर्व होता है। इस प्रकार के बहुत (असंख्य) पूर्वों तक। यहाँ 'बहु' शब्द असंख्य वाचक है तथा असंख्यात (बहु) सैकड़ों वर्षों तक।[1]

दशांग—(१) **चार कामस्कन्ध**—क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य, पशुसमूह और दास-पौरूषेय; (क्रीत एवं मालिक की सम्पत्ति समझा जाने वाला दास, तथा पुरुषों-पोष्यवर्ग का समूह—पौरुष), (२) मित्रवान्, (३) ज्ञातिमान्, (४) उच्चगोत्रीय, (५) वर्णवान्, (६) नीरोग, (७) महाप्राज्ञ, (८) विनीत, (९) यशस्वी, (१०) शक्तिमान्।[2]

संजमं—यहाँ संयम का अर्थ है—सर्वसावद्ययोगविरतिरूप चारित्र।

सिद्धे हवइ सासए—सिद्ध के साथ शाश्वत शब्द लगाने का उद्देश्य यह है कि कई मतवादी मोहवश परोपकारार्थ मुक्त जीव का पुनरागमन मानते हैं। जैनदर्शन मानता है कि सिद्ध होने के बाद संसार के कारणभूत कर्मबीज समूल भस्म होने पर संसार में पुनरागमन का कोई कारण नहीं रहता।[3]

॥ तृतीय अध्ययन : चतुरंगीय सम्पूर्ण ॥ □□

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र १८७

२. उत्तरा. मूल., अ. ३, गा. १७-१८

३. बृहद्वृत्ति, पत्र १८७

चतुर्थ अध्ययन : असंस्कृत

अध्ययन-सार

❋ प्रस्तुत चतुर्थ अध्ययन का नाम **'असंस्कृत'** है। यह नाम भी अनुयोगद्वार-सूत्रोक्त आदान (प्रथम) पद को लेकर रखा गया है। यह नामकरण समवायांग सूत्र के अनुसार है। निर्युक्ति के अनुसार इस अध्ययन का नाम **'प्रमादाप्रमाद'** है, जो इस अध्ययन में वर्णित विषय के आधार पर है।[1]

❋ इस अध्ययन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है—प्रमाद से वचना और जीवन के अन्त तक अप्रमाद-पूर्वक मानसिक-वाचिक-कायिक प्रवृत्ति करना।

❋ प्रस्तुत अध्ययन में भगवान् महावीर ने प्रमाद के कुछ कारण ऐसे वताए हैं, जिनका मुख्य स्रोत जीवन के प्रति सम्यक् दृष्टिकोण का अभाव है। दूसरे शब्दों में, वे भ्रान्त धारणाएँ या मिथ्या मान्यताएँ हैं, जिनसे बहक कर मनुष्य गुमराह हो जाता है और प्रमाद में पड़कर वास्तविक (मोक्ष) पुरुषार्थ से भटक जाता है। उस युग में जीवन के प्रति कुछ भ्रान्त धारणाएँ या मिथ्या लोकमान्यताएँ ये थीं, जिन्हें प्रस्तुत अध्ययन में प्रमादस्रोत मान कर उनका खण्डन किया गया है—

❋ १ 'जीवन संस्कृत है, अथवा किया जा सकता है,' ऐसा तथाकथित संस्कृतवादी मानते थे। वे संस्कृत भाषा में बोलने, खानपान और रहनसहन में भोगवादी दृष्टि के अनुसार सुधार करने, अपने भोगवादी अर्थकामपरक सिद्धान्तों को सुसंस्कृत भाषा में प्रस्तुत करने में, प्रेयपरायणता में, परपदार्थों की अधिकाधिक वृद्धि एवं आसक्ति में एवं मंत्र-तंत्रों, देवों या अवतारों की सहायता या कृपा से टूटे या टूटते हुए जीवन को पुनः सांधने (संस्कृत) को ही संस्कृत जीवन मानते थे। परन्तु भगवान् महावीर ने उनका निराकरण करते हुए कहा—जीवन असंस्कृत है, अर्थात् टूटने वाला—विनश्वर है, उसे किसी भी मंत्र-तंत्रादि या देव, अवतार आदि की सहायता से भी सांधा नहीं जा सकता। बाह्यरूप से किया जाने वाला भाषा-वेशभूषादि का संस्कार विकार हैं, अर्थकाम-परायणता है, जिसके लिए मनुष्य जीवन नहीं मिला है। साथ ही, तथाकथित संस्कृत-वादियों को तुच्छ, परपरिवादी, परपदार्थाधीन, प्रेयद्वेषपरायण एवं धर्मरहित वता कर उनसे दूर रहने का निर्देश किया है।[2]

❋ २ 'धर्म बुढ़ापे में करना चाहिए, पहले नहीं;' इसका निराकरण भगवान् ने किया—'धर्म करने के लिए सभी काल उपयुक्त हैं, बुढ़ापा आएगा या नहीं, यह भी निश्चित नहीं है, फिर बुढ़ापा आने पर भी कोई शरणदाता या असंस्कृत जीवन को सांधने—रक्षा करने वाला नहीं रहेगा।'[3]

---

१. (क) समवायांग, समवाय ३६,.... 'असंखयं।'

(ख) उ. निर्युक्ति, गा. १८१—

पंचविहो य पमाओ इहमज्झयणंमि अप्पमाओ अ।
वण्णिएज्ज उ जम्हा तेण पमायाप्पमायं ति॥

२. उत्तराध्ययन मूल, अ. ४, गा. १, १३,

३. 'जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।'—वही, अ. ४, गा. १

३. कुछ मतवादी अर्थपुरुषार्थ पर जोर देते थे, इस कारण धन को असंस्कृत जीवन का त्राण (रक्षक) मानते थे; परन्तु भगवान् ने धन न यहाँ किसी का त्राण वन सकता है और न ही परलोक में। वल्कि जो व्यक्ति पापकर्मों द्वारा धनोपार्जन करते हैं, वे उस धन को यहीं छोड़ जाते हैं और चोरी, अनीति, वेईमानी, ठगी, हिंसा आदि पापकर्मों के फलस्वरूप वे अनेक जीवों के साथ वैर बांध कर नरक के मेहमान वनते हैं। अतः धन का व्यामोह मनुष्य के विवेक-दीप को वुझा देता है, जिससे वह यथार्थ पथ को नहीं देख पाता। अज्ञान वहुत वड़ा प्रमाद है।[1]

४. कई लोग यह मानते थे कि कृत कर्मों का फल अगले जन्म में मिलता है तथा कई मानते थे— कर्मों का फल है ही नहीं, होगा तो भी अवतार या भगवान् को प्रसन्न करके या क्षमायाचना कर उस फल से छूट जाएँगे। परन्तु भगवान् ने कहा—'कृत कर्मों को भोगे विना छुटकारा नहीं मिलता। कर्मों का फल इस जन्म में भी मिलता है, आगामी जन्म में भी। कर्मों के फल से दूसरा कोई भी वचा नहीं सकता, उन्हें भोगना अवश्यम्भावी है।'[2]

५. यह भी भ्रान्त धारणा थी कि यदि एक व्यक्ति अनेक व्यक्तियों के लिए कोई शुभाशुभ कर्म करता है, तो उसका फल वे सब भुगतते हैं। किन्तु इसका खण्डन करते हुए भगवान् ने कहा—'संसारी जीव अपने वान्धवों के लिए जो साधारण (सम्मिलित फल वाला) कर्म करता है, उसका फल भोगने के समय वे वान्धव वन्धुता (भागीदारी) स्वीकार नहीं कर सकते, हिस्सा नहीं बँटाते।' अतः धन, परिजन आदि सुरक्षा के समस्त साधनों के आवरणों में छिपी हुई असुरक्षा और पापकर्म फलभोग को व्यक्ति न भूले।[3]

६. ऐसी भी मान्यता थी कि साधना के लिए संघ या गुरु आदि का आश्रय विघ्नकारक है, व्यक्ति को स्वयं एकाकी साधना करनी चाहिए; परन्तु भगवान् ने कहा—'जो स्वच्छन्द-वृत्ति का निरोध करके गुरु के सान्निध्य में रह कर ग्रहण-आसेवना, शिक्षा प्राप्त करके साधना करता है, वह प्रमादविजयी होकर मोक्ष पा लेता है।'[4]

७. कुछ लोग यह मानते थे कि अभी तो हम जैसे-तैसे चल लें, पिछले जीवन में अप्रमत्त हो जाएँगे, ऐसी शाश्वतवादियों की धारणा का निराकरण भी भगवान् ने किया है—'जो पूर्व जीवन में अप्रमादी नहीं होता, वह पिछले जीवन में अप्रमत्तता को नहीं पा सकता, जव आयुष्य शिथिल हो जाएगा, मृत्यु सिरहाने आ खड़ी होगी, शरीर छूटने लगेगा, तव प्रमादी व्यक्ति के विषाद के सिवाय और कुछ पल्ले नहीं पड़ेगा।'[5]

८. कुछ लोगों की मान्यता थी कि 'हम जीवन के अन्तिम भाग में आत्मविवेक (भेदविज्ञान) कर लेंगे, शरीर पर मोह न रख कर आत्मा की रक्षा कर लेंगे।' इस मान्यता का निराकरण भी भगवान् ने किया है—'कोई भी मनुष्य तत्काल आत्मविवेक (शरीर और आत्मा की पृथक्ता

---

१. 'वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,' उत्तराध्ययन मूल, अ. ४, गा. ५, २,
२. वही, अ. ४, गा. ३
३. वही, गा. ४
४. वही, गा. ८
५. वही, गा. ९

का भान) नहीं कर सकता। अतः दृढ़ता से संयमपथ पर खड़े होकर आलस्य एवं कामभोगों को छोड़ो, लोकानुप्रेक्षा करके समभाव में रमो। अप्रमत्त होकर स्वयं आत्मरक्षक बनो।[1]

इसी प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में बीच-बीच में प्रमाद के भयस्थलों से बचने का भी निर्देश किया गया है—(१) मोहनिद्रा में सुप्त व्यक्तियों में भी भारण्डपक्षीवत् जागृत होकर रहो, (२) समय शीघ्रता से आयु को नष्ट कर रहा है, शरीर दुर्बल व विनाशी है, इसलिए प्रमाद में जरा भी विश्वास न करो, (३) पद-पद पर दोषों से आशंकित होकर चलो, (४) जरा-से भी प्रमाद (मन-वचन-काया की अजागृति) को बन्धनकारक समझो। (५) शरीर का पोषण-रक्षण-संवर्धन भी तब तक करो, जब तक उससे ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति हो, जब गुणप्राप्ति न हो, ममत्व-व्युत्सर्ग कर दो, (६) विविध अनुकूल-प्रतिकूल विषयों पर राग-द्वेष न करो, (७) कषायों का परित्याग भी अप्रमादी के लिए आवश्यक है, (८) प्रतिक्षण अप्रमत्त रह कर अन्तिम सांस तक रत्नत्रयादिगुणों की आराधना में तत्पर रहो।[2]

ये ही अप्रमाद के मूलमंत्र प्रस्तुत अध्ययन में भलीभांति प्रतिपादित किये गए हैं।

---

१. उत्तराध्ययन मूल, अ. ४, गा. १०

२. वही, गा. ६, ७, ११, १२, १३,

चउत्थं अज्झयणं : चतुर्थ अध्ययन

असंखयं : असंस्कृत

असंस्कृत जीवन और प्रमादत्याग की प्रेरणा

१. असंखयं जीविय मा पमायए जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते किण्णू विहिंसा अजया गहिन्ति ।।

[१] जीवन असंस्कृत (सांधा नहीं जा सकता) है। इसलिए प्रमाद मत करो। वृद्धावस्था प्राप्त होने पर कोई भी शरण (त्राण) नहीं होता। विशेष रूप से यह जान लो कि प्रमत्त, विशिष्ट हिंसक और अविरत (असंयमी) जन (समय पर) किसकी शरण ग्रहण करेंगे ?

विवेचन—जीवन असंस्कृत क्यों और कैसे ?—टूटते हुए जीवन को बचाना या टूट जाने पर उसे सांधना सैकड़ों इन्द्र आ जाएँ तो भी अशक्य है। जीवन के मुख्यतया पांच पड़ाव हैं—(१) जन्म, (२) बाल्यावस्था, (३) युवावस्था, (४) वृद्धावस्था और (५) मृत्यु। कई प्राणी तो जन्म लेते ही मर जाते हैं, कई बाल्यावस्था में भी काल के गाल में चले जाते हैं, युवावस्था का भी कोई भरोसा नहीं है। रोग, शोक, चिन्ता आदि यौवन में ही मनुष्य को मृत्युमुख में ले जाते हैं, बुढ़ापा तो मृत्यु का द्वार या द्वारपाल है। प्राण या आयुष्य क्षय होने पर मृत्यु अवश्यम्भावी है। इसीलिए कहा गया है—जीवन क्षणभंगुर है, टूटने वाला है।

प्रमाद से दूर और अप्रमाद के निकट रहने का उपदेश—असंस्कृत जीवन के कारण मनुष्य को किसी भी अवस्था में प्रमाद नहीं करना चाहिए। जो धर्माचरण में प्रमाद करता है, उसे किसी भी अवस्था में कोई भी शरण देने वाला नहीं, विशेषत: बुढ़ापे में जब कि मौत झांक रही हो, प्रमादी मनुष्य हाथ मलता रह जाएगा, कोई भी शरणदाता नहीं मिलेगा।

कहा भी है—"मंगलैः कौतुकैर्योगैर्विद्यामंत्रैस्तथौषधैः।
न शक्ता मरणात् त्रातुं, सेन्द्रा देवगणा अपि।"

अर्थात्—मंगल, कौतुक, योग, विद्या एवं मंत्र, औषध, यहाँ तक कि इन्द्रों सहित समस्त देवगण भी मृत्यु से बचाने में असमर्थ हैं।[1]

उदाहरण—वृद्धावस्था में कोई भी शरण नहीं होता, इस विषय में उज्जयिनी के अट्टनमल्ल का उदाहरण द्रष्टव्य है।[2]

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र १९९
(ख) प्रशमरति (वाचक उमास्वति)

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २०५

प्रमत्तकृत विविध पापकर्मों के परिणाम

२. जे पावकम्मेहिं धणं मणुस्सा समाययन्ती अमइं गहाय ।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे वेराणुबद्धा नरयं उवेन्ति ।।

[२] जो मनुष्य कुबुद्धि का सहारा ले कर पापकर्मों से धन का उपार्जन करते हैं (पापोपार्जित धन को यहीं) छोड़ कर राग-द्वेष के पाश (जाल) में पड़े हुए तथा वैर (कर्म) से बंधे हुए वे मनुष्य (मर कर) नरक में जाते हैं ।

३. तेणे जहा सन्धि-मुहे गहीए सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
एवं पया पेच्च इहं च लोए कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।।

[३] जैसे सेंध लगाते हुए संधि-मुख में पकड़ा गया पापकारी चोर स्वयं किये हुए कर्म से ही छेदा जाता (दण्डित होता) है, वैसे ही इहलोक और परलोक में प्राणी स्वकृत कर्मों के कारण छेदा जाता है; (क्योंकि) कृत- कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नहीं होता ।

४. संसारमावन्न परस्स अट्ठा साहारणं जं च करेइ कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेय-काले न बन्धवा बन्धवयं उवेन्ति ।।

[४] संसारी प्राणी (अपने और) दूसरों (वन्धु-बान्धवों) के लिए, जो साधारण (सवको समान फल मिलने की इच्छा से किया जाने वाला) कर्म करता है, उस कर्म के वेदन (फलभोग) के समय वे बान्धव वन्धुता नहीं दिखाते (—कर्मफल में हिस्सेदार नहीं होते) ।

५. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते इमंमि लोए अदुवा परत्था ।
दीव-प्पणट्ठे व अणन्त-मोहे नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ।।

[५] प्रमादी मानव इस लोक में अथवा परलोक में धन से त्राण—संरक्षण नहीं पाता । अन्धकार में जिसका दीपक बुझ गया हो, उसका पहले प्रकाश में देखा हुआ मार्ग भी, जैसे न देखे हुए की तरह हो जाता है, वैसे ही अनन्त मोहान्धकार के कारण जिसका ज्ञानदीप बुझ गया है, वह प्रमत्त न्याययुक्त मोक्षमार्ग को देखता हुआ भी नहीं देखता ।

विवेचन—पावकम्मेहिं—पापकर्म (१) मनुष्य को पतन के गर्त्त में गिराने वाले हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह आदि, (२) पाप के उपादानहेतुक अनुष्ठान (कुकृत्य) और (३) (अपरिमित) कृषि-वाणिज्यादि अनुष्ठान ।[१]

पासपयट्टिए—दो अर्थ (१) पश्य प्रवृत्तान्—उन्हें (पापप्रवृत्त मनुष्यों को) देख; (२) **पाश-प्रतिष्ठित**—रागद्वेष, वासना या काम के पाश (जाल) में फंसे (—पड़े) हुए । 'पाश' से सम्बन्धित दो प्राचीन श्लोक सुखवोधा वृत्ति में उद्धृत हैं—

---

१. (क) पातयते तमितिपापं, क्रियते इति कर्म, पापकर्माणि हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहादीनि ।
—उत्तरा. चूर्णि पृ. ११०

(ख) पापकर्मभिः—पापोपादानहेतुभिरनुष्ठानैः ।—वृहद्वृत्ति पत्र २०६

(ग) 'पापकर्मभिः (अपरिमित) कृषि-वाणिज्यादिभिरनुष्ठानैः ।'—सुखवोधा पत्र ८०

वारिगयाणं जालं तिमीण, हरिणाण वागुरा चेव ।
पासा य सउणयाणं णराण वन्धत्थमित्थीओ ।। १।।
उन्नयमाणा अक्खलिय-परक्कम्मा पंडिया कई जे य ।
महिलाहिं अंगुलीए नच्चाविज्जंति ते वि नरा ।। २।।[1]

वेराणुबद्धा—वैर शब्द के तीन अर्थ—(१) शत्रुता, (२) वज्र (पाप) और (३) कर्म । अतः वैरानुबद्ध के तीन अर्थ भी इस प्रकार होते हैं—(१) वैर की परम्परा बांधे हुए, (२) वज्र-पाप से अनुबद्ध, एवं (३) कर्मों से बद्ध । प्रस्तुत में 'कर्मबद्ध' अर्थ ही अभीष्ट है ।[2]

संधिमुहे—सन्धिमुख का शाब्दिक अर्थ सेंध के मुख—द्वार पर है । टीकाकारों ने सेंध कई प्रकार की बताई हैं—कलशाकृति, नन्द्यावर्ताकृति, पद्माकृति, पुरुषाकृति आदि ।[3]

दो कथाएँ—(१) प्रथम कथा—प्रियंवद चोर स्वयं काष्ठकलाकार बढ़ई था । उसने सोचा—सेंध देखने के बाद लोग आश्चर्यचकित होकर मेरी कला की प्रशंसा न करें तो मेरी विशेषता ही क्या ! उसने करवत से पद्माकृति सेंध बनाई, स्वयं उसमें पैर डाल कर धनिक के घर में प्रवेश करने का सोचा, लेकिन घर के लोग जाग गए । उन्होंने चोर के पैर कस कर पकड़ लिए और अन्दर खींचने लगे । उधर बाहर चोर के साथी उसे बाहर की ओर खींचने लगे । इसी रस्साकस्सी में वह चोर लहूलुहान होकर मर गया । (२) एक चोर अपने द्वारा लगाई हुई सेंध की प्रशंसा सुन कर हर्षातिरेक से संयम न रखने के कारण पकड़ा गया । दोनों कथाओं का परिणाम समान है । जैसे चोर अपने ही द्वारा की हुई सेंध के कारण मारा या पकड़ा जाता है, वैसे ही पापकर्मा जीव अपने ही कृतकर्मों के फलस्वरूप कर्मों से दण्डित होता है ।[4]

दीव-प्पणट्ठे व—दीव के दो रूपः दो अर्थ—द्वीप और दीप । (१) आश्वासद्वीप (समुद्र में डूबते हुए मनुष्यों को आश्रय के लिए आश्वासन देने वाला) तथा (२) प्रकाशदीप (अन्धकार में प्रकाश करने वाला) । यहाँ प्रकाशदीप अर्थ अभीष्ट है । **उदाहरण**—कई धातुवादी धातुप्राप्ति के लिए भूगर्भ में उतरे । उनके पास दीपक, अग्नि और ईन्धन थे । प्रमादवश दीपक बुझ गया, अग्नि भी बुझ गई । अब वे उस गहन अन्धकार में पहले देखे हुए मार्ग को भी नहीं पा सके ।[5]

जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक प्रतिक्षण अप्रमाद का उपदेश

६. सुत्तेसु यावी पडिबुद्ध-जीवी न वीससे पण्डिए आसु-पन्ने ।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं भारण्ड-पक्खी व चरेऽप्पमत्तो ।।

[६] आशुप्रज्ञ (प्रत्युत्पन्नमति) पण्डित साधक (मोहनिद्रा में) सोये हुए लोगों में प्रतिक्षण

---

१. (क) 'पश्य—अवलोकय ।'—बृहद्वृत्ति, पत्र २०६ (ख) 'पाशा इव पाशाः ।'—सुखबोधा, पत्र ८०
२. (क) वैरं='कर्म, तेनानुबद्धाः सततमनुगताः ।'—बृ. वृ., पत्र २०६ (ख) वैरानुबद्धाः पापेन सततमनुगताः । —सु. बो. पत्र ८०
३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २०७ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १११
४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २०७-२०८ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ. ११०-१११ (ग) सुखबोधा पृ. ८१-८२
५. (क) उत्तरा. निर्युक्ति, गा. २०६-२०७ (ख) बृहद्वृत्ति, पृ. २१२-२१३

प्रतिबुद्ध (जागृत) होकर जीए। (प्रमाद पर एक क्षण भी) विश्वास न करे। मुहूर्त्त (समय) बड़े घोर (भयंकर) हैं और शरीर दुर्बल है। अतः भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त होकर विचरण करना चाहिए।

७. चरे पयाइं परिसंकमाणो जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।
लाभन्तरे जीविय वूहइत्ता पच्छा परिन्नाय मलावधंसी॥

[७] साधक पद-पद पर दोषों के आगमन की संभावना से आशंकित होता हुआ चले, जरा-से (किञ्चित्) प्रमाद या दोष को भी पाश (वंधन) मानता हुआ इस संसार में सावधान रहे। जब तक नये-नये गुणों की उपलब्धि हो, तब तक जीवन का संवर्धन (पोषण) करे। इसके पश्चात् लाभ न हो तब, परिज्ञान (ज्ञपरिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से शरीर का त्याग) करके कर्ममल (या शरीर) का त्याग करने के लिए तत्पर रहे।

८. छन्दं निरोहेण उवेइ मोक्खं आसे जहा सिक्खिय-वम्मधारी।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्तो तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं॥

[८] जैसे शिक्षित (सधा हुआ) तथा कवचधारी अश्व युद्ध में अपनी स्वच्छन्दता पर नियंत्रण पाने के बाद ही विजय (स्वातंत्र्य—मोक्ष) पाता है, वैसे ही अप्रमाद से अभ्यस्त साधक भी स्वच्छन्दता पर नियंत्रण करने से जीवनसंग्राम में विजयी हो कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जीवन के पूर्व-वर्षों में जो साधक अप्रमत्त होकर विचरण करता है, वह उस अप्रमत्त विचरण से शीघ्र मोक्ष पा लेता है।

९. स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा एसोवमा सासय-वाइयाणं।
विसीयई सिढिले आउयंमि कालोवणीए सरीरस्स भेए॥

[९] जो पूर्वजीवन में अप्रमत्त—जागृत नहीं रहता, वह पिछले जीवन में भी अप्रमत्त नहीं हो पाता; यह ज्ञानीजनों की धारणा है, किन्तु 'अन्तिम समय में अप्रमत्त हो जाएँगे, अभी क्या जल्दी है?' यह शाश्वतवादियों (स्वयं को अजर-अमर समझने वाले अज्ञानी जनों) की मिथ्या धारणा (उपमा) है। पूर्वजीवन में प्रमत्त रहा हुआ व्यक्ति, आयु के शिथिल होने पर मृत्युकाल निकट आने तथा शरीर छूटने की स्थिति आने पर विषाद पाता है।

१०. खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसी अप्पाण-रक्खी चरमप्पमत्तो॥

[१०] कोई भी व्यक्ति तत्काल आत्मविवेक (या त्याग) को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः अभी से कामभोगों का त्याग करके, संयमपथ पर दृढ़ता से समुत्थित (खड़े) हो कर तथा लोक (स्व-पर जन या समस्त प्राणिजगत्) को समत्वदृष्टि से भलीभांति जान कर आत्मरक्षक महर्षि अप्रमत्त हो कर विचरण करे।

विवेचन—सुत्तेसु—सुप्त के दो अर्थ—द्रव्यतः सोया हुआ, भावतः धर्म के प्रति अजाग्रत।

पडिबुद्धि०—दो अर्थ—प्रतिबोध—द्रव्यतः जाग्रत, भावतः यथावस्थित वस्तुतत्त्व का ज्ञान।

अथवा दो अर्थ:—द्रव्य से जो नींद में न हो, भाव से धर्माचरण के लिए जागृत हो।[1]

'घोरा.मुहुत्ता' का भावार्थ—यहाँ मुहूर्त शब्द से काल का ग्रहण किया गया है। प्राणी की आयु प्रतिपल क्षीण होती है,—इस दृष्टि से निर्दय काल प्रतिक्षण जीवन का अपहरण करता है तथा प्राणी की आयु अल्प होती है और मृत्यु का काल अनिश्चित होता है। न जाने वह कब आ जाए और प्राणी को उठा ले जाए, इसीलिए उसे घोर—रौद्र कहा है।[2]

भारंडपक्खी—भारण्डपक्षी—अप्रमाद अवस्था को बताने के लिए इस उपमा का प्रयोग अनेक स्थलों में किया गया है। चूर्णि और टीकाओं के अनुसार भारण्डपक्षी दो जीव संयुक्त होते हैं, इन दोनों के तीन पैर होते हैं। बीच का पैर दोनों के लिए सामान्य होता है और एक-एक पैर व्यक्तिगत। वे एक दूसरे के प्रति बड़ी सावधानी बरतते हैं, सतत जाग्रत रहते हैं। इसीलिए भारण्डपक्षी के साथ **'चरे ऽप्पमत्तो'** पद दिया है। पंचतंत्र और वसुदेवहिण्डी में भारण्डपक्षी का उल्लेख मिलता है।[3]

'जं किंचिपासं०' का आशय—'यत्किंचित्' का तात्पर्यार्थ है—थोड़ा-सा प्रमाद या दोष। यत्किंचित् प्रमाद भी पाश—बन्धन है। क्योंकि दुश्चिन्तित, दुर्भाषित और दुष्कार्य ये सब प्रमाद हैं। जो बुरा चिन्तन करता है, वह भी राग-द्वेष एवं कषाय से बंध जाता है। कटु आदि भाषण भी बन्धन-कारक है और दुष्कार्य तो प्रत्यक्ष बन्धनकारक है ही। शान्त्याचार्य ने 'जं किंचि' का मुख्य आशय 'गृहस्थ से परिचय करना आदि' और गौण आशय 'प्रमाद' किया है।[4]

विषयों के प्रति रागद्वेष एवं कषायों से आत्मरक्षा की प्रेरणा

११. मुहं मुहं मोह-गुणे जयन्तं अणेग-रूवा समणं चरन्तं।
फासा फुसन्ती असमंजसं च न तेसु भिक्खू मणसा पउस्से॥

[११] बार-बार मोहगुणों—रागद्वेषयुक्त परिणामों—पर विजय पाने के लिए यत्नशील तथा संयम में विचरण करते हुए श्रमण को अनेक प्रकार के (अनुकूल-प्रतिकूल शब्दादिविषयरूप)

---

१. (क) 'द्रव्यत: शयानेषु, भावतस्तु धर्मं प्रत्यजाग्रत्सु।'
(ख) प्रतिबुद्ध-प्रतिबोध: द्रव्यत: जाग्रता, भावतस्तु यथावस्थित-वस्तुतत्त्वावगम:। —बृहद्वृत्ति, पत्र २१३

२. 'घोरा:-रौद्रा: सततमपि प्राणिनां प्राणापहारित्वात् मुहूर्ता:—कालविशेषा: दिवसाद्युपलक्षणमेतत्।' —सुखबोधा, पत्र ९४

३. (क) एकोदरा पृथग्ग्रीवा: अन्योन्यफलभक्षिण:।
प्रमत्ता हि विनश्यन्ति, भारण्डा इव पक्षिण:॥ —उत्तरा. अ. ४, गा. ६ वृत्ति
(ख) भारण्डपक्षिणो: किल एकं कलेवरं पृथग्ग्रीवं त्रिपादं च स्यात्। यदुक्तम्—
भारण्डपक्षिण: ख्याता: त्रिपदा: मर्त्यभाषिण:।
द्विजिह्वा द्विमुखाश्चैकोदरा भिन्नफलैषिण:॥ —कल्पसूत्र किरणावली टीका
(ग) पंचतंत्र के अपरीक्षितकारक में उत्तरा. टीका से मिलता-जुलता श्लोक है, केवल 'प्रमत्ता' के स्थान पर 'असंहता' शब्द है।

४. (क) यत्किंचिदल्पमपि दुश्चिन्तितादि प्रमादपदं मूलगुणादिमालिन्यजनकतया बन्धहेतुत्वेन।
'यत्किंचित् गृहस्थसंस्तवाद्यल्पमपि ....।' —उत्तरा. बृ. बृ. पत्र २१७, (ख) उ. चूर्णि, पृ. ११७

स्पर्श असमंजस (विघ्न या अव्यवस्था) पैदा करके पीड़ित करते हैं, किन्तु भिक्षु उन पर मन से भी प्रद्वेष न करे।

१२. मन्दा य फासा बहु-लोहणिज्जा तह-प्पगारेसु मणं न कुज्जा।
रक्खेज्ज कोहं, विणएज्ज माणं मायं न सेवे, पयहेज्ज लोहं॥

[१२] कामभोग के मन्द स्पर्श भी बहुत लुभावने होते हैं, किन्तु संयमी तथाप्रकार के (अनुकूल) स्पर्शों में मन को संलग्न न करे। (आत्मरक्षक साधक) क्रोध से अपने को बचाए, अहंकार (मान) को हटाए, माया का सेवन न करे और लोभ का त्याग करे।

विवेचन—फासा—यहाँ स्पर्श शब्द समस्त विषयों या कामभोगों का सूचक है। भगवद्गीता में स्पर्श शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1]

मंदा—यहाँ 'मन्द' शब्द 'अनुकूल' अर्थ का वाचक है।[2]

अधर्मीजनों से सदा दूर रह कर अन्तिम समय तक आत्मगुणाराधना करे

१३. जेसंखया तुच्छ परप्पवाई ते पिज्ज-दोसाणुगया परज्झा।
एए 'अहम्मे' त्ति दुगुंछमाणो कंखे गुणे जाव सरीर-भेओ॥
—त्ति बेमि।

[१३] जो व्यक्ति (ऊपर-ऊपर से) संस्कृत हैं, वे वस्तुतः तुच्छ हैं, दूसरों की निन्दा करने वाले हैं, प्रेय (राग) और द्वेष में फंसे हुए हैं, पराधीन (परवस्तुओं में आसक्त) हैं. ये सब अधर्म (धर्मरहित) हैं। ऐसा सोच कर उनसे उदासीन रहे और शरीरनाश-पर्यन्त आत्मगुणों (या सम्यग्दर्शनादि गुणों) की आराधना (महत्त्वाकांक्षा) करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।[3]

विवेचन—संखया—सात अर्थ—(१) संस्कृतवचन वाले अर्थात्-सर्वज्ञवचनों में दोप दिखाने वाले, (२) संस्कृत बोलने में रुचि वाले, (३) तथाकथित संस्कृत सिद्धान्त का प्ररूपण करने वाले, (४) ऊपर-ऊपर से संस्कृत-संस्कारी दिखाई देने वाले, (५) संस्कारवादी, और (६) असंखया-असंस्कृत—असहिष्णु या असमाधानकारी—गंवार, (७) जीवन संस्कृत हो सकता है—सांधा जा सकता है, यों मानने वाले।

॥ असंस्कृत : चतुर्थ अध्ययन समाप्त॥

१, (क) 'ये हि संस्पर्शजाः भोगाः दुःखयोनय एव ते।' भगवद्गीता, अ. ५, श्लो. २२
(ख) 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा।'—गीता ५।२१ (ग) 'मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय!'—गीता २।१४
(घ) 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्।'—गीता ५।२७

२. उत्तराज्झयणाणि (मु. नथमल) अ. ४, गा. ११ का अनुवाद, पृ. ५६

३. (क) उत्त. चू., पृ. १२६ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २२७ (ग) महावीरवाणी (पं. बेचरदास), पृ. ९८
(घ) मनुस्मृतिकार आदि (ङ) उत्तरा. (डॉ. हरमन जेकोबी, सांडेसरा), पृ. ३७, फुटनोट २.
(च) उत्त. (मुनि नथमल), अ. ४, गा. १३, पृ. ५३

पंचम अध्ययन : अकाममरणीय

अध्ययन-सार

* इस अध्ययन का नाम 'अकाममरणीय' है। निर्युक्ति के अनुसार इसका दूसरा नाम 'मरण-विभक्ति' है।[1]

* संसारी जीव की जीवनयात्रा के दो पड़ाव हैं--जन्म और मरण। जन्म भी अनन्त-अनन्त बार होता है और मरण भी। परन्तु जिसे जीवन और मृत्यु का यथार्थ दृष्टिकोण, यथार्थ स्वरूप समझ में नहीं आता, वह जीवित भी मृतवत् है और उसकी मृत्यु सुगतियों और सुयोनियों में पुनः पुनः जन्म-मरण के बदले अथवा जन्म-मरण की संख्या घटाने की अपेक्षा कुगतियों और कुयोनियों में पुनः-पुनः जन्म-मरण के बीज बोती है तथा जन्म-मरण की संख्या अधिकाधिक बढ़ाती रहती है। परन्तु जो जीवन और मृत्यु के रहस्य और यथार्थ दृष्टिकोण को भलीभाँति समझ लेता है और उसी प्रकार जीवन जीता है, जिसे न जीने का मोह होता है और न ही मृत्यु का गम होता है, जो जीवन और मृत्यु में सम रह कर जीवन को तप, त्याग, व्रत, नियम, धर्माचरण आदि से सार्थक कर लेता है तथा मृत्यु निकट आने पर पहले से ही योद्धा की तरह कषाय और शरीर की संल्लेखना तथा आलोचना, निन्दना, गर्हणा, क्षमापना, भावना एवं प्रायश्चित्त द्वारा आत्मशुद्धि के, अहिंसक शास्त्रास्त्रों से संनद्ध रहता है, वह हँसते-हँसते मृत्यु का वरण करता है। मृत्यु को एक महोत्सव की तरह मानता है और इस नाशवान् शरीर को त्याग देता है।, वह भविष्य में अपने जन्म-मरण की संख्या को घटा देता है, अथवा जन्म-मरण की गति को सदा के लिए अवरुद्ध कर देता है।

* इन दोनों कोटि के व्यक्तियों में से एक के मरण को बालमरण और दूसरे के मरण को पण्डित-मरण कहा गया है। पहली कोटि का व्यक्ति मृत्यु को अत्यन्त भयंकर मान कर उससे घबराता है, रोता-चिल्लाता है, विलाप करता है, आर्तध्यान करता है। मृत्यु के समय उसके स्मृतिपट पर, अपने जीवन में किये हुए पापकर्मों का सारा चलचित्र उभर आता है, जिसे देख-जान कर वह परलोक में दुर्गति और दुःखपरम्परा की प्राप्ति के भय से कांप उठता है, पश्चात्ताप करता है और शोक, चिन्ता, उद्विग्नता, दुर्ध्यान आदि के वश में होकर अनिच्छा से मृत्यु प्राप्त करता है। वह चाहता नहीं कि मेरी मृत्यु हो, किन्तु बरबस मृत्यु होती है। इसीलिए मृत्यु के स्वरूप एवं रहस्य से अनभिज्ञ उस व्यक्ति की मृत्यु को 'अकाममरण' कहा है। जबकि दूसरा व्यक्ति मृत्यु के स्वरूप एवं रहस्य को भलीभांति समझ लेता है, मृत्यु को परमसखा मान कर वह पूर्वोक्त रीति से उसका वरण करता है, इसलिए उसकी मृत्यु को 'सकाममरण' कहा गया है।[2]

---

१. उत्त. निर्युक्ति गा. २३३ : 'सव्वे एए दारा मरणविभत्तीइ वण्णिया कमसो।'

२. उत्तरा. अ. ५ गा. १, २, ३,

* मरण क्या है ? इस प्रश्न का विरले ही समाधान पाते है । आत्मा द्रव्यदृष्टि से नित्य होने के कारण उसका मरण नहीं होता, शरीर भी पुद्गलद्रव्य की दृष्टि से शाश्वत है—ध्रुव है, उसका भी मरण नहीं होता । मृत्यु का सम्बन्ध आत्मद्रव्य की प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-शील पर्याय—परिवर्त्तन से भी नहीं है और न ही सिर्फ शरीर का परिवर्तन मृत्यु है । आत्मा का शरीर को छोड़ना मृत्यु है । आत्मा शरीर को तभी छोड़ता है जब आत्मा और शरीर को जोड़े रखने वाला आयुष्यकर्म प्रतिक्षण क्षीण होता-होता सर्वथा क्षीण हो जाता है ।[1]

* मरण की इस पहेली को न जानने पर ही मरण दुःख और भय का कारण बनता है । मृत्यु को भलीभांति जान लेने पर मृत्यु का भय और दुःख मिट जाता है । मृत्यु का बोध स्वयं (आत्मा) की सत्ता के बोध से, स्वरूपरमणता से, संयम से एवं आत्मलक्षी जीवन जीने से हो जाता है । जिसे यह बोध हो जाता है, वह अपने जीवन में सदैव अप्रमत्त रह कर पापकर्मों से बचता है, तन, मन, वचन से होने वाली प्रवृत्तियों पर चौकी रखता है, शरीर से धर्मपालन करने के लिए ही उसका पोषण करता है । जब शरीर धर्मपालन के लिए अयोग्य—अक्षम हो जाता है, इसका संल्लेखना-विधिपूर्वक उत्सर्ग करने में भी वह नहीं हिचकिचाता । उसकी मृत्यु में भय, खेद और कष्ट नहीं होता । इसी मृत्यु को पण्डितों का सकाममरण कहा है । इसके विपरीत जिस मृत्यु में भय, खेद और कष्ट है, जिसमें संयम और आत्मज्ञान नहीं है, हिंसादि से विरति नहीं है, उसे बालजीवों—अज्ञानियों का अकाममरण कहा है ।

* प्रस्तुत अध्ययन का मूल स्वर है—साधक को अकाममरण से बच कर सकाममरण की अपेक्षा करनी चाहिए । इसीलिए इसमें ४ थी से १६ वीं गाथा तक अकाममरण के स्वरूप, अधिकारी, उसके स्वभाव तथा दुष्परिणाम का उल्लेख किया गया है । तत्पश्चात् सकाममरण के स्वरूप, और अधिकारी—अनधिकारी की चर्चा करके, अन्त में सकाममरण के अनन्तर प्राप्त होने वाली स्थिति का उल्लेख १७ वीं से २९ वीं गाथा तक में किया गया है । अन्त में ३०वीं से ३२वीं गाथा तक सकाममरण को प्राप्त करने का उपदेश और उपाय प्रतिपादित है ।[2]

* भगवतीसूत्र में मरण के ये ही दो भेद किये हैं—बालमरण और पण्डितमरण, किन्तु स्थानांगसूत्र में इन्हीं को तीन भागों में विभक्त किया हैं—बालमरण, पण्डितमरण और बालपण्डितमरण । व्रतधारी श्रावक विरताविरत कहलाता है । वह विरति की अपेक्षा से पण्डित और अविरति की अपेक्षा से बाल कहलाता है । इसलिए उसके मरण को बालपण्डितमरण कहा गया है ।

* **बालमरण** के १२ भेद बताए गए है—(१) वलय (संयमी जीवन से पथभ्रष्ट, पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, संसक्त और अवसन्न साधक की या भूख से तड़पते व्यक्ति की मृत्यु), (२) वशार्त्त (इन्द्रियभोगों के वश–इन्द्रियवशार्त, वेदनावशार्त, कषायवशार्त नोकषायवशार्त मृत्यु), (३) अन्तः-शल्य (या सशल्य) मरण (माया, निदान और मिथ्यात्व दशा में होने वाला मरण, अथवा शस्त्रादि की नोक से होने वाला द्रव्य अन्तः शल्य एवं लज्जा, अभिमानादि के कारण दोषों की शुद्धि न करने की स्थिति में होने वाला भावान्तः शल्यमरण), (४) तद्भवमरण–

१. प्रतिनियतायुः पृथग्भवने, द्वा. १४ द्वा 'आयुष्यक्षये—आचारांग १ श्रु. अ. ३ उ. २
२. उत्तरा. अ. ५ मूल,

वर्तमान भव में जिस आयु को भोग रहा है, उसी भव की आयु बांध कर मरना, (५) गिरिपतन, (६) तरुपतन, (७) जलप्रवेश, (८) अग्निप्रवेश, (९) विषभक्षण, (१०) शस्त्रावपाटन, (११) वैहायस (वृक्ष की शाखा पर लटकने, पर्वत से गिरने, झंपापात आदि करने से होने (वाला मरण) और (१२) हाथी आदि के मृत कलेवर में प्रविष्ट होने पर गृद्ध आदि द्वारा उस जीवित शरीर को नोच कर खाने से होने वाला मरण)।[1]

जो अविरत (व्रत—प्रत्याख्यान, त्याग, नियम से रहित) हो, उस मिथ्यात्वी अथवा व्रतरहित व्यक्ति के मरण को **बालमरण** कहते हैं।[2] भगवती-आराधना (विजयोदयावृत्ति) में बाल के ५ भेद करके, उनके मरण को बालमरण कहा गया है—(१) **अव्यक्तबाल** छोटा बच्चा, जो धर्मार्थकाम-मोक्ष को नहीं जानता और न इन पुरुषार्थों का आचरण करने में समर्थ है, (२) **व्यवहारबाल**—जो लोकव्यवहार, शास्त्रज्ञान आदि को नहीं जानता, (३) **ज्ञानबाल**—जो जीवादि पदार्थों को सम्यक्रूप से नहीं जानता, (४) **दर्शनबाल**—जिसकी तत्त्वों के प्रति श्रद्धा नहीं होती। दर्शनबाल की मृत्यु के भेद हैं—इच्छाप्रवृत्त और अनिच्छाप्रवृत्त। अग्नि, धूप, शस्त्र, विष, पानी आदि या पर्वत से गिर कर, श्वासोच्छ्वास रोक कर, अत्यन्त शीत और अत्यन्त ताप में रह कर, भूखे-प्यासे रह कर, जीभ उखाड़ कर, या प्रकृतिविरुद्ध आहार करके—इन या इस प्रकार के अन्य साधनों से जो इच्छा से आत्महत्या करता है, वह इच्छाप्रवृत्त दर्शनबालमरण है, तथा योग्य काल में या अकाल में (रोग, दुर्घटना, हृदयगतिअवरोध आदि से) मरने की इच्छा के बिना जो मृत्यु होती है, वह अनिच्छाप्रवृत्त दर्शनबालमरण है। (५) **चारित्रबाल**—चारित्र से हीन, विषयासक्त, अतिभोगपरायण, ऋद्धि और रसों में आसक्त, सुखाभिमानी, अज्ञानान्धकार से आच्छादित, पापकर्मरत जीव चारित्रबाल हैं।

संयत और सर्वविरति का मरण पण्डितमरण कहलाता है। विजयोदया में इसके चार भेद किये गए हैं—(१) व्यवहारपण्डित (लोक, वेद, समय के व्यवहार में निपुण, शास्त्रज्ञाता, शुश्रूषादि-गुणयुक्त), (२) दर्शनपण्डित (सम्यक्त्वयुक्त), (३) ज्ञानपण्डित (सम्यग्ज्ञानयुक्त), (४) चारित्र-पण्डित (सम्यक्चारित्रयुक्त)। इनके मरण को पण्डितमरण कहा गया है।[3]

पण्डितमरण—के मुख्यतया तीन भेद हैं—(१) भक्तप्रत्याख्यानमरण, (२) इंगिनीमरण और (३) पादोपगमनमरण। (१) भक्तप्रत्याख्यान—जीवनपर्यन्त त्रिविध या चतुर्विध आहारत्याग-पूर्वक होने वाला मरण, (२) इंगिनीमरण—प्रतिनियत स्थान पर चतुर्विध आहार त्यागरूप अनशनपूर्वक मरण। इसमें दूसरों से सेवा नहीं ली जाती, साधक अपनी शुश्रूषा स्वयं करता है। (३) **प्रायोपगमन—पादपोपगमन—पादोपगमनमरण**—अपनी परिचर्या न स्वयं करे, न दूसरों से कराए, ऐसा मरण प्रायोपगमन या प्रायोग्य है। वृक्ष के नीचे स्थिर अवस्था में चतुर्विध-आहार-त्यागपूर्वक जो मरण हो, उसे पादपोपगमन कहते हैं। संघ से मुक्त होकर अपने पैरों से योग्य प्रदेश में जाकर जो मरण किया जाए, वह पादोपगमन कहलाता है।

---

१. भगवतीसूत्र २।१।९०, स्थानांग स्था. ३, सू. २२२

२. अविरयमरणं बालमरणं। —उ. निर्युक्ति २२२

३. विजयोदयावृत्ति, पत्र ८७-८८

※ समवायांगसूत्र में मरण के १७ भेद बताए हैं, जिनमें से भगवतीसूत्र में अंकित १२ भेद तो कहे जा चुके हैं। शेष पांच भेद ये हैं—आवीचि, अवधि, आत्यन्तिक, छद्मस्थ और केवलिमरण। ये यहाँ अप्रासंगिक हैं।[1]

※ प्रस्तुत अध्ययन में निरूपित बालमरण और पण्डितमरण में इन सबको गतार्थ करके, पण्डितमरण का ही प्रयत्न साधक को करना चाहिए, यही प्रेरणा यहाँ निहित है।

□□

१. भगवती २।१।९०, पत्र २१२, २१३
(ख) समवायांग सम. १७ वृत्ति, पत्र ३५
(ग) उत्त. निर्युक्ति, गा. २२५
(घ) विजयोदया वृ., पत्र ११३, गोमट्टसार कर्मकाण्ड गा. ६१
(ङ) मूलाराधना गा. २९

पंचमं अज्झयणं : अकाम-मरणिज्जं

पंचम अध्ययन : अकाममरणीय

मरण के दो प्रकारों का निरूपण

१. अण्णवंसि महोहंसि एगे तिण्णे दुरुत्तरे।
तत्थ एगे महापन्ने इमं पट्ठमुदाहरे ॥

[१] इस विशाल प्रवाह वाले दुस्तर संसार-सागर से कुछ लोग (गौतमादि) तिर गए। उनमें से एक महाप्राज्ञ (महावीर) ने यह स्पष्ट कहा था—

२. सन्तिमे य दुवे ठाणा अक्खाया मारणन्तिया।
अकाम-मरणं चेव सकाम-मरणं तहा ॥

[२] मारणान्तिक (आयुष्य के अन्तरूप मरण-सम्बन्धी) ये दो स्थान (भेद या रूप) कहे गए हैं—(१) अकाम-मरण तथा (२) सकाम-मरण।

३. बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे।
पण्डियाणं सकामं तु उक्कोसेण सइं भवे ॥

[३] बाल (सद्-असद्-विवेक-विकल) जीवों के अकाम-मरण तो बार-बार होते हैं। किन्तु पण्डितों (उत्कृष्ट चारित्रवानों) का सकाम मरण उत्कर्ष से (अर्थात् केवलज्ञानी की उत्कृष्ट भूमिका की दृष्टि से) एक बार होता है।

विवेचन--मारणन्तिया—मरण रूप निज-निज आयुष्य का अन्त-मरणान्त, मरणान्त में होने वाले मारणान्तिक कहलाते हैं। अर्थात्—मरण-सम्बन्धी।[1]

अकाममरणं—जो व्यक्ति पंचेन्द्रिय विषयों का कामी (मूर्च्छित) होने के कारण मरने की (कामना) नहीं करता, किन्तु आयुष्य पूर्ण होने पर विवश होकर मरता है, उसका मरण अनिच्छा से विवशता की स्थिति में होता है, इसलिए अकाममरण कहलाता है। इसे बालमरण (अविरति का मरण) भी कहा जाता है।[2]

सकाममरणं—जो व्यक्ति विषयों के प्रति निरीह-निःस्पृह एवं अनासक्त होते हैं, इसलिए मृत्यु के प्रति असंत्रस्त, हैं, मृत्यु के समय घबराते नहीं, उनके लिए मृत्यु उत्सवरूप होती है,। ऐसे लोगों का मरण सकाममरण कहलाता है। इसे पण्डितमरण (विरत का मरण) भी कहा जाता है। जैसे वाचकवर्य उमास्वाति ने कहा है—"संचित तपस्या के धनी, नित्य व्रत-नियम-संयम में रत एवं निरपराध वृत्ति वाले चारित्रवान् पुरुषों के मरण को मैं उत्सवरूप मानता हूँ।" सकाम मरण का

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २४२ : मरणमेव अन्तो-निज-निजाऽऽयुषः पर्यन्तो मरणान्तः, तस्मिन् भवे मारणान्तिके।
२. 'ते हि विषयाभिष्वंगतो मरणमनिच्छन्त एव म्रियन्ते।'

अर्थ यहाँ वस्तुतः मृत्यु की अभिलाषा (कामना) पूर्वक मरण नहीं है, क्योंकि साधक के लिए जीवन और मृत्यु दोनों की अभिलाषा निषिद्ध है। कहा भी है—यदि अपार संसार-सागर को पार करना चाहते हो तो न तो चिर काल तक जीने का विचार करो और न ही शीघ्र मृत्यु का।[1]

'उक्कोसेण सइं भवे'—इस गाथा में कहा गया है, कि 'पण्डितों (चारित्रवानों) का सकाममरण एक बार ही होता है। यह कथन केवलज्ञानी की उत्कृष्ट भूमिका की अपेक्षा से कहा गया है, क्योंकि अन्य चारित्रवान् साधकों का सकाममरण तो ७-८ बार हो सकता है।[2]

'बाल' तथा 'पण्डित'—ये दोनों पारिभाषिक विशिष्टार्थसूचक शब्द हैं। यहाँ बाल का विशेष अर्थ है—व्रतनियमादिरहित और पण्डित का विशेषार्थ है—व्रत-नियम-संयम में रत व्यक्ति।[3]

अकाममरण : स्वरूप, अधिकारी, स्वभाव और दुष्परिणाम

४. तत्थिमं पढमं ठाणं महावीरेण देसियं।
काम-गिद्धे जहा बाले भिसं कूराइं कुव्वई॥

[४] भगवान् महावीर ने पूर्वोक्त दो स्थानों में से प्रथम स्थान के विषय में यह कहा है कि काम-भोगों में आसक्त बालजीव अत्यन्त क्रूर कर्म करता है।

५. जे गिद्धे कामभोगेसु एगे कूडाय गच्छई।
'न मे दिट्ठे परे लोए चक्खू-दिट्ठा इमा रई॥'

[५] जो काम-भोगों में आसक्त होता है, वह कूट (मृगादि-बन्धन, नरक या मिथ्या भाषण) की ओर जाता है। (किसी के द्वारा इनके त्याग की प्रेरणा दिये जाने पर वह कहता है—) 'मैंने परलोक तो देखा नहीं; और यह रति (स्पर्शनादि कामभोग सेवन जनित-प्रीति-आनन्द) तो चक्षुदृष्ट (—प्रत्यक्ष आँखों के सामने) है।'

६. 'हत्थागया इमे कामा कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए अत्थि वा नत्थि वा पुणो॥

[६] ये (प्रत्यक्ष दृश्यमान) कामभोग (—सम्बन्धी सुख) तो (अभी) हस्तगत हैं, जो भविष्य (आगामी भव) में प्राप्त होने वाले (सुख) हैं वे तो कालिक (अनिश्चित काल के बाद मिलने वाले—संदिग्ध) हैं। कौन जानता है—परलोक है भी या नहीं?

---

१. सह कामेन-अभिलाषेण वर्तते इति सकामं, मरणं प्रत्यसंत्रस्ततया तथात्वं चोत्सवभूतत्वात्तादृशां मरणस्य। तथा च वाचकः—

संचिततपोधनानां नित्यं व्रतनियम-संयमरतानाम्।
उत्सवभूतं मन्ये, मरणमनपराधवृत्तीनाम्॥

न तु परमार्थतः तेषां, सकामं (मरणं) सकामत्वं; मरणाभिलाषस्यापि निषिद्धत्वात्। —बृहद्वृत्ति पत्र २४२

२. वही, पत्र २४२

३. बृहद्वृत्ति, पत्र २४२ "·····तन्मरणस्योत्कर्षेण सकामता सकृद् एकवारमेव भवेत्: जघन्येन तु शेषचारित्रिणः सप्ताष्ट वा वारान् भवेदित्याकूतम्।'

७. 'जणेण सद्धिं होक्खामि' इइ बाले पगब्भई ।
काम-भोगाणुराएणं केसं संपडिवज्जई ॥

[७] मैं तो बहुजनसमूह के साथ रहूँगा (अर्थात्—दूसरे भोगपरायण लोगों की जो गति होगी, वही मेरी होगी), इस प्रकार वह अज्ञानी मनुष्य धृष्टता को अपना लेता है, (किन्तु अन्त में) वह कामभोगों के अनुराग से (इहलोक एवं परलोक में) क्लेश ही पाता है ।

८. तओ से दण्डं समारभई तसेसु थावरेसु य ।
अट्ठाए य अणट्ठाए भूयग्गामं विहिंसई ॥

[८] उस (कामभोगानुराग) से वह (धृष्ट होकर) त्रस और स्थावर जीवों के प्रति दण्ड—(मन-वचन-कायदण्ड)-प्रयोग करता है, और कभी सार्थक और कभी निरर्थक प्राणिसमूह की हिंसा करता है ।

९. हिंसे बाले मुसावाई माइल्ले पिसुणे सढे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं सेयमेयं ति मन्नई ॥

[९] (फिर वह) हिंसक, मृषावादी, मायावी चुगलखोर, शठ (वेष-परिवर्तन करके दूसरों को ठगने वाला—धूर्त्त) अज्ञानी मनुष्य, मद्य और मांस का सेवन करता हुआ, यह मानता है कि यही (मेरे लिए) श्रेयस्कर (कल्याणकारी) है ।

१०. कायसा वयसा मत्ते वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मलं संचिणइ सिसुणागु व्व मट्टियं ॥

[१०] वह तन और वचन से (उपलक्षण से मन से भी) मत्त (गर्विष्ठ) हो जाता है । धन और स्त्रियों में आसक्त रहता है । (ऐसा मनुष्य) राग और द्वेष, दोनों से उसी प्रकार (अष्टविधकर्म-) मल का संचय करता है, जिस प्रकार शिशुनाग (अलसिया) अपने मुख से (मिट्टी खाकर) और शरीर से (मिट्टी में लिपट कर)—दोनों ओर से मिट्टी का संचय करता है ।

११. तओ पुट्ठो आयंकेणं गिलाणो परितप्पई ।
पभीओ परलोगस्स कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥

[११] उस (अष्टविध कर्ममल का संचय करने) के पश्चात् वह (भोगासक्त बाल जीव) आतंक (प्राणघातक रोग) से आक्रान्त होने पर ग्लान (खिन्न) हो कर सब प्रकार से संतप्त होता है; (तथा) अपने किये हुए अशुभ कर्मों का अनुप्रेक्षण (—विचार या स्मरण) करके परलोक से अत्यन्त डरने लगता है ।

१२. सुया मे नरए ठाणा असीलाणं च जा गई ।
बालाणं कूर-कम्माणं पगाढा जत्थ वेयणा ॥

[१२] वह विचार करता है—'मैंने उन नारकीय स्थानों (कुम्भी, वैतरणी, असिपत्र वन आदि) के विषय में सुना है, जहाँ प्रगाढ़ (तीव्र) वेदना है । तथा जो शील (सदाचार) से रहित क्रूर कर्म वाले अज्ञजीवों की गति है ।'

१३. तत्थोववाइयं ठाणं जहा मेयमणुस्सुयं ।
आहाकम्मेहिं गच्छन्तो सो पच्छा परितप्पई ॥

[१३] जैसा कि मैंने परम्परा से यह सुना है—उन नरकों में औपपातिक (उत्पन्न होने का) स्थान है, (जहाँ उत्पन्न होने के अन्तर्मुहूर्त्त के बाद ही महावेदना का उदय हो जाता है और वह निरन्तर रहता है।) (यहाँ से आयुष्य क्षीण होने के पश्चात्) वह अपने किये हुए कर्मो के अनुसार वहाँ जाता हुआ पश्चात्ताप करता है ।

१४. जहा सागडिओ जाणं समं हिच्चा महापहं ।
विसमं मग्गमोइण्णो अक्खे भग्गंमि सोयई ॥

१५. एवं धम्मं विउक्कम्म अहम्मं पडिवज्जिया ।
बाले मच्चु-मुहं पत्ते अक्खे भग्गे व सोयई ॥

[१४-१५] जैसे कोई गाड़ीवान सम महामार्ग को जानता हुआ भी उसे छोड़ कर विषम मार्ग (उत्पथ) में उतर जाता है, तो गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है; वैसे ही धर्म का उल्लंघन करके जो अज्ञानी अधर्म को स्वीकार कर लेता है, वह मृत्यु के मुख में पड़ने पर उसी तरह शोक करता है, जैसे धुरी टूट जाने पर गाड़ीवान करता है ।

१६. तओ से मरणन्तंमि बाले सन्तस्सई भया ।
अकाम-मरणं मरई धुत्ते व कलिना जिए ॥

[१६] फिर वह अज्ञानी जीव मृत्युरूप प्राणान्त के समय (नरकादि परलोक के) भय से संत्रस्त (उद्विग्न) होता है, और एक ही दाव में सर्वस्व हार जाने वाले धूर्त-जुआरी की तरह (शोक करता हुआ) अकाममरण से मरता है ।

विवेचन—कामगिद्धे—इच्छाकाम और मदनकाम, इन दोनों का अभिकांक्षी-आसक्त ।[१]

'काम-भोगेसु'—शब्द और रूप, ये दोनों 'काम,' तथा गन्ध, रस और स्पर्श, 'भोग' कहलाते हैं। अथवा प्रकारान्तर से स्त्रीसंग को काम, और विलेपन-मर्दन आदि को भोग कहा गया है ।[२]

'एगे' पद का आशय—'कामभोगासक्त मानव अकेला—किसी मित्रादि सहायक से रहित-ही कूट-नरक में जाता है ।'[३]

कूडाय गच्छइ—तीन अर्थ—(१) कूट-मांसादि की लोलुपतावश मृगादि को वन्धन में डालता है। (२) कूट में पड़े हुए मृग को शिकारी द्वारा यातना दी जाती है, उसी तरह कूट-नरक में पड़े जीव को भी परमाधार्मिक असुर यातना देते हैं—अतः कूट अर्थात् नरक के वन्धन में पड़ता है। (३) कूट-मिथ्याभाषणादि में प्रवृत्त होता है ।'[४]

१. बृहद् वृत्ति, पत्र २४२

२. वही, पत्र २४२ में उद्धृत—"कामा दुविहा पण्णत्ता—सद्दा' रूवाय, भोगा तिविहा पण्णत्ता तं.—गंधा रसा फासा य ।" यद्वा—यो गृद्धः—कामभोगेषु कामेषु स्त्रीसंगेषु' भोगेसु धूपन—विलेपनादिषु ।

३. 'एकः सुहृदादिसहाय्यरहितः'—बृहद् वृत्ति, पत्र २४३

४. 'कूटमिव कूटं प्रभूतप्राणिनां यातनाहेतुत्वान्नरक इत्यर्थः. अथवा कूटं द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो मृगादि-बन्धनं, भावस्तु मिथ्याभाषणादि ।'—बृ. वृ. पत्र. २४३

अनात्मवादी नास्तिकों का मत—बालजीव किस विचारधारा से प्रेरित होकर हिंसादि कर्मों का आचरण धृष्ट और निःसंकोच होकर करते हैं ? इस तथ्य को इस अध्ययन की पांचवीं, छठी और सातवीं गाथाओं द्वारा व्यक्त किया गया है—

न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई' इस पंक्ति के द्वारा पंचभूतवादी अनात्मवादी या तज्जीव—तच्छरीरवादी का मत बताया गया है, जो प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। **'हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया'** इस पंक्ति के द्वारा भूत और भविष्य की उपेक्षा करके वर्तमान को ही सब कुछ मानने वाले अदूरदर्शी प्रेयवादियों का मत व्यक्त किया गया है, जो केवल वर्तमान, कामभोगजन्य सुखों को ही सर्वस्व मानते हैं। तथा **'जणेण सद्धिं होक्खामि'** इस पंक्ति द्वारा गतानुगतिक विवेकमूढ़ बहिरात्माओं का मत व्यक्त किया गया है। इस तीन मिथ्यामतों के कारण ही बालजीव धृष्ट और निःसंकोच होकर हिंसादि पापकर्म करते हैं।[1]

'अट्ठाए य अणट्ठाए'—का अर्थ क्रमशः प्रयोजनवश एवं निष्प्रयोजन हिंसा है।

उदाहरण—एक पशुपाल की आदत थी कि वह जंगल में बकरियों को एक वट वृक्ष के नीचे बिठा कर स्वयं सीधा सोकर बांस के गोफण से बेर की गुठलियाँ फेंक कर वृक्ष के पत्तों को छेदा करता था। एक दिन उसे एक राजपुत्र ने देखा और उसके पत्रच्छेदन-कौशल को देख कर उसे धन का प्रलोभन देकर कहा—मैं कहूँ, उसकी आँखे बींध दोगे ?' उसने स्वीकार किया तो राजपुत्र उसे अपने साथ नगर में ले आया। अपने भाई—राजा की आँख फोड़ डालने के लिए उसने कहा तो उस पशुपाल ने तपाक से गोफन से उसकी आँखें फोड़ डाली। राजपुत्र ने प्रसन्न होकर उसकी इच्छानुसार उसे एक गाँव दे दिया।[2]

सढे—शठ—यों तो शठशब्द का अर्थ धूर्त्त, दुष्ट, मूढ़ या आलसी होता है, परन्तु बृहद्वृत्तिकार इसका अर्थ करते हैं—वेषादि परिवर्त्तन करके जो अपने को अन्य रूप में प्रकट करता है। यहाँ मण्डिकचोर के दृष्टान्त का निर्देश किया गया है।[3]

दुहओ—दो प्रकार से, इसके अनेक विकल्प—(१) राग और द्वेष से, (२) बाह्य और आन्तरिक प्रवृत्तिरूप प्रकार से, (३) इहलोक और परलोक दोनों प्रकार के बन्धनों में (४) पुण्य और पाप दोनों के, (५) स्वयं करता हुआ और दूसरों को कराता हुआ, और (६) अन्तःकरण और वाणी दोनों से।[4]

मलं—आठ प्रकार के कर्मरूपी मैल का।[5]

सिसुणागुव्व—शिशुनाग केंचुआ या अलसिया को कहते हैं। वह पेट में (भीतर) मिट्टी खाता

---

१. उत्तराध्ययनमूल, अ. ५ गा. ५-६-७

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २४४-२४५

३. 'शठः—तत्र पथ्यादिकरणतोऽन्यथाभूतमात्मानमन्यथा दर्शयति, मण्डिकचोरवत्'—बृहद्वृत्ति, पत्र २४४

४. बृहद्वृत्ति, पत्र २४४

५. वही, पत्र २४४

है, और बाहर से अपने (स्निग्ध शरीर पर मिट्टी चिपका लेता है। इस प्रकार अन्दर और बाहर दोनों ओर से वह मिट्टी का संचय करता है।[१]

'उववाइयं' पद का आशय—उववाइयं का अर्थ होता है—'औपपातिक'। जैनदर्शन में तीन प्रकार से प्राणियों की उत्पत्ति (जन्म) बताई गई है—सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात।[२] द्वीन्द्रियादि जीव सम्मूर्च्छिम हैं, पशु-पक्षी आदि गर्भज और नारक तथा देव औपपातिक होते हैं। गर्भज जीव गर्भ में रहता है, वहाँ तक छेदन-भेदनादि की पीड़ा नहीं होती, किन्तु औपपातिक जीव अन्तर्मुहूर्त्त भर में पूर्ण शरीर वाले हो जाते हैं, नरक में तो एक अन्तर्मुहूर्त्त के बाद ही महावेदना का उदय होता है, जिसके कारण निरन्तर दुःख रहता है।[३]

कलिणा जिए—एक ही दाव में पराजित। प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार जुए में दो प्रकार के दाव होते थे—कृतदाव और कलिदाव। 'कृत' जीत का दाव और 'कलि' हार का दाव माना जाता था।[४]

'धुत्ते व' का अर्थ—वृत्तिकार इसका संस्कृत रूपान्तर धूर्त्त करके धूर्त्त इव—द्यूतकार इव (जुआरी की तरह) अर्थ करते हैं।[५]

सकाममरण : स्वरूप, अधिकारी,-अनधिकारी एवं सकाममरणोत्तर स्थिति

१७. एयं अकाम-मरणं बालाणं तु पवेइयं।
एत्तो सकाम-मरणं पण्डियाणं सुणेह मे॥

[१७] यह (पूर्वोक्त) बाल जीवों के अकाम-मरण का प्ररूपण किया गया। अब यहाँ से आगे पण्डितों के सकाम-मरण (का वर्णन) मुझ से सुनो।

१८. मरणं पि सपुण्णाणं जहा मेयमणुस्सुयं।
विप्पसण्णमणाघायं संजयाणं वुसीमओ॥

[१८] जैसा कि मैंने परम्परा से सुना है—संयत, जितेन्द्रिय एवं पुण्यशाली आत्माओं का मरण अतिप्रसन्न (अनाकुलचित्त) और आघात-रहित होता है।

१९. न इमं सव्वेसु भिक्खूसु न इमं सव्वेसुऽगारिसु।
नाणा-सीला अगारत्था विसम-सीला य भिक्खुणो॥

[१९] यह (सकाममरण) न तो सभी भिक्षुओं को प्राप्त होता है और न सभी गृहस्थों को, (क्योंकि) गृहस्थ नाना प्रकार के शीलों (व्रत-नियमों) से सम्पन्न होते हैं, जबकि बहुत-से भिक्षु भी विषम (विकृत-सनिदान सातिचार) शील वाले होते हैं।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २४६

२. 'सम्मूर्च्छन-गर्भोपपाता जन्म'—तत्त्वार्थसूत्र २।३२

३. 'उपपातात्संजातमौपपातिकम्, न तत्र गर्भव्युत्क्रान्तिरस्ति, येन गर्भकालान्तरितं तन्नरकदुःखं स्यात्, ते हि उत्पन्नमात्रा एव नरकवेदनाभिरभिभूयन्ते' उत्त. चूर्णि, पृ. १३५

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २४८ (ख) सुखबोधा पत्र १०५

५. बृहद्वृत्ति पत्र २४८

२०. सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहि य सव्वेहिं साहवो संजमुत्तरा ।।

[२०] कई भिक्षुओं की अपेक्षा गृहस्थ संयम में श्रेष्ठ होते हैं: किन्तु सभी गृहस्थों से (सर्वविरति चारित्रवान् शुद्धाचारी) साधुगण संयम में श्रेष्ठ हैं ।

२१. चीराजिणं नगिणिणं जडी-संघाडि-मुण्डिणं ।
एयाणि वि न तायन्ति दुस्सीलं परियागयं ।।

[२१] प्रव्रज्यापर्यायप्राप्त दुःशील (दुराचारी) साधु को चीर (वल्कल-वस्त्र) एवं अजिन (मृगछाला आदि चर्म-) धारण, नग्नत्व, जटा-धारण, संघाटी (चिथड़ों से बनी हुई गुदड़ी या उत्तरीय)-धारण, शिरोमुण्डन, ये सब (बाह्यवेष या बाह्याचार) भी (दुर्गतिगमन से) नहीं बचा सकते ।

२२. पिण्डोलए व दुस्सीले नरगाओ न मुच्चई ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा सुव्वए कमई दिवं ।।

[२२] भिक्षाजीवी साधु भी यदि दुःशील है तो वह नरक से मुक्त नहीं हो सकता । भिक्षु हो या गृहस्थ यदि वह सुव्रती (व्रतों का निरतिचार पालक) है, तो स्वर्ग प्राप्त करता है ।

२३. अगारि-सामाइयंगाइं सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं एगरायं न हावए ।।

[२३] श्रद्धावान् श्रावक गृहस्थ की सामायिक-साधना के सभी अंगों का काया से स्पर्श (—आचरण) करे । (कृष्ण और शुक्ल) दोनों पक्षों में पौषधव्रत को एक रात्रि के लिए भी न छोड़े ।

२४. एवं सिक्खा-समावन्ने गिहवासे वि सुव्वए ।
मुच्चई छवि-पव्वाओ गच्छे जक्ख-सलोगयं ।।

[२४] इस प्रकार शिक्षा (व्रताचरण के अभ्यास) से सम्पन्न सुव्रती गृहवास में रहता हुआ भी मनुष्यसम्बन्धी औदारिक शरीर से मुक्त हो जाता है और देवलोक में जाता है ।

२५. अह जे संवुडे भिक्खू दोण्हं अन्नयरे सिया ।
सव्व-दुक्ख-प्पहीणे वा देवे वावि महड्ढिए ।।

[२५] और जो संवृत (आश्रवद्वारनिरोधक) (भाव-) भिक्षु होता है; वह दोनों में से एक (स्थिति वाला) होता है—या तो वह (सदा के लिए) सर्वदुःखों से रहित—मुक्त अथवा महर्द्धिक देव होता है ।

२६. उत्तराइं विमोहाइं जुइमन्ताणुपुव्वसो ।
समाइण्णाइं जक्खेहिं आवासाइं जसंसिणो ।।

२७. दीहाउया इड्ढिमन्ता समिद्धा कामरूविणो ।
अहुणोववन्न-संकासा भुज्जो अच्चिमालिप्पभा ।।

[२६-२७] उपरिवर्ती (अनुत्तरविमानवासी) देवों के आवास (स्वर्ग-स्थान) अनुक्रम से (सौधर्म देवलोक से अनुत्तर-विमान तक उत्तरोत्तर) श्रेष्ठ, एवं (पुरुषवेदादि मोहनीय कर्म क्रमशः अल्प होने से) मोहरहित, द्युति (कान्ति) मान्, देवों से परिव्याप्त होते हैं। उनमें रहने वाले देव यशस्वी, दीर्घायु, ऋद्धिमान् (रत्नादि सम्पत्ति से सम्पन्न), अतिदीप्त (समृद्ध), इच्छानुसार रूप धारण करने वाले (वैक्रियशक्ति से सम्पन्न) सदैव अभी-अभी उत्पन्न हुए देवों के समान (भव्य वर्ण-कान्ति युक्त), अनेक सूर्यों के सदृश तेजस्वी होते हैं।

२८. ताणि ठाणाणि गच्छन्ति सिक्खित्ता संजमं तवं।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा जे सन्ति परिनिव्वुडा॥

[२८] भिक्षु हों या गृहस्थ, जो उपशम (शान्ति की साधना) से परिनिर्वृत्त—(उपशान्तकषाय) होते हैं, वे संयम (सत्तरह प्रकार के) और तप (बारह प्रकार के) का पुनः पुनः अभ्यास करके उन (पूर्वोक्त) स्थानों (देव-आवासों) में जाते हैं।

२९. तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं संजयाण वुसीमओ।
न संतसन्ति मरणन्ते सीलवन्ता बहुस्सुया॥

[२९] उन सत्पूज्य, संयत और जितेन्द्रिय मुनियों का (पूर्वोक्त स्थानों की प्राप्ति का) वृत्तान्त सुन कर शीलवान् और बहुश्रुत (आगम श्रवण से शुद्ध बुद्धि वाले) साधक मृत्युकाल में भी संत्रस्त (उद्विग्न) नहीं होते।

विवेचन—'वुसीमओ' : के पांच रूप : पांच अर्थ—(१) वश्यवन्तः—आत्मा या इन्द्रियाँ जिनके वश में हों, (२) वुसीमन्तः—साधुगुणों से जो वसते हैं—या वासित हैं, (३) वुसीमा—संविग्न—संवेगसम्पन्न, (४) वुसिमं—संयमवान् (वुसि संयम का पर्यायवाची होने से), (५) वृषीमान्—कुश आदि-निर्मित मुनि का आसन जिसके पास हो अथवा वृषीमान्—मुनि या संयमी।[1]

विप्पसण्णं—विप्रसन्न : चार अर्थ—(१) मृत्यु के समय कषाय-कालुष्य के मिट जाने से सुप्रसन्न—अकलुष मन वाला, (२) विशेषरूप से या विविध भावनादि के कारण मृत्यु के समय भी मोह-रज हट जाने से अनाकुल चित्त वाला मरण, (३) पाप-पंक के दूर हो जाने से प्रसन्न—अति स्वच्छ-निर्मल—पवित्र (मरण) (४) विप्रसन्न-विशिष्ट चित्तसमाधियुक्त (मरण)।

अणाघायं—जिस मृत्यु में किसी प्रकार का आघात, शोक, चिन्ता, अथवा **विप्पसण्णामघायं** को एक ही समस्त पद (तथा उसका संस्कृत रूप **'विप्रसन्नमनःख्यातम्'** मान कर अर्थ किया गया है,—कषाय एवं मोहरूप कलुषितता अन्तःकरण (मन) में लेशमात्र भी न होने से जो विप्रसन्नमना-वीतरागमहामुनि हैं, उउके द्वारा ख्यात—कथित अथवा स्वसंवेदन से प्रसिद्ध।[2]

नाणासीला—नानाशीलाः—तीन व्याख्याएँ—(१) चूर्णि के अनुसार-गृहस्थ नाना-विविध शील-स्वभाव वाले, विविध रुचि और अभिप्रायवाले होते हैं, (२) आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार-नाना-

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्रांक २४९, (ख) उत्त. चूर्णि, पृ. १३७,
(ग) सूत्रकृतांग २।२ सू. ३२"""भिसिगं (वृषिकं) वा। (घ) वुसिमंति संयमवान्—सूत्रकृतांग वृत्ति २।६।१४

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २४९.

शील अर्थात् अनेकविधव्रत या मत वाले—जैसे कि कई कहते हैं—'गृहस्थाश्रम का पालन करना ही महाव्रत है, किसी का कथन—गृहस्थाश्रम से बढ़कर कोई भी धर्म न तो हुआ है, न होगा। जो शूरवीर होते हैं, वे ही इसका पालन करते हैं, नपुंसक (कायर) लोग पाखण्ड का आश्रय लेते हैं। कुछ लोगों का कहना है—गृहस्थों के सात सौ शिक्षाप्रद व्रत हैं; इत्यादि। (२) शान्त्याचार्य के अनुसार—गृहस्थों के अनेकविध शील अर्थात्-अनेकविधव्रत हैं। अर्थात्—देशविरति रूप व्रतों के अनेक भंग होने के कारण गृहस्थव्रतपालन अनेक प्रकार से होता है।[1]

विसमसीला—विषमशीलाः—दो व्याख्याएँ—(१) शान्त्याचार्य के अनुसार भिक्षु भी विषम अर्थात् अति दुर्लक्षता के कारण अति गहन, विसदृशशील यानी आचार वाले होते हैं, जैसे कि कई पांच यमों और पांच नियमों को, कई कन्दमूल, फलादि-भक्षण को, कतिपय आत्मतत्त्व-परिज्ञान को ही व्रत मानते हैं। (२) चूर्णिकार के अनुसार भिक्षुओं को विषमशील इसलिए कहा गया है कि तापस, पांडुरंग आदि कुछ कुप्रवचनभिक्षु अभ्युदय (ऐहिक उन्नति) की ही कामना करते हैं, जो मोक्षसाधना के लिए उद्यत हुए हैं, वे भी उसे सम्यक् प्रकार से नहीं समझते, वे आरम्भ से मोक्ष मानते हैं तथा लोकोत्तर भिक्षु भी सभी निदान, शल्य और अतिचार से रहित नहीं होते, आकांक्षारहित तप करने वाले भी नहीं होते।[2]

'संति एगेहिं.........साहवो संजमुत्तरा' का आशय—इस गाथा का अभिप्राय यह है कि अव्रती अचारित्री या नामधारी भिक्षुओं की अपेक्षा सम्यग्दृष्टियुक्त देशविरत गृहस्थ संयम में श्रेष्ठ होते हैं। किन्तु उन सब देशविरत गृहस्थों की अपेक्षा सर्वविरत भावभिक्षु संयम में श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि उनका संयमव्रत परिपूर्ण है। इसे एक संवाद द्वारा समझाया गया है—एक श्रावक ने साधु से पूछा—श्रावकों और साधुओं में कितना अन्तर है? साधु ने कहा—सरसों और मंदरपर्वत जितना? श्रावक ने फिर पूछा—कुलिंगी (वेषधारी) साधु और श्रावक में क्या अन्तर है? साधु ने उत्तर दिया—वही, सरसों और मेरुपर्वत जितना। श्रावक का इससे समाधान हो गया।[3]

'चीराजिणं.......दुस्सीलं परियागतं' का तात्पर्य—इस गाथा को उल्लिखित करके शास्त्रकार ने 'गृहस्थ कई भिक्षुओं से संयम में श्रेष्ठ होते हैं' इस वाक्य का समर्थन किया है। इस गाथा में उस युग के विभिन्न धर्मसम्प्रदायों के साधु—संन्यासियों, तापसों, परिव्राजकों या भिक्षुओं के द्वारा सुशील-पालन की उपेक्षा करके मात्र विभिन्न बाह्य वेषभूषा से मोक्ष या स्वर्ग प्राप्त हो जाने की मान्यता का खण्डन किया गया है। सम्यक्त्वपूर्वक अतिचार—निदान-शल्यरहित व्रताचरण को ही मुख्यतया सकाममरण के अनन्तर स्वर्ग का अधिकारी माना गया है।

'चीर' के दो अर्थ—चीवर और वल्कल। **नगिणिणं का अर्थ** चूर्णिकार ने नग्नता किया है तथा उस युग के कुछ नग्न-सम्प्रदायों का उल्लेख भी किया है—मृगचारिक, उदण्डक और आजीवक। **संघाडि-संघाटी**—कपड़े के टुकड़े को जोड़ कर बनाया गया साधुओं का एक उपकरण। बौद्धश्रमणों

१. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. १३७ (ख) सुखबोधा, पत्र १०६
(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र २४९
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २४९ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृष्ठ १३७
३. बृहद्वृत्ति, पत्र २५०

में यह प्रचलित था। मुंडिणं का अर्थ जो अपने संन्यासाचार के अनुसार सिर मुंडा कर चोटी कटाते थे, उनके आचार के लिए यह संकेत है।[1]

केवल भिक्षाजीविता नरक से नहीं बचा सकती—उदाहरण—राजगृह नगर में एक उद्यान में नागरिकों ने बृहद् भोज किया। एक भिक्षुक नगर में तथा उद्यान में जगह-जगह भिक्षा मांगता फिरा, उसने दीनता भी दिखाई, परन्तु किसी ने कुछ न दिया। अतः उसने वैभारगिरि पर चढ़ कर रोषवश नागरिकों पर शिला गिरा कर उन्हें समाप्त करने का विचार किया, दुर्भाग्य से शिला गिरते समय वह स्वयं शिला के नीचे दब गया। वहीं मर कर सातवीं नरक में गया। इसलिए दुःशील को केवल भिक्षाजीवता नरक से नहीं बचा सकती।

अगारि—सामाइयंगाइं: तीन व्याख्याएँ—यहाँ सामायिक शब्द का अर्थ किया गया है—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और समय ही सामायिक है। उसके दो प्रकार हैं—अगारी-सामायिक और अनगार-सामायिक (१) चूर्णिकार के अनुसार—श्रावक के बारहव्रत अगारिसामायिक के बारह अंग हैं, (२) शान्त्याचार्य के अनुसार—निःशंकता, स्वाध्यायकाल में स्वाध्याय और अणुव्रतादि, ये अगारिसामायिक के अंग हैं, (३) विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार—'सम्यक्त्वसामायिक, श्रुतसामायिक, देशव्रतसामायिक और सर्वव्रत (महाव्रत) सामायिक, इन चारों में से प्रथम तीन अगारि-सामायिक के अंग हैं।[2]

पोसहं : विविधरूप और विभिन्न स्वरूप—(१) श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार—पोषध, प्रोषध, पोषधोपवास, परिपूर्ण पोषध, (२) दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार—प्रोषध, (३) बौद्ध साहित्य के अनुसार—उपोसथ। जैनधर्मानुसार पोषध श्रावक के बारह व्रतों में ग्यारहवाँ व्रत है। जिसे परिपूर्ण पोषध कहा जाता है। श्रावक के लिए महीने में ६ पर्व तिथियों में ६ पोषध करने का विधान है—द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी (पूर्णिमा अथवा अमावस्या)। प्रस्तुत गाथा में कृष्ण और शुक्लपक्ष की अन्तिम तिथि जिसे पक्खी कहते हैं, महीने में ऐसी दो पाक्षिक तिथियों का पोषध न छोड़ने का निर्देश किया है। परिपूर्ण पोषध में—अशनादि चारों आहारों का त्याग, मणि-मुक्ता-स्वर्ण-आभरण, माला, उबटन, मर्दन, विलेपन आदि शरीरसत्कार का त्याग, अब्रह्मचर्य का त्याग एवं शस्त्र, मूसल आदि व्यवसायादि तथा आरंभादि सांसारिक एवं सावद्य कार्यों का त्याग,

१. (क) चर्मवल्कलचीराणि, कूर्चमुण्डशिखाजटाः।
न व्यपोहन्ति पापानि, शोधकौ तु दयादमौ॥ —सुखबोधा पत्र १२७ में उद्धृत

(ख) न नग्गचरिया न जटा न पंका, नानासका थंडिलसायिका वा।
रज्जो च जल्लं उक्कटिकप्पधानं सोधेंति मच्चं अवितिण्णकंखं॥ —धम्मपद १०।१३

(ग) 'चीरं' वल्कलं—चूर्णि १३८ पृ., 'चीराणि चीवराणि'—बृहद्वृत्ति, पत्र २५०

(घ) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. १३८

(ङ) 'संघाटी'—वस्त्रसंहतिजनिता —बृहद्वृत्ति, पत्र २५०, विशुद्धिमार्ग १।२, पृ. ६०

(च) मुंडिणं ति—यत्र शिखाऽपि स्वसमयतश्छिद्यते, ततः प्राग्वद् मुण्डिकत्वम्। —बृ. वृ., पत्र २५०।

२. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. १३९ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २५१

(ग) विशेषावश्यकभाष्य, गा. ११९६

करना अनिवार्य होता है तथा एक अहोरात्रि (आठ पहर) तक आत्मचिन्तन, स्वाध्याय, धर्मध्यान एवं सावद्यप्रवृत्तियों के त्याग में विताना होता है । भगवतीसूत्र में उल्लिखित शंख श्रावक के वर्णन से अशन-पान का त्याग किये विना भी पोषध किया जाता था, जिसे देशपोषध (या दया—छकायव्रत) कहते हैं । वसुनन्दिश्रावकाचार के अनुसार—दिगम्बर परम्परा में प्रोषध के तीन प्रकार बताये हैं—(१) उत्तम प्रोषध—चतुर्विध आहारत्याग, (२) मध्यम प्रोषध—त्रिविध आहारत्याग और (३) जघन्य प्रोषेध—आयम्बिल (आचाम्ल), निर्विकृतिक, एक स्थान और एक भक्त । बौद्ध साहित्य में आर्य-उपोसथ का स्वरूप भी लगभग जैन (देश-पोषध) जैसा ही है । पोषध का शब्दशः अर्थ होता है—धर्म के पोष (पुष्टि) को धारण करने वाला ।[1]

छविपव्वाओ में 'छविपर्व' का तात्पर्य—छवि का अर्थ है—चमड़ी और पर्व का अर्थ है—शरीर के संधिस्थल—घुटना, कोहनी आदि । इसका तात्पर्य है—मानवीय औदारिकशरीर (हड्डी, चमड़ी आदि स्थूल पदार्थों से बना शरीर ।[2]

गच्छे जक्खसलोगयं—यक्षसलोकतां—यक्ष अर्थात् देव, देवों के समान लोक—स्थान को प्राप्त करता है । आचार्य सायण और शंकराचार्य ने 'सलोकता' का अर्थ—'समान लोक या एक स्थान में बसना—समान लोक में निवास करना' किया है ।[3]

विमोहाइं—मोहरहित । मोह के दो अर्थ—द्रव्यमोह—अन्धकार, भावमोह—मिथ्यादर्शन । ऊपर के देवलोकों में ये दोनों मोह नहीं होते । इसलिए वे आवास विमोह कहलाते हैं । अथवा शान्त्याचार्य ने यह अर्थ भी किया है—वेदादिमोहनीय का उदय स्वल्प होने से विमोह की तरह वे विमोह हैं ।[4]

अहुणोववन्नसंकासा—अभी-अभी उत्पन्न के समान अथवा प्रथम उत्पन्न देव के तुल्य । तात्पर्य यह है कि अनुत्तर देवों में आयुष्यपर्यन्त वर्ण, कान्ति आदि घटते नहीं तथा देवों में औदारिक शरीर की तरह बालक, युवक, वृद्धादि अवस्थाएँ नहीं होतीं, आयुष्य के अन्त तक वे एक समान अवस्था में रहते हैं ।[5]

'णसंतसंतिमरणंते' का तात्पर्य—यह है कि अपने जीवन में धर्मोपार्जन नहीं किये हुए अविरत, असंयमी, पापकर्मी जन अन्तिम समय में जैसे मृत्यु का नाम सुनते ही घबराते हैं, अपने पापकृत्यों का स्मरण करके तथा इन पापों के फलस्वरूप न मालूम 'मैं कहाँ जाऊंगा ?' इस प्रकार

---

१. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १३९ (ख) स्थानांग, ३।१।१५०, ४।३।३१४ (ग) भगवती १२।१
(घ) वसुनन्दि श्रावकाचार, श्लोक २८०-२९४ (ङ) अंगुत्तरनिकाय २१२-२२१, पृ. १४७

२. (क) छविश्च त्वक्, पर्वाणि च जानुकूर्परादीनि छविपर्व, तद्योगाद् औदारिकशरीरमपि छविपर्व, ततः ।
—सुखबोधा पत्र १०७
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २५२

३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २५२ (ख) ऐतरेय आरण्यक० ३।२।१।७, पृ. २४२-२४३
'सलोकतां—समानलोकवासित्वमश्नुते ।'
(ग) 'सलोकतां समानलोकतां वा एकस्थानत्वम् ।' —बृहदारण्यक उ., पृ. ३९१

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २५२

५. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १४०, (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २५२ (ग) सुखबोधा पत्र १०८

शोक एवं परिवारादि में मोहग्रस्त होने के कारण विलाप एवं रुदन करते हैं, वैसे धर्मोपार्जन किये हुए संयमी, शीलवान् धर्मात्मा पुरुष धर्मफल को जानने के कारण नहीं घबराते, न ही भय, चिन्ता, शोक, विलाप या रुदन करते हैं।[1]

सकाममरण प्राप्त करने का उपदेश और उपाय

३०. तुलिया विसेसमादाय दयाधम्मस्स खन्तिए।
विप्पसीएज्ज मेहावी तहा-भूएण अप्पणा॥

[३०] मेधावी साधक पहले अपने आपका परीक्षण करके बालमरण से पण्डितमरण की विशेषता जान कर विशिष्ट सकाममरण को स्वीकार करे तथा दयाप्रधानधर्म-(दशविध यतिधर्म)-सम्बन्धी क्षमा (उपलक्षण से मार्दवादि) से और तथाभूत (उपशान्त-कषाय-मोहादिरूप) आत्मा से प्रसन्न रहे (—मरणकाल में उद्विग्न न बने)।

३१. तओ काले अभिप्पेए सड्ढी तालिसमन्तिए।
विणएज्ज लोम-हरिसं भेयं देहस्स कंखए॥

[३१] उसके पश्चात् जब मृत्युकाल निकट आए, तब भिक्षु ने गुरु के समीप जैसी श्रद्धा से प्रव्रज्या या संलेखना ग्रहण की थी, वैसी ही श्रद्धावाला रहे और (परीषहोपसर्ग-जनित) रोमांच को दूर करे तथा मरणभय से संत्रस्त न होकर शान्ति से शरीर के नाश (भेद) की प्रतीक्षा करे। (अर्थात् देह की अब सार-संभाल न करे।)

३२. अह कालंमि संपत्ते आघायाय समुस्सयं।
सकाम-मरणं मरई तिण्हमन्नयरं मुणी॥
—त्ति बेमि।

[३२] मृत्यु का समय आने पर भक्तपरिज्ञा, इंगिनी अथवा पादोगमन, इन तीनों से किसी एक को स्वीकार करके मुनि (संल्लेखना-समाधि-पूर्वक) (अन्दर से कार्मणशरीर और बाहर से औदारिक) शरीर का त्याग करता हुआ सकाममरण से मरता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—'तुलिया': दो व्याख्याएँ—(१) अपने आपको तौल कर (अपनी धृति, दृढ़ता, उत्साह, शक्ति आदि की परीक्षा करके), (२) बालमरण और पण्डितमरण दोनों की तुलना करके।[2]

'विसेसमादाय': दो व्याख्याएँ—(१) विशेष-भक्तपरिज्ञा आदि तीन समाधिमरण के भेदों में से किसी एक मरणविशेष को स्वीकार करके, (२) बालमरण से पण्डितमरण को विशिष्ट जान कर।[3]

तहाभूएण अप्पणा विप्पसीएज्जः दो व्याख्याएँ—(१) तथाभूत आत्मा से—मृत्यु के पूर्व अनाकुलचित्त था, मरणकाल में भी उसी रूप में अवस्थित आत्मा से, (२) तथाभूत उपशान्तमोहोदयरूप या निष्कषाय आत्मा से। **विप्रसीदेत्**—(१) विशेष रूप से प्रसन्न रहे, मृत्यु से उद्विग्न न हो, (२)

१. सुखबोधा पत्र १०८, 'सुगहियतवपन्थयणा, विसुद्धसम्मत्तनाणचारित्ता।
मरणं ऊसवभूयं, मन्नति समाहियप्पाणो॥'

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २५४

३. वही, पत्र २५४

कषायपंक दूर होने से स्वच्छ रहे, किन्तु बारह वर्ष तक की संलेखना का तथाविध तप करके अपनी अंगुली तोड़ कर गुरु को बताने वाले तपस्वी की तरह कषायकलुषता धारण किया हुआ न रहे।[1]

आघायाय समुस्सयं: दो रूप, दो अर्थ—(१) आघातयन् समुच्छ्रयम्—बाह्य और आन्तरिक-शरीर का नाश (त्याग) करता हुआ, (२) आघाताय समुच्छ्रयस्य—शरीर के विनाश (त्याग) का अवसर आने पर।[2]

'तिण्हमन्नयरं मुणी' की व्याख्या—तीन प्रकार के अनशनों (भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और पादोपगमन) में से किसी एक के द्वारा देह त्याग करे। **भक्तपरिज्ञा**—चतुर्विध आहार तथा बाह्याभ्यन्तर उपधि का यावज्जीवन प्रत्याख्यानरूप अनशन, **इंगिनी**—अनशनकर्ता का निश्चित स्थान से बाहर न जाना, **पादोपगमन**—अनशनकर्ता का कटे वृक्ष की भांति स्थिर रहना, शरीर की सार-संभाल न करना।[3]

॥ अकाममरणीय : पंचम अध्ययन समाप्त ॥

□□

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २५४
२. वही, पत्र २५४
३. (क) वही, पत्र २५४ (ख) उत्त. निर्युक्ति, गा. २२५

छठा अध्ययन : क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय

अध्ययन–सार

※ प्रस्तुत छठे अध्ययन का नाम 'क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय' है। क्षुल्लक अर्थात् साधु के निर्ग्रन्थत्व का प्रतिपादन जिस अध्ययन में हो, वह क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय अध्ययन है। निर्युक्ति के अनुसार इस अध्ययन का दूसरा नाम 'क्षुल्लकनिर्ग्रन्थसूत्र' भी है।[1]

※ 'निर्ग्रन्थ' शब्द जैन आगमों में यत्र-तंत्र बहुत प्रयुक्त हुआ है। यह जैनधर्म का प्राचीन और प्रचलित शब्द है। 'तपागच्छ पट्टावली' के अनुसार सुधर्मास्वामी से लेकर आठ आचार्यों तक जैनधर्म 'निर्ग्रन्थधर्म' के नाम से प्रचलित था। भगवान् महावीर को भी जैन और बौद्ध साहित्य में 'निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र' कहा गया है।[2]

※ स्थूल और सूक्ष्म अथवा बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के ग्रन्थों (परिग्रहवृत्ति रूप गांठों) का परित्याग करके क्षुल्लक अर्थात् साधु निर्ग्रन्थ होता है। स्थूलग्रन्थ हैं—आवश्यकता से अतिरिक्त वस्तुओं को जोड़कर या संग्रह करके रखना अथवा उन पदार्थों को बिना दिये लेना, अथवा स्वयं उन पदार्थों को तैयार करना या कराना। सूक्ष्मग्रन्थ हैं—अविद्या (तत्त्वज्ञान का अभाव), भ्रान्त मान्यताएँ, सांसारिक सम्बन्धों के प्रति आसक्ति, मोह, माया, कषाय, रागयुक्त परिचय (सम्पर्क), भोग्य पदार्थों के प्रति ममता-मूर्च्छा, स्पृहा, फलाकांक्षा, मिथ्यादृष्टि (ज्ञानवाद, वाणीवीरता, भाषावाद, शास्त्ररटन या क्रियारहित विद्या आदि भ्रान्त मान्यताएँ), शरीरासक्ति, (विविध प्रमाद, विषयवासना आदि) 'निर्ग्रन्थता' के लिए बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की ग्रन्थियों का त्याग करना आवश्यक है।

※ प्रस्तुत अध्ययन में यह बताया गया है कि निर्ग्रन्थत्व अंगीकार करने पर भी, निर्ग्रन्थ-योग्य महाव्रतों एवं यावज्जीवन सामायिक की प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेने पर भी किस-किस रूप में, कहाँ-कहाँ से, किस प्रकार से ये ग्रन्थियाँ—गांठें पुनः उभर सकती हैं और इनसे बचना साधु के लिए क्यों आवश्यक है? इन ग्रन्थियों से किस-किस प्रकार से निर्ग्रन्थ को बचना चाहिए? न बचने पर निर्ग्रन्थ की क्या दशा होती है? इन ग्रन्थों के कुचक्र में पड़ने पर निर्ग्रन्थनामधारी व्यक्ति केवल वेष से, कोरे शास्त्रीय शाब्दिक ज्ञान से, वागाडम्बर से, भाषाज्ञान से या विविध विद्याओं के अध्ययन से अपने आपको पापकर्मों से नहीं बचा सकता। निर्ग्रन्थत्व शून्य निर्ग्रन्थनामधारी को

१. (क) 'अत्राध्ययने क्षुल्लकस्य साधोर्निर्ग्रन्थित्वमुक्तम्।'—उत्तराध्ययन, अ. ६ टीका; अ.रा. कोष, भा. ३।७५२
(ख) सावज्जगंथ मुक्का अब्भिंतरबाहिरेण गंथेण। एसा खलु निज्जुत्ती, खुड्डागनियंठसुत्तस्स ॥
—उत्तरा. निर्युक्ति, गा. २४३

२. (क) 'श्री सुधर्मास्वामिनोऽष्टौ सूरीन् यावत् निग्रन्थाः।'—तपागच्छ पट्टावलि (पं. कल्याणविजय संपादित); भा. १, पृ. २५३
(ख) 'निग्गंथो नायपुत्तो' —जैन आगम (ग) 'निगण्ठोनाटपुत्तो' —विसुद्धिमग्गो, विनयपिटक

उसका पूर्वाश्रय का लम्बा-चौड़ा परिवार, धन, धान्य, धाम, रत्न, आभूषण, चल-अचल सम्पत्ति आदि दुःख या पापकर्मों के फल से नहीं बचा सकते। जो ज्ञान केवल ग्रन्थों तक ही सीमित है, बन्धनकारक है, भारभूत है।

* इसीलिए इस अध्ययन में सर्वप्रथम अविद्या को 'ग्रन्थ' का मूल स्रोत मान कर उसको समस्त दुःखों एवं पापों की जड़ बताया है और उसके कारण ही जन्ममरण की परम्परा से मुक्त होने के बदले साधक जन्ममरणरूप अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है, पीड़ित होता है। पातंजल योगदर्शन में भी अविद्या को संसारजन्य दुःखों का मुख्य हेतु बताया है, क्योंकि अविद्या (मिथ्याज्ञान) के कारण सारी ही वस्तुएँ उलटे रूप में प्रतीत होती हैं। जो बन्धन दुःख, अत्राण, अशरण, असुरक्षा के कारण हैं, उन्हें अविद्यावश व्यक्ति मुक्ति, सुख, त्राण, शरण एवं सुरक्षा के कारण समझता है। इसीलिए यहाँ साधक को विद्यावान्, सम्यग्द्रष्टा एवं वस्तुतत्त्व-ज्ञाता बनकर अविद्याजनित परिणामों, बन्धनों एवं जातिपथों की समीक्षा एवं प्रेक्षा करके अपने पारिवारिक जन त्राण-शरणरूप हैं, धनधान्य, दास आदि सब पापकर्म से मुक्त कर सकते हैं, इन अविद्याजनित मिथ्यामान्यताओं से बचने का निर्देश किया गया।[1]

* तत्पश्चात् सत्यदृष्टि से आत्मौपम्य एवं मैत्रीभाव से समस्त प्राणियों को देखकर हिंसा, अदत्तादान, परिग्रह आदि ग्रन्थों से दूर रहने का छठी, सातवीं गाथा में निर्देश किया गया है।

* ८-९-१० वीं गाथाओं में आचरणशून्य ज्ञानवाद, अक्रियावाद, भाषावाद, विद्यावाद आदि अविद्याजनित मिथ्या मान्यताओं को ग्रन्थ (बन्धनरूप) बताकर निर्ग्रन्थ को उनसे बचने का संकेत किया गया है।

* ११ वीं से १६ वीं गाथा तक शरीरासक्ति, विषयाकांक्षा, आवश्यकता से अधिक भक्तपान का ग्रहण-सेवन, संग्रह आदि एवं नियतविहार, आचारमर्यादा का अतिक्रमण आदि प्रमादों को 'ग्रन्थ' के रूप में बताकर निर्ग्रन्थ को उनसे बचने तथा अप्रमत्त रहने का निर्देश किया गया है।

* कुल मिलाकर १६ गाथाओं में आत्मलक्षी या मोक्षलक्षी निर्ग्रन्थ को सदैव इन ग्रन्थों से दूर रहकर अप्रमादपूर्वक निर्ग्रन्थाचार के पालन की प्रेरणा दी गई है। १७ वीं गाथा में इन निर्ग्रन्थ-सूत्रों के प्रज्ञापक के रूप में भगवान् महावीर का सविशेषण उल्लेख किया गया है।[2]

---

१. (क) उत्तरा., अ. ६, गा. १ से ५ (ख) Ignorance is the root of all evils. —English proverb.
(ग) 'तस्य हेतुरविद्या'। अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य-शुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या।'
—पातंजल योगदर्शन २।४-५

२. (क) उत्तरा., अ. ६, गा. ६ से ७ (ख) वही, गा. ८-९-१० (ग) वही, गा. ११ से १६ तक
(घ) उत्तरा., अ. ६, गा. १७

छट्ठज्झयणं : षष्ठ अध्ययन

खुड्डागनियंठिज्जं : क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय

अविद्या : दुःखजननी और अनन्तसंसार भ्रमणकारिणी

१. जावन्तऽविज्जापुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा संसारंमि अणन्तए ।।

[१] जितने भी अविद्यावान् पुरुष हैं, वे सब (अपने लिए) दुःखों के उत्पादक हैं। (अविद्या के कारण) मूढ़ बने हुए वे (सब) अनन्त संसार में बार-बार (आधि-व्याधि-वियोगादि-दुःखों से) लुप्त (पीड़ित) होते हैं।

विवेचन—अविज्जापुरिसा—अविद्यापुरुषाः—अविद्यावान् पुरुष। तीन व्याख्याएँ—(१) जो कुत्सित ज्ञान युक्त हों, (जिन का चित्त मिथ्यात्व से ग्रस्त हो) वे अविद्यपुरुष हैं। (२) जिनमें तत्त्व-ज्ञानात्मिका विद्या न हो, वे अविद्य हैं। अविद्या का अर्थ यहाँ मिथ्यात्व से अभिभूत कुत्सित ज्ञान है। अतः अविद्याप्रधान पुरुष—अविद्यापुरुष हैं। (३) अथवा विद्या शब्द प्रचुर श्रुतज्ञान के अर्थ में है। जिनमें विद्या न हो, वे अविद्यापुरुष हैं। इस दृष्टि से अविद्या का अर्थ सर्वथा ज्ञानशून्यता नहीं, किन्तु प्रभूत श्रुतज्ञान (तत्त्वज्ञान) का अभाव है, क्योंकि कोई भी जीव सर्वथा ज्ञानशून्य तो होता ही नहीं, अन्यथा जीव और अजीव में कोई भी अन्तर न रहता।[1]

दुक्खसंभवा—जिनमें दुःखों का सम्भव—उत्पत्ति हो, वे दुःख सम्भव हैं, अर्थात् दुःखभाजन होते हैं।[2]

उदाहरण—एक भाग्यहीन दरिद्र धनोपार्जन के लिए परदेश गया। वहाँ उसे कुछ भी द्रव्य प्राप्त न हुआ। वह वापिस स्वदेश लौट रहा था। रास्ते में एक गाँव के बाहर शून्य देवालय में रात्रि-विश्राम के लिए ठहरा। संयोगवश वहाँ एक विद्यासिद्ध पुरुष मिला। उसके पास कामकुम्भ था, जिसके प्रताप से वह मनचाही वस्तु प्राप्त कर लेता था। दरिद्र ने उसकी सेवा की। उसने सेवा से प्रसन्न होकर कहा—'तुझे मंत्रित कामकुंभ दूँ या कामकुम्भ प्राप्त करने की विद्या दूँ ?' विद्यासाधना में कायर दरिद्र ने कामकुम्भ ही मांग लिया। कामकुम्भ पाकर वह मनचाही वस्तु पाकर भोगासक्त हो गया। एक दिन मद्यपान से उन्मत्त होकर वह सिर पर कामकुम्भ रखकर नाचने लगा। जरा-सी असावधानी से कामकुम्भ नीचे गिर कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। उसका सब वैभव नष्ट हो गया, पुनः दरिद्र हो गया। वह पश्चात्ताप करने लगा—'यदि मैंने विद्या सीख ली होती तो मैं दूसरा कामकुम्भ बनाकर सुखी हो जाता।' परन्तु अब क्या हो ? जैसे विद्यारहित वह दरिद्र दुःखी हुआ, वैसे ही

---

१. (क) उत्तरा. टीका, अभिधानराजेन्द्र कोष, भा. ३. पृ. ७५०, (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६२
२. उत्तराध्ययन टीका, अभि. रा. कोष, भा., ३ पृ. ७५०

अध्यात्मविद्यारहित पुरुष, विशेषत: निर्ग्रन्थ अनन्त संसार में जन्म-जरा, मृत्यु, व्याधि-आधि आदि के कारण दु:खी होता है।[1]

सत्यदृष्टि (विद्या) से अविद्या के विविध रूपों को त्यागने का उपदेश

२. समिक्ख पंडिए तम्हा पासजाईपहे बहू।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएसु कप्पए॥

[२] इसलिए साधक पण्डित (विद्यावान्) बनकर बहुत-से पाशों (बन्धनों) और जातिपथों (एकेन्द्रियादि में जन्ममरण के मोहजनित कारणों-स्रोतों) की समीक्षा करके स्वयं सत्य का अन्वेषण करें और विश्व के सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव का संकल्प करें।

३. माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते मम ताणाय लुप्पन्तस्स सकम्मुणा॥

[३] (फिर सत्यद्रष्टा पण्डित यह विचार करे कि) अपने कृतकर्मो से लुप्त (पीड़ित) होते समय माता-पिता, पुत्रवधू, भाई, पत्नी तथा औरस (आत्मज) पुत्र ये सब (स्वकर्म-समुद्भूत दु:खों से) मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते।

४. एयमट्ठं सपेहाए पासे समियदंसणे।
छिन्द गेहिं सिणेहं च न कंखे पुव्वसंथवं॥

[४] सम्यग्दर्शन-युक्त साधक अपनी प्रेक्षा (स्वतंत्र बुद्धि) से इस अर्थ (उपर्युक्त तथ्य) को देखे (तटस्थदृष्टा बनकर विचारे) (तथा अविद्याजनित) गृद्धि (आसक्ति) और स्नेह का छेदन करे। (किसी के साथ) पूर्व परिचय की आकांक्षा न रखता हुआ ममत्वभाव का त्याग कर दे।

५. गवासं मणिकुंडलं पसवो दासपोरुसं।
सव्वमेयं चइत्ताणं कामरूवी भविस्ससि॥

[५] गौ (गाय-बैल आदि), अश्व, और मणिकुण्डल, पशु, दास और (अन्य सहयोगी या आश्रित) पुरुष-समूह, इन सब (पर अविद्याजनित ममत्व) का परित्याग करने पर ही (हे साधक!) तू काम-रूपी (इच्छानुसार रूप-धारक) होगा।

५. थावरं जंगमं चेव धणं धण्णं उवक्खरं।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं नालं दुक्खाउ मोयणे॥

[६] अपने कर्मो से दु:ख पाते (पचते) हुए जीव को स्थावर (अचल) और जंगम (चल) सम्पत्ति, धन, धान्य, उपस्कर (गृहोपकरण-साधन) आदि सब पदार्थ भी (अविद्योपार्जित कर्मजनित) दु:ख से मुक्त करने में समर्थ नहीं होते।*

---

१. उत्तराध्ययन, कमलसंयमी टीका, अ. रा. कोष भा. ३ पृ. ७५०

* यह गाथा चूर्णि एवं टीका में व्याख्यात नहीं है, इसलिए प्रक्षिप्त प्रतीत होती है। —सं.

**७. अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए॥**

[७] सबको सब प्रकार से अध्यात्म—(सुख) इष्ट है, सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है; यह भय और वैर (द्वेष) उपरत (—निवृत्त) साधक किसी भी प्राणी के प्राणों का हनन न करे।

**८. आयाणं नरयं दिस्स नायएज्ज तणामवि।
दो गुंछी अप्पणो पाए दिन्नं भुंजेज्ज भोयणं॥**

८. 'आदान (धन-धान्यादि का परिग्रह, अथवा अदत्तादान) नरक (नरक हेतु) है,' यह जान-देखकर (विना दिया हुआ) एक तृण भी (मुनि) ग्रहण न करे। आत्म-जुगुप्सक (देहनिन्दक) मुनि गृहस्थों द्वारा अपने पात्र में दिया हुआ भोजन ही करे।

विवेचन—पासजाईपहे : दो रूप—दो व्याख्याएँ—(१) चूर्णि में 'पश्य जातिपथान्' रूप मान कर 'पश्य' का अर्थ 'देख' और 'जातिपथान्' का अर्थ—'चौरासी लाख जीवयोनियों को' किया गया है, (२) बृहद्वृत्ति में—'पाशजातिपथान्' रूप मान कर पाश का अर्थ—'स्त्री-पुत्रादि का मोह-जनित सम्बन्ध' है, जो कर्म बन्धनकारक होने से जातिपथ हैं, अर्थात् एकेन्द्रियादि जातियों में ले जाने वाले मार्ग हैं। इसका फलितार्थ है एकेन्द्रियादि जातियों में ले जाने वाले स्त्री-पुत्रादि के सम्बन्ध।[1]

अप्पणा सच्चमेसेज्जा—'अप्पणा' से शास्त्रकार का तात्पर्य है, विद्यावान् साधक स्वयं सत्य की खोज करे। अर्थात्—वह किसी दूसरे के उपदेश से, बहकाने, दबाने से, लज्जा एवं भय से अथवा गतानुगतिक रूप से सत्य की प्राप्ति नहीं कर सकता। सत्य की प्राप्ति के लिए वस्तुतत्त्वज्ञ विचारक साधक को स्वयं अन्तर् की गहराई में पैठकर चिन्तन करना आवश्यक है। सत्य का अर्थ है—जो सत् अर्थात् प्राणिमात्र के लिए हितकर—सम्यक् रक्षण, प्ररूपणादि से कल्याणकर हो। यथार्थ ज्ञान और संयम प्राणिमात्र के लिए हितकर होते हैं।[2]

निष्कर्ष—प्रस्तुत अध्ययन का नाम क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय है, इसलिए निर्ग्रन्थ बन जाने पर उसे अविद्या के विविध रूपों से दूर रहना चाहिए और स्वयं विद्यावान् (सम्यग्ज्ञानी-वस्तुतत्त्वज्ञ) बनकर अपनी आत्मा और शरीर के आसपास लगे हुए अविद्याजनित सम्बन्धों से दूर रहकर स्वयं समीक्षा और सत्य की खोज करनी चाहिए। अन्यथा वह जिन स्त्रीपुत्रादिजनित सम्बन्धों का त्याग कर चुका है, उन्हें अविद्यावश पुनः अपना लेगा तो पुनः उसे जन्म-मरण के चक्र में पड़ना होगा।

---

१. (क) जायते इतिजाती, जातीनां पंथा जातिपंथा:—चुलसीतिखलु लोए जोणीणं पमुहसयसहस्साइं।
—उत्तरा. चूर्णि पृ. १४९

(ख) पाशा—अत्यन्त पारवश्य हेतवः, कलत्रादिसम्बन्धास्ते एव तीव्रमोहोदयादि हेतुतया जातीनां एकेन्द्रियादि-जातीनां पन्थानः—तत्प्रापकत्वान्मार्गाः, पाशजातिपथाः, तान्।
—बृहद्वृत्ति, पत्र २६४

२. (क) उत्तरा. टीका, अ.भि.रा.कोष भा. ३, पृ. ७५० (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६४

अतः अब उसे केवल एक कुटुम्ब के साथ मैत्रीभाव न रखकर विश्व के सभी प्राणियों के साथ मैत्रीभाव रखना चाहिए। यही सत्यान्वेषण का नवनीत है।[1]

सपेहाए—दो अर्थ—(१) सम्यक् बुद्धि से, (२) अपनी बुद्धि से।

पासे—दो अर्थ—(१) पश्येत्—देखे—अवधारण करे, (२) पाश—बन्धन।[2]

समियदंसणे—दो रूप—दो अर्थ—(१) शमितदर्शन—जिसका मिथ्यादर्शन शमित हो गया हो, (२) समितदर्शन—जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया हो। दोनों का फलितार्थ है—सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न साधक। यहाँ 'बनकर' इस पूर्वकालिक क्रिया का अध्याहार लेना चाहिए।[3]

गेहिं सिणेहं च—दो अर्थ—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—गृद्धि का अर्थ—रसलम्पटता और स्नेह का अर्थ है—पुत्र-स्त्री आदि के प्रति राग। (२) चूर्णिकार के अनुसार—गृद्धि का अर्थ है—द्रव्य, गाय, भैंस, बकरी, भेड़, धन, धान्य आदि में आसक्ति और स्नेह का अर्थ है—बन्धु-बान्धवों के प्रति ममत्व।[4] प्रस्तुत गाथा (४) में साधक को विद्या (वस्तुतत्त्वज्ञान) के प्रकाश में आसक्ति, ममत्व, राग, मोह, पूर्वसंस्तव आदि अविद्याजनित सम्बन्धों को मन से भी त्याग देने चाहिए। यही तथ्य पाँचवीं गाथा में झलकता है।

कामरूवी—व्याख्या—स्वेच्छा से मनचाहा रूप धारण करने वाला। सांसारिक भोग्य पदार्थों के प्रति ममत्वत्याग करने पर इहलोक में वैक्रियलब्धिकारक अर्थात् अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व आदि अष्टसिद्धियों का स्वामी होगा तथा निरतिचार संयम पालन करने से परलोक में—देवभव में वैक्रियादिलब्धिमान् होगा। गौ-अश्व आदि सांसारिक भोग्य पदार्थों का त्याग क्यों किया जाए? इसका समाधान अगली गाथा में दिया गया है—'नालं दुक्खाउ मोयणे'—ये दुःखों से मुक्त कराने में समर्थ नहीं हैं।[5]

थावरं जंगमं—स्थावर का अर्थ है अचल—गृह आदि साधन तथा जंगम का अर्थ है—चल, पुत्र, मित्र, भृत्य आदि पूर्वाश्रित स्नेहीजन।[6]

पियायए : तीन रूप—तीन अर्थ—(१) प्रियात्मानः—जिन्हें अपनी आत्मा—जीवन प्रिय है, (२) प्रियदयाः—जैसे सभी को अपना सुख प्रिय है, वैसे सभी को अपनी दया—रक्षण प्रिय है। (३) पियायए—प्रियायते क्रिया=चाहते हैं, सत्कार करते हैं, उपासना करते हैं।[7]

---

१. उत्तराध्ययन मूल पाठ अ.६, गा.२ से ६ तक
२. (क) उत्त. चूर्णि, पृ. १५० (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६४ (ग) सुखबोधा पत्र २१२
३. बृहद्वृत्ति, पत्र २६४
४. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १५१ (ख) उत्तरा. टीका, अ. रा. कोष, भा. ३, पृ. ७५१
५. उत्तरा. टीका, अ. रा. कोष, भा. ३, पृ. ७५१
६. वही, अ. रा. को. पृ. ७५१
७. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १५१ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६५ (ग) सुखबोधा पत्र ११२ (घ) उत्तरा. (सरपेंटियर कृत व्याख्या) पृ. ३०३

दोगुंछीः—तीन व्याख्याएँ—(१) जुगुप्सी=असंयम से जुगुप्सा करने वाला, (२) आहार किए बिना धर्म करने में असमर्थ अपने शरीर से जुगुप्सा करने वाला, (३) **अप्पणो दुगुंछी**—आत्म जुगुप्सी—आत्मनिन्दक होकर। अर्थात आहार के समय आत्मनिन्दक होकर ऐसा चिन्तन करे कि अहो! धिक्कार है मेरी आत्मा को, यह मेरी आत्मा या शरीर आहार के बिना धर्मपालन में असमर्थ है। क्या करूं, धर्मयात्रा के निर्वाहार्थ इसे भाड़ा देता हूँ। जैन शास्त्रों में दूसरों से जुगुप्सा करने का तो सर्वत्र निषेध है।[1]

निष्कर्ष—प्रस्तुत गाथा (८) में अदत्तादान एवं परिग्रह इन दोनों आश्रवों के निरोध से—उपरत होने से अन्य आश्रवों का निरोध भी ध्वनित होता है।[2]

अप्पणो पाए दिन्नं—अपने पात्र में गृहस्थों द्वारा दिया हुआ। इस पंक्ति से यह भी सूचित होता है, कतिपय अन्यतीर्थिक साधु संन्यासियों या गैरिकों की तरह निर्ग्रन्थि साधु गृहस्थ के वर्तनों में भोजन न करे। इसका कारण दशवैकालिक सूत्र में—दो मुख्य दोषों (पश्चात्कर्म एवं पुरःकर्म) का लगना बताया है।[3]

तात्पर्य—दूसरी से सातवीं गाथा तक में अविद्याओं के विविध रूप और पण्डित एवं सम्यग्दृष्टि साधक को स्वयं समीक्षा—प्रेक्षा करके इनका वस्तुस्वरूप जानकर इनसे सर्वथा दूर रहने का उपदेश दिया है।

अविद्याजनित मान्यताएँ

९. इहमेगे उ मन्नन्ति अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरियं विदित्ताणं सव्व दुक्खा विमुच्चई॥

[९] इस संसार में (या आध्यात्मिक जगत् में) कुछ लोग यह मानते हैं कि पापों का प्रत्याख्यान (त्याग) किये बिना ही केवल आर्य (-तत्त्वज्ञान) अथवा आचार (-स्व-स्वमत के बाह्य आचार) को जानने मात्र से ही मनुष्य सभी दुःखों से मुक्त हो सकता है।

---

१ (क) 'दुगंछा—संयमो. किं दुगंछति ? असंजयं।'—उत्तरा. चूर्णि, पृ. १५२
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६६
(ग) सुखबोधा, पत्र १२२
(घ) उत्त. टीका, अ. रा. कोष. भाग ३।७५१

२. उत्तराध्ययन गा. ८, टीका, अ. रा. कोष, भा. २।७५१

३. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १५२ '........आत्मीयपात्रगृहणात् माभूत् कश्चित् परपात्रे गृहीत्वा भक्षयति तेन पात्रग्रहणं, ण सो परिग्गह इति।'
(ख) पात्रग्रहणं तु व्याख्याद्वयेऽपि माभूत निस्परिग्रहतया पात्रस्याऽप्यग्रहणमिति कस्यचिद् व्यामोह इति ख्यापनार्थं, तदपरिग्रहे हि तथाविधलब्ध्याद्यभावेन पाणिभोक्तृत्वाभावाद् गृहिभाजन एवं भोजनं भवेत् तत्र च बहुदोषसंभवः। तथा च शय्यम्भवाचार्य—

पच्छाकम्मं पुरेकम्मं सिया तत्थ ण कप्पई।
एयमट्ठं ण भुजंति, णिग्गंथा गिहिभायणे॥ —दशवैकालिक ६।५३
—बृहद्वृत्ति, पत्र २६६

१०. भणन्ता अकरेन्ता य बन्ध-मोक्खपइण्णिणो ।
वाया-विरियमेत्तेण समासासेन्ति अप्पयं ॥

[१०] जो बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्तों की स्थापना (प्रतिज्ञा) तो करते हैं, (तथा ज्ञान से ही मोक्ष होता है, इस प्रकार से) कहते बहुत कुछ हैं, तदनुसार करते कुछ नहीं हैं, वे (ज्ञानवादी) केवल वाणी की वीरता से अपने आपको (झूठा) आश्वासन देते रहते हैं ।

११. न चित्ता तायए भासा कओ विज्जाणुसासणं ?
विसन्ना पाव-कम्मेहिं बाला पंडियमाणिणो ॥

[११] विभिन्न भाषाएँ (पापों या दुःखों से मनुष्य की) रक्षा नहीं करतीं; (फिर व्याकरण-न्याय-मीमांसा आदि) विद्याओं का अनुशासन (शिक्षण) कहाँ सुरक्षा दे सकता है ? जो इन्हें संरक्षक (त्राता) मानते हैं, वे अपने आपको पण्डित मानने वाले (पण्डितमानी) अज्ञानी (अतत्त्वज्ञ) जन पापकर्मरूपी कीचड़ में (विविध प्रकार से) फँसे हुए हैं ।

विवेचन—अविद्याजनित भ्रान्त मान्यताएँ—प्रस्तुत तीन गाथाओं में उस युग के दार्शनिकों की भ्रान्त मान्यताएँ प्रस्तुत करके शास्त्रकार ने उनका खण्डन किया है—(१) एकान्त ज्ञान से ही मोक्ष (सर्व दुःखमुक्ति) हो सकता है, क्रिया या आचरण की कोई आवश्यकता नहीं, (२) लच्छेदार भाषा में अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर देने मात्र से कल्याण हो जाता है, (३) विविध भाषाएँ सीखकर अपने-अपने धर्म के शास्त्रों को उसकी मूल-भाषा में उच्चारण करने मात्र से अथवा विविध शास्त्रों को सीख लेने—रट लेने मात्र से पापों या दुःखों से रक्षा हो जाएगी । परन्तु भगवान् ने इन तीनों भ्रान्त एवं अविद्याजनित मान्यताओं का खण्डन किया है ।[1] सांख्य आदि का एकान्त ज्ञानवाद है—

पंचविंशतितत्वज्ञो, यत्रकुत्राश्रमे रतः ।
शिखी मुण्डी जटी वाऽपि मुच्यते नात्र संशयः ॥

अर्थात् 'शिखाधारी, मुण्डितशिर, जटाधारी हो अथवा जिस किसी भी आश्रम में रत व्यक्ति सिर्फ २५ तत्त्वों का ज्ञाता हो जाए तो निःसंदेह वह मुक्त हो जाता है ।'[2]

आयरियं—तीन रूप—तीन अर्थ—(१) चूर्णि में आचरित अर्थात्—आचार, (२) बृहद्वृत्ति में आर्य रूप मानकर अर्थ किया गया है और (३) सुखबोधा में आचारिक रूप मानकर अर्थ किया है—अपने-अपने आचार में होने वाला अनुष्ठान ।[3]

विविध प्रमादों से बचकर अप्रमत्त रहने की प्रेरणा

१२. जे केई सरीरे सत्ता वण्णे रूवे य सव्वसो ।
मणसा कायवक्केणं सव्वे ते दुक्खसंभवा ॥

---

१ उत्तरा. टीका, अ. ६, अ. रा. कोष ३।७५१

२. सांख्यदर्शन, सांख्यतत्त्वकौमुदी

३. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. १५२; 'आचारे निविष्टं आचरितं—आचरणीयं वा'
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६६
(ग) आचारिकं—निज-निजाऽऽचारभवमनुष्ठानम् । —सुखबोधा, पत्र ११३

[१२] जो मन, वचन और काया से शरीर में तथा वर्ण और रूप (आदि विषयों) में सब प्रकार से आसक्त हैं, वे सभी अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं।

१३. आवन्ना दीहमद्धाणं संसारम्मि अणंतए।
तम्हा सव्वदिसं पस्स अप्पमत्तो परिव्वए॥

१३. वे (ज्ञानवादी शरीरासक्त पुरुष) इस अनन्त संसार में (विभिन्न भवभ्रमण रूप) दीर्घ पथ को अपनाए हुए हैं। इसलिए (साधक) सब (भाव-) दिशाओं (जीवों के उत्पत्तिस्थानों) को देख कर अप्रमत्त होकर विचरण करे।

१४. बहिया उड्ढमादाय नावकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्म-खयट्ठाए इमं देहं समुद्धरे॥

[१४] (वह संसार से) ऊर्ध्व (मोक्ष का लक्ष्य) रख कर चलने वाला कदापि बाह्य (विषयों) की आकांक्षा न करे। (साधक) पूर्वकृतकर्मों के क्षय के लिए ही इस देह को धारण करे।

१५. विविच्च कम्मुणो हेउं कालकंखी परिव्वए।
मायं पिंडस्स पाणस्स कडं लद्धूण भक्खए॥

[१५] अवसरज्ञ (कालकांक्षी) साधक कर्मों के (मिथ्यात्व, अविरति आदि) हेतुओं को (आत्मा से) पृथक् करके (संयममार्ग में) विचरण करे। गृहस्थ के द्वारा स्वयं के लिए निष्पन्न आहार और पानी (संयमनिर्वाह के लिए आवश्यकतानुसार उचित) मात्रा में प्राप्त करके सेवन करे।

१६. सन्निहिं च न कुव्वेज्जा लेवमायाए संजए।
पक्खी पत्तं समादाय निरवेक्खो परिव्वए॥

[१६] संयमी साधु लेशमात्र भी संचय न करे—(बासी न रखे); पक्षी के समान संग्रह-निरपेक्ष रहता हुआ मुनि पात्र लेकर भिक्षाटन करे।

१७. एसणासमिओ लज्जू गामे अणियओ चरे।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं पिंडवायं गवेसए॥

[१७] एषणासमिति के उपयोग में तत्पर (निर्दोष आहार-गवेषक) लज्जावान् (संयमी) साधु गाँवों (नगरों आदि) में अनियत (नियतनिवासरहित) होकर विचरण करे। अप्रमादी रहकर वह गृहस्थों (—विषयादिसेवनासक्त होने से प्रमत्तों) से (निर्दोष) पिण्डपात (भिक्षा) की गवेषणा करे।

विवेचन—'बहिया उड्ढं च' : दो व्याख्याएँ—(१) 'देह से ऊर्ध्व—परे कोई आत्मा नहीं है, देह ही आत्मा है' इस चार्वाकमत के निराकरण के लिए शास्त्रकार का कथन है—देह से ऊर्ध्व—परे आत्मा है, उसको, (२) संसार से बहिर्भूत और सबसे ऊर्ध्ववर्ती—लोकाग्रस्थान = मोक्ष को।[1]

कालकंखी—तीन अर्थ—(१) चूर्णि के अनुसार—जब तक आयुष्य है तब तक पण्डितमरण के काल की आकांक्षा करने वाला—भावार्थ—आजीवन संयम की इच्छा करने वाला, (२) काल—

१. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. १५५ (ख) बृहद्वृत्ति पत्र २६८ (ग) सुखबोधा, पत्र ११४

स्वक्रियानुष्ठान के अवसर की आकांक्षा करने वाला और (३) अवसरज्ञ।[1]

मन-वचन-काया से शरीरासक्ति—मन से—यह सतत चिन्तन करना कि हम सुन्दर, बलिष्ठ, रूपवान् कैसे बनें? वचन से—रसायनादि से सम्बन्धित प्रश्न करते रहना तथा काया से—सदा रसायनादि तथा विगय आदि का सेवन करते रहकर शरीर को बलिष्ठ बनाने का प्रयत्न करना शरीरासक्ति है।[2]

सव्वदिसं—यहाँ दिशा शब्द से १८ भाव दिशाओं का ग्रहण किया गया है—(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय, (३) तेजस्काय, (४) वायुकाय, (५) मूलबीज, (६) स्कन्धबीज, (७) अग्रबीज, (८) पर्वबीज, (९) द्वीन्द्रिय, (१०) त्रीन्द्रिय, (११) चतुरिन्द्रिय, (१२) पंचेन्द्रिय तिर्यंच-योनिक, (१३) नारक, (१४) देव, (१५) सम्मूर्च्छनज, (१६) कर्मभूमिज, (१७) अकर्मभूमिज, (१८) अन्तर्द्वीपज।[3]

पिंडस्स पाणस्स—व्याख्याएं—(१) साधु के लिए भिक्षादान के प्रसंग में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य, यों चारों प्रकार के आहार का उल्लेख आता है, अतः चूर्णिकार ने 'पिंड' शब्द को अशन, खाद्य और स्वाद्य, इन तीनों का और 'पान' शब्द को 'पान' का सूचक माना है। (२) वृत्तिकारों के अनुसार—मुनि के लिए उत्सर्ग रूप में खाद्य और स्वाद्य का ग्रहण—सेवन अयोग्य है, इसलिए पिण्ड अर्थात् ओदनादि और पान यानी आयामादि (भोजन और पान) का ही यहाँ ग्रहण किया गया है।[4]

सन्निहि—घृत-गुडादि को दूसरे दिन के लिए संग्रह करके रखना सन्निधि है। निशीथचूर्णि में दूध, दही आदि थोड़े समय के बाद विकृत हो जाने वाले पदार्थों के संग्रह को सन्निधि और घी, तेल आदि चिरकाल तक न बिगड़ने वाले पदार्थों के संग्रह को संचय कहा है।[5]

'पक्खी पत्तं समादाय निरवेक्खो परिव्वए' : दो व्याख्याएँ—(१) चूर्णि के अनुसार—जैसे पक्षी अपने पत्र—(पंखों) को साथ लिए हुए उड़ता है, उसे पीछे की कोई अपेक्षा—चिन्ता नहीं होती, वैसे

---

१. (क) उत्तरा. चूर्णि ११५ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६८-२६९ (ग) उत्त. टीका, अ. रा. कोष, भा. ३, पृ. २७३

२. सुखबोधा (आचार्य नेमिचन्द्रकृत), पत्र ११३-११४

३. (क) उत्त. चूर्णि, पृ. १५४ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २६८

(ग) पुढवि १ जल २ जलण ३ वाऊ ४ मूला ५ खंध ६ ग्ग ७ पोरबीया य ८।
बि ९ ति १० चउ ११ पंचिंदिय-तिरि १२ नारया १३ देवसंघाया १४ ॥१॥
सम्मुच्छिम १५ कम्माकम्मगा य १६-१७ मणुआ तहंतरद्दीवा य १८।
भावदिसादिस्सइ जं, संसारी नियमे आहि ॥२॥ —अ. रा. कोष ३।७५२

४. (क) 'असण-पाण-खाइम-साइमेणं...... पडिलाभेमाणस्स विहरित्तए।' —उपासकदसा. २

(ख) उत्तरा. चूर्णि., पृ. १५५ : 'पिण्डग्रहणात् त्रिविधः आहारः।'

(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र २६९ : 'पिण्डस्य—ओदनादेरन्नस्य, पानस्य च'—आयामादेः खाद्य-स्वाद्यानुपादानं च यतेः प्रायस्तत् परिभोगासम्भवात्।

(घ) 'खाद्य-स्वाद्ययोरुत्सर्गतो यतीनामयोग्यत्वात् पानभोजनयोर्ग्रहणम्।' —स्थानांग. ९।६६३, वृत्ति ४४५

(ङ) सुखबोधा, पत्र ११४

५. (क) सन्निधिः—प्रातरिदं भविष्यतीत्याद्यभिसन्धितोऽतिरिक्ताऽन्नादि-स्थापनम्।

(ख) निशीथचूर्णि, उद्देशक ८, सू. १८ (ग) उत्तरा. टीका, अ. रा. कोष, भा. ३, पृ. ७५२

ही साधु अपने पात्र आदि उपकरणों को जहाँ जाए वहाँ साथ में ले जाए, कहीं रखे नहीं; तात्पर्य यह है कि पीछे की चिन्ता से मुक्त—निरपेक्ष होकर विहार करे। (२) वृहद्वृत्ति के अनुसार—पक्षी दूसरे दिन के लिए संग्रह न करके निरपेक्ष होकर उड़ जाता है, वैसे ही भिक्षु निरपेक्ष होकर रहे और संयमनिर्वाह के लिए पात्र लेकर भिक्षा के लिए पर्यटन करे—मधुकरवृत्ति से निर्वाह करे, संग्रह की अपेक्षा न रखे—चिन्ता न करे।[1]

इन प्रमादों से बचे—प्रस्तुत गाथा ११ से १६ तक में निम्नोक्त प्रमादों से वचने का निर्देश है—(१) शरीर और उसके रूप-रंग आदि पर मन-वचन-काया से आसक्त न हो, शरीरासक्ति प्रमाद है। शरीरासक्ति से मनुष्य अनेक पापकर्म करता है और त्रिविध योनियों में परिभ्रमण करता है, यह लक्ष्य रख कर सदैव अप्रमत्त रहे। (२) शरीर से ऊपर उठ कर मोक्षलक्ष्यी या आत्मलक्ष्यी रहे, शारीरिक विषयाकांक्षा न रखे, अन्यथा प्रमादलिप्त हो जाएगा। (३) मिथ्यात्वादि कर्मवन्धन के कारणों से बचे, जब भी कर्मवन्धन काटने का अवसर आए, न चूके। (४) संयमयात्रा के निर्वाह के लिए आवश्यकतानुसार उचित मात्रा में आहार ग्रहण-सेवन करे, अनावश्यक तथा अधिक मात्रा में आहार का ग्रहण-सेवन करना प्रमाद है। (५) संग्रह करके रखना प्रमाद है, अतः लेशमात्र भी संग्रह न रखे, पक्षी की तरह निरपेक्ष रहे। जब भी आहार की आवश्यकता हो तब भिक्षापात्र लेकर गृहस्थों से निर्दोष आहार ग्रहण करे। (६) ग्राम, नगर आदि में नियत निवास करके प्रतिवद्ध होकर रहना प्रमाद है, अतः नियत निवासरहित अप्रतिवद्ध होकर विहार करे। (७) संयममर्यादा को तोड़ना निर्लज्जता—प्रमाद है, अतः साधु लज्जावान् (संयममर्यादावान्) रहकर अप्रमत्त होकर विचरण करे।[2]

अप्रमत्तशिरोमणि भगवान् महावीर द्वारा कथित अप्रमादोपदेश

१८. एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।
अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए ॥ —त्ति वेमि।

[१८] इस प्रकार (क्षुल्लक निर्ग्रन्थों के लिए अप्रमाद का उपदेश) अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तर ज्ञान-दर्शनधारक, अर्हन्-व्याख्याता, ज्ञातपुत्र, वैशालिक (तीर्थंकर) भगवान् (महावीर) ने कहा है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—अरहा : दो रूप : दो अर्थ—(१) अर्हन्=त्रिलोकपूज्य, इन्द्रादि द्वारा पूजनीय, (२) **अरहा**=रह का अर्थ है—गुप्त—छिपा हुआ। जिनसे कोई भी वात गुप्त—छिपी हुई नहीं है, वे अरह कहलाते हैं।[3]

---

१. (क) 'यथाऽसौ पक्षी तं पत्रभारं समादाय गच्छति, एवमुपकरणं भिक्षुरादाय णिरवेक्खो परिव्वए।'
—उत्तरा. चूर्णि पृ. १५६

(ख) 'पक्षीव निरपेक्षः, पात्रं पतद्ग्रहादिभाजनमर्थात् तन्नियोगं च समादाय व्रजेत्—भिक्षार्थं पर्यटेत्। इदमुक्तं भवति—मधुकरवृत्त्या हि तस्य निर्वहणं, तत्किं तस्य सन्निधिना ?' —वृहद्वृत्ति, पत्र २७०

२. उत्तराध्ययन मूल, गा. १२ से १६ तक का निष्कर्ष

३. (क) उत्तरा. टीका, अ. रा. कोष ३।७५२ (ख) आवश्यकसूत्र

णायपुत्ते—ज्ञातपुत्र : तीन अर्थ—(१) ज्ञात—उदार क्षत्रिय का पुत्र, (२) ज्ञातवंशीय-क्षत्रिय-पुत्र, (३) ज्ञात—प्रसिद्ध सिद्धार्थ क्षत्रिय का पुत्र ।[1]

वेसालिए—पांच रूप : छह अर्थ—(१) वैशालीय—जिसके विशाल गुण हों, (२) वैशालिय—विशाल इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न, (३) वैशालिक—जिसके शिष्य, तीर्थ (शासन) तथा यश आदि गुण विशाल हों, अथवा वैशाली जिसकी माता हो वह, (४) विशालीय—विशाला—त्रिशला का पुत्र। (५) विशालिक—जिसका प्रवचन विशाल हो ।[2]

॥ क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय : षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥

□□

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २७० (ख) उत्तरा. चूर्णि पृ. १५६
(ग) सुखबोधा, पत्र ११५ (घ) उत्तरा. टीका, अ. रा. कोष ३।७५२

२. (क) उत्तरा. चूर्णि, १५६-१५७—वैशाली जननी यस्य, विशालं कुलमेव च ।
विशालं वचनं चास्य तेन वैशालिको जिनः ॥

(ख) उत्तरा. टीका., अ. रा. कोष ३।७५२

सप्तम अध्ययन : उरभ्रीय

अध्ययन-सार

* इस अध्ययन के प्रारम्भ में कथित 'उरभ्र' (मेंढे) के दृष्टान्त के आधार से प्रस्तुत अध्ययन का नाम उरभ्रीय है। समवायांगसूत्र में इसका नाम 'एलकीय' है। मूलपाठ में भी 'एलयं' शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः 'एलक' और 'उरभ्र' ये दोनों पर्यायवाची शब्द प्रतीत होते हैं।[1]

* श्रमणसंस्कृति का मूलाधार कामभोगों के प्रति अनासक्ति है। जो व्यक्ति कामभोगों—पंचेन्द्रिय-विषयों में प्रलुब्ध हो जाता है, विषय-वासना के क्षणिक सुखों के पीछे परिणाम में छिपे हुए महादुःखों का विचार नहीं करता, केवल वर्तमानदर्शी वन कर मनुष्यजन्म को खो देता है, वह मनुष्यभवरूपी मूलधन को तो गंवाता ही है, उससे पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त होने वाली वृद्धि के फलस्वरूप हो सकने वाले लाभ से भी हाथ धो बैठता है; प्रत्युत अज्ञान एवं मोह के वश विषयसुखों में तल्लीन एवं हिंसादि पापकर्मों में रत होकर मूलधन के नाश से नरक और तिर्यञ्च गति का मेहमान बनता है। इसके विपरीत जो दूरदर्शी वन कर क्षणिक विषयभोगों की आसक्ति में नहीं फंसता, अणुव्रतों या महाव्रतों का पालन करता है, संयम, नियम, तप में रत और परीषहादिसहिष्णु है, वह देवगति को प्राप्त करता है। अतः गहन तत्त्वों को समझाने के लिए इस अध्ययन में पांच दृष्टान्त प्रस्तुत किये गए हैं—

* १. क्षणिक सुखों—विशेषतः रसगृद्धि में फंसने वाले साधक के लिए मेंढे का दृष्टान्त—एक धनिक एक मेमने (भेड़ के वच्चे) को वहुत अच्छा-अच्छा आहार खिलाता। इससे मेमना कुछ ही दिनों में हृष्ट-पुष्ट हो गया। इस धनिक ने एक गाय और वछड़ा भी पाल रखे थे। परन्तु वह गाय, बछड़े को सिर्फ सूखा घास खिलाता था। एक दिन वछड़े ने मालिक के व्यवहार में पक्षपात की शिकायत अपनी मां (गाय) से की—'मां! मालिक मेमने को वहुत सरस स्वादिष्ठ आहार खाने-पीने को देता है और हमें केवल सूखा घास। ऐसा अन्तर क्यों?' गाय ने बछड़े को समझाया—'बेटा! जिसकी मृत्यु निकट है, उसे मनोज्ञ एवं सरस आहार खिलाया जाता है। थोड़े दिनों में ही तू देखना मेमने का क्या हाल होता है? हम सूखा घास खाते हैं, इसलिए दीर्घजीवी हैं।'[2] कुछ ही दिनों बाद एक दिन भयानक दृश्य देखकर बछड़ा कांप उठा और अपनी मां से बोला—'मां! आज तो मालिक ने मेहमान के स्वागत में मेमने को काट दिया है! क्या मैं भी इसी तरह मार दिया जाऊंगा?' गाय ने कहा—'नहीं, बेटा! जो स्वाद में लुब्ध होता है, उसे इसी प्रकार का फल भोगना पड़ता है, जो सूखा घास खाकर जीता है, उसे ऐसा दुःख नहीं भोगना पड़ता।'

जो मनोज्ञ विषयसुखों में आसक्त होकर हिंसा, झूठ, चोरी, लूटपाट, ठगी, स्त्री और अन्य विषयों में गृद्धि, महारम्भ, महापरिग्रह, सुरा-मांससेवन, परदमन करता है, अपने शरीर को

---

१. उत्त. निर्युक्ति, गा. २४६ २. बृहद्वृत्ति, पत्र २७२-२७५

ही मोटाताजा बनाने में लगा रहता है, उसकी भी दशा उस मेमने की-सी ही होती है। कामभोगासक्ति अन्तिम समय में पश्चात्तापकारिणी और घोर कर्मबन्ध के कारण नरक में ले जाने वाली होती है।

※ अल्प सुखों के लिए दिव्य सुखों को हार जाने वाले के लिए दो दृष्टान्त—
(१) एक भिखारी ने मांग-मांग कर हजार कार्षापण (बीस काकिणी का एक कार्षापण) एकत्रित किए। उन्हें लेकर वह घर की ओर चला। रास्ते में खाने-पीने की व्यवस्था के लिए एक कार्षापण को भुना कर काकिणियाँ रख लीं। उनमें से वह खर्च करता जाता। जब उसके पास उनमें से एक काकिणी बची तो आगे चलते समय वह एक स्थान पर उसे भूल आया। कुछ दूर जाने पर उसे काकिणी याद आई तो अपने पास के कार्षापणों की नौली को कहीं गाड़ कर काकिणी को लेने वापस दौड़ा। लेकिन वहाँ उसे काकिणी नहीं मिली। जब निराश होकर वापिस लौटा तब तक कार्षापणों की नौली भी एक आदमी लेकर भाग गया। वह लुट गया। अपार पश्चात्ताप हुआ उसे। (२) चिकित्सक ने एक रोगी राजा को आम खाना कुपथ्यकारक बताया, एक दिन वह राजा मंत्री के साथ वन-विहार करने गया। वहाँ आम के पेड़ देख कर उसका मन ललचा गया। वह वैद्य के सुझाव को भूलकर स्वादलोलुपतावश मंत्री के मना करने पर भी आम खा गया। आम खाते ही राजा की मृत्यु हो गई। क्षणिक स्वाद-सुख के लिए राजा ने अपना अमूल्य जीवन एवं राज्य खो दिया।[1]

इसी प्रकार जो मनुष्य थोड़े से सुख के लिए मानवीय कामभोगों में आसक्त हो जाता है, वह काकिणी के लिए कार्षापणों को खो देने वाले तथा अल्प आम्रस्वादसुख के लिए जीवन एवं राज्य को गँवा देने वाले राजा की तरह दीर्घकालीन दिव्य कामभोग-सुखों को हार जाता है।

※ दिव्य कामभोगों के समक्ष मानवीय कामभोग तुच्छ और अल्पकालिक हैं। दिव्य कामभोग समुद्र के अपरिमेय जल के समान हैं, जबकि मानवीय कामभोग कुश की नोक पर टिके हुए जलबिन्दु के समान अल्प एवं क्षणिक हैं।

※ मनुष्यभव में सज्जनवत् प्रणधारी होना मनुष्यगतिरूप मूलधन की सुरक्षा है, व्रतधारी होकर देवगति पाना अतिरिक्त लाभ है और अज्ञानी-अव्रती रहना मूलधन को खोकर नरक-तिर्यञ्च-गति पाना है। इस पर तीन वणिक्पुत्रों का दृष्टान्त—पिता के आदेश से तीन वणिक्पुत्र व्यवसायार्थ विदेश गए। उनमें से एक बहुत धन कमा कर लौटा, दूसरा पुत्र मूल पूंजी लेकर लौटा और तीसरा जो पूंजी लेकर गया था, उसे भी खो आया।[2]

※ अन्तिम गाथाओं में कामभोगों से अनिवृत्ति और निवृत्ति का परिणाम तथा बालभाव को छोड़ कर पण्डितभाव को अपनाने का निर्देश किया गया है।

□□

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २७६-२७७
२. (क) वही, पत्र २७८-२७९
(ख) ओरब्भे य कागिणी अम्बए य ववहार सागरे चेव।
पंचेए दिट्ठंता उरब्भिज्जम्मि अज्झयणे॥ —उत्त. निर्युक्ति, गा. २४७।

सत्तमं अज्झयणं : सप्तम अध्ययन

उरब्भिज्जं : उरभ्रीय

क्षणिक विषयसुखों के विषय में अल्पजीवी परिपुष्ट मेंढे का रूपक

१. जहाएसं समुद्दिस्स कोइ पोसेज्ज एलयं ।
ओयणं जवसं देज्जा पोसेज्जा वि सयंगणे ।।

[१] जैसे कोई (निर्दय मनुष्य) संभावित पाहुने के उद्देश्य से एक मेमने (भेड़ के बच्चे) का पोषण करता है। उसे चावल, मूंग, उड़द आदि खिलाता (देता) है और उसका पोषण भी अपने गृहांगण में करता है।

२. तओ से पुट्ठे परिवूढे जायमेए महोदरे ।
पीणिए विउले देहे आएसं परिकंखए ।।

[२] इससे (चावल आदि खिलाने से) वह मेमना पुष्ट, बलवान्, मोटा-ताजा और बड़े पेट वाला हो जाता है। अब वह तृप्त और विशाल शरीर वाला मेमना आदेश (—पाहुने) की प्रतीक्षा करता है अर्थात् तभी तक जीवित है जब तक पाहुना न आए।

३. जाव न एइ आएसे ताव जीवइ से दुही ।
अह पत्तंमि आएसे सीसं छेत्तूण भुज्जई ।।

[३] जब तक (उस घर में) पाहुना नहीं आता है, तब तक ही वह बेचारा दुःखी होकर जीता है। बाद में पाहुने के आने पर उसका सिर काट कर भक्षण कर लिया जाता है।

४. जहा खलु से उरब्भे आएसाए समीहिए ।
एवं बाले अहम्मिट्ठे ईहई नरयाउयं ।।

[४] जैसे मेहमान के लिए प्रकल्पित (समीहित) वह मेमना वस्तुतः मेहमान की प्रतीक्षा करता है, वैसे ही अधर्मिष्ठ (पापरत) अज्ञानी जीव भी वास्तव में नरक के आयुष्य की प्रतीक्षा करता है।

विवेचन—आएस—जिसके आने पर घर के लोगों को उसके आतिथ्य के लिए आदेश (आज्ञा) दिया जाता है, उसे आदेश, अतिथि या पाहुना कहा जाता है। आएस के संस्कृत में दो रूप होते हैं—'आदेश' और 'आवेश।' दोनों का अर्थ एक ही है।[1]

---

१. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. १५८ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २७२

जवसं—यवस के अर्थ—चूर्णि और वृत्ति में इसका अर्थ किया गया है—मूंग, उड़द आदि धान्य। शब्दकोष में अर्थ किया गया है—तृण, घास, गेहूँ आदि धान्य।[1]

परिवूढे—युद्धादि में समर्थ, **जायमेए**—जिसकी चर्बी बढ़ गई है, अतः जो मोटाताजा हो गया है। **सयंगणे : दो रूप**—(१) स्वांगणे—अपने घर के आंगन में, (२) विषयांगणे—इन्द्रिय-विषयों की गणना—चिन्तन करता हुआ।[2]

दुही : दो रूप : दो भावार्थ—(१) दुःखी—समस्त सुखसाधनों का उपभोग करता हुआ भी वह हृष्टपुष्ट मेमना इसलिए दुःखी है कि जैसे वध्य—मारे जाने वाले व्यक्ति को सुसज्जित करना, संवारना वस्तुतः उसे दुःखी करना ही है, वैसे ही इस मेमने को अच्छे-अच्छे पदार्थ खिलाना-पिलाना वस्तुतः दुःखप्रद ही है। (२) **अदुही-अदुःखी**—बृहद्वृत्ति में 'सेऽदुही' में अकार को लुप्त मानकर 'अदुही' की व्याख्या की गई है। वह मेमना (स्वयं को) अदुःखी-सुखी मान रहा था, क्योंकि उसे अच्छे-अच्छे पदार्थ खिलाये जाते थे तथा संभाला जाता था।

दुःखी अर्थ ही यहां अधिक संगत है। इसके समर्थन में निर्युक्ति की एक गाथा भी प्रस्तुत है—

आउरचिन्नाइं एयाइं, जाइं चरइ नंदिओ।
सुक्कतणेहिं लाढाहिं एयं दीहाउलक्खणं॥

गौ ने अपने बछड़े से कहा—'वत्स! यह नंदिक (—मेमना) जो खा रहा है, वह रोगी का चिह्न है। रोगी अन्तकाल में जो कुछ पथ्य-कुपथ्य मांगता है, वह उसे दे दिया जाता है, सूखे तिनकों से जीवन चलाना दीर्घायु का लक्षण है।[3]

नरकाकांक्षी एवं मरणकाल में शोकग्रस्त जीव की दशा—मेंढे के समान

५. हिंसे बाले मुसावाई अद्धाणंमि विलोवए।
अन्नदत्तहरे तेणे माई कण्हुहरे सढे॥

६. इत्थीविसयगिद्धे य महारंभ—परिग्गहे।
भुंजमाणे सुरं मंसं परिवूढे परंदमे॥

७. अयकक्कर—भोई य तुंदिल्ले चियलोहिए।
आउयं नरए कंखे जहाएसं व एलए॥

---

१. (क) 'यवसो मुद्गमाषादि'—बृहद्वृत्ति, पत्र २७२ (ख) सुखबोधा, पत्र ११६ (ग) चूर्णि, पृ. १५८
(घ) पाइयसद्दमहण्णवो, पृ. ४३९,

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २७२ (ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ. १५८
(ग) उत्तरा. टीका, अ. रा. कोष, भा. २।८५२

३. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. १५९ (ख) सुखबोधा, पत्र ११७
(ग) सेऽदुहित्ति अकार प्रश्लेषात् स उरभ्रोऽदुःखी सुखी सन्।
—बृहद्वृत्ति, पत्र २७३

[५-६-७] हिंसक, अज्ञानी, मिथ्याभाषी, मार्ग में लूटने वाला (लुटेरा), दूसरों की दी गई वस्तु को बीच में ही हड़पने वाला, चोर, मायावी, कुतोहर (कहाँ से धन-हरण करूं ?, इसी उधेड़बुन में सदा लगा रहने वाला), शठ (धूर्त्त), स्त्री एवं रूपादि विषयों में गृद्ध, महारम्भी, महापरिग्रही, मदिरा और मांस का उपभोग करने वाला, हृष्टपुष्ट, दूसरों को दबाने-सताने वाला, बकरे की तरह कर्कर शब्द करते हुए मांसादि अभक्ष्य खाने वाला, मोटी तोंद और अधिक रक्त वाला व्यक्ति उसी प्रकार नरक के आयुष्य की आकांक्षा करता है, जिस प्रकार मेमना मेहमान की प्रतीक्षा करता है।

८. असणं सयणं जाणं वित्तं कामे य भुंजिया ।
दुस्साहडं धणं हिच्चा बहुं संचिणिया रयं ।।

९. ततो कम्मगुरू जन्तू पच्चुप्पन्नपरायणे ।
अय व्व आगयाएसे मरणन्तंमि सोयई ।।

[८-९] आसन, शयन, वाहन (यान), धन एवं अन्य काम-भोगों को भोग कर, दुःख से बटोरा हुआ धन छोड़ कर बहुत कर्मरज संचित करके; केवल वर्तमान (या निकट) को ही देखने में तत्पर, तथा कर्मों से भारी बना हुआ प्राणी मरणान्तकाल में वैसे ही शोक करता है, जैसे कि मेहमान के आने पर मेमना करता है।

१०. तओ आउपरिक्खीणे चुया देहा विहिंसगा ।
आसुरियं दिसं बाला गच्छन्ति अवसा तमं ।।

[१०] तत्पश्चात् विविध प्रकार से हिंसा करने वाले बाल जीव, आयुष्य के परिक्षीण होने पर जब शरीर से पृथक् (च्युत) होते हैं, तब वे (कृतकर्मों से) विवश हो कर अन्धकारपूर्ण आसुरी दिशा (नरक) की ओर जाते हैं।

विवेचन—कण्हुहरे-कन्नुहरे : दो रूप : दो अर्थ—(१) कुतोहरः—किससे या कहाँ से द्रव्य का हरण करूं ? अथवा (२) कन्नुहरः—किसके द्रव्य का हरण करूं ? सदा इस प्रकार के दुष्ट अध्यवसाय वाला।[1]

'आउयं नरए कंखे' का आशय—नरक के आयुष्य की आकांक्षा करता है, इसका आशय है—जिनसे नरकायुष्य का बन्ध हो, ऐसे पापकर्म करता है।[2]

दुःस्साहडं धणं हिच्चा—दुःसंहृतं धनं : चार अर्थ—(१) समुद्रतरण आदि विविध प्रकार के दुःखों को सह कर इकट्ठे किये हुए धन को, (२) दुःस्वाहृतम् धनं—दूसरों को दुःखी करके दुःख से स्वयं उपार्जित धन, (३) दुःसंहृतम्—दुष्ट कार्य (जूआ, चोरी, व्यभिचारादि) करके उपार्जित धन, (४) अथवा दुःख से प्राप्त (मिला) हुआ धन। **हिच्चा—हित्वा—दो अर्थ**—(१) विविध भोगोपभोगों में व्यय करके—छोड़ कर, अथवा (२) द्यूत आदि विविध दुर्व्यसनों में खोकर। आचार्य नेमिचन्द्र ने इसी का समर्थक एक श्लोक उद्धृत किया है—

---

१. (क) उत्तरा. टीका, अ. र. कोष, भा. २।८५२ (ख) उत्तरज्झयणाणि अनुवाद (मु. नथमलजी) अ. ७, पृ. ९४
(ग) उत्तरा. (गुजराती अनुवाद) पत्र २८३

२. (क) उत्तरा. टीका, अ. र. कोष, भा. २।८५२ (ख) उत्तरा. (गुजराती अनुवाद) पृ. २८३

द्यूतेन मद्येन पण्यांगनाभिः, तोयेन भूपेन हुताशनेन।
मलिम्लुचेनांऽशहरेण नाशं, नीयेत वित्तं क्व धने स्थिरत्वम् ?

जूआ, मद्यपान, वेश्यागमन, जल, राजा, अग्नि आदि के द्वारा आंशिक हरण होने से धन का नाश हो जाता है, फिर धन की स्थिरता कहाँ ?''[1]

पच्चुप्पण्णपरायणे—प्रत्युत्पन्न अर्थात् वर्तमान में परायण—निष्ठ। अर्थात्—**'एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः'**—जितना इन्द्रियगोचर है, इतना ही यह लोक है। इस प्रकार का नास्तिकमतानुसारी परलोकनिरपेक्ष।[2]

अय व्व = अय = अज शब्द अनेकार्थक—इसके बकरा, भेड़, मेंढ़ा, पशु आदि नाना अर्थ होते हैं। यहाँ प्रसंगानुसार इसका अर्थ—भेड़ या मेंढ़ा है, क्योंकि इसके स्थान में एड़क और उरभ्र शब्द यहाँ प्रयुक्त हैं।[3]

आसुरियं दिसं—दो रूप : दो अर्थ—(१) असूर्य या असूरिक—जहाँ सूर्य न हो, ऐसा प्रदेश (दिशा)। जैसे कि ईशावास्योपनिषद् में आत्महन्ता जनों को अन्धतमस् से आवृत असूर्य लोक में जाना बताया गया है। (२) असुर अर्थात् रौद्रकर्म करने वाला। असुर की जो दिशा हो, उसे असुरीय कहते हैं। इसका तात्पर्यार्थ 'नरक' है, क्योंकि नरक में परमाधार्मिक असुर (नरकपाल) रहते हैं। नरक में सूर्य न होने के कारण वह तमसाच्छन्न रहता है तथा वहाँ असुरों का निवास है, इसलिए आसुरिय दिसं का भावार्थ 'नरक' ही ठीक है।[4]

अल्पकालिक सुखों के लिए दीर्घकालिक सुखों को हारने वाले के लिए दो दृष्टान्त

११. जहा कागिणिए हेउं सहस्सं हारए नरो।
अपत्थं अम्बगं भोच्चा राया रज्जं तु हारए॥

[११] जैसे एक (क्षुद्र) काकिणी के लिए मूर्ख मनुष्य हजार (कार्षापण) खो देता है और जैसे राजा अपथ्य रूप एक आम्रफल खा कर बदले में राज्य को गँवा बैठता है, (वैसे ही जो व्यक्ति मनुष्य-सम्बन्धी भोगों में लुब्ध हो जाता है, वह दिव्य भोगों को हार जाता है।)

१२. एवं माणुस्सगा कामा देवकामाण अन्तिए।
सहस्सगुणिया भुज्जो आउं कामा य दिव्विया॥

---

१. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनी टीका (पू.घासीलालजी म.) भा. २, पृ. २४२
(ख) उत्तरा. टीका, अ. रा. कोष, भा. २।८५२ (ग) सुखबोधा, पत्र ११७

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २७५

३. (क) 'अजः पशुः, स चेह प्रक्रमादुरभ्रः।' —बृहद्वृत्ति, पत्र २७५
(ख) 'पाइयसद्दमहण्णवो' में देखें 'अय' शब्द, पृ. ६९

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २७६ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १६१
(ग) "असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति, ये केचनात्महनो जनाः॥" —ईशावास्योपनिषद्

[१२] इसी प्रकार देवों के कामभोगों के समक्ष मनुष्यों के कामभोग उतने ही तुच्छ हैं, (जितने कि हजार कार्षापणों के समक्ष एक काकिणी और राज्य की अपेक्षा एक आम।) (क्योंकि) देवों का आयुष्य और कामभोग मनुष्य के आयुष्य और भोगों से सहस्रगुणा अधिक हैं।

१३. अणेगवासानउया जा सा पन्नवओ ठिई।
जाणि जीयन्ति दुम्मेहा ऊणे वाससयाउए॥

[१३] 'प्रज्ञावान् साधक की देवलोक में अनेक नयुत वर्ष (असंख्यकाल) की स्थिति होती है',—यह जान कर भी दुर्बुद्धि (विषयों से पराजित मानव) सौ वर्ष से भी कम आयुष्यकाल में उन दीर्घकालिक दिव्य सुखों को हार जाता है।

विवेचन—ग्यारहवीं गाथा में दो दृष्टान्त—(१) एक काकिणी के लिए हजार कार्षापण को गँवा देना, (२) आम्रफलासक्त राजा के द्वारा जीवन और राज्य खो देना। इन दोनों दृष्टान्तों का सारांश अध्ययनसार में दिया गया है।

कागिणीए— काकिणी शब्द के अर्थ—(१) चूर्णि के अनुसार—एक रुपये का ८० वाँ भाग, अथवा वीसोपग का चतुर्थ भाग। (२) बृहद्वृत्ति के अनुसार—वीस कौड़ियों की एक-एक काकिणी। (३) 'संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी' के अनुसार—पण के चतुरंश की काकिणी होती है। अर्थात् वीस मासों का एक पण होता है, तदनुसार ५ मासों की एक काकिणी (तौल के रूप में) होती है। (४) कोश के अनुसार काकिणी का अर्थ कौड़ी अथवा २० कौड़ी के मूल्य का एक सिक्का है।[1]

सहस्सं—सहस्रकार्षापण—सहस्र शब्द से चूर्णिकार और बृहद्वृत्तिकार का अभिमत हजार कार्षापण उपलक्षित है। कार्षापण एक प्रकार का सिक्का था, जो उस युग में चलता था। वह सोना, चांदी, तांबा, तीनों धातुओं का होता था। स्वर्णकार्षापण १६ माशा का, रजतकार्षापण ३२ रत्ती का और ताम्रकार्षापण ८० रत्ती के जितने भार वाला होता था।[2]

अणेगवासानउया—वर्षों के अनेक नयुत—नयुत एक संख्यावाचक शब्द है। वह पदार्थ की गणना में और आयुष्यकाल की गणना में प्रयुक्त होता है। यहाँ आयुष्यकाल की गणना की गई है। इसी कारण इसके पीछे वर्ष शब्द जोड़ना पड़ा। एक नयुत की वर्षसंख्या ८४ लाख नयुतांग है।[3]

जीयंति—हार जाते हैं। **जाणि**—दिव्यसुखों को।[4]

---

१. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. १३१ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २७२
(ग) A Sanskrit English Dictionary, P. 267
(घ) पाइअसद्दमहण्णवो, पृ. २३५

२. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १६२ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २७६: सहस्रं—दशशतात्मकं, कार्षापणानामिति गम्यते।
(ग) M.M.Williams, Sanskrit English Dictionary, P. 276

३. (क) उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र २७३ (ख) अनुयोगद्वारसूत्र

४. बृहद्वृत्ति, पत्र २७७

तीन वणिकों का दृष्टान्त

१४. जहा य तिन्नि वाणिया मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाहं एगो मूलेण आगओ॥

१५. एगो मूलं पि हारित्ता आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा एवं धम्मे वियाणह॥

[१४-१५] जैसे तीन वणिक् मूलधन लेकर व्यापार के लिए निकले। उनमें से एक लाभ प्राप्त करता है, एक सिर्फ मूलधन को लेकर लौट आता है और एक वणिक् मूलधन को भी गँवा कर आता है। यह व्यवहार (-व्यापार) की उपमा है। इसी प्रकार धर्म के विषय में भी जान लेना चाहिए।

१६. माणुसत्तं भवे मूलं लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं नरग-तिरिक्खत्तणं धुवं॥

[१६] (यथा—) मनुष्यपर्याय की प्राप्ति मूलधन है। देवगति लाभरूप है। मनुष्यों को नरक और तिर्यञ्चगति प्राप्त होना, निश्चय ही मूल पूंजी का नष्ट होना है।

१७. दुहओ गई बालस्स आवई वहमूलिया।
देवत्तं माणुसत्तं च जं जिए लोलयासढे॥

[१७] बालजीव की दो प्रकार की गति होती है—(१) नरक और (२) तिर्यञ्च, जहाँ उसे वधमूलक कष्ट प्राप्त होता है, क्योंकि वह लोलुपता और शठता (वंचकता) के कारण देवत्व और मनुष्यत्व तो पहले ही हार चुका होता है।

१८. तओ जिए सइं होइ दुविहं दोग्गइं गए।
दुल्लहा तस्स उम्मज्जा अद्धाए सुचिरादवि॥

[१८] (नरक और तिर्यञ्च, इन) दो प्रकार की दुर्गति को प्राप्त (अज्ञानी जीव) (देव और मनुष्यगति को) सदा हारा हुआ (पराजित) ही होता है, (क्योंकि भविष्य में) दीर्घकाल तक उसका (पूर्वोक्त) दोनों दुर्गतियों से निकलना दुर्लभ है।

१९. एवं जियं सपेहाए तुलिया बालं च पंडियं।
मूलियं ते पवेसन्ति माणुसं जोणिमेन्ति जे॥

[१९] इस प्रकार पराजित हुए बालजीव की सम्यक् प्रेक्षा (विचारणा) करके तथा बाल एवं पण्डित की तुलना करके जो मानुषी योनि में आते हैं; वे मूलधन के साथ (लौटे हुए वणिक् की तरह) हैं।

२०. वेमायाहिं सिक्खाहिं जे नरा गिहिसुव्वया।
उवेन्ति माणुसं जोणिं कम्मसच्चा हु पाणिणो॥

[२०] जो मनुष्य विविध परिणाम वाली शिक्षाओं से (युक्त होकर) घर में रहते हुए भी

सुव्रती हैं, वे मनुष्य-सम्बन्धी योनि को प्राप्त होते हैं; क्योंकि प्राणी कर्मसत्य होते हैं; (अर्थात्—स्वकृत कर्मों का फल अवश्य पाते हैं।)

२१. जेसिं तु विउला सिक्खा मूलियं ते अइच्छिया।
सीलवन्ता सवीसेसा अद्दीणा जन्ति देवयं॥

[२१] और जिनकी शिक्षाएँ (ग्रहण-आसेवनात्मिका) विपुल (सम्यक्त्वयुक्त अणुव्रत-महाव्रतादि विषयक होने से विस्तीर्ण) हैं, वे शीलवान् (देश-सर्वविरति-चारित्रवान्) एवं उत्तरोत्तर गुणों से युक्त हैं, वे अदीन पुरुष मूलधनरूप मनुष्यत्व से आगे बढ़ कर देवत्व को प्राप्त होते हैं।

२२. एवमद्दीणवं भिक्खुं अगारिं च वियाणिया।
कहण्णु जिच्चमेलिक्खं जिच्चमाणे न संविदे॥

[२२] इस प्रकार दैन्यरहित भिक्षु और गृहस्थ को (देवत्वप्राप्ति रूप लाभ से युक्त) जानकर कैसे कोई विवेकी पुरुष उक्त लाभ को हारेगा (खोएगा)? विषय-कषायादि से पराजित होता हुआ क्या वह नहीं जानता कि मैं पराजित हो रहा हूँ (देवगतिरूप धनलाभ को हार रहा हूँ?)

विवेचन—वाणिक्पुत्रत्रय का दृष्टान्त—प्रस्तुत अध्ययन के अध्ययन-सार में तीन वणिक् पुत्रों का दृष्टान्त संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टान्त द्वारा मनुष्यत्व को मूलधन, देवत्व को लाभ और मनुष्यत्व रूप मूलधन खोने से नरक-तिर्यञ्चगति-रूप हानि का संकेत किया गया है।

ववहारे उवमा—यह उपमा व्यवहार—व्यापारविषयक है।

'मूलं' का भावार्थ—जैसे मूल पूंजी हो तो उससे व्यापार करने से उत्तरोत्तर लाभ में वृद्धि की जा सकती है, वैसे ही मनुष्यगति (या मनुष्यत्व) रूप मूल पूंजी हो तो उसके द्वारा पुरुषार्थ करने पर उत्तरोत्तर स्वर्ग-अपवर्गरूप लाभ की प्राप्ति की जा सकती है। परन्तु मनुष्यत्व गतिरूप मूल नष्ट होने पर तो वह मनुष्यत्व-देवत्व-अपवर्ग रूप लाभ खो देता है और नरक-तिर्यञ्च गतिरूप हानि ही उसके पल्ले पड़ती है।[1]

जं जिए लोलयासढे—क्योंकि लोलता—जिह्वालोलुपता और शाठ्य-शठता (विश्वास उत्पन्न करके वंचना करना—ठगना), इन दोनों के कारण वह मनुष्यगति-देवगति को तो हार ही चुका होता है। क्योंकि मांसाहारादि रसलोलुपता नरकगति के और वंचना (माया) तिर्यञ्चगति के आयुष्य-बन्ध का कारण है।[2]

वहमूलिया—ये दोनों गतियाँ वधमूलिका हैं। वधमूलिका के दो अर्थ—(१) वध शब्द से उपलक्षण से महारम्भ, महापरिग्रह, असत्यभाषण, माया आदि इनके मूल कारण हैं, इसलिए ये वधमूलिका हैं। अथवा (२) वध-विनाश जिसके मूल—आदि में है, वे वधमूलिका हैं। वध शब्द से छेदन, भेदन, अतिभारारोपण आदि का ग्रहण होता है। वस्तुतः नरक और तिर्यञ्चगति में वध आदि आपत्तियाँ हैं।[3]

---

१. उत्तरा. मूल अ. ७ गा. १५-१६,

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २८० (ख) चूर्णि, पृ. १६४ (ग) स्थानांग, स्था. ४।४।३७३

३. बृहद्वृत्ति, पत्र २८१

उम्मज्जा-उन्मज्जा का भावार्थ—नरकगति एवं तिर्यञ्चगति से भविष्य में चिरकाल तक उन्मज्जा अर्थात्—निर्गमन—निकलना दुर्लभ—दुष्कर है। यह कथन प्रायिक है, क्योंकि कई लघुकर्मा तो नरक-तिर्यञ्चगति से निकल कर एक भव में ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।[1]

सपेहाए-सम्प्रेक्ष्य, तुलिया-तोलयित्वा—तात्पर्य—इस प्रकार लोलुपता और वंचना से देवत्व और मनुष्यत्व को हारे हुए बालजीव को सम्यक् प्रकार से देख—विचार करके तथा नरक-तर्यञ्च-गतिगामी बालजीव को एवं इसके विपरीत मनुष्य-देवगतिगामी पण्डित को गुणदोषवत्ता की दृष्टि से बुद्धि की तुला पर तोल कर।[2]

"वेमायाहिं सिक्खाहिं……"—विमात्रा शिक्षा का अर्थ यहाँ विविध-मात्राओं अर्थात् परिमाणों वाली शिक्षाएँ हैं। जैसे किसी गृहस्थ का प्रकृतिभद्रता आदि का अभ्यास कम होता है, किसी का अधिक और किसी का अधिकतर होता है। इस तरह विविध तरतमताओं (डिग्रियों) में मानवीय गुणों के अभ्यास, शिक्षाओं से। शिक्षा का यह अर्थ शान्त्याचार्य ने किया है। चूर्णि में शिक्षा का अर्थ 'शास्त्रकलाओं में कौशल' किया गया है।[3]

गिहिसुव्वया : 'गृहिसुव्रता'—शब्द के तीन अर्थ—(१) गृहस्थों के सत्पुरुषोचित व्रतों—गुणों से युक्त, (२) गृहस्थ सज्जनों के प्रकृतिभद्रता, प्रकृतिविनीतता, सानुक्रोशता (सदयहृदयता) एवं अमत्सरता आदि व्रतों-प्रतिज्ञाओं को धारण करने वाले, (३) गृहस्थों में सुव्रत अर्थात् ब्रह्मचरण-शील। इन तीनों अर्थों में से दूसरा अर्थ यहाँ अधिक संगत है; क्योंकि यहाँ व्रत शब्द आगमोक्त बारह व्रतों के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। उन अणुव्रतादि का धारक गृहस्थ श्रमणोपासक देवगति (वैमानिक) में अवश्य उत्पन्न होता है। प्रस्तुत गाथा में सुव्रती की उत्पत्ति मनुष्ययोनि में बताई गई है। इसलिए यहाँ 'व्रत' का अर्थ प्रकृतिभद्रता आदि गृहस्थपुरुषोचित व्रत—प्रण (प्रतिज्ञा) है। बृहद्-वृत्तिकार ने यहाँ नीतिशास्त्रोक्त सज्जनों के व्रत उद्धृत किये हैं—

"विपद्युच्चैः धैर्यं, पदमनुविधेयं हि महताम्।
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभंगेऽप्यसुकरम्॥
असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः।
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्॥"

विपत्ति में उच्च गम्भीरता-धीरता तथा महान् व्यक्तियों का पदानुसरण, जिसे न्याययुक्त वृत्ति प्रिय है, प्राण जाने पर भी नियम या व्रत में मलिनता जिसके लिए दुष्कर है, दुर्जन से किसी प्रकार की प्रार्थना-याचना न करना, निर्धन मित्र से भी याचना न करना। न जाने, सज्जनों को यह विषम असिधाराव्रत किसने बताया है? यहाँ 'गृहिसुव्रता' पद की व्याख्या को देखते हुए व्रत से ३५ मार्गानुसारी गुण सूचित होते हैं।[4]

---

१. बृहद्वृत्ति पत्र २८१ २. वही, पत्र २८१

३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २८१ (ख) 'शिक्षा नाम शास्त्रकलासु कौशलम्।' —उत्त. चूर्णि, पृ. १६५

४. (क) बृहद्वृत्ति पत्र २८१ : 'सुव्रताश्च धृतसत्पुरुषव्रताः', ते हि प्रकृतिभद्रताद्यभ्यासानुभावत एव। आगमविहितव्रतधारणं त्वमीषामसम्भवि, देवगतिहेतुत्वेन तदभिधानात्।

(ख) चउहिं ठाणेहिं जीवो मणुस्सताते कम्मं पगरेंति, तं.—पगतिभद्दयाए, पगतिविणीययाए साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए। —स्थानांग, स्था. ४।४।३७३ (ग) 'ब्रह्मचरणशीला सुव्रताः'—उत्त. चूर्णि, पृ. १६५

कम्मसच्चा हु पाणिणो—की पांच व्याख्याएँ—(१) जीव के जैसे कर्म होते हैं, तदनुसार ही उन्हें गति मिलती है। इसलिए प्राणी वास्तव में कर्मसत्य हैं। (२) जीव जो कर्म करते हैं, उन्हें भोगना ही पड़ता है। बिना भोगे छुटकारा नहीं, अतः 'जीवों को कर्मसत्य' कहा है। (३) जिनके कर्म—(मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियाँ) सत्य—अविसंवादी होते हैं, वे कर्मसत्य कहलाते हैं। (४) अथवा जिनके कर्म अवश्य ही फल देने वाले होते हैं, वे कर्मसत्य कहलाते हैं। (५) अथवा कर्मसक्ता रूपान्तर मान कर अर्थ किया है—संसारी जीव कर्मों में अर्थात् मनुष्यगतियोग्य क्रियाओं में सक्त-आसक्त हैं। अतएव वे कर्मसक्त हैं।[1]

विउला सिक्खा-विपुल-शिक्षा : यहाँ शिक्षा का अर्थ किया है—ग्रहणरूप और आसेवनरूप शिक्षा-अभ्यास। ग्रहण का अर्थ है—शास्त्रीय सिद्धान्तों का अध्ययन करना—जानना और आसेवन का अर्थ है—ज्ञात आचार-विचारों को क्रियान्वित करना। इन्हें सैद्धान्तिक प्रशिक्षण और प्रायोगिक कह सकते हैं। सैद्धान्तिक ज्ञान के बिना आसेवन सम्यक् नहीं होता और आसेवन के बिना सैद्धान्तिक ज्ञान सफल नहीं होता। इसलिए ग्रहण और आसेवन, दोनों शिक्षा को पूर्ण बनाते हैं। ऐसी शिक्षा विपुल-विस्तीर्ण तब कहलाती है, जब वह सम्यग्दर्शनयुक्त अणुव्रत-महाव्रतादिविषयक हो।[2]

सीलवंता—अविरत सम्यग्दृष्टि वाले तथा विरतिमान-देश-सर्वविरतिरूप चारित्रवान् शीलवान् कहलाते हैं। आशय यह है—शीलवान् के अपेक्षा से तीन अर्थ होते हैं—अविरतिसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से सदाचारी, विरताविरत की अपेक्षा से अणुव्रती और सर्वविरत की अपेक्षा से महाव्रती।

सविसेसा—उत्तरोत्तर गुणप्रतिपत्तिरूप विशेषताओं से युक्त।[3]

अदीणा—परीषह और उपसर्ग आदि के आने पर दीनता-कायरता न दिखाने वाले, हीनता की भावना मन में न लाने वाले, पराक्रमी।[4]

मूलियं—मौलिक—मूल में होने वाले मनुष्यत्व का। **अइच्छिया**—अतिक्रमण करके। निष्कर्ष—विपुल शिक्षा एवं शास्त्रोक्त व्रतधारी अदीन गृहस्थ श्रावक-श्राविका या साधु-साध्वी ही देवगति को प्राप्त करते हैं। वास्तव में मुक्तिगति का लाभ ही परम लाभ है, परन्तु सूत्र त्रिकालविषयक होते हैं। इस समय विशिष्ट संहनन के अभाव में मुक्ति पुरुषार्थ का अभाव है, इसलिए देवगति का लाभ ही यहाँ बताना अभीष्ट है।[5]

मनुष्यसम्बन्धी कामभोगों की दिव्य कामभोगों के साथ तुलना

२३. जहा कुसग्गे उदगं समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा देवकामाण अन्तिए॥

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २८१ (ख) उत्त. चूर्णि, पृ. १६५ (ग) बृहद्वृत्ति, पत्र २८१
२. (क) 'शिक्षा ग्रहणाऽऽसेवनात्मिका' —सुखबोधा, पत्र १२२ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २८२
३. बृहद्वृत्ति, पत्र २८२
४. वही, पत्र २८२
५. वही, पत्र २८२

[२३] देवों के कामभोगों के समक्ष मनुष्यसम्बन्धी कामभोग वैसे ही क्षुद्र हैं, जैसे कुश (डाभ) के अग्रभाग पर स्थित जलविन्दु समुद्र की तुलना में क्षुद्र है।

२४. कुसग्गमेत्ता इमे कामा सन्निरुद्धंमि आउए।
कस्स हेउं पुराकाउं जोगक्खेमं न संविदे ? ।।

[२४] मनुष्यभव की इस अतिसंक्षिप्त आयु में ये कामभोग कुश के अग्रभाग पर स्थित जलविन्दु-जितने हैं। (फिर भी अज्ञानी) क्यों (किस कारण से) अपने लिए लाभप्रद योग-क्षेम को नहीं समझता !

२५. इह कामाणियट्टस्स अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं जं भुज्जो परिभस्सई ।।

[२५] यहाँ (मनुष्यजन्म में) (या जिनशासन में) कामभोगों से निवृत्त न होने वाले का आत्मार्थ (—आत्मा का प्रयोजन) विनष्ट हो जाता है। क्योंकि न्याययुक्त मार्ग को सुनकर (स्वीकार करके) भी (भारी कर्म वाला मनुष्य) उससे परिभ्रष्ट हो जाता है।

२६. इह कामणियट्टस्स अत्तट्ठे नावरज्झई।
पूइदेह—निरोहेणं भवे देवे त्ति मे सुयं ।।

[२६] इस मनुष्यभव में कामभोगों से निवृत्त होने वाले का आत्मार्थ नष्ट (सापराध) नहीं होता, क्योंकि वह (लघुकर्मा होने से) पूति-दुर्गन्धियुक्त (अशुचि) औदारिकशरीर का निरोध कर (छोड़कर) देव होता है। ऐसा मैंने सुना है।

२७. इड्ढी जुई जसो वण्णो आउं सुहमणुत्तरं।
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु तत्थ से उववज्जई ।।

[२७] (देवलोक से च्यव कर) वह जीव, जहाँ श्रेष्ठ ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण (प्रशंसा), (दीर्घ) आयु और (प्रचुर) सुख होते हैं, उन मनुष्यों (मानवकुलों) में पुनः उत्पन्न होता है।

विवेचन—'अत्तट्ठे अवरज्झइ''''नावरज्झइ—भावार्थ—जो मनुष्यजन्म मिलने पर भी कामभोगों से निवृत्त नहीं होता, उसका आत्मार्थ—आत्मप्रयोजन स्वर्गादि, अपराधी हो जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है। अथवा आत्मरूप अर्थ-धन सापराध हो जाता है, आत्मा से जो अर्थ सिद्ध करना चाहता है, वह सदोष वन जाता है। किन्तु जो कामनिवृत्त होता है, उसका आत्मार्थ-स्वर्गादि सापराध नहीं होता, अर्थात् भ्रष्ट नहीं होता। अथवा आत्मरूप अर्थ-धन, नष्ट नहीं होता, बिगड़ता नहीं।[1]

पूइदेह का भावार्थ—औदारिकशरीर अशुचि है, क्योंकि यह हड्डी, मांस, रक्त आदि से युक्त स्थूल एवं घृणित, दुर्गन्धयुक्त होता है।[2]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २८२
२. वही, पत्र २८२

'इड्ढी ......सुहं च' के अर्थ—ऋद्धि—स्वर्णादि, द्युति—शरीरकांति, यश-पराक्रम से होने वाली प्रसिद्धि, वर्ण—गाम्भीर्य आदि गुणों के कारण होने वाली प्रशंसा, सुख-यथेप्ट विपय की प्राप्ति होने से हुआ आह्लाद ।[1]

बाल और पण्डित का दर्शन तथा पण्डितभाव स्वीकार करने की प्रेरणा

२८. बालस्स पस्स बालत्तं अहम्मं पडिवज्जिया ।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे नरए उववज्जई ।।

[२८] बाल जीव के बालत्व (अज्ञानता) को तो देखो ! वह अधर्म को स्वीकार कर एवं धर्म का त्याग करके अधर्मिष्ठ बन कर नरक में उत्पन्न होता है ।

२९. धीरस्स पस्स धीरत्तं सव्वधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे देवेसु उववज्जई ।।

[२९] समस्त धर्मों का अनुवर्त्तन-पालन करने वाले धीरपुरुप के धैर्य को देखो । वह अधर्म का त्याग करके धर्मिष्ठ बन कर देवों में उत्पन्न होता है ।

३०. तुलियाण बालभावं अबालं चेव पण्डिए ।
चइऊण बालभावं अबालं सेवए मुणी ।।
—त्ति बेमि ।

[३०] पण्डित (विवेकशील) साधक बालभाव और अबाल (—पण्डित) भाव की तुलना (—गुण-दोष की सम्यक् समीक्षा) करके बालभाव को छोड़ कर अबालभाव को अपनाता है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—अहम्मं—धर्म के विपक्ष विषयासाक्तिरूप अधर्म को, **धम्मं**—विपयनिवृत्तिरूप सदाचार धर्म को । **धीरस्स**—बुद्धि से सुशोभित, धैर्यवान्, अथवा परीपहों से अक्षुब्ध । **सव्वधम्माणुवत्तिणो**—क्षमा, मार्दव आदि सभी धर्मों के अनुरूप आचरण करने वाला ।[2]

।। सप्तम अध्ययन समाप्त ।।

---

१. (क) सुखबोधा, पत्र १२३ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २८३
२. बृहद्वृत्ति, पत्र २८३

अष्टम अध्ययन : कापिलीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'कापिलीय' है। नाम दो प्रकार से रखे जाते हैं—(१) निर्देश्य—विषय के आधार पर और (२) निर्देशक (वक्ता) के आधार पर। इस अध्ययन का निर्देशक 'कपिल' है, इसलिए इसका नाम 'कापिलीय' रखा गया। वृहद्वृत्ति के अनुसार—मुनि कपिल के द्वारा यह अध्ययन गाया गया था, इसलिए भी इसे 'कापिलीय' कहा जाता है। सूत्रकृतांग-चूर्णि में इस अध्ययन को गेय माना गया है।[1]

* अनुश्रुति ऐसी है कि एक वार कपिल मुनि श्रावस्ती से विहार करके जा रहे थे। मार्ग में महारण्य में उन्हें वलभद्र आदि चोरों ने घेर लिया। चोरों के अधिपति ने इन्हें श्रमण समझ कर कहा—'श्रमण ! कुछ गाओ।' कपिल मुनि ने उन्हें सुलभवोधि समझ कर गायन प्रारम्भ किया—'**अधुवे असासयंमि........**' यह ध्रुवपद था।[2] प्रथम कपिल मुनि गाते, तत्पश्चात् चोर उनका अनुसरण करके तालियां पीट कर गाते। कई चोर प्रथम गाथा सुनते ही प्रवुद्ध हो गए, कई दूसरी, तीसरी, चौथी आदि गाथा सुनकर। इस प्रकार पूरा अध्ययन सुनकर वे ५०० ही चोर प्रतिवुद्ध हो गए। कपिल मुनिवर ने उन्हें दीक्षा दी। प्रस्तुत समग्र अध्ययन में प्रथम जिज्ञासा का उत्थान एवं तत्पश्चात् कपिल मुनि का ही उपदेश है।

* प्रसंगवश इस अध्ययन में पूर्वसम्वन्धों के प्रति आसक्तित्याग का, ग्रन्थ, कलह, कामभोग, जीवहिंसा, रसलोलुपता के त्याग का, एषणाशुद्ध प्राप्त आहारसेवन का तथा लक्षणादि शास्त्र-प्रयोग, लोभवृत्ति एवं स्त्री-आसक्ति के त्याग का एवं संसार की असारता का विशद उपदेश दिया गया है।

* लोभवृत्ति के विषय में तो कपिल मुनि ने संक्षेप में स्वानुभव प्रकाशित किया है। कथा का उद्गम संक्षेप में इस प्रकार है—

अनेक विद्याओं का पारगामी काश्यप ब्राह्मण कौशाम्वी नगरी के राजा प्रसेनजित का सम्मानित राजपुरोहित था। अचानक काश्यप की मृत्यु हो गई। कपिल उस समय अल्पवयस्क एवं अपठित था। इसलिए राजा ने काश्यप के स्थान पर दूसरे पण्डित की नियुक्ति कर दी। कपिल ने एक दिन विधवा माता यशा को रोते देख रोने का कारण पूछा तो उसने कहा—'पुत्र ! एक समय था, जव तेरे पिता इसी प्रकार के ठाठ-वाठ से राजसभा में जाते थे। वे

---

१. (क) वृहद्वृत्ति, पत्र २८९ (ख) सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ. ७
(ग) आवश्यकनिर्युक्ति गा. १४१, वृत्ति—'**निर्देशकवशाज्जिनवचनं कापिलीयम्**'

२. जं गिज्जइ पुव्वं चिय, पुण-पुणो सव्वकव्ववंधेसु। धुवयंति तमिह तिविहं, छप्पायं चउपयं दुपये।"
—वृहद्वृत्ति, पत्र २८९

अनेक विद्याओं में पारंगत थे, राजा भी उनसे प्रभावित था। उनके निधन के बाद तेरे अविद्वान् होने के कारण वह स्थान दूसरे को दे दिया है।' कपिल ने कहा—'मां ! मैं भी विद्या पढ़ूंगा।' यशा—बेटा ! यहाँ के कोई भी ब्राह्मण तुझे विद्या नहीं पढ़ायेंगे, क्योंकि सभी ईर्ष्यालु हैं। यदि तू विद्या पढ़ना चाहता है तो श्रावस्ती में तू अपने पिता के घनिष्ट मित्र इन्द्रदत्त उपाध्याय के पास चला जा। वे तुझे पढ़ाएँगे।'

कपिल मां का आशीर्वाद लेकर श्रावस्ती चल पड़ा। वहाँ पूछते-पूछते वह इन्द्रदत्त उपाध्याय के पास पहुंचा। उन्होंने जब उसका परिचय एवं आगमन का प्रयोजन पूछा तो कपिल ने सारा वृत्तान्त सुनाया। इससे प्रभावित होकर इन्द्रदत्त ने उसके भोजन की व्यवस्था वहाँ के शालिभद्र वणिक् के यहाँ करा दी। विद्याध्ययन के लिए वह इन्द्रदत्त उपाध्याय के पास रहता और भोजन के लिए प्रतिदिन शालिभद्र श्रेष्ठी के यहाँ जाता। श्रेष्ठी ने एक दासी नियुक्त कर दी, जो कपिल को भोजन कराती थी। धीरे-धीरे दोनों का परिचय बढ़ा और अन्त में, वह प्रेम के रूप में परिणत हो गया। एक दिन दासी ने कपिल से कहा—'तुम मेरे सर्वस्व हो। किन्तु तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है। मैं निर्वाह के लिए इस सेठ के यहाँ रह रही हूँ; अन्यथा, हम स्वतंत्रता से रहते।'

दिन बीते। एक बार श्रावस्ती में विशाल जनमहोत्सव होने वाला था। दासी की प्रबल इच्छा थी उसमें जाने की। परन्तु कपिल के पास महोत्सव-योग्य कुछ भी धन या साधन नहीं था। दासी ने उसे बताया कि अधीर मत बनो ! इस नगरी का धनसेठ प्रातःकाल सर्वप्रथम बधाई देने वाले को दो माशा सोना देता है। कपिल सबसे पहले पहुंचने के इरादे से मध्यरात्रि में ही घर से चल पड़ा। नगररक्षकों ने उसे चोर समझकर पकड़ लिया और प्रसेनजित राजा के समक्ष उपस्थित किया। राजा ने उससे रात्रि में अकेले घूमने का कारण पूछा तो उसने स्पष्ट बता दिया। राजा ने कपिल की सरलता और स्पष्टवादिता पर प्रसन्न हो कर उसे मनचाहा मांगने के लिए कहा। कपिल विचार करने के लिए कुछ समय लेकर निकटवर्ती अशोकवनिका में चला गया। कपिल का चिन्तन-प्रवाह दो माशा सोने से क्रमशः आगे बढ़ते-बढ़ते करोड़ों स्वर्णमुद्राओं तक पहुंच गया। फिर भी उसे सन्तोष नहीं था। वह कुछ निश्चित नहीं कर पा रहा था। अन्त में उसकी चिन्तनधारा ने नया मोड़ लिया। लोभ की पराकाष्ठा सन्तोष में परिणत हो गई। जातिस्मरणज्ञान पाकर वह स्वयंबुद्ध हो गया। मुख पर त्याग का तेज लिए वह राजा के पास पहुंचा और बोला—'राजन् ! अब आपसे कुछ भी लेने की आकांक्षा नहीं रही। जो पाना था, मैंने पा लिया; संतोष, त्याग और अनाकांक्षा ने मेरा मार्ग प्रशस्त कर दिया है।' राजा के सान्निध्य से निर्ग्रन्थ होकर वह दूर वन में चला गया। साधना चलती रही। ६ मास तक वे मुनि छद्मस्थ अवस्था में रहे।

कपिल मुनि का चोरों को दिया गया गेय उपदेश ही इस अध्ययन में संकलित है।

□□

अट्ठमं अज्झयणं : अष्टम अध्ययन

काविलीयं : कापिलीय

दुःखबहुल संसार में दुर्गतिनिवारक अनुष्ठान की जिज्ञासा

१. अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं जेणाऽहं दोग्गइं न गच्छेज्जा ॥

[१] 'अध्रुव, अशाश्वत और दुःखप्रचुर (दुःखों से परिपूर्ण) संसार में वह कौन-सा कर्म (-अनुष्ठान) है, जिसके कारण मैं (नरकादि) दुर्गति में न जाऊँ ?'

विवेचन—अधुवे असासयंमि दुक्खपउराए: अर्थ—ध्रुव का अर्थ है—एक स्थान में प्रतिबद्ध—अचल, जो ध्रुव नहीं है, अर्थात्—जिसमें ऊँच-नीच स्थानों (गतियों एवं योनियों) में जीव भ्रमण करता है, वह अध्रुव है तथा अशाश्वत—जिसमें कोई भी वस्तु शाश्वत—नित्य नहीं है,—अर्थात् अविनाशी नहीं है, वह अशाश्वत है। दुःखप्रचुर—जिसमें शारीरिक, मानसिक दुःख अथवा आधि-व्याधि-उपाधिरूप दुःखों की प्रचुरता—अधिकता है। ये तीनों संसार के विशेषण हैं। (२) अथवा ये दोनों (अध्रुव और अशाश्वत) शब्द एकार्थक हैं। किन्तु इनमें पुनरुक्ति दोष नहीं है, क्योंकि उपदेश में या किसी अर्थ को विशेष रूप से कहने में पुनरुक्ति दोष नहीं होता।[1]

कपिलमुनि द्वारा बलभद्रादि पांच सौ चोरों को अनासक्ति का उपदेश

२. विजहित्तु पुव्वसंजोगं न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा।
असिणेह सिणेहकरेहिं दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू ॥

[२] पूर्व (आसक्तिमूलक)-संयोग (सम्बन्ध) को सर्वथा त्याग कर फिर किसी पर भी स्नेह (आसक्ति) न करे। स्नेह (राग या मोह) करने वालों के साथ भी स्नेह न करने वाला भिक्षु दोषों (इहलोक में मानसिक संतापादि) और प्रदोषों (परलोक में नरकादि दुर्गतियों) से मुक्त हो जाता है।

३. तो नाण—दंसणसमग्गो हियनिस्सेसाए सव्वजीवाणं।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए भासई मुणिवरो विगयमोहो ॥

[३] केवलज्ञान और केवलदर्शन से सम्पन्न तथा मोहरहित कपिल मुनिवर ने (सर्वजीवों के तथा) उन (पांच सौ चोरों) के हित और कल्याण के लिए एवं विमोक्षण (अष्टविध कर्मों से मुक्त होने) के लिए कहा—

४. सव्वं गन्थं कलहं च विप्पजहे तहाविहं भिक्खू।
सव्वेसु कामजाएसु पासमाणो न लिप्पई ताई ॥

[४] (कर्मबन्धन के हेतुरूप) सभी ग्रन्थों (बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थों-परिग्रहों) तथा कलह का

---

1. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २८९ (ख) उत्तरा. वृत्ति, अ. रा. कोष, भा. ३, पृ. ३८७

भिक्षु परित्याग करे। कामभोगों के सभी प्रकारों में (दोष) देखता हुआ आत्मरक्षक (त्राता) मुनि उनमें लिप्त न हो।

५. भोगामिसदोसविसण्णे हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे।
बाले य मन्दिए मूढे बज्झई मच्छिया व खेलंमि॥

[५] आत्मा को दूषित करने वाले (शब्दादि-मनोज्ञ विषय-) भोग रूप आमिष में निमग्न, हित और निःश्रेयस में विपर्यस्त बुद्धि वाला, बाल (अज्ञ), मन्द और मूढ़ प्राणी कर्मों से उसी तरह बद्ध हो जाता है, जैसे श्लेष्म (कफ) में मक्खी।

६. दुपरिच्चया इमे कामा नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।
अह सन्ति सुव्वया साहू जे तरन्ति अतरं वणिया व॥

[६] ये काम-भोग दुस्त्याज्य हैं, अधीर पुरुषों के द्वारा ये आसानी से नहीं छोड़े जाते। किन्तु जो निष्कलंक व्रत वाले साधु हैं, वे दुस्तर कामभोगों को उसी प्रकार तैर जाते हैं, जैसे वणिक्जन (दुस्तर) समुद्र को (नौका आदि द्वारा तैर जाते हैं।)

विवेचन—पुव्वसंजोगं : दो व्याख्या—(१) **पूर्वसंयोग**—संसार पहले होता है, मोक्ष पीछे; असंयम पहले होता है, संयम बाद में; ज्ञातिजन, धन आदि पहले होते हैं, इनका त्याग तत्पश्चात् किया जाता है; इन दृष्टियों से चूर्णि में पूर्वसंयोग का अर्थ—'संसारसम्बन्ध, असंयम का सम्बन्ध और ज्ञाति आदि का सम्बन्ध' किया गया है। (२) बृहद्वृत्ति एवं सुखबोधा में पूर्वसंयोग का अर्थ—'पूर्व-परिचित—माता-पिता आदि का तथा उपलक्षण से स्वजन-धन आदि का संयोग-सम्बन्ध' किया है।[१]

दोसपओसेहिं : दो व्याख्या—(१) दोष का अर्थ है—इहलोक में मानसिक संताप आदि और प्रदोष का अर्थ है—परलोक में नरकगति आदि; (२) दोष पदों से—अपराधस्थानों से। आशय यह है कि आसक्तिमुक्त साधु अतिचार रूप—दोषस्थानों से मुक्त हो जाता है।[२]

तेसिं विमोक्खणट्ठाए : तात्पर्य—पूर्वभव में कपिल ने उन सभी चोरों के साथ संयम-पालन किया था, उनके साथ ऐसी वचनबद्धता थी कि समय आने पर हमें प्रतिबोध देना। अतः केवली कपिल मुनिवर उनको कर्मों से विमुक्त करने (उनके मोक्ष) के लिए प्रवचन करते हैं।[३]

कलहं : दो अर्थ—(१) कलह—क्रोध, अथवा (२) कलह—भण्डन, अर्थात्—वाक्कलह, गाली देना और क्रोध करना। क्रोध कलह का कारण है इसलिए क्रोध को कलह कहा गया। पाश्चात्य विद्वानों ने कलह का अर्थ—झगड़ा, गालीगलौज, झूठ या धोखा, अथवा घृणा किया है।[४]

---

१. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. १७१ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २९० (ग) सुखबोधा, पत्र १२६
२. (क) सुखबोधा, पत्र १२६ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २९०
३. (क) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. १७१, (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २९०
४. (क) 'कलहहेतुत्वात् कलहः क्रोधस्तम्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र २९१, सुखबोधा, पत्र १२६
(ख) 'कलाभ्यो हीयते येन स कलहः—भण्डनम् इत्यर्थः।' —उत्तरा. चूर्णि, पृ. १७१
(ग) Sacred Books of the East, Vol. XLV Uttaradhyayana, P.33 (डॉ० हर्मन जेकोबी)
(घ) Sanskrit English Dictionary, P.261

ताई—दो रूप : तीन अर्थ (१-२) तायी-त्रायी—(१) दुर्गति से आत्मा की जो रक्षा (-त्राण) करता है, अथवा (२) जो षट्काय का त्राता-रक्षक है। (३) **तायी**—तादृक्—वैसा, उन (बुद्धादि) जैसा।[1]

भोगामिसदोसविसण्णे—आमिष शब्द : अनेक अर्थों में—(१) वर्तमान में 'आमिष' का अर्थ 'मांस' किया जाता है। (२) प्राचीन काल में आसक्ति के हेतुभूत पदार्थो के अर्थ में आमिष शब्द प्रयुक्त होता था। जैसे कि 'अनेकार्थकोष' में आमिष के 'फल, सुन्दर आकार, रूप, सम्भोग, लोभ और लंचा'—ये अर्थ मिलते हैं। पंचासकप्रकरण में आहार या फल आदि के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। बौद्धसाहित्य में भोजन, विषयभोग आदि अर्थो में 'आमिष' शब्द-प्रयोग हुआ है। यथा—आमिष-संविभाग, आमिषदान, आदि।[2]

बुद्धिवोच्चत्थे—अर्थ और भावार्थ—(१) हित और निःश्रेयस में जिसकी विपरीत-बुद्धि है। (२) हित और निःश्रेयस में अथवा हित और निःश्रेयस सम्बन्धी बुद्धि—उनकी प्राप्ति की उपाय-विषयक मति हितनिःश्रेयसबुद्धि है। उसमें जो विपर्ययवान् है।[3]

बज्झइ—भावार्थ—बंध जाता है अर्थात्—श्लिष्ट हो (चिपक) जाता है।

खेलंमि—तीन रूप : तीन अर्थ—(१) श्लेष्म—कफ, (२) क्ष्वेट या क्ष्वेद—चिकनाई—श्लेष्म, (३) क्ष्वेल—थूक (निष्ठीवन)।[4]

अधीरपुरिसेहिं—दो अर्थ—अधीर पुरुषों के द्वारा—(१) अबुद्धिमान् मनुष्यों के द्वारा, (२) असत्त्वशील पुरुषों द्वारा।[5]

संति सुव्वया—दो रूप : दो व्याख्या—(१) **सन्ति सुव्रताः**—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान से अधिष्ठित होने से जिनके हिंसाविरमणादिव्रत शुभ या शुद्ध—निष्कलंक हैं।

(२) **शान्ति-सुव्रताः**—शान्ति से उपलक्षित सुव्रत वाले।[6]

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २९१ (ख) उत्तराध्ययन (अंग्रेजी) पृ ३०७-३०८, पवित्र सन्त व्यक्ति आदि।
(ग) दीघनिकाय, पृ. ८८; विसुद्धिमग्गो, पृ. १८०

२. (क) सहामिषेण पिशितरूपेण वर्त्तते इति सामिषः, (ख) फले सुन्दराकाररूपादौ संभोगे लोभलंचयोः।
—अनेकार्थकोष, पृ. १३३०
(ग) पंचासकप्रकरण ९।३१ (घ) 'भोगाः—मनोज्ञाः शब्दादयः, ते च ते आमिषं चात्यन्तगृद्धिहेतुतया भोगामिषम्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र २९१ (ङ) 'भुज्यन्त इति भोगाः, यत्सामान्यं बहुभिः प्रार्थ्यते तद् आमिषम्, भोगा एवं आमिषं भोगामिषम्।' —उत्त. चूर्णि, पृ. १७२ (च) बुद्धचर्या पृ. १०२,४३२, इतिवुत्तक, पृ. ८६.

३. (क) उत्त. चूर्णि, पृ. १७२ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र २९१,

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २९१ (ख) उत्तरा. (सरपेंटियर), पृ. ३०८ (ग) तत्त्वार्थराजवार्तिक ३।३६, पृ. २०३

५. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २९२

६. वही, पत्र २९२

हिंसा से सर्वथा विरत होने का उपदेश

७. 'समणा मु' एगे वयमाणा पाणवहं मिया अयाणन्ता।
मन्दा नरयं गच्छन्ति बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं॥

[७] 'हम श्रमण हैं'—यों कहते हुए भी कई पशुसम अज्ञानी जीव प्राणवध को नहीं समझते। वे मन्द और अज्ञानी अपनी पापपूर्ण दृष्टियों से नरक में जाते हैं।

८. 'न हु पाणवहं अणुजाणे मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं।'
एवारिएहिं अक्खायं जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो॥

[८] जिन्होंने इस साधुधर्म की प्ररूपणा की है, उन आर्यपुरुषों ने कहा है—जो प्राणवध का अनुमोदन करता है, वह कदापि समस्त दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता।

९. पाणे य नाइवाएज्जा से 'समिए' त्ति वुच्चई ताई।
तओ से पावयं कम्मं निज्जाइ उदगं व थलाओ॥

[९] जो प्राणियों के प्राणों का अतिपात (हिंसा) नहीं करता, वही त्रायी (जीवरक्षक) मुनि 'समित' (सम्यक् प्रवृत्त) कहलाता है। उससे (अर्थात्—उसके जीवन से) पापकर्म वैसे ही निकल (हट) जाता है, जैसे उन्नत स्थल से जल।

१०. जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं मणसा वयसा कायसा चेव॥

[१०] जो भी जगत् के आश्रित (संसारी) त्रस और स्थावर नाम के (नामकर्मवाले) जीव हैं; उनके प्रति मन, वचन और काय से किसी भी प्रकार के दण्ड का प्रयोग न करे।

विवेचन—मिया अयाणंता : व्याख्या—पाशविक बुद्धि वाले, अज्ञपुरुष। ज्ञपरिज्ञा से—प्राणी कितने प्रकार के, कौन-कौन-से हैं, उनके प्राण कितने हैं? उनका वध—अतिपात कैसे हो जाता है? इन बातों को नहीं जानते तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा से प्राणिवध का प्रत्याख्यान नहीं करते। इस प्रकार प्रथम अहिंसाव्रत को भी नहीं जानते, तब शेष व्रतों का जानना तो बहुत दूर की बात है।[1]

पावियाहिं दिट्ठीहिं : दो रूप : दो अर्थ (१) **प्रापिका दृष्टियों से,** अर्थात्—नरक को प्राप्त कराने वाली दृष्टियों से, (२) **पापिका दृष्टियों से,** अर्थात्—पापमयी या पापहेतुक या परस्पर विरोध आदि दोषों से दूषित दृष्टियों से : जैसे कि उन्हीं के ग्रन्थों के उद्धरण—**'न हिंस्यात् सर्वभूतानि', 'श्वेतं छागमालभेत वायव्यां दिशि भूतिकामः' 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत, इन्द्राय क्षत्रियं, मरुद्भ्यो, वैश्यं, तपसे शूद्रम्।'** तात्पर्य यह है कि एक ओर तो वे कहते हैं—'सब जीवों की हिंसा मत करो' किन्तु दूसरी ओर श्वेत बकरे का तथा ब्राह्मणादि के वध का उपदेश देते हैं। ये परस्परविरोधी पापमयी दृष्टियां हैं।[2]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २९२

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २९२-२९३

(ख) **'चर्म-वल्कलचीराणि, कूर्च-मुण्ड-जटा-शिखाः।**
न व्यपोहन्ति पापानि, शोधकौ तु दयादमौ॥ —वाचकवर्य उमास्वाति

समिए—समित—समितिमान्—सम्यक् प्रवृत्त !

पाणवहं अणुजाणे : आशय—इस गाथा में बताया गया है—प्राणिवध का अनुमोदनकर्त्ता भी सर्वदुःखों से मुक्त नहीं हो सकता, तब फिर जो प्राणिवध करते-कराते हैं, वे दुःखों से कैसे मुक्त हो सकते हैं !'

दंडं—हिंसारूप दण्ड ।

उदाहरण—उज्जयिनी में एक श्रावकपुत्र था । एक बार चोरों ने उसका अपहरण कर लिया । उसे मालव देश में एक पारधी के हाथ बेच दिया । पारधी ने उससे कहा—'बटेर मारो ।' उसने कहा—'नहीं मारूंगा ।' इस पर उसे हाथी के पैरों तले कुचला तथा मारा-पीटा गया, मगर उसने प्राणत्याग का अवसर आने पर भी जीवहिंसा करना स्वीकार न किया । इसी प्रकार साधुवर्ग को भी जीवहिंसा त्रिकरण-त्रियोग से नहीं करनी चाही ।[1]

रसासक्ति से दूर रह कर एषणासमितिपूर्वक आहार-ग्रहण-सेवन का उपदेश

११. सुद्धेसणाओ नच्चाणं तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं ।
जायाए घासमेसेज्जा रसगिद्धे न सिया भिक्खाए ॥

[११] भिक्षु शुद्ध एषणाओं को जान कर उनमें अपने आप को स्थापित करे (अर्थात्—एषणा—शुद्ध आहार-ग्रहण में प्रवृत्ति करे) । भिक्षाजीवी साधु (संयम) यात्रा के लिए ग्रास (आहार) की एषणा करे, किन्तु वह रसों में गृद्ध (आसक्त) न हो ।

१२. पन्ताणि चेव सेवेज्जा सीयपिण्डं पुराणकुम्मासं ।
अदु वुक्कसं पुलागं वा जवणट्ठाए निसेवए मंथुं ॥

[१२] भिक्षु जीवनयापन (शरीरनिर्वाह) के लिए (प्रायः) प्रान्त (नीरस) अन्न-पान, शीत-पिण्ड, पुराने उड़द (कुल्माष), बुक्कस (सारहीन) अथवा पुलाक (रूखा) या मंथु (बेरसत्तु आदि के चूर्ण) का सेवन करे ।

विवेचन—जायाए घासमेसेज्जा : भावार्थ—संयमजीवन-निर्वाह के लिए साधु आहार की गवेषणादि करे । जैसे कि कहा है—

'जह सगडक्खोवंगो कीरइ भरवहणकारणा णवरं ।
तह गुणभरवहणत्थं आहारो बंभयारीणं ॥

जैसे—गाड़ी के पहिये की धुरी को भार ढोने के कारण से चुपड़ा जाता है, वैसे ही महाव्रतादि गुणभार को वहन करने की दृष्टि से ब्रह्मचारी साधक आहार करे ।[2]

पंताणि चेव सेवेज्जा : एक स्पष्टीकरण—इस पंक्ति की व्याख्या दो प्रकार से की गई है—**प्रान्तानि च सेवेतैव, प्रान्तानि चैव सेवेत**—(१) गच्छवासी मुनि के लिए यह विधान है कि

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २९३
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २९४ (ख) सुखबोधा, पत्र १२८

यदि प्रान्तभोजन मिले तो उसे खाए ही, फेंके नहीं, किन्तु गच्छनिर्गत (जिनकल्पी) के लिए यह नियम है कि वह प्रान्त (नीरस) भोजन ही करे।

साथ ही **'जवणट्ठाए'** का स्पष्टीकरण भी यह है कि गच्छवासी साधु यदि प्रान्त आहार से जीवनयापन हो तो उसे खाए, किन्तु वातवृद्धि हो जाने के कारण जीवनयापन न होता हो तो न खाए। गच्छनिर्गत साधु जीवनयापन के लिए प्रान्त आहार ही करे।[1]

कुम्मासं : अनेक अर्थ—(१) कुलमाष—राजमाष, (२) तरल और खट्टा पेय भोजन, जो फलों के रस से या उबले हुए चावलों से बनाया जाता है (३) दरिद्रों का भोजन, (४) कुलथी, (५) कांजी।[2]

समाधियोग से भ्रष्ट श्रमण और उसका दूरगामी दुष्परिणाम

१३. 'जे लक्खणं च सुविणं च अंगविज्जं च जे पउंजन्ति।
न हु ते समणा वुच्चन्ति' एवं आयरिएहिं अक्खायं॥

[१३] जो साधक लक्षणशास्त्र, स्वप्नशास्त्र एवं अंगविद्या का प्रयोग करते हैं, उन्हें सच्चे अर्थों में 'श्रमण' नहीं कहा जाता (—जा सकता); ऐसा आचार्यों ने कहा है।

१४. इह जीवियं अणियमेत्ता पब्भट्ठा समाहिजोएहिं।
ते कामभोग-रसगिद्धा उववज्जन्ति आसुरे काए॥

[१४] जो साधक वर्त्तमान जीवन को नियंत्रित न रख सकने के कारण समाधियोग से भ्रष्ट हो जाते हैं। वे कामभोग और रसों में गृद्ध (-आसक्त) साधक आसुरकाय में उत्पन्न होते हैं।

१५. तत्तो वि य उवट्टित्ता संसारं बहुं अणुपरियडन्ति।
बहुकम्मलेवलित्ताणं बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं॥

[१५] वहाँ से निकल कर भी वे बहुत काल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं। बहुत अधिक कर्मों के लेप से लिप्त होने के कारण उन्हें बोधिधर्म का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

विवेचन—लक्षणविद्या—शरीर के लक्षणों—चिह्नों को देखकर शुभ-अशुभ फल कहने वाले शास्त्र को लक्षणशास्त्र या सामुद्रिकशास्त्र कहते हैं। शुभाशुभ फल बताने वाले लक्षण सभी जीवों में विद्यमान हैं।

स्वप्नशास्त्र—स्वप्न के शुभाशुभ फल की सूचना देने वाला शास्त्र।

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २९४-२९५
२. (क) कुल्माषा: राजमाषा: (राजमाह)—बृ. वृत्ति, पत्र २९५, सुखबोधा, पत्र १२९
(ख) A Sanskrit English Dictionary, P. 296
(ग) विनयपिटक ४।१७६, विसुद्धिमग्गो १।११, पृ. ३०५
(घ) पुलाक, वुक्कस, मंथु आदि सब प्रान्त भोजन के ही प्रकार हैं—'अतिरूक्षतया चास्य प्रान्तत्वम्'
—बृहद्वृत्ति, पत्र २९५

अंगविद्या—शरीर के अवयवों के स्फुरण (फड़कने) से शुभाशुभ वताने वाला शास्त्र। चूर्णिकार ने अंगविद्या का अर्थ—आरोग्यशास्त्र कहा है।[1]

समाहिजोएहिं : समाधियोगों से—(१) समाधि—चित्तस्वस्थता, तत्प्रधान योग—मन-वचन-कायव्यापार—समाधियोग; (२) समाधि—शुभ चित्त की एकाग्रता, योग—प्रतिलेखना आदि प्रवृत्तियाँ—समाधियोग।[2]

कामभोगरसा—दो अर्थ—(१) तथाविध कामभोगों में अत्यन्त आसक्ति वाले, (२) कामभोगों एवं रसों—(शृंगारादि या मधुर, तिक्त आदि रसों) में गृद्ध।[3]

आसुरे काए : दो अर्थ—(१) असुरदेवों के निकाय में, (२) अथवा रौद्र तिर्यक्योनि में।[4]

बोही—बोधि—(१) बोधि का अर्थ है—परलोक में—अगले जन्म में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रात्मक जिनधर्म की प्राप्ति, (२) त्रिविधिबोधि—ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चारित्रबोधि।[5]

दुष्पूर लोभवृत्ति का स्वरूप और त्याग की प्रेरणा

१६. कसिणं पि जो इमं लोयं पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से इइ दुप्पूरए इमे आया॥

[१६] यदि धन-धान्य से पूर्ण यह समग्र लोक भी किसी (एक) को दे दिया जाए, तो भी वह उससे सन्तुष्ट नहीं होगा। इतनी दुष्पूर है यह (लोभाभिभूत) आत्मा!

१७. जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमास-कयं कज्जं कोडीए वि न निट्ठियं॥

[१७] जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ वढ़ता है। दो माशा सोने से निष्पन्न होने वाला कार्य करोड़ों (स्वर्ण-मुद्राओं) से भी पूरा नहीं हुआ।

विवेचन—कपिलकेवली का प्रत्यक्ष पूर्वानुभव—इन दो गाथाओं में वर्णित है।[6]

न संतुस्से—धन-धान्यादि से परिपूर्ण समग्र लोक के दाता से भी लोभवृत्ति संतुष्ट नहीं

---

१. (क) 'लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं, सामुद्रवत्।' उत्त. चूर्णि, पृ. १७५
(ख) लक्षणं च शुभाशुभसूचकं पुरुषलक्षणादि, रूढितः तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि लक्षणं।
—बृहद्वृत्ति, पत्र २९५
(ग) वही, पत्र २९५ : 'अंगविद्यां च शिरःप्रभृत्यंगस्फुरणतः शुभाशुभसूचिकाम्।'
(घ) अंगविद्या नाम आरोग्यशास्त्रम्। —उत्त. चूर्णि, पृ. १७५

२. बृहद्वृत्ति, पत्र २९५ ३. बृहद्वृत्ति, पत्र २९६

४. (क) वही, पत्र २९६ (ख) चूर्णि, पृ. १७५-१७६

५. (क) बोधिः—प्रेत्य जिनधर्मावाप्तिः। —बृ. वृ., पत्र २९६ (ख) स्थानांग, स्थान ३।२।१५४

६. उत्तरा. निर्युक्ति, गा ८९ से ९२ तक

होती। अर्थात्—मुझे इतना देकर इसने परिपूर्णता कर दी, इस प्रकार की संतुष्टि उसे नहीं होती। कहा भी है— न वह्निस्तृणकाष्ठेषु, नदीभिर्वा महोदधिः।
न चैवात्मार्थसारेण, शक्यस्तर्पयितुं क्वचित् ॥

अग्नि तृण और काष्ठों से और समुद्र नदियों से तृप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा अर्थ—सर्वस्व दे देने से कभी तृप्त नहीं किया जा सकता।[1]

स्त्रियों के प्रति आसक्ति-त्याग का उपदेश

१८. नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा गंडवच्छासु ऽणेगचित्तासु।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता खेल्लन्ति जहा व दासेहिं ॥

[१८] जिनके वक्ष में गांठें (ग्रन्थियाँ) हैं, जो अनेक चित्त (कामनाओं) वाली हैं, जो पुरुष को प्रलोभन में फंसा कर खरीदे हुए दास की भांति उसे नचाती हैं, (वासना की दृष्टि से ऐसी) राक्षसी-स्वरूप (साधनाविघातक) स्त्रियों में आसक्त (गृद्ध) नहीं होना चाहिए।

१९. नारीसु नोवगिज्झेज्जा इत्थीविप्पजहे अणगारे।
धम्मं च पेसलं नच्चा तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं ॥

[१९] स्त्रियों को त्यागने वाला अनगार उन नारियों में आसक्त न हो। धर्म (साधुधर्म) को पेशल (—अत्यन्त कल्याणकारी-मनोज्ञ) जान कर भिक्षु उसी में अपनी आत्मा को स्थापित (संलग्न) कर दे।

विवेचन—'नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा'—यहाँ राक्षसी शब्द लाक्षणिक है, वह कामासक्ति या उत्कट वासना का अभिव्यञ्जक है। जिस प्रकार राक्षसी सारा रक्त पी जाती है और जीवन का सत्त्व चूस लेती है, वैसे ही स्त्रियां भी कामासक्त पुरुष के ज्ञानादि गुणों तथा संयमी जीवन एवं धर्म-धन का सर्वनाश कर डालती हैं। स्त्री पुरुष के लिए कामोत्तेजना में निमित्त बनती है। इस दृष्टि से उसे राक्षसी कहा गया है। वैसे ही स्त्री के लिए पुरुष भी वासना के उद्दीपन में निमित्त बनता है, इस दृष्टि से उसे भी राक्षस कहा जा सकता है।[2]

गंड-वच्छासु—गंड अर्थात् गाँठ या फोड़ा—गुमड़ा। स्त्रियों के वक्षस्थल में स्थित स्तन मांस की ग्रन्थि या फोड़े के समान होते हैं, इसलिए उन्हें ऐसा कहा गया है।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २९६
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र २९७
(ख) वातोद्धूतो दहति हुतभुग् देहमेकं नराणाम्,
मत्तो नागः, कुपितभुजगश्चैकदेहं तथैव।
ज्ञानं शीलं विनय-विभवौदार्य-विज्ञान-देहान्,
सर्वानर्थान् दहति वनिताऽऽमुष्मिकानैहिकांश्च ॥
अर्थात्—हवा के झौंके से उड़ती हुई अग्नि मनुष्यों के एक शरीर को जलाती है, मतवाला हाथी और क्रुद्ध सर्प एक ही देह को नष्ट करता है, किन्तु कामिनी ज्ञान, शील, विनय, वैभव, औदार्य, विज्ञान और शरीर आदि सभी इहलौकिक—पारलौकिक पदार्थों को जला (नष्ट कर) देती है। —हारीतस्मृति

उपसंहार

२०. इइ एस धम्मे अक्खाए कविलेणं च विसुद्धपन्नेणं।
तरिहिन्ति जे उ काहिन्ति तेहिं आराहिया दुवे लोगा ॥
—त्ति बेमि।

[२०] इस प्रकार विशुद्ध प्रज्ञा वाले कपिल (केवली-मुनिवर) ने इस (साधु) धर्म का प्रतिपादन किया है। जो इसकी सम्यक् आराधना करेंगे, वे संसारसागर को पार करेंगे और उनके द्वारा दोनों ही लोक आराधित होंगे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—आराहिया=आराधित किये, सफल कर लिये।[१]

॥ कापिलीय : अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

□□

१. बृहद्वृत्ति, पत्र २९७

नमिप्रव्रज्या : नवम अध्ययन

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत नौवें अध्ययन का नाम 'नमिप्रव्रज्या' है। मिथिला के राजर्षि नमि जब विरक्त एवं संबुद्ध होकर दीक्षा ग्रहण करने लगे, तब देवेन्द्र ने ब्राह्मणवेष में आकर उनके त्याग, वैराग्य, निःस्पृहता आदि की परीक्षा ली। इन्द्र ने लोकजीवन की नीतियों से सम्बन्धित अनेक प्रश्न प्रस्तुत किये। राजर्षि नमि ने प्रत्येक प्रश्न का समाधान अन्तस्तल की गहराई में पैठ कर श्रमणसंस्कृति और आध्यात्मिक सिद्धान्त की दृष्टि से किया। इन्हीं प्रश्नोत्तरों का वर्णन प्रस्तुत अध्ययन में अंकित किया गया है।

* प्रतिबुद्ध होने पर ही मुनि बना जाता है। प्रतिबुद्ध तीन प्रकार से होते हैं—(१) स्वयंबुद्ध (किसी के उपदेश के बिना स्वयं बोधि प्राप्त), (२) प्रत्येकबुद्ध (किसी बाह्य घटना के निमित्त से प्रतिबुद्ध) और (३) बुद्ध-बोधित (बोधिप्राप्त व्यक्तियों के उपदेश से प्रतिबुद्ध)। प्रस्तुत शास्त्र के ८ वें अध्ययन में स्वयम्बुद्ध कपिल का, नौवें अध्ययन में प्रत्येकबुद्ध नमि का और अठारहवें अध्ययन में बुद्ध-बोधित संजय का वर्णन है।[1]

* इस अध्ययन का सम्बन्ध प्रत्येकबुद्ध मुनि से है। यों तो चार प्रत्येकबुद्ध समकालीन हुए हैं—(१) करकण्डु, (२) द्विमुख, (३) नमि और (४) नग्गति। ये चारों प्रत्येकबुद्ध पुष्पोत्तर विमान से एक साथ च्युत होकर मनुष्यलोक में आए। चारों ने एक साथ दीक्षा ली, एक ही समय में प्रत्येकबुद्ध हुए, एक ही समय में केवली और सिद्ध हुए। करकण्डु कलिंग का, द्विमुख पंचाल का, नमि विदेह का और नग्गति गन्धार का राजा था। चारों के प्रत्येकबुद्ध होने में क्रमशः वृद्ध बैल, इन्द्रध्वज, एक कंकण की निःशब्दता और मंजरीरहित आम्रतरु, ये चारों घटनाएँ निमित्त बनीं।[2]

* नमि राजर्षि के प्रत्येकबुद्ध होकर प्रव्रज्याग्रहण करने की घटना इस प्रकार है—

मालव देश के सुदर्शनपुर का राजा मणिरथ था। उसका छोटा भाई, युवराज युगबाहु था। मदनरेखा युगबाहु की पत्नी थी। मदनरेखा के रूप में आसक्त मणिरथ ने छल से अपने छोटे भाई की हत्या कर दी। गर्भवती मदनरेखा ने एक वन में एक पुत्र को जन्म दिया। उस शिशु को मिथिलानृप पद्मरथ मिथिला ले आया। उसका नाम रखा—नमि। यही नमि आगे चल

---

१. नन्दीसूत्र ३०

२. (क) अभिधान राजेन्द्र कोष, भा. ४ 'णमि' शब्द, पृ. १८१०

(ख) उत्तराध्ययन प्रियदर्शिनी टीका, भा. २, पृ. ३३० से ३६० तक

(ग) पुप्फुत्तराओ चवणं पव्वज्जा होइ एगसमएणं।
पत्तेयबुद्ध-केवलिं-सिद्धिगया एगसमएणं॥ —उत्त. निर्युक्ति, गा. २७०

कर पद्मरथ के मुनि बन जाने पर विदेह राज्य का राजा बना। विदेहराज्य में दो नमि हुए हैं, दोनों अपना-अपना राज्य त्याग करके अनगार बने थे। एक इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ हुए, और दूसरे प्रत्येकबुद्ध नमि राजर्षि।[1]

एक बार नमि राजा के शरीर में दुःसह दाहज्वर उत्पन्न हुआ। घोर पीड़ा रही। छह महीने तक उपचार चला। लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। एक वैद्य ने चन्दन का लेप शरीर पर लगाने के लिए कहा। रानियाँ चन्दन घिसने लगीं। चन्दन घिसते समय हाथों में पहने हुए कंकणों के परस्पर टकराने से आवाज हुई। वेदना से व्याकुल नमिराज कंकणों की आवाज सह नहीं सके। रानियों ने जाना तो सौभाग्यचिह्नस्वरूप एक-एक कंकण रख कर शेष सभी उतार दिये। अब आवाज बन्द हो गई। अकेला कंकण कैसे आवाज करता?

राजा ने मन्त्री से पूछा—'कंकण की आवाज क्यों नहीं सुनाई दे रही है?'

मन्त्री ने कहा—'स्वामिन्! आपको कंकणों के टकराने से होने वाली ध्वनि अप्रिय लग रही थी, अतः रानियों ने सिर्फ एक-एक कंकण हाथ में रख कर शेष सभी उतार दिये हैं।'

राजा को इस घटना से नया प्रकाश मिला। इस घटना से राजा प्रतिबुद्ध हो गया। सोचा—जहाँ अनेक हैं, वहाँ संघर्ष, दुःख पीड़ा और रागादि दोष हैं; जहाँ एक है, वहीं सच्ची सुख-शान्ति है। जहाँ शरीर, इन्द्रियाँ, मन और इससे आगे धन, परिवार, राज्य आदि परभावों की बेतुकी भीड़ है, वहीं दुःख है। जहाँ केवल एकत्वभाव है, आत्मभाव है, वहाँ दुःख नहीं है। अतः जब तक मैं मोहवश स्त्रियों, खजानों, महल तथा गज-अश्वादि से एवं राजकीय भोगों से संबद्ध हूँ, तब तक मैं दुःखित हूँ। इन सब को छोड़ कर एकाकी होने पर ही सुखी हो सकूँगा। इस प्रकार राजा के मन में विवेकमूलक वैराग्यभाव जागा। उसने सर्व-संग परित्याग करके एकाकी होकर प्रव्रजित होने का दृढ़ संकल्प किया। दीक्षा ग्रहण करने की इस भावना से नमि राजा को गाढ़ निद्रा आई। उनका दाहज्वर शान्त हो गया। रात्रि में श्वेतगजारूढ़ होकर मेरुपर्वत पर चढ़ने का विशिष्ट स्वप्न देखा, जिस पर ऊहापोह करते-करते जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हो गया। राजा ने जान लिया कि मैं पूर्वभव में शुद्ध संयम पालन के कारण उत्कृष्ट १७ सागरोपम वाले देवलोक में उत्पन्न हुआ, इस जन्म में राजा बना। अतः राजा ने पुत्र को राज्य सौंपा और सर्वोत्कृष्ट मुनिधर्म में दीक्षित होने के लिए सब कुछ ज्यों का त्यों छोड़ कर नगर से बाहर चले गए।

अकस्मात् नमि राजा को यों राज्य-त्याग कर प्रव्रजित होने के समाचार स्वर्ग के देवों ने जाने तो वे विचार करने लगे—यह त्याग क्षणिक आवेश है या वास्तविक वैराग्यपूर्ण है? अतः उनकी प्रव्रज्या की परीक्षा लेने के लिए स्वयं देवेन्द्र ब्राह्मण का वेश बना कर नमि राजर्षि के पास आया और क्षात्रधर्म की याद दिलाते हुए लोकजीवन से सम्बन्धित १० प्रश्न उपस्थित किये, जिनका समाधान उन्होंने एकत्वभावना और आध्यात्मिक दृष्टि से कर दिया। वे प्रश्न संक्षेप में इस प्रकार थे—

---

१. दुन्निवि नमी विदेहा, रज्जाइं पयहिऊण पव्वइया।
एगो नमि तित्थयरो, एगो पत्तेयबुद्धो य॥ —उत्त. निर्युक्ति, गा. २६७

(१) मिथिलानगरी में सर्वत्र कोलाहल हो रहा है। आप दयालु हैं, इसे शान्त करके फिर दीक्षा लें।

(२) आपका अन्तःपुर, महल आदि जल रहे हैं, इनकी ओर उपेक्षा करके दीक्षा लेना अनुचित है।

(३) पहले आप कोट, किले, खाई, अट्टालिका, शस्त्रास्त्र आदि बना कर नगर को सुरक्षित करके फिर दीक्षा लें।

(४) अपने और वंशजों के आश्रय के लिए पहले प्रासादादि बनवा कर फिर दीक्षा लें।

(५) तस्कर आदि प्रजापीड़कों का निग्रह करके, नगर में शान्ति स्थापित करके फिर दीक्षा लेना हितावह है।

(६) उद्धत शासकों को पराजित एवं वशीभूत करके फिर दीक्षा ग्रहण करें।

(७) यज्ञ, विप्रभोज, दान एवं भोग, इन प्राणिप्रीतिकारक कार्यों को करके फिर दीक्षा लेना चाहिए।

(८) घोराश्रम (गृहस्थाश्रम) को छोड़ कर संन्यास ग्रहण करना उचित नहीं है। यहीं रह कर पौषधव्रतादि का पालन करो।

(९) चाँदी, सोना, मणि, मुक्ता, कांस्य, दूष्य-वस्त्र, वाहन, कोश आदि में वृद्धि करके निराकांक्ष होकर तत्पश्चात् प्रव्रजित होना।

(१०) प्रत्यक्ष प्राप्त भोगों को छोड़ कर अप्राप्त भोगों की इच्छा की पूर्ति के लिए प्रव्रज्याग्रहण करना अनुचित है।

* राजर्षि नमि के सभी उत्तर आध्यात्मिक स्तर के एवं श्रमणसंस्कृति-अनुलक्षी हैं। सारे विश्व को अपना कुटुम्बी—आत्मसम समझने वाले नमि राजर्षि ने प्रथम प्रश्न का मार्मिक उत्तर वृक्षाश्रयी पक्षियों के रूपक से दिया है। ये सब अपने संकुचित स्वार्थवश आक्रन्दन कर रहे हैं। मैं तो विश्व के सभी प्राणियों के आक्रन्द को मिटाने के लिए दीक्षित हो रहा हूँ। दूसरे प्रश्न का उत्तर उन्होंने आत्मैकत्वभाव की दृष्टि से दिया है कि मिथिला या कोई भी वस्तु, शरीर आदि भी जलता हो तो इसमें मेरा कुछ भी नहीं जलता। इसी प्रकार उन्होंने कहा—राज्यरक्षा, राज्यविस्तार, उद्धत नृपों, चोर आदि प्रजापीड़कों के दमन की अपेक्षा अन्तःशत्रुओं से युद्ध करके विजेता बने हुए मुनि द्वारा अन्तर्‌राज्य की रक्षा करना सर्वोत्तम है, मुक्तिप्रदायक है। अशाश्वत घर बनाने की अपेक्षा शाश्वत गृह बनाना ही महत्त्वपूर्ण है। आत्मगुणों में बाधक शत्रुओं से सुरक्षा के लिए आत्मदमन करके आत्मविजयी बनाना ही आत्मार्थी के लिए श्रेयस्कर है। सावद्य यज्ञ और दान, भोग आदि की अपेक्षा सर्वविरति संयम श्रेष्ठ है; गृहस्थाश्रम में देश-विरति या नीतिन्याय-पालक रह कर साधना करने की अपेक्षा संन्यास-आश्रम में रह कर सर्व-विरति संयम, समत्व एवं रत्नत्रय की साधना करना श्रेष्ठ है। क्योंकि वही सु-आख्यात धर्म है। स्वर्णादि का भण्डार बढ़ा कर आकांक्षापूर्ति की आशा रखना व्यर्थ हैं, इच्छाएँ अनन्त हैं, उनकी पूर्ति होना असम्भव है, अतः निराकांक्ष, निस्पृह बनना ही श्रेष्ठ है। कामभोग प्राप्त हों,

चाहे अप्राप्त, दोनों की अभिलाषा दुर्गति में ले जाने वाली है, अतः कामभोगों की इच्छाएँ तथा तज्जनित कषायों का त्याग करना ही मुमुक्षु के लिए हितकर है।

नमि राजर्षि के उत्तर सुन कर देवेन्द्र अत्यन्त प्रभावित होकर परम श्रद्धाभक्तिवश स्तुति, प्रशंसा एवं वन्दना करके अपने स्थान को लौट जाता है।[1] □

---

१. (क) उत्तरा. मूलपाठ, अ. ९, गा. ७ से ६० तक (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ३६१ से ३६४

नवमं अज्झयणं : नवम अध्ययन

नमिपव्वज्जा : नमिप्रव्रज्या

नमिराज : जन्म से अभिनिष्क्रमण तक

१. चइऊण देवलोगाओ उववन्नो माणुसंमि लोगंमि ।
उवसन्त—मोहणिज्जो सरई पोराणियं जाइं ॥

[१] (महाशुक्र नामक) देवलोक से च्युत होकर नमिराज का जीव मनुष्यलोक में उत्पन्न हुआ । उसका मोह उपशान्त हुआ, जिससे पूर्व जन्म (जाति) का उसे स्मरण हुआ ।

२. जाइं सरित्तु भयवं सहसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे ।
पुत्तं ठवेत्तु रज्जे अभिणिक्खमई नमी राया ॥

[२] भगवान् नमि पूर्वजन्म का स्मरण करके अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) (चारित्र-) धर्म (के पालन) के लिए स्वयं सम्बुद्ध बने । अपने पुत्र को राज्य पर स्थापित कर नमि राजा ने अभिनिष्क्रमण किया (प्रव्रज्या ग्रहण की) ।

३. से देवलोग—सरिसे अन्तेउरवरगओ वरे भोए ।
भुंजित्तु नमी राया बुद्धो भोगे परिच्चयई ॥

[३] (अभिनिष्क्रमण से पूर्व) नमि राजा श्रेष्ठ अन्तःपुर में रह कर देवलोक के भोगों के सदृश उत्तम भोगों को भोग कर (स्वयं) प्रबुद्ध हुए और उन्होंने भोगों का परित्याग किया ।

४. मिहिलं सपुरजणवयं बलमोरोहं च परियणं सव्वं ।
चिच्चा अभिनिक्खन्तो एगन्तमहिट्ठिओ भयवं ॥

[४] भगवान् नमि ने पुर और जनपद सहित अपनी राजधानी मिथिला, सेना, अन्तःपुर (रनिवास) और समस्त परिजनों को छोड़ कर अभिनिष्क्रमण किया और एकान्त का आश्रय लिया ।

५. कोलाहलगभूयं आसी मिहिलाए पव्वयन्तंमि ।
तइया रायरिसिंमि नमिंमि अभिणिक्खमन्तंमि ॥

[५] नमि राजर्षि जिस समय अभिनिष्क्रमण करके प्रव्रजित हो रहे थे, उस समय मिथिला नगरी में (सर्वत्र) कोलाहल-सा होने लगा ।

विवेचन—सरइ पोराणियं जाइं—पुराण जाति—आत्मवाद की दृष्टि से जन्म की परम्परा अनादि है, इसलिए इसे पुराणजाति कहा है, अर्थात् पूर्वजन्म की स्मृति। इसे जातिस्मरणज्ञान कहते हैं, जो मतिज्ञान का एक भेद (रूप) है। इसके द्वारा पूर्ववर्ती संख्यात जन्मों तक का स्मरण हो सकता है।[1]

भयवं : भगवान् : अनेक अर्थ—भग शब्द के अनेक अर्थ हैं, यथा—

> **ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः।**
> **धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥**

अर्थात् समग्र ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, धर्म और प्रयत्न, ये छह 'भग' कहलाते हैं। 'भग' से जो सम्पन्न हो वह भगवान् है।

अन्यत्र अन्य अर्थ भी बतलाए गए हैं—

धैर्य, सौभाग्य, माहात्म्य, यश, सूर्य, श्रुत, बुद्धि, लक्ष्मी, तप, अर्थ, योनि, पुण्य, ईश, प्रयत्न और तनु। प्रस्तुत प्रसंग में 'भग' शब्द का अर्थ—बुद्धि, धैर्य या ज्ञान है। भगवान् का अर्थ है—बुद्धिमान्, धैर्यवान् या अतिशय ज्ञानवान्।[2]

अभिणिक्खमई—अभिनिष्क्रमण किया—घर से प्रव्रज्या के लिए निकला, दीक्षाग्रहण की।[3]

एगंतमहिट्ठिओ—एकान्त शब्द के चार अर्थ—(१) मोक्ष—जहाँ कर्मों का अन्त हो कर जीव एक—अद्वितीय रहता हो, ऐसा स्थान मोक्ष ही है। (२) मोक्ष के उपायभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी एकान्त—एकमात्र अन्त—उपाय हैं। इनकी आराधना से जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है। (३) एकान्त—द्रव्य से निर्जन उद्यान, श्मशानादि स्थान हैं। (४) भाव से एकान्त का अर्थ—मैं अकेला हूँ, मैं किसी का नहीं हूँ, न मेरा कोई है, जिस-जिस पदार्थ को मैं अपना देखता हूँ, वह मेरा नहीं, दिखाई देता; इस भावना से मैं अकेला ही हूँ, ऐसा निश्चय एकान्त है। एकान्त को अधिष्ठित—आश्रित।[4]

अभिणिक्खमन्तंमि—अभिनिष्क्रमण करने पर अर्थात् द्रव्य से—घर से निकलने पर, भावतः अन्तःकरण से कषायादि के निकाल देने पर।[5]

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३०६ (ख) 'जातिस्मरणं तत्त्वाभिनिबोधविशेषः' —आचारांग १।१।४
(ग) जातिस्मरणं तु नियमतः संख्येयान्।

२. भगशब्दो यद्यपि धैर्यादिष्वनेकार्थेषु वर्तते, यदुक्तम्—
'धैर्य-सौभाग्य-माहात्म्य—यशोऽर्कश्रुत-धी-श्रियः।
तपोऽर्थोऽपस्य-पुण्येश-प्रयत्न-तनवो भगाः ॥' —बृ. वृ., पत्र ३०७

३. अभिनिष्क्रमति—धर्माभिमुख्येन गृहस्थपर्यायान्निर्गच्छति —बृ. वृ, पत्र ३०७

४. एगंतत्ति—एकोऽद्वितीयः कर्मणामन्तो यस्मिन्निति एकान्तः। तत एकान्तो मोक्षः, तदुपाय—सम्यग्दर्शनाद्या-सेवनात्…… इहैव जीवन्मुक्त्यवाप्तेः। यद्वा एकान्तं द्रव्यतो विजनमुद्यानादि। भावतश्च—एकोऽहं न मे कश्चिद् नाहमन्यस्य कस्यचित्। तं तं पश्यामि यस्याऽहं नाऽसौ दृश्योऽस्ति यो मम ॥ —बृहद्वृत्ति, पत्र ३०७.

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०७.

प्रथम प्रश्नोत्तर : मिथिला में कोलाहल का कारण

६. अब्भुट्ठियं रायरिसिं पव्वज्जा—ठाणमुत्तमं ।
सक्को माहणरूवेण इमं वयणमब्बवी—।।

[६] सर्वोत्कृष्ट प्रव्रज्यारूप स्थान (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणों की स्थानभूत प्रव्रज्या) के लिए अभ्युत्थित हुए राजर्षि नमि को ब्राह्मण के रूप में आए हुए शक्र (देवेन्द्र) ने यह वचन कहा—

७. 'किण्णु भो ! अज्ज मिहिलाए कोलाहलग—संकुला ।
सुव्वन्ति दारुणा सद्दा पासाएसु गिहेसु य ?'

[७] हे राजर्षि ! मिथिला नगरी में, महलों और घरों में कोलाहल (विलाप एवं क्रन्दन) से व्याप्त दारुण (हृदय-विदारक) शब्द क्यों सुने जा रहे हैं ?

८. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी—।।

[८] (देवेन्द्र के) इस प्रश्न को सुन कर हेतु और कारण से सम्प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से यह (वचन) कहा—

९. 'मिहिलाए चेइए वच्छे सीयच्छाए मणोरमे ।
पत्त—पुप्फ—फलोवेए बहूणं बहुगुणे सया—।।

१०. वाएण हीरमाणंमि चेइयंमि मणोरमे ।
दुहिया असरणा अत्ता एए कन्दन्ति भो ! खगा ।।'

[९-१०] मिथिला नगरी में एक उद्यान (चैत्य) था; (उस में) ठंडी छाया वाला, मनोरम, पत्तों, फूलों और फलों से युक्त बहुत-से पक्षियों का सदैव अत्यन्त उपकारी (बहुगुणसम्पन्न) एक वृक्ष था।

प्रचण्ड आँधी से (आज) उस मनोरम वृक्ष के हट जाने पर, हे ब्राह्मण ! ये दुःखित, अशरण और पीड़ित पक्षी आक्रन्दन कर रहे हैं ।

विवेचन—सक्को माहणरूवेण : आशय—इन्द्र ब्राह्मण के वेष में क्यों आया ? इसका कारण बृहद्वृत्तिकार बताते हैं कि राज्य करते हुए भी ऋषि के समान नमि राजर्षि राज्यऋद्धि छोड़ कर भागवती दीक्षा ग्रहण करने के लिए उद्यत थे। उस समय उनकी त्यागवृत्ति की परीक्षा करने के लिए स्वयं इन्द्र ब्राह्मण के वेष में दीक्षास्थल पर आया और उनसे तत्सम्बन्धित कुछ प्रश्न पूछे ।[1]

पासाएसु गिहेसु : प्रासाद और गृह में अन्तर—सात या इससे अधिक मंजिल वाला मकान प्रासाद या महल कहलाता है, जबकि साधारण मकान को गृह—घर कहते हैं ।[2]

हेउकारण—चोइओ—साध्य के विना जो न हो, उसे हेतु कहते हैं और जो कार्य से अव्यवहित पूर्ववर्ती हो, उसे कारण कहते हैं। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति कदापि संभव नहीं है।

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०८ २. वही, पत्र ३०८

यही हेतु और कारण में अन्तर है। इन्द्रोक्त वाक्य में हेतु इस प्रकार है—आपका यह अभिनिष्क्रमण अनुचित है, क्योंकि इससे समस्त नगरी में आक्रन्द, विलाप एवं दारुण कोलाहल हो रहा है। कारण इस प्रकार है—यदि आप अभिनिष्क्रमण न करते तो इतना हृदयविदारक कोलाहल न होता। इस हृदयविदारक कोलाहल का कारण आपका अभिनिष्क्रमण है। इस हेतु और कारण से प्रेरित।[1]

चेइए वच्छे—यहाँ चैत्य और वृक्ष, दो शब्द हैं। चैत्य का प्रसंगवश अर्थ है—उद्यान, जो चित्त का आह्लादक है। उसी चैत्य (उद्यान) का एक वृक्ष।

बहूणं बहुगुणे : व्याख्या—बहुतों का—प्रसंगवश बहुत-से पक्षियों का। बहुगुण—जिससे बहुत गुण—फलादि के कारण प्रचुर उपकार हो, वह; अर्थात् अत्यन्त उपकारक।[2]

प्रस्तुत उत्तर : उपमात्मक शब्दों में—यहाँ नमि राजर्षि ने मिथिला नगरी स्थित चैत्य—उद्यान से राजभवन को, स्वयं को मनोरम वृक्ष से तथा उस वृक्ष पर आश्रय पाने वाले पुरजन-परिजनों को पक्षियों से उपमित किया है। वृक्ष के उखड़ जाने पर जैसे पक्षिगण हृदयविदारक क्रन्दन करते हैं, वैसे ही ये पुरजन-परिजन आक्रन्द कर रहे हैं।[3]

नमि राजर्षि के उत्तर का हार्द—आक्रन्द आदि दारुण शब्दों का कारण मेरा अभिनिष्क्रमण नहीं है, इसलिए यह हेतु असिद्ध है। पौरजन-स्वजनों के आक्रन्दादि दारुण शब्दों का हेतु तो और ही है, वह है स्व-स्व-प्रयोजन (स्वार्थ) का विनाश। कहा भी है—

> आत्मार्थं सीदमानं स्वजनपरिजनो रौति हाहा रवार्त्तो,
> भार्या चात्मोपभोगं गृहविभवसुखं स्वं वयस्याश्च कार्यम्।
> क्रन्दत्यन्योन्यमन्यस्त्विह हि बहुजनो लोकयात्रानिमित्तं,
> यश्चान्यस्तत्र किञ्चित् मृगयति हि गुणं रोदितीष्टः स तस्मै॥

अर्थात्—स्वजन-परिजन या पौरजन अपने स्वार्थ के नाश होने के कारण, पत्नी अपने विषयभोग, गृहवैभव के सुख और धन के लिए, मित्र अपने कार्य रूप स्वार्थ के लिए, बहुत-से लोग इस जगत् में लोकयात्रा (आजीविका) निमित्त परस्पर एक दूसरे के अभीष्ट स्वार्थ के लिए रोते हैं। जो जिससे किसी भी गुण-(लाभ या उपकार) की अपेक्षा रखता है, वह इष्टजन उसके विनाश के लिए ही रोता है। अतः मेरा यह अभिनिष्क्रमण, उनके क्रन्दन का हेतु कैसे हो सकता है! न ही मेरा यह अभिनिष्क्रमण, क्रन्दनादि कार्य का नियत पूर्ववर्ती कारण है। वस्तुतः अभिनिष्क्रमण (संयम) किसी के लिए भी पीड़ाजनक नहीं होता, क्योंकि वह षट्कायिक जीवों की रक्षा के हेतु होता है।[4]

---

१. (क) 'निश्चितान्यथाऽनुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः।' —प्रमाणनयतत्त्वालोक, सू. ११
(ख) 'कार्यादव्यवहितप्राक्क्षणवर्तित्वं कारणत्वम्।' —तर्कसंग्रह
(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ३०९

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्रांक ३०९ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ३७७

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३०९

४. (क) वही, पत्र ३०९ (ख) उत्त. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ३७९

द्वितीय प्रश्नोत्तर : जलते हुए अन्तःपुर-प्रेक्षण सम्बन्धी

११. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥

[११] देवेन्द्र ने (नमि राजर्षि के) इस अर्थ (बात) को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हो कर नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

१२. 'एस अग्गी य वाऊ य एयं डज्झइ मन्दिरं।
भयवं! अन्तेउरं तेणं कीस णं नावपेक्खसि?॥'

[१२] भगवन्! यह अग्नि है और यह वायु है। (इन दोनों से) आपका यह मन्दिर (महल) जल रहा है। अतः आप अपने अन्तःपुर (रनिवास) की ओर क्यों नहीं देखते? (अर्थात् जो वस्तु अपनी हो, उसकी रक्षा करनी चाहिए। यह अन्तःपुर आपका है, अतः इसकी रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है।)

१३. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण-चोइओ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी—॥

[१३] तत्पश्चात् देवेन्द्र की यह बात सुन कर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से यह कहा—

१४. 'सुहं वसामो जीवामो जेसिं मो नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे डज्झइ किंचण॥

[१४] जिनके पास अपना कुछ भी नहीं है, ऐसे हम लोग सुख से रहते हैं और जीते हैं। अतः मिथिला के जलने से मेरा कुछ भी नहीं जलता।

१५. चत्तपुत्तकलत्तस्स निव्वावारस्स भिक्खुणो।
पियं न विज्जई किंचि अप्पियं पि न विज्जए॥

[१५] पुत्र और पत्नी आदि का परित्याग किये हुए एवं गृह कृषि आदि सावद्य व्यापारों से मुक्त भिक्षु के लिए न कोई वस्तु प्रिय होती है और न कोई अप्रिय है।

१६. बहुं खु मुणिणो भद्दं अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स एगन्तमणुपस्सओ॥'

[१६] (बाह्य और आभ्यन्तर) सब प्रकार (के संयोगों या परिग्रहों) से विमुक्त एवं 'मैं सर्वथा अकेला ही हूँ,' इस प्रकार एकान्त (एकत्वभावना) के अनुप्रेक्षक अनगार (गृहत्यागी) मुनि को भिक्षु (भिक्षाजीवी) होते हुए भी बहुत ही आनन्द-मंगल (भद्र) है।

विवेचन—हेउकारण—चोइओ—इन्द्र के द्वारा प्रस्तुत हेतु और कारण—अपने राजभवन एवं अन्तःपुर की आपको रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि ये आपके हैं। जो-जो अपने होते हैं, वे रक्षणीय

होते हैं, जैसे—ज्ञानादि गुण। भवन एवं अन्तःपुर आपके हैं, इस कारण इनका रक्षण करना चाहिए। ये क्रमशः हेतु और कारण हैं।[1]

नमि राजर्षि के उत्तर का आशय—इस संसार में एक मेरे (आत्मा के) सिवाय और कोई भी वस्तु (स्त्री, पुत्र, अन्तःपुर, भवन, शरीर, धन आदि) मेरी नहीं है। यहाँ किसी प्राणी की कोई भी वस्तु नहीं है। मेरी जो वस्तु है, वह (आत्मा तथा आत्मा के ज्ञानादि निजगुण) मेरे पास है। जो अपनी होती है, उसी की रक्षा अग्नि-जलादि के उपद्रवों से की जाती है। जो अपनी नहीं होती, उसे मिथ्याज्ञानवश अपनी मान कर कौन अकिंचन, निर्व्यापार, गृहत्यागी भिक्षु दुःखी होगा? जैसे कि कहा है—

एकोऽहं न मे कश्चित् स्वः परो वापि विद्यते।
यदेको जायते जन्तुर्म्रियते चैक एव हि॥
एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुतो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥

अतः अन्तपुरादि पक्ष में स्वत्वरूप हेतु का सद्भाव न रहने से इन्द्रोक्त हेतु असिद्ध है और रक्षणीय होने से इनका त्याग न करने रूप कारण भी यथार्थ नहीं है। वस्तुतः अभिनिष्क्रमण के लिए ये सब संयोगजनित बन्धन त्याज्य हैं, परिग्रह नरक आदि अनर्थ का हेतु होने से मोक्षाभिलाषी द्वारा त्याज्य है।[2]

भद्दं—भद्र शब्द कल्याण और सुख तथा आनन्द-मंगल अर्थ में प्रयुक्त होता है।

पियं अप्पियं—प्रिय अप्रिय शब्द यहाँ इष्ट और अनिष्ट अर्थ में है। एक को इष्ट—प्रिय और दूसरे को अनिष्ट—अप्रिय मानने से राग-द्वेष होता है, जो दुःख का कारण है।[3]

तृतीय प्रश्नोत्तर : नगर को सुरक्षित एवं अजेय बनाने के सम्बन्ध में

१७. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥

[१७] इस बात को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने तब नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

१८. 'पागारं कारइत्ताणं गोपुरट्टालगाणि य।
उस्सूलग—सयग्घीओ तओ गच्छसि खत्तिया! ॥'

[१८] हे क्षत्रिय! पहले तुम प्राकार (– परकोटा), गोपुर (मुख्य दरवाजा), अट्टालिकाएँ, दुर्ग की खाई, शतघ्नियां (किले के द्वार पर चढ़ाई हुई तोपें) बनवा कर, फिर प्रव्रजित होना।

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१० (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ३८४

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१० (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ३८५-३८६

३. (क) 'भद्रं कल्याणं सुखं च।' (ख) प्रियमिष्टं, अप्रियमनिष्टम्।' —बृ. वृ., पत्र ३१०

१९. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी—॥

[१९] इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को यह कहा—

२०. 'सद्धं नगरं किच्चा तवसंवरमग्गलं ।
खन्ति निउणपागारं तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥

[२०] (जो मुनि) श्रद्धा को नगर, तप और संवर को अर्गला, क्षमा को (शत्रु से रक्षण में) निपुण (सुदृढ़) प्राकार (दुर्ग) को (बुर्ज, खाई और शतघ्नीरूप) त्रिगुप्ति (मन-वचन-काया की गुप्ति) से सुरक्षित एवं अपराजेय बना कर तथा—

२१. धणुं परक्कमं किच्चा जीवं च ईरियं सया ।
धिइं च केयणं किच्चा सच्चेण पलिमन्थए ।

[२१] (आत्मवीर्य के उल्लासरूप) पराक्रम को धनुष बनाकर, ईर्यासमिति (उपलक्षण से अन्य समितियों) को धनुष की प्रत्यंचा (डोर या जीवा) तथा धृति को उसकी मूठ (केतन) बना कर सत्य (स्नायुरूप मनःसत्यादि) से उसे बांधे;

२२. तवनारायजुत्तेण भेत्तूणं कम्मकंचुयं ।
मुणी विगयसंगामो भवाओ परिमुच्चए ॥'

[२२] तपरूपी बाणों से युक्त (पूर्वोक्त) धनुष से कर्मरूपी कवच को भेद कर (जीतने योग्य कर्मों को अन्तर्युद्ध में जीत कर) संग्राम से विरत मुनि भव से परिमुक्त हो जाता है ।

विवेचन—इन्द्र के प्रश्न में हेतु और कारण—आप क्षत्रिय होने से नगररक्षक हैं, भरत आदि के समान; यह हेतु है । नगररक्षा करने से ही आप में क्षत्रियत्व घटित हो सकता है, यह कारण है । प्रस्तुत गाथा में 'क्षत्रिय' सम्बोधन से हेतु उपलक्षित किया गया है । आशय यह है कि आप क्षत्रिय हैं, इसलिए पहले क्षत्रियधर्म (—नगररक्षारूप) का पालन किए बिना आपका प्रव्रजित होना अनुचित हैं ।[1]

नमि राजर्षि के उत्तर का आशय - मैंने आन्तरिक क्षत्रियत्व घटित कर दिया हैं, क्योंकि सच्चा क्षत्रिय षट्कायरक्षक एवं आत्मरक्षक होता है । कर्मरूपी शत्रुओं को पराजित करने के लिए वह आन्तरिक युद्ध छेड़ता है । उस आन्तरिक युद्ध में मुनि श्रद्धा को नगर बनाता है एवं तप, संवर, क्षमा, तीन गुप्ति, पाँच समिति, धृति, पराक्रम आदि विविध सुरक्षासाधनों के द्वारा आत्म-रक्षा करते हुए विजय प्राप्त करता है । अन्तर्युद्ध-विजेता मुनि संसार से सर्वथा विमुक्त हो जाता है ।[2]

सद्धं—समस्त गुणों के धारण करने वाली तत्त्वरुचिरूप श्रद्धा । **अग्गलं**—तप—बाह्य और आभ्यन्तर तप एवं आश्रवनिरोधरूप संवर मिथ्यात्वादि दोषों की निवारक होने से अर्गला है ।

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३११ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ३९४

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३११

खंति निउणपागारं—क्षमा,—उपलक्षण से मार्दव, आर्जव आदि सहित क्षमा, श्रद्धारूप नगर को ध्वस्त करने वाले अनन्तानुवन्धीकषाय की अवरोधक होने से—क्षान्ति को समर्थ सुदृढ कोट या परकोटा वना कर। **सयग्घी-शतघ्नी**—एक वार में सौ व्यक्तियों का संहार करने वाला यंत्र, तोप जैसा अस्त्र।[1]

चतुर्थ प्रश्नोत्तर : प्रासादादि-निर्माण कराने के सम्बन्ध में

२३. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी॥

[२३] देवेन्द्र ने इस वात को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

२४. 'पासाए कारइत्ताणं वद्धमाणगिहाणि य।
वालग्गपोइयाओ य तओ गच्छसि खत्तिया!॥'

[२४] हे क्षत्रिय! पहले आप प्रासाद (महल), वर्धमानगृह (वास्तुशास्त्र के अनुसार विविध वर्द्धमान घर) और वालाग्रपोतिकाएँ (—चन्द्रशालाएँ) वनवाकर, तदनन्तर जाना—अर्थात्—प्रव्रजित होना।

२५. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण-चोइओ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी॥

[२५] देवेन्द्र की वात को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

२६. 'संसयं खलु सो कुणई जो मग्गे कुणई घरं।
जत्थेव गन्तुमिच्छेज्जा तत्थ कुव्वेज्ज सासयं॥'

[२६] जो मार्ग में घर वनाता है, वह निश्चय ही संशयशील वना रहता है (पता नहीं, कब उसे छोड़ कर जाना पड़े)। अतएव जहाँ जाने की इच्छा हो, वहीं अपना शाश्वत घर वनाना चाहिए।

विवेचन—इन्द्र के द्वारा प्रस्तुत हेतु और कारण—अपने वंशजों के लिए आपको प्रासाद आदि वनवाने चाहिए, क्योंकि आप समर्थ और प्रेक्षावान् हैं; यह हेतु है और कारण है—प्रासाद आदि वनवाए विना सामर्थ्य के होते हुए भी आप में प्रेक्षावत्ता—सूक्ष्मवुद्धिमत्ता घटित नहीं होती। 'क्षत्रिय' शव्द से सामर्थ्य और प्रेक्षावत्ता उपलक्षित की है।[2]

नमि राजर्षि के उत्तर का आशय—जिस व्यक्ति को यह संदेह होता है कि मैं अपने अभीष्ट शाश्वत स्थान (मोक्ष) तक पहुँच सकूँगा या नहीं, वही मार्ग में—संसार में—अपना घर वनाता है। मुझे तो दृढ़ विश्वास है कि मैं वहाँ पहुँच जाऊँगा और वहीं पहुँचकर मैं अपना शाश्वत (स्थायी)

---

१. वृहद्वृत्ति, पत्र ३११
२. (क) वृहद्वृत्ति, पत्र ३११ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ४०८

घर बनाऊँगा। अतः समर्थता और प्रेक्षावत्ता में कहाँ क्षति है? क्योंकि मैं तो अपने घर बनाने की तैयारी में लगा हुआ हूँ और स्वाश्रयी शाश्वत गृह बनाने में प्रवृत्त हूँ! अतः प्रेक्षावान् हेतु वास्तव में सिद्धसाधन है। 'मोक्षस्थान ही मेरे लिए गन्तव्यस्थान है, क्योंकि वही शाश्वत सुखास्पद है' यह प्रतिज्ञा एवं हेतु वाक्य है। जो ऐसा नहीं होता वह स्थान मुमुक्षु के लिए गन्तव्य नहीं होता, जैसे नरकनिगोदादि स्थान; यह व्यतिरेक उदाहरण है।[1]

वद्धमाणगिहाणि—वर्द्धमानगृह—वास्तुशास्त्र में कथित अनेकविध गृह। मत्स्यपुराण के मतानुसार वर्द्धमानगृह वह है, जिसमें दक्षिण की ओर द्वार न हो। वाल्मीकि रामायण में भी ऐसा ही बताया गया है और उसे 'धनप्रद' कहा है।[2]

बालग्गपोइयाओ—बालाग्रपोतिका देशी शब्द है, अर्थ है—वलभी, अर्थात्—चन्द्रशाला, अथवा तालाब में निर्मित लघु प्रासाद।[3]

सासयं—दो रूप, दो अर्थ—(१) **स्वाश्रय**—स्व यानी आत्मा का आश्रय—घर, अथवा (२) **शाश्वत**—नित्य (प्रसंगानुसार) गृह।[4]

पंचम प्रश्नोत्तर : चोर-डाकुओं से नगररक्षा करने के सम्बन्ध में

२७. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण-चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥

[२७] (अनन्तरोक्त नमि राजर्षि के) इस वचन को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

२८. 'आमोसे लोमहारे य गंठिभेए य तक्करे।
नगरस्स खेमं काऊणं तओ गच्छसि खत्तिया!॥'

[२८] हे क्षत्रिय! पहले आप लुटेरों को, प्राणघातक डाकुओं, गांठ काटने वालों (गिरहकटों) और तस्करों (सदा चोरी करने वालों) का दमन करके, नगर का क्षेम (अमन-चैन) करके फिर (दीक्षा लेकर) जाना।

२९. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण-चोइओ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी—॥

[२९] इस पूर्वोक्त बात को सुन कर हेतु और कारणों से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को यों कहा—

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३११ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनी टीका, भा. २, पृ. ४०९
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३११ (ख) 'दक्षिणद्वारहीनं तु वर्धमानमुदाहृतम्,' —मत्स्यपुराण, पृ. २५४
(ग) 'दक्षिणद्वाररहितं वर्धमानं धनप्रदम्। —वाल्मीकि रामायण ५।८
३. (क) उत्त. चूर्णि, पृ. १८३ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१२
४. वही, पत्र ३१२

३०. 'असइं तु मणुस्सेहिं मिच्छादण्डो पजुंजई।
अकारिणोऽत्थ बज्झन्ति मुच्चई कारगो जणो ॥'

[३०] मनुष्यों के द्वारा अनेक वार मिथ्या दण्ड का प्रयोग (अपराधरहित जीवों पर भी अज्ञान या अहंकारवश दण्डविधान) कर दिया जाता है। (चौर्यादि अपराध) न करने वाले यहाँ बन्धन में डाले (वांधे) जाते हैं और वास्तविक अपराधकर्ता छूट जाते हैं।

विवेचन—इन्द्र-कथित हेतु और उदाहरण—'आप धर्मिष्ठ क्षत्रिय शासक होने से चोर आदि अधार्मिक व्यक्तियों का निग्रह करके नगर में शान्ति स्थापित करने वाले हैं। जो धार्मिक शासक होता है, वह अधार्मिकों का निग्रह करके नगर में शान्ति स्थापित करता है। जैसे भरतादि नृप, यह हेतु है। चोरादि अधार्मिक व्यक्तियों का निग्रह करके नगरक्षेम किये विना आपका शासकत्व एवं धार्मिकत्व घटित नहीं हो सकता, यह कारण है। अतः अधार्मिकों का निग्रह करके नगरक्षेम किये विना आपका दीक्षा लेना अनुचित है।[1]

नमि राजर्षि के उत्तर का तात्पर्य—हे विप्र! प्रजापीड़क जनों का दमन करके नगर में शान्ति स्थापित करने के वाद प्रव्रजित होने का आपका कथन एकान्ततः उपादेय नहीं है; क्योंकि वहुत वार वास्तविक अपराधी जाने नहीं जाते, इसलिए वे दण्डित होने से वच जाते हैं और निरपराध दण्डित किये जाते हैं। ऐसी स्थिति में निरपराधियों को जाने विना ही दण्ड दे देने वाले शासक में धार्मिकता कैसे घटित हो सकती है? अतः आपका हेतु असिद्ध है। आध्यात्मिक दृष्टि से नमि राजर्षि का तात्पर्य यह था कि ये इन्द्रियरूपी तस्कर ही मोक्षाभिलाषियों के द्वारा निग्रह—दमन—करने योग्य हैं, क्योंकि ये ही आत्मगुणरूपी सर्वस्व के अपहारक हैं। जो-जो सर्वस्व-अपहारक होते हैं, वे ही निग्रहणीय होते हैं, जैसे तस्कर आदि। इस प्रकार नमि राजर्षि द्वारा उक्त हेतु एवं कारण है।[2]

आमोषादि चारों के अर्थ—(१) **आमोष**—पंथमोषक—वटमार, मार्ग में लूटने वाला, सर्वस्व हरण करने वाला।

(२) **लोमहार**—मारकर सर्वस्व हरण करने वाला, डाकू, पीड़नमोषक—पीड़ा पहुँचा कर लूटने वाला।

(३) **ग्रन्थिभेदक**—द्रव्य सम्वन्धी गांठ कैंची आदि के द्वारा कुशलता से काट लेने वाला, या सुवर्णयौगिक या नकली सोना वना कर युक्ति से अथवा इसी तरह के दूसरे कौशल से लोगों को ठगने वाला।

(४) **तस्कर**—सदैव चोरी करने वाला।[3]

मिच्छादंडो पउंजई—अज्ञान, अहंकार और लोभ आदि कारणों से मनुष्य मिथ्यादण्ड का प्रयोग करता है, अर्थात्—वह निरपराध को देश-निष्कासन तथा शारीरिक निग्रह—यातना आदि दण्ड दे देता है।[4]

---

१. (क) वृहद्वृत्ति, पत्र ३१२ (ख) उत्त., प्रियदर्शिनी टीका, भा. २, पृ. ४१०

२. (क) वृहद्वृत्ति, पत्र ३१२ (ख) उत्त., प्रियदर्शिनी टीका, भा. २, पृ. ४१२-४१३

३. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १८३ (ख) वृहद्वृत्ति, पत्र ३१२

४. 'मिथ्या-व्यलीकः, किमुक्तं भवति ?—अनपराधिष्वज्ञानाहंकारादिहेतुभिरपराधिष्विव दण्डनं—दण्डः—देश-त्याग-शरीरनिग्रहादिः।' —वृहद्वृत्ति, पत्र ३१३

छठा प्रश्नोत्तर : उद्दण्ड राजाओं को वश में करने के सम्बन्ध में

३१. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी॥

[३१] इस (अनन्तरोक्त) अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि को इस प्रकार कहा—

३२. 'जे केइ पत्थिवा तुब्भं नाऽऽनमन्ति नराहिवा!
वसे ते ठावइत्ताणं तओ गच्छसि खत्तिया!॥'

[३२] हे नराधिपति! हे क्षत्रिय! कई राजा, जो आपके सामने नहीं झुकते (नमते—आज्ञा नहीं मानते), (पहले) उन्हें अपने वश में करके, फिर (प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए) जाना।

३३. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी—॥

[३३] (देवेन्द्र की) यह बात सुन कर, हेतु और कारण से प्रेरित नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को यों कहा—

३४. 'जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ॥'

[३४] जो दुर्जय (जहाँ विजयप्राप्ति दुष्कर हो, ऐसे) संग्राम में दस लाख सुभटों को जीतता है; (उसकी अपेक्षा जो) एक आत्मा को (विषय-कषायों में प्रवृत्त अपने आपको) जीत (वश में कर) लेता है, उस (आत्मजयी) की यह विजय ही उत्कृष्ट (परम) विजय है।

३५. अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ?
अप्पाणमेव अप्पाणं जइत्ता सुहमेहए—॥

[३५] अपने आपके साथ युद्ध करो, तुम्हें बाहरी युद्ध (राजाओं आदि के साथ युद्ध) करने से क्या लाभ?, (क्योंकि मुनि विषयकषायों में प्रवृत्त) आत्मा को आत्मा द्वारा जीत कर ही (शाश्वत स्ववश मोक्ष) सुख को प्राप्त करता है।

३६. पंचिन्दियाणि कोहं माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं सव्वं अप्पे जिए जियं॥

[३६] (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु एवं श्रोत्र, ये) पांच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया और लोभ तथा दुर्जय आत्मा—मन (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग से दूषित मन); ये सब एक (अकेले अपने) आत्मा को जीत लेने पर जीत लिये जाते हैं।

विवेचन—इन्द्र द्वारा कथित हेतु और कारण—आपको उद्दण्ड और नहीं झुकने वाले राजाओं को नमन कराना (झुकाना) चाहिए, क्योंकि आप सामर्थ्यवान् नराधिप क्षत्रिय हैं। जो सामर्थ्यवान् नराधिपति होते हैं, वे उद्दण्ड राजाओं को नमन कराने वाले होते हैं, जैसे भरत आदि नृप; यह हेतु है।

सामर्थ्य होने पर भी आप उद्दण्ड राजाओं को नहीं झुकाते, इसलिए आपमें नराधिपत्व एवं क्षत्रियत्व घटित नहीं हो सकता, यह कारण है। अतः राजाओं को जीते बिना आपका प्रव्रजित होना अनुचित है।[1]

नमि राजर्षि के उत्तर का आशय—बाह्य शत्रुओं को जीतने से क्या लाभ ? क्योंकि उससे सुख प्राप्ति नहीं हो सकती, पंचेन्द्रिय, क्रोधादिकषाय एवं दुर्जय मन आदि से युक्त दुःखहेतुक एक आत्मा को जीत लेने पर सभी जीत लिये जाते हैं, यह विजय ही शाश्वत सुख का कारण है। अतः मुमुक्षु आत्मा द्वारा शाश्वतसुखविघातक कषायादि युक्त आत्मा ही जीतने योग्य है। अतः मैं बाह्य-शत्रुओं पर विजय की उपेक्षा करके आत्मा को जीतने में प्रवृत्त हूँ।[2]

दुज्जयं चेव अप्पाणं—दो व्याख्याएँ—(१) दुर्जय आत्मा अर्थात् मन; जो अनेकविध अध्यवसाय-स्थानों में सतत गमन करता है, वह आत्मा—मन ही है। अथवा (२) आत्मा (जीव) ही दुर्जय है। इस आत्मा के जीत लेने पर सब बाह्य शत्रु जीत लिये जाते हैं।[3]

सप्तम प्रश्नोत्तर : यज्ञ, ब्राह्मणभोजन, दान और भोग करके दीक्षाग्रहण के सम्बन्ध में

३७. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण-चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥

[३७] (नमि राजर्षि की) इस उक्ति को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

३८. 'जइत्ता विउले जन्ने भोइत्ता समणमाहणे।
दच्चा भोच्चा य जिट्ठा य तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥

[३८] हे क्षत्रिय ! पहले (ब्राह्मणों द्वारा) विपुल यज्ञ करा कर, श्रमणों और ब्राह्मणों को भोजन करा कर तथा (ब्राह्मणादि को गौ, भूमि, स्वर्ण आदि का) दान देकर, (मनोज्ञ शब्दादि भोगों का) उपभोग कर एवं (स्वयं) यज्ञ करके फिर (दीक्षा के लिए) जाना।

३९. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी— ॥

[३९], इस (अनन्तरोक्त) अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से यह कहा—

४०. 'जो सहस्सं सहस्साणं मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ अदिन्तस्स वि किंचण ॥'

[४०] जो व्यक्ति प्रतिमास दस लाख गायों का दान करता है, उसका भी (कदाचित्

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१४ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ४१५
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१४ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ४१९-४२०
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१४ : (१) अतति सततं गच्छति तानि तान्यध्यवसायस्थानान्तराणीति व्युत्पत्तेरात्मा मनः, तच्च दुर्जयम् (२) अथवा चकारो हेत्वर्थः, यस्मादात्मैव जीव एव दुर्जयः। ततः सर्वमिन्द्रियाद्यात्मनि जिते जितम्।

चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम हो तो) संयम (ग्रहण करना) श्रेयस्कर-कल्याणकारक है, (भले ही) वह (उस अवस्था में) (किसी को) कुछ भी दान न देता हो।

विवेचन—देवेन्द्र-कथित हेतु और कारण—यज्ञ, दान आदि धर्मजनक हैं, क्योंकि ये प्राणियों के लिए प्रीतिकारक हैं। जो जो कार्य प्राणिप्रीतिकारक होते हैं, वे-वे धर्मजनक हैं, जैसे प्राणातिपात-विरमण आदि; यह हेतु है और यज्ञादि में प्राणिप्रीतिकरता धर्मजनकत्व के विना नहीं होती; यह कारण है। इन्द्र के कथन का आशय है कि आप जब तक यज्ञ नहीं करते-कराते, गो आदि का दान स्वयं नहीं देते-दिलाते तथा श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन नहीं कराते और स्वयं शब्दादि विषयों का उपभोग नहीं करते, तब तक आपका दीक्षित होना अनुचित है।[1]

राजर्षि द्वारा प्रदत्त उत्तर का आशय—ब्राह्मणवेषी इन्द्र ने राजर्षि के समक्ष ब्राह्मण-परम्परा में प्रचलित यज्ञ, ब्राह्मणभोजन, दान और भोग-सेवन, ये चार विषय प्रस्तुत किये थे, जबकि राजर्षि ने उनमें से केवल एक दान का उत्तर दिया है, शेष प्रश्नों के उत्तर उसी में समाविष्ट हैं। दस लाख गायों का दान प्रतिमास देने वाले की अपेक्षा किञ्चित् भी दान न देने वाले व्यक्ति का संयमपालन श्रेयस्कर है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्न-वस्त्रादि का दान पापजनक है या योग्य पात्र को इनका दान नहीं करना चाहिए, किन्तु इस शास्त्रवाक्य का अभिप्राय यह है कि योग्य पात्र को दान देना यद्यपि पुण्यजनक है, तथापि वह दान संयम के समान श्रेष्ठ नहीं है। संयम उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। क्योंकि दान से तो परिमित प्राणियों का ही उपकार होता है, किन्तु संयमपालन करने में सर्वसावद्य से विरति होने से उसमें षट्काय (समस्त प्राणियों) की रक्षा होती है। इस कथन से दान की पुण्यजनकता सिद्ध होती है, क्योंकि यदि दान पुण्यजनक न होता तो संयम उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, यह कथन असंगत हो जाता। तीर्थंकर भी दीक्षा लेने से पूर्व एक वर्ष तक लगातार दान देते हैं। तीर्थंकरों द्वारा प्रदत्त दान महापुण्यवर्द्धक है, मगर उसकी अपेक्षा भी अकिंचन बन कर संयमपालन करना अत्यन्त श्रेयस्कर है, यह बताना ही तीर्थंकरों के दान का रहस्य है।[2]

यज्ञ आदि प्रेय हैं, सावद्य हैं, क्योंकि उनमें पशुवध होता है, स्थावरजीवों की भी हिंसा होती है और भोग भी सावद्य ही हैं, इसलिए जो सावद्य है, वह प्राणिप्रीतिकारक नहीं होता, जैसे हिंसा आदि। यज्ञ आदि सावद्य होने से प्राणिप्रीतिकर नहीं हैं। नमि राजर्षि का आशय यह है कि दान-यज्ञादि से संयम श्रेयस्कर है, इसलिए दानादि अनुष्ठान किये बिना ही मेरे द्वारा संयमग्रहण करना अनुचित नहीं है।[3]

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१५ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ४२४

२. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ४२५-४२६

३. गोदानं चेह यागाद्युपलक्षणम्, अतिप्रभूतजनाचरितमित्युपात्तम्। एवं च संयमस्य प्रशस्यतरत्वमभिदधता यागादीनां सावद्यत्वमर्थादावेदितम्। तथा च यज्ञप्रणेतृभिरुक्तम्—

षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः॥

इयत्पशुवधे कथमसावद्यतानाम ?····भोगानां तु सावद्यत्वं सुप्रसिद्धम्। तथा च प्राणिप्रीतिकरत्वादित्यसिद्धो हेतुः—यत्सावद्यं, न तत्प्राणिप्रीतिकरम् यथा हिंसादि। सावद्यानि च यागादीनि। —बृहद्वृत्ति, पत्र ३१५

अष्टम प्रश्नोत्तर : गृहस्थाश्रम में ही धर्मसाधना के सम्बन्ध में

४१. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥

[४१] (राजर्षि के) इस वचन को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित होकर देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

४२. 'घोरासमं चइत्ताणं अन्नं पत्थेसि आसमं।
इहेव पोसहरओ भवाहि मणुयाहिवा!॥'

[४२] हे मानवाधिप! आप घोराश्रम अर्थात्—गृहस्थाश्रम का त्याग करके अन्य आश्रम (संन्यासाश्रम) को स्वीकार करना चाहते हो; (यह उचित नहीं है।) आप इस (गृहस्थाश्रम में) में ही रहते हुए पौषधव्रत में तत्पर रहें।

४३. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी—॥

[४३] (देवेन्द्र की) यह बात सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित नमिराजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४४. 'मासे मासे तु जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं॥'

[४४] जो बाल (अज्ञानी) साधक महीने-महीने का तप करता है और पारणा में कुश के अग्रभाग पर आए, उतना ही आहार करता है, वह सुआख्यात धर्म (सम्यक्चारित्ररूप मुनि-धर्म) की सोलहवीं कला को भी नहीं पा सकता।

विवेचन—घोराश्रम का अर्थ यहाँ गृहस्थाश्रम किया गया है। वैदिकदृष्टि से गृहस्थाश्रम को घोर अर्थात्—अल्प सत्त्वों के लिए अत्यन्त दुष्कर, दुरनुचर, कठिन इसलिए बताया गया है कि इसी आश्रम पर शेष तीन आश्रम आधारित हैं। ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम, इन तीनों आश्रमों का परिपालक एवं रक्षक गृहस्थाश्रम है। गृहस्थाश्रमी पर इन तीनों के परिपालन का दायित्व आता है, स्वयं अपने गार्हस्थ्य जीवन को चलाने और निभाने का दायित्व भी है तथा कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, न्याय, सुरक्षा आदि गृहस्थाश्रम की साधना अत्यन्त कष्ट-साध्य है, जबकि अन्य आश्रमों में न तो दूसरे आश्रमों के परिपालन की जिम्मेदारी है और न ही स्त्री-पुत्रादि के भरण-पोषण की चिन्ता है और न कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, न्याय, सुरक्षा आदि का दायित्व है। इस दृष्टि से अन्य आश्रम इतने कष्टसाध्य नहीं हैं। महाभारत में बताया गया है कि जैसे सभी जीव माता का आश्रय लेकर जीते हैं, वैसे ही गृहस्थाश्रम का आश्रय लेकर सभी जीते हैं। मनुस्मृति में भी गृहस्थाश्रम को ज्येष्ठाश्रम कहा गया है। चूर्णिकार ने इसी आशय को व्यक्त किया है कि

प्रव्रज्या का पालन करना तो सुखसाध्य है, किन्तु गृहस्थाश्रम का पालन दुःखसाध्य—कठिन है।[1]

देवेन्द्र-कथित हेतु और कारण—धर्मार्थी पुरुष को गृहस्थाश्रम का सेवन करना चाहिए, क्योंकि वह घोर है, अर्थात् संन्यास की अपेक्षा गृहस्थाश्रम घोर है, जैसे अनशनादि तप। उसे छोड़ कर संन्यासाश्रम में जाना उचित नहीं। यह हेतु और कारण है।[2]

राजर्षि के उत्तर का आशय—घोर होने मात्र से कोई कार्य श्रेष्ठ नहीं हो जाता। बालतप करने वाला तपस्वी पंचाग्नितप, कंटकशय्याशयन आदि घोर तप करता है, किन्तु वह सर्वसावद्य-विरति रूप मुनिधर्म (संयम) की तुलना में नहीं आता, यहाँ तक कि वह उसके सोलहवें हिस्से के बराबर भी नहीं है। अतः जो स्वाख्यातधर्म नहीं है, वह घोर हो तो भी धर्मार्थी के लिए अनुष्ठेय—आचरणीय नहीं है, जैसे आत्मवध आदि। वैसे ही गृहस्थाश्रम है, क्योंकि गृहस्थाश्रम का घोर रूप सावद्य होने से मेरे लिए हिंसादिवत् त्याज्य है। आशय यह है कि धर्मार्थी के लिए गृहस्थाश्रम घोर होने पर भी स्वाख्यातधर्म नहीं है, उसके लिए स्वाख्यातधर्म ही आचरणीय है, चाहे वह घोर हो या अघोर। इसलिए मैं गृहस्थाश्रम को जो छोड़ रहा हूँ, वह उचित ही है।[3]

'स्वाख्यातधर्म' का अर्थ—तीर्थंकर आदि के द्वारा सर्वसावद्यप्रवृत्तियों से विरति रूप होने से जिसे सर्वथा सुष्ठु—शोभन कहा गया (कथित) है। आशय यह है कि तीर्थंकरों द्वारा कथित सर्वविरतिचारित्ररूप धर्म स्वाख्यात है। इसका समग्ररूप से आचरण करने वाला स्वाख्यातधर्मा—सर्वविरतिचारित्रवान् मुनि होता है।[4]

'कुसग्गेण तु भुंजए' : दो रूप, दो अर्थ—(१) जो कुश की नोक पर टिके उतना ही खाता है, (२) कुश के अग्रभाग से ही खाता है, अंगुली आदि से उठा कर नहीं खाता। पहले का आशय एक बार खाना है, जबकि दूसरे का आशय अनेक बार खाना है।[5]

नवम प्रश्नोत्तर : हिरण्यादि तथा भण्डार की वृद्धि करने के सम्बन्ध में

४५. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥

[४५] (राजर्षि का) पूर्वोक्त कथन सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

---

१. (क) घोरः अत्यन्तं दुरनुचरः, स चासौ आश्रमश्च घोराश्रमो गार्हस्थ्यं, तस्यैवाल्पसत्त्वैर्दुष्करत्वात्। यत आहुः—'गृहस्थाश्रमसमो धर्मो, न भूतो, न भविष्यति। पालयन्ति नराः शूराः, क्लीवाः पाखण्डमाश्रिताः॥ अन्यमेतद् व्यतिरिक्तं कृषि पशुपाल्याद्यशक्तकातरजनाभिनन्दितं ......'।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ३१५.

(ख) 'यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः। तथा गृहस्थाश्रमं प्राप्य सर्वे जीवन्ति चाश्रमाः॥'
—महाभारत-अनुशासन पर्व, अ. १४१

(ग) 'तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही।' —मनुस्मृति ३।७८

(घ) 'आश्रयन्ति तमित्याश्रयाः, का भावना ? सुखं हिं प्रव्रज्या क्रियते, दुःखं गृहाश्रम इति, तं हि सर्वाश्रमास्तर्कयन्ति।' —उत्त. चूर्णि, पृ. १८४

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१५ ३. वही, पत्र ३१६

४. वही, पत्र ३१६ ५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१६

४६. 'हिरण्णं सुवण्णं मणिमुत्तं कंसं दूसं च वाहणं।
कोसं वड्ढावइत्ताणं तओ गच्छसि खत्तिया !॥'

[४६] हे क्षत्रियप्रवर ! (पहले) आप चांदी, सोना, मणि, मुक्ता, कांसे के पात्र, वस्त्र, वाहन और क़ोश (भण्डार) की वृद्धि करके तत्पश्चात् प्रव्रजित होना।

४७. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ।
तओ नमी रायरिसी देविंदं इणमब्बवी—॥

[४७] इस वात को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४८. 'सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं किंचि इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया॥

[४८] कदाचित् सोने और चांदी के कैलाशपर्वत के तुल्य असंख्य पर्वत हो (मिल जाए), फिर भी लोभी मनुष्य की उनसे किंचित् भी तृप्ति नहीं होती, क्योंकि (मनुष्य की) इच्छा आकाश के समान अनन्त होती है

४९. पुढवी साली जवा चेव हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स इइ विज्जा तवं चरे॥

[४९] सम्पूर्ण पृथ्वी, शाली धान्य, जौ तथा दूसरे धान्य एवं समस्त पशुओं सहित (समग्र) स्वर्ण, ये सव वस्तुएँ एक की भी इच्छा को परिपूर्ण करने में समर्थ नहीं हैं—यह जान कर विद्वान् साधक तपश्चरण (इच्छानिरोध) करे।

विवेचन—इन्द्रोक्त हेतु और कारण—'आप अभी मुनि-धर्मानुष्ठान करने योग्य नहीं वने, क्योंकि आप अभी तक आकांक्षायुक्त हैं। आपने अभी तक आकांक्षायोग्य स्वर्णादि वस्तुएँ पूर्णतया एकत्रित नहीं कीं। इन सव वस्तुओं की वृद्धि हो जाने से, इन सवकी आकांक्षा एवं गृद्धि शान्त एवं तृप्त हो जाएगी; तव आपका मन प्रव्रज्यापालन में निराकुलतापूर्वक लगा रहेगा। अतः जव तक व्यक्ति आकांक्षायुक्त होता है, तव तक वह धर्मानुष्ठानयोग्य नहीं होता; जैसे—मम्मण श्रेष्ठी; यह हेतु है, हिरण्यादि की वृद्धि से आकांक्षापूर्ति करने के वाद ही आप मुनिधर्मानुष्ठान के योग्य बनेंगे, यह कारण है।'[1]

राजर्षि द्वारा समाधान का निष्कर्ष—संतोष ही निराकांक्षता में हेतु है, हिरण्यादि की वृद्धि हेतु नहीं है। यहाँ साकांक्षत्व हेतु असिद्ध है। आकांक्षणीय वस्तुओं की परिपूर्ति न होने पर भी यदि आत्मा में संतोष है तो उससे आकांक्षणीय वस्तुओं की आकांक्षा ही जीव को नहीं रहती और इच्छाओं का निरोध एवं निःस्पृह (निराकांक्षा-) वृत्ति द्वादशविध तप एवं संयम के आचरण से जागती है। इसलिए जव मुझे तपश्चरण से संतोष प्राप्त हो चुका है, तव तद्विषयक आकांक्षा न होने से उनके

---

१. (क) वृहद्वृत्ति, पत्र ३१६
(ख) उत्तराध्ययन प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ४३९, ४४०

बढ़ाने आदि को बात कहना और उन वस्तुओं की वृद्धि न होने से मुनिधर्मानुष्ठान के अयोग्य बताना युक्तिविरुद्ध है ।[1]

हिरण्णं सुवण्णं—हिरन्य सुवर्ण : तीन अर्थ—(१) हिरण्य—चांदी, सुवर्ण—सोना । (२) सुवर्ण-हिरण्य—शोभन (सुन्दर) वर्ण का सोना । (३) हिरण्य का अर्थ घड़ा हुआ सोना और सुवर्ण का अर्थ बिना घड़ा हुआ सोना ।[2]

इइ विज्जा : दो रूप : दो अर्थ—(१) इति विदित्वा—ऐसा जानकर, (२) इति विद्वान्—इस कारण से विद्वान् साधक ।[3]

दशम प्रश्नोत्तर : प्राप्त कामभोगों को छोड़ कर अप्राप्त को पाने की इच्छा के संबंध में

५०. एयमट्ठं निसामित्ता हेउकारण—चोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी—॥

[५०] (राजर्षि के मुख से) इस सत्य को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से यह कहा—

५१. 'अच्छेरगमब्भुदए भोए चयसि पत्थिवा ! ।
असन्ते कामे पत्थेसि संकप्पेण विहन्नसि ॥'

[५१] हे पृथ्वीपते ! आश्चर्य है कि तुम सम्मुख आए हुए (प्राप्त) भोगों को त्याग रहे हो और अप्राप्त (अविद्यमान) काम-भोगों की अभिलाषा कर रहे हो ! (मालूम होता है) (उत्तरोत्तर अप्राप्त-भोगाभिलाषरूप) संकल्प-विकल्पों से तुम बाध्य किये जा रहे हो ।

५२. एयमट्ठं निसामित्ता हेउ—कारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी देविन्दं इणमब्बवी—॥

[५२] (देवेन्द्र की) इस बात को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित होकर नमि राजर्षि ने देवेन्द्र को इस प्रकार कहा—

५३. 'सल्लं कामा विसं कामा कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा अकामा जन्ति दोग्गइं ॥

[५३] (ये शब्दादि) काम-भोग शल्य रूप हैं, ये कामादि विषय विषतुल्य हैं, ये काम

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१६
   (ख) उत्त. प्रियदर्शिनी टीका, भा. २, पृ. ४४३
२. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १८५ : हिरण्यं—रजतं, शोभनवर्णं-सुवर्णम् ।
   (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१६ : हिरण्यं-सुवर्णं—सुवर्णं शोभनवर्णं विशिष्टवर्णिकमित्यर्थः । यद्वा—हिरण्यं—घटितस्वर्णमितरस्तु सुवर्णम् ।
   (ग) सुखबोधा, पत्र १५१
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१६ : 'इति—इत्येतत्श्लोकद्वयोक्तं विदित्वा, यद्वा—इति—अस्माद्धेतोः, विद्वान्—पण्डितः ।

आशीविष सर्प के समान हैं। कामभोगों को चाहने वाले (किन्तु परिस्थितिवश) उनका सेवन न कर सकने वाले जीव भी दुर्गति प्राप्त करते हैं।

५४. अहे वयइ कोहेणं माणेणं अहमा गई।
माया गईपडिग्घाओ लोभाओ दुहओ भयं॥

[५४] क्रोध से जीव अधो (नरक) गति में जाता है, मान से अधमगति होती है, माया से सद्गति का प्रतिघात (विनाश) होता है और लोभ से इहलौकिक और पारलौकिक—दोनों प्रकार का भय होता है।

विवेचन—इन्द्र-कथित हेतु और कारण—जो विवेकवान् होता है, वह अप्राप्त की आकांक्षा से प्राप्त कामभोगों को नहीं छोड़ता, जैसे—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि। यह हेतु है अथवा हेतु इस प्रकार भी है—आप कामभोगों के परित्यागी नहीं हैं क्योंकि आप में अप्राप्त कामभोगों की अभिलाषा विद्यमान है। जो-जो ऐसे होते हैं, वे प्राप्त कामों के परित्यागी नहीं होते, जैसे मम्मण सेठ। उसी तरह आप भी हैं। इसलिए आप प्राप्त कामों के परित्यागी नहीं हो सकते तथा कारण इस प्रकार है—प्रव्रज्याग्रहण से अनुमान होता है, आप में अप्राप्त भोगों की अभिलाषा है, किन्तु अप्राप्त भोगों की अभिलाषा, प्राप्त कामभोगों के अपरित्याग के विना वन नहीं सकती। इसलिए प्राप्त कामभोगों का परित्याग करना अनुचित है।[1]

नमि राजर्षि द्वारा उत्तर का आशय—मोक्षाभिलाषी के लिए विद्यमान और अविद्यमान, दोनों प्रकार के कामभोग शल्य, विष और आशीविष सर्प के समान हैं। रागद्वेष के मूल एवं कषायवर्द्धक होने से इन दोनों प्रकार के कामभोगों की अभिलाषा सावद्यरूप है। इसलिए मोक्षाभिलाषी के लिए प्राप्त या अप्राप्त कामभोगों की अभिलाषा, सर्वथा त्याज्य है। आपने अविद्यमान भोगों के इच्छाकर्त्ता को प्राप्तकामभोगों का त्यागी नहीं माना, यह हेतु असिद्ध है। क्योंकि मैं मोक्षाभिलाषी हूँ, मोक्षाभिलाषी में लेशमात्र भी कामाभिलाषा होना अनुचित है। इसलिए कामभोग ही नहीं, विद्यमान-अविद्यमान कामभोगों की अभिलाषा मैं नहीं करता।[2]

अब्भुदए भोए : तीन रूप : तीन अर्थ—(१) अद्भुतकान् भोगान्—आश्चर्यरूप भोगों को, (२) अभ्युद्यतान् भोगान्—प्रत्यक्ष विद्यमान भोगों को, (३) अभ्युदये भोगान्—इतना धन, वैभव, यौवन, प्रभुत्व आदि का अभ्युदय (उन्नति) होते हुए भी (सहजप्राप्त) भोगों को।[3]

संकप्पेण विहन्नसि—आप संकल्पों (अप्राप्त कामभोगों की प्राप्ति की अभिलाषारूप विकल्पों) से विशेषरूप से ठगे जा रहे हैं या बाधित—उत्पीड़ित हो रहे हैं।[4]

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१७
   (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ४४७-४४८
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१७
   (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ४५१
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३१७
४. (क) वही, पत्र ३१७
   (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ४४७

देवेन्द्र द्वारा असली रूप में स्तुति, प्रशंसा एवं वन्दना

५५. अवउज्झिऊण माहणरूवं विउव्विऊण इन्दत्तं ।
वन्दइ अभित्थुणन्तो इमाहि महुराहिं वग्गूहिं—॥

[५५] देवेन्द्र, ब्राह्मण रूप को छोड़ कर अपनी वैक्रियशक्ति से अपने वास्तविक इन्द्र के रूप को प्रकट करके इन मधुर वचनों से स्तुति करता हुआ (नमि राजर्षि को) वन्दना करता है—

५६. 'अहो ! ते निज्जिओ कोहो अहो ! ते माणो पराजिओ ।
अहो ! ते निरक्किया माया अहो ! ते लोभो वसीकओ ॥

[५६] अहो ! आश्चर्य है—आपने क्रोध को जीत लिया है, अहो ! आपने मान को पराजित किया है, अहो ! आपने माया को निराकृत (दूर) कर दिया है, अहो ! आपने लोभ को वश में कर लिया है ।

५७. अहो ! ते अज्जवं साहु अहो ! ते साहु मद्दवं ।
अहो ! ते उत्तमा खन्ती अहो ! ते मुत्ति उत्तमा ॥

[५७] अहो ! आपका आर्जव (सरलता) उत्तम है, अहो ! उत्तम है आपका मार्दव (कोमलता), अहो ! उत्तम है आपकी क्षमा, अहो ! उत्तम है आपकी निर्लोभता ।

५८. इहं सि उत्तमो भन्ते ! पेच्चा होहिसि उत्तमो ।
लोगुत्तमुत्तमं ठाणं सिद्धिं गच्छसि नीरओ ॥'

[५८] भगवन् ! आप इस लोक में भी उत्तम हैं और परलोक में भी उत्तम होंगे; क्योंकि कर्म-रज से रहित होकर आप लोक में सर्वोत्तम स्थान—सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करेंगे ।

५९. एवं अभित्थुणन्तो रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए ।
पयाहिणं करेन्तो पुणो पुणो वन्दई सक्को ॥

[५९] इस प्रकार उत्तम श्रद्धा से राजर्षि की स्तुति तथा प्रदक्षिणा करते हुए शक्रेन्द्र ने पुनः-पुनः वन्दना की ।

६०. तो वन्दिऊण पाए चक्कंकुसलक्खणे मुणिवरस्स ।
आगासेणुप्पइओ ललियचवलकुंडलतिरीडी ॥

[६०] तदनन्तर नमि मुनिवर के चक्र और अंकुश के लक्षणों (चिह्नों) से युक्त चरणों में वन्दन करके ललित एवं चपल कुण्डल और मुकुट का धारक इन्द्र आकाशमार्ग से उड़ गया (स्वस्थान में चला गया) ।

विवेचन—इन्द्र के द्वारा राजर्षि की स्तुति का कारण—इन्द्र ने सर्वप्रथम नमि राजर्षि से यह कहा था कि 'आप पहले उद्धत राजवर्ग को जीतें, बाद में दीक्षा लें,' इससे राजर्षि का चित्त जरा भी क्षुब्ध नहीं हुआ । इन्द्र को ज्ञात हो गया कि आपने क्रोध को जीत लिया है तथा जब इन्द्र ने कहा कि आपका अन्तःपुर एवं राजभवन जल रहा है, तब मेरे जीवित रहते मेरा अन्तःपुर एवं राजभवन

आदि जल रहे हैं, क्या मैं इसकी रक्षा नहीं कर सकता ? इस प्रकार राजर्षि के मन में जरा-सा भी अहंकार उत्पन्न न हुआ। तत्पश्चात् जब इन्द्र ने राजर्षि को तस्करों, दस्युओं आदि का निग्रह करने के लिए प्रेरित किया, तब आपने जरा भी न छिपा कर निष्कपट भाव से कहा था कि मैं कैसे पहचानूं कि यह वास्तविक अपराधी है, यह नहीं ? इसलिए दूसरों का निग्रह करने की अपेक्षा मैं अपनी दोषदुष्ट आत्मा का ही निग्रह करता हूँ। इससे उनमें माया पर विजय का स्पष्ट लक्षण प्रतीत हुआ। जब इन्द्र ने यह कहा कि आप पहले हिरण्य-सुवर्ण आदि बढ़ा कर, आकांक्षाओं को शान्त करके दीक्षा लें तो उन्होंने कहा कि आकांक्षाएँ अनन्त, असीम हैं, उनकी तृप्ति कभी नहीं हो सकती। मैं तप-संयम के आचरण से निराकांक्ष होकर ही अपनी इच्छाओं को शान्त करने जा रहा हूँ। इससे इन्द्र को उनमें लोभविजय की स्पष्ट प्रतीति हुई। इसीलिए इन्द्र ने आश्चर्य व्यक्त किया कि राजवंश में उत्पन्न होकर भी आपने कषायों को जीत लिया। इसके अतिरिक्त इन्द्र को अपने द्वारा प्रस्तुत प्रश्नों के राजर्षि द्वारा किये समाधान में भी सर्वत्र उनकी सरलता, मृदुता, क्षमा, निर्लोभता आदि साधुता के उज्ज्वल गुणों के दर्शन हुए। इसलिए इन्द्र ने उनकी साधुता का बखान किया तथा यहाँ और परलोक में भी उनके उत्तम होने और सर्वोत्तम सिद्धिस्थान प्राप्त करने की भविष्यवाणी की। अन्त में पूर्ण श्रद्धा से उनके चरणों में बारबार वन्दना की।[1]

तिरीडी—किरीटी—सामान्यतया किरीट और मुकुट दोनों पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं, अत: बृहद्वृत्ति में तिरीटी का अर्थ मुकुटवान् ही किया है, किन्तु सूत्रकृतांगचूर्णि में—जिसके तीन शिखर हों, उसे 'मुकुट' और जिसके चौरासी शिखर हों, उसे 'तिरीट या किरीट' कहा गया है। जिसके सिर पर किरीट हो, उसे किरीटी कहते हैं।[2]

श्रामण्य में सुस्थित नमि राजर्षि और उनके दृष्टान्त द्वारा उपदेश

६१. नमी नमेइ अप्पाणं सक्खं सक्केण चोइओ।
चइऊण गेहं वइदेही सामण्णे पज्जुवट्ठिओ॥

[६१] नमि राजर्षि ने (इन्द्र द्वारा स्तुति-वन्दना होने पर गर्व त्याग करके) भाव से अपनी आत्मा को (आत्मतत्त्व भावना से) विनत किया। साक्षात् देवेन्द्र के द्वारा प्रेरित होने पर भी (श्रमणधर्म से विचलित न होकर) गृह और वैदेही (-विदेहदेश की राजधानी मिथिला अथवा विदेह की राज्यलक्ष्मी) को त्याग कर श्रामण्यभाव की आराधना में तत्पर हो गए।

६२. एवं करेन्ति संबुद्धा पंडिया पवियक्खणा।
विणियट्टन्ति भोगेसु जहा से नमी रायरिसी॥
—त्ति बेमि।

[६२] जो सम्बुद्ध (तत्त्वज्ञ), पण्डित (शास्त्र के अर्थ का निश्चय करने वाले) और

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१८-३१९ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ४५५

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३१९
(ख) सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ. ३६०—'तिहिं सिहरेहिं मउडो वुच्चति, चतुरसीहिं तिरीडं।'

प्रविचक्षण (अतीव अभ्यास के कारण प्रवीणता प्राप्त) हैं, वे भी इसी (नमि राजर्षि की) तरह (धर्म में निश्चलता) करते हैं ! तथा कामभोगों से निवृत्त होते हैं; जैसे कि नमि राजर्षि ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—नमेइ अप्पाणं : दो व्याख्या—(१) भावत: आत्मा को स्वतत्त्वभावना से विनत किया, (२) नमि ने आत्मा को नमाया—संयम के प्रति समर्पित कर दिया—झुका दिया ।

वइदेही—दो अर्थ—(१) जिसका विदेह नामक जनपद है, वह वैदेही, विदेहजनपदाधिप । (२) विदेह में होने वाली वैदेही—मिथिला नगरी ।[1]

।। नमिप्रव्रज्या : नवम अध्ययन समाप्त ।।

१. बृहद्वृत्ति पत्र ३२०

दशम अध्ययन : द्रुमपत्रक

अध्ययन-सार

※ प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'द्रुमपत्रक' है, यह नाम भी आद्यपद के आधार पर रखा गया है।[1]

※ प्रस्तुत अध्ययन की पृष्ठभूमि इस प्रकार है—

चम्पानगरी के पृष्ठभाग में पृष्ठचम्पा नगरी थी। वहाँ साल और महाशाल ये दो सहोदर भ्राता थे। शाल वहाँ के राजा थे और महाशाल युवराज। इनकी यशस्वती नाम की एक वहन थी। वहनोई का नाम पिठर और भानजे का नाम था—गागली। एक वार श्रमण भगवान् महावीर विहार करते हुए पृष्ठचम्पा पधारे। शाल और महाशाल दोनों भाई भगवान् को वन्दना के लिए गए। वहाँ उन्होंने भगवान् का धर्मोपदेश सुना। शाल का अन्तःकरण संसार से विरक्त हो गया। वह नगर में आया और अपने भाई के समक्ष स्वयं दीक्षा लेने की और उसे राज्य ग्रहण करने की वात कही तो महाशाल ने कहा—'मुझे राज्य से कोई प्रयोजन नहीं। मैं स्वयं इस असार संसार से विरक्त हो गया हूँ। अतः आपके साथ प्रव्रजित होना चाहता हूँ। राजा ने अपने भानजे गागली को काम्पिल्यपुर से वुलाया और उसे राज्य का भार सौंप कर दोनों भाई भगवान् के चरणों में दीक्षित हो गए। गागली राजा ने अपने माता-पिता को पृष्ठचम्पा वुला लिया। दोनों श्रमणों ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया।

एक वार भगवान् महावीर राजगृह से विहार करके चम्पानगरी जा रहे थे। तभी शाल और महाशाल मुनि ने भगवान् के पास आकर सविनय प्रार्थना की—'भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो हम दोनों स्वजनों को प्रतिवोधित करने के लिए पृष्ठचम्पा जाना चाहते हैं।'

भगवान् ने श्री गौतमस्वामी के साथ उन दोनों को जाने की अनुज्ञा दी। श्री गौतम-स्वामी के साथ दोनों मुनि पृष्ठचम्पा आए। वहाँ के राजा गागली और उसके माता-पिता को दीक्षित करके वे सव पुनः भगवान् महावीर के पास आ रहे थे। मार्ग में चलते-चलते शाल और महाशाल के अध्यवसायों की पवित्रता वढ़ी—धन्य है गौतमस्वामी को, जो इन्होंने संसार-सागर से पार कर दिया। उधर गागली आदि तीनों ने भी ऐसा विचार किया—शाल महाशाल मुनि हमारे परम उपकारी हैं। पहले तो इनसे राज्य पाया और अव महानन्दप्राप्तिकारक संयम। इस प्रकार पांचों ही व्यक्तियों को केवलज्ञान हुआ। सभी भगवान् के पास पहुँचे। ज्यों ही शाल, महाशाल आदि पांचों केवलियों की परिषद् में जाने लगे तो गौतम ने उन सव को रोकते हुए कहा—'पहले त्रिलोकीनाथ भगवान् को वन्दना करो।'

भगवान् ने गौतम से कहा—'गौतम ! ये सव केवलज्ञानी हो चुके हैं। इनकी आशातना मत करो।'

---

१. दुमपत्तेणोवमियं, अहट्ठिइए उवक्कमेण च।
एत्थ कयं आइम्मी, तो दुमपत्तं ति अज्झयणं ॥१८॥ —उत्त. निर्युक्ति

गौतम ने उनसे क्षमायाचना की परन्तु उनका मन अधीरता और शका से भर गया कि मेरे बहुत-से शिष्य केवलज्ञानी हो चुके हैं, परन्तु मुझे अभी तक केवलज्ञान नहीं हुआ ! क्या मैं सिद्ध नहीं होऊँगा ? [१]

इसी प्रकार एक बार गौतमस्वामी अष्टापद पर गए थे। वहाँ कौडिन्य, दत्त और शैवाल नामक तीन तापस अपने पांच-पांच सौ शिष्यों के साथ क्लिष्ट तप कर रहे थे। इनमें से कौडिन्य उपवास के अनन्तर पारणा करके फिर उपवास करता था। पारणा में मूल, कन्द आदि का आहार करता था। वह अष्टापद पर्वत पर चढ़ा, किन्तु एक मेखला से आगे न जा सका। दत्त बेले-बेले का तप करता था और पारणा में नीचे पड़े हुए पीले पत्ते खा कर रहता था। वह अष्टापद की दूसरी मेखला तक ही चढ़ पाया। शैवाल तेले-तेले का तप करता था, पारणे में सूखी शैवाल (सेवार) खाता था। वह अष्टापद की तीसरी मेखला तक ही चढ़ पाया।

गौतमस्वामी वहाँ आए तो उन्हें देख तापस परस्पर कहने लगे—हम महातपस्वी भी ऊपर नहीं जा सके तो यह स्थूल शरीर वाला साधु कैसे जाएगा ? परन्तु उनके देखते ही देखते गौतमस्वामी जघाचारणलब्धि से सूर्य की किरणों का अवलम्बन लेकर शीघ्र ही चढ़ गए और क्षणभर में अन्तिम मेखला तक पहुँच गए। आश्चर्यचकित तापसों ने निश्चय कर लिया कि ज्यों यह मुनि नीचे उतरेंगे, हम उनके शिष्य बन जाएँगे। प्रातःकाल जब गौतमस्वामी पर्वत से नीचे उतरे तो तापसों ने उनका रास्ता रोक कर कहा—'पूज्यवर ! आप हमारे गुरु हैं, हम सब आपके शिष्य हैं।' तब गौतम बोले—'तुम्हारे और हमारे सब के गुरु तीर्थंकर महावीर हैं।' यह सुन कर वे आश्चर्य से बोले—'क्या आपके भी गुरु हैं ?' गौतमस्वामी ने कहा—'हाँ, सुरासुरों एवं मानवों द्वारा पूज्य, रागद्वेषरहित सर्वज्ञ प्रभु महावीर स्वामी जगद्गुरु हैं, वे मेरे भी गुरु हैं।' सभी तापस यह सुन कर हर्षित हुए। सभी तापसों को प्रव्रजित कर गौतम भगवान् की ओर चल पड़े।

मार्ग में गौतमस्वामी ने अक्षीणमहानसलब्धि के प्रभाव से सभी साधकों को 'खीर' का भोजन कराया। शैवाल आदि ५०१ साधुओं ने सोचा—'हमारे महाभाग्य से सर्वलब्धिनिधान महागुरु मिले हैं।' यों शुभ अध्यवसायपूर्वक शुक्लध्यानश्रेणी पर आरूढ़ ५०१ साधुओं को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। जब सभी साधु समवसरण के निकट पहुँचे तो बेले-बेले तप करने वाले दत्तादि ५०१ साधुओं को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। फिर उपवास करने वाले कौडिन्य आदि ५०१ साधुओं को शुक्लध्यान के निमित्त से तीर्थंकर महावीर के दर्शन होते ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया। तीर्थंकर भगवान् की प्रदक्षिणा करके ज्यों ही वे केवलियों की परिषद् की ओर जाने लगे, गौतम ने उन्हें रोकते हुए भगवान् को वन्दना करने का कहा, तब भगवान् ने कहा—'गौतम ! केवलियों की आशातना मत करो। ये केवली हो चुके हैं।' यह सुन कर गौतमस्वामी ने मिथ्यादुष्कृतपूर्वक उन सबसे क्षमायाचना करके विचार किया—मैं गुरुकर्मा इस भव में मोक्ष प्राप्त करूँगा या नहीं ? भगवान् गौतम के अधैर्ययुक्त मन को जान गए। उन्होंने

---

१. (क) उत्तरा. (गुजराती अनुवाद), पत्र ३९६-३९७

(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ४६३ से ४६९ तक

गौतम से पूछा—'गौतम ! देवों का वचन प्रमाण है या तीर्थंकर का ?' गौतम—'भगवन् ! तीर्थंकर का वचन प्रमाण है ?'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! स्नेह चार प्रकार के होते हैं—सोंठ के समान, द्विदल के समान, चर्म के समान और ऊर्णाकट के समान। चिरकाल के परिचय के कारण तुम्हारा मेरे प्रति ऊर्णाकट जैसा स्नेह है। इस कारण तुम्हें केवलज्ञान नहीं होता। जो राग स्त्री-पुत्र-धनादि के प्रति होता है, वही राग तीर्थंकर देव, गुरु और धर्म के प्रति हो तो वह प्रशस्त होता है, फिर भी वह यथाख्यातचारित्र का प्रतिबन्धक है। सूर्य के विना जैसे दिन नहीं होता, वैसे ही यथाख्यातचारित्र के विना केवलज्ञान नहीं होता। इसलिए जब मेरे प्रति तुम्हारा राग नष्ट होगा तब तुम्हें अवश्य ही केवलज्ञान होगा। यहाँ से च्यव कर हम दोनों ही एक ही अवस्था को प्राप्त होंगे, अतः अधैर्य न लाओ।'

इस प्रकार भगवान् ने गौतम तथा अन्य साधकों को लक्ष्य में रख कर प्रमाद-त्याग का उद्बोधन करने हेतु 'द्रुमपत्रक' नामक यह अध्ययन कहा है।[1]

※ इस अध्ययन में भगवान् महावीर ने गौतमस्वामी को सम्बोधित करके ३६ वार समयमात्र का प्रमाद न करने के लिए कहा है। इसका एक कारण तो यह है कि गौतमस्वामी को भगवान् महावीर की वाणी पर अटूट विश्वास था। वे सरल, सरस, निश्छल अन्तःकरण के धनी थे। श्रेष्ठता के किसी भी स्तर पर कम नहीं थे। उनका तप, संयम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र अनुपम था। तेजस्वी एवं सहज तपस्वी जीवन था उनका। भगवान् के प्रति उनका परम प्रशस्त अनुराग था। अतः सम्भव है, गौतम ने दूसरों के लिए कुछ प्रश्न किये हों और भगवान् ने सभी साधकों को लक्ष्य में रख कर उत्तर दिया हो। जैन आगम प्रायः गौतम की जिज्ञासाओं और भ. महावीर के समाधानों से व्याप्त हैं। चूंकि पूछा गौतम ने है, इसलिए भगवान् ने गौतम को ही सम्बोधन किया है। इसका अर्थ है—सम्बोधन केवल गौतम को है, उद्बोधन सभी के लिए है।

※ दूसरा कारण संघ में सैकड़ों नवदीक्षित और पश्चात्दीक्षित साधुओं को (उपर्युक्त घटनाद्वय के अनुसार) सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते देख, गौतम का मन अधीर और विचलित हो उठा हो। अतः भगवान् ने उन्हें ही सुस्थित एवं जागृत करने के लिए विशेष रूप से सम्बोधित किया हो; क्योंकि उन्हें लक्ष्य करके जीवन की अस्थिरता, नश्वरता, मनुष्यजन्म की दुर्लभता, अन्य उपलब्धियों की दुष्करता, शरीर तथा पंचेन्द्रिय वल की क्षीणता का उद्बोधन करने के बाद ६ गाथाओं में स्नेह-त्याग की, परित्यक्त धन-परिजनादि के पुनः अस्वीकार की, वर्तमान में उपलब्ध न्यायपूर्ण पथ पर तथा कण्टकाकीर्ण पथ छोड़ कर स्पष्ट राजपथ पर दृढ़ निश्चय के साथ चलने की प्रेरणा, विषममार्ग पर चलने से पश्चात्ताप की चेतावनी, महासागर के तट पर ही न रुक कर इसे शीघ्र पार करने का अनुरोध, सिद्धिप्राप्ति का आश्वासन, प्रबुद्ध, उपशान्त, संयत, विरत एवं अप्रमत्त होकर विचरण करने की प्रेरणा दी है।[2]

※ समग्र अध्ययन में प्रमाद से विरत होकर अप्रमाद के राजमार्ग पर चलने का उद्घोष है।

---

१. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा. १९ से ४१ तक

२. उत्तराध्ययन मूल, गा. १ से ३६ तक

दसमं अज्झयणं : दुमपत्तयं

दशम अध्ययन : द्रुमपत्रक

मनुष्यजीवन की नश्वरता, अस्थिरता और अप्रमाद का उद्बोधन

१. दुमपत्तए पंडुयए जहा निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[१] जैसे रात्रि-दिवसों का समूह (समय) बीतने पर वृक्ष का पका (सूखा) हुआ सफेद पत्ता गिर जाता है, इसी प्रकार मनुष्यों (उपलक्षण से सर्वप्राणियों) का जीवन है । अतः हे गौतम ! समय-(क्षण) मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

२. कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[२] जैसे कुश के अग्रभाग पर लटकता हुआ ओस का बिन्दु थोड़े समय तक ही (लटका) रहता है; इसी प्रकार मनुष्यों का जीवन भी क्षणभंगुर है । अतः हे गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत कर ।

३. इइ इत्तरियम्मि आउए जीवियए बहुपच्चवायए ।
विहुणाहि रयं पुरे कडं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[३] इस प्रकार स्वल्पकालीन आयुष्य में तथा अनेक विघ्नों (-विष, अग्नि, जल, शस्त्र, अत्यन्त हर्ष, शोक आदि जीवनविघातक कारणों) से प्रतिहत (सोपक्रम आयु वाले) जीवन में ही पूर्व-संचित (ज्ञानावरणीयादि) (कर्म-) रज को दूर कर । गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत कर ।

विवेचन—जीवन की अस्थिरता : दो उपमाओं से उपमित—(१) प्रथम गाथा में जीवन की अस्थिरता को पके हुए द्रुमपत्र से उपमित किया गया है । निर्युक्तिकार ने पके हुए पत्ते और नये पत्ते (कोंपल) का उद्बोधक संवाद प्रस्तुत किया है—पके हुए पत्ते ने नये पत्तों से कहा—'एक दिन हम भी वैसे थे, जैसे आज तुम हो; और एक दिन तुम भी वैसे ही हो जाओगे, जैसे कि आज हम हैं ।' आशय यह है कि जिस प्रकार पका हुआ पत्ता एक दिन वृक्ष से टूट कर गिर पड़ता है, वैसे ही आयुष्य के दलिक भी रात्रि-दिवस व्यतीत होने के साथ क्रमशः कम (निर्जीर्ण) होते-होते एक दिन सर्वथा क्षीण हो जाते हैं । छद्मस्थ को इसका पता नहीं चलता कि कब आयुष्य समाप्त हो जाएगा । अतः एक क्षण भी किसी प्रकार का प्रमाद (मद्य-विषय-कषाय-निद्रा-विकथादि रूप) नहीं करना चाहिए । (२) द्वितीय गाथा में कुश की नोक पर टिके हुए ओस के बिन्दु से मनुष्य-जीवन की अस्थिरता को उपमित किया गया है ।

'इइ इत्तरियम्मि आउए०'—इस पंक्ति का आशय यह है कि आयुष्य दो प्रकार का है—(१) निरुपक्रम (बीच में न टूटने वाला) और (२) सोपक्रम। निरुपक्रम आयुष्य, भले ही बीच में टूटता न हो, परन्तु है तो वह भी थोड़े ही समय का। सोपक्रम आयुष्य तो और भी अस्थिर है, क्योंकि विष, शस्त्र आदि से वह बीच में कभी भी समाप्त हो सकता है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य-जीवन का कोई भरोसा नहीं है। इस स्वल्पकालीन आयुष्य वाले जीवन में ही कर्मों को क्षय करना है; अतः धर्माराधन में एक क्षण भी प्रमाद मत करो।[1]

राइगणाण-रात्रिगणानां—रात्रिगण दिवसगण के विना हो नहीं सकते, इसलिए उपलक्षण से यहाँ दिवसगण भी लिए गए हैं। अतः इसका अर्थ हुआ—रात्रि-दिवससमूह।[2]

मनुष्यजन्मप्राप्ति की दुर्लभता बताकर प्रमादत्याग का उपदेश

४. दुल्लहे खलु माणुसे भवे चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो समयं गोयम! मा पमायए॥

[४] (विश्व के पुण्यविहीन) समस्त प्राणियों को चिरकाल तक भी मनुष्यजन्म पाना दुर्लभ है। (क्योंकि मनुष्यगतिविघातक) कर्मों के विपाक (-उदय) अत्यन्त दृढ (हटाने में दुःशक्य) होते हैं।

५. पुढविक्कायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं समयं गोयम! मा पमायए॥

[५] पृथ्वीकाय में गया हुआ (उत्पन्न हुआ) जीव उत्कर्षतः (-अधिक-से-अधिक) असंख्यात (असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी) काल तक (उसी पृथ्वीकाय में) रहता (जन्म-मरण करता रहता) है। इसलिए गौतम! (इस मनुष्यदेह में रहते हुए धर्माराधन करने में) एक समय का भी प्रमाद मत करो।

६. आउक्कायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं समयं गोयम! मा पमायए॥

[६] अप्काय में गया हुआ जीव उत्कृष्टतः असंख्यात काल तक (उसी रूप में, वहां जन्म-मरण करता) रहता है। अतः गौतम! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

७. तेउक्कायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं समयं गोयम! मा पमायए॥

[७] तेजस्काय (अग्निकाय) में गया हुआ जीव उत्कृष्टतः असंख्य काल तक (उसी रूप में) रहता है। अतः गौतम! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

८. वाउक्कायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं समयं गोयम! मा पमायए॥

---

१. (क) उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गा. ३०८ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३३३
२. वही, पत्र ३३३

[८]. वायुकाय में गया हुआ जीव उत्कृष्टतः असंख्यात काल तक रहता है। अतः गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

९. वणस्सइकायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालमणन्तदुरन्तं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[९] वनस्पतिकाय में उत्पन्न हुआ जीव उत्कृष्टतः दुःख से समाप्त होने वाले अनन्तकाल तक (वनस्पतिकाय में ही जन्म-मरण करता) रहता है। इसलिए हे गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद न करो।

१०. बेइन्दियकायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[१०] द्वीन्द्रिय काय-पर्याय में गया (उत्पन्न) हुआ जीव अधिक-से-अधिक संख्यातकाल तक रहता है। अतः गौतम ! क्षणभर का भी प्रमाद मत करो।

११. तेइन्दियकायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[११] त्रीन्द्रिय अवस्था में गया (उत्पन्न) हुआ जीव उत्कृष्टतः संख्यातकाल तक रहता है, अतः हे गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

१२. चउरिन्दियकायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसन्नियं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[१२] चतुरिन्द्रिय अवस्था में गया हुआ जीव उत्कृष्टतः संख्यात काल तक (उसी में) रहता है। अतः गौतम ! समयमात्र भी प्रमाद मत करो।

१३. पंचिन्दियकायमइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
सत्तट्ठ—भवग्गहणे समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[१३] पंचेन्द्रियकाय में उत्पन्न हुआ जीव उत्कृष्टतः सात या आठ भवों तक (उसी में जन्मता-मरता) रहता है। इसलिए गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

१४. देवे नेरइए य अइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे।
इक्किक्क–भवग्गहणे समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[१४] देवयोनि और नरकयोनि में गया हुआ जीव उत्कृष्टतः एक-एक भव (जन्म) तक रहता है। इसलिए गौतम ! एक क्षण का भी प्रमाद मत करो।

१५. एवं भव-संसारे संसरइ सुहासुहेहि कम्मेहिं।
जीवो पमाय-बहुलो समयं गोयम ! मा पमायए ॥

[१५] इस प्रकार प्रमादबहुल (अनेक प्रकार के प्रमादों से व्याप्त) जीव शुभाशुभकर्मों के कारण जन्म-मरण रूप संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए हे गौतम ! क्षणभर भी प्रमाद मत करो।

विवेचन—मनुष्यजन्म की दुर्लभता के १२ कारण—प्रस्तुत गाथाओं के द्वारा मनुष्यजन्म की दुर्लभता के बारह कारण बताए गए हैं—(१) पुण्यरहित जीव द्वारा मनुष्यगति-विघातक कर्मों का क्षय किये बिना चिरकाल तक मनुष्यजीवन पाना दुर्लभ है, (२ से ५) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के जीवों में उसी पर्याय में असंख्यातकाल तक बार-बार जन्ममरण, (६) वनस्पतिकाय के जीवों में अनन्तकाल तक बार-बार जन्ममरण, (७-८-९) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों में उत्कृष्टतः संख्यातकाल की अवधि तक रहना, (१०) पंचेन्द्रिय अवस्था में ७-८ भवों तक निरन्तर जन्मग्रहण, (११-१२) देवगति और नरकगति के जीवों में दीर्घ आयुष्य वाला एक-एक जन्मग्रहण, और (१२) प्रमादबहुल जीव द्वारा शुभाशुभ कर्मों के कारण चिरकाल तक भवभ्रमण। मनुष्यजीवन की दुर्लभता के इन १२ कारणों को समझाकर प्राप्त मनुष्यजीवन में धर्माराधना करने में समयमात्र का भी प्रमाद न करने की प्रेरणा दी गई है।[1]

भवस्थिति और कायस्थिति—जीव का अमुक काल तक एक जन्म में जीना भवस्थिति है और मृत्यु के पश्चात् उसी जीवनिकाय में पुनः-पुनः उत्पन्न होना कायस्थिति है। देव और नारक मृत्यु के पश्चात् अगले जन्म में पुनः देव और नारक नहीं होते। अतः उनकी भवस्थिति ही होती है, कायस्थिति नहीं। अथवा दोनों का काल बराबर है। तिर्यञ्च और मनुष्य मर कर अगले जन्म में पुनः तिर्यञ्च और मनुष्य के रूप में जन्म ले सकते हैं। इसलिए उनकी कायस्थिति होती है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के जीव लगातार असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकाल तक तथा वनस्पतिकाय के जीव अनन्तकाल तक अपने-अपने उन्हीं स्थानों में मरते और जन्म लेते रहते हैं। द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिय जीव हजारों वर्षों तक अपने-अपने जीवनिकायों में जन्म ले सकते हैं और पंचेन्द्रिय जीव लगातार ७-८ जन्म ग्रहण कर सकते हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने इन गाथाओं में जीवों की कायस्थिति का निर्देश किया है।[2]

मनुष्यजन्मप्राप्ति के बाद भी कई कारणों से धर्माचरण की दुर्लभता बताकर प्रमाद-त्याग की प्रेरणा

१६. लद्धूण वि माणुसत्तणं आरिअत्तं पुणरावि दुल्लहं।
बहवे दसुया मिलेक्खुया समयं गोयम! मा पमायए॥

[१६] (दुर्लभ) मनुष्यजन्म पाकर भी आर्यत्व का पाना और भी दुर्लभ है; (क्योंकि मनुष्य होकर भी) बहुत-से लोग दस्यु (चोर, लुटेरे आदि) और म्लेच्छ (अनार्य-असंस्कारी) होते हैं। इसलिए, गौतम! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

१७. लद्धूण वि आरियत्तणं अहीणपंचिन्दियया हु दुल्लहा।
विगलिन्दियया हु दीसई समयं गोयम! मा पमायए॥

[१७] आर्यत्व की प्राप्ति होने पर भी पांचों इन्द्रियों की परिपूर्णता (अविकलता) प्राप्त

---

१. उत्तराध्ययन मूलपाठ, अ. १०, गा. ४ से १५ तक
२. (क) स्थानांग. २।३।८५ : "दुविहा ठिती०....दोण्हं भवट्ठिती., दोण्हं कायट्ठिती.।"
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३३६

होना दुर्लभ है। क्योंकि अनेक व्यक्ति विकलेन्द्रिय (इन्द्रियहीन) देखे जाते हैं। अतः गौतम ! क्षण भर भी प्रमाद मत करो।

१८. अहीणपंचिन्दियत्तं पि से लहे उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे समयं गोयम ! मा पमायए॥

[१८] अविकल (पूर्ण) पंचेन्द्रियों के प्राप्त होने पर भी उत्तम धर्म का श्रवण और भी दुर्लभ है; क्योंकि बहुत-से लोग कुतीर्थिकों के उपासक हो जाते हैं। अतः हे गौतम ! क्षणमात्र का भी प्रमाद मत करो।

१९. लद्धूण वि उत्तमं सुइं सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे समयं गोयम ! मा पमायए॥

[१९] उत्तमधर्म-विषयक श्रवण (श्रुति) प्राप्त होने पर भी उस पर श्रद्धा होना और भी दुर्लभ है, (क्योंकि) बहुत-से लोग मिथ्यात्व के सेवन करने वाले होते हैं। अतः गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

२०. धम्मं पि हु सद्दहन्तया दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहि मुच्छिया समयं गोयम ! मा पमायए॥

[२०] (उत्तम) धर्म पर श्रद्धा होने पर भी उसका काया से स्पर्श (आचरण) करने वाले अति दुर्लभ हैं, क्योंकि इस जगत् में बहुत-से धर्मश्रद्धालु जन शब्दादि कामभोगों में मूर्च्छित (आसक्त) होते हैं। अतः गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

विवेचन—मनुष्यजन्मप्राप्ति के बाद भी आर्यत्व, पञ्चेन्द्रियों की पूर्णता, उत्तम-धर्म-श्रवण, श्रद्धा और तदनुरूप धर्म का आचरण उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। दुर्लभता की इन घाटियों को पार कर लेने पर भी अर्थात्—उक्त सभी दुर्लभ बातों का संयोग मिलने पर भी अब क्षणभर का भी प्रमाद करना जरा भी हितावह नहीं है।[1]

आरियत्तणं—आर्यत्वं : दो अर्थ—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—मगध आदि आर्य देशों में आर्यकुल में उत्पत्तिरूप आर्यत्व, (२) जो हेय आचार-विचार से दूर हों, वे आर्य हैं, अथवा जो गुणों अथवा गुणवानों के द्वारा माने जाते हैं, वे आर्य हैं। आर्य के फिर क्षेत्र, जाति, कुल, कर्म, शिल्प, भाषा, चारित्र और दर्शन के भेद से ८ भेद हैं; अनेक उपभेद हैं। यहाँ क्षेत्रार्य विवक्षित है। जिस देश में धर्म, अधर्म, भक्ष्य-अभक्ष्य, गम्य-अगम्य, जीव-अजीव आदि का विचार होता है, वह आर्यदेश है।[2]

दसुआ-दस्यवः—दस्यु शब्द चोर, आतंकवादी, लुटेरे, डाकू आदि अर्थों में प्रसिद्ध है। देश की सीमा पर रहने वाले चोर भी दस्यु कहलाते हैं।

---

१. उत्तरा. मूल अ. १०, गा. १६ से २०

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३३७ (ख) राजवार्तिक ३।३६।१।२०० (ग) तत्त्वार्थ., (पं. सुखलालजी) अ. ३।१५, पृ. ९३

मिलक्खुया—म्लेच्छाः—पर्वत आदि की खोहों या बीहड़ों में रहने वाले एवं जिनकी भाषा को आर्य भलीभांति न समझ सकें, वे म्लेच्छ हैं। शक, यवन, शवर, पुलिंद, नाहल, नेष्ट, करट, भट, माल, भिल्ल, किरात आदि सब म्लेच्छजातीय कहलाते हैं। ये सब धर्म-अधर्म, गम्य-अगम्य, भक्ष्य-अभक्ष्य आदि सभी आर्य व्यवहारों से रहित, संस्कारहीन होते हैं।[1]

कुतित्थिनिसेवए—कुतीर्थिक का लक्षण बृहद्वृत्ति के अनुसार यह है कि जो सत्कार, यश आदि पाने के अभिलाषी हों तथा इसके लिए जो प्राणियों को प्रिय मनोज्ञ विषयादिसेवन का ही उपदेश देते हों, ताकि लोग अधिक से अधिक आकर्षित हों, उन्हें कुछ त्याग, तप, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि करना न पड़े। यही कारण है कि कुतीर्थी जनों के उपासक को शुद्ध एवं उत्तम धर्मश्रवण का अवसर ही नहीं मिलता।[2]

मिच्छत्तनिसेवए—मिथ्यात्वनिषेवक का तात्पर्य है—अतत्त्व में तत्त्वरुचि मिथ्यात्व है। जीव अनादिकालिक भवों से अभ्यस्त होने से तथा गुरुकर्मा होने से प्रायः मिथ्यात्व में ही प्रवृत्त रहते हैं। इसलिए मिथ्यात्व का सेवन करने वाले बहुत-से लोग हैं।[3]

इन्द्रियबल की क्षीणता बता कर प्रमादत्याग का उपदेश

२१. परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सोयबले य हायई समयं गोयम! मा पमायए॥

[२१] गौतम! तुम्हारा शरीर (प्रतिक्षण वय घटते जाने से) सब प्रकार से जीर्ण हो रहा है, तुम्हारे केश भी (वृद्धावस्था के कारण) सफेद हो रहे हैं तथा पहले जो श्रोत्रबल (श्रवणशक्ति) था, वह क्षीण हो रहा है। अतः एक क्षण भी प्रमाद मत करो।

२२. परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से चक्खुबले य हायई समयं गोयम! मा पमायए॥

[२२] तुम्हारा शरीर सब प्रकार से जीर्ण हो रहा है, तुम्हारे सिर के बाल सफेद हो रहे हैं तथा पूर्ववर्ती नेत्रबल (आँखों का सामर्थ्य) क्षीण हो रहा है। अतः हे गौतम! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

---

१. (क) तत्त्वार्थ. (पं. सुखलालजी), अ. ३।१५, पृ. ९३ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३३७
(ग) 'पुलिंदा नाहला, नेष्टाः शबराः करटा भटाः, माला, भिल्ला किराताश्च सर्वेऽपि म्लेच्छजातयः।
—उत्त. प्रियदर्शिनी, भा. २, पृ. ४८७

२. कुतीर्थिनो हि यशःसत्काराद्येषिणो यदेव प्राणिप्रियं विषयादि तदेवोपदिशन्ति······इति सुकरैव तेषां सेवा, तत्सेविनां च कुत उत्तमधर्मश्रुतिः ?' —बृहद्वृत्ति, पत्र ३३७

३. मिथ्याभावो मिथ्यात्वं—अतत्त्वेऽपि तत्त्वप्रत्ययरूपं तं निषेवते यः स मिथ्यात्वनिषेवको। जनो-लोको अनादि भवाऽभ्यस्ततया गुरुकर्मतया च तत्रैव च प्रायः प्रवृत्तेः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ३३७

२३. परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से घाणबले य हायई समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[२३] तुम्हारा शरीर (दिनानुदिन) जीर्ण हो रहा है तुम्हारे केश सफेद हो रहे हैं तथा पूर्ववर्ती घ्राणवल (नासिका से सूंघने का सामर्थ्य) भी घटता जा रहा है। (ऐसी स्थिति में) गौतम ! एक समय का भी प्रमाद मत करो।

२४. परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से जिब्भ-बले य हायई समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[२४] तुम्हारा शरीर (प्रतिक्षण) सव प्रकार से जीर्ण हो रहा है तुम्हारे केश सफेद हो रहे हैं तथा तुम्हारा (रसग्राहक) जिह्वावल (जीभ का रसग्रहण-सामर्थ्य) नष्ट हो रहा है। अतः गौतम ! क्षणभर का भी प्रमाद मत-करो।

२५. परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से फास-बले य हायई समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[२५] तुम्हारा शरीर सव तरह से जीर्ण हो रहा है, तुम्हारे केश सफेद हो रहे हैं तथा तुम्हारे स्पर्शनेन्द्रिय की स्पर्शशक्ति भी घटती जा रही है। अतः गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

२६. परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायई समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[२६] तुम्हारा शरीर सव प्रकार से कृश हो रहा है, तुम्हारे (पूर्ववर्ती मनोहर काले) केश सफेद हो रहे हैं तथा (शरीर के) समस्त (अवयवों का) वल नष्ट हो रहा है। ऐसी स्थिति में, गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

२७. अरई गण्डं विसूइया आयंका विविहा फुसन्ति ते।
विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[२७] (वातरोगादिजनित) उद्वेग (अरति), फोड़ा-फुंसी, विसूचिका (हैजा-अतिसार आदि) तथा विविध प्रकार के अन्य शीघ्रघातक रोग (आतंक) तुम्हारे शरीर को स्पर्श (आक्रान्त) कर सकते हैं, जिनसे तुम्हारा शरीर विपद्ग्रस्त (शक्तिहीन) तथा विध्वस्त हो सकता है। इसलिए हे गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत करो।

विवेचन—पंचेन्द्रियबल की क्षीणता का जीवन पर प्रभाव—श्रोत्रेन्द्रियवल क्षीण होने से मनुष्य धर्मश्रवण नहीं कर सकता और धर्मश्रवण के विना कल्याण-अकल्याण, श्रेय-प्रेय को जान नहीं सकता और ज्ञान के विना धर्माचरण अन्धा होता है, सम्यक् धर्माचरण नहीं हो सकता। चक्षुरिन्द्रिय-वल क्षीण होने से जीवदया, प्रतिलेखना, स्वाध्याय, गुरुदर्शन आदि के रूप में धर्माचरण नहीं हो सकेगा। नासिका में गन्धग्रहणबल होने पर ही सुगन्ध-दुर्गन्ध के प्रति रागद्वेष का परित्याग करके समत्वधर्म का पालन किया जा सकता है, उसके अभाव में नहीं। जिह्वा में रसग्राहकवल तथा वचनो-

च्चारणवल होने पर क्रमशः रसास्वाद के प्रति राग-द्वेष के त्याग से तथा स्वाध्याय करने, वाचना देने, उपदेश एवं प्रेरणा देने से निर्दोष और सहज धर्माचरण कर सकता है, जवकि जिह्वावल क्षीण होने पर ये सव नहीं हो सकते। इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रियवल प्रवल हो तो शीत-उष्ण आदि परीषहों पर विजय तथा तप, संयम आदि के रूप में उत्तम धर्माचरण हो सकता है, अन्यथा इस धर्माचरण से साधक वंचित हो जाता है। इसी प्रकार जव तक सर्ववल—अर्थात्—मन, वचन, काया एवं समस्त अंगोपांगों में अपना-अपना कार्य करने की शक्ति विद्यमान है, तव तक साधक ध्यान, अनुप्रेक्षा, आत्म-चिन्तन, स्वाध्याय, वाचना, उपदेश, भिक्षाचरी, प्रतिलेखन, तप, संयम, त्याग आदि के रूप में स्वाख्यात धर्म का आचरण कर सकता है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार शरीर स्वस्थ न हों, दुःसाध्य व्याधियों से घिर जाए तो भी निश्चिन्तता एवं निर्विघ्नता से धर्म का आचरण नहीं हो सकता। इसलिए गौतमस्वामी से भगवान् महावीर कहते हैं कि जव तक शरीर, इन्द्रियाँ आदि स्वस्थ, सशक्त और कार्यक्षम हैं, तव तक रत्नत्रय-धर्माराधना में एक क्षण भी प्रमाद न करो।[1]

'आयंका विविहा फुसंति ते' का आशय—यद्यपि श्री गौतमस्वामी के शरीर में कोई रोग, पीड़ा या व्याधि नहीं थी और न उनकी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हुई थी, तथापि भगवान् ने सम्भावना व्यक्त करके उनके आश्रय के समस्त साधकों को अप्रमाद का उपदेश दिया है।[2]

अप्रमाद में वाधक तत्त्वों से दूर रहने का उपदेश

२८. वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए समयं गोयम! मा पमायए॥

[२८] जिस प्रकार शरत्कालीन कुमुद (चन्द्रविकासी कमल) पानी से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार तू भी अपने स्नेह को विच्छिन्न (दूर) कर। तू सभी प्रकार के स्नेह का त्याग करके गौतम! समयमात्र का भी प्रमाद मत कर।

२९. चिच्चाण धणं च भारियं पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वन्तं पुणो वि आइए समयं गोयम! मा पमायए॥

[२९] हे गौतम! धन और पत्नी (आदि) का परित्याग करके तुम अनगारधर्म में प्रव्रजित (दीक्षित) हुए हो, अतः एक वार वमन किये हुए कामभोगों (सांसारिक पदार्थों) को पुनः मत पीना (सेवन करना)। (अव इस अनगारधर्म के सम्यक् अनुष्ठान में) क्षणमात्र का भी प्रमाद मत करो।

३०. अवउज्झिय मित्तवन्धवं विउलं चेव धणोहसंचयं।
मा तं विइयं गवेसए समयं गोयम! मा पमायए॥

[३०] मित्र, वान्धव और विपुल धनराशि के संचय को छोड़कर पुनः उनकी गवेषणा (तलाश—आसक्तिपूर्ण सम्वन्ध की इच्छा) मत कर। (अंगीकृत श्रमणधर्म के पालन में) एक क्षण का भी प्रमाद न कर।

---

१. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीवृत्ति, पृ. ४९६ से ५०१ तक
(ख) वृहद्वृत्ति, पत्र ३३८

२. यद्यपि केशपाण्डुरत्वादि गौतमे न सम्भवति, तथापि तन्निश्रयाऽशेपशिष्यवोधनार्थत्वाददुष्टम्।
—वृ. वृत्ति, पत्र ३३८

३१. न हु जिणे अज्ज दिस्सई बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए ।
संपइ नेयाउए पहे समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[३१] (भविष्य में लोग कहेंगे—) आज जिन नहीं दीख रहे हैं और जो मार्गदर्शक हैं वे अनेक मत के (एक मत के नहीं) दीखते हैं। किन्तु इस समय तुझे न्यायपूर्ण (अथवा पार ले जाने वाला, मोक्ष-) मार्ग उपलब्ध है । अतः गौतम ! समयमात्र का भी प्रमाद मत कर ।

३२. अवसोहिय कण्टगापहं ओइण्णो सि पहं महालयं ।
गच्छसि मग्गं विसोहिया समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[३२] हे गौतम ! (तू) कण्टकाकीर्ण पथ छोड़कर महामार्ग (महापुरुषों द्वारा सेवित मोक्ष-मार्ग) पर आया है । अतः दृढ निश्चय के साथ बहुत संभलकर इस मार्ग पर चल । एक समय का भी प्रमाद करना उचित नहीं है ।

३३. अबले जह भारवाहए मा मग्गे विसमेवगाहिया ।
पच्छा पच्छाणुतावए समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[३३] दुर्बल भारवाहक जैसे विषम मार्ग पर चढ़ जाता है, तो बाद में पश्चात्ताप करता है, उसकी तरह, हे गौतम ! तू विषम मार्ग पर मत जाना; अन्यथा, तुझे भी बाद में पछताना पड़ेगा । अतः समयमात्र का भी प्रमाद मत कर ।

३४. तिण्णो हु सि अण्णवं महं किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
अभितुर पारं गमित्तए समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[३४] हे गौतम ! तू विशाल महासमुद्र को तो पार कर गया है, अब तीर (किनारे) के पास पहुँच कर क्यों खड़ा है ? उसके पार पहुँचने में शीघ्रता कर । समयमात्र का भी प्रमाद न कर ।

३५. अकलेवरसेणिमुस्सिया सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि ।
खेमं च सिवं अणुत्तरं समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[३५] हे गौतम ! अकलेवरों (-अशरीर सिद्धों) की श्रेणी (क्षपकश्रेणी) पर आरूढ़ होकर तू भविष्य में क्षेम, शिव और अनुत्तर सिद्धि-लोक (मोक्ष) को प्राप्त करेगा । अतः गौतम ! क्षणभर का भी प्रमाद मत कर ।

३६. बुद्धे परिनिव्वुडे चरे गामगए नगरे व संजए ।
सन्तिमग्गं च बूहए समयं गोयम ! मा पमायए ।।

[३६] प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ या जागृत), उपशान्त और संयत हो कर तू गाँव और नगर में विचरण कर; शान्ति-मार्ग की संवृद्धि कर । गौतम ! इसमें समयमात्र का भी प्रमाद न कर ।

विवेचन—अप्रमाद-साधना के नौ मूलमंत्र—प्रस्तुत गाथाओं में भगवान् ने गौतमस्वामी को अप्रमाद की साधना के नौ मूलमंत्र बताए हैं—(१) मेरे प्रति तथा सभी पदार्थों के प्रति स्नेह को विच्छिन्न कर दो, (२) धन आदि परित्यक्त पदार्थों एवं भोगों को पुनः अपनाने का विचार मत

करो, अनगारधर्म पर दृढ़ रहो, (३) मित्र, बान्धव आदि के साथ पुनः आसक्तिपूर्ण सम्बन्ध जोड़ने की इच्छा मत करो, (४) इस समय तुम्हें जो न्याययुक्त मोक्षमार्ग प्राप्त हुआ है, उसी पर दृढ़ रहो, (५) कंटीले पथ को छोड़कर शुद्ध राजमार्ग पर आ गए हो तो अब दृढ़ निश्चयपूर्वक इसी मार्ग पर चलो, (६) दुर्वल भारवाहक की तरह विषममार्ग पर मत चलो, अन्यथा पश्चात्ताप करना पड़ेगा, (७) महासमुद्र के किनारे आकर क्यों ठिठक गए ? आगे वढ़ो, शीघ्र ही पार पहुंचो, (८) एक दिन अवश्य ही तुम सिद्धिलोक को प्राप्त करोगे, यह विश्वास रख कर चलो, (९) प्रबुद्ध, उपशान्त एवं संयत होकर शान्तिमार्ग को वढ़ाते हुए ग्राम-नगर में विचरण करो ।[1]

'वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो' का रहस्य—यद्यपि गौतमस्वामी पदार्थों में मूर्च्छित नहीं थे, न विषयभोगों में उनकी आसक्ति थी, उन्हें सिर्फ भगवान् के प्रति स्नेह-अनुराग था और वह प्रशस्त राग था। वीतराग भगवान् नहीं चाहते थे कि कोई उनके प्रति स्नेहवन्धन से वद्ध रहे। अतः भगवान् ने गौतमस्वामी को उस स्नेहतन्तु को विच्छिन्न करने के उद्देश्य से उपदेश दिया हो, ऐसा प्रतीत होता है। भगवतीसूत्र में इस स्नेहवन्धन का भगवान् ने उल्लेख भी किया है।[2]

न हु जिणे अज्ज दिस्सइ, वहुमए दिस्सइ मग्गदेसिए : चार व्याख्याएँ—(१) (यद्यपि) आज (इस पंचमकाल में) जिन भगवान् नहीं दिखाई देते, किन्तु उनके द्वारा मार्गरूप से उपदिष्ट हुआ तथा अनेक शिष्टजनों द्वारा सम्मत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग तो दीखता है, ऐसा सोचकर भविष्य में भव्यजन सम्यक्त्व को प्राप्त कर प्रमाद नहीं करेंगे। (२) अथवा भाविभव्यों को उपदेश देते हुए भगवान् गौतम से कहते हैं—जैसे मार्गोपदेशक और नगर को नहीं देखते हुए भी व्यक्ति मार्ग को देख कर मार्गोपदेशक के उपदेश से उसकी प्रापकता का निश्चय कर लेता है, वैसे ही इस पंचमकाल में जिन और मोक्ष नहीं दिखाई देते, फिर भी मार्गदेशक आचार्य आदि तो दीखते हैं। अतः मुझे नहीं देखने वाले भाविभव्यजनों को उस मार्गदेशक में भी मोक्षप्रापकता का निश्चय कर लेना चाहिए"""। (३) तीसरी पद्धति से व्याख्या—हे गौतम ! तुम इस समय जिन नहीं हो, परन्तु अनेक प्राणियों द्वारा अभिमत मार्ग (जिनत्वप्राप्ति का पथ) मैंने तुम्हें वता दिया है, वह तुम्हें दिखता (ज्ञात) ही है, इसलिए जिनरूप से मेरे विद्यमान रहते मेरे द्वारा उपदिष्ट मार्ग में""। (४) चौथी व्याख्या मूलार्थ में दी गई है। वही व्याख्या अधिक संगत लगती है।[3]

अबले जह भारवाहए : इस सम्वन्ध में एक दृष्टान्त—एक व्यक्ति धन कमाने के लिए परदेश गया। वहाँ से वह सोना आदि वहुत-सा द्रव्य लेकर अपने गाँव की ओर लौट रहा था। वजन वहुत था और वह दुर्वल था। जहाँ तक सीधा-साफ मार्ग आया, वहाँ तक वह ठीक चलता रहा, किन्तु जहाँ ऊबड़-खावड़ रास्ता आया, वहाँ वह घवराया और धन-गठरी वहीं फेंक कर खाली हाथ घर चला आया। अव वह सव कुछ गँवा देने के कारण निर्धन हो गया और पछताने लगा। इसी प्रकार जो साधक प्रमादवश विषममार्ग में जाकर संयमधन को गँवा देता है, उसे वाद में वहुत पछताना पड़ता है।[4]

---

१. उत्त. मूलपाठ, अ. १०, गा. २८ से ३६ तक २. भगवती. १४।७

३. (क) वृहद्वृत्ति, पत्र ३४१

(ख) उत्त. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ५०७ से ५०९ तक

(ग) उत्तरा. (सानुवाद, मु. नथमलजी) पृ. १२७

४. वृहद्वृत्ति, पत्र ३४१

अकलेवरसेणि—अकलेवरश्रेणि—कलेवर का अर्थ है—शरीर। मुक्त आत्मा अशरीरी होते हैं। उनकी श्रेणी की तरह—कर्मों का सर्वथा क्षय करने वाली विचारश्रेणी—क्षपकश्रेणी कहलाती है।[1]

३७. बुद्धस्स निसम्म भासियं सुकहियमट्ठपओवसोहियं।
रागं दोसं च छिन्दिया सिद्धिगइं गए गोयमे॥
—त्ति बेमि।

[३७] अर्थ और पदों (शब्दों) से सुशोभित एवं सुकथित बुद्ध (केवलज्ञानी भगवान् महावीर) की वाणी सुनकर राग-द्वेष को विच्छिन्न कर श्री गौतमस्वामी सिद्धिगति को प्राप्त हुए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—अट्ठपओवसोहियं—दो अर्थ—(१) अर्थप्रधान पद—अर्थपद। (२) न्यायशास्त्रानुसार मोक्षशास्त्र के चतुर्व्यूह (हेय—दुःख तथा दुःखनिर्वर्त्तक, आत्यन्तिकहान—दुःखनिवृत्ति—मोक्षकारण, उपाय—शास्त्र, और अधिगन्तव्य—लभ्य मोक्ष) को अर्थपद कहा गया है।[2]

॥ द्रुमपत्रक : दशम अध्ययन समाप्त ॥

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४१

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४१
(ख) न्यायभाष्य १।१।१

ग्यारहवाँ अध्ययन : बहुश्रुतपूजा

अध्ययन-सार

※ प्रस्तुत ग्यारहवें अध्ययन का नाम बहुश्रुतपूजा है। इसमें बहुश्रुत की भावपूजा—महिमा एवं जीवन की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है।

※ प्रस्तुत अध्ययन में बहुश्रुत का अर्थ—चतुर्दशपूर्वधर, सर्वाक्षरसन्निपाती निपुण साधक है। यहाँ समग्र निरूपण ऐसे बहुश्रुत की भावपूजा से सम्बन्धित है, क्योंकि तीर्थंकर केवली, सिद्ध, आचार्य एवं समस्त साधुओं की जो पूजा (गुणगान-बहुमानादिरूप) की जाती है, वह भाव से (भावनिक्षेप की अपेक्षा से) होती है। उपलक्षण से शेष सभी बहुश्रुत मुनियों की भावपूजा भी अभिप्रेत है।[1]

※ विभिन्न आगमों में बहुश्रुत के विभिन्न अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं; यथा—दशवैकालिकसूत्र में **'आगमवृद्ध'**, सूत्रकृतांग में **'शास्त्रार्थपारंगत'**, बृहत्कल्प में **बहुत-से सूत्र अर्थ और तदुभय के धारक'**, व्यवहारसूत्र में—जिसको अंगबाह्य, अंगप्रविष्ट आदि बहुत प्रकार के श्रुत—आगमों का ज्ञान हो तथा जो बहुत-से साधकों की चारित्रशुद्धि करने वाला एवं युगप्रधान हो। स्थानांगसूत्र के अनुसार सूत्र और अर्थरूप से प्रचुरश्रुत (आगमों) पर जिसका अधिकार हो, अथवा जो जघन्यतः नौवें पूर्व की तृतीय वस्तु का और उत्कृष्टतः सम्पूर्ण दश पूर्वों का ज्ञाता हो; वह बहुश्रुत है। इसका पर्यायवाची बहुसूत्र शब्द भी है, जिसका अर्थ किया गया है—जो आचारांग आदि बहुत-से कालोचित सूत्रों का ज्ञाता हो।[2]

※ बहुश्रुत की तीन कोटियाँ निशीथचूर्णि, बृहत्कल्प आदि में प्रतिपादित हैं—(१) जघन्य बहुश्रुत—जो आचारप्रकल्प एवं निशीथ का ज्ञाता हो, (२) मध्यम बहुश्रुत—जो बृहत्कल्प एवं व्यवहारसूत्र का ज्ञाता हो और (३) उत्कृष्ट बहुश्रुत—नौवें, दसवें पूर्व तक का धारक हो।[3]

---

१. जे किर चउदसपुव्वी सव्वक्खरसन्निवाइणो निउणा।
जा तेसिं पूया खलु सा भावे ताइ अहिगारो॥ —उत्तरा. निर्युक्ति, गा. ३१७

२. (क) दशवै., अ. ८ (ख) सूत्रकृ. श्रु. १, अ. २, उ. १ (ग) बृहत्कल्प
(घ) बहुस्सुए जुगप्पहाणे अब्भितरबाहिरं सुयं बहुहा।
होति चसद्दग्गहणा चारित्तं पि सुबहुयं पि॥ —व्यवहारसूत्र, गा. २५१
(ङ) बहुप्रचुरं श्रुतमागमः सूत्रतोऽर्थतश्च यस्य उत्कृष्टतः सम्पूर्णदशपूर्वधरे, जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयवस्तुवेदिनि। —स्थानांग, स्था. ८
(च) व्यवहारसूत्र ३ उ., दशाश्रुत.

३. तिविहो बहुस्सुओ खलु, जहण्णो मज्झिमो य उक्कोसो।
आयारपकप्पे, कप्पे, णवम-दसमे य उक्कोसो॥
—बृहत्कल्प, उ. १, प्रकरण १, गा. ४०४, नि. चू.

* प्रस्तुत अध्ययन में बहुश्रुत और अबहुश्रुत का अन्तर बताने के लिए सर्वप्रथम अबहुश्रुत का स्वरूप बताया गया है, जो कि बहुश्रुत बनने वालों को योग्यता, प्रकृति, अनासक्ति, अलोलुपता एवं विनीतता प्राप्त करने के विषय में गंभीर चेतावनी देने वाला है। तत्पश्चात् तीसरी और चौथी गाथा में अबहुश्रुतता और बहुश्रुतता की प्राप्ति के मूल स्रोत शिक्षाप्राप्ति के अयोग्य और योग्य के क्रमशः ५ और ८ कारण बताए गए हैं। तदनन्तर छठी से तेरहवीं गाथा तक अबहुश्रुत और बहुश्रुत होने में मूल-कारणभूत अविनीत और सुविनीत के लक्षण बताए गए हैं। इसके पश्चात् बहुश्रुत बनने का क्रम बताया गया है।[1]
* इतनी भूमिका बांधने के बाद शास्त्रकार ने अनेक उपमाओं से उपमित करके बहुश्रुत की महिमा, तेजस्विता, आन्तरिकशक्ति, कार्यक्षमता एवं श्रेष्ठता को प्रकट करने के लिए उसे शंख, अश्व. गजराज, उत्तम वृषभ आदि की उपमाओं से अलंकृत किया है।
* अन्त में बहुश्रुतता की फलश्रुति मोक्षगामिता बताकर बहुश्रुत बनने की प्रेरणा की गई है।[2]

□□

१. उत्तराध्ययनसूत्र मूल, अ. ११, गा. २ से १४ तक
२. उत्तराध्ययन. मूल, अ. ११, गा. १५ से ३२ तक

इक्कारसमं अज्झयणं : ग्यारहवाँ अध्ययन

वहुस्सुयपूया : बहुश्रुतपूजा

अध्ययन का उपक्रम

१. संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो ।
आयारं पाउकरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ।।

[१] जो (वाह्य और आभ्यन्तर) संयोग से सर्वथा मुक्त, अनगार (गृहत्यागी) भिक्षु है, उसके आचार को अनुक्रम से प्रकट करूंगा, (उसे) मुझ से सुनो ।

विवेचन—आयारं—आचार शब्द यहाँ उचित क्रिया या विनय के अर्थ में है । वृद्धव्याख्यानुसार विनय और आचार दोनों एकार्थक हैं । प्रस्तुत प्रसंग में 'बहुश्रुतपूजात्मक आचार' ही ग्रहण किया गया है ।[1]

अबहुश्रुत का स्वरूप

२. जे यावि होइ निव्विज्जे थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
अभिक्खणं उल्लवई अविणीए अबहुस्सुए ।।

[२] जो विद्यारहित है, विद्यावान् होते हुए भी अहंकारी है, जो (रसादि में) लुब्ध (गृद्ध) है, जो अजितेन्द्रिय है, वार-वार असम्बद्ध वोलता (वकता) है तथा जो अविनीत है, वह अबहुश्रुत है ।

विवेचन—निर्विद्य और सविद्य—निर्विद्य का अर्थ है—सम्यक् शास्त्रज्ञानरूप विद्या से विहीन । 'अपि' शब्द के आधार पर विद्यावान् का भी उल्लेख किया गया है । अर्थात् जो विद्यावान् होते हुए भी स्तब्धता, लुब्धता, अजितेन्द्रियता, असम्बद्धभाषिता एवं अविनीतता आदि दोषों से युक्त है, वह भी अबहुश्रुत है, क्योंकि स्तब्धता आदि दोषों से उसमें बहुश्रुतता के फल का अभाव है ।[2]

अबहुश्रुतता और बहुश्रुतता की प्राप्ति के कारण

३. अह पंचहि ठाणेहि जेहि सिक्खा न लब्भई ।
थम्भा कोहा पमाएणं रोगेणाऽऽलस्सएण य ।।

[३] पांच स्थानों (कारणों) से (ग्रहणात्मिका और आसेवनात्मिका) शिक्षा प्राप्त नहीं होती, (वे इस प्रकार हैं—)

(१) अभिमान, (२) क्रोध, (३) प्रमाद, (४) रोग और (५) आलस्य । (इन्हीं पांच कारणों से अबहुश्रुतता होती है ।)

---

१. वृहद्वृत्ति, पत्र ३४४
२. वृहद्वृत्ति, पत्र ३४४

४. अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीले त्ति वुच्चई।
अहस्सिरे सया दन्ते न य मम्ममुदाहरे॥

५. नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए।
अक्कोहणे सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई॥

[४-५] इन आठ स्थानों (कारणों) से शिक्षाशील कहलाता है—(१) जो सदा हंसी-मजाक न करे, (२) जो दान्त (इन्द्रियों और मन का दमन करने वाला) हो, (३) जो दूसरों का मर्मोद्घाटन नहीं करे, (४) जो अशील (—सर्वथा चारित्रहीन) न हो, (५) जो विशील (—दोषों—अतिचारों से कलंकित व्रत-चारित्र वाला) न हो, (६) जो अत्यन्त रसलोलुप न हो, (७) (क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी) जो क्रोध न करता हो (क्षमाशील हो) और (८) जो सत्य में अनुरक्त हो, उसे शिक्षाशील (बहुश्रुतता की उपलब्धि वाला) कहा जाता है।

विवेचन—शिक्षा के दो प्रकार—ग्रहणशिक्षा और आसेवनशिक्षा। शास्त्रीयज्ञान गुरु से प्राप्त करने को ग्रहणशिक्षा और गुरु के सान्निध्य में रहकर तदनुसार आचरण एवं अभ्यास करने को आसेवनशिक्षा कहते हैं। अभिमान आदि कारणों से ग्रहणशिक्षा भी प्राप्त नहीं होती तो आसेवन-शिक्षा कहाँ से प्राप्त होगी ? जो शिक्षाशील होता है, वह बहुश्रुत होता है।[1]

स्तम्भ का भावार्थ—अभिमान है। साध्य—अभिमानी को कोई शास्त्र नहीं पढ़ाता, क्योंकि वह विनय नहीं करता। अतः अभिमान शिक्षाप्राप्ति में बाधक है।

पमाएणं—प्रमाद के मुख्य ५ भेद हैं—मद्य (मद्यजनित या मद्य), विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। यों तो आलस्य भी प्रमाद के अन्तर्गत है, किन्तु यहाँ आलस्य—लापरवाही, उपेक्षा या उत्साहहीनता के अर्थ में है।[2]

अबहुश्रुत होने के पांच कारण—प्रस्तुत पांच कारणों से मनुष्य शिक्षा के योग्य नहीं होता। शिक्षा के अभाव में ऐसा व्यक्ति अबहुश्रुत होता है।

सिक्खासीले—शिक्षाशील : दो अर्थ—(१) शिक्षा में जिसकी रुचि हो, अथवा (२) जो शिक्षा का अभ्यास करता हो।

अहस्सिरे—अहसिता—अकारण या कारण उपस्थित होने पर भी जिसका स्वभाव हंसी-मजाक करने का न हो।

सच्चरए—सत्यरत : दो अर्थ—(१) सत्य में रत हो या (२) संयम में रत हो।

अकोहणे—अक्रोधन—जो निरपराध या अपराधी पर भी क्रोध न करता हो।[3]

अविनीत और विनीत का लक्षण

६. अह चउदसहिं ठाणेहिं वट्टमाणे उ संजए।
अविणीए वुच्चई सो उ निव्वाणं च न गच्छइ॥

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४५

२. वही, पत्र ३४५

३. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ, १९६ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३३६

[६] चौदह प्रकार से व्यवहार करने वाला अविनीत कहलाता है और वह निर्वाण प्राप्त नहीं करता।

७. अभिक्खणं कोही हवइ पबन्धं च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ सुयं लद्धूण मज्जई॥

८. अवि पावपरिक्खेवी अवि मित्तेसु कुप्पई।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स रहे भासइ पावगं॥

९. पइण्णवाई दुहिले थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते अविणीए त्ति वुच्चइ॥

[७-८-९] (१) जो बार-बार क्रोध करता है, (२) जो क्रोध को निरन्तर लम्बे समय तक बनाये रखता है, (३) जो मैत्री किये जाने पर भी उसे ठुकरा देता है, (४) जो श्रुत (शास्त्रज्ञान) प्राप्त करके अहंकार करता है, (५) जो स्खलनारूप पाप को लेकर (आचार्य आदि की) निन्दा करता है, (६) जो मित्रों पर भी क्रोध करता है, (७) जो अत्यन्त प्रिय मित्र का भी एकान्त (परोक्ष) में अवर्णवाद बोलता है, (८) जो प्रकीर्णवादी (असम्बद्धभाषी) है, (९) द्रोही है, (१०) अभिमानी है, (११) रसलोलुप है, (१२) जो अजितेन्द्रिय है, (१३) असंविभागी है (साथी साधुओं में आहारादि का विभाग नहीं करता), (१४) और अप्रीति-उत्पादक है।

१०. अह पन्नरसहिं ठाणेहिं सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावत्ती अचवले अमाई अकुऊहले॥

११. अप्पं चाऽहिक्खिवई पबन्धं च न कुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो भयई सुयं लद्धुं न मज्जई॥

१२. न य पावपरिक्खेवी न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स रहे कल्लाण भासई॥

१३. कलह—डमरवज्जए बुद्धे अभिजाइए।
हिरिमं पडिसंलीणे सुविणीए त्ति वुच्चई॥

[१०-११-१२-१३] पन्द्रह कारणों से साधक सुविनीत कहलाता है—(१) जो नम्र (नीचा) होकर रहता है, (२) अचपल-(चंचल नहीं) है, (३) जो अमायी (दम्भी नहीं—निश्छल) है, (४) जो अकुतूहली (कौतुक देखने में तत्पर नहीं) है, (५) जो किसी का तिरस्कार नहीं करता, (६) जो क्रोध को लम्बे समय तक धारण किए रहता, (७) मैत्रीभाव रखने वाले के प्रति कृतज्ञता रखता है, (८) श्रुत (शास्त्रज्ञान) प्राप्त करके मद नहीं करता, (९) स्खलना होने पर जो (दूसरों की) निन्दा नहीं करता, (१०) जो मित्रों पर कुपित नहीं होता, (११) अप्रिय मित्र का भी एकान्त में गुणानुवाद करता है, (१२) जो वाक्कलह और मारपीट (हाथापाई) से दूर रहता है, (१३) जो कुलीन होता है, (१५) जो लज्जाशील होता है और (१५) जो प्रतिसंलीन (अंगोपांगों का गोपन-कर्त्ता) होता है, ऐसा बुद्धिमान् साधक सुविनीत कहलाता है।

विवेचन—'अभिक्खणं कोही'—जो बार-बार क्रोध करता है, या अभिक्षण—क्षण-क्षण में क्रोध करता है, किसी कारण से या अकारण क्रोध करता ही रहता है।

पबंधं च पकुव्वइ : दो व्याख्याएँ—(१) प्रबन्ध का अर्थ है—अविच्छिन्न रूप से (लगातार) प्रवर्त्तन। जो अविच्छिन्नरूप से उत्कट क्रोध करता है, अर्थात्—एक वार कुपित होने पर अनेक वार समझाने, सान्त्वना देने पर भी उपशान्त नहीं होता। (२) विकथा आदि में निरन्तर रूप से प्रवृत्त रहता है।

मेत्तिज्जमाणो वमइ—किसी साधक के द्वारा मित्रता का हाथ वढ़ाने पर भी जो ठुकरा देता है, मैत्री को तोड़ देता है, मैत्री करने वाले से किनाराकसी कर लेता है। इसका तात्पर्य एक व्यावहारिक उदाहरण द्वारा बृहद्वृत्तिकार ने समझाया है। जैसे-कोई साधु पात्र रंगना नहीं जानता; दूसरा साधु उससे कहता है—'मैं आपके पात्र रंग देता हूँ।' किन्तु वह सोचने लगता है कि मैं इससे पात्र रंगाऊंगा तो बदले में मुझे भी इसका कोई काम करना पड़ेगा। अत: प्रत्युपकार के डर से वह कहता है—रहने दीजिए, मुझे आपसे पात्र नहीं रंगवाना है। अथवा कोई व्यक्ति उसका कोई काम कर देता है तो भी कृतघ्नता के कारण उसका उपकार मानने को तैयार नहीं होता।

पावपरिक्खेवी—आचार्य आदि कोई मुनिवर समिति-गुप्ति आदि के पालन में कहीं स्खलित हो गए तो जो दोषदर्शी वन कर उनके उक्त दोष को लेकर उछालता है, उन पर आक्षेप करता है, उन्हें बदनाम करता है। इसे ही पापपरिक्षेपी कहते हैं।

रहे भासइ पावगं—अत्यन्त प्रिय मित्र के सामने प्रिय और मधुर वोलता है, किन्तु पीठ पीछे उसकी बुराई करता है कि यह तो अमुक दोष का सेवन करता है।[1]

पइण्णवाई : दो रूप : तीन अर्थ (१) प्रकीर्णवादी—इधर-उधर की, उटपटांग, असम्बद्ध बातें करने वाला, वस्तुतत्त्व का विचार किये विना जो मन में आया सो वक देता है, वह यत्किंचनवादी या प्रकीर्णवादी है। (२) प्रकीर्णवादी वह भी है, जो पात्र-अपात्र की परीक्षा किये विना ही कथञ्चित् प्राप्त श्रुत का रहस्य बता देता है। (३) **प्रतिज्ञावादी**—जो साधक एकान्तरूप से आग्रहशील होकर प्रतिज्ञापूर्वक बोल देता है कि 'यह ऐसा ही है'।[2]

अचियत्ते : अप्रीतिकरः—जो देखने पर या बुलाने पर सर्वत्र अप्रीति ही उत्पन्न करता है।

नीयावित्ति-नीचैर्वृत्तिः अर्थ और व्याख्या— वृहद्वृत्ति के अनुसार दो अर्थ—(१) नीचा या नम्र—अनुद्धत होकर व्यवहार (वर्त्तन) करने वाला, (२) शय्या आदि में गुरु से नीचा रहने वाला। जैसे कि दशवैकालिकसूत्र में कहा है—

> **"नीयं सेज्जं गइं ठाणं, णीयं च आसणाणि य।**
> **णीयं च पायं वंदेज्जा, णीयं कुज्जा य अंजलिं॥"**

अर्थात्—विनीत शिष्य अपने गुरु से अपनी शय्या सदा नीची रखता है, चलते समय उनके

---

१ वृहद्वृत्ति, पत्र ३४६-३४७

२. (क) वृहद्वृत्ति, पत्र ३४६ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १९६ (ग) सुखबोधा, पत्र १९८

पीछे-पीछे चलता है, गुरु के स्थान और आसन से उसका स्थान और आसन नीचा होता है। वह नीचे झुककर गुरुचरणों में वन्दन करता है और नम्र रह कर हाथ जोड़ता है।[1]

अचवले—अचपल : दो अर्थ:—(१) प्रारम्भ किये हुए कार्य के प्रति स्थिर। अथवा (२) चार प्रकार की चपलता से रहित (१) **गतिचपल**—उतावला चलने वाला, (२) **स्थानचपल**—जो बैठा-बैठा भी हाथ-पैर हिलाता रहता है, (३) **भाषाचपल**—जो बोलने में चपल हो। भाषाचपल भी चार प्रकार के होते हैं—असत्प्रलापी, असभ्यप्रलापी, असमीक्ष्यप्रलापी और अदेशकालप्रलापी। और (४) **भावचपल**—प्रारम्भ किये हुए सूत्र या अर्थ को पूरा किये विना ही जो दूसरे कार्य में लग जाता है, या अन्य सूत्र, अर्थ का अध्ययन प्रारम्भ कर देता है।[2]

अमाई—अमायी : प्रस्तुत प्रसंग में अर्थ—मनोज्ञ आहारादि प्राप्त करके गुरु आदि से छिपाना माया है। जो इस प्रकार की माया नहीं करता, वह अमायी है।

अकुऊहले : दो अर्थ—(१) जो इन्द्रियों के विषयों और चामत्कारिक ऐन्द्रजालिक विद्याओं, जादू-टोना आदि को पापस्थान जान कर उनके प्रति अनुत्सुक रहता है, (२) जो साधक नाटक, तमाशा, इन्द्रजाल, जादू आदि खेल-तमाशों को देखने के लिए अनुत्सुक हो।

अप्पं चाऽहिक्खिवई : दो व्याख्याएँ—यहाँ अल्प शब्द के दो अर्थ सूचित किये गए हैं—(१) थोड़ा और (२) अभाव। प्रथम के अनुसार अर्थ होगा—(१) ऐसे तो वह किसी का तिरस्कार नहीं करता, किन्तु किसी अयोग्य एवं अनुत्साही व्यक्ति को धर्म में प्रेरित करते समय उसका थोड़ा तिरस्कार करता है, (२) दूसरे के अनुसार अर्थ होगा—जो किसी का तिरस्कार नहीं करता।[3]

रहे कल्लाण भासइ—कृतज्ञ व्यक्ति अपकारी (अप्रिय मित्र) के एक गुण को सामने रख कर उसके सौ दोषों को भुला देते हैं, जब कि कृतघ्न व्यक्ति एक दोष को सामने रख कर सौ गुणों को भुला देते हैं। अतः सुविनीत साधक न केवल मित्र के प्रति किञ्चित् अपराध होने पर कुपित नहीं होते, अमित्र-अपकारी मित्र के भी पूर्वकृत किसी एक सुकृत का स्मरण करके उसके परोक्ष में भी उसका गुणगान करते हैं।[4]

अभिजाइए—अभिजातिक—कुलीन—अभिजाति का अर्थ—कुलीनता है। जो कुलीन होता है, वह लिये हुए भार (दायित्व) को निभाता है।

हिरिमं—ह्रीमान्—लज्जावान्—लज्जा सुविनीत का एक विशिष्ट गुण है। उसकी आँखों

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४६ (ख) दशवैकालिक, ९।२।१७

२. अचपलः—नाऽऽरब्धकार्यं प्रति अस्थिरः, अथवाऽचपलो—गति-स्थान-भाषा-भावभेदतश्चतुर्धा ···।

—बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७

३. (क) वही, पत्र ३४७ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १९७

४. कल्याणं भाषते, इदमुक्तं भवति—मित्रमिति यः प्रतिपन्नः, स यद्यप्यपकृतिशतानि विधत्ते, तथाऽप्येकमपि सुकृतमनुस्मरन् न रहस्यपि तद्दोषमुदीरयति। तथा चाह—

'एकसुकृतेन दुष्कृतशतानि, ये नाशयन्ति ते धन्याः।

न त्वेकदोषजनितो येषां कोपः, स च कृतघ्नः॥ —बृहद्वृत्ति, पत्र ३

में शर्म होती है। लज्जावान् साधक कदाचित् कलुषित अध्यवसाय (परिणाम) आ जाने पर भी अनुचित कार्य करने में लज्जित होता है।

पडिसंलीणे—प्रतिसंलीन—जो अपने हाथ-पैर आदि अंगोपांगों से या मन और इन्द्रियों से व्यर्थ चेष्टा न करके उन्हें स्थिर करके अपनी आत्मा में संलीन रहता है। बृहद्वृत्ति के अनुसार इसका अर्थ है—जो साधक गुरु के पास या अन्यत्र भी निष्प्रयोजन इधर-उधर की चेष्टा नहीं करता, नहीं भटकता।[1]

बहुश्रुत का स्वरूप और माहात्म्य

१४. वसे गुरुकुले निच्चं जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे पियंवाई से सिक्खं लद्धुमरिहई॥

[१४] जो सदा गुरुकुल में रहता है (अर्थात् सदैव गुरु-आज्ञा में ही चलता है), जो योगवान् (समाधियुक्त या धर्मप्रवृत्तिमान्) होता है, जो उपधान (शास्त्राध्ययन से सम्बन्धित विशिष्ट तप) में निरत रहता है, जो प्रिय करता है और प्रियभाषी है, वह शिक्षा (ग्रहण और आसेवन शिक्षा) प्राप्त करने योग्य होता है (अर्थात् वह बहुश्रुत हो जाता है)।

१५. जहा संखम्मि पयं निहियं दुहओ वि विरायइ।
एवं बहुस्सुए भिक्खू धम्मो कित्ती तहा सुयं॥

[१५] जैसे शंख में रखा हुआ दूध—अपने और अपने आधार के गुणों के कारण—दोनों प्रकार से सुशोभित होता है (अर्थात् वह अकलुषित और निर्विकार रहता है), उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्त्ति और श्रुत (शास्त्रज्ञान) भी दोनों ओर से (अपने और अपने आधार के गुणों से) सुशोभित होते हैं (—निर्मल एवं निर्विकार रहते हैं)।

१६. जहा से कम्बोयाणं आइण्णे कन्थए सिया।
आसे जवेण पवरे एवं हवइ बहुस्सुए॥

[१६] जिस प्रकार कम्बोजदेश में उत्पन्न अश्वों में कन्थक अश्व (शीलादि गुणों से) आकीर्ण (अर्थात् जातिमान्) और वेग (स्फूर्ति) में श्रेष्ठ होता है, इसी प्रकार बहुश्रुत साधक भी (श्रुतशीलादि) गुणों तथा (जाति और स्फूर्ति वाले) गुणों से श्रेष्ठ होता है।

१७. जहाऽऽइण्णसमारूढे सूरे दढपरक्कमे।
उभओ नन्दिघोसेणं एवं हवइ बहुस्सुए॥

[१७] जैसे आकीर्ण (जातिमान्) अश्व पर आरूढ दृढ पराक्रमी-शूरवीर योद्धा दोनों ओर से (अगल-बगल में या आगे-पीछे) होने वाले नान्दीघोष (विजयवाद्यों या जयकारों) से सुशोभित होता है, वैसे ही बहुश्रुत भी (स्वाध्याय के मांगलिक स्वरों से) सुशोभित होता है।

१८. जहा करेणपरिकिण्णे कुंजरे सट्ठिहायणे।
बलवन्ते अप्पडिहए एवं हवइ बहुस्सुए॥

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १९७-१९८

[१८] जिस प्रकार हथिनियों से घिरा हुआ साठ वर्ष का बलिष्ठ हाथी किसी से पराजित नहीं होता, वैसे ही वहुश्रुत साधक (औत्पत्तिकी आदि बुद्धिरूपी हथिनियों से तथा विविध विद्याओं से युक्त होकर) किसी से भी पराजित नहीं होता।

१९. जहा से तिक्खसिंगे जायखन्धे विरायई।
वसहे जूहाहिवई एवं हवइ बहुस्सुए॥

[१९] जैसे तीखे सींगों एवं वलिष्ठ स्कन्धों वाला वृषभ यूथ के अधिपति के रूप में सुशोभित होता है, वैसे ही वहुश्रुत (स्वशास्त्र-परशास्त्र रूप तीक्ष्ण शृंगों से, गच्छ का गुरुतर-कार्य-भार उठाने में समर्थ स्कन्ध से साधु आदि संघ के अधिपति—आचार्य के रूप में) सुशोभित होता है।

२०. जहा से तिक्खदाढे उदग्गे दुप्पहंसए।
सीहे मियाण पवरे एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२०] जैसे तीक्ष्ण दाढों वाला, पूर्ण वयस्क एवं अपराजेय (दुष्प्रधर्ष) सिंह वन्यप्राणियों में श्रेष्ठ होता है, वैसे ही बहुश्रुत (नैगमादि नयरूप) दाढों से तथा प्रतिभादि गुणों के कारण दुर्जय एवं श्रेष्ठ होता है।

२१. जहा से वासुदेवे संख-चक्क-गयाधरे।
अप्पडिहयबले जोहे एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२१] जैसे शंख, चक्र और गदा को धारण करने वाला वासुदेव अप्रतिबाधित बल वाला योद्धा होता है, वैसे ही बहुश्रुत (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप त्रिविध आयुधों से युक्त एवं कर्मरिपुओं को पराजित करने में अपराजेय योद्धा की तरह समर्थ) होता है।

२२. जहा से चाउरन्ते चक्कवट्टी महिड्ढिए।
चउद्दसरयणाहिवई एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२२] जैसे महान् ऋद्धिमान् चातुरन्त चक्रवर्ती चौदह रत्नों का स्वामी होता है, वैसे ही वहुश्रुत भी (आमर्षौषधि आदि ऋद्धियों तथा पुलाकादि लब्धियों से युक्त, चारों दिशाओं में व्याप्त कीर्ति वाला चौदह पूर्वों का स्वामी) होता है।

२३. जहा से सहस्सक्खे वज्जपाणी पुरन्दरे।
सक्के देवाहिवई एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२३] जैसे सहस्राक्ष, वज्रपाणि एवं पुरन्दर शक्र देवों का अधिपति होता है, वैसे ही वहुश्रुत भी (देवों के द्वारा पूज्य होने से) देवों का स्वामी होता है।

२४. जहा से तिमिरविद्धंसे उत्तिट्ठन्ते दिवायरे।
जलन्ते इव तेएण एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२४] जैसे अन्धकार का विध्वंसक उदीयमान दिवाकर (सूर्य) तेज से जाज्वल्यमान होता है, वैसे ही वहुश्रुत (अज्ञानान्धकारनाशक होकर तप के तेज से जाज्वल्यमान) होता है।

२५. जहा से उडुवई चन्दे नक्खत्त—परिवारिए।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२५] जैसे नक्षत्रों के परिवार से परिवृत नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा पूर्णमासी को परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत (जिज्ञासु साधकों से परिवृत, साधुओं का अधिपति एवं ज्ञानादि सकल कलाओं से परिपूर्ण) होता है।

२६. जहा से सामाइयाणं कोट्ठागारे सुरक्खिए।
नाणाधन्नपडिपुण्णे एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२६] जैसे सामाजिकों (कृषकवर्ग या व्यवसायिगण) का कोष्ठागार (कोठार) सुरक्षित और अनेक प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण होता है, वैसे ही बहुश्रुत (गच्छवासी जनों के लिए सुरक्षित ज्ञानभण्डार की तरह अंग, उपांग, मूल, छेद आदि विविध श्रुतज्ञानविशेष से परिपूर्ण) होता है।

२७. जहा सा दुमाण पवरा जम्बू नाम सुदंसणा।
अणाढियस्स देवस्स एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२७] जिस प्रकार 'अनादृत' देव का 'सुदर्शन' नामक जम्बूवृक्ष, सब वृक्षों में श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत (अमृतफलतुल्य श्रुतज्ञानयुक्त, देवपूज्य एवं समस्त साधुओं में श्रेष्ठ) होता है।

२८. जहा सा नईण पवरा सलिला सागरंगमा।
सीया नीलवन्तपवहा एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२८] जैसे नीलवान् वर्षधर पर्वत से निःसृत जलप्रवाह से परिपूर्ण एवं समुद्रगामिनी शीता-नदी सब नदियों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी (वीर-हिमाचल से निःसृत, निर्मलश्रुतज्ञान रूप जल से पूर्ण मोक्षरूप-महासमुद्रगामी एवं समस्त श्रुतज्ञानी साधुओं में श्रेष्ठ) होता है।

२९. जहा से नगाण पवरे सुमहं मन्दरे गिरी।
नाणोसहिपज्जलिए एवं हवइ बहुस्सुए॥

[२९] जिस प्रकार नाना प्रकार की ओषधियों से प्रदीप्त, अतिमहान्, मन्दर (मेरु) पर्वत सब पर्वतों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी (श्रुतमाहात्म्य के कारण स्थिर, आमर्षोषधि आदि लब्धियों से प्रदीप्त एवं समस्त साधुओं में) श्रेष्ठ होता है।

३०. जहा से सयंभूरमणे उदही अक्खओदए।
नाणारयणपडिपुण्णे एवं हवइ बहुस्सुए॥

[३०] जिस प्रकार अक्षयजलनिधि स्वयम्भूरमण समुद्र नानाविध रत्नों से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भी (अक्षय सम्यग्ज्ञानरूपी जलनिधि अर्थात् नानाविध ज्ञानादि रत्नों से परिपूर्ण) होता है।

विवेचन—वसे गुरुकुले निच्चं—अर्थात् गुरुओं-आचार्यों के कुल-गच्छ में रहे। यहाँ 'गुरुकुल में रहे' का भावार्थ है—गुरु की आज्ञा में रहे। कहा भी है—'गुरुकुल में रहने से साधक ज्ञान का

भागी होता है, दर्शन और चारित्र में स्थिरतर होता है, वे धन्य हैं, जो जीवनपर्यन्त गुरुकुल नहीं छोड़ते।'[1]

जोगवं—योगवान्—योग के ५ अर्थ : विभिन्न सन्दर्भों में—(१) मन, वचन और काया का व्यापार, (२) संयमयोग, (३) अध्ययन में उद्योग, (४) धर्मविषयक प्रशस्त प्रवृत्ति और (५) समाधि। प्रस्तुत प्रसंग में योगवान् का अर्थ है—समाधिमान् अथवा प्रशस्त मन, वचन, काया के योग—व्यापार से युक्त।[2]

दुहओ वि विरायइ : व्याख्या—शंख में रखा हुआ दूध दोनों प्रकार से सुशोभित होता है—निजगुण से और शंखसम्बन्धी गुण से। दूध स्वयं स्वच्छ होता है, जब वह शंख जैसे स्वच्छ पात्र में रखा जाता है तब और अधिक स्वच्छ प्रतीत होता है। शंख में रखा हुआ दूध न तो खट्टा होता है और न झरता है।

बहुस्सुए भिक्खू धम्मो कित्ती तहा सुयं : दो व्याख्याएँ—(१) बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति तथा श्रुत अबाधित (सुशोभित) रहते हैं। तात्पर्य यह है कि यों तो धर्म, कीर्ति और श्रुत ये तीनों स्वयं ही निर्मल होने से सुशोभित होते हैं तथापि मिथ्यात्व आदि कालुष्य दूर होने से निर्मलता आदि गुणों से शंखसदृश उज्ज्वल बहुश्रुत के आश्रय में रहे हुए ये गुण (आश्रय के गुणों के कारण) विशेष प्रकार से सुशोभित होते हैं तथा बहुश्रुत में रहे हुए ये धर्मादि गुण मलिनता, विकृति या हानि को प्राप्त नहीं होते—अबाधित रहते हैं। (२) योग्य भिक्षुरूपी भाजन में ज्ञान देने वाले बहुश्रुत को धर्म होता है, उसकी कीर्ति होती है, श्रुत आराधित या अबाधित होता है।[3]

आइण्णे कंथए : आकीर्ण का अर्थ—शील, रूप, बल आदि गुणों से आकीर्ण व्याप्त, जातिमान्। **कन्थक**—(१) पत्थरों के टुकड़ों से भरे हुए कुप्पों के गिरने की आवाज से जो भयभीत नहीं होता, (२) जो खड़खड़ाहट से नहीं चौंकता या पर्वतों के विषममार्ग में या विकट युद्धभूमि में जाने से या शस्त्रप्रहार से नहीं हिचकिचाता; ऐसा श्रेष्ठ जाति का घोड़ा।[4]

नंदिघोसेणं—नन्दिघोष : दो अर्थ—बारह प्रकार के वाद्यों की एक साथ होने वाली ध्वनि

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७
   (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृष्ठ १९८ : 'णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य।
   धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं न मुंचंति॥'

२. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १९८ : 'जोगो मणजोगादि संजमजोगो उज्जोगं पठितव्वते करेइ।'
   (ख) 'योजनं योगो-व्यापारः स चेह प्रक्रमाद् धर्मगत एव, तद्वान् अतिशायने मतुप्। यद्वा योगः—समाधिः, सोऽस्यास्तीति योगवान्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ३४७
   (ग) 'मोक्खेण जोयणाओ जोगो, सव्वोवि धम्मवावारो।' —योगविंशिका-१

३. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १९८
   (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४८

४. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ. १९८
   (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४८
   (ग) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ५४०

या मंगलपाठकों (बंदिओं) की आशीर्वचनात्मक ध्वनि। बहुश्रुत भी इसी प्रकार जिनप्रवचनरूपी अश्वाश्रित होकर अभिमानी परवादियों के दर्शन से अत्रस्त और उन्हें जीतने में समर्थ होता है। दोनों ओर के अर्थात्—दिन और रात अथवा अगल-बगल में शिष्यों के स्वाध्यायरूपी नन्दिघोष से युक्त होता है।

कुंजरे सट्ठिहायणे—साठ वर्ष का हाथी। अभिप्राय यह है कि साठ वर्ष की आयु तक हाथी का बल प्रतिवर्ष उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, उसके पश्चात् कम होने लगता है। इसलिए यहाँ हाथी की पूर्ण बलवत्ता बताने के लिए 'षष्ठिवर्ष' का उल्लेख किया गया है।

जायखंधे—जातस्कन्ध—जिस वृषभ का कंधा अत्यन्त पुष्ट हो गया हो, वह जातस्कन्ध कहलाता है। कन्धा परिपुष्ट होने पर उसके दूसरे सभी अंगोपांगों की परिपुष्टता उपलक्षित होती है।[1]

उदग्गे मियाण पवरे—उदग्र : दो अर्थ—(१) उत्कट, (२) अथवा उदग्र वय—पूर्ण युवावस्था को प्राप्त, **मियाण पवरे** का अर्थ है—वन्य पशुओं में श्रेष्ठ।

चाउरंते—चातुरन्त : दो अर्थ—(१) जिसके राज्य में एक दिगन्त में हिमवान् पर्वत और शेष तीन दिगन्तों में समुद्र हो, वह चातुरन्त होता है अथवा (२) हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल इन चारों सेनाओं के द्वारा शत्रु का अन्त करने वाला चातुरन्त है।

चक्कवट्टी : चक्रवर्ती—षट्खण्डों का अधिपति चक्रवर्ती कहलाता है।

चउद्दसरयणाहिवई—चतुर्दशरत्नाधिपति—चक्रवर्ती चौदह रत्नों का स्वामी होता है। चक्रवर्ती के १४ रत्न ये हैं—(१) सेनापति, (२) गाथापति, (३) पुरोहित, (४) गज, (५) अश्व, (६) बढ़ई, (७) स्त्री, (८) चक्र, (९) छत्र, (१०) चर्म, (११) मणि, (१२) काकिणी, (१३) खड्ग और (१४) दण्ड।[2]

सहस्सक्खे—सहस्राक्ष : दो भावार्थ—(१) इन्द्र के पांच सौ देव मंत्री होते हैं। राजा मंत्री की आँखों से देखता है, अर्थात्—इन्द्र उनकी दृष्टि से अपनी नीति निर्धारित करता है, इसलिए वह सहस्राक्ष कहलाता है। (२) जितना हजार आँखों से दीखता है, इन्द्र उससे अधिक अपनी दो आँखों से देख लेता है, इसलिए वह सहस्राक्ष है। यह अर्थ वैसे ही आलंकारिक है, जैसे कि चतुष्कर्ण—चौकन्ना शब्द अधिक सावधान रहने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

पुरंदरे : भावार्थ—पुराण में इस सम्बन्ध में एक कथा है कि इन्द्र ने शत्रुओं के पुरों का विदारण किया था, इस कारण उसका नाम 'पुरन्दर' पड़ा। ऋग्वेद में दस्युओं अथवा दासों के पुरों

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३४९
(ख) हायणं वरिसं, सट्ठिवरसे परं बलहीणो, अपत्तबलो परेण परिहाति। —उत्तरा. चूर्णि, पृ १९९
(ग) 'षष्टिहायनः—षष्टिवर्षप्रमाणः तस्य हि एतावत्कालं यावत् प्रतिवर्षं बलोपचयः ततस्तदपचयः, इत्येवमुक्तम्।' —उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ३४९

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५० —सेणावइ गाहावइ पुरोहिय, गय तुरंग वड्ढइग इत्थी।
चक्कं छत्तं चम्मं मणि, कागिणी खग्ग दंडो य॥ —चतुर्दशरत्नानि।

को नष्ट करने के कारण 'इन्द्र' को 'पुरन्दर' कहा गया है। वस्तुतः इन्द्र के 'सहस्राक्ष' और 'पुरन्दर' ये दोनों नाम लोकोक्तियों पर आधारित हैं।[1]

उत्तिट्ठंते दिवायरे—दो अर्थ : (१) उत्थित होता हुआ सूर्य—चूर्णिकार के अनुसार मध्याह्न तक का सूर्य उत्थित होता हुआ माना गया है, उस समय तक सूर्य का तेज (प्रकाश और आतप) बढ़ता है। (२) उगता हुआ सूर्य—बाल सूर्य। वह सौम्य होता है, बाद में तीव्र होता है।

णक्खत्तपरिवारिए—अश्विनी, भरणी आदि २७ नक्षत्रों के परिवार से युक्त। २७ नक्षत्र ये हैं—(१) अश्विनी, (२) भरणी, (३) कृत्तिका, (४) रोहिणी, (५) मृगशिरा, (६) आर्द्रा, (७) पुनर्वसु, (८) पुष्य, (९) अश्लेषा, (१०) मघा, (११) पूर्वाफाल्गुनी, (१२) उत्तराफाल्गुनी, (१३) हस्त, (१४) चित्रा, (१५) स्वाति, (१६) विशाखा, (१७) अनुराधा, (१८) ज्येष्ठा, (१९) मूल, (२०) पूर्वाषाढ़ा, (२१) उत्तराषाढ़ा, (२२) श्रवण, (२३) धनिष्ठा, (२४) शतभिषक्, (२५) पूर्वाभाद्रपदा, (२६) उत्तराभाद्रपदा और (२७) रेवती।[2]

सामाइयाणं कोट्ठागारे—सामाजिक-कोष्ठागार—समाज का अर्थ है—समूह। सामाजिक का अर्थ है—समूहवृत्ति (सहकारीवृत्ति) वाले लोग, उनके कोष्ठागार अर्थात् विविध धान्यों के कोठार प्राचीन काल में भी कृषकों या व्यापारियों के सामूहिक अन्नभण्डार (गोदाम) होते थे, जिनमें नाना प्रकार के अनाज रखे जाते थे। चोर, अग्नि एवं चूहों आदि से बचाने के लिए पहरेदारों को नियुक्त करके उनकी पूर्णतः सुरक्षा की जाती थी।[3]

जंबू नाम सुदंसणा, अणाढियस्स देवस्स—अणाढिय—अनादृतदेव, जम्बूद्वीप का अधिपति व्यन्तरजाति का देव है। सुदर्शना नामक जम्बूवृक्ष जम्बूद्वीप के अधिपति अनादृत नामक देव का आश्रय (निवास) स्थानरूप है, उसके फल अमृततुल्य हैं। इसलिए वह सभी वृक्षों में श्रेष्ठ माना जाता है।

सीया नीलवंतपवहा : शीता नीलवत्प्रवहा—मेरु पर्वत के उत्तर में नीलवान् पर्वत है। इसी पर्वत से शीता नदी प्रवाहित होती है, जो सबसे बड़ी नदी है और अनेक जलाशयों से व्याप्त है।[4]

---

१. (क) सहस्सक्खेत्ति—'पंचमंतिसयाइं देवाणं तस्स सहस्सो अक्खीणं, तेसिं णीतिए दिट्ठमिति। अहवा जं सहस्सेण अक्खीणं दीसति, तं सो दोहि अक्खीहिं अब्भहियतरायं पेच्छति।' —उत्तरा. चूर्णि, पृ. १९९

(ख) लोकोक्त्या च पुरदारणात् पुरन्दरः।

(ग) ऋग्वेद १।१०२।७, १।१०९।८, २।२०।७, ३।५४।१५, ५।३०।११, ६।१६।१४

२. (क) जाव मज्झण्णो ताव उट्ठेति, ताव ते तेयलेसा वढति, पच्छा परिहाति, अहवा उत्तिट्ठंतो सोमो भवति, हेमंतियबालसूरिओ।

(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५१

(ग) होडाचक्र, २७ नक्षत्रों के नाम

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५१

४. (क) वही, पत्र ३५२ : शीता—शीतानाम्नी, नीलवान्—मेरोरुत्तरस्यां दिशि वर्षधरपर्वतस्ततः " प्रवहति"" नीलवत्प्रवहा।

(ख) सीता सव्वणदीण महल्ला, बहूहिं च जलासतेहिं च आइण्णा। —उत्त. चूर्णि, पृ. २००

सुमहं मंदरे गिरी, नाणोसहिपज्जलिए—चूर्णि के अनुसार मंदर पर्वत स्थिर और सबसे ऊँचा पर्वत है। यहीं से दिशाओं का प्रारम्भ होता है। 'उसे यहाँ नाना प्रकार की ओषधियों से प्रज्वलित कहा गया है। वहाँ कई ओषधियाँ ऐसी हैं, जो जाज्वल्यमान प्रकाश करती हैं, उनके योग से मन्दर-पर्वत भी प्रज्वलित होता है।[1]

बहुश्रुतता का फल एवं बहुश्रुतता प्राप्ति का उपदेश

३१. समुद्दगम्भीरसमा दुरासया अचक्किया केणइ दुप्पहंसया।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गया॥

[३१] सागर के समान गम्भीर, दुरासद (जिनका पराभूत होना दुष्कर है), (परीषहादि से) अविचलित, परवादियों द्वारा अत्रासित अर्थात् अजेय, विपुल श्रुतज्ञान से परिपूर्ण और त्राता (षट्-कायरक्षक)—ऐसे बहुश्रुत मुनि कर्मों का सर्वथा क्षय करके उत्तमगति (मोक्ष) में पहुँचे।

३२. तम्हा सुयमहिट्ठिज्जा उत्तमट्ठगवेसए।
जेणऽप्पाणं परं चेव सिद्धिं संपाउणेज्जासि॥
—त्ति बेमि।

[३२] (बहुश्रुतता मुक्ति प्राप्त कराने वाली है,) इसलिए उत्तमार्थ (मोक्ष-पुरुषार्थ) का अन्वेषक श्रुत (आगम) का (अध्ययन-श्रवण-चिन्तनादि के द्वारा) आश्रय ले, जिससे (श्रुत के आश्रय से) वह स्वयं को और दूसरे साधकों को भी सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करा सके। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—समुद्दगंभीरसमा—गम्भीरसमुद्रसम—गहरे समुद्र के समान जो बहुश्रुत अध्यात्म-तत्त्व में गहरे उतरे हुए हैं।

दुरासया—दुष्पराजेय।

अचक्किया-अचक्रिता : दो अर्थ—(१) परीषहादि से अचक्रित—अविचलित, अथवा (२) परवादियों से अत्रासित—निर्भय।

उत्तमं गइं गया—उत्तम—प्रधान गति—मोक्ष को प्राप्त हुए।

उत्तमट्ठगवेसए—उत्तम अर्थ-प्रयोजन या पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष का अन्वेषक।[2]

॥ बहुश्रुत-पूजा : ग्यारहवाँ अध्ययन समाप्त॥

---

१. (क) 'जहा मंदरो थिरो उस्सिओ, दिसाओ य अत्थ पवत्तंति।' —उत्त. चूर्णि, पृ. २००
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५२.

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५३

बारहवाँ अध्ययन : हरिकेशीय

अध्ययन-सार

※ प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'हरिकेशीय' है। इसमें साधुजीवन अंगीकार करने के पश्चात् चाण्डाल-कुलोत्पन्न हरिकेशबल महाव्रत, समिति, गुप्ति, क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म एवं तप, संयम की साधना करके किस प्रकार उत्तमगुणधारक, तपोलब्धिसम्पन्न, यक्षपूजित मुनि बने और जातिमदलिप्त ब्राह्मणों का मिथ्यात्व दूर करके किस प्रकार उन्हें सच्चे यज्ञ का स्वरूप समझाया; इसका स्पष्ट वर्णन किया है। संक्षेप में, इसमें हरिकेशबल के उत्तरार्द्ध (मुनि) जीवन का निरूपण है।

※ हरिकेशबल मुनि कौन थे? वे किस कुल में जन्मे थे? मुनिजीवन में कैसे आए? चाण्डालकुल में उनका जन्म क्यों हुआ था? इससे पूर्वजन्मों में वे कौन थे? इत्यादि विषयों की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। संक्षेप में, हरिकेशबल के जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ इस प्रकार हैं—

※ मथुरानरेश शंख राजा ने संसार से विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण की। विचरण करते हुए एक बार वे हस्तिनापुर पधारे। भिक्षा के लिए पर्यटन करते हुए शंखमुनि एक गली के निकट आए, वहाँ जनसंचार न देखकर निकटवर्ती गृहस्वामी सोमदत्त पुरोहित से मार्ग पूछा। उस गली का नाम 'हुतवह-रथ्या' था। वह ग्रीष्मऋतु के सूर्य के ताप से तपे हुए लोहे के समान अत्यन्त गर्म रहती थी। कदाचित् कोई अनजान व्यक्ति उस गली के मार्ग से चला जाता तो वह उसकी उष्णता से मूर्च्छित होकर वहीं मर जाता था। परन्तु सोमदत्त को मुनियों के प्रति द्वेष था, इसलिए उसने द्वेषवश मुनि को उसी हुतवह-रथ्या का उष्णमार्ग बता दिया। शंखमुनि निश्चल भाव से ईर्यासमितिपूर्वक उसी मार्ग पर चल पड़े। लब्धिसम्पन्न मुनि के प्रभाव से उनका चरणस्पर्श होते ही वह उष्णमार्ग एकदम शीतल हो गया। इस कारण मुनिराज धीरे-धीरे उस मार्ग को पार कर रहे थे। यह देख सोमदत्त पुरोहित के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह उसी समय अपने मकान से नीचे उतर कर उसी हुतवहगली से चला। गली का चन्दन-सा शीतल स्पर्श जान कर उसके मन में बड़ा पश्चात्ताप हुआ। सोचने लगा—'यह मुनि के तपोबल का ही प्रभाव है कि यह मार्ग चन्दन-सम-शीतल हो गया।' इस प्रकार विचार कर वह मुनि के पास आकर उनके चरणों में अपने अनुचित कृत्य के लिए क्षमा मांगने लगा। शंखमुनि ने उसे धर्मोपदेश दिया, जिससे वह विरक्त होकर उनके पास दीक्षित हो गया। मुनि बन जाने पर भी सोमदेव जातिमद और रूपमद करता रहा। अन्तिम समय में उसने उक्त दोनों मदों की आलोचना-प्रतिक्रमणा नहीं की। चारित्रपालन के कारण मर कर वह स्वर्ग में गया।

※ देव-आयुष्य को पूर्ण कर जातिमद के फलस्वरूप मृतगंगा के किनारे हरिकेशगोत्रीय चाण्डालों के अधिपति 'बलकोट्ट' नामक चाण्डाल की पत्नी 'गौरी' के गर्भ से पुत्र-रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'बल' रखा गया। यही बालक आगे चल कर 'हरिकेशबल' कहलाया। पूर्वजन्म में उसने रूपमद किया था, इस कारण वह कालाकलूटा, कुरूप और बेडौल हुआ उसके सभी

परिजन उसकी कुरूपता देख कर घृणा करने लगे। साथ ही ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता गया, त्यों-त्यों उसका स्वभाव भी क्रोधी और झगड़ालू बनता गया। वह हर किसी से लड़ पड़ता और गालियाँ बकता। यहाँ तक कि माता-पिता भी उसके कटु व्यवहार और उग्र स्वभाव से परेशान हो गए।

एक दिन वसंतोत्सव के अवसर पर सभी लोग एकत्रित हुए। अनेक बालक खेल खेलने में लगे हुए थे। उपद्रवी हरिकेशबल जब बालकों के उस खेल में सम्मिलित होने लगा तो वृद्धों ने उसे खेलने नहीं दिया। इससे गुस्से में आकर वह सबको गालियाँ देने लगा। सबने उसे वहाँ से निकालकर दूर बैठा दिया। अपमानित हरिकेशबल अकेला लाचार और दुःखित हो कर बैठ गया। इतने में ही वहाँ एक भयंकर काला विषधर निकला। चाण्डालों ने उसे 'दुष्टसर्प है' यह कह कर मार डाला। थोड़ी देर बाद एक अलशिक (दुमुंही) जाति का निर्विष सर्प निकला। लोगों ने उसे विषरहित कह कर छोड़ दिया। इन दोनों घटनाओं को दूर बैठे हरिकेशबल ने देखा। उसने चिन्तन किया कि 'प्राणी अपने ही दोषों से दुःख पाता है, अपने ही गुणों से प्रीतिभाजन बनता है। मेरे सामने ही मेरे बन्धुजनों ने विषैले सांप को मार दिया और निर्विष की रक्षा की, नहीं मारा। मेरे बन्धुजन मेरे दोषयुक्त व्यवहार के कारण ही मुझ से घृणा करते हैं। मैं सबका अप्रीतिभाजन बना हुआ हूँ। यदि मैं भी दोषरहित बन जाऊँ तो सबका प्रीतिभाजन बन सकता हूँ।' यों विचार करते-करते उसे जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ। उसके समक्ष मनुष्यभव में कृत जातिमद एवं रूपमद का चित्र तैरने लगा। उसी समय उसे विरक्ति हो गई और उसने किसी मुनि के पास जा कर भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली। उसकी धर्मसाधना में जाति अवरोध नहीं डाल सकी।

मुनि हरिकेशबल ने कर्मक्षय करने के लिये तीव्र तपश्चर्या की। एक बार विहार करते हुए वे वाराणसी पहुँचे। वहाँ तिंदुकवन में एक विशिष्ट तिन्दुकवृक्ष के नीचे वे ठहर गए और वहीं मासखमण-तपश्चर्या करने लगे। इनके उत्कृष्ट गुणों से प्रभावित हो कर गण्डीतिन्दुक नामक एक यक्षराज उनकी वैयावृत्य करने लगा। एक बार नगरी के राजा कौशलिक की भद्रा नाम की राजपुत्री पूजनसामग्री लेकर अपनी सखियों सहित उस तिन्दुकयक्ष की पूजा करने वहाँ आई। उसने यक्ष की प्रदक्षिणा करते हुए मलिन वस्त्र और गंदे शरीर वाले कुरूप मुनि को देखा तो मुंह मचकोड़ कर घृणाभाव से उन पर थूक दिया। यक्ष ने राजपुत्री का यह असभ्य व्यवहार देखा तो कुपित हो कर शीघ्र ही उसके शरीर में प्रविष्ट हो गया। यक्षाविष्ट राजपुत्री पागलों की तरह असम्बद्ध प्रलाप एवं विकृत चेष्टाएँ करने लगी। सखियाँ उसे बड़ी मुश्किल से राजमहल में लाईं। राजा उसकी यह स्थिति देख कर अत्यन्त चिन्तित हो गया। अनेक उपचार होने लगे; किन्तु सभी निष्फल हुए। राजा और मंत्री विचारमूढ़ हो गए कि अब क्या किया जाए? इतने में ही यक्ष किसी के शरीर में प्रविष्ट हो कर बोला—'इस कन्या ने घोर तपस्वी महामुनि का घोर अपमान किया है, अतः मैंने उसका फल चखाने के लिए इसे पागल कर दिया है। अगर आप इसे जीवित देखना चाहते हैं तो इस अपराध के प्रायश्चित्तस्वरूप उन्हीं मुनि के साथ इसका विवाह कर दीजिए। अगर राजा ने यह विवाह स्वीकार नहीं किया तो मैं राजपुत्री को जीवित नहीं रहने दूंगा।'

राजा ने सोचा—यदि मुनि के साथ विवाह कर देने से यह जीवित रहती है तो हमें क्या आपत्ति है? राजा ने यह बात स्वीकार कर ली और मुनि की सेवा में पहुँच कर अपने अपराध

की क्षमा मांगी। हाथ जोड़ कर भद्रा को सामने उपस्थित करते हुए प्रार्थना की—'भगवन्! इस कन्या ने आपका महान् अपराध किया है। अतः मैं आपकी सेवा में इसे परिचारिका के रूप में देता हूँ। आप इसका पाणिग्रहण कीजिए।' यह सुन कर मुनि ने शान्तभाव से कहा—'राजन्! मेरा कोई अपमान नहीं हुआ है। परन्तु मैं धन-धान्य-स्त्री-पुत्र आदि समस्त सांसारिक सम्बन्धों से विरक्त हूँ। ब्रह्मचर्यमहाव्रती हूँ। किसी भी स्त्री के साथ विवाह करना तो दूर रहा; स्त्री के साथ एक मकान में निवास करना भी हमारे लिए अकल्पनीय है। संयमी पुरुषों के लिए संसार की समस्त स्त्रियाँ माता, बहिन एवं पुत्री के समान हैं। आपकी पुत्री से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है।' कन्या ने भी अपने पर यक्षप्रकोप को दूर करने के लिए मुनि से पाणिग्रहण करने के लिए अनुनय-विनय की। किन्तु मुनि ने जब उसे स्वीकार नहीं किया तो यक्ष ने उससे कहा—मुनि तुम्हें नहीं चाहते, अतः अपने घर चली-जाओ। यक्ष का वचन सुन कर निराश राजकन्या अपने पिता के साथ वापस लौट आई

किसी ने राजा से कहा कि 'ब्राह्मण भी ऋषि का ही रूप है। अतः मुनि द्वारा अस्वीकृत इस कन्या का विवाह यहाँ के राजपुरोहित रुद्रदेव ब्राह्मण के साथ कर देना उचित रहेगा।' यह सुन कर राजा ने इस विचार को पसंद किया। राजकन्या भद्रा का विवाह राजपुरोहित रुद्रदेव ब्राह्मण के साथ कर दिया गया।

रुद्रदेव यज्ञशाला का अधिपति था। उसने अपनी नवविवाहिता पत्नी भद्रा को यज्ञशाला की व्यवस्था सौंपी और एक महान् यज्ञ का प्रारम्भ किया। मुनि हरिकेशबल मासिक उपवास के पारणे के दिन भिक्षार्थ पर्यटन करते हुए रुद्रदेव की यज्ञशाला में पहुँच गए।

※ आगे की कथा प्रस्तुत अध्ययन में प्रतिपादित है ही।[1] पूर्वकथा मूलपाठ में संकेतरूप से है, जिसे वृत्तिकारों ने परम्परानुसार लिखा है।

※ मुनि और वहाँ के वरिष्ठ यज्ञसंचालक ब्राह्मणों के बीच निम्नलिखित मुख्य विषयों पर चर्चा हुई है—(१) दान का वास्तविक पात्र-अपात्र, (२) जातिवाद की अतात्त्विकता, (३) सच्चा यज्ञ और उसके विविध आध्यात्मिक साधन, (४) जलस्नान, (५) तीर्थ आदि। इस चर्चा के माध्यम से ब्राह्मणसंस्कृति और श्रमण (निर्ग्रन्थ)-संस्कृति का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। यक्ष के द्वारा मुनि की सेवा भी 'देव धर्मनिष्ठपुरुषों के चरणों के दास बन जाते हैं' इस उक्ति को चरितार्थ करती है।

---

1. देखिये—उत्तरा. अ. १२ की १२ वीं गाथा से लेकर ४७ वीं गाथा तक।

बारसमं अज्झयणं : बारहवाँ अध्ययन

हरिएसिज्ज : हरिकेशीय

हरिकेशबल मुनि का मुनिरूप में परिचय

१. सोवागकुलसंभूओ गुणुत्तरधरो मुणी।
हरिएसबलो नाम आसि भिक्खू जिइन्दिओ ॥

[१] हरिकेशबल नामक मुनि श्वपाक-चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए थे, (फिर भी वे) ज्ञानादि उत्तम गुणों के धारक और जितेन्द्रिय भिक्षु थे।

२. इरि-एसण-भासाए उच्चार-समिईसु य।
जओ आयाणनिक्खेवे संजओ सुसमाहिओ ॥

[२] वे ईर्या, एषणा, भाषा, उच्चार (परिष्ठापन) और आदान-निक्षेप—(इन पांच) समितियों में यत्नशील, संयत (संयम में पुरुषार्थी) और सुसमाधिमान् थे।

३. मणगुत्तो वयगुत्तो कायगुत्तो जिइन्दिओ।
भिक्खट्ठा बम्भ-इज्जंमि जन्नवाडं उवट्ठिओ ॥

[३] वे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से युक्त जितेन्द्रिय मुनि भिक्षा के लिए यज्ञवाट (यज्ञमण्डप) में पहुँचे, जहाँ ब्राह्मणों का यज्ञ हो रहा था।

विवेचन—श्वपाककुल में उत्पन्न—श्वपाककुल : बृहद्वृत्तिकार के अनुसार—चाण्डालकुल, चूर्णिकार के अनुसार—जिस कुल में कुत्ते का मांस पकाया जाता है, वह कुल, निर्युक्तिकार के अनुसार—हरिकेश, चाण्डाल, श्वपाक, मातंग, बाह्य, पाण, श्वानधन, मृताश, श्मशानवृत्ति और नीच, ये सब एकार्थक हैं।[1]

हरिएसबलो—हरिकेशबल : अर्थ—हरिकेश, मुनि का गोत्र था और बल उनका नाम था। उस युग में नाम के पूर्व गोत्र का प्रयोग होता था। बृहद्वृत्तिकार के अनुसार हरिकेशनाम गोत्र का वेदन करने वाला।[2]

---

१. (क) श्वपाकाः चाण्डलाः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ३५७
(ख) हरिएसा चंडाला सोवाग मयंग बाहिरा पाणा। साणधणा य मयासा सुसाणवित्ती य नीया य ॥
—उत्त. निर्युक्ति, गा. ३२३

२. (क) हरिकेशः—सर्वत्र हरिकेशतयैव प्रतीतो, बलो नाम—बलाभिधानम्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ३५७
(ख) हरिकेशनाम-गोत्रं वेदयन्। —उत्त. निर्युक्ति, गा. ३२० का अर्थ

मुणी-मुनि : दो अर्थ—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—'सर्वविरति की प्रतिज्ञा लेने वाला' और (२) चूर्णि के अनुसार—धर्म-अधर्म का मनन करने वाला।[1]

चाण्डालकुलोत्पन्न होते हुए भी श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न—यहाँ शास्त्रकार का आशय यह है कि किसी जाति या कुल में जन्म लेने मात्र से कोई व्यक्ति उच्च या नीच नहीं हो जाता, किन्तु गुण और अवगुण के कारण ही व्यक्ति की उच्चता-नीचता प्रकट होती है। हरिकेशवल चाण्डालकुल में जन्मा था, जिस कुल के लोग कुत्ते का मांस भक्षण करने वाले, शव के वस्त्रों का उपयोग करने वाले, आकृति से भयंकर, प्रकृति से कठोर एवं असंस्कारी होते हैं। उस असंस्कारी घृणित कुल में जन्म लेकर भी हरिकेशवल पूर्वपुण्योदय से श्रेष्ठ गुणों के धारक, जितेन्द्रिय और भिक्षाजीवी मुनि बन गए थे। वे कैसे उत्तमगुणधारी मुनि बने ? इसकी पूर्वकथा अध्ययनसार में दी गई है।[2]

वे प्रतिज्ञा से ही नहीं, आचार से भी मुनि थे—दूसरी और तीसरी गाथा में बताया गया है कि वे केवल प्रतिज्ञा से या नाममात्र से ही मुनि नहीं थे, अपितु मुनिधर्म के आचार से युक्त थे। यथा—वे पांच समिति और तीन गुप्तियों का पालन पूर्ण सावधानीपूर्वक करते थे, जितेन्द्रिय थे, पंचमहाव्रतरूप संयम में पुरुषार्थी थे, सम्यक् समाधिसम्पन्न थे और निर्दोष भिक्षा पर निर्वाह करने वाले थे।[3]

जण्णवाडं—यज्ञवाड या यज्ञपाट। यज्ञवाड का अर्थ यज्ञ करने वालों का मोहल्ला, पाड़ा, अथवा वाड़ा प्रतीत होता है। कई आधुनिक टीकाकार 'यज्ञमण्डप' अर्थ करते हैं।[4]

मुनि को देख कर ब्राह्मणों द्वारा अवज्ञा एवं उपहास

४. तं पासिऊणमेज्जन्तं तवेण परिसोसियं।
पन्तोवहिउवगरणं उवहसन्ति अणारिया॥

[४] तप से सूखे हुए शरीर वाले तथा प्रान्त (जीर्ण एवं मलिन) उपधि एवं उपकरण वाले उस मुनि को आते देख कर (वे) अनार्य (उनका) उपहास करने लगे।

५. जाईमयपडिथद्धा हिंसगा अजिइन्दिया।
अबम्भचारिणो बाला इमं वयणमब्बवी—॥

[५] (उन) जातिमद से प्रतिस्तब्ध—गर्वित, हिंसक, अजितेन्द्रिय, अब्रह्मचारी एवं अज्ञानी लोगों ने इस प्रकार कहा—

६. कयरे आगच्छइ दित्तरूवे काले विगराले फोक्कनासे।
ओमचेलए पंसुपिसायभूए संकरदूसं परिहरिय कण्ठे॥

[६] वीभत्स रूप वाला, काला-कलूटा, विकराल, वेडौल (आगे से मोटी) नाक वाला, अल्प

---

१. (क) 'मुणति-प्रतिजानीते सर्वविरतिमिति मुणिः।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ३५७
(ख) 'मनुते-मन्यते वा धर्माऽधर्मानिति मुनिः।' -उत्त. चूर्णि, पृ. २०३

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५७ ३. वही, पत्र ३५७

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५८ (ख) उत्तरा. (मुनि नथमलजी) अनुवाद, पृ. १४३

एवं मलिन वस्त्र वाला, धूलि-धूसरित शरीर होने से भूत-सा दिखाई देने वाला, (और) गले में संकर-दूष्य (कूडे के ढेर से उठा कर लाये हुए जीर्ण एवं मलिन वस्त्र-सा) धारण किये हुए यह कौन आ रहा है ?

७. कयरे तुमं इय अदंसणिज्जे काए व आसा इहमागओ सि।
ओमचेलगा पंसुपिसायभूया गच्छ वखलाहि किमिह ठिओसि ? ॥

[७] 'अरे अदर्शनीय ! तू कौन है रे ?, यहाँ तू किस आशा से आया है ? जीर्ण और मैले वस्त्र होने से अधनंगे तथा धूल के कारण पिशाच जैसे शरीर वाले ! चल, हट जा यहाँ से ! यहाँ क्यों खड़ा है ?'

विवेचन—पंतोवहिउवगरणं—प्रान्त शब्द यहाँ जीर्ण और मलिन होने से तुच्छ—असार अर्थ में है, यह उपधि और उपकरण का विशेषण है। यों तो उपधि और उपकरण ये दोनों धर्मसाधना के लिए उपकारी होने से एकार्थक हैं, तथापि उपधि का अर्थ यहाँ नित्योपयोगी वस्त्रपात्रादि रूप उपकरण—औघिकोपधि है और उपकरण का अर्थ—संयमोपकारक रजोहरण, प्रमार्जनिका आदि औपग्रहिकोपधि है।[1]

अणारिया—अनार्य शब्द मूलतः निम्न जाति, कुल, क्षेत्र, कर्म, शिल्प आदि से सम्बन्धित था, किन्तु बाद में यह निम्न-असभ्य-आचरणसूचक बन गया। यहाँ अनार्य शब्द असभ्य, उज्जड़, अनाड़ी अथवा साधु पुरुषों के निन्दक—अशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त है।[2]

आचरणहीन ब्राह्मण—प्रस्तुत गाथा (सं. ५) में आचरणहीन ब्राह्मणों का स्वरूप बताया गया है, उनके ५ विशेषण बताये गए हैं—जातिमद से मत्त, हिंसक, अजितेन्द्रिय, अब्रह्मचारी और बाल। बृहद्वृत्तिकार के अनुसार 'हम ब्राह्मण हैं, उच्च जातीय हैं, श्रेष्ठ हैं, इस प्रकार के जातिमद से वे मत्त थे, यज्ञों में पशुवध करने के कारण हिंसापरायण थे, पांचों इन्द्रियों को वश में नहीं किये हुए थे, वे पुत्रोत्पत्ति के लिए मैथुनसेवन (अब्रह्माचरण) को धर्म मानते थे तथा बालक्रीड़ा की तरह लौकिक-कामनावश अग्निहोत्रादि में प्रवृत्त होने से अज्ञानी (अतत्त्वज्ञ) थे।[3]

ओमचेलए—(१) चूर्णि के अनुसार—अचेल अथवा थोड़े-से जीर्ण-शीर्ण तुच्छ वस्त्रों वाला, (२) बृहद्वृत्ति के अनुसार—हलके, गंदे एवं जीर्ण होने से असार वस्त्रों वाला।[4]

---

१. (क) 'प्रान्तः—जीर्ण-मलिनत्वादिभिरसारम्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ३५८
(ख) उपधिः—नित्योपयोगी वस्त्रपात्रादिरूप औघिकोपधिः, उपकरणं—संयमोपकारकं रजोहरणप्रमार्जिकादिकम्—औपग्रहिकोपधिश्च। —उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ५७६

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५८ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ५७६

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५८—

धर्मार्थं पुत्रकामस्य स्वदारेष्वधिकारिणः।
ऋतुकाले विधानेन तत्र दोषो न विद्यते॥
अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च।
तस्मात् पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चात् स्वर्गं गमिष्यति॥
उक्तं च—अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेति लक्ष्यते॥

४. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ. २०४ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र. ३५९

पंसुपिसायभूए—लौकिक व्यवहार में पिशाच वह माना जाता है, जिसके दाढ़ी-मूंछ, नख और रोएँ लम्बे एवं बढ़े हुए हों; शरीर धूल से भरा हो; मुंनि भी शरीर के प्रति निरपेक्ष एवं धूल से भरे होने के कारण पिशाच (भूत) जैसे लगते थे।[1]

'संकरदूसं परिहरिय'—संकर का अर्थ है—तृण, धूल, राख, गोबर, कोयले आदि मिले हुए कूड़े-कर्कट का ढेर, जिसे उकरड़ी कहते हैं। वहाँ लोग उन्हीं वस्त्रों को डालते हैं, जो अनुपयोगी एवं अत्यन्त रद्दी हों। इसलिए संकरदूष्य का अर्थ हुआ—उकरड़ी से उठा कर लाया हुआ चिथड़ा। मुनि के वस्त्र भी वैसे थे, जीर्ण, शीर्ण और निकृष्ट, फैंकने योग्य। इसलिए मुनि को उन्होंने कहा था—गले में संकरदूष्य पहने हुए। कन्धा कण्ठ का पार्श्ववर्ती भाग है, इसलिए यहाँ कन्धे के लिए 'कण्ठ' शब्द का प्रयोग हुआ है। आशय यह है कि ऐसे वस्त्र मुनि के कन्धे पर डले हुए थे। जो मुनि अभिग्रहधारी होते हैं, वे अपने वस्त्रों को जहाँ जाते हैं, वहाँ साथ ही रखते हैं, उपाश्रय में छोड़ कर नहीं जाते।[2]

विगराले—विकराल—हरिकेशबल मुनि के दांत आगे बढ़े हुए थे, इस कारण उनका चेहरा विकराल लगता था।[3]

यक्ष के द्वारा मुनि का परिचयात्मक उत्तर

८. जक्खो तहिं तिन्दुयरुक्खवासी अणुकम्पओ तस्स महामुणिस्स।
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं इमाइं वयणाइमुदाहरित्था—॥

[८] उस समय उस महामुनि के प्रति अनुकम्पाभाव रखने वाले तिन्दुकवृक्षवासी यक्ष ने अपने शरीर को छिपा कर (महामुनि के शरीर में प्रविष्ट होकर) ऐसे वचन कहे—

९. समणो अहं संजओ बम्भयारी विरओ धणपयणपरिग्गहाओ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि॥

[९] मैं श्रमण हूँ, मैं संयत (संयम-निष्ठ) हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, धन, पचन (भोजनादि पकाने) और परिग्रह से विरत (निवृत्त) हूँ, मैं भिक्षाकाल में दूसरों (गृहस्थों) के द्वारा (अपने लिए) निष्पन्न आहार पाने के लिए यहाँ (यज्ञपाड़े में) आया हूँ।

१०. वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य अन्नं पभूयं भवयाणमेयं।
जाणाहि मे जायणजीविणु त्ति सेसावसेसं लभऊ तवस्सी॥

[१०] यहाँ यह बहुत-सा अन्न बांटा जा रहा है, (बहुत-सा) खाया जा रहा है और (भात-दाल आदि भोजन) उपभोग में लाया जा रहा है। आपको यह ज्ञात होना चाहिए कि मैं याचनाजीवी (भिक्षाजीवी) हूँ। अतः भोजन के बाद बचे हुए (शेष) भोजन में से अवशिष्ट भोजन इस तपस्वी को भी मिल जाए।

विवेचन—अणुकंपओ—जातिमदलिप्त ब्राह्मणों ने महामुनि का उपहास एवं अपमान किया,

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३५९
२. वही, पत्र ३५९
३. वही, पत्र ३५८

फिर भी प्रशमपरायण महामुनि कुछ भी नहीं बोले, वे शान्त रहे। किन्तु तिन्दुकवृक्षवासी यक्ष मुनि की तपस्या से प्रभावित होकर उनका सेवक बन गया था। उसी का विशेषण है—अनुकम्पक—मुनि के अनुकूल चेष्टा—प्रवृत्ति करने वाला।[1]

तिन्दुयरुक्खवासी—इस विषय में परम्परागत मत यह है कि तिन्दुक (तेंदू) का एक वन था, उसके बीच में एक बड़ा तिन्दुक-वृक्ष था, जिसमें वह यक्ष रहता था। उसी वृक्ष के नीचे एक चैत्य था, जिसमें वह महामुनि रह कर साधना करते थे।[2]

धण-पयणपरिग्गहाओ—धन का अर्थ यहाँ गाय आदि चतुष्पद पशु है, पचन—का अर्थ उपलक्षण से भोजन पकाना-पकवाना-खरीदवाना, बेचना विकवाना है। परिग्रह का अर्थ—बृहद्-वृत्तिकार ने द्रव्यादि में मूर्च्छा किया है, जब कि चूर्णिकार ने—स्वर्ण आदि किया है।[3]

परपवित्तस्स—दूसरों—गृहस्थों ने अपने लिए जो प्रवृत्त—निष्पादित—बनाया है।[4]

खज्जइ भुज्जइ : दोनों का अर्थ भेद—बृहद्वृत्ति के अनुसार खाजा आदि तले हुए पदार्थ 'खाद्य' कहलाते हैं और दाल-भात आदि पदार्थ भोज्य। सामान्यतया 'खाद्' और 'भुज्' दोनों धातु समानार्थक हैं, तथापि इनमें अर्थभेद है, जिसे चूर्णिकार ने बताया है—खाद्य खाया जाता है और भोज्य भोगा जाता है।[5]

यज्ञशालाधिपति रुद्रदेव

११. उवक्खडं भोयण माहणाणं अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं।
न ऊ वयं एरिसमन्न-पाणं दाहामु तुज्झं किमिहं ठिओ सि॥

[११] (रुद्रदेव—) यह भोजन (केवल) ब्राह्मणों के अपने लिए तैयार किया गया है। यह एकपक्षीय है। अतः ऐसा (यज्ञार्थनिष्पन्न) अन्न-पान हम तुझे नहीं देंगे। (फिर) यहाँ क्यों खड़ा है?

१२. थलेसु बीयाइ ववन्ति कासगा तहेव निन्नेसु य आससाए।
एयाए सद्धाए दलाह मज्झं आराहए पुण्णमिणं खु खेत्तं॥

[१२] (भिक्षुशरीरस्थ यक्ष—) अच्छी उपज की आकांक्षा से जैसे कृषक स्थलों (उच्च-भूभागों) में बीज बोते हैं, वैसे ही निम्न भूभागों में भी बोते हैं। कृषक की इस श्रद्धा (दृष्टि) से मुझे दान दो। यही (मैं ही) पुण्यक्षेत्र हूँ। इसी की आराधना करो।

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५९ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ. २०४-२०५
अणुकंपओ त्ति—अनु शब्दोऽनुरूपार्थे ततश्चानुरूपं कम्पते—चेष्टते इत्यनुकम्पकः।
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३५९ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ. २०४-२०५
३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६० (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ. २०५
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६०
५. (क) 'खाद्यते खण्डखाद्यादि, भुज्यते च भक्त-सूपादि। —बृहद्वृत्ति, पत्र ३६०
(ख) उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ. २०५

१३. खेत्ताणि अम्हं विइयाणि लोए जहिं पकिण्णा विरुहन्ति पुण्णा।
जे माहणा जाइ-विज्जोववेया ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं॥

[१३] (रुद्रदेव—) जगत् में ऐसे क्षेत्र हमें विदित (ज्ञात) हैं; जहाँ बोये हुए बीज पूर्णरूप से उग आते हैं। जो ब्राह्मण (ब्राह्मणरूप) जाति और (चतुर्दश) विद्याओं से युक्त हैं, वे ही मनोहर (उत्तम) क्षेत्र हैं; (तेरे सरीखे शूद्रजातीय तथा चतुर्दशविद्यारहित भिक्षु उत्तम क्षेत्र नहीं हैं)।

१४. कोहो य माणो य वहो य जेसिं मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं॥

[१४] (यक्ष—) जिनके जीवन में क्रोध और अभिमान है, वध (हिंसा) और असत्य (मृषावाद) है, अदत्तादान (चोरी) और परिग्रह है, वे ब्राह्मण जाति और विद्या से विहीन हैं, वे क्षेत्र स्पष्टतः पापक्षेत्र हैं।

१५. तुब्भेत्थ भो! भारधरा गिराणं अट्ठं न जाणाह अहिज्ज वेए।
उच्चावयाइं मुणिणो चरन्ति ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं॥

[१५] हे ब्राह्मणो! तुम तो इस जगत् में (केवल) वाणी (शास्त्रवाणी) का भार वहन करने वाले हो! वेदों को पढ़कर भी उनके (वास्तविक) अर्थ को नहीं जानते। जो मुनि ऊँच-नीच--मध्यम घरों में (समभावपूर्वक) भिक्षाटन करते हैं, वे ही वास्तव में उत्तम क्षेत्र हैं।

१६. अज्झावयाणं पडिकूलभासी पभाससे किं नु सगासि अम्हं।
अवि एयं विणस्सउ अन्नपाणं न य णं दहामु तुमं नियण्ठा!॥

[१६] (रुद्रदेव—) अध्यापकों (उपाध्यायों) के प्रतिकूल बोलने वाले निर्ग्रन्थ! तू हमारे समक्ष क्या बकवास कर रहा है? यह अन्न-पान भले ही सड़कर नष्ट हो जाए, परन्तु तुझे तो हम हर्गिज नहीं देंगे।

१७. समिईहि मज्झं सुसमाहियस्स गुत्तीहि गुत्तस्स जिइन्दियस्स।
जइ मे न दाहित्थ अहेसणिज्जं किमज्ज जन्नाण लहित्थ लाहं?॥

[१७] (यक्ष—) मैं ईर्या आदि पांच समितियों से सुसमाहित हूँ, तीन गुप्तियों से गुप्त हूँ और जितेन्द्रिय हूँ, यदि तुम मुझे यह एषणीय (एषणाविशुद्ध) आहार नहीं दोगे, तो आज इन यज्ञों का क्या (पुण्यरूप) लाभ पाओगे?

विवेचन—रुद्रदेव-यक्ष-संवाद—प्रस्तुत सात गाथाओं में रुद्रदेव याज्ञिक और महामुनि के शरीर में प्रविष्ट यक्ष की परस्पर चर्चा है। एक प्रकार से यह ब्राह्मण और श्रमण का विवाद है।

एगपक्खं—एकपक्ष : व्याख्या—यह भोजन का विशेषण है। एकपक्षीय इसलिए कहा गया है कि यह यज्ञ में निष्पन्न भोजन केवल ब्राह्मणों के लिए है। अर्थात्—यज्ञ में सुसंस्कृत भोजन ब्राह्मण-जाति के अतिरिक्त अन्य किसी जाति को नहीं दिया जा सकता, विशेषतः शूद्र को तो बिल्कुल नहीं

दिया जा सकता ।[1]

अन्नपाणं—अन्न का अर्थ है—भात आदि तथा पान का अर्थ है—द्राक्षा आदि फलों का रस या पना या कोई पेय पदार्थ ।[2]

आससाए—यदि अच्छी वृष्टि हुई, तब तो ऊँचे भूभाग में फसल अच्छी होगी, अगर वर्षा कम हुई तो नीचे भूभाग में अच्छी पैदावार होगी, इस आशा से किसान ऊँची और नीची भूमि में यथावसर बीज होते हैं ।

एआए सद्धाए—किसान की पूर्वोक्तरूप श्रद्धा—आशा के समान आशा रखकर भी मुझे दान दो । इसका आशय यह है कि चाहे आप अपने को ऊँची भूमि के समान और मुझे नीची भूमि के तुल्य समझें, फिर भी मुझे देना उचित है ।[3]

आराहए पुण्णमिणं खु खेत्तं : भावार्थ—यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला क्षेत्र (मैं) ही पुण्यरूप है—शुभ है; अर्थात्—पुण्यप्राप्ति का हेतुरूप क्षेत्र है । इसी की आराधना करो ।[4]

सुपेसलाइं—यों तो सुपेशल का अर्थ—शोभन-सुन्दर या प्रीतिकर किया गया है, किन्तु यहाँ सुपेशल का प्रासंगिक अर्थ उत्तम या पुण्यरूप ही संगत है ।[5]

जाइविज्जाविहीणा—यक्ष ने याज्ञिक ब्राह्मण से कहा—जो ब्राह्मण क्रोधादि से युक्त हैं, वे जाति और विद्या से कोसों दूर हैं; क्योंकि जाति (वर्ण)-व्यवस्था क्रिया और कर्म के विभाग से है । जैसे कि ब्रह्मचर्य-पालन से ब्राह्मण, शिल्प के कारण शिल्पिक । किन्तु जिसमें ब्राह्मणत्व की क्रिया (आचरण) और कर्म (कर्त्तव्य या व्यवसाय) न हो, वे तो नाममात्र के ब्राह्मण हैं । सत्-शास्त्रों की विद्या (ज्ञान) भी उसी में मानी जाती है, जिनमें अहिंसादि पांच पवित्र व्रत हों; क्योंकि ज्ञान का फल विरति है ।[6]

---

१. (क) एगपक्खं नाम नाब्राह्मणेभ्यो दीयते । —उत्तरा. चूर्णि, पृ. २०५
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६०—

"न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं, न हविः कृतम् ।
न चास्योपदिशेद् धर्मं, न चास्य व्रतमादिशेत् ॥"

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६० : "अन्नं च—ओदनादि, पानं च द्राक्षापानाद्यन्नपानम् ।"

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६१

४, वही, पत्र ३६१

५. वही, पत्र ३६१

६. क्रियाकर्मविभागेन हि चातुर्वर्ण्यव्यवस्था । यत उक्तम्—

"एकवर्णमिदं सर्वं, पूर्वमासीद्युधिष्ठिर !
क्रियाकर्मविभागेन चातुर्वर्ण्यं व्यवस्थितम् ॥"
"ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण, यथा शिल्पेन शिल्पिकः ।
अन्यथा नाममात्रं स्यादिन्द्रगोपककीटवत् ॥"
"तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः ।
तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम् ?" —बृहद्वृत्ति, पत्र ३६१

उच्चावयाइं : दो रूप : तीन अर्थ—(१) **उच्चावचानि**—उत्तम-अधम या उच्च-नीच-मध्यम कुलों-घरों में, (२) अथवा **उच्चावच** का अर्थ है—छोटे-बड़े नानाविध तप, अथवा (३) **उच्चव्रतानि**—अर्थात्—शेष व्रतों की अपेक्षा से महाव्रत उच्च व्रत हैं, जिनका आचरण मुनि करते हैं। वे तुम्हारी तरह अजितेन्द्रिय व अशील नहीं हैं। अतः वे उच्चव्रती मुनिरूप क्षेत्र ही उत्तम हैं।[1]

अज्ज : दो अर्थ—(१) **अद्य**—आज, इस समय जो यज्ञ आरम्भ किया है, उसका, (२) **आर्यो** : हे आर्यो !

लभित्थ लाभं : भावार्थ—विशिष्ट पुण्यप्राप्तिरूप लाभ तभी मिलेगा, जब पात्र को दान दोगे। कहा भी है—अपात्र में दही, मधु या घृत रखने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार अपात्र में दिया हुआ दान हानिरूप है।[2]

ब्राह्मणों द्वारा यक्षाधिष्ठित मुनि को मारने-पीटने का आदेश तथा उसका पालन

१८. के एत्थ खत्ता उवजोइया वा अज्झावया वा सह खण्डिएहिं।
एयं खु दण्डेण फलेण हन्ता कण्ठम्मि घेत्तूण खलेज्ज जो णं ?॥

[१८] (रुद्रदेव—) हैं कोई यहाँ क्षत्रिय, उपज्योतिष्क (-रसोइये) अथवा विद्यार्थियों सहित अध्यापक, जो इस साधु को डंडे से और फल (विल्व आदि फल या फलक-पाटिया) से पीटकर और कण्ठ (गर्दन) पकड़ कर यहां से निकाल दे।

१९. अज्झावयाणं वयणं सुणेत्ता उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा।
दण्डेहि वित्तेहि कसेहि चेव समागया तं इसि तालयन्ति॥

[१९] अध्यापकों (उपाध्यायों) का वचन (आदेश) सुनकर बहुत-से कुमार (छात्रादि) दौड़ कर वहाँ आए और डंडों से, बेंतों से और चाबुकों से उन हरिकेशबल ऋषि को पीटने लगे।

विवेचन—विशिष्ट शब्दों के अर्थ—खत्ता—क्षत्र, क्षत्रियजातीय, **उवजोइया**—उपज्योतिष्क, अर्थात्—अग्नि के पास रहने वाले रसोइए अथवा ऋत्विज, **खंडिकेहिं**—खण्डिकों-छात्रों सहित।[3]

दंडेण : दो अर्थ—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—डंडों से, (२) वृद्धव्याख्यानुसार—दंडों से—बांस, लट्ठी आदि से, अथवा कुहनी मार कर।[4]

भद्रा द्वारा कुमारों को समझा कर मुनि का यथार्थ परिचय-प्रदान

२०. रन्नो तहिं कोसलियस्स धूया भद्द त्ति नामेण अणिन्दियंगी।
तं पासिया संजय हम्ममाणं कुद्धे कुमारे परिनिव्ववेइ॥

[२०] उस यज्ञपाटक में राजा कौशलिक की अनिन्दित अंग वाली (अनिन्द्य सुन्दरी) कन्या भद्रा उन संयमी मुनि को पीटते देख कर क्रुद्ध कुमारों को शान्त करने (रोकने) लगी।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६२-३६३
२. वही, पत्र ३६३
३. वही, पत्र ३६२
४. (क) वही, पत्र ३६३ (ख) चूर्णि, पृ. २०७

२१. देवाभिओगेण निओइएणं दिन्ना मु रन्ना मणसा न झाया।
नरिन्द-देविन्दऽभिवन्दिएणं जेणऽम्हि वन्ता इसिणा स एसो ॥

[२१] (भद्रा—) देव (यक्ष) के अभियोग (बलवती प्रेरणा) से प्रेरित (मेरे पिता कौशलिक) राजा ने मुझे इन मुनि को दी थी, किन्तु मुनि ने मुझे मन से भी नहीं चाहा और मेरा परित्याग कर दिया। (ऐसे निःस्पृह) तथा नरेन्द्रों और देवेन्द्रों द्वारा अभिवन्दित (पूजित) ये वही ऋषि हैं।

२२. एसो हु सो उग्गतवो महप्पा जिइन्दिओ संजओ बम्भयारी।
जो मे तया नेच्छइ दिज्जमाणिं पिउणा सयं कोसलिएण रन्ना ॥

[२२] ये वही उग्रतपस्वी हैं, महात्मा हैं, जितेन्द्रिय, संयमी और ब्रह्मचारी हैं, जिन्होंने मेरे पिता राजा कौशलिक के द्वारा उस समय मुझे दिये जाने पर भी नहीं चाहा।"

२३. महाजसो एस महाणुभागो घोरव्वओ घोरपरक्कमो य।
मा एयं हीलह अहीलणिज्जं मा सव्वे तेएण भे निद्दहेज्जा ॥

[२३] ये ऋषि महायशस्वी हैं, महानुभाग हैं, घोरव्रती हैं और घोरपराक्रमी हैं। ये अवहेलना (अवज्ञा) के योग्य नहीं हैं, अतः इनकी अवहेलना मत करो। ऐसा न हो कि कहीं यह तुम सबको अपने तेज से भस्म कर दें।

विवेचन—कोसलियस्स—कोशला नगरी के राजा कौशलिक की। **'उग्गतवो' आदि विशिष्ट शब्दों के अर्थ—उग्गतवो**—कर्मशत्रुओं के प्रति उत्कट-दारुण अनशनादि तप करने वाला उत्कटतपस्वी। **महप्पा**—महात्मा—विशिष्ट वीर्य्योल्लास के कारण जिसकी आत्मा प्रशस्त—महान् है, वह। **महाजसो**—जिसकी कीर्ति असीम है—त्रिभुवन में व्याप्त है। **महाणुभागो**—जिसका अनुभाव-सामर्थ्य-प्रभाव महान् है, अर्थात्—जिसमें महान् शापानुग्रह-सामर्थ्य है अथवा जिसे अचिन्त्य शक्ति प्राप्त है। **घोरव्वओ**—अत्यन्त दुर्धर महाव्रतों को जो धारण किये हुए है। **घोरपरक्कमो**—जिसमें कपायादि विजय के प्रति अपार सामर्थ्य है।[1]

यक्ष द्वारा कुमारों की दुर्दशा और भद्रा द्वारा पुनः प्रबोध

२४. एयाइं तीसे वयणाइ सोच्चा पत्तीइ भद्दाइ सुहासियाइं।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति ॥

[२४] (रुद्रदेव पुरोहित की) पत्नी उस भद्रा के सुभाषित वचनों को सुन कर तपस्वी ऋषि की वैयावृत्य (सेवा) के लिए (उपस्थित) यक्षों ने उन ब्राह्मण कुमारों को भूमि पर गिरा दिया (अथवा मुनि को पीटने से रोक दिया)।

२५. ते घोररूवा ठिय अन्तलिक्खे असुरा तहिं तं जणं तालयन्ति।
ते भिन्नदेहे रुहिरं वमन्ते पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो ॥

---

१. (क) महाणुभागो—महान्-भागो—अचिन्त्यशक्तिः यस्य स महाभागो महप्पभावो त्ति।—विशेषा. भाष्य १०६३
(ख) अणुभावोणाम शापानुग्रहसामर्थ्यं। —उत्तरा. चूर्णि, पृ. २०८
(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६५

[२५] (फिर भी वे नहीं माने तो) वे भयंकर रूप वाले असुर (यक्ष) आकाश में स्थित हो कर वहाँ (खड़े हुए) उन कुमारों को मारने लगे। कुमारों के शरीरों को क्षत-विक्षत होते एवं खून की उल्टी करते देख कर भद्रा ने पुनः कहा—

२६. गिरिं नहेहिं खणह अयं दन्तेहिं खायह।
जायतेयं पाएहिं हणह जे भिक्खु अवमन्नह ॥

[२६] तुम (तपस्वी) भिक्षु की जो अवज्ञा कर रहे हो सो मानो नखों से पर्वत खोद रहे हो, दांतों से लोहा चबा रहे हो और पैरों से अग्नि को रौंद रहे हो।

२७. आसीविसो उग्गतवो महेसी घोरव्वओ घोरपरक्कमो य।
अगणिं व पक्खन्द पयंगसेणा जे भिक्खुयं भत्तकाले वहेह ॥

[२७] यह महर्षि आशीविष (आशीविषलब्धिमान्) हैं, घोर तपस्वी हैं, घोर-पराक्रमी हैं। जो लोग भिक्षा-काल में भिक्षु को (मारपीट कर) व्यथित करते हैं, वे पतंगों की सेना (समूह) की तरह अग्नि में गिर रहे हैं।

२८. सीसेण एयं सरणं उवेह समागया सव्वजणेण तुब्भे।
जइ इच्छह जीवियं वा धणं वा लोगं पि एसो कुविओ डहेज्जा ॥

[२८] यदि तुम अपना जीवन और धन (सुरक्षित) रखना चाहते हो तो सभी लोग मिल कर नतमस्तक हो कर इनकी शरण में आओ। (तुम्हें मालूम होना चाहिए—) यह ऋषि यदि कुपित हो जाएँ तो समग्र लोक को भी भस्म कर सकते हैं।

२९. अवहेडिय पिट्ठिसउत्तमंगे पसारियाबाहु अकम्मचेट्ठे।
निब्भेरियच्छे रुहिरं वमन्ते उड्ढंमुहे निग्गयजीह-नेत्ते ॥

[२९] मुनि को प्रताड़ित करने वाले छात्रों के मस्तक पीठ की ओर झुक गए, उनकी बाँहें फैल गईं, इससे वे प्रत्येक क्रिया के लिए निश्चेष्ट हो गए। उनकी आँखें खुली की खुली रह गईं; उनके मुख से रक्त बहने लगा। उनके मुंह ऊपर की ओर हो गए और उनकी जिह्वाएँ और आँखें बाहर निकल आईं।

विवेचन—वेयावडियं० : तीन रूप : तीन अर्थ—(१) **वैयापृत्य**—विशेषरूप से प्रवृत्ति-शीलता—परिचर्या, (२) **वैयावृत्य**—सेवा—प्रसंगवश यहाँ विरोधी से रक्षा या प्रत्यनीकनिवारण के अर्थ में वैयावृत्य शब्द प्रयुक्त है। (३) **वेदावडित**—जिससे कर्मों का विदारण होता है, ऐसा सत्पुरुषार्थ।[1]

असुरा : यक्ष।

१. (क) उत्तरा. अनुवाद (मुनि नथमलजी) पृ.
(ख) वैयावृत्यर्थमेतत् प्रत्यनीक-निवारणलक्षणे प्रयोजने व्यावृत्ता भवाम इत्येवमर्थम्।—बृहद्वृत्ति, पत्र ३६५-३
(ग) विदारयति वेदारयति वा कम्मं वेदावडिता। —उत्तरा. चूर्णि, पृ. २०८

तं जणं—उन उपसर्गकर्ता छात्रजनों को ।

विनिवाडयंति— : दो रूप : दो अर्थ—(१) **विनिपातयन्ति**—भूमि पर गिरा देते हैं, (२) **विनिवारयन्ति**—मुनि को मारने से रोकते हैं ।[1]

आसीविसो : दो अर्थ—(१) आशीविषलब्धि से सम्पन्न । अर्थात्—इस लब्धि से शाप और अनुग्रह करने में समर्थ हैं । (२) आशीविष सर्प जैसा । जो आशीविष सांप को छेड़ता है, वह मृत्यु को बुलाता है, इसी प्रकार जो ऐसे तपस्वी मुनि से छेड़खानी करता है, वह भी मृत्यु को आमंत्रित करता है ।[2]

अगणिं व पक्खंद पतंगसेणा : भावार्थ—जैसे पतंगों का झुंड अग्नि में गिरते ही तत्काल विनष्ट हो जाता है, इसी प्रकार तुम भी इनकी तपरूपी अग्नि में गिर कर नष्ट हो जाओगे ।[3]

उग्गतवो—जो एक से लेकर मासखमण आदि उपवासयोग का प्रारम्भ करके जीवनपर्यन्त उसका निर्वाह करता है, वह उग्रतपा है ।[4]

अकम्मचिट्ठे : दो अर्थ—(१) जिनमें क्रिया करने की चेष्टा—(कर्महेतुकव्यापार) न रही हो, अर्थात्—जो मूर्च्छित हो गए हों, (२) जिनकी यज्ञ में इन्धन डालने आदि की चेष्टा—कर्मचेष्टा बन्द हो गई हो ।[5]

छात्रों की दुर्दशा से व्याकुल रुद्रदेव द्वारा मुनि से क्षमायाचना तथा आहार के लिए प्रार्थना—

> **३०. ते पासिया खण्डिय कट्ठभूए विमणो विसण्णो अह माहणो सो ।**
> **इसिं पसाएइ सभारियाओ हीलं च निन्दं च खमाह भन्ते ! ॥**

[३०] (पूर्वोक्त दुर्दशाग्रस्त) उन छात्रों को काष्ठ की तरह निश्चेष्ट देख कर वह रुद्रदेव ब्राह्मण उदास एवं चिन्ता से व्याकुल हो कर अपनी पत्नी भद्रा को साथ लेकर उन ऋषि (हरिकेशबल मुनि) को प्रसन्न करने लगा—"भंते ! हमने आपकी जो अवहेलना (अवज्ञा) और निन्दा की, उसे क्षमा करें।"

> **३१. बालेहिं मूढेहिं अयाणएहिं जं हीलिया तस्स खमाह भन्ते !**
> **महप्पसाया इसिणो हवन्ति न हु मुणी कोवपरा हवन्ति ॥**

[३१] 'भगवन् ! इन अज्ञानी (हिताहित विवेक से रहित) मूढ (कषाय के उदय से व्यामूढ़

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६५-३६६ : 'आसुरा—आसुरभावान्विततत्वाद् त एव यक्षाः ।'

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६६.

३. वही, पत्र ३६६

४. तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ. २०६

५. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६६ : अकर्मचेष्टाश्च—अविद्यमानकर्महेतुव्यापारतया अकर्मचेष्टाः यदा—क्रियन्त इति कर्माणि—अग्नौ समित्प्रक्षेपणादीनि तद्विषया चेष्टा कर्मचेष्टेह गृह्यते ।

चित्त वाले) बालकों ने आपकी जो अवहेलना (अवज्ञा) की है, उसके लिए क्षमा करें। क्योंकि ऋषिजन महान् प्रसाद-प्रसन्नता से युक्त होते हैं। मुनिजन कोप-परायण नहीं होते।

३२. पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
जक्खा हु वेयावडियं करेन्ति तम्हा हु एए निहया कुमारा॥

[३२] (मुनि—) मेरे मन में न कोई प्रद्वेष पहले था, न अब है और न ही भविष्य में होगा। ये (तिन्दुक-वनवासी) यक्ष मेरी वैयावृत्य (सेवा) करते हैं। ये कुमार उनके द्वारा ही प्रताडित किए गए हैं।

३३. अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना।
तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो समागया सव्वजणेण अम्हे॥

[३३] (रुद्रदेव—)अर्थ और धर्म को विशेष रूप से जानने वाले भूतिप्रज्ञ आप क्रोध न करें। हम सब लोग मिल कर आपके चरणों की शरण स्वीकार करते हैं।"

३४. अच्चेमु ते महाभाग! न ते किंचि न अच्चिमो।
भुंजाहि सालिमं कूरं नाणावंजण-संजुयं॥

[३४] हे महाभाग! हम आपकी अर्चना करते हैं। आपका (चरणरज आदि) कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसकी अर्चना हम न करें। (हम आपसे विनति करते हैं कि) दही आदि अनेक प्रकार के व्यञ्जनों से संमिश्रित एवं शालि चावलों से निष्पन्न भोजन (ग्रहण करके) उसका उपभोग कीजिए।

३५. इमं च मे अत्थि पभूयमन्नं तं भुंजसु अम्ह अणुग्गहट्ठा।
"बाढं" ति पडिच्छइ भत्तपाणं मासस्स उ पारणए महप्पा॥

[३५] मेरी (इस यज्ञशाला में) यह प्रचुर अन्न विद्यमान है, हम पर अनुग्रह करने के लिए आप (इसे स्वीकार कर) भोजन करें। (पुरोहित के इस आग्रह पर) महान् आत्मा मुनि ने (आहार लेने की) स्वीकृति दी और एक मास के तप की पारणा करने हेतु आहार-पानी ग्रहण किया।

विवेचन—विसण्णो : विषादयुक्त—ये कुमार कैसे होश में आएँगे—सचेष्ट होंगे, इस चिन्ता से व्याकुल—विषण्ण।[1]

खमाह : आशय—भगवन्! क्षमा करें। क्योंकि ये बच्चे मूढ़ और अज्ञानी हैं, ये दयनीय हैं, इन पर कोप करना उचित नहीं है। कहा भी है—आत्मद्रोही, मर्यादाविहीन, मूढ और सन्मार्ग को छोड़ देने वाले तथा नरक की ज्वाला में इन्धन बनने वाले पर अनुकम्पा करनी चाहिए।[2]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६७

२. आत्मद्रुहममर्यादं मूढमुज्झितसत्पथम्।
सुतरामनुकम्पेत नरकार्चिष्मदिन्धनम्॥ —बृहद्वृत्ति, पत्र ३६७

वेयावडियं : प्रासंगिक अर्थ—वैयावृत्य—सेवा करते हैं।[1]

अत्थं : तात्पर्य—यों तो अर्थ ज्ञेय होता है, इस कारण उसका एक अर्थ—समस्त पदार्थ हो सकता है, किन्तु यहाँ प्रसंगवश अर्थ से तात्पर्य है—शुभाशुभ कर्मविभाग अथवा राग-द्वेष का फल, या शास्त्रों का अभिधेय-प्रतिपाद्य विषय।

धम्मं : धर्म का अर्थ यहाँ श्रुत-चारित्ररूप धर्म, अथवा दशविध श्रमणधर्म है।

वियाणमाणा : अर्थ—विशेष रूप से या विविध प्रकार से जानते हुए।[2]

भूइपन्ना : तीन अर्थ—भूतिप्रज्ञ में 'भूति' शब्द के तीन अर्थ प्राचीन आचार्यों ने माने हैं—(१) मंगल (२) वृद्धि और (३) रक्षा। प्रज्ञा का अर्थ है—जिससे वस्तुतत्त्व जाने जाएं, ऐसी बुद्धि। अतः भूतिप्रज्ञ के अर्थ हुए—(१) जिनकी प्रज्ञा सर्वोत्तम मंगलरूप हो, (२) सर्वश्रेष्ठ वृद्धियुक्त हो, या (३) जो बुद्धि प्राणरक्षा या प्राणिहित में प्रवृत्त हो।[3]

पभूयमन्नं—प्रभूत अन्न—का आशय—यहाँ मालपूए, खांड के खाजे आदि समस्त प्रकार के भोज्य पदार्थ (भोजन) से है। पहले जो 'शालि धान का ओदन' का निरूपण था, वह समस्त भोजन में उसकी प्रधानता बताने के लिए ही था।[4]

आहारग्रहण के बाद देवों द्वारा पंच दिव्यवृष्टि और ब्राह्मणों द्वारा मुनिमहिमा

३६. तहियं गन्धोदय-पुप्फवासं दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा।
पहयाओ दुन्दुहीओ सुरेहिं आगासे अहो दाणं च घुट्ठं॥

[३६] (जहाँ तपस्वी मुनि ने आहार ग्रहण किया था,) वहाँ (यज्ञशाला में) देवों ने सुगन्धित जल, पुष्प एवं दिव्य (श्रेष्ठ) वसुधारा (द्रव्य की निरन्तर धारा) की वृष्टि की और दुन्दुभियाँ बजाई तथा आकाश में 'अहो दानम्, अहो दानम्' उद्घोष किया।

३७. सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो न दीसई जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्ते हरिएस साहू जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥

[३७] (ब्राह्मण विस्मित होकर कहने लगे) तप की विशेषता—महत्ता तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है, जाति की कोई विशेषतानहीं दीखती। जिसकी ऐसी ऋद्धि है, महती चमत्कारी-अचिन्त्य शक्ति (महानुभाग) है, वह हरिकेश मुनि श्वपाक-(चाण्डाल) पुत्र है। (यदि जाति की विशेषता होती तो देव हमारी सेवा एवं सहायता करते, इस चाण्डालपुत्र की क्यों करते ?)

विवेचन—'सक्खं खु दीसइ०' : व्याख्या—प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त उद्‌गार हरिकेशबल मुनि के

---

१. "वैयावृत्यं प्रत्यनीक-प्रतिघातरूपं कुर्वन्ति।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ३६८

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३६८

३. भूतिप्रज्ञा—भूतिर्मंगलं वृद्धी रक्षा चेति वृद्धाः। प्रज्ञायतेऽनया वस्तुतत्त्वमिति प्रज्ञा। भूतिः मंगलं, सर्वमंगलोत्तमत्वेन, वृद्धिर्वा वृद्धिविशिष्टत्वेन, रक्षा वा प्राणिरक्षकत्वेन प्रज्ञावुद्धिर्यस्येति भूतिप्रज्ञः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ३६९

४. प्रभूतं-प्रचुरं अन्नं—मण्डक-खण्डखाद्यादि समस्तमपि भोजनम्। यत्प्राक् पृथक् ओदनग्रहणं तत्तस्य सर्वान्नप्रधानत्वख्यापनार्थम्।—बृ. वृ., पत्र ३६९

तप, संयम एवं चारित्र का प्रत्यक्ष चमत्कार देख कर विस्मित हुए ब्राह्मणों के हैं। वे अब सुलभबोधि एवं मुनि के प्रति श्रद्धालु भक्त बन गए थे। अतः उनके मुख से निकलती हुई यह वाणी श्रमण-संस्कृति के तत्त्व को अभिव्यक्त कर रही है कि जातिवाद अतात्त्विक है, कल्पित है। इसी सूत्र में आगे चल कर कहा जाएगा—"अपने कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है, जन्म (जाति) से नहीं।" सूत्रकृतांग में तो स्पष्ट कह दिया है—"मनुष्य की सुरक्षा उसके ज्ञान और चारित्र से होती है, जाति और कुल से नहीं।' व्यक्ति की उच्चता-नीचता का आधार उसकी जाति और कुल नहीं, ज्ञान-दर्शन-चारित्र या तप-संयम है। जिसका ज्ञान-दर्शन-चारित्र उन्नत है, या तप-संयम का आचरण अधिक है, वही उच्च है, जो आचारभ्रष्ट है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र से रहित है, वह चाहे ब्राह्मण की सन्तान ही क्यों न हो, निकृष्ट है।

जैनधर्म का उद्घोष है कि किसी भी वर्ण, जाति, देश, वेष या लिंग का व्यक्ति हो, अगर रत्नत्रय की निर्मल साधना करता है तो उसके लिए सिद्धि-मुक्ति के द्वार खुले हैं। यही प्रस्तुत गाथा का आशय है।[1]

मुनि और ब्राह्मणों की यज्ञ-स्नानादि के विषय में चर्चा

३८. किं माहणा! जोइसमारभन्ता उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा?
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं न तं सुदिट्ठं कुसला वयन्ति॥

[३८] (मुनि—) ब्राह्मणो! अग्नि (ज्योति) का (यज्ञ में) समारम्भ करते हुए क्या तुम जल (जल आदि पदार्थों) से बाहर की शुद्धि को ढूंढ रहे हो? जो बाहर में शुद्धि को खोजते हैं; उन्हें कुशल पुरुष सुदृष्ट—(सम्यग्दृष्टिसम्पन्न या सम्यग्द्रष्टा) नहीं कहते।

३९. कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं सायं च पायं उदगं फुसन्ता।
पाणाइ भूयाइ विहेडयन्ता भुज्जो वि मन्दा! पगरेह पावं॥

[३९] कुश (डाभ), यूप (यज्ञस्तम्भ), तृण (घास), काष्ठ और अग्नि का प्रयोग तथा प्रातः-काल और सायंकाल में जल का स्पर्श करते हुए तुम मन्दबुद्धि लोग (जल आदि के आश्रित रहे हुए द्वीन्द्रियादि) प्राणियों (प्राणों) का और भूतों (वनस्पतिकाय का, उपलक्षण से पृथ्वीकायादि जीवों) का विविध प्रकार से तथा फिर (अर्थात्—प्रथम ग्रहण करते समय और फिर शुद्धि के समय जल और अग्नि आदि के जीवों का) उपमर्दन करते हुए वारम्वार पापकर्म करते हो।

४०. कहं चरे? भिक्खु! वयं जयामो? पावाइ कम्माइ पणुल्लयामो?
अक्खाहि णे संजय! जक्खपूइया! कहं सुइट्ठं कुसला वयन्ति?

[४०] (रुद्रदेव—) हे भिक्षु! हम कैसे प्रवृत्ति करें? कैसे यज्ञ करें? जिससे हम पापकर्मों को

---

१. (क) कम्मुणा बंभणो होई.……उत्तरा. अ. २५।३१
(ख) न तस्स जाई व कुलं व ताणं, नन्नत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं। —सूत्रकृतांग १।१३।११
(ग) उववाईसूत्र १
(घ) बृहद्वृत्ति, पत्र ३६९-३७०

दूर कर सकें। हे यक्षपूजित संयत ! आप हमें बताइए कि कुशल (तत्त्वज्ञानी) पुरुष श्रेष्ठ यज्ञ (सु-इष्ट) किसे कहते हैं ?

४१. छज्जीवकाए असमारभन्ता मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
परिग्गहं इत्थिओ माण-मायं एयं परिन्नाय चरन्ति दन्ता ॥

[४१] (मुनि-) मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाले (दान्त) मुनि (पृथ्वी आदि) षट्-जीवनिकाय का आरम्भ (हिंसा) नहीं करते, असत्य नहीं बोलते, चोरी नहीं करते, परिग्रह, स्त्री, मान और माया के स्वरूप को जान कर एवं उन्हें त्याग कर प्रवृत्ति करते हैं।

४२. सुसंवुडो पंचहिं संवरेहिं इह जीवियं अणवकंखमाणो।
वोसट्ठकाओ सुइचत्तदेहो महाजयं जयई जन्नसिट्ठं ॥

[४२] जो पांच संवरों से पूर्णतया संवृत होते हैं, इस मनुष्य-जन्म में (असंयमी-) जीवन की आकांक्षा नहीं करते, जो काया (शरीर के प्रति ममत्व या आसक्ति) का व्युत्सर्ग (परित्याग) करते हैं, जो शुचि (पवित्र) हैं, जो विदेह (देह-भावरहित) हैं, वे महाजय रूप श्रेष्ठ यज्ञ करते हैं।

४३. के ते जोई ? के व ते जोइठाणे ? का ते सुया ? किं व ते कारिसंगं ?
एहा य ते कयरा सन्ति ? भिक्खू ! कयरेण होमेण हुणासि जोइं ?

[४३] (रुद्रदेव—) हे भिक्षु ! तुम्हारी ज्योति (अग्नि) कौन-सी है ? तुम्हारा ज्योति-स्थान कौन-सा है ? तुम्हारी (घी आदि को आहुति डालने की) कुड़छियाँ कौन-सी हैं ? (अग्नि को उद्दीप्त करने वाले) तुम्हारे करीषांग (कण्डे) कौन-से हैं ? (अग्नि को जलाने वाले) तुम्हारे इन्धन क्या हैं ? एवं शान्तिपाठ कौन-से हैं ? तथा किस होम (हवनविधि) से आप ज्योति को (आहुति द्वारा) तृप्त (हुत) करते हैं ?

४४. तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्म एहा संजमजोग सन्ती होमं हुणामी इसिणं पसत्थं ॥

[४४] (मुनि—) (बाह्याभ्यन्तरभेद वाली) तपश्चर्या ज्योति है, जीव (आत्मा) ज्योतिस्थान (अग्निकुण्ड) है, योग (मन, वचन और काय की शुभप्रवृत्तियाँ (घी आदि डालने की) कुड़छियाँ हैं; शरीर (शरीर के अवयव) अग्नि प्रदीप्त करने के कण्डे हैं; कर्म इन्धन हैं, संयम के योग (प्रवृत्तियाँ) शान्तिपाठ हैं। ऐसा ऋषियों के लिए प्रशस्त जीवोपघातरहित (होने से विवेकी मुनियों द्वारा प्रशंसित) होम (होमप्रधान-यज्ञ) मैं करता हूँ।

४५. के ते हरए ? के य ते सन्तितित्थे ? कहिंसि ण्हाओ व रयं जहासि ?
आइक्ख णे संजय ! जक्खपूइया ! इच्छामो नाउं भवओ सगासे ॥

[४५] (रुद्रदेव-) हे यक्षपूजित संयत ! आप हमें यह बताइए कि आपका ह्रद (—जलाशय) कौन-सा है ? आपका शान्तितीर्थ कौन-सा है ? आप कहाँ स्नान करके रज (कर्मरज) को झाड़ते (दूर करते) हैं ? हम आपसे जानना चाहते हैं।

४६. धम्मे हरए बंभे सन्तितित्थे अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो सुसीइभूओ पजहामि दोसं ।।

[४६] (मुनि—) अनाविल (-अकलुषित) और आत्मा की प्रसन्न-लेश्या वाला धर्म मेरा ह्रद-जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्तितीर्थ है; जहाँ स्नान कर मैं विमल, विशुद्ध और सुशान्त (सुशीतल) हो कर कर्मरूप दोष को दूर करता हूँ ।

४७. एयं सिणाणं कुसलेहि दिट्ठं महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।
जहिंसि ण्हाया विमला विसुद्धा महारिसी उत्तम ठाण पत्ते ।।

—त्ति बेमि ।

[४७] इसी (उपर्युक्त) स्नान का कुशल (तत्त्वज्ञ) पुरुषों ने उपदेश दिया (बताया) है। ऋषियों के लिए यह महास्नान ही प्रशस्त (प्रशंसनीय) है । जिस धर्मह्रद में स्नान करके विमल और विशुद्ध हुए महर्षि उत्तम स्थान को प्राप्त हुए हैं । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—सोहिं—शुद्धि—शोधि का अर्थ है—निर्मलता । वह दो प्रकार की है—द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धि । पानी से मलिन वस्त्र आदि धोना द्रव्यशुद्धि है तथा तप, संयम आदि के द्वारा अष्टविध कर्ममल को धोना भावशुद्धि है । इसोलिए मुनि ने रुद्रदेव आदि ब्राह्मणों से कहा था—जल से बाह्य (द्रव्य) शुद्धि को क्यों ढूंढ रहे हैं ! [१]

कठिन शब्दों के अर्थ—कुसला—तत्त्वविचार में निपुण । **उदयं फुसंता**—आचमन आदि में जल का स्पर्श करते हुए । **पाणाइं**—द्वीन्द्रिय आदि प्राणी । **भूयाइं**—वृक्ष, उपलक्षण से अन्य वनस्पतिकायिक जीवों और पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय का ग्रहण करना चाहिए । **विहेडयंति**—विशेषरूप से, विविध प्रकार से विनष्ट करते हैं । **परिण्णाय**—ज्ञपरिज्ञा से इनका स्वरूप भलीभांति जान कर, प्रत्याख्यानपरिज्ञा से परित्याग करके । **सुसंवुडो**—जिसके प्राणातिपात आदि पांचों आश्रवद्वार रुक गए हों, वह सुसंवृत है । **वोसट्ठकाओ—व्युत्सृष्टकाय**—विविध उपायों से या विशेष रूप से परीषहों एवं उपसर्गों को सहन करने के रूप में, काया का जिसने व्युत्सर्ग कर दिया है । **सुइचत्तदेहो**—जो शुचि है, अर्थात्—निर्दोष व्रतवाला है तथा जो अपने देह की सार-संभाल नहीं करने के कारण देहाध्यास का त्याग कर चुका है ।

कुशलपुरुषों द्वारा अभिमत शुद्धि—कुशल (तत्त्वविचारनिपुण पुरुष कर्ममलनाशात्मिका) तात्त्विक शुद्धि को ही मानते हैं । ब्राह्मणसंस्कृति की मान्यतानुसार यूपादिग्रहण एवं जलस्पर्श यज्ञ-स्नान में अनिवार्य है और इस प्रक्रिया में प्राणियों का उपमर्दन होता है, इसीलिये सब शुद्धि-प्रक्रियाएँ कर्ममल के उपचय की हेतु हैं । इसलिए ऐसे प्राणिविनाश के कारणरूप शुद्धिमार्ग को तत्त्वज्ञ कैसे सुदृष्ट (सम्यक्) कह सकते हैं ! वाचक उमास्वाति ने कहा है—

शौचमाध्यात्मिकं त्यक्त्वा, भावशुद्ध्यात्मकं शुभम् ।
जलादिशौचं यत्रेष्टं, मूढविस्मापकं हि तत् ।।

---

१. उत्तरा. चूर्णि, पृ. २११

भावशुद्धिरूप आध्यात्मिक शौच (शुद्धि) को छोड़ कर जलादि शौच (बाह्यशुद्धि) को स्वीकार करना मूढजनों को चक्कर में डालने वाला है।

महाजयं जन्नसिट्ठं—व्याख्या—कर्मशत्रुओं को परास्त करने की प्रक्रिया होने से जो महान् जयरूप है, अथवा जिस प्रकार महाजय हो उस प्रकार से यज्ञ करते हैं। श्रेष्ठ यज्ञ को कुशलजन श्रेष्ठ स्विष्ट भी कहते हैं।

पसत्थं—प्रशस्त : भावार्थ—जीवोपघातरहित होने से यह यज्ञ सम्यक्चारित्री विवेकी ऋषियों के द्वारा प्रशंसनीय—श्लाघनीय है।

बंभे संतितित्थे : दो रूप : दो व्याख्या—ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ है। क्योंकि उस तीर्थ का सेवन करने से समस्त मलों के मूल राग-द्वेष उन्मूलित हो जाते है। उनके उन्मूलित हो जाने पर मल की पुनः कदापि संभावना नहीं है। उपलक्षण से सत्यादि का ग्रहण करना चाहिए। जैसे कि कहा है—

'ब्रह्मचर्येण, सत्येन, तपसा संयमेन च।
मातंगर्षिर्गतः शुद्धिं, न शुद्धिस्तीर्थयात्रया॥'

ब्रह्मचर्य, सत्य, तप और संयम से मातंगऋषि शुद्ध हो गए थे, तीर्थयात्रा से शुद्धि नहीं होती। अथवा **ब्रह्म** का अर्थ अभेदोपचार से ब्रह्मवान् साधु है, सन्ति का अर्थ है—विद्यमान हैं। आशय यह है कि 'साधु मेरे तीर्थ हैं।' कहा भी है—

'साधूनां दर्शनं श्रेष्ठं, तीर्थभूता हि साधवः।'

'साधुओं का दर्शन श्रेष्ठ है, क्योंकि साधु तीर्थभूत हैं।'

अणाविले अत्तपसन्नलेसे—अनाविल का अर्थ है—मिथ्यात्व और तीन गुप्ति की विराधनारूप कलुषता से रहित। **'अत्तपसन्नलेसे'** के दो रूप—**आत्मप्रसन्नलेश्यः**—जिसमें आत्मा (जीव) की प्रसन्नः अकलुषित पीतादिलेश्याएँ हैं, वह, अथवा **आप्तप्रसन्नलेश्यः**—दो अर्थ—प्राणियों के लिए आप्त—इह-परलोकहितकर प्रसन्न लेश्याएँ जिसमें हों, अथवा जिसने प्रसन्नलेश्याएँ प्राप्त की हैं, वह। ये दोनों विशेषण ह्रद और शान्तितीर्थ के हैं।[1]

॥ बारहवाँ : हरिकेशीय अध्ययन समाप्त ॥

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३७१ से ३७३ तक

तेरहवाँ अध्ययन : चित्र-सम्भूतीय

अध्ययन-सार

※ इस अध्ययन का नाम **'चित्र-सम्भूतीय'** है। इसमें चित्र और सम्भूत, इन दोनों के पांच जन्मों तक लगातार भ्रातृ-सम्बन्ध का और छठे जन्म में पूर्वजन्मकृत संयम की आराधना एवं विराधना के फलस्वरूप पृथक्-पृथक् स्थान, कुल, वातावरण आदि प्राप्त होने के कारण हुए एक दूसरे से विसम्बन्ध (वियोग) का संवाद द्वारा निरूपण है।

※ चित्र और सम्भूत कौन थे ? इनके लगातार पांच जन्म कौन-कौन-से थे ? इन जन्मों में कहाँ-कहाँ उन्नति-अवनति हुई ? छठे जन्म में दोनों क्यों और कैसे पृथक्-पृथक् हुए ? कैसे इनका परस्पर समागम हुआ ? इन सबके सम्बन्ध में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। यहाँ दोनों के छठे भव में समागम होने तक की खास-खास घटनाओं का उल्लेख किया जाता है—

※ साकेत के राजा चन्द्रावतंसक के पुत्र मुनिचन्द्र राजा को सांसारिक कामभोगों से विरक्ति हो गई। उसने सागरचन्द्र मुनि से भागवती दीक्षा अंगीकार की। एक बार वे विहार करते हुए एक भयानक अटवी में भटक गए। वे भूख-प्यास से व्याकुल हो रहे थे। इतने में ही वहाँ उन्हें चार गोपालक-पुत्र मिले। उन्होंने इनकी यह दुरवस्था देखी तो करुणा से प्रेरित होकर परिचर्या की। मुनि ने चारों गोपाल-पुत्रों को धर्मोपदेश दिया। उसे सुन कर चारों बालक प्रतिबुद्ध होकर उनके पास दीक्षित हो गए। दीक्षित होने पर भी उनमें से दो साधुओं के मन में साधुओं के मलिन वस्त्रों से घृणा बनी रही। इसी जुगुप्सावृत्ति के संस्कार लेकर वे मर कर देवगति में गए। वहाँ से आयुष्यपूर्ण करके जुगुप्सावृत्ति वाले वे दोनों दशार्णनगर (दशपुर) में शांडिल्य ब्राह्मण की दासी यशोमती की कुक्षि से युगलरूप से जन्मे। एक बार दोनों भाई रात को अपने खेत में एक वृक्ष के नीचे सो रहे थे कि अकस्मात् एक सर्प निकला और एक भाई को डँस कर चला गया। दूसरा जागा। मालूम होते ही वह सर्प को ढूंढने निकला, किन्तु उसी सर्प ने उसे भी डँस लिया। दोनों भाई मर कर कालिजर पर्वत पर एक हिरनी के उदर में युगलरूप से उत्पन्न हुए। एक बार वे दोनों चर रहे थे कि एक शिकारी ने एक ही बाण से दोनों को मार डाला। मर कर वे दोनों मृतगंगा के किनारे राजहंस बने। एक दिन वे साथ-साथ घूम रहे थे कि एक मछुए ने दोनों को पकड़ा और उनकी गर्दन मरोड़ कर मार डाला। दोनों हंस मर कर वाराणसी के अतिसमृद्ध एवं चाण्डालों के अधिपति भूतदत्त के यहाँ पुत्ररूप में जन्मे। उनका नाम 'चित्र' और 'सम्भूत' रखा गया। दोनों भाइयों में अपार स्नेह था।

वाराणसी के तत्कालीन राजा शंख का नमुचि नामक एक मन्त्री था। राजा ने उसके किसी भयंकर अपराध पर क्रुद्ध होकर उसके वध की आज्ञा दी। वध करने का कार्य चाण्डाल भूतदत्त को सौंपा गया। भूतदत्त ने अपने दोनों पुत्रों को अध्ययन कराने की शर्त पर नमुचि का वध न करके उसे अपने घर में छिपा लिया। जीवित रहने की आशा से नमुचि दोनों चाण्डाल-

पुत्रों को पढ़ाने लगा और कुछ ही वर्षों में उन्हें अनेक विद्याओं में प्रवीण वना दिया। चाण्डाल-पत्नी नमुचि की सेवा करती थी। नमुचि उस पर आसक्त होकर उससे अनुचित सम्वन्ध करने लगा। भूतदत्त को जब यह मालूम हुआ तो उसने क्रुद्ध होकर नमुचि को मार डालने का निश्चय कर लिया। परन्तु कृतज्ञतावश दोनों चाण्डालपुत्रों ने नमुचि को यह सूचना दे दी। नमुचि वहाँ से प्राण वचा कर भागा और हस्तिनापुर में जा कर सनत्कुमार चक्रवर्ती के यहाँ मन्त्री बन गया।

चित्र और सम्भूत नृत्य और संगीत में अत्यन्त प्रवीण थे। उनका रूप और लावण्य आकर्षक था। एक वार वाराणसी में होने वाले वसन्त-महोत्सव में ये दोनों भाई सम्मिलित हुए। उत्सव में इनके नृत्य और संगीत विशेष आकर्षणकेन्द्र रहे। इनकी कला को देख-सुनकर जनता इतनी मुग्ध हो गई कि स्पृश्य-अस्पृश्य का भेद ही भूल गई। कुछ कट्टर ब्राह्मणों के मन में ईर्ष्या उमड़ी। जातिवाद को धर्म का रूप देकर उन्होंने राजा से शिकायत की कि 'राजन्! इन दोनों चाण्डालपुत्रों ने हमारा धर्म नष्ट कर दिया है। इनकी नृत्य-संगीतकला पर मुग्ध लोग स्पृश्यास्पृश्यमर्यादा को भंग करके इनकी स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दे रहे हैं।' इस पर राजा ने दोनों चाण्डालपुत्रों को वाराणसी से वाहर निकाल दिया। वे अन्यत्र रहने लगे।

वाराणसी में एक बार कौमुदीमहोत्सव था। उस अवसर पर दोनों चाण्डालपुत्र रूप वदल कर उस उत्सव में आए। संगीत के स्वर सुनते ही इन दोनों से न रहा गया। इनके मुख से भी संगीत के विलक्षण स्वर निकल पड़े। लोग मंत्रमुग्ध होकर इनके पास वधाई देने और परिचय पाने को आए। वस्त्र का आवरण हटाते ही लोग इन्हें पहचान गए। ईर्ष्यालु एवं जातिमदान्ध लोगों ने इन्हें चाण्डालपुत्र कह कर बुरी तरह मार-पीट कर नगरी से वाहर निकाल दिया। इस प्रकार अपमानित एवं तिरस्कृत होने पर उन्हें अपने जीवन के प्रति घृणा हो गई। दोनों ने पहाड़ पर से छलांग मार कर आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया। इसी निश्चय से दोनों पर्वत कर चढ़े और वहाँ से नीचे गिरने की तैयारी में थे कि एक निर्ग्रन्थ श्रमण ने उन्हें देख लिया और समझाया—'आत्महत्या करना कायरों का काम है। इससे दुःखों का अन्त होने के बदले वे बढ़ जाएँगे। तुम जैसे विमल बुद्धि वाले व्यक्तियों के लिए यह उचित नहीं। अगर शारीरिक और मानसिक समस्त दुःख सदा के लिए मिटाना चाहते हो तो मुनिधर्म की शरण में आओ।' दोनों प्रतिबुद्ध हुए। दोनों ने निर्ग्रन्थ श्रमण से दीक्षा देने की प्रार्थना की। मुनि ने उन्हें योग्य समझ कर दीक्षा दी।

गुरुचरणों में रहकर दोनों ने शास्त्रों का अध्ययन किया। गीतार्थ हुए तथा विविध उत्कट तपस्याएँ करने लगे, उन्हें कई लब्धियाँ प्राप्त हो गईं। ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए एक बार वे हस्तिनापुर आए। नगर के बाहर उद्यान में ठहरे। एक दिन मासखमण के पारण के लिए सम्भूत मुनि नगर में गए। भिक्षा के लिए घूमते देखकर वहाँ के राजमंत्री नमुचि ने उन्हें पहचान लिया। उसे सन्देह हुआ—यह मुनि मेरा पूर्ववृत्तान्त जानता है, अगर इसने वह रहस्य प्रकट कर दिया तो मेरी महत्ता नष्ट हो जाएगी। अतः नमुचि मंत्री के कहने से लाठी और मुक्कों से कई लोगों ने सम्भूतमुनि को पीटा और नगर से निकालना

चाहा। कुछ देर तक मुनि शान्त रहे। परन्तु लोगों की अत्यन्त उग्रता को देख मुनि शान्ति और धैर्य खो बैठे। क्रोधवश उनके शरीर से तेजोलेश्या फूट पड़ी। मुख से निकलते हुए धुंए के घने बादलों से सारा नगर आच्छन्न हो गया। जनता घबराई। भयभीत लोग अपने अपराध के लिए क्षमा मांग कर मुनि को शान्त करने लगे। सूचना पाकर चक्रवर्ती सनत्कुमार भी घटना-स्थल पर पहुँचे। अपनी त्रुटि के लिए चक्रवर्ती ने मुनि से क्षमा मांगी और प्रार्थना की कि—'भविष्य में हम ऐसा अपराध नहीं करेंगे, महात्मन्! आप नगर-निवासियों को जीवनदान दें।' इतने पर भी सम्भूतमुनि का कोप शान्त न हुआ तो उद्यानस्थित चित्रमुनि भी सूचना पाकर तत्काल वहाँ आए और उन्होंने सम्भूतमुनि को क्रोधानल उपशान्त करने एवं अपनी शक्ति (तेजोलेश्या की लब्धि) को समेटने के लिए बहुत ही प्रिय वचनों से समझाया।

सम्भूतमुनि शान्त हुए। उन्होंने तेजोलेश्या समेट ली। अन्धकार मिटा। नागरिक प्रसन्न हुए। दोनों मुनि उद्यान में लौट आए। सोचा—हम कायसंलेखना कर चुके हैं, अतः अब यावज्जीवन अनशन करना चाहिए। दोनों मुनियों ने अनशन ग्रहण किया।

चक्रवर्ती ने जब यह जाना कि मन्त्री नमुचि के कारण सारे नगर को यह त्रास सहना पड़ा, तो उसने मन्त्री को रस्सों से बांध कर मुनियों के पास ले जाने का आदेश दिया। मुनियों ने रस्सी से जकड़े हुए मन्त्री को देख कर चक्रवर्ती को समझाया और मन्त्री को बन्धनमुक्त कराया। चक्रवर्ती मुनियों के तेज से प्रभावित होकर उनके चरणों में गिर पड़ा। चक्रवर्ती की रानी सुनन्दा ने भी भावुकतावश सम्भूतमुनि के चरणों में सिर झुकाया। उसकी कोमल केश-राशि के स्पर्श से मुनि को सुखद अनुभव हुआ, मन-ही-मन वह निदान करने का विचार करने लगा। चित्रमुनि ने ज्ञानबल से जब यह जाना तो सम्भूतमुनि को निदान न करने की शिक्षा दी, पर उसका भी कुछ असर न हुआ। सम्भूतमुनि ने निदान कर ही लिया—'यदि मेरी तपस्या का कुछ फल हो तो भविष्य में मैं चक्रवर्ती बनूं।'

दोनों मुनियों का अनशन पूर्ण हुआ। आयुष्य पूर्ण कर दोनों सौधर्म देवलोक में पहुँचे। पांच जन्मों तक साथ-साथ रहने के बाद छठे जन्म में दोनों ने अलग-अलग स्थानों में जन्म लिया। चित्र का जीव पुरिमताल नगर में एक अत्यन्त धनाढ्य सेठ का पुत्र हुआ और सम्भूत के जीव ने काम्पिल्य-नगर में ब्रह्मराजा की रानी चूलनी के गर्भ से जन्म लिया। बालक का नाम रखा गया 'ब्रह्मदत्त'।

※ आगे चल कर यही ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बना। इसकी बहुत लम्बी कहानी है। वह यहाँ अप्रासंगिक है।

※ एक दिन अपराह्न में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती एक नाटक देख रहा था। नाटक देखते हुए मन में यह विकल्प उत्पन्न हुआ कि ऐसा नाटक मैंने कहीं देखा है। यों ऊहापोह करते-करते उसे जाति-स्मरण ज्ञान हुआ, जिससे स्पष्ट ज्ञात हो गया कि ऐसा नाटक मैंने प्रथम देवलोक के पद्मगुल्म-विमान में देखा था। पांच जन्मों के साथी चित्र से, इस छठे भव में पृथक्-पृथक् स्थानों में जन्म की स्मृति से राजा शोकमग्न हो गया और मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर पड़ा। यथेष्ट उपचार

से राजा की चेतना लौट आई। पूर्वजन्म के भाई की खोज के लिए महामात्य वरधनु के परामर्श से चक्रवर्ती ने निम्नोक्त श्लोकार्द्ध रच डाला—

"आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातंगावमरौ तथा।"

इस श्लोकार्द्ध को प्रचारित कराते हुए राजा ने घोषणा करवाई कि 'जो इस श्लोकार्द्ध की पूर्ति कर देगा, उसे मैं अपना आधा राज्य दे दूंगा।' पर किसे पता था उस रहस्य का, जो इस श्लोक के उत्तरार्द्ध की पूर्ति करता? श्लोक का पूर्वार्द्ध प्रायः प्रत्येक नागरिक की जबान पर था।

चित्र का जीव, जो पुरिमताल नगर में धनसार सेठ के यहाँ था, युवा हुआ। एक दिन उसे भी पूर्वजन्म का स्मरण हुआ और वह मुनि बन गया। एक बार विहार करता हुआ वह काम्पिल्य-नगर के उद्यान में आकर ध्यानस्थ खड़ा हो गया। वहाँ उक्त श्लोक का पूर्वार्द्ध रहट को चलाने वाला जोर-जोर से बोल रहा था। मुनि ने उसे सुना तो उसका उत्तरार्द्ध पूरा कर दिया—

एषा नौ षष्ठिका जातिः, अन्योऽन्याभ्यां वियुक्तयोः।

दोनों चरणों को उसने एक पत्ते पर लिखा और आधा राज्य पाने की खुशी में तत्क्षण चक्रवर्ती के पास पहुँचा और एक ही सांस में पूरा श्लोक उन्हें सुना दिया। सुनते ही चक्रवर्ती स्नेहवश मूर्च्छित हो गए। इस पर सारी राजसभा क्षुब्ध हो गई और कुछ सभासद् सम्राट् को मूर्छित करने के अपराध में उसे पीटने पर उतारू हो गए। इस पर वह रहट चलाने वाला बोला—'मैंने इस श्लोक की पूर्ति नहीं की है। रहट के पास खड़े एक मुनि ने की है।' अनुकूल उपचार से राजा की मूर्च्छा दूर हुई। होश में आते ही सम्राट् ने सारी जानकारी प्राप्त की। पूर्ति का भेद खुलने पर ब्रह्मदत्त प्रसन्नतापूर्वक अपने राजपरिवार-सहित मुनि के दर्शन के लिए उद्यान में पहुँचे। मुनि को देखते ही ब्रह्मदत्त वन्दना कर सविनय उनके पास बैठा। अब वे दोनों पूर्व जन्मों के भाई सुख-दुःख के फल-विपाक की चर्चा करने लगे।

मुनि ने इस छठे जन्म में दोनों के एक दूसरे से पृथक् होने का कारण ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती (सम्भूत के जीव) को बताया। साथ ही यह भी समझाने का प्रयत्न किया कि पूर्वजन्म के शुभकर्मों से हम यहाँ आए हैं, तुम्हें अगर इस वियोग को सदा के लिए मिटाना है तो अपनी जीवनयात्रा को अब सही दिशा दो। अगर तुम कामभोगों को नहीं छोड़ सकते तो कम-से-कम आर्य कर्म करो, धर्म में स्थिर हो कर सर्वप्राणियों पर अनुकम्पाशील बनो, जिससे तुम्हारी दुर्गति तो न हो।

परन्तु ब्रह्मदत्त को मुनि का एक भी वचन नहीं सुहाया। उलटे, उसने मुनि को समस्त सांसारिक सुखभोगों के लिए बार-बार आमंत्रित किया। किन्तु मुनि ने भोगों की असारता, दुःखावहता, सुखाभासता, अशरणता तथा नश्वरता समझाई। समस्त सांसारिक रिश्ते-नातों को झूठे, असहायक और अशरण्य बताया। ब्रह्मदत्त चक्री ने उस हाथी की तरह अपनी असमर्थता प्रकट की, जो दल-दल में फंसा हुआ है, किनारे का स्थल देख रहा है, किन्तु वहाँ

से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा सकता। श्रमणधर्म को जानता हुआ भी कामभोगों में गाढ आसक्त ब्रह्मदत्त उसका अनुष्ठान न कर सका।

मुनि वहाँ से चले जाते हैं और संयमसाधना करते हुए अन्त में सर्वोत्तम सिद्धि गति (मुक्ति) को प्राप्त करते हैं। ब्रह्मदत्त अशुभ कर्मों के कारण सर्वाधिक अशुभ सप्तम नरक में जाते हैं।

* चित्र और सम्भूत दोनों की ओर से पूर्वभव में संयम की आराधना और विराधना का फल बता कर साधु-साध्वीगण के लिए प्रस्तुत अध्ययन एक सुन्दर प्रेरणा दे जाता है। चित्र मुनि और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती दोनों अपनी-अपनी त्याग और भोग की दिशा में एक दूसरे को खींचने के लिए प्रयत्नशील हैं, किन्तु कामभोगों से सर्वथा विरक्त, सांसारिक सुखों के स्वरूपज्ञ चित्रमुनि अपने संयम में दृढ़ रहे, जबकि ब्रह्मदत्त गाढ़ चारित्रमोहनीयकर्मवश त्याग-संयम की ओर एक इंच भी न बढ़ा।

* बौद्ध ग्रन्थों में भी इसी से मिलता-जुलता वर्णन मिलता है।[1]

---

१. मिलाइए—चित्रसंभूतजातक, संख्या ४९८

तेरसमं अज्झयणं : चित्तसंभूइज्जं

तेरहवाँ अध्ययन : चित्र-सम्भूतीय

संभूत और चित्र का पृथक्-पृथक् नगर और कुल में जन्म

१. जाईपराजिओ खलु कासि नियाणं तु हत्थिणपुरम्मि ।
चुलणीए बम्भदत्तो उववन्नो पउमगुम्माओ ।।

(१) जाति से पराजित (पराभव मानते) हुए (पूर्वभव में) सम्भूतमुनि ने हस्तिनापुर में (चक्रवर्ती पद की प्राप्ति का) निदान किया था। (वहाँ से मर कर वह) पद्मगुल्म विमान में (देवरूप में) उत्पन्न हुआ। (वहाँ से च्यव कर) चुलनी रानी की कुक्षि से ब्रह्मदत्त (चक्रवर्ती) के रूप में जन्म लिया।

२. कम्पिल्ले सम्भूओ चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि ।
सेट्ठिकुलम्मि विसाले धम्मं सोऊण पव्वइओ ।।

(२) सम्भूत काम्पिल्यनगर में और चित्र पुरिमतालनगर में विशाल श्रेष्ठिकुल में उत्पन्न हुआ और वह धर्मश्रवण कर प्रव्रजित हुआ।

विवेचन—जाईपराजिओ : दो व्याख्या—(१) जाति—चाण्डालजाति से पराजित—पराभूत। अर्थात्—चित्र और सम्भूत दोनों भाई चाण्डालजाति में उत्पन्न हुए थे। इसलिए शूद्रजातीय होने के कारण ये स्वयं दुःखित रहा करते थे। निमित्त पाकर इन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली और तपस्या के प्रभाव से अनेक लब्धियां प्राप्त कर लीं। पहले वाराणसी में ये राजा और सवर्ण लोगों द्वारा अपमानित और नगरनिष्कासित हुए और दीक्षित होने के बाद जब वे हस्तिनापुर गए तो नमुचि नामक (ब्राह्मण) मंत्री ने 'ये चाण्डाल हैं,' यों कह कर इनका तिरस्कार किया और नगर से निकाल दिया, इस प्रकार शूद्रजाति में जन्म के कारण पराजित—अपमानित (२) अथवा जातियों से—दास आदि नीच स्थानों में बारबार जन्मों (उत्पत्तियों) से पराजित—ओह! मैं कितना अधन्य हूँ कि इस प्रकार बारबार नीच जातियों में ही उत्पन्न होता हूँ, इस प्रकार का पराभव मानते हुए ?[1]

नियाणं—निदानं—परिभाषा—विषयसुख भोगों की वांछा से प्रेरित होकर किया जाने वाला संकल्प। यह आर्त्तध्यान के चार भेदों में से एक है। प्रस्तुत प्रसंग यह है कि सम्भूतमुनि ने सम्भूत के भव में हस्तिनापुर में नमुचि मंत्री द्वारा प्रताड़ित एवं अपमानित (नगरनिष्कासित) किये जाने पर तेजोलेश्या के प्रयोग से अग्निज्वाला और धुंआ फैलाया। नगर को दुःखित देखकर सनत्कुमार चक्रवर्ती अपनी श्रीदेवी रानी सहित मुनि के पास आए, क्षमा मांगी। तब जाकर वे प्रसन्न हुए। रानी ने भक्ति के आवेश में उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। रानी के केशों के कोमल स्पर्शजन्य

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३७६ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ७४१

सुखानुभव के कारण सम्भूत ने चित्रमुनि के द्वारा रोके जाने पर भी ऐसा निदान कर लिया कि 'मेरी तपस्या का अगर कोई फल हो तो मुझे अगले जन्म में चक्रवर्ती पद मिले।'

कंपिल्ले संभूओ—पूर्वजन्म में जो सम्भूत नामक मुनि था, वह निदान के प्रभाव से पाञ्चाल मण्डल के काम्पिल्यनगर में ब्रह्मराज और चूलनी के सम्बन्ध से ब्रह्मदत्त के रूप में हुआ।[1] सम्पूर्ण कथा अध्ययनसार में दी गई है।

सेट्ठिकुलम्मि पंक्ति का भावार्थ—प्रचुर धन और बहुत बड़े परिवार से सम्पन्न होने से विशाल धनसार श्रेष्ठी के कुल में गुणसार नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ और जैनाचार्य शुभचन्द्र से श्रुत-चारित्ररूप धर्म का उपदेश सुनकर मुनिधर्म की दीक्षा ग्रहण की।[2]

चित्र और सम्भूत का काम्पिल्यनगर में समागम और पूर्वभवों का स्मरण

३. कम्पिल्लम्मि य नयरे समागया दो वि चित्तसम्भूया।
सुहदुक्खफलविवागं कहेन्ति ते एक्कमेक्कस्स॥

[३] काम्पिल्यनगर में चित्र और सम्भूत दोनों का समागम हुआ। वहाँ उन दोनों ने परस्पर (एक दूसरे को) सुख-दुःख रूप कर्मफल के विपाक के सम्बन्ध में वार्त्तालाप किया।

४. चक्कवट्टी महिड्ढीओ बम्भदत्तो महायसो।
भायरं बहुमाणेणं इमं वयणमब्बवी—॥

[४] महान् ऋद्धिसम्पन्न एवं महायशस्वी चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त ने अपने (पूर्वजन्म के) भाई से इस प्रकार के वचन कहे—

५. आसिमो भायरा दो वि अन्नमन्नवसाणुगा।
अन्नमन्नमणूरत्ता अन्नमन्नहिएसिणो॥

[५] (ब्रह्मदत्त)—(इस जन्म से पूर्व) हम दोनों भाई थे; एक दूसरे के वशवर्ती, परस्पर अनुरक्त (एक दूसरे के प्रति प्रीति वाले) एवं परस्पर हितैषी थे।

६. दासा दसण्णे आसी मिया कालिंजरे नगे।
हंसा मयंगतीरे य सोवागा कासिभूमिए॥
७. देवा य देवलोगम्मि आसि अम्हे महिड्ढिया।
इमा नो छट्ठिया जाई अन्नमन्नेण जा विणा॥

[६-७] हम दोनों दशार्ण देश में दास, कालिंजर गिरि पर मृग, मृतगंगा के तट पर हंस और काशी देश में चाण्डाल थे।

फिर हम दोनों सौधर्म (नामक प्रथम) देवलोक में महान् ऋद्धि वाले देव थे। यह हम दोनों का छठा जन्म है, जिसमें हम एक दूसरे से पृथक्-पृथक् (वियुक्त) हो गए।

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ३७७ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ७४२
२. उत्तराध्ययन प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ७४३

विवेचन—चित्र और सम्भूत का समागम—प्रस्तुत गाथा में चित्र और सम्भूत पूर्वजन्म के नाम हैं। इस जन्म में उनका समागम क्रमशः श्रेष्ठिपुत्र गुणसार (मुनि) के रूप में तथा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में ब्रह्मदत्त चक्री के जन्मस्थान काम्पिल्यनगर में हुआ था। चित्र का जीव मुनि के रूप में काम्पिल्यपुर में आया हुआ था। उन्हीं दिनों ब्रह्मदत्त चक्री को जातिस्मरण ज्ञान मे पूर्वजन्मों की स्मृति हो गई। उसने अपने पूर्वजन्म के भाई चित्र को खोजने के लिए आधी गाथा बना कर घोषणा करवा दी कि जो इसकी आधी गाथा की पूर्ति कर देगा, उसे मैं आधा राज्य दे दूंगा। संयोगवश उसी निमित्त से चित्र के जीव का मुनि के रूप में पता लग गया। इस प्रकार पांच पूर्वजन्मों में सहोदर रहे हुए दोनों भ्राताओं का अपूर्व मिलन हुआ। इसकी पूर्ण कथा अध्ययनसार में दी गई है।[1]

चित्र मुनि और ब्रह्मदत्त द्वारा पूर्वभवों का संस्मरण—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने पिछले भवों में सहोदर होकर साथ-साथ रहने की स्मृति दिलाते हुए कहा कि यह छठा जन्म है, जिसमें हम लोग पृथक्-पृथक् कुल और देश में जन्म लेने के कारण एक दूसरे से बहुत दूर पड़ गए हैं और दूसरे के सुख-दुःख में सहभागी नहीं बन सके हैं।[2]

चित्र मुनि और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का एक दूसरे की ओर खींचने का प्रयास

८. कम्मा नियाणप्पगडा तुमे राय ! विचिन्तिया।
तेसिं फलविवागेण विप्पओगमुवागया॥

[८] (मुनि)—राजन् ! तुमने निदान (आसक्तिसहित भोगप्रार्थनारूप) से कृत (-उपार्जित) (ज्ञानावरणीयादि) कर्मों का विशेषरूप से (आर्त्तध्यानपूर्वक) चिन्तन किया। उन्हीं कर्मों के फलविपाक (उदय) के कारण (अतिप्रीति वाले) हम दोनों अलग-अलग जन्मे (और बिछुड़ गए)।

९. सच्चसोयप्पगडा कम्मा मए पुरा कडा।
ते अज्ज परिभुंजामो किं नु चित्ते वि से तहा ?

[९] (चक्रवर्ती)—चित्र ! मैंने पूर्वजन्म में सत्य (मृषात्याग) और शौच (आत्मशुद्धि) करने वाले शुभानुष्ठानों से प्रकट शुभफलदायक कर्म किये थे। उनका फल (चक्रवर्तित्व) मैं आज भोग रहा हूँ। क्या तुम भी उनका वैसा ही फल भोग रहे हो ?

१०. सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।
अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहि आया ममं पुण्णफलोववेए॥

[१०] (मुनि)—मनुष्यों के समस्त सुचीर्ण (समाचरित सत्कर्म) सफल होते हैं; क्योंकि किये हुए कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नहीं है। मेरी आत्मा भी उत्तम अर्थ और कामों के द्वारा पुण्यफल से युक्त रही है।

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३८२
२. वही, पत्र ३८३

११. जाणासि संभूय ! महाणुभागं महिड्ढियं पुण्णफलोववेयं ।
चित्तं पि जाणाहि तहेव रायं ! इड्ढी जुई तस्स वि य प्पभूया ।।

[११] हे सम्भूत ! (ब्रह्मदत्त का पूर्वभव के नाम से सम्बोधन) जैसे तुम अपने आपको महानुभाग-(अचिन्त्य शक्ति) सम्पन्न, महान् ऋद्धिसम्पन्न एवं पुण्यफल से युक्त समझते हो, वैसे ही चित्र को (मुझे) भी समझो । राजन् ! उसके (चित्र के) पास भी प्रचुर ऋद्धि और द्युति रही है ।

१२. महत्थरूवा वयणऽप्पभूया गाहाणुगीया नरसंघमज्झे ।
जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया इहऽज्जयन्ते समणो म्हि जाओ ।।

[१२] स्थविरों ने मनुष्य-समुदाय के बीच अल्प वचनों (अक्षरों) वाली किन्तु महार्थरूप (अर्थगम्भीर) गाथा गाई (कही) थी; जिसे (सुनकर) शील और गुणों से युक्त भिक्षु इस निर्ग्रन्थ धर्म में स्थिर होकर यत्न (अथवा—यत्न से अर्जित) करते हैं । उसे सुन कर मैं श्रमण हो गया ।

१३. उच्चोदए महु कक्के य बम्भे पवेइया आवसहा य रम्मा ।
इमं गिहं चित्तधणप्पभूयं पसाहि पंचालगुणोववेयं ।।

[१३] (चक्रवर्ती)—(१) उच्च, (२) उदय, (३) मधु, (४) कर्क और (५) ब्रह्म, ये (पांच प्रकार के) मुख्य प्रासाद तथा और भी अनेक रमणीय प्रासाद (मेरे वर्द्धकिरत्न ने) प्रकट किये (बनाये) हैं तथा यह जो पांचालदेश के अनेक गुणों (शब्दादि विषयों) की सामग्री से युक्त, आश्चर्य-जनक प्रचुर धन से परिपूर्ण मेरा घर है, इसका तुम उपभोग करो ।

१४. नट्टेहि गीएहि य वाइएहिं नारीजणाइं परिवारयन्तो ।
भुंजाहि भोगाइ इमाइ भिक्खू ! मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं ।।

[१४] भिक्षु ! नाट्य, संगीत और वाद्यों के साथ नारीजनों से घिरे हुए तुम इन भोगों (भोगसामग्री) का उपभोग करो; (क्योंकि) मुझे यही रुचिकर है । प्रव्रज्या तो निश्चय ही दुःखप्रद है या प्रव्रज्या तो मुझे दुःखकर प्रतीत होती है ।

१५. तं पुव्वनेहेण कयाणुरागं नराहिवं कामगुणेसु गिद्धं ।
धम्मस्सिओ तस्स हियाणुपेही चित्तो इमं वयणमुदाहरित्था ।।

[१५] उस राजा (ब्रह्मदत्त) के हितानुप्रेक्षी (हितैषी) और धर्म में स्थिर चित्र मुनि ने पूर्व-भव के स्नेहवश अपने प्रति अनुरागी एवं कामभोगों में लुब्ध नराधिप (ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती) को यह वचन कहा—

१६. सव्वं विलवियं गीयं सव्वं नट्टं विडम्बियं ।
सव्वे आभरणा भारा सव्वे कामा दुहावहा ।।

[१६] (मुनि)—सब गीत (गायन) विलाप हैं, समस्त नाट्य विडम्बना से भरे हैं, सभी आभूषण भाररूप हैं और सभी कामभोग दुःखावह (दुखोत्पादक) हैं ।

१७. बालाभिरामेसु दुहावहेसु न तं सुहं कामगुणेसु रायं !
विरत्तकामाण तवोधणाणं जं भिक्खुणं शीलगुणे रयाणं ।।

[१७] राजन् ! अज्ञानियों को रमणीय प्रतीत होने वाले, (किन्तु वस्तुतः) दुःखजनक कामभोगों में वह सुख नहीं है, जो सुख शीलगुणों में रत, कामभोगों से (इच्छाकाम-मदनकामों से) विरक्त तपोधन भिक्षुओं को प्राप्त होता है ।

१८. नरिंद ! जाई अहमा नराणं सोवागजाई दुहओ गयाणं ।
जहिं वयं सव्वजणस्स वेस्सा वसीय सोवाग-निवेसणेसु ।।

[१८] हे नरेन्द्र ! मनुष्यों में श्वपाक (-चाण्डाल) जाति अधम जाति है, उसमें हम दोनों जन्म ले चुके हैं; जहाँ हम दोनों चाण्डालों की वस्ती में रहते थे, वहाँ सभी लोग हमसे द्वेष (घृणा) करते थे ।

१९. तीसे य जाईइ उ पावियाए वुच्छामु सोवागनिवेसणेसु ।
सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा इहं तु कम्माइं पुरेकडाइं ।।

[१९] उस पापी (नीच-निन्द्य) जाति में हम जन्मे थे और उन्हीं चाण्डालों की वस्तियों में हम दोनों रहे थे; (उस समय) हम सभी लोगों के घृणापात्र थे, किन्तु इस भव में (यहाँ) तो पूर्वकृत (शुभ) कर्मों का शुभ फल प्राप्त हुआ है ।

२०. सो दाणिसिं राय ! महाणुभागो महिड्ढिओ पुण्णफलोववेओ ।
चइत्तु भोगाइं असासयाइं आयाणहेउं अभिणिक्खमाहि ।।

[२०] (उन्हीं पूर्वजन्मकृत शुभ कर्मों के फलस्वरूप) इस समय वह (पूर्वजन्म में निन्दित—घृणित) तू महानुभाग (अत्यन्त-प्रभावशाली), महान् ऋद्धिसम्पन्न, पुण्यफल से युक्त राजा बना है । अतः तू अशाश्वत (क्षणिक) भोगों का परित्याग करके आदान, अर्थात्—चारित्रधर्म की आराधना के लिए अभिनिष्क्रमण (प्रव्रज्या-ग्रहण) कर ।

२१. इह जीविए राय ! असासयम्मि धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो ।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए धम्मं अकाऊण परंसि लोए ।।

[२१] राजन् ! इस अशाश्वत (अनित्य) मानवजीवन में जो विपुल (या ठोस) पुण्यकर्म (शुभ-अनुष्ठान) नहीं करता, वह मृत्यु के मुख में पहुँचने पर पश्चात्ताप करता है । वह धर्माचरण न करने के कारण परलोक में भी पश्चात्ताप करता है ।

२२. जहेह सीहो व मियं गहाय मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया कालम्मि तम्मिऽसहरा भवंति ।।

[२२] जैसे यहाँ सिंह मृग को पकड़ कर ले जाता है, वैसे ही अन्तकाल में मृत्यु मनुष्य को ले जाती है । उस (मृत्यु) काल में उसके माता-पिता एवं भार्या (पत्नी) (तथा भाई-बन्धु, पुत्र आदि) कोई भी मृत्यु-दुःख के अंशधर (हिस्सेदार) नहीं होते ।

२३. न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा ।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ।।

[२३] ज्ञातिजन (जाति के लोग), मित्रवर्ग, पुत्र और बान्धव आदि उसके (मृत्यु के मुख में पड़े हुए मनुष्य के) दुःख को नहीं बाँट सकते । वह स्वयं अकेला ही दुःख का अनुभव करता (भोगता) है; क्योंकि कर्म कर्त्ता का ही अनुसरण करता है ।

२४. चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ परं भवं सुन्दर पावगं वा ।।

[२४] द्विपद (पत्नी, पुत्र आदि स्वजन), चतुष्पद (गाय, घोड़ा आदि चौपाये पशु), खेत,घर, धन (सोना-चाँदी आदि), धान्य (गेहूँ, चावल आदि) सभी कुछ (यहीं) छोड़ कर, केवल अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों को साथ लेकर यह पराधीन जीव, सुन्दर (देव-मनुष्य सम्बन्धी सुखद) अथवा असुन्दर (नरक-तिर्यञ्चसम्बन्धी दुःखद) परभव (दूसरे लोक) को प्रयाण करता है ।

२५. तं इक्कगं तुच्छसरीरगं से चिईगयं डहिय उ पावगेणं !
भज्जा य पुत्ता वि य नायओ य दायारमन्नं अणुसंकमन्ति ।।

[२५] चिता पर रखे हुए (अपने मृत सम्बन्धी के जीवरहित) उस एकाकी तुच्छ शरीर को अग्नि से जला कर, स्त्री, पुत्र, अथवा ज्ञातिजन (स्वजन) दूसरे दाता (आश्रयदाता—स्वार्थसाधक) का अनुसरण करने लगते हैं—किसी अन्य के हो जाते हैं ।

२६. उवणिज्जई जीवियमप्पमायं वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं !
पंचालराया ! वयणं सुणाहि मा कासि कम्माइं महालयाइं ।।

[२६] राजन् ! कर्म किसी भी प्रकार का प्रमाद (भूल) किये विना (क्षण-क्षण में आवीचिमरण के रूप में) जीवन को मृत्यु के निकट ले जा रहे हैं । वृद्धावस्था मनुष्य के वर्ण (शरीर की कांति) का हरण कर रही है । अतः हे पांचालराज ! मेरी बात सुनो, (पंचेन्द्रियवध आदि) महान् (घोर) पापकर्म मत करो ।

२७. अहंपि जाणामि जहेह साहू ! जं मे तुमं साहसि वक्कमेयं ।
भोगा इमे संगकरा हवन्ति जे दुज्जया अज्जो ! अम्हारिसेहिं ।।

[२७] (चक्रवर्ती)—हे साधो ! जिस प्रकार तुम मुझे इस (समस्त सांसारिक पदार्थों की अशरण्यता एवं अनित्यता आदि के विषय) में उपदेशवाक्य कह रहे हो, उसे मैं भी समझ रहा हूँ कि ये भोग संगकारक (आसक्ति में बांधने वाले) होते हैं, किन्तु आर्य ! वे हम जैसे लोगों के लिए तो अत्यन्त दुर्जय हैं ।

२८. हत्थिणपुरम्मि चित्ता ! दट्ठूणं नरवइं महिड्ढियं ।
कामभोगेसु गिद्धेणं नियाणमसुहं कडं ।।

[२८] चित्र ! हस्तिनापुर में महान् ऋद्धिसम्पन्न चक्रवर्ती (सनत्कुमार) नरेश को देखकर मैंने कामभोगों में आसक्त होकर अशुभ निदान (कामभोग-प्राप्ति का संकल्प) कर लिया था ।

२९. तस्स मे अपडिकन्तस्स इमं एयारिसं फलं।
जाणमाणो वि जं धम्मं कामभोगेसु मुच्छिओ ॥

[२९] (मृत्यु के समय) मैंने उस निदान का प्रतिक्रमण नहीं किया, उसी का इस प्रकार का यह फल है कि धर्म को जानता-बूझता हुआ भी मैं कामभोगों में मूर्च्छित (आसक्त) हूँ। (उन्हें छोड़ नहीं पाता।)

३०. नागो जहा पंकजलावसन्नो दट्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं।
एवं वयं कामगुणेसु गिद्धा न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ॥

[३०] जैसे पंकजल (दलदल) में धँसा हुआ हाथी स्थल (सूखी भूमि) को देखता हुआ भी किनारे पर नहीं पहुँच पाता; उसी प्रकार हम (श्रमण-धर्म को जानते हुए) भी कामगुणों (शब्दादि विषय-भोगों) में आसक्त बने हुए हैं, (इस कारण) भिक्षुमार्ग का अनुसरण नहीं कर पाते।

३१. अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥

[३१] (मुनि)—राजन्! समय व्यतीत हो रहा है। रात्रियाँ (दिन-रात) द्रुतगति से भागी जा रही हैं और मनुष्यों के (विषयसुख-) भोग भी नित्य नहीं हैं। कामभोग क्षीणपुण्य वाले व्यक्ति को वैसे ही छोड़ देते हैं, जैसे क्षीणफल वाले वृक्ष को पक्षी।

३२. जइ तं सि भोगे चइउं असत्तो अज्जाइं कम्माइं करेहि रायं!
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी तो होहिसि देवो इओ विउव्वी ॥

[३२] राजन्! यदि तू (इस समय) भोगों (कामभोगों) को छोड़ने में असमर्थ है तो आर्यकर्म कर। धर्म में स्थिर होकर समस्त प्राणियों पर दया-(अनुकम्पा-) परायण बन, जिससे कि तू भविष्य में इस (मनुष्यभव) के अनन्तर वैक्रियशरीरधारी (वैमानिक) देव हो सके।

३३. न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी गिद्धो सि आरम्भ-परिग्गहेसु।
मोहं कओ एत्तिउ विप्पलावो गच्छामि रायं! आमन्तिओऽसि ॥

[३३] (मुनि)—(शब्दादि काम-) भोगों को त्यागने की (तदनुसार धर्माचरण करने की) तेरी बुद्धि (दृष्टि या रुचि) नहीं है। तू आरम्भ-परिग्रह में गृद्ध (आसक्त) है। मैंने व्यर्थ ही इतना प्रलाप (बकवास) किया और तुझे सम्बोधित किया (—धर्माराधना के लिए आमन्त्रित किया)। राजन्! (अब) मैं जा रहा हूँ।

विवेचन—प्रेयमार्गी और श्रेयमार्गी का संवाद—प्रस्तुत अध्ययन की गाथा ८ से ३३ तक पांच पूर्वजन्मों में साथ-साथ रहे हुए दो भाइयों का संवाद है। इनमें से पूर्वजन्म का सम्भूत एवं वर्तमान में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती प्रेयमार्ग का प्रतीक है और पूर्वजन्म का चित्र और वर्तमान में गुणसार मुनि श्रेयमार्ग का प्रतीक है। प्रेयमार्ग के अनुगामी ब्रह्मदत्त चक्री ने पूर्वजन्म में आचरित सनिदान तप-संयम के फलस्वरूप विपुल भोगसामग्री प्राप्त की है, उसी पर उसे गर्व है, उसी में वह निमग्न रहता है। उसी भोगवादी प्रेयमार्ग की ओर मुनि को खींचने के लिए प्रयत्न करता है, समस्त भोग्य

सामग्री के उपभोग के लिए मुनि को आमंत्रित करता है, परन्तु तत्त्वज्ञ मुनि कहते हैं कि तुम यह मत समझो कि तुमने ही अर्थकामपोषक भोगसामग्री प्राप्त की है। मैंने भी प्राप्त की थी परन्तु मैंने उन वैषयिक सुखभोगों को दुःखबीज, जन्ममरणरूप संसारपरिवर्द्धक, दुर्गतिकारक, आर्त्तध्यान के हेतु मान कर त्याग दिया है और शाश्वत-स्वाधीन आत्मिक सुख-शान्ति के हेतुभूत त्यागप्रधान श्रेयमार्ग की ओर अपने जीवन को मोड़ लिया है। इसमें मुझे अपूर्व सुखशान्ति और आनन्द है। तुम भी क्षणिक भोगों की आसक्ति और पापकर्मों की प्रवृत्ति को छोड़ो। जीवन नाशवान् है, मृत्यु प्रतिक्षण आ रही है। अतः कम से कम आर्यकर्म करो, मार्गानुसारी बनो, सम्यग्दृष्टि तथा व्रती श्रमणोपासक बनो, जिससे कि तुम सुगति प्राप्त कर सको। माना कि तुम्हें पूर्व जन्म में आचरित तप, संयम एवं निदान के फलस्वरूप चक्रवर्ती की ऋद्धि एवं भोगसामग्री मिली है, परन्तु इनका उपभोग सत्कर्म में करो, आसक्तिरहित होकर इनका उपभोग करोगे तो तुम्हारी दुर्गति टल जाएगी। परन्तु ब्रह्मदत्त चक्री ने कहा—मैं यह सब जानता हुआ भी दल-दल में फंसे हुए हाथी की तरह कामभोगों में फंस कर उनके अधीन, निष्क्रिय हो गया हूँ। त्यागमार्ग के शुभपरिणामों को देखता हुआ भी उस ओर एक भी कदम नहीं बढ़ा सकता। इस प्रकार चित्र और संभूत इन दोनों का मार्ग इस छठे जन्म में अलग-अलग दो ध्रुवों की ओर हो गया।[१]

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि—पूर्वजन्म में किये हुए अवश्य वेद्य—भोगने योग्य निकाचित कर्मों का फल अवश्य मिलता है, अर्थात्—वे कर्म अपना फल अवश्य देते हैं।[२] बद्धकर्म कदाचित् अनुभाग द्वारा न भोगे जाएँ तो भी प्रदेशोदय से तो अवश्यमेव भोगने पड़ते हैं।

पंचालगुणोववेयं—(१) पंचाल नामक जनपद में इन्द्रियोपकारी जो भी विशिष्ट रूपादि गुण—विषय हैं, उनसे उपेत—युक्त, (२) पंचाल में जो विशिष्ट वस्तुएँ, वे सब इस गृह में हैं।[३]

नट्टेहि गीएहि वाइएहि—बत्तीस पात्रों से उपलक्षित नाट्यों से या विविध अंगहारादिस्वरूप नृत्यों से, ग्राम-स्वरूप,-मूर्च्छनारूप गीतों से तथा मृदंग-मुकुंद आदि वाद्यों से।[४]

आयाणहेउं:—सद्विवेकी पुरुषों द्वारा जो ग्रहण किया जाता है, उस चारित्रधर्म को यहां आदान कहा गया है। उसके लिए।[५]

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं—आशय—कर्म कर्त्ता का अनुगमन करता है, अर्थात्—जिसने जो कर्म किया है, उसी को उस कर्म का फल मिलता है, दूसरे को नहीं। दूसरा कोई भी उस कर्मफल में हिस्सेदार नहीं बनता।[६]

अपडिकंतस्स—उक्त निदान की आलोचना, निन्दना, गर्हणा एवं प्रायश्चित्त रूप से प्रतिक्रमणा—प्रतिनिवृत्ति नहीं की।[७]

---

१. उत्तराध्ययन-मूल एवं बृहद्वृत्ति, अ. १३, गा. ८ से ३२ तक का तात्पर्य, पत्र ३८४ से ३९१ तक

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ३८४ ३. वही, पत्र ३८६

४. वही, पत्र ३६८ ५. वही, पत्र ३८७

६. वही, पत्र ३८९ ७. वही, पत्र ३९०

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और चित्र मुनि की गति

३४. पंचालराया वि य बम्भदत्तो साहुस्स तस्स वयणं अकाउं।
अणुत्तरे भुंजिय कामभोगे अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो॥

[३४] पांचाल जनपद का राजा ब्रह्मदत्त उन तपस्वी साधु चित्र मुनि के वचन का पालन नहीं कर सका। फलतः वह अनुत्तर कामभोगों का उपभोग करके अनुत्तर (सप्तम) नरक में उत्पन्न (प्रविष्ट) हुआ।

३५, चित्तो वि कामेहि विरत्तकामो उदग्गचारित्त-तवो महेसी।
अणुत्तरं संजम पालइत्ता अणुत्तरं सिद्धिगइं गओ॥
—त्ति बेमि।

[३५] अभिलषणीय शब्दादि कामों से विरक्त, उग्रचारित्री एवं तपस्वी महर्षि चित्र भी अनुत्तर संयम का पालन करके अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) सिद्धिगति को प्राप्त हुए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—वयणं अकाउं : भावार्थ—तपस्वी साधु चित्र मुनि के हितोपदेशदर्शक वचन का पालन वज्रतन्दुल की तरह गुरुकर्मा होने के कारण पंचाल-राजा नहीं कर सका।

अणुत्तरे, अणुत्तरं : विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न अर्थ—प्रस्तुत अन्तिम दो गाथाओं में 'अनुत्तर' शब्द का चार बार प्रयोग हुआ है। प्रसंगवश इसके विभिन्न अर्थ होते हैं। चौंतीसवीं गाथा में (१) प्रथम अनुत्तर शब्द कामभोगों का विशेषण है, उसका अर्थ है—सर्वोत्तम। (२) द्वितीय अनुत्तर नरक का विशेषण है, जिसका अर्थ है—समस्त नरकों से स्थिति, दुःख आदि में ज्येष्ठ, सर्वोत्कृष्ट दुःखमय अप्रतिष्ठान नामक सप्तम नरक। (३) पैंतीसवीं गाथा में प्रथम अनुत्तर शब्द संयम का विशेषण है, अर्थ है—सर्वोपरि संयम। (४) द्वितीय अनुत्तर सिद्धिगति का विशेषण है, जिसका अर्थ है—सर्वलोकाकाश के ऊपरी भाग में रही हुई, अति प्रधान मुक्ति—सिद्धिगति।

॥ तेरहवाँ अध्ययन : चित्र-सम्भूतीय समाप्त ॥

□□

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३९२
२. वही, पत्र ३९२-३९३

चौदहवाँ अध्ययन : इषुकारीय

अध्ययन-सार

※ प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—इषुकारीय। इसमें भृगु पुरोहित के कुटुम्ब के निमित्त से 'इषुकार' राजा को प्रतिवोध मिला है और उसने आर्हतशासन में प्रव्रजित होकर मोक्ष प्राप्त किया है। इस प्रकार के वर्णन को लेकर इषुकार राजा की लौकिक प्रधानता के कारण इस अध्ययन का नाम 'इषुकारीय' रखा गया है।[1]

※ प्रत्येक प्राणी कर्मो के अनुसार पूर्वजन्मों के शुभाशुभ संस्कार लेकर आता है। अनेक जन्मों की करणी के फलस्वरूप विविध आत्माओं का एक ही नगर में, एक कुटुम्ब में तथा एक ही धर्मपरम्परा में अथवा एक ही वातावरण में पारस्परिक संयोग मिलता है। इस अध्ययन के प्रारम्भ में छह आत्माओं के इस अभूतपूर्व संयोग का निरूपण है। ये छह जीव ही इस अध्ययन के प्रमुख पात्र हैं—महाराज इषुकार, रानी कमलावती, पुरोहित भृगु, पुरोहितपत्नी यशा तथा पुरोहित के दो पुत्र।

※ इसमें ब्राह्मणसंस्कृति की कुछ मुख्य परम्पराओं का उल्लेख पुरोहितकुमारों और पुरोहित के संवाद के माध्यम से किया है—

(१) प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर वेदाध्ययन करना। (२) तत्पश्चात् गृहस्थाश्रम स्वीकार कर विवाहित होकर विषयभोग-सेवन करके पुत्रोत्पत्ति करना; क्योंकि पुत्ररहित की सद्गति नहीं होती। (३) गृहस्थाश्रम में रहकर ब्राह्मणों को भोजन कराना। (४) फिर पुत्रों का विवाह करके, उनके पुत्र हो जाने पर घर का भार उन्हें सौंपना। (५) इसके पश्चात् ही अरण्यवासी (वानप्रस्थी) मुनि हो जाना। ब्राह्मणसंस्कृति में गृहस्थाश्रम का पालन न करके सीधे ही वानप्रस्थाश्रम या संन्यासाश्रम स्वीकार करना वर्जित था।

※ किन्तु भृगु पुरोहित के दोनों पुत्रों में पूर्वजन्मों का स्मरण हो जाने से श्रमणसंस्कृति के त्याग-प्रधान संस्कार उद्बुद्ध हो गए और वे उसी मार्ग पर चलने को कटिवद्ध हो गए। अपने पिता (भृगु पुरोहित) को उन्होंने श्रमणसंस्कृति के त्याग एवं तप से कर्मक्षयद्वारा आत्मशुद्धिप्रधान सिद्धान्त के अनुसार युक्तिपूर्वक समझाया, जिसका निरूपण १२ वीं गाथा से १५ वीं गाथा तक तथा १७ वीं गाथा में किया गया है।[2]

※ भृगु पुरोहित ने जब नास्तिकों के तज्जीव-तच्छरीरवाद को लेकर आत्मा के नास्तित्व का प्रतिपादन किया तो दोनों कुमारों ने आत्मा के अस्तित्व एवं उसके बन्धनयुक्त होने का सयुक्तिक सप्रमाण प्रतिपादन किया, जिससे पुरोहित भी निरुत्तर और प्रतिबुद्ध हो गया। पुरोहितानी

---

१. उत्तरा. नियुक्ति, गाथा ३६२

२. उत्तरा. मूलपाठ, अ. १४, गा. १ से ३, तथा १२ वीं से १७ वीं तक।

का मन भोगवाद के संस्कारों से लिप्त था किन्तु पुरोहित के द्वारा अपने दोनों पुत्रों को त्यागमार्ग पर आरूढ होने का उदाहरण देकर त्याग की महत्ता समझाने से पुरोहितानी भी प्रबुद्ध हो गई। पुरोहित-परिवार के चार सदस्यों को सर्वस्व गृहत्याग कर जाते देख रानी कमलावती के अन्तःकरण में प्रशस्त स्फुरणा हुई। उसकी प्रेरणा से राजा के भी मन पर छाया हुआ धन और कामभोग-सेवन का मोह नष्ट हो गया। यों राजा और रानी भी सर्वस्व त्याग कर प्रव्रजित हुए।

❋ इसमें प्राचीनकालिक एक सामाजिक परम्परा का उल्लेख भी है कि जिस व्यक्ति का कोई उत्तराधिकारी नहीं होता था या जिसका सारा परिवार गृहत्यागी श्रमण बन जाता था, उसकी धनसम्पत्ति पर राजा का अधिकार होता था। इस परम्परा को रानी कमलावती ने निन्द्य बताकर राजा की वृत्ति को मोड़ा है। यह सारा वर्णन ३८ वीं से ४८ वीं गाथा तक है।[1]

❋ अन्तिम ५ गाथाओं में राजा-रानी के प्रव्रजित होने, तप-संयम में घोर-पराक्रमी बनने तथा पुरोहितपरिवार के चारों सदस्यों के द्वारा मुनिजीवन स्वीकार करके तप-संयम द्वारा मोहमुक्त एवं सर्वकर्ममुक्त बनने का उल्लेख है।[2]

❋ निर्युक्तिकार ने ग्यारह गाथाओं में इनकी पूर्वकथा प्रस्तुत की है। वह संक्षेप में इस प्रकार है—पूर्व-अध्ययन में प्रतिपादित चित्र और सम्भूत के पूर्वजन्म में दो गोपालपुत्र मित्र थे। उन्हें साधु की सत्संगति से सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। वे दोनों वहाँ से मरकर देवलोक में देव हुए। वहाँ से च्यव कर क्षितिप्रतिष्ठित नगर में वे दोनों इभ्यकुल में जन्मे। यहाँ चार इभ्य श्रेष्ठिपुत्र उनके मित्र बने। उन्होंने एक बार स्थविरों से धर्म-श्रवण किया और विरक्त होकर प्रव्रजित हो गए। चिरकाल तक संयम का पालन किया। अन्त में समाधिमरणपूर्वक शरीरत्याग करके ये छहों सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म नामक विमान में चार पल्योपम की स्थिति वाले देव हुए। दोनों भूतपूर्व गोपालपुत्रों को छोड़कर शेष चारों वहाँ से च्युत हुए। कुरुजनपद के इषुकार नगर में जन्मे। उनमें से एक जीव तो इषुकार नामक राजा बना, दूसरा उसी राजा की रानी कमलावती, तीसरा भृगु नामक पुरोहित और चौथा हुआ—भृगु पुरोहित की पत्नी यशा। बहुत काल बीता। भृगु पुरोहित के कोई पुत्र नहीं हुआ। पति-पत्नी दोनों, 'वंश कैसे चलेगा?' इसी चिन्ता से ग्रस्त रहते थे।

दोनों गोपालपुत्रों ने, जो अभी तक देवभव में थे, एक बार अवधिज्ञान से जाना कि वे दोनों इषुकार नगर में भृगु पुरोहित के पुत्र होंगे; वे श्रमणवेश में भृगु पुरोहित के यहाँ आए। पुरोहित दम्पती ने वन्दना की। दोनों श्रमणवेषी देवों ने धर्मोपदेश दिया, जिसे सुनकर पुरोहितदम्पती ने श्रावकव्रत ग्रहण किए। श्रद्धावश पुरोहितदम्पती ने पूछा—'मुनिवर! हमें कोई पुत्र प्राप्त होगा या नहीं?' श्रमणयुगल ने कहा—'तुम्हें दो पुत्र होंगे, किन्तु वे बचपन में ही दीक्षा ग्रहण कर लेंगे। उनकी प्रव्रज्या में तुम कोई विघ्न उपस्थित नहीं कर सकोगे। वे मुनि बनकर धर्मशासन की प्रभावना करेंगे।' इतना कह कर श्रमणवेषी देव वहाँ से चले गए।

---

१. उत्तरा. मूलपाठ, ३८ से ४८ वीं गाथा तक

२. उत्तरा. मूलपाठ, गा. ४९ से ५३ तक

पुरोहितदम्पती को प्रसन्नता हुई। भविष्यवाणी के अनुसार वे दोनों देव पुरोहितपत्नी यशा के गर्भ में आए। दीक्षा ग्रहण कर लेने के भय से पुरोहितदम्पती नगर को छोड़ कर व्रजगाँव में आ वसे। यहीं पुरोहितपत्नी यशा ने दो सुन्दर पुत्रों को जन्म दिया। कुछ बड़े हुए। माता-पिता यह सोच कर कि कहीं ये दीक्षा न ले लें, अल्पवयस्क पुत्रों के मन में समय-समय पर साधुओं के प्रति घृणा और भय की भावना पैदा करते रहते थे। वे समझाते रहते—देखो, वच्चो! साधुओं के पास कभी मत जाना। ये छोटे-छोटे बच्चों को उठा कर ले जाते हैं और उन्हें मार कर उनका मांस खा जाते हैं। उनसे वात भी मत करना।

माता-पिता की इस शिक्षा के फलस्वरूप दोनों वालक साधुओं से डरते रहते, उनके पास तक नहीं फटकते थे।

एक वार दोनों वालक खेलते-खेलते गाँव से वहुत दूर निकल गए। अचानक उसी रास्ते से उन्होंने कुछ साधुओं को अपनी ओर आते देखा तो वे घवरा गए। अब क्या करें! बचने का कोई उपाय नहीं था। अतः झटपट वे पास के ही एक सघन वट वृक्ष पर चढ़ गए और छिप कर चुपचाप देखने लगे कि ये साधु क्या करते हैं? संयोगवश साधु भी उसी वृक्ष के नीचे आए। इधर-उधर देखा-भाला, रजोहरण से चींटी आदि जीवों को धीरे-से एक ओर किया और बड़ी यतना के साथ वड़ की सघन छाया में वैठ कर झोली में से पात्र निकाले और एक मंडली में भोजन करने लगे। वच्चों ने देखा कि उनके पात्रों में मांस जैसी कोई वस्तु नहीं है। सादा सात्त्विक भोजन है, साथ ही उनके दयाशील व्यवहार तथा करुणाद्रवित वार्तालाप देखा-सुना तो उनका भय कम हुआ। वालकों के कोमल निर्दोप मानस पर धुंधली-सी स्मृति जागी—'ऐसे साधु तो हमने पहले भी कहीं देखे हैं, ये अपरिचित नहीं हैं।' ऊहापोह करते-करते कुछ ही क्षणों में उन्हें जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ। पूर्वजन्म की स्मृति स्पष्ट हो गई। उनका भय सर्वथा मिट गया। वे दोनों पेड़ से नीचे उतरे और साधुओं के पास आकर दोनों ने श्रद्धापूर्वक वन्दना की। साधुओं ने उन्हें प्रतिवोध दिया। दोनों वालकों ने संसार से विरक्त होकर, मुनि वनने का निर्णय किया। वहाँ से वे सीधे माता-पिता के पास आए और अपना निर्णय वतलाया। भृगु पुरोहित ने उन्हें व्राह्मणपरम्परा के अनुसार वहुत कुछ समझाने और साधु वनने से रोकने का प्रयत्न किया, मगर सव व्यर्थ! उनके मन पर दूसरा कोई रंग नहीं चढ़ सका, वल्कि दोनों पुत्रों की युक्तिसंगत वातों से भृगु पुरोहित भी दीक्षा लेने को तत्पर हो गया। आगे की कथा मूलपाठ में ही वर्णित है।[1]

※ कुल मिला कर इस अध्ययन से पुनर्जन्मवाद की पुष्टि होती है तथा ब्राह्मण-श्रमण परम्परा की मौलिक मान्यताओं तथा तत्कालीन सामाजिक परम्परा का स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है।

□□

१. उत्तरा. निर्युक्ति, गा. ३६३ से ३७३ तक

चउदसमं अज्झयणं : उसुयारिज्जं

चौदहवाँ अध्ययन : इषुकारीय

प्रस्तुत अध्ययन के छह पात्रों का पूर्वजन्म एवं वर्त्तमान जन्म का सामान्य परिचय

१. देवा भवित्ताण पुरे भवम्मी केइ चुया एगविमाणवासी ।
पुरे पुराणे उसुयारनामे खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे ॥

[१] देवलोक के समान रमणीय, प्राचीन, प्रसिद्ध और समृद्ध 'इषुकार' नामक नगर में, पूर्वजन्म में देव होकर एक ही विमान में रहने वाले कुछ जीव देवता का आयुष्य पूर्ण कर अवतरित हुए ।

२. सकम्मसेसेण पुराकएणं कुलेसुदग्गेसु य ते पसूया ।
निव्विण्णसंसारभया जहाय जिणिन्दमग्गं सरणं पवन्ना ॥

[२] पूर्वभव में कृत, अपने अवशिष्ट शुभ कर्मों के कारण वे (छहों) जीव (इषुकारनगर के) उच्चकुलों में उत्पन्न हुए और संसार के भय से उद्विग्न होकर, (कामभोगों का) परित्याग कर जिनेन्द्रमार्ग की शरण को प्राप्त हुए ।

३. पुमत्तमागम्म कुमार दो वी पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती ।
विसालकित्ती य तहोसुयारो रायत्थ देवी कमलावई य ॥

[३] इस भव में पुरुषत्व को प्राप्त करके दो व्यक्ति पुरोहितकुमार (भृगु-पुत्र) हुए, (तीसरा जीव भृगु नामक) पुरोहित हुआ, (चौथा जीव) उसकी पत्नी (यशा नाम की पुरोहितानी), (पांचवाँ जीव) विशाल कीर्ति वाला इषुकार नामक राजा हुआ तथा (छठा जीव) उसकी देवी (मुख्य रानी) कमलावती हुई । (ये छहों जीव अपना-अपना आयुष्य पूर्ण होने पर क्रमशः पहले-पीछे च्यवकर पूर्वभव के सम्बन्ध से एक ही नगर में उत्पन्न हुए ।)

विवेचन—पुराणे—प्राचीन या चिरन्तन । यह नगर बहुत पुराना था ।

एगविमाणवसी—वे एक ही पद्मगुल्म नामक विमान के निवासी थे । इसलिए एगविमाणवासी कहा गया है ।

पुराकएणं सकम्मसेसेण : भावार्थ—पुराकृत—पूर्वजन्मोपार्जित स्वकर्मशेष—अपने पुण्य-प्रकृति रूप कर्म शेष थे, इन कारण । अपने द्वारा पूर्वजन्मों में उपार्जित पुण्य कर्म शेष होने से जीव को जन्म ग्रहण करना पड़ता है । इन छहों व्यक्तियों के सभी पुण्यकर्म देवलोक में क्षीण नहीं हुए थे; वे बाकी थे । इस कारण उनका जन्म उत्तमकुल में हुआ ।

जिणिंदमग्गं : जिनेन्द्रमार्ग—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मुक्तिपथ को ।

कुमार दो वी—दोनों कुमार—दो पुरोहित पुत्र ।[१]

---

१. उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ३९६-३९७

विरक्त पुरोहितकुमारों की पिता से दीक्षा की अनुमति

**४. जाई-जरा-मच्चुभयाभिभूया बहिं विहाराभिनिविट्ठचित्ता ।
संसारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता ॥**

**५. पियपुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स ।
सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं तहा सुचिण्णं तव-संजमं च ॥**

[४-५] स्वकर्मशील (ब्राह्मण के योग्य यजन-याजन आदि अनुष्ठान में निरत) पुरोहित के दोनों प्रियपुत्रों ने एकवार मुनियों को देखा तो उन्हें अपने पूर्वजन्म का तथा उस जन्म में सम्यक्‌रूप से आचरित तप और संयम का स्मरण हो गया । (फलतः) वे दोनों जन्म, जरा और मृत्यु के भय से अभिभूत हुए । उनका अन्तःकरण वहिर्विहार, अर्थात्—मोक्ष की ओर आकृष्ट हो गया । (अतः) वे (दोनों) संसारचक्र से विमुक्त होने के लिए (शब्दादि) कामगुणों से विरक्त हो गए ।

**६. ते कामभोगेसु असज्जमाणा माणुस्सएसुं जे यावि दिव्वा ।
मोक्खाभिकंखी अभिजायसड्ढा तायं उवागम्म इमं उदाहु ॥**

[६] वे दोनों पुरोहित पुत्र मनुष्य तथा देवसम्वन्धी कामभोगों से अनासक्त हो गए । मोक्ष के अभिलापी और श्रद्धा (तत्वरुचि) संपन्न उन दोनों पुत्रों ने पिता के पास आकर इस प्रकार कहा—

**७. असासयं दट्ठु इमं विहारं वहुअन्तरायं न य दीहमाउं ।
तम्हा गिहंसि न रइं लहामो आमन्तयामो चरिस्सामु मोणं ॥**

[७] इस विहार (मनुष्य-जीवन के रूप में अवस्थान) को हमने अशाश्वत (अनित्य=क्षणिक) देख (जान) लिया । (साथ ही यह) अनेक विघ्न-वाधाओं से परिपूर्ण है और मनुष्य आयु भी दीर्घ (लम्वी) नहीं है । इसलिए हमें अव घर में कोई आनन्द नहीं मिल रहा है । अतः अव मुनिभाव (संयम) का आचरण (अंगीकार) करने के लिए आप से हम अनुमति चाहते हैं ।

विवेचन—वहिं विहाराभिणिविट्ठचित्ता—वहिः अर्थात्—संसार से वाहर, विहार—स्थान, अर्थात्—मोक्ष । मोक्ष संसार से वाहर है। उसमें उन दोनों का चित्त अभिनिविष्ट हो गया—अर्थात्—जम गया ।

कामगुणे विरत्ता—कामनाओं को उत्तेजित करने वाले शब्दादि इन्द्रियविषयों से विरक्त—पराङ्‌मुख, क्योंकि कामगुण मुक्ति के विरोधी हैं, मुक्तिमार्ग में वाधक हैं । वृहद्‌वृत्तिकार ने कामगुणविरक्ति को ही जिनेन्द्रमार्ग की शरण में जाना वताया है ।

सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स—स्वकर्मशील—ब्राह्मणवर्ण के अपने कर्म—यज्ञ-याग आदि अनुष्ठान में निरत पुरोहित के—शान्तिकर्त्ता के ।

सुचिण्णं—यह तप और संयम का विशेषण है । इसका आशय है कि पूर्वजन्म में उन्होंने जो निदान आदि से रहित तप, संयम का आचरण किया था, उसका स्मरण हुआ ।

इमं विहारं—'इस विहार' से आशय है—इस प्रत्यक्ष दृश्यमान मनुष्यजीवन (नरभव) में अवस्थान।

आमंतयामो : तात्पर्य—आमंत्रण कर रहे—पूछ रहे हैं, यह अर्थ होते हुए भी आशय है—अनुमति मांग रहे हैं।[1]

पुरोहित और उसके पुत्रों का परस्पर संवाद

८. अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं तवस्स वाघायकरं वयासी।
इमं वयं वेयविओ वयन्ति जहा न होई असुयाण लोगो॥

[८] यह (पुत्रों के द्वारा विरक्ति की बात) सुन कर पिता ने उस अवसर पर उन कुमारमुनियों के तप में बाधा उत्पन्न करने वाली यह बात कही—'पुत्रो! वेदों के ज्ञाता यह वचन कहते हैं कि—निपूते की—जिनके पुत्र नहीं होता, उनकी—(उत्तम) गति (परलोक) नहीं होती है।'

९. अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे पुत्ते पडिट्ठप्प गिहंसि जाया!
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं आरण्णगा होह मुणी पसत्था॥

[९] (इसलिए) हे पुत्रो! (पहले) वेदों का अध्ययन करके, ब्राह्मणों को भोजन करा कर, स्त्रियों के साथ भोग भोगो और फिर पुत्रों को घर का भार सौंप कर आरण्यक (अरण्यवासी) प्रशस्त मुनि बनना।

१०. सोयग्गिणा आयगुणिन्धणेणं मोहाणिला पज्जलणाहिएणं।
संतत्तभावं परितप्पमाणं लालप्पमाणं बहुहा बहुं च॥

[१०] (इसके पश्चात्) जिसका अन्तःकरण अपने रागादिगुणरूप इन्धन (जलावन) से एवं मोहरूपी पवन से अधिकाधिक प्रज्वलित तथा शोकाग्नि से संतप्त एवं परितप्त हो गया था और जो मोहग्रस्त हो कर अनेक प्रकार से अत्यधिक दीनहीन वचन बोल रहा था—

११. पुरोहियं तं कमसोऽणुणन्तं निमंतयन्तं च सुए धणेणं।
जहक्कमं कामगुणेहि चेव कुमारगा ते पसमिक्ख वक्कं॥

[११] जो एक के बाद एक—बार-बार अनुनय कर रहा था तथा जो अपने दोनों पुत्रों को धन का और क्रमप्राप्त कामभोगों का निमंत्रण दे रहा था; उस (अपने पिता) पुरोहित (भृगु नामक विप्र) को दोनों कुमारों ने भली भांति सोच-विचार कर ये वाक्य कहे—

१२. वेया अहीया न भवन्ति ताणं भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं॥

[१२] (पुत्र)—अधीत वेद अर्थात् वेदों का अध्ययन त्राण (आत्मरक्षक) नहीं होता। (यज्ञ-यागादि के रूप में पशुवध के उपदेशक) द्विज (ब्राह्मण) भी भोजन कराने पर तमस्तम (घोर अन्धकार) में ले जाते हैं। अंगजात (औरस) पुत्र भी त्राण (शरण) रूप नहीं होते। अतः आपके इस (पूर्वोक्त) कथन का कौन अनुमोदन करेगा!

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३९७-३९८

१३. खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥

[१३] ये कामभोग क्षणमात्र के लिए सुखदायी होते हैं, किन्तु फिर चिरकाल तक दुःख देते हैं । अतः ये अधिक दुःख और अल्प (अर्थात्—तुच्छ) सुख देते हैं । ये संसार से मुक्त होने में विपक्षभूत (बाधक) हैं और अनर्थों की खान हैं ।

१४. परिव्वयन्ते अणियत्तकामे अहो य राओ परितप्पमाणे ।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च ॥

[१४] जो काम से निवृत्त नहीं है, वह (अतृप्ति की ज्वाला से संतप्त होता हुआ) दिन-रात भटकता फिरता है । दूसरों (स्वजनों) के लिए प्रमत्त (आसक्तचित्त) होकर (विविध उपायों से) धन की खोज में लगा हुआ वह पुरुष (एकदिन) जरा (वृद्धावस्था) और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ।

१५. इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं ।
तं एवमेवं लालप्पमाणं हरा हरंति त्ति कहं पमाए ? ॥

[१५] यह मेरा है, और यह मेरा नहीं है; (तथा) यह मुझे करना है और यह नहीं करना है; इस प्रकार व्यर्थ की बकवास (लपलप) करने वाले व्यक्ति को आयुष्य का अपहरण करने वाले दिन और रात (काल) उठा ले जाते हैं । ऐसी स्थिति में प्रमाद करना कैसे उचित है ?

१६. धणं पभूयं सह इत्थियाहिं सयणा तहा कामगुणा पगामा ।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो तं सव्व साहीणमिहेव तुब्भं ॥

[१६] (पिता)—जिसकी प्राप्ति के लिए लोग तप करते हैं; वह प्रचुर धन है, स्त्रियाँ हैं, माता-पिता आदि स्वजन भी हैं तथा इन्द्रियों के मनोज्ञ विषय-भोग भी हैं; ये सब तुम्हें यहीं स्वाधीनरूप से प्राप्त हैं । (फिर परलोक के इन सुखों के लिए तुम क्यों भिक्षु बनना चाहते हो ?)

१७. धणेण किं धम्मधुराहिगारे सयणेण वा कामगुणेहि चेव ।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं ॥

[१७] (पुत्र)—(दशविध श्रमण-) धर्म की धुरा को वहन करने के अधिकार (को पाने) में धन से, स्वजन से या कामगुणों (इन्द्रियविषयों) से हमें क्या प्रयोजन है ? हम तो शुद्ध भिक्षा का आश्रय लेकर गुण-समूह के धारक अप्रतिबद्धविहारी श्रमण बनेंगे । (इसमें हमें धन आदि की आवश्यकता ही नहीं रहेगी ।)

१८. जहा य अग्गी अरणीउऽसन्तो खीरे घयं तेल्ल महातिलेसु ।
एमेव जाया ! सरीरंसि सत्ता संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥

[१८] (पिता)—पुत्रो ! जैसे अरणि के काष्ठ में से अग्नि, दूध में से घी, तिलों में से तेल, (पहले असत्) विद्यमान न होते हुए भी उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शरीर में से जीव (भी पहले) असत् (था, फिर) पैदा हो जाता है और (शरीर के नाश के साथ) नष्ट हो जाता है । फिर जीव का कुछ भी अस्तित्व नहीं रहता ।

१९. नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउं नियय़ऽस्स बन्धो संसारहेउं च वयन्ति बन्धं॥

[१९] (पुत्र)—(पिता!) आत्मा अमूर्त्त है, वह इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है (जाना नहीं जा सकता) और जो अमूर्त्त होता है, वह नित्य होता है। आत्मा के आन्तरिक रागादि दोष ही निश्चितरूप से उसके बन्ध के कारण हैं और बन्ध को ही (ज्ञानी पुरुष) संसार का हेतु कहते हैं।

२०. जहा वयं धम्ममजाणमाणा पावं पुरा कम्ममकासि मोहा।
ओरुज्झमाणा परिरक्खियन्ता तं नेव भुज्जो वि समायरामो॥

[२०] जैसे पहले धर्म को नहीं जानते हुए तथा आपके द्वारा घर में अवरुद्ध होने (रोके जाने) से एवं चारों ओर से बचाने पर (घर से नहीं निकलने देने) से हम मोहवश पापकर्म करते रहे; परन्तु अब हम पुनः उस पापकर्म का आचरण नहीं करेंगे।

२१. अब्भाहयंमि लोगंमि सव्वओ परिवारिए।
अमोहाहिं पडन्तीहिं गिहंसि न रइं लभे॥

[२१] यह लोक (जबकि) आहत (पीड़ित) है, चारों ओर से घिरा हुआ है, अमोघा आती जा रही है; (ऐसी स्थिति में) हम (अब) घर (संसार) में सुख नहीं पा रहे हैं। (अतः हमें अब अनगार बनने दो)।

२२. केण अब्भाहओ लोगो? केण वा परिवारिओ?
का वा अमोहा वुत्ता? जाया! चिंतावरो हुमि॥

[२२] (पिता)—पुत्रो! यह लोक किसके द्वारा आहत (पीड़ित) है? किससे घिरा हुआ है? अथवा अमोघा किसे कहते हैं? यह जानने के लिए मैं चिन्तातुर हूँ।

२३. मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता एवं ताय! वियाणह॥

[२३] (पुत्र)—पिताजी! आप यह निश्चित जान लें कि यह लोक मृत्यु से आहत है तथा वृद्धावस्था से घिरा हुआ है और रात्रि (रात और दिन में समय-चक्र की गति) को अमोघा (अचूक रूप से सतत गतिशील) कहा गया है।

२४. जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स अफला जन्ति राइओ॥

[२४] जो जो रात्रि (उपलक्षण से दिन—समय) व्यतीत हो रही है, वह लौट कर नहीं आती। अधर्म करने वाले की रात्रियाँ निष्फल व्यतीत हो रही हैं।

२५. जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जन्ति राइओ॥

[२५] जो-जो रात्रि व्यतीत हो रही है, वह फिर कभी वापिस लौट कर नहीं आती। धर्म करने वाले व्यक्ति की रात्रियाँ सफल होती हैं।

२६. एगओ संवसित्ताणं दुहओ सम्मत्तसंजुया।
पच्छा जाया! गमिस्सामो भिक्खमाणा कुले कुले॥

[२६] (पिता)—पुत्रो! पहले हम सब (तुम दोनों और हम दोनों) एक साथ रह कर सम्यक्त्व और व्रतों से युक्त हों (अर्थात्—गृहस्थधर्म का आचरण करें) और पश्चात् ढलती उम्र में दीक्षित हो कर घर-घर से भिक्षा ग्रहण करते हुए विचरेंगे।

२७. जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि सो हु कंखे सुए सिया॥

[२७] (पुत्र)—(पिताजी!) जिसकी मृत्यु के साथ मैत्री हो, अथवा जो मृत्यु आने पर भाग कर बच सकता हो, या जो यह जानता है कि मैं कभी मरूंगा ही नहीं, वही सोच सकता है कि (आज नहीं) कल धर्माचरण कर लूँगा।

२८. अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं॥

[२८] (अतः) हम तो आज ही राग को दूर करके, श्रद्धा से सक्षम हो कर मुनिधर्म को अंगीकार करेंगे, जिसकी शरण पा कर इस संसार में फिर जन्म न लेना पड़े। कोई भी भोग हमारे लिए अनागत (—अप्राप्त—अभुक्त) नहीं है; (क्योंकि वे अनन्त बार भोगे जा चुके हैं।)

विवेचन—मुणीण—दोनों कुमारों के लिये यहाँ 'मुनि' शब्द का प्रयोग भावमुनि की अपेक्षा से है। अतः यहाँ मुनि शब्द का अर्थ मुनिभाव को स्वीकृत—भावमुनि समझना चाहिए।

तवस्स वाघायकरं—अनशनादि बारह प्रकार के तप तथा उपलक्षण से सद्धर्माचरण में विघ्न-कारक-बाधक।[1]

न होई असुयाण लोगो : व्याख्या—वैदिक धर्मग्रन्थों का यह मन्तव्य है कि जिसके पुत्र नहीं होता, उसकी सद्गति नहीं होती, उसका परलोक विगड़ जाता है, क्योंकि पुत्र के विना पिण्डदान आदि देने वाला कोई नहीं होता, इसलिए अपुत्र को सद्गति या उत्तम परलोक-प्राप्ति नहीं होती। जैसा कि कहा है—

"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च।
तस्मात् पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चात् धर्मं समाचरेत्॥"

अर्थात्—पुत्रहीन की सद्गति नहीं होती है, स्वर्ग तो किसी भी हालत में नहीं मिलता। इसलिए पहले पुत्र का मुख देख कर फिर संन्यासादि धर्म का आचरण करो।[2]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ३९८
२. (क) 'अनपत्यस्य लोका न सन्ति'—वेद (ख) 'पुत्रेण जायते लोकः।'
(ग) 'नापुत्रस्य लोकोऽस्ति।' —ऐतरेय ब्राह्मण ७। ३

अहिज्ज वेए० गाथा की व्याख्या—भृगु पुरोहित का यह कथन—अपने दोनों विरक्त पुत्रों को गृहस्थाश्रम में रहने का अनुरोध करते हुए वैदिक धर्म की परम्परा की दृष्टि से है। इस मन्तव्य का समर्थन ब्राह्मण, धर्मसूत्र एवं स्मृतियों में मिलता है। बोधायन धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण जन्म से ही तीन ऋणों को साथ लेकर उत्पन्न होता है, यथा—ऋपिऋण, पितृऋण और देवऋण। ऋपिऋण—वेदाध्ययन व स्वाध्याय के द्वारा, पितृऋण—गृहस्थाश्रम स्वीकार करके सन्तानोत्पत्ति द्वारा और देवऋण—यज्ञ-यागादि के द्वारा चुकाया जाता है। इन ऋणों को चुकाने के लिए यज्ञादिपूर्वक गृहस्थाश्रम का आश्रय करने वाला मनुष्य ब्रह्मलोक में पहुँचता है, किन्तु इसे छोड़ कर यानी वेदों को पढ़े विना, पुत्रों को उत्पन्न किये विना और यज्ञ किये विना, जो ब्राह्मण मोक्ष या ब्रह्मचर्य या संन्यास की इच्छा करता है या प्रशंसा करता है वह नरक में जाता है या धूल में मिल जाता है।

महाभारत में भी ब्राह्मण के लिए इसी विधान की पुष्टि मिलती है। प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'अहिज्ज वेए' से ब्रह्मचर्याश्रम स्वीकार करने का तथा परिविस्स विप्पे इत्यादि शेप पदों से गृहस्थाश्रम स्वीकार सूचित होता है।

आरण्णगा मुणी—ऐतरेय, कौषीतकी, तैत्तिरीय एवं वृहदारण्यक आदि ब्राह्मणग्रन्थ या उपनिपद् आरण्यक कहलाते हैं। इनमें वर्णित विषयों के अध्ययन के लिए अरण्य का एकान्तवास स्वीकार किया जाता था, इस दृष्टि से आरण्यक का अर्थ—आरण्यकव्रतधारी किया गया है। इस गाथा में प्रयुक्त इन दोनों पदों के दो अर्थ बृहद्वृत्ति में किये गए हैं—(१) आरण्यकव्रतधारी मुनि—तपस्वी होना। (२) आरण्यक शब्द से वानप्रस्थाश्रम और मुनि शब्द से संन्यासाश्रम ये दो अर्थ सूचित होते हैं।[1]

वेया अहीया न भवंति ताणं—ऋग्वेद आदि वेदशास्त्रों के अध्ययन मात्र से किसी की दुर्गति से रक्षा नहीं हो सकती। कहा भी है—हे युधिष्ठिर जो ब्राह्मण सिर्फ वेद पढ़ा हुआ है, वह अकारण है, क्योंकि अगर वेद पढ़ने मात्र से आत्मरक्षा हो जाती तो जिसे शील रुचिकर नहीं है, ऐसा दुःशील भी वेद पढ़ता है।

भुत्ता दिआ०—भोजन कराए हुए ब्राह्मण कैसे तमस्तम में ले जाते हैं? इसका रहस्य यह है कि जो ब्राह्मण वैडालिक वृत्ति के हैं, जो यज्ञादि में होने वाली पशुहिंसा के उपदेशक हैं, कुमार्ग की प्ररूपणा करते हैं, ऐसे ब्राह्मणों की प्रेरणा से व्यक्ति महारम्भ करके तथा पशुवध करके घोर नरक के मेहमान बनते हैं। क्योंकि पंचेन्द्रियवध नरक का कारण है। इस दृष्टि से कहा गया है कि जो ऐसे वैडालिक ब्राह्मणों को भोजन कराते हैं, उन्हें वैसे अनाचारी ब्राह्मण तमस्तम नामक सप्तम नरक में जाने के कारण बनते हैं। अथवा तमस्तम का अर्थ—अज्ञान-अन्धविश्वास आदि घोर अन्धकार है; अतः ऐसे दुःशील ब्राह्मण यजमान को अज्ञान-अन्धविश्वास रूपी अन्धकार में ले जाते हैं।

जाया य पुत्ता न हवंति ताणं—वास्तव में पुत्र किसी भी माता-पिता को नरकादि गतियों में जाने से बचा नहीं सकते। उनके ही धर्मग्रन्थों में कहा है—यदि पुत्रों के द्वारा पिण्डदान से ही स्वर्ग मिल जाता हो तो फिर दान आदि धर्मों का आचरण व्यर्थ हो जाएगा। दान के लिए फिर धन-धान्य का व्यय करके घर खाली करने की क्या जरूरत है? परन्तु ऐसी वात युक्तिविरुद्ध है। 'यदि

---

१. (क) बौधायन धर्मसूत्र २।६।११।३३-३४ (ख) मनुस्मृति ३।१३१, १८६-१८७
(ग) महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्म अ. २७७ (घ) बृहद्वृत्ति, पत्र ३९९

पुत्र उत्पन्न करने से ही स्वर्ग प्राप्त होता तो डुली (कच्छपी), गोह, सूअरी तथा मुर्गे आदि अनेक पुत्रों वाले पशुपक्षियों को सर्वप्रथम स्वर्ग मिल जाना चाहिए, तत्पश्चात् अन्य लोगों को। प्रस्तुत गाथा (सं.१२) में वेद पढ़ कर आदि तीन बातों का समाधान दिया गया है, चौथी बात थी—भोग-भोगकर बाद में संन्यास लेना—उसके उत्तर में १३-१४-१५ वीं गाथा है।[1]

अन्नपमत्ते धणमेसमाणे०—एक ओर कामनाओं से अतृप्त व्यक्ति विषयसुखों की प्राप्ति के लिए इधर-उधर मारा-मारा फिरता है, दूसरी ओर वह स्वजन आदि अन्य लोगों के लिए अथवा अन्न (आहार) के लिए आसक्तचित्त होकर विविध उपायों से धन के पीछे पागल बना रहता है, ऐसे व्यक्ति के मनोरथ पूर्ण नहीं होते और बीच में बुढ़ापा और मृत्यु उसे धर दबाते हैं। वह धर्म में उद्यम किये बिना यों ही खाली हाथ चला जाता है।[2]

धणेण किं धम्मधुराहिगारे०—इस गाथा का आशय यह है कि मुनिधर्म के आचरण में, भिक्षाचरी में, सम्यग्दर्शनादि गुणों के धारण करने में, अथवा संयम-पालन में धन की कोई आवश्यकता नहीं रहती, स्वजनों की भी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि महाव्रतादि का पालन व्यक्तिगत है। और न ही कामभोगों की इनमें अपेक्षा है, बल्कि कामभोग, धन या स्वजन संयम में बाधक हैं। इसीलिए वेद में कहा है—**"न प्रजया, न धनेन, त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः।"** अर्थात्—न सन्तान से और न धन से, किन्तु एकमात्र त्याग से ही लोगों ने अमृतत्व प्राप्त किया है।[3]

जहा य अग्गी० : गाथा का तात्पर्य—इस गाथा में भृगु पुरोहित द्वारा अपने पुत्रों को आत्मा के अस्तित्व से इन्कार करके संशय में डालने का उपक्रम किया गया है। क्योंकि समस्त धर्मसाधनाओं का मूल आत्मा है। आत्मा को शुद्ध और विकसित करने के लिए ही मुनिधर्म की साधना है। अतः पुरोहित का आशय था कि आत्मा के अस्तित्व का ही निषेध कर दिया जाए तो मुनि बनने की उनकी भावना स्वतः समाप्त हो जाएगी। यहाँ असद्वादियों का मत प्रस्तुत किया गया है, जिसमें आत्मा को उत्पत्ति से पूर्व 'असत्' माना जाता है। मद्य की तरह कारणसामग्री मिलने पर वह उत्पन्न एवं विनष्ट हो जाती है। अवस्थित नहीं रहती, अर्थात् जन्मान्तर में नहीं जाती। नास्तिक लोग आत्मा को 'असत्' इसलिए मानते हैं कि जन्म से पहले उसका कोई अस्तित्व नहीं होता, वे अनवस्थित इसलिए मानते हैं कि मृत्यु के पश्चात् उसका अस्तित्व नहीं रहता। तात्पर्य यह है नास्तिकों के मत में आत्मा न तो शरीर में प्रवेश करते समय दृष्टिगोचर होती है, न ही शरीर छूटते समय, अतएव आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वस्तुतः सर्वथा असत् की उत्पत्ति नहीं होती। उत्पन्न वही होता है जो पहले भी हो और पीछे भी। जो पहले भी नहीं होता, पीछे भी नहीं होता, वह बीच में कैसे हो सकता

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४००

यदि पुत्राद् भवेत्स्वर्गो, दानधर्मो न विद्यते।
मुषितस्तत्र लोकोऽयं, दानधर्मो निरर्थकः ॥१॥
बहुपुत्रा दुली गोधा, ताम्रचूडस्तथैव च।
तेषां च प्रथमः स्वर्गः पश्चाल्लोको गमिष्यति ॥२॥

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४००

६. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४०१ (ख) वेद, उपनिषद्

है ? यह आचारांग आदि में स्पष्ट कहा गया है ।[1]

कुमारों द्वारा प्रतिवाद—आत्मा को असत् बताने का खण्डन करते हुए कुमारों ने कहा—'आत्मा चर्मचक्षुओं से नहीं दिखती, इतने मात्र से उसका अस्तित्व न मानना युक्तिसंगत नहीं। इन्द्रियों के द्वारा मूर्त द्रव्यों को ही जाना जा सकता है, अमूर्त्त को नहीं। आत्मा अमूर्त है, इसलिए वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है। अतः कुमारों ने इस गाथा द्वारा ४ तथ्यों का निरूपण कर दिया—(१) आत्मा है, (२) वह अमूर्त्त होने से नित्य है, (३) अध्यात्मदोष—(आत्मा में होने वाले मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि आन्तरिक दोष) के कारण कर्मवन्ध होता है और (४) कर्मवन्ध के कारण वह बार-बार जन्म-मरण करती है।[2]

नो इन्दियगेज्झ० : दो अर्थ—(१) चूर्णि में नोइन्द्रियं एक शब्द मान कर अर्थ किया है—अमूर्त्त भावमन द्वारा ग्राह्य है, (२) बृहद्वृत्ति में नो और इन्द्रिय को पृथक्-पृथक् मान कर अर्थ किया है—अमूर्त वस्तु इन्द्रियग्राह्य नहीं है।[3]

धम्मं—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप धर्म।

ओरुज्झमाणा परिरक्खयंता—पिता के द्वारा अवरुद्ध—घर से बाहर जाने से रोके गए थे। अथवा साधुओं के दर्शन से रोके गए थे। घर में ही रखे गए थे। या बाहर न निकलने पाएँ ऐसे कड़े पहरे में रखे गए थे।[4]

मच्चुणाऽब्भाहओ लोओ—मृत्यु की सर्वत्र निराबाध गति है, इसलिए यह विश्व मृत्यु द्वारा पीड़ित है।

अमोहा : अमोघ—अमोघा का यों तो अर्थ होता है—अव्यर्थ, अचूक। परन्तु प्रस्तुत गाथा में अमोघा का प्रयोग 'रात्रि' के अर्थ में किया गया है, उसका कारण यह है कि लोकोक्ति के अनुसार मृत्यु को कालरात्रि कहा जाता है। बृहद्वृत्ति में उपलक्षण से दिन का भी ग्रहण किया गया है।[5]

दुहओ—यहाँ दुहओ का अर्थ है—तुम दोनों और हम (माता-पिता) दोनों।

पच्छा—पश्चात् यहाँ पश्चिम अवस्था—बुढ़ापे में मुनि बनने का संकेत है। इससे वैदिकधर्म की आश्रमव्यवस्था भी सूचित होती है।[6]

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४०१-४०२
'आत्मास्तित्वमूलत्वात् सकलधर्मानुष्ठानस्य तन्निराकरणायाह पुरोहितः।'
(ख) आचारांग १।४।४।४६ **'जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्झे तस्स कओ सिया ?'**

२. (क) **अध्यात्मशब्देन आत्मस्था मिथ्यात्वादय इहोच्यन्ते।** —बृहद्वृत्ति, पत्र ४०२
(ख) **'कोहं च माणं च तहेव मायं लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।'** —सूत्रकृतांग १।६।२५

३. (क) 'नोइन्द्रियं मनः।' —उत्तरा. चूर्णि, पृ. २२६
(ख) नो इति प्रतिषेधे, इन्द्रियैः श्रोत्रादिभिर्ग्राह्यः-संवेद्यः इन्द्रियग्राह्यः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४०२

४. (क) उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०३ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. २, पृ. ८४१

५. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ. २२७ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४०३

६. (क) वही, पत्र ४०४ (ख) उत्तरा. चूर्णि, पृ. २२७

अणागयं नेव य अत्थि किंचि : तीन अर्थ—(१) अनागत—अप्राप्त (मनोज्ञ सांसारिक कोई भी विषयसुखभोग आदि अभुक्त) नहीं हैं, क्योंकि अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करने वाली आत्मा के लिए कुछ भी अभुक्त नहीं है। सब कुछ पहले प्राप्त हो (भोगा जा) चुका है। पदार्थ या भोग की प्राप्ति के लिए घर में रहना आवश्यक नहीं है। (२) जहाँ मृत्यु की आगति—पहुँच—न हो, ऐसा कोई स्थान नहीं है। (३) आगतिरहित (अनागत) कोई भी नहीं है, जरा, मरण आदि दुःख-समूह सब आगतिमान् है। क्योंकि संसारी जीवों के लिए ये अटल हैं, अनिवार्य हैं।[1]

विणइत्तु रागं—राग का अर्थ यहाँ प्रसंगवश स्वजनों के प्रति आसक्ति है। वास्तव में कौन किसका स्वजन है और कौन किसका स्वजन नहीं है? आगम में कहा है—(प्र०) 'भंते! क्या यह जीव इस जन्म से पूर्व माता, पिता, भाई, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू, पत्नी के रूप में तथा मित्र-स्वजन-सम्बन्धी से परिचित के रूप में उत्पन्न हुआ है?' (उ०) हाँ, गौतम! (एक बार नहीं), बार-बार यहाँ तक कि अनन्तबार तथारूप में उत्पन्न हुआ है।[2]

प्रबुद्ध पुरोहित, अपनी पत्नी से

२९. पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो वासिट्ठि! भिक्खायरियाइ कालो।
साहाहि रुक्खो लहए समाहिं छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणुं॥

[२९] (प्रबुद्ध पुरोहित)—हे वाशिष्ठि! पुत्रों से विहीन (इस घर में) मेरा निवास नहीं हो सकता। (अब मेरा) भिक्षाचर्या का काल (आ गया) है। वृक्ष शाखाओं से ही शोभा पाता है (समाधि को प्राप्त होता है)। शाखाओं के कट जाने पर वही वृक्ष ठूंठ कहलाने लगता है।

३०. पंखाविहूणो व्व जहेह पक्खी भिच्चा विहूणो व्व रणे नरिन्दो।
विवन्नसारो वणिओ व्व पोए पहीणपुत्तो मि तहा अहं पि॥

[३०] इस लोक में जैसे पांखों से रहित पक्षी तथा रणक्षेत्र में भृत्यों-सुभटों के बिना राजा, एवं (टूटे) जलपोत (जहाज) पर के स्वर्णादि द्रव्य नष्ट हो जाने पर जैसे वणिक् असहाय होकर दुःख पाता है, वैसे ही मैं भी पुत्रों के बिना (असहाय होकर दुःखी) हूँ।

३१. सुसंभिया कामगुणा इमे ते संपिण्डिया अग्गरसप्पभूया।
भुंजामु ता कामगुणे पगामं पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्गं॥

[३१] (पुरोहित-पत्नी)—तुम्हारे (घर में) सुसंस्कृत और सम्यक् रूप से संगृहीत प्रधान शृंगारादि ये रसमय जो कामभोग हमें प्राप्त हैं, इन कामभोगों को अभी हम खूब भोग लें, उसके पश्चात् हम मुनिधर्म के प्रधानमार्ग पर चलेंगे।

३२. भुत्ता रसा भोइ! जहाइ णे वओ न जीवियट्ठा पजहामि भोए।
लाभं अलाभं च सुहं च दुक्खं संचिक्खमाणो चरिस्सामि मोणं॥

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०४

२. (क) वही, पत्र ४०५
(ख) "अयं णं भंते! जीवे एगमेगस्स जीवस्स माइत्ताए (पियत्ताए) भाइत्ताए, पुत्तत्ताए धूयत्ताए सुण्हत्ताए, भज्जत्ताए सुहि-सयण-संबंध-संथुयत्ताए उववण्णपुव्वे?, हंता गोयमा! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो।"

[३२] (पुरोहित)—भवति ! (प्रिये !) हम विषय-रसों को भोग चुके हैं। (अभीष्ट क्रिया करने में समर्थ) वय हमें छोड़ता जा रहा है। मैं (असंयमी या स्वर्गीय) जीवन (पाने) के लिए भोगों को नहीं छोड़ रहा हूँ। लाभ और अलाभ, सुख और दुःख को समभाव से देखता हुआ मुनिधर्म का आचरण करूंगा। (अर्थात्—मुक्ति के लिए ही मुझे दीक्षा लेनी है, कामभोगों के लिए नहीं)।

३३. मा हू तुमं सोयरियाण संभरे जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी।
भुंजाहि भोगाइ मए समाणं दुक्खं खु भिक्खायरियाविहारो॥

[३३] (पुरोहितपत्नी)—प्रतिस्रोत (उलटे प्रवाह) में बहने वाले बूढ़े हंस की तरह कहीं तुम्हें फिर अपने सहोदर भाइयों (स्वजन-सम्बन्धियों) को याद न करना पड़े ! अतः मेरे साथ भोगों को भोगो। यह भिक्षाचर्या और (ग्रामानुग्राम) विहार करना आदि वास्तव में दुःखरूप ही है।

३४. जहा य भोई ! तणुयं भुयंगो निम्मोयणिं हिच्च पलेइ मुत्तो।
एमेए जाया पयहन्ति भोए ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्को॥

[३४] (पुरोहित)—भवति ! (प्रिये !) जैसे सर्प शरीर से उत्पन्न हुई केंचुली को छोड़ कर मुक्त मन से (निरपेक्षभाव से) आगे चल पड़ता है, वैसे ही दोनों पुत्र भोगों को छोड़ कर चले जा रहे हैं। तब मैं अकेला क्यों रहूँ ? क्यों न उनका अनुगमन करूं ?

३५. छिन्दित्तु जालं अबलं व रोहिया मच्छा जहा कामगुणे पहाय।
धोरेयसीला तवसा उदारा धीरा हु भिक्खायरियं चरन्ति॥

[३५] जैसे रोहित मच्छ कमजोर जाल को (तीक्ष्ण पूंछ आदि से) काट कर बाहर निकल जाते हैं, वैसे ही (जाल के समान बन्धनरूप) कामभोगों को छोड़ कर धारण किये हुए गुरुतर भार को वहन करने वाले उदार (प्रधान), तपस्वी एवं धीर साधक भिक्षाचर्या (महाव्रती भिक्षु की चर्या) को अंगीकार करते हैं। (अतः मैं भी इसी प्रकार की साधुचर्या ग्रहण करूंगा)।

३६. जहेव कुंचा समइक्कमन्ता तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा।
पलेन्ति पुत्ता य पई य मज्झं ते हं कहं नाणुगमिस्समेक्का ?

[३६] (प्रतिवुद्ध पुरोहितपत्नी यशा)—जैसे क्रौंच पक्षी और हंस उन-उन स्थानों को लांघते हुए बहेलियों द्वारा फैलाये हुए जालों को तोड़ कर आकाश में स्वतन्त्र उड़ जाते हैं, वैसे ही मेरे पुत्र और पति छोड़ कर चले जा रहे हैं; तब मैं पीछे अकेली रह कर क्या करूंगी ? मैं भी क्यों न उनका अनुगमन करूं ?

(इस प्रकार पुरोहितपरिवार के चारों सदस्यों ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली)।

विवेचन—वासिट्ठि : वाशिष्ठि—यह पुरोहित द्वारा अपनी पत्नी को किया गया सम्बोधन है। इसका अर्थ है—'हे वशिष्ठगोत्रोत्पन्ने !' प्राचीन काल में गोत्र से सम्बोधित करना गौरवपूर्ण समझा जाता था।

समाहिं लहई—शब्दशः अर्थ होता है—शाखाओं से वृक्ष समाधि (स्वास्थ्य) प्राप्त करता है,

किन्तु इसका भावार्थ है—शोभा पाता है। शाखाएँ वृक्ष की शोभा, सुरक्षा और सहायता करने के कारण समाधि की हेतु हैं।[1]

पहीणपुत्तस्स० : आदि गाथाद्वय का तात्पर्य—जैसे शाखाएँ वृक्ष की शोभा, सुरक्षा और सहायता करने में कारणभूत हैं, वैसे ही मेरे लिए ये दोनों पुत्र हैं। पुत्रों से रहित-अकेला मैं सूखे ठूंठ के समान हूँ। पांखों से रहित पक्षी उड़ने में असमर्थ हो जाता है तथा रणक्षेत्र में सेना के बिना राजा शत्रुओं से पराजित हो जाता है और जहाज के टूट जाने से उसमें रखे हुए सोना, रत्न आदि सारभूत तत्त्व नष्ट हो जाने पर वणिक् विषादमग्न हो जाता है, वैसे ही पुत्रों के बिना मेरी दशा है।[2]

अग्गरसा : तीन अर्थ—(१) अग्र—प्रधान मधुर आदि रस। यद्यपि रस कामगुणों के अन्तर्गत आ जाते हैं, तथापि शब्दादि पांचों विषय-रसों में इनके प्रति आसक्ति अधिक होने से इनका पृथक् ग्रहण किया गया है। ये प्रधान रस हैं। अथवा (२) कामगुणों का विशेषण होने से अग्र—रस—शृंगारादि रस वाले अर्थ होता है। (३) प्राचीन व्याख्याकारों के अनुसार—रसों अर्थात्—सुखों में अग्र जो कामगुण हैं।[3]

पच्छा—पश्चात्—भुक्तभोगी होकर बाद में अर्थात् वृद्धावस्था में।

पहाणमग्गं—महापुरुषसेवित प्रव्रज्यारूप मुक्तिपथ।

भोइ-भवति—यह सम्बोधन वचन है, जिसका भावार्थ है—हे ब्राह्मणि!।

पडिसोयगामी—प्रतिकूल प्रवाह की ओर गमन करने वाला।

जुण्णो व हंसो पडिसोयगामी—जैसे बूढ़ा—अशक्त हंस नदी के प्रवाह के प्रतिकूल गमन शुरू करने पर भी अशक्त होने पर पुनः अनुकूल प्रवाह की ओर दौड़ता है, वैसे ही आप (पुरोहित) भी दुष्कर संयमभार को वहन करने में असमर्थ होकर कहीं ऐसा न हो कि पुनः अपने बन्धु-बान्धवों या पूर्वभुक्त भोगों को स्मरण करें।[4]

पुरोहित का पत्नी के प्रति गृहत्याग का निश्चय कथन—३४ वीं गाथा का आशय यह है कि जब ये हमारे दोनों पुत्र भोगों को साँप के द्वारा केंचुली के त्याग की तरह त्याग रहे हैं, तब मैं भुक्त-भोगी इन भोगों को क्यों नहीं त्याग सकता? पुत्रों के बिना असहाय होकर गृहवास में मेरे रहने से क्या प्रयोजन है?[5]

धोरेयसीला—धुरा को जो वहन करें वे धौरेय। उनकी तरह अर्थात्—उठाये हुए भार को अन्त तक वहन करने वाले धौरेय—धोरी बैल होते हैं, उनकी तरह जिनका स्वभाव है। अर्थात्—महाव्रतों या संयम के उठाए हुए भार को अन्त तक जो वहन करने वाले हैं।[6]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४०५
२. वही, पत्र ४०५
३. वही, पत्र ४०६
४. वही, पत्र ४०६
५. वही, पत्र ४०७
६. वही, पत्र ४०७

क्रौंच और हंस की उपमा—पुरोहितानी द्वारा क्रौंच की उपमा स्त्री-पुत्र आदि के वन्धन से रहित अपने पुत्रों की अपेक्षा से दी गई है। हंस की उपमा इसके विपरीत स्त्री-पुत्रादि के वन्धन से युक्त अपने पति की अपेक्षा से दी गई है।[1]

पुरोहित-परिवार के दीक्षित होने पर रानी और राजा की प्रतिक्रिया एवं प्रतिबुद्धता

३७. पुरोहियं तं ससुयं सदारं सोच्चाऽभिनिक्खम्म पहाय भोए।
कुडुंबसारं विउलुत्तमं तं रायं अभिक्खं समुवाय देवी ॥

[३७] पुत्र और पत्नी के साथ पुरोहित ने भोगों को त्याग कर अभिनिष्क्रमण (गृहत्याग) किया है, यह सुन कर उस कुटुम्ब की प्रचुर और श्रेष्ठ धन-सम्पत्ति की चाह रखने वाले राजा को रानी कमलावती ने वार-वार कहा—

३८. वन्तासी पुरिसो रायं! न सो होइ पसंसिओ।
माहणेण परिच्चत्तं धणं आदाउमिच्छसि ॥

[३८] (रानी कमलावती)—हे राजन्! जो वमन किये हुए का उपभोग करता है वह पुरुष प्रशंसनीय नहीं होता। तुम ब्राह्मण (भृगु पुरोहित) के द्वारा त्यागे हुए धन को (अपने अधिकार में) लेने की इच्छा रखते हो।

३९. सव्वं जगं जइ तुहं सव्वं वावि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं नेव ताणाय तं तव ॥

[३९] (मेरी दृष्टि से) सारा जगत् और जगत् का सारा धन भी यदि तुम्हारा हो जाए, तो भी वह सब तुम्हारे लिए अपर्याप्त ही होगा। वह तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता।

४०. मरिहिसि रायं! जया तया वा मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥

[४०] राजन्! इन मनोज्ञ काम-गुणों को छोड़ कर जव या तव (एक दिन) मरना होगा। उस समय धर्म ही एकमात्र त्राता (संरक्षक) होगा। हे नरदेव! यहाँ धर्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी रक्षक नहीं है।

४१. नाहं रमे पक्खिणी पंजरे वा संताणछिन्ना चरिस्सामि मोणं।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा परिग्गहारंभनियत्तदोसा ॥

[४१] जैसे पक्षिणी पींजरे में सुख का अनुभव नहीं करती, वैसे मैं भी यहाँ आनन्द का अनुभव नहीं करती। अतः मैं स्नेह-परम्परा का वन्धन काट कर अकिंचन, सरल, निरामिष (विषय-रूपी आमिष से रहित) तथा परिग्रह और आरम्भरूपी दोषों से निवृत्त होकर मुनिधर्म का आचरण करूंगी।

४२. दवग्गिणा जहा रण्णे डज्झमाणेसु जन्तुसु।
अन्ने सत्ता पमोयन्ति रागद्दोसवसं गया ॥

---

१. वृहद्वृत्ति, पत्र ४०७

४३. एवमेव वयं मूढा कामभोगेसु मुच्छिया।
उज्झमाणं न बुज्झामो रागद्दोसऽग्गिणा जगं॥

[४२-४३] जैसे वन में लगे हुए दावानल में जलते हुए जन्तुओं को देख कर रागद्वेषवश अन्य जीव प्रमुदित होते हैं—

इसी प्रकार कामभोगों में मूर्च्छित हम मूढ लोग भी रागद्वेष की अग्नि में जलते हुए जगत् को नहीं समझ रहे हैं।

४४. भोगे भोच्चा वमित्ता य लहुभूयविहारिणो।
आमोयमाणा गच्छन्ति दिया कामकमा इव॥

[४४] आत्मार्थी साधक भोगों को भोग कर तथा यथावसर उनका त्याग करके वायु की तरह अप्रतिबद्धविहारी—लघुभूत होकर विचरण करते हैं। अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र विचरण करने वाले पक्षियों की तरह वे साधुचर्या करने में प्रसन्न होते हुए स्वतन्त्र विहार करते हैं।

४५. इमे य बद्धा फन्दन्ति मम हत्थऽज्जमागया।
वयं च सत्ता कामेसु भविस्सामो जहा इमे॥

[४५] हे आर्य ! हमारे (मेरे और आपके) हस्तगत हुए ये कामभोग जिन्हें हमने नियन्त्रित (बद्ध समझ रखा है, वे क्षणिक हैं, नष्ट हो जाते हैं।) और हम तो (उन्हीं क्षणिक) कामभोगों में आसक्त हैं, किन्तु जैसे ये (पुरोहितपरिवार के चार सभ्य) बन्धनमुक्त हुए हैं, वैसे ही हम भी होंगे।

४६. सामिसं कुललं दिस्स बज्झमाणं निरामिसं।
आमिसं सव्वमुज्झित्ता विहरिस्सामि निरामिसा॥

[४६] मांस सहित गिद्ध को देख उस पर दूसरे मांसभक्षी पक्षी झपटते हैं (उसे बाधा-पीड़ा पहुँचाते हैं) और जिसके पास मांस नहीं होता उस पर नहीं झपटते, उन्हें देख कर मैं भी आमिष, अर्थात् मांस के समान समस्त कामभोगों को छोड़ कर निरामिष (निःसंग) होकर अप्रतिबद्ध विहार करूंगी।

४७. गिद्धोवमे उ नच्चाणं कामे संसारवड्ढणे।
उरगो सुवण्णपासे व संकमाणो तणुं चरे॥

[४७] ससार को बढ़ाने वाले कामभोगों को गिद्ध के समान जान कर उनसे वैसे ही शंकित हो कर चलना चाहिए, जैसे गरुड़ के निकट सांप शंकित हो कर चलता है।

४८. नागो व्व बन्धणं छित्ता अप्पणो वसहिं वए।
एयं पत्थं महारायं ! उसुयारि त्ति मे सुयं॥

[४८] जैसे हाथी बन्धन को तोड़ कर अपने निवासस्थान (वस्ती—वन) में चला जाता है, इसी प्रकार हे महाराज इषुकार ! हमें भी अपने (आत्मा के) वास्तविक स्थान (मोक्ष) में चलना चाहिए। यही एकमात्र पथ्य (आत्मा के लिए हितकारक) है, ऐसा मैंने (ज्ञानियों से) सुना है।

विवेचन—'वंतासी : वान्ताशी'—भृगुपुरोहित के सपरिवार दीक्षित होने के बाद राजा इषुकार उसके द्वारा परित्यक्त धन को लावारिस समझ कर ग्रहण करना चाहता था, इसलिए रानी कमलावती ने प्रकारान्तर से राजा को वान्ताशी (वमन किये हुए का खाने वाला) कहा।[1]

नाहं रमे.:—जैसे पक्षिणी पींजरे में आनन्द नहीं मानती, वैसे ही मैं भी जरा-मरणादि उपद्रवों से पूर्ण भवपंजर में आनन्द नहीं मानती।[2]

संताणछिन्ना : छिन्नसंताना—स्नेह-संतति-परम्परागत राग के बन्धन को काट कर।

निरामिसा, सामिसं आदि शब्दों का भावार्थ—४१ वीं गाथा में निरामिसा का, ४६ वीं में सामिसं, निरामिसं,आमिसं और निरामिसा शब्दों का चार बार प्रयोग हुआ है। अन्त में ४९ वीं गाथा में 'निरामिसा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रथम अन्तिम निरामिषा शब्द का अर्थ है—गृद्धि हेतुभूत मनोज्ञ शब्दादि कामभोग अथवा धन। ४६ वीं गाथा के प्रथम दो चरणों में वह मांस के अर्थ में तथा शेष स्थानों में गृद्धिहेतुभूत मनोज्ञ शब्दादि कामभोग के अर्थ में प्रयुक्त है।[3]

परिग्गहारंभनियत्तऽदोसा : दो रूप : दो अर्थ—(१) परिग्रहारम्भनिवृत्ता और अदोषा (दोषरहित) (२) परिग्रहारम्भदोषनिवृत्ता—परिग्रह और आरम्भरूप दोषों से निवृत्त।

लहुभूयविहारिणो : दो अर्थ—(१) वायु की तरह लघुभूत—अप्रतिबद्ध हो कर विचरण करने वाले, (२) लघु अर्थात् संयम में विचरण करने के स्वभाव वाले।[4]

दिया कामकमा इव—काम—इच्छानुसार क्रमा—चलने वाले। अर्थात्—जैसे पक्षी स्वेच्छानुसार जहाँ चाहें, वहाँ उन्मुक्त एवं स्वेच्छापूर्वक भ्रमण करते हैं, वैसे हम भी स्वेच्छा से स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करेंगे।

बद्धा फंदंते—बद्ध—अनेक उपायों से नियंत्रित-सुरक्षित किये जाने पर भी स्पन्दन करते हैं—क्षणिक हैं, इसलिए चले जाते हैं।[5]

राजा, रानी की प्रव्रज्या एवं छहों मुमुक्षु आत्माओं की क्रमशः मुक्ति

४९. चइत्ता विउलं रज्जं कामभोगे य दुच्चए।
निव्विसया निरामिसा निन्नेहा निप्परिग्गहा॥

[४९] विशाल राज्य और दुस्त्यज कामभोगों का परित्याग कर वे राजा और रानी भी निर्विषय (विषयों की आसक्ति से रहित), निरामिष, स्नेह-(सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति) से रहित एवं निष्परिग्रह हो गए।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्रांक ४०८
२. वही, पत्र ४०९
३. वही, पत्र ४०९-४१०
४. वही, पत्र ४०९
५. वही, पत्र ४१०

५०. सम्मं धम्मं वियाणित्ता चेच्चा कामगुणे वरे।
तवं पगिज्झऽहक्खायं घोरं घोरपरक्कमा ॥

[५०] धर्म को भलीभांति जान कर, फलत: उपलब्ध श्रेष्ठ कामगुणों को छोड़ कर तथा जिनवरों द्वारा यथोपदिष्ट घोर तप को स्वीकार कर दोनों ही तप-सयम में घोर पराक्रमी बने।

५१. एवं ते कमसो बुद्धा सव्वे धम्मपरायणा।
जम्म-मच्चुभउव्विग्गा दुक्खस्सन्तगवेसिणो ॥

[५१] इस प्रकार वे सब (छहों मुमुक्षु आत्मा) क्रमशः बुद्ध (प्रतिबुद्ध अथवा तत्त्वज्ञ) हुए, धर्म (चारित्रधर्म) में तत्पर हुए, जन्म-मरण के भय से उद्विग्न हुए, अतएव दुःख के अन्त का अन्वेषण करने में लग गए।

५२. सासणे विगयमोहाणं पुव्विं भावणभाविया।
अचिरेणेव कालेण दुक्खस्सन्तमुवागया ॥

५३. राया सह देवीए माहणो य पुरोहिओ।
माहणी दारगा चेव सव्वे ते परिनिव्वुडे ॥
—त्ति बेमि।

[५२-५३] जिन्होंने पूर्वजन्म में अपनी आत्मा को अनित्य, अशरण आदि भावनाओं से भावित किया था, वे सब रानी (कमलावती) सहित राजा (इषुकार), ब्राह्मण (भृगु) पुरोहित, उसकी पत्नी ब्राह्मणी (यशा) और उनके दोनों पुत्र; वीतराग अर्हत्-शासन में (आ कर) मोह को दूर करके थोड़े ही समय में, दुःख का अन्त कर परिनिर्वृत्त-(मुक्त) हो गए। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—रज्जं : के दो अर्थ—(१) राष्ट्र-राज्यमण्डल, अथवा (२) राज्य।

निव्वसया निरामिसा : दो अर्थ—(१) राजा-रानी दोनों शब्दादि विषयों से रहित हुए अतः भोगासक्ति के कारणों से रहित हुए। (२) अथवा विषय अर्थात्—(अपने राष्ट्र का परित्याग करने के कारण) देश से विरहित हुए तथा कामभोगों का परित्याग करने के कारण निरामिष-विषय-भोगों की आसक्ति के कारणों से दूर हो गए।

निन्नेहा निप्परिग्गहा—निःस्नेह—किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध या प्रतिबद्धता से रहित, अतएव निष्परिग्रह—सचित्त-अचित्त, विद्यमान-अविद्यमान, द्रव्य और भाव सभी प्रकार के परिग्रहों से रहित हुए।

सम्मं धम्मं वियाणित्ता—धर्म-श्रुत-चारित्रात्मक धर्म को सम्यक्-प्रकार से जान कर।[1]

घोरं घोरपरक्कमा : व्याख्या—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार तीर्थकरादि के द्वारा यथोपदिष्ट अनशनादि घोर—अत्यन्तदुष्कर—उत्कट तप स्वीकार करके शत्रु के प्रति रौद्र पराक्रम की तरह कर्मशत्रुओं का क्षय करने में धर्माचरण विषयक घोर—कठोर पराक्रम वाले बने। (२) तत्त्वार्थराज-

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४११

वार्तिक के अनुसारज्वर, सन्निपात आदि अत्यन्त भयंकर रोगों के होने पर भी जो अनशन, कायक्लेश आदि तपश्चरण में शिथिल नहीं होते और जो भयावह श्मशान, पर्वत-गुफा आदि में निवास करने में अभ्यस्त होते हैं, वे **'घोर तपस्वी** हैं और ऐसे घोर तपस्वी जब अपने तप और योग को उत्तरोत्तर बढ़ाते जाते हैं, तब वे **'घोरपराक्रमी'** कहलाते हैं। तप के अतिशय की जो सात प्रकार की ऋद्धियाँ बताई हैं, उनमें छठी ऋद्धि **'घोरपराक्रम'** है।[1]

धम्मपरायणा : दो रूप : दो अर्थ—(१) धर्मपरायण—धर्मनिष्ठ। अथवा (२) धम्मपरंपर (पाठान्तर)—धर्मपरम्पर—जिन्हें परम्परा से (साधुदर्शन से दोनों कुमारों को, कुमारों के निमित्त से पुरोहित-पुरोहितानी को, इन दोनों के निमित्त से रानी कमलावती को और रानी के द्वारा राजा को) धर्म मिला, ऐसे।[2]

॥ इषुकारीय : चौदहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४११ (ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक ३।३६, पृ. २०३

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४११

पन्द्रहवाँ अध्ययन : सभिक्षुकम्

अध्ययन-सार

* इस अध्ययन का नाम सभिक्षुक है। इसमें भिक्षु के लक्षणों का सांगोपांग निरूपण है। दशवैकालिक का दसवां अध्ययन 'सभिक्षु' है, उसमें २१ गाथाएँ हैं। प्रस्तुत अध्ययन भी सभिक्षुक है। दोनों के शब्द और उद्देश्य में सदृशता होते हुए भी दोनों के वर्णन में अन्तर है। इस अध्ययन में केवल १६ गाथाएँ हैं, परन्तु दशवैकालिकसूत्र के उक्त अध्ययन के पदों में कहीं-कहीं समानता होने पर भी भिक्षु के अधिकांश विशेषण नए हैं। प्रस्तुत समग्र अध्ययन से भिक्षु के जीवनयापन की विधि का सम्यक् परिज्ञान हो जाता है।

* भिक्षु का अर्थ जैसे-तैसे सरस-स्वादिष्ट आहार भिक्षा द्वारा लाने और पेट भर लेने वाला नहीं है। जो भिक्षु अपने लक्ष्य के प्रति तथा मोक्षलक्ष्यी ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप के प्रति जागरूक नहीं होता, केवल सुख-सुविधा, पद-प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि आदि के चक्कर में पड़कर अपने संयमी जीवन को खो देता है, वह मात्र द्रव्यभिक्षु है। वह वेश और नाम से ही भिक्षु है, वास्तविक भावभिक्षु नहीं है। भावभिक्षु के लक्षणों का ही इस अध्ययन में निरूपण है।

* प्रथम दो गाथाओं में भिक्षु को मुनिभाव की साधना द्वारा मोक्षप्राप्ति में बाधक निम्नोक्त बातों से दूर रहने वाला बताया है—(१) राग-द्वेष, (२) माया-कपट पूर्वक आचरण-दम्भ, (३) निदान, (४) कामभोगों की अभिलाषा, (५) अपना परिचय देकर भिक्षादिग्रहण, (६) प्रतिबद्ध विहार, (७) रात्रिभोजन एवं रात्रिविहार, (८) सदोष आहार, (९) आश्रवरति, (१०) सिद्धान्त का अज्ञान, (११) आत्मरक्षा के प्रति लापरवाही, (१२) अप्राज्ञता, (१३) परीषहों से पराजित होना, (१४) आत्मौपम्य-भावनाविहीनता, (१५) सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति मूर्च्छा (आसक्ति)।

* तीसरी से छठी गाथा तक में वर्णन है कि जो भिक्षु आक्रोश, वध, शीत, उष्ण, दंश-मशक, निषद्या, शय्या, सत्कार-पुरस्कार आदि अनुकूल-प्रतिकूल परीषहों में हर्ष-शोक से दूर रहकर उन्हें समभाव से सहन करता है, जो संयत, सुव्रत, सुतपस्वी एवं ज्ञान-दर्शनयुक्त आत्मगवेषक है तथा उन स्त्री-पुरुषों से दूर रहता है, जिनके संग से असंयम में पड़ जाए और मोह के बन्धन में बँध जाए, कुतूहलवृत्ति तथा व्यर्थ के सम्पर्क एवं भ्रमण से दूर रहता है वही सच्चा भिक्षु है।

* सातवीं और आठवीं गाथा में छिन्ननिमित्त आदि विद्याओं, मंत्र, मूल, वमन, विरेचन औषधि एवं चिकित्सा आदि के प्रयोगों से जीविका नहीं करने वाले को भिक्षु बताया गया है। आगमयुग में आजीविक आदि श्रमण इन विद्याओं तथा मंत्र, चिकित्सा आदि का प्रयोग करते थे। भगवान् महावीर ने इन सबको दोषावह जान कर इनके प्रयोग से आजीविका चलाने का निषेध किया है।

※ नौवीं और दसवीं गाथा में बताया है कि सच्चा भिक्षु अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए धनिकों, सत्ताधारियों या उच्चपदाधिकारियों की प्रशंसा या चापलूसी नहीं करता, न पूर्वपरिचितों की प्रशंसा या परिचय करता है और न निर्धनों की निन्दा एवं छोटे व्यक्तियों का तिरस्कार करता है।

※ ११ वीं से १३ वीं गाथा तक में बताया गया है कि आहार एवं भिक्षा के विषय में सच्चा भिक्षु बहुत सावधान रहता है, वह न देने वाले या मांगने पर इन्कार करने वाले के प्रति मन में द्वेष-भाव नहीं लाता और न आहार पाने के लोभ से गृहस्थ का किसी प्रकार का उपकार करता है। अपितु मन-वचन-काया से सुसंवृत होकर निःस्वार्थ भाव से उपकार करता है। वह नीरस एवं तुच्छ भिक्षा मिलने पर दाताकी निन्दा नहीं करता, न सामान्य घरों को टालकर उच्च घरों से भिक्षा लाता है।

※ १४ वीं गाथा में बताया है कि सच्चा भिक्षु किसी भी समय, स्थान या परिस्थिति में भय नहीं करता। चाहे कितने ही भयंकर शब्द सुनाई दें, वह भयमुक्त रहता है।

※ १५ वीं एवं १६ वीं गाथा में बताया है कि सच्चा और निष्प्रपंच भिक्षु विविध वादों को जान कर भी स्वधर्म में दृढ़ रहता है। वह संयमरत, शास्त्ररहस्यज्ञ, प्राज्ञ, परीषहविजेता होता है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त को हृदयंगम किया हुआ भिक्षु उपशान्त रहता है, न वह विरोधकर्ता के प्रति द्वेष रखता है, न किसी को अपमानित करता है। न उसका कोई शत्रु होता है, और न मोहहेतुक कोई मित्र। जो गृहत्यागी एवं एकाकी (द्रव्य से अकेला, भाव से रागद्वेष-रहित) होकर विचरता है, उसका कषाय मन्द होता है। वह परीषहविजयी, कष्टसहिष्णु, प्रशान्त, जितेन्द्रिय, सर्वथा परिगृहमुक्त एवं भिक्षुओं के साथ रहता हुआ भी अपने कर्मों के प्रति स्वयं को उत्तरदायी मान कर अन्तर से एकाकी निर्लेप एवं पृथक् रहता है।[1]

※ निर्युक्तिकार ने सच्चे भिक्षु के लक्षण ये बताए हैं—सद्भिक्षु रागद्वेषविजयी, मानसिक-वाचिक-कायिक दण्डप्रयोग से सावधान, सावद्यप्रवृत्ति का मन-वचन-काया से तथा कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्यागी होता है। वह ऋद्धि, रस और साता (सुखसुविधा) को पाकर भी उसके गौरव से दूर रहता है, माया, निदान और मिथ्यात्व रूप शल्य से रहित होता है, विकथाएँ नहीं करता, आहारादि संज्ञाओं, कषायों एवं विविध प्रमादों से दूर रहता है, मोह एवं द्वेष-द्रोह बढ़ाने वाली प्रवृत्तियों से दूर रह कर कर्मबन्धन को तोड़ने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है। ऐसा सुव्रत ऋषि ही समस्त ग्रन्थियों का भेदन कर अजरामर पद प्राप्त करते हैं।[2]

□□

१. उत्तरा. मूल, बृहद्वृत्ति, अ. १५, गा. १ से १६ तक

२. रागद्दोसा दण्डा जोगा तह गारवाय सल्ला य। विगहाओ सण्णाओ खुहे कसाया पमाया य ॥ ३७८
एयाइं तु खुद्दाइं जे खलु भिंदंति सुव्वया रिसिओ,....उविंति अयरामरं ठाणं ॥ ३७९

—उत्तरा. निर्युक्ति, गा. ३७८-३७९

पनरसमं अज्झयणं : पन्द्रहवाँ अध्ययन

सभिक्खुयं : सभिक्षुकम्

भिक्षु के लक्षण : ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक जीवन के रूप में

१. मोणं चरिस्सामि समिच्च धम्मं सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने।
संथवं जहिज्ज अकामकामे अन्नायएसी परिव्वए जे स भिक्खू ॥

[१] 'श्रुत-चारित्ररूप धर्म को अंगीकार कर मौन (-मुनिभाव) का आचरण करूंगा', जो ऐसा संकल्प करता है; जो दूसरे स्थविर साधुओं के साथ रहता है, जिसका अनुष्ठान (-धर्माचरण) ऋजु (सरल-मायारहित) है, जिसने निदानों को विच्छिन्न कर दिया है; जो (पूर्वाश्रम के सम्बन्धियों—माता-पिता आदि स्वजनों के) परिचय (संसर्ग) का त्याग करता है, जो कामभोगों की कामना से रहित है, जो अज्ञात कुल (जिसमें अपनी जाति, तप आदि का कोई परिचय नहीं है या परिचय देता नहीं है, उस) में भिक्षा की गवेषणा करता है, जो अप्रतिबद्ध रूप से विहार करता है, वह भिक्षु है।

२. रागोवरयं चरेज्ज लाढे विरए वेयवियाऽऽयरक्खिए।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी जे कम्हिचि न मुच्छिए स भिक्खू ॥

[२] जो राग से उपरत है, जो (सदनुष्ठान करने के कारण) प्रधान साधु है, जो (असंयम से) विरत (निवृत्त) है, जो तत्त्व या सिद्धान्त (वेद) का वेत्ता है तथा आत्मरक्षक है, जो प्राज्ञ है, जो राग-द्वेष को पराजित कर सर्व (प्राणिगण को आत्मवत्) देखता है, जो किसी भी सजीव-निर्जीव वस्तु में मूर्च्छित (प्रतिबद्ध) नहीं होता, वह भिक्षु है।

३. अक्कोसवहं विइत्तु धीरे मुणी चरे लाढे निच्चमायगुत्ते।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥

[३] कठोर वचन और वध (मारपीट) को (अपने पूर्वकृत कर्मों का फल) जान कर जो मुनि धीर (अक्षुब्ध=सम्यक् सहिष्णु) होकर विचरण करता है, जो (संयमाचरण से) प्रशस्त है, जिसने असंयम-स्थानों से सदा आत्मा को गुप्त—रक्षित किया है, जिसका मन अव्यग्र (अनाकुल) है, जो हर्षातिरेक से रहित है, जो (परीषह, उपसर्ग आदि) सब कुछ (समभाव से) सहन करता है, वह भिक्षु है।

४. पन्तं सयणासणं भइत्ता सीउण्हं विविहं च दंसमसगं।
अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥

[४] जो निकृष्ट से निकृष्ट शयन (शय्या, संस्तारक या वसति—उपाश्रय आदि) तथा आसन (पीठ, पट्टा चौकी आदि) (उपलक्षण से भोजन; वस्त्र आदि) का समभाव से सेवन करता है, जो सर्दी-गर्मी तथा डांस-मच्छर आदि के अनुकूल और प्रतिकूल परीषहों में हर्षित और व्यथित (व्यग्र-चित्त) नहीं होता, जो सब कुछ सह लेता है, वह भिक्षु है।

५. नो सक्कियमिच्छई न पूयं नो वि य वन्दणगं, कुओ पसंसं ?
से संजए सुव्वए तवस्सी सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥

[५] जो साधक न तो सत्कार चाहता है, न पूजा (प्रतिष्ठा) और न वन्दन चाहता है, भला वह किसी से प्रशंसा की अपेक्षा कैसे करेगा ? जो संयत है, सुव्रती है, तपस्वी है, जो सम्यग्ज्ञान-क्रिया से युक्त है, जो आत्म-गवेषक (शुद्ध-आत्मस्वरूप का साधक) है, वह भिक्षु है।

६. जेण पुण जहाइ जीवियं मोहं वा कसिणं नियच्छई।
नरनारिं पजहे सया तवस्सी न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ॥

[६] जिसकी संगति से संयमी जीवन छूट जाए और सब ओर से पूर्ण मोह (कषाय-नोकषायादि रूप मोहनीय) से बंध जाए, ऐसे पुरुष या स्त्री की संगति को जो त्याग देता है, जो सदा तपस्वी है, जो (अभुक्त-भोग सम्बन्धी) कुतूहल नहीं करता, वह भिक्षु है।

७. छिन्नं सरं भोममन्तलिक्खं सुमिणं लक्खणदण्डवत्थुविज्जं।
अंगवियारं सरस्स विजयं जो विज्जाहिं न जीवइ स भिक्खू ॥

[७] जो साधक छिन्न (वस्त्रादि-छिद्र) विद्या, स्वर (सप्त स्वर—गायन) विद्या, भौम, अन्तरिक्ष, स्वप्न, लक्षणविद्या, दण्डविद्या, वास्तुविद्या, अंगस्फुरणादि विचार, स्वरविज्ञान, (पशु-पक्षी आदि के शब्दों का ज्ञान)—इन विद्याओं द्वारा जो जीविका नहीं करता, वह भिक्षु है।

८. मन्तं मूलं विविहं वेज्जचिन्तं वमणविरेयणधूमणेत्त-सिणाणं।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

[८] मंत्र, मूल (जड़ीबूटी) आदि विविध प्रकार की वैद्यक-सम्बन्धी विचारणा, वमन, विरेचन, धूम्रपान की नली, नेती, (या नेत्र-संस्कारक अंजन, सुरमा आदि), (मंत्रित जल से) स्नान की प्रेरणा, रोगादिपीड़ित (आतुर) होने पर (स्वजनों का) स्मरण, रोग की चिकित्सा करना-कराना आदि सबको ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग करके जो संयममार्ग में विचरण करता है, वह भिक्षु है।

९. खत्तियगणउग्गरायपुत्ता माहणभोइय विविहा य सिप्पिणो।
नो तेसिं वयइ सिलोगपूयं तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

[९] क्षत्रिय (राजा आदि), गण (मल्ल, लिच्छवी आदि गण), उग्र (आरक्षक आदि), राजपुत्र, ब्राह्मण (माहन), भोगिक (सामन्त आदि), नाना प्रकार के शिल्पी, इनकी प्रशंसा और पूजा के विषय में जो कुछ नहीं कहता, किन्तु इसे हेय जानकर विचरण करता है, वह भिक्षु है।

१०. गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा अप्पव्वइएण व संथुया हविज्जा।
तेसिं इहलोइयफलट्ठा जो संथवं न करेइ स भिक्खू ॥

[१०] प्रव्रजित होने के पश्चात् जिन गृहस्थों को देखा हो (अर्थात्—जो परिचित हुए हों), अथवा जो प्रव्रजित होने से पहले के परिचित हों, उनके साथ इहलौकिक फल (वस्त्र, पात्र, भिक्षा, प्रसिद्धि, प्रशंसा आदि) की प्राप्ति के लिए जो संस्तव (परिचय) नहीं करता, वह भिक्षु है।

११. सयणासण-पाण-भोयणं विविहं खाइमं साइमं परेसिं।
अदए पडिसेहिए नियण्ठे जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू ॥

[११] शयन, आसन, पान (पेयपदार्थ), भोजन, विविध प्रकार के खाद्य एवं स्वाद्य पदार्थ दूसरे (गृहस्थ) स्वयं न दें अथवा मांगने पर भी इन्कार कर दें तो जो निर्ग्रन्थ उन पर प्रद्वेष नहीं करता, वह भिक्षु है।

१२. जं किंचि आहारपाणं विविहं खाइम-साइमं परेसिं लद्धुं।
जो तं तिविहेण नाणुकंपे मण-वय-कायसुसंवुडे स भिक्खू ॥

[१२] दूसरों (गृहस्थों) से जो कुछ अशन-पान तथा विविध खाद्य-स्वाद्य प्राप्त करके जो मन-वचन-काया से (त्रिविध प्रकार से) अनुकम्पा (ग्लान, बालक आदि का उपकार या आशीर्वाद-प्रदान आदि) नहीं करता, अपितु मन-वचन-काया से पूर्ण संवृत रहता है, वह भिक्षु है।

१३. आयामगं चेव जवोदणं च सीयं च सोवीर-जवोदगं च।
नो हीलए पिण्डं नीरसं तु पन्तकुलाइं परिव्वए स भिक्खू ॥

[१३] ओसामण, जौ से बना भोजन और ठंडा भोजन तथा कांजी का पानी और जौ का पानी, ऐसे नीरस पिण्ड (भोजनादि) की जो निन्दा नहीं करता, अपितु भिक्षा के लिए साधारण (प्रान्त) कुलों (घरों) में जाता है, वह भिक्षु है।

१४. सद्दा विविहा भवन्ति लोए दिव्वा माणुस्सगा तहा तिरिच्छा।
भीमा भयभेरवा उराला जो सोच्चा न वहिज्जई स भिक्खू ॥

[१४] जगत् में देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों के अनेकविध रौद्र, अत्यन्त भयोत्पादक और अत्यन्त कर्णभेदी (महान्—बड़े जोर के) शब्द होते हैं, उन्हें सुनकर जो भयभीत नहीं होता, वह भिक्षु है।

१५. वादं विविहं समिच्च लोए सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी उवसन्ते अविहेडए स भिक्खू ॥

[१५] लोक में (प्रचलित) विविध (धर्म-दर्शनविषयक) वादों को जान कर जो ज्ञानदर्शनादि स्वहित (स्वधर्म) में स्थित रहता है, जो (कर्मों को क्षीण करने वाले) संयम का अनुगामी है, कोविदात्मा (शास्त्र के परमार्थ को प्राप्त आत्मा) है, प्राज्ञ है, जो परीषहादि को जीत चुका है, जो सब जीवों के प्रति समदर्शी है, उपशान्त है और किसी के लिए बाधक-पीडाकारक नहीं होता, वह भिक्षु है।

१६. असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते जिइन्दिए सव्वओ विप्पमुक्के।
अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी चेच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू ॥
—त्ति बेमि।

[१६] जो (चित्रादि-) शिल्पजीवी नहीं होता, जो गृहत्यागी (जिसका अपना कोई घर नहीं) होता है, जिसके (आसक्तिसम्बन्धहेतुक) कोई मित्र नहीं होता, जो जितेन्द्रिय एवं सब प्रकार

के परिग्रहों से मुक्त होता है, जो अल्प (मन्द) कषायी है, जो तुच्छ (नीरस) और वह भी अल्प आहार करता है और जो गृहवास छोड़कर अकेला (राग-द्वेषरहित होकर) विचरता है, वह भिक्षु है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—मोणं : दो अर्थ—(१) **मौन**—वचनगुप्ति, (२) जो त्रिकालावस्थित जगत् को जानता है या उस पर मनन करता है, वह मुनि है, मुनि का भाव या कर्म मौन है। यहाँ प्रसंगवश मौन का अर्थ—समग्र श्रमणत्व या मुनिभाव (धर्म) है।[1]

सहिए : सहित : दो रूप : तीन अर्थ—(१) **सहित**—सम्यग्दर्शन आदि (ज्ञान, चारित्र एवं तप) से युक्त, सम्यग्ज्ञानक्रिया से युक्त, (२) **सहित**—दूसरे साधुओं के साथ, (३) **स्वहित**—स्वहित-(सदनुष्ठानरूप) से युक्त, अथवा स्व-आत्मा का हितचिन्तक।[2]

सहित शब्द से एकाकीविहारनिषेध प्रतिफलित—आचार्य नेमिचन्द्र 'सहित' शब्द का अर्थ—'अन्य साधुओं के साथ रहना' बताकर एकाकी विहार में निम्नोक्त दोष बताते हैं—(१) स्त्रीप्रसंग की सम्भावना, (२) कुत्ते आदि का भय, (३) विरोधियों-विद्वेषियों का भय, (४) भिक्षाविशुद्धि नहीं रहती, (५) महाव्रतपालन में जागरूकता नहीं रहती।[3]

नियाणछिन्ने—निदानछिन्न : तीन अर्थ—(१) निदान—विषयसुखासक्तिमूलक संकल्प अथवा (२) निदान—बन्धन—प्राणातिपातादि कर्मबन्ध का कारण। जिसका निदान छिन्न हो चुका है। अथवा (३) छिन्ननिदान का अर्थ—अप्रमत्तसंयत है।[4]

उज्जुकडे—ऋजुकृत : दो अर्थ—(१) ऋजु—संयम, जिसने ऋजुप्रधान अनुष्ठान किया है, (२) ऋजु—जिसने माया का त्याग करके सरलतापूर्वक धर्मानुष्ठान किया है।

संथवं जहिज्ज—संस्तव अर्थात्—परिचय को जो छोड़ देता है, पूर्वपरिचित माता-पिता आदि, पश्चात्परिचित सास ससुर आदि के संस्तव का जो त्याग करता है।

अकामकामे—अकामकाम : दो अर्थ—(१) इच्छाकाम और मदनकामरूप कामों की जो कामना-अभिलाषा नहीं करता, वह, (२) अकाम अर्थात्—मोक्ष, क्योंकि मोक्ष में मनुष्य सकल कामों-अभिलाषाओं से निवृत्त हो जाता है। उस अकाम-मोक्ष की जो कामना करता है, वह।

---

१. (क) उत्तरा. चूर्णि, पृ. २३४ : मन्यते त्रिकालावस्थितं जगदिति मुनिः, मुनिभावो मौनम्।
(ख) 'मुनेः कर्म मौनं, तच्च सम्यक्चारित्रम्।'—बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४
(ग) 'मौनं श्रामण्यम्' —सुखबोधा, पत्र २१४

२. (क) 'सहितः ज्ञानदर्शनचारित्रतपोभिः।' —चूर्णि, पृ. २३४,
(ख) सहितः सम्यग्दर्शनादिभिः साधुभिर्वा। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४
(ग) वही, पत्र ४१४ : स्वस्मै हितः स्वहितो वा सदनुष्ठानकरणतः।
(घ) सहितः सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्याम्। —बृ. वृत्ति, पत्र ४१६
(ङ) वही, पत्र ४१६ : सहहितेन आयतिपथ्येन, अर्थादनुष्ठानेन वर्तते इति सहितः।

३. एगागियस्स दोसा, इत्थि साणे तहेव पडिणीए। भिक्खविसोहि-महव्वय, तम्हा सेविज्ज दोगमणं॥
—सुखबोधा, पत्र २१४

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४

राओवरयं : दो रूप : दो अर्थ—(१) **रागोपरत**—राग (आसक्ति या मैथुन) से उपरत, (२) **रात्र्युपरत**— रात्रिभोजन तथा रात्रिविहार से उपरत—निवृत्त।

वेयवियाऽऽयरक्खिए—वेदविदात्मरक्षित : दो रूपः दो अर्थ—(१) वेदवित् होने के कारण आत्मा की रक्षा करने वाला। जिससे तत्त्व जाना जाता है, उसे वेद यानी सिद्धान्त (आगम) कहते हैं। उसका वित्—वेत्ता—ज्ञाता होने से दुर्गति में पतन से आत्मा का जिसने रक्षण-त्राण किया है। (२) वेदवित्-ज्ञानवान् तथा आयरक्षित—जिसने सम्यग्दर्शनादि लाभों की रक्षा की है, वह रक्षिताय है।[1]

पन्ने—प्राज्ञ : दो अर्थ—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—हेयोपादेय में बुद्धिमान् तथा (२) चूर्णिकार के अनुसार—आय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लाभ) और उपाय (उत्सर्ग-अपवाद तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) की विधियों का ज्ञाता।[2]

अभिभूय—परीषह-उपसर्गों को या राग-द्वेष को पराजित करके।

सव्वदंसी—दो रूप : तीन अर्थ—(१) सर्वदर्शी-समस्त प्राणिगण को आत्मवत् देखने वाला, (२) सर्वदर्शी—सभी वस्तुएँ समभाव से देखने वाला, अथवा सर्वदंशी—इसका भावार्थ है—पात्र में लेपमात्र भी भोजन न रख कर दुर्गन्धित हो या सुगन्धित, सारे भोजन को खाने वाला।

कम्हि वि न मुच्छिए—जो किसी भी सचित्त या अचित्त वस्तु में मूर्च्छित यानी प्रतिबद्ध—संसक्त नहीं है। इस पंक्ति से मुख्यतया परिग्रहनिवृत्ति का विधान तो स्पष्ट सूचित होता है, गौणरूप से अदत्तादानविरमण, मैथुन एवं असत्य से विरमण भी सूचित होता है। अर्थात्—भिक्षु समस्त मूलगुणों से युक्त होता है।

लाढे : भावार्थ—लाढ शब्द दूसरी एवं तीसरी गाथा में आया है। दोनों स्थानों में लाढ शब्द का भावार्थ : "अपने सदनुष्ठान के कारण प्रधान—प्रशस्त" किया गया है।[3]

आयगुत्ते—आत्मगुप्त : दो अर्थ—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—आत्मा का अर्थ शरीर भी होता है, अतः आत्मगुप्त का अर्थ हुआ—शरीर के अवयवों को गुप्त—संवृत—नियंत्रित रखने वाला, (२) सुखबोधावृत्ति के अनुसार-असंयम-स्थानों से जिसने आत्मा को गुप्त—रक्षित कर लिया है, वह।[4]

पूअं—पूजा—वस्त्र-पात्र आदि से सेवा करना।

आयगवेसए : दो रूप : दो अर्थ—(१) **आत्मगवेषक**—कर्मरहित आत्मा के शुद्धस्वरूप की गवेषण-अन्वेषण करने वाला, अर्थात्—मेरी आत्मा कैसे (शुद्ध) हो, इस प्रकार अन्वेषण करने

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४

२. (क) प्राज्ञो—विदुः सम्पन्नो आयोपायविधिज्ञो भवेत् उत्सर्गापवादद्रव्याद्यापदादिको यः उपायः।—चूर्णि. पृ. २३४
   (ख) प्राज्ञः हेयोपादेयबुद्धिमान्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४१४

३. बृहद्वृत्ति, पत्र४१४

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१५ (ख) सुखबोधा, पत्र २१५

वाला (२) आय—सम्यग्दर्शनादि-लाभ का अथवा आयत—मोक्ष का गवेषक—**आयगवेषक** या **आयतगवेषक**।[1]

'विज्जाहिं न जीवइ' की व्याख्या—प्रस्तुत गाथा (सं. ७) में दस विद्याओं का उल्लेख है। (१) छिन्ननिमित्त, (२) स्वरनिमित्त, (३) भौमनिमित्त, (४) अन्तरिक्षनिमित्त, (५) स्वप्न-निमित्त, (६) लक्षणनिमित्त, (७) दण्डविद्या, (८) वास्तुविद्या, (९) अंगविकारनिमित्त, और (१०) स्वरविचय।

अष्टांगनिमित्त—अंगविज्जा में अंग, स्वर, लक्षण, व्यंजन, स्वप्न, छिन्न, भौम और अन्तरिक्ष, ये अष्टांगनिमित्त बताए। प्रस्तुत गाथा में 'व्यंजन' को छोड़ कर शेष ७ निमित्तों का उल्लेख है। दण्डविद्या, वास्तुविद्या और स्वरविचय, ये तीन विद्याएँ मिलकर कुल दस विद्याएँ होती हैं।

प्रत्येक का परिचय—**छिन्नविद्या**—(१) वस्त्र, दांत, लकड़ी आदि में किसी भी प्रकार से हुए छेद या दरार के विषय में शुभाशुभ निरूपण करने वाली विद्या। (२) **स्वरविद्या**—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, धैवत आदि सात स्वरों में से किसी स्वर का स्वरूप एवं फलादि कहना, बताना या गाना। (३) **भौमविद्या**—भूमिकम्पादि का लक्षण एवं शुभाशुभ फल बताना अथवा भूमिगत धन आदि द्रव्यों को जानना। (४) **अन्तरिक्षविद्या**—आकाश में गन्धर्वनगर, दिग्दाह, धूलिवृष्टि आदि के द्वारा अथवा ग्रहनक्षत्रों के या उनके युद्धों के तथा उदय-अस्त के द्वारा शुभाशुभ फल कहना। (५) **स्वप्नविद्या**—स्वप्न का शुभाशुभ फल कहना। (६) **लक्षणविद्या**—स्त्री-पुरुष के शरीर के लक्षणों को देखकर शुभाशुभ फल बताना। (७) **दण्डविद्या**—बांस के दण्ड या लाठी आदि को देखकर उसका स्वरूप तथा शुभाशुभ फल बताना। (८) **वास्तुविद्या**—प्रासाद आदि आवासों के लक्षण, स्वरूप एवं तद्विषयक शुभाशुभ का कथन करना, (९) **अंगविकारविद्या**—नेत्र, मस्तक, भुजा आदि फड़कने पर उसका शुभाशुभ फल कहना। (१०) **स्वरविचयविद्या**—कोचरी (दुर्गा), शृगाली, पशु-पक्षी आदि का स्वर जान कर शुभाशुभ फल कहना। सच्चा भिक्षु वह है, जो इन विद्याओं द्वारा आजीविका नहीं चलाता।[2]

मंतं मूलं इत्यादि शब्दों का प्रासंगिक अर्थ—(१) **मंत्र**—लौकिक एवं सावद्य कार्य के लिए मंत्र, तंत्र का प्रयोग करना या बताना। (२) मूल—वनस्पतिरूप औषधियों—जड़ीबूटियों का प्रयोग करना या बताना। (३) **वैद्यचिन्ता**—वैद्यकसम्बन्धी विविध औषधि आदि का विचार एवं प्रयोग करना। (४-५) **वमन, विरेचन,** (६) **धूप**—भूतप्रेतादि को भगाने के लिए मैनसिल वगैरह की धूप देना। (७) नेत्र या नेती—आँखों का सुरमा, अंजन, काजल, या जल नेती का प्रयोग बताना, (८) **स्नान**—पुत्रप्राप्ति के लिए मंत्र या जड़ीबूटी के जल से स्नान, आचमन आदि बताना। (९) **आतुर-स्मरण,** एवं (१०) दूसरों की **चिकित्सा** करना, कराना।[3]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१५

२. (क) उत्तरा. मूलपाठ, अ. १५ गा. ७,

(ख) "अंगं सरो लक्खणं च वंजणं सुविणो तहा।
छिण्ण-भोम्मंऽतलिक्खाए एमेए अट्ठ आहिया॥" —अंगविज्जा १/२३

(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१६-४१७

३. वही, पत्र ४१७.

भोईअ दो अर्थ—(१) भोगिक—विशिष्ट वेशभूषा में रहने वाले राजमान्य अमात्य आदि प्रधान पुरुष, (२) **भोगी**—विशिष्ट गणवेश का उपभोग करने वाले।[1]

भयभेरवा—(१) अत्यन्त भयोत्पादक अथवा (२) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के अनुसार भय—आकस्मिकभय और भैरव—सिंहादि से उत्पन्न होने वाला भय।[2]

खेयाणुगए : खेदानुगत : दो अर्थ—(१) विनय, वैयावृत्य एवं स्वाध्याय आदि प्रवृत्तियों से होने वाले कष्ट को खेद कहते हैं, उससे अनुगत—युक्त, (२) खेद—संयम से अनुगत—सहित।

अविहेडए : अविहेटक—जो वचन और काया से दूसरों का अपवाद—निन्दा या प्रपंच नहीं करता या जो किसी का भी बाधक नहीं होता।

अमित्ते—अमित्र का सामान्य अर्थ है—जिसके मित्र न हों। यहाँ आशय यह है कि मुनि के आसक्तिवर्द्धक मित्र नहीं होना चाहिए।[3]

तिविहेण नाणुकंपे : तात्पर्य—जो चारों प्रकार का आहार गृहस्थों से प्राप्त करके बाल, ग्लान आदि साधुओं पर अनुकम्पा (उपकार) नहीं करता, उन्हें नहीं देता, वह भिक्षु नहीं है, किन्तु जो साधक मन, वचन और काया से अच्छी तरह संवृत (संवरयुक्त) है, वह आहारादि से बाल, ग्लान आदि साधुओं पर अनुकम्पा (उपकार) करता है, वह भिक्षु है। यही इस गाथा का आशय है।

वायं विविहं : व्याख्या—अपने-अपने दर्शन या धर्म का अनेक प्रकार का वाद या विवाद। जैसे कि—कोई पुल बांधने में धर्म मानता है, तो कोई पुल न बांधने में, कोई गृहवास में धर्म मानता है, कोई वनवास में, कोई मुण्डन कराने में तो कोई जटा रखने में धर्म समझता है। इस प्रकार के नाना वाद हैं।

लहु-अप्पभक्खी—लघु का अर्थ है—तुच्छ, नीरस और अल्प का अर्थ है—थोड़ा। अर्थात्—नीरस भोजन और वह भी मात्रा में खाने वाला।

एगाचरे : दो अर्थ—(१) एकाकी—रागद्वेषरहित होकर विचरण करने वाला, (२) तथाविध योग्यता प्राप्त होने पर दूसरे साधुओं की सहायता लिये बिना अकेला विचरण करने वाला।[4]

॥ पन्द्रहवाँ अध्ययन : सभिक्षुकम् समाप्त ॥

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१८ (ख) सुखबोधा, पत्र २१७
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४१९ (ख) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, वृत्ति, पत्र १४३
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४१९
४. वही, ४१९-४२०

सोलहवाँ अध्ययन : ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान' है। इसमें ब्रह्मचर्यसमाधि के दस स्थानों के विषय में गद्य और पद्य में निरूपण किया गया है।

* ब्रह्मचर्य, साधना का मेरुदण्ड है। साधुजीवन की समस्त साधनाएँ—तप, जप, समत्व, ध्यान, कायोत्सर्ग, परीषहविजय, कषायविजय, विषयासक्तित्याग, उपसर्गसहन आदि ब्रह्मचर्यरूपी सूर्य के इर्दगिर्द घूमने वाले ग्रहनक्षत्रों के समान हैं। यदि ब्रह्मचर्य सुदृढ़ एवं सुरक्षित है तो ये सब साधनाएँ सफल होती हैं, अन्यथा ये साधनाएँ केवल शारीरिक कष्टमात्र रह जाती हैं।

* ब्रह्मचर्य का सर्वसाधारण में प्रचलित अर्थ—मैथुनसेवन का त्याग या वस्तिनिग्रह है। किन्तु भारतीय धर्मों की परम्परा में उसका इससे भी गहन अर्थ है—ब्रह्म में विचरण करना। ब्रह्म का अर्थ परमात्मा, आत्मा, आत्मविद्या अथवा बृहद् ध्येय है। इन चारों में विचरण करने के अर्थ में ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग होता रहा है। परन्तु ब्रह्म में विचरण सर्वेन्द्रियसंयम एवं मन:संयम के बिना हो नहीं सकता। इस कारण बाद में ब्रह्मचर्य का अर्थ सर्वेन्द्रिय-मन:संयम समझा जाने लगा। उसकी साधना के लिए कई नियम-उपनियम बने। प्रस्तुत अध्ययन में सर्वेन्द्रिय-मन:संयमरूप ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए जो १० नियम हैं, जिन्हें अन्य आगमों एवं ग्रन्थों में दस गुप्तियाँ या दस कारण बताए हैं, वे ही दस समाधिस्थान हैं। अर्थात् ब्रह्मचर्य को मन, बुद्धि, चित्त एवं हृदय में सम्यक् रूप से समाहित—प्रतिष्ठित या लीन करने के लिए ये दस नियम या कारण हैं।

* यद्यपि व्रत, नियम या मर्यादाएँ अपने आप में ब्रह्मचर्य नहीं हैं। बाह्यरूप से व्रत, नियम आदि पालन करने में ही ब्रह्मचर्य की साधना परिसमाप्त नहीं होती, क्योंकि कामवासना एवं अब्रह्मचर्य या विषयों में रमणता आदि विकारों के बीज तो भीतर हैं, नियम, व्रत आदि तो ऊपर-ऊपर से कदाचित् शरीर के अंगोपांगों या इन्द्रियों को स्थूलरूप से अब्रह्मचर्यसेवन करने से रोक लें। अत: भीतर में छिपे विकारों को निर्मूल करने के लिए अनन्त आनन्द और विश्व-वात्सल्य में आत्मा का रमण करना और शरीर, इन्द्रिय एवं मन के विषयों में आनन्द खोजने से विरत होना आवश्यक है। संक्षेप में—आत्मस्वरूप या आत्मभावों में रमणता से ही ये सब पर-रमणता के जाल टूट सकते हैं। यही ब्रह्मचर्य की परिपूर्णता तक पहुँचने का राजमार्ग है। फिर भी साधना के क्षेत्र में अथवा आत्मस्वरूप-रमणता में बार-बार जागृति एवं सावधानी के लिए इन नियम-मर्यादाओं की पर्याप्त उपयोगिता है। शरीर, इन्द्रियों एवं मन के मोहक वातावरण में साधक को अब्रह्मचर्य की ओर जाने से नियम या मर्यादाएँ रोकती हैं। अत: ये

नियम ब्रह्मचर्यसाधना के सजग प्रहरी हैं। इनसे ब्रह्मचर्य की सर्वांगीण साधना में सुगमता रहती है।

※ स्वयं शास्त्रकार ने इन दस समाधिस्थानों की उपयोगिता मूलपाठ में प्रारम्भ में बता दी है कि इनके पालन से साधक की आत्मा संयम, संवर और समाधि से अधिकाधिक सम्पन्न हो सकती है, बशर्ते कि वह मन, वचन, काया का संगोपन करे, इन्द्रियां वश में रखे, अप्रमत्तभाव से विचरण करे।

※ प्रस्तुत अध्ययन में ब्रह्मचर्य-सुरक्षा के लिए वताए गए समाधिस्थान क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) स्त्री-पशु-नपुंसक से विविक्त (अनाकीर्ण) शयन और आसन का सेवन करे, (२) स्त्रीकथा न करे, (३) स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे, (४) स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ा कर न देखे, न चिन्तन करे, (५) दीवार आदि की ओट में स्त्रियों के कामविकारजनक शब्द न सुने, (६) पूर्वावस्था में की हुई रति एवं क्रीड़ा का स्मरण न करे, (७) प्रणीत (सरस स्वादिष्ट पौष्टिक) आहार न करे, (८) मात्रा से अधिक आहार-पानी का सेवन न करे, (९) शरीर की विभूषा न करे और (१०) पंचेन्द्रिय-विषयों में आसक्त न हो।[1]

※ स्थानांग और समवायांग में ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों का उल्लेख है। उत्तराध्ययन में जो दसवाँ समाधिस्थान है, वह यहाँ आठवीं गुप्ति है। केवल पांचवाँ समाधिस्थान, स्थानांग एवं समवायांग में नहीं है। उत्तराध्ययन के ९ वें स्थान—विभूषात्याग के वदले उनमें नौवीं गुप्ति है—साता और सुख में प्रतिवद्ध न हो।

※ मूलाचार में शीलविराधना (अब्रह्मचर्य) के दस कारण ये वतलाए हैं—(१) स्त्रीसंसर्ग, (२) प्रणीतरस भोजन, (३) गन्धमाल्यसंस्पर्श, (४) शयनासनगृद्धि, (५) भूषणमण्डन, (६) गीतवाद्यादि की अभिलाषा, (७) अर्थसम्प्रयोजन, (८) कुशीलसंसर्ग, (९) राजसेवा (विषयों की सम्पूर्ति के लिए राजा की अतिशय प्रशंसा करना) और (१०) रात्रिसंचरण।

※ अनगारधर्मामृत में १० नियमों में से तीन नियम भिन्न हैं। जैसे—(२) लिंगविकारजनक कार्यनिषेध, (६) स्त्रीसत्कारवर्जन, (१०) इष्ट रूपादि विषयों में मन को न जोड़े।

※ स्मृतियों में ब्रह्मचर्यरक्षा के लिए स्मरण, कीर्त्तन, क्रीड़ा, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रियानिष्पत्ति, इन अष्ट मैथुनांगों से दूर रहने का विधान है।[2]

※ प्रस्तुत दस समाधिस्थानों में स्पर्शनेन्द्रियसंयम के लिए सह-शयनासन तथा एकासननिषद्या का, रसनेन्द्रियसंयम के लिए अतिमात्रा में आहार एवं प्रणीत आहार सेवन का, चक्षुरिन्द्रियसंयम के लिए स्त्रीदेह एवं उसके हावभावों के निरीक्षण का, मनःसंयम के लिए कामकथा, विभूषा एवं

---

१. उत्तरा. मूल, अ. १६, सू. १ से १२, गा. १ से १३ तक

२. (क) स्थानांग. ९।६६३ (ख) समवायांग, सम. ९ (ग) मूलाचार ११।१३-१४.
(घ) अनगारधर्मामृत ४।६१ (ङ) दक्षस्मृति ७।३१-३३

पूर्वक्रीड़ित स्मरण का, श्रोत्रेन्द्रियसंयम के लिए स्त्रियों के विकारजनक शब्दश्रवण का एवं सर्वेन्द्रियसंयम के लिए पंचेन्द्रियविषयों में आसक्ति का त्याग बताया है।[1]

* साथ ही इन इन्द्रियों एवं मन पर संयम न रखने के भयंकर परिणाम भी प्रत्येक समाधिस्थान के साथ-साथ बताये गए हैं। अन्त में पद्यों में उक्त दस स्थानों का विशद निरूपण भी कर दिया गया है तथा ब्रह्मचर्य की महिमा भी प्रतिपादित की है।

* पूर्वोक्त अनेक परम्पराओं के सन्दर्भ में ब्रह्मचर्य के इन दस समाधिस्थानों का महत्त्वपूर्ण वर्णन इस अध्ययन में है।

---

१. उत्तरा. मूल, अ. १६, गा. १ से १३ तक

सोलसमं अज्झयणं : सोलहवाँ अध्ययन

बंभचेरसमाहिठाणं : ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

दस ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान और उनके अभ्यास का निर्देश

१. सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेर-समाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ।

[१] आयुष्मन् ! मैंने सुना है कि उन भगवान् ने ऐसा कहा है—स्थविर भगवन्तों ने निर्ग्रन्थप्रवचन में (या इस क्षेत्र में) दस ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान बतलाए हैं, जिन्हें सुन कर, जिनको अर्थरूप से निश्चित करके, भिक्षु संयम, संवर (आश्रवद्वारों का निरोध) तथा समाधि (चित्त की स्वस्थता) से उत्तरोत्तर अधिकाधिक अभ्यस्त हो; मन-वचन-काय-गुप्तियों से गुप्त रहे, इन्द्रियों को उनके विषयों में प्रवृत्त होने से बचाए, ब्रह्मचर्य को गुप्तियों के माध्यम से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त हो कर विहार करे ।

२. कयरे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबंभयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ?

[२] स्थविर भगवन्तों ने ब्रह्मचर्यसमाधि के वे कौन-से दस स्थान बतलाए हैं, जिन्हें सुन कर, जिनका अर्थतः निश्चय करके, भिक्षुसंयम, संवर तथा समाधि से उत्तरोत्तर अधिकाधिक अभ्यस्त हो, मन-वचन-काया की गुप्तियों से गुप्त रहे, इन्द्रियों को उनके विषयों में प्रवृत्त होने से बचाए, ब्रह्मचर्य को गुप्तियों के माध्यम से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त हो कर विहार करे ?

प्रथम ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

३. इमे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बंभचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिबहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबंभयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा । तं जहा—

विवित्ताइं सयणासणाइं सेविज्जा, से निग्गन्थे । नो-इत्थी-पसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ, से निग्गन्थे ।

तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणस्स बम्भयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा । तम्हा नो इत्थि-पसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ, से निग्गन्थे ।

[३] स्थविर भगवन्तों ने ब्रह्मचर्य-समाधि के ये दस समाधिस्थान बतलाए हैं, जिन्हें सुन कर, जिनका अर्थतः निश्चय करके भिक्षु संयम, संवर तथा समाधि से उत्तरोत्तर अधिकाधिक अभ्यस्त हो, मन-वचन-काया की गुप्तियों से गुप्त रहे, इन्द्रियों को उनके विषयों में प्रवृत्त होने से बचाए, ब्रह्मचर्य को नौ गुप्तियों के माध्यम से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त हो कर विहार करे।

(उन दस समाधिस्थानों में से) प्रथम समाधिस्थान इस प्रकार है—जो विविक्त-एकान्त शयन और आसन का सेवन करता है, वह निर्ग्रन्थ है। (अर्थात्) जो स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त (आकीर्ण) शयन और आसन का सेवन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र.] ऐसा क्यों?

[उ.] ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—जो स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का सेवन करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा उसके ब्रह्मचर्य (संयम) का विनाश हो जाता है, अथवा उन्माद पैदा हो जाता है, या कोई दीर्घकालिक (लम्बे समय का) रोग और आतंक हो जाता है, अथवा वह केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए स्त्री-पशु-नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का जो साधु सेवन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है, (ऐसा कहा गया)।

विवेचन—ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानों की सुदृढता—साधु को ब्रह्मचर्यसमाधिस्थानों की सुदृढता के लिए यहाँ नवसूत्री बताई गई है—(१) इन स्थानों का भलीभांति श्रवण, (२) अर्थ पर विचार, (३-४-५) संयम का, संवर का और समाधि का अधिकाधिक अभ्यास, (६) तीन गुप्तियों से मन, वाणी एवं शरीर का गोपन, (७) इन्द्रियों की विषयों से रक्षा, (८) नवविधगुप्तियों से ब्रह्मचर्य की सुरक्षा और (९) सदैव अप्रमत्त-अप्रतिबद्ध विहार।

प्रथम समाधिस्थान—विविक्त शयनासनसेवन—**विविक्त : अर्थात्**—स्त्री (दैवी, मानुषी या तिर्यंची), पशु (गाय, भैंस, सांड, भैंसा, बकरा-बकरी आदि) और पण्डक—नपुंसक से संसक्त अर्थात् संसर्ग वाला न हो। यहाँ प्रथम विधिमुख से कथन है, तत्पश्चात् निषेधमुख से कथन है, जिससे विविक्त का तात्पर्य और स्पष्ट हो जाता हैं।

सयणासणाइं : शयन और आसन का अर्थ—शयन के तीन अर्थ शास्त्रीय दृष्टि से—(१) शय्या, बिछौना, संस्तारक, (२) या सोने के लिए पट्टा आदि, (३) उपलक्षण से वसति (उपाश्रय) को भी शय्या कहते हैं। **आसन** का अर्थ है—जिस पर बैठा जाए, जैसे—चौकी, बाजोट (पादपीठ) या केवल आसन, पादप्रोञ्छन आदि।[1]

नो-इत्थी० : वाक्य का आशय—जिस निवासस्थान में स्त्री-पशु-नपुंसक का निवास न हो या दिन या रात्रि में अकेली स्त्री आदि का संसर्ग न हो अथवा जिस पट्टे, शय्या, आसन, चौकी आदि पर साधु बैठा या सोया हो, उसी पर स्त्री आदि बैठे या सोए न हों। **विविक्त शयनासन न होने से ७ बड़ी हानियां**—(१) शंका, (२) कांक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) ब्रह्मचर्य-भंग, (५) उन्माद, (६)

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२३

दीर्घकालिक रोग और आतंक, (७) जिन-प्ररूपित धर्म से भ्रष्टता, इन सात हानियों की सम्भावना है। **इनकी व्याख्या—शंका**—साधु को अथवा साधु के ब्रह्मचर्य के विषय में दूसरों को शंका हो सकती है कि यह स्त्री आदि से संसक्तस्थान आदि का सेवन करता है, अतः ब्रह्मचारी है या नहीं ?, अथवा मैथुनसेवन करने से नौ लाख सूक्ष्म जीवों की विराधना आदि दोष बताए हैं, वे यथार्थ हैं या नहीं ? या ब्रह्मचर्यपालन करने से कोई लाभ है या नहीं, तीर्थंकरों ने अब्रह्मचर्य का निषेध किया है या यों ही शास्त्र में लिख दिया है ? अब्रह्मचर्यसेवन में क्या हानि है। **कांक्षा**—शंका के पश्चात् उत्पन्न होने वाली अब्रह्मचर्य की या स्त्रीसहवास आदि की इच्छा। **विचिकित्सा**—चित्तविप्लव। जब भोगाकांक्षा तीव्र हो जाती है, तब मन समूचे धर्म के प्रति विद्रोह कर बैठता है या व्यर्थ के कुतर्क या कुविकल्प उठाने लगता है, यह विचिकित्सा है। यथा—इस असार संसार में कोई सारभूत वस्तु है तो वह सुन्दरी है। अथवा इतना कष्ट उठा कर ब्रह्मचर्यपालन का कुछ भी फल है या नहीं ? यह भी विचिकित्सा है। **भेद**—जब विचिकित्सा तीव्र हो जाती है, तब झटपट, ब्रह्मचर्य का भंग करके चारित्र का नाश करना भेद है। **उन्माद**—ब्रह्मचर्य के प्रति विश्वास उठ जाने या उसके पालन में आनन्द न मानने की दशा में बलात् मन और इन्द्रियों को दबाने से कामोन्माद तथा दीर्घकालीन **रोग** (राजयक्ष्मा, मृगी, अपस्मार, पक्षाघात आदि) तथा **आतंक** (मस्तकपीड़ा, उदरशूल आदि) होने की सम्भावना रहती है। **धर्मभ्रंश**—इन पूर्व अवस्थाओं से जो नहीं बच पाता, वह चारित्रमोहनीय के क्लिष्ट कर्मोदय में धर्मभ्रष्ट भी हो जाता है।[1]

द्वितीय ब्रह्मचर्य-समाधिस्थान

४. नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ? आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स, बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो इत्थीणं कहं कहेज्जा।

[४] जो स्त्रियों की कथा नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र.] ऐसा क्यों ?

[उ.] ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—जो साधु स्त्रियों सम्बन्धी कथा करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ के ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का नाश होता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, या दीर्घकालिक रोग और आतंक हो जाता है, अथवा वह केवलि-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ स्त्रीसम्बन्धी कथा न करे।

विवेचन—नो इत्थीणं : दो व्याख्या—बृहद्वृत्तिकार ने इसकी दो प्रकार की व्याख्या की है—(१) केवल स्त्रियों के बीच में कथा (उपदेश) न करे और (२) स्त्रियों की जाति, रूप, कुल, वेष, शृंगार आदि से सम्बन्धित कथा न करे। जैसे—**जाति**—यह ब्राह्मणी है, वह वैश्या है; **कुल**—

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२४

उग्रकुल की ऐसी होती है, अमुक कुल की वैसी, **रूप**—कर्णाटकी विलासप्रिय होती है इत्यादि, **संस्थान**—स्त्रियों के डिलडौल, आकृति, ऊँचाई आदि की चर्चा, **नेपथ्य**—स्त्रियों के विभिन्न वेश, पोशाक, पहनावे आदि की चर्चा। इसका परिणाम पूर्ववत् है।[1]

तृतीय ब्रह्मचर्य-समाधिस्थान

५. नो इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे? आयरियाह- निग्गन्थस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागयस्स, बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेजागए विहरेज्जा।

[५] जो स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र.] ऐसा क्यों?

[उ.] आचार्य कहते हैं—जो ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ स्त्रियों के साथ एक आसन पर बैठता है, उस को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश हो जाता है, अथवा उन्माद पैदा हो जाता है, या दीर्घकालिक रोग और आतंक हो जाता है; अथवा वह केवलिप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।

विवेचन—इत्थीहिं सद्धिं सन्निसिज्जागए : व्याख्या—इसकी व्याख्या बृहद्वृत्ति में दो प्रकार से की गई है—(१) स्त्रियों के साथ सन्निषद्या—पट्टा, चौकी, शय्या, बिछौना, आसन आदि पर न बैठे, (२) स्त्री जिस स्थान पर बैठी हो उस स्थान पर तुरंत न बैठे, उठने पर भी एक मुहूर्त्त (दो घड़ी) तक उस स्थान या आसनादि पर न बैठे।[2]

चतुर्थ ब्रह्मचर्य-समाधिस्थान

६. नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं, मणोरमाइं आलोइत्ता, निज्झाइत्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं, मणोरमाइं आलोएमाणस्स, निज्झायमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु निग्गन्थे नो इत्थीणं इन्दियाइं मणोहराइं, मणोरमाइं आलोएज्जा, निज्झाएज्जा।

[६] जो स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों को (ताक-ताक कर) नहीं देखता, उनके विषय में चिन्तन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ श्रमण है।

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४२४, (ख) मिलाइए—दशवै. ८।५२, स्थानांग ९।६६३, समवायांग, ९

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२४

[प्र.] ऐसा क्यों ?

[उ.] इस पर आचार्य कहते हैं—जो निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों को (ताक-ताक कर या दृष्टि गड़ा कर) देखता है और उनके विषय में चिन्तन करता है, उसके ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का भंग हो जाता है अथवा उन्माद पैदा हो जाता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक हो जाता है, या वह केवलि-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों को न तो देखे और न ही उनका चिन्तन करे।

विवेचन—मनोहर और मनोरम में अन्तर—मनोहर का अर्थ है—चित्ताकर्षक और मनोरम का अर्थ है—चित्ताह्लादक।

आलोइत्ता निज्झाइत्ता—'आलोकन' का यहाँ भावार्थ है—दृष्टि गड़ा कर बार-बार देखना। निर्ध्यान अर्थात् देखने के बाद अतिशयरूप से चिन्तन करना, जैसे—अहो ! इसके नेत्र कितने सुन्दर हैं ! अथवा आलोकन का अर्थ है—थोड़ा देखना, निर्ध्यान का अर्थ है—जम कर व्यवस्थित रूप से देखना।[1]

इंदियाइं—यहाँ उपलक्षण से सभी अंगोपांगों का, अंगसौष्ठव आदि का ग्रहण कर लेना चाहिए।

पंचम ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

७. नो इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि वा, कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा सुणेत्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि वा, कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा, सुणेमाणस्स बंभयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु निग्गन्थे नो इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा, दूसन्तरंसि वा, भित्तन्तरंसि वा, कुइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कन्दियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा सुणेमाणे विहरेज्जा।

[७] जो मिट्टी की दीवार के अन्तर से, कपड़े के पर्दे के अन्तर से, अथवा पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियों के कूजितशब्द को, रुदितशब्द को, गीत की ध्वनि को, हास्यशब्द को, स्तनित (गर्जन-से) शब्द को, आक्रन्दन अथवा विलाप के शब्द को नहीं सुनता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र.] ऐसा क्यों ?

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४२५ (ख) मिलाइए—दशवैकालिक ८।५७ : 'चित्तभित्तिं' न निज्झाए।'

[उ.] ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—जो निर्ग्रन्थ मिट्टी की दीवार के अन्तर से, पर्दे के अन्तर से, अथवा पक्की दीवार के अन्तर, से स्त्रियों के कूजन, रुदन, गीत, हास्य; गर्जन, आक्रन्दन अथवा विलाप के शब्दों को सुनता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा उसका ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है, अथवा उन्माद पैदा हो जाता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक हो जाता है, या वह केवलि-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ मिट्टी की दीवार के अन्तर से, पर्दे के अन्तर से, अथवा पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियों के कूजन, रुदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्द को न सुने।

विवेचन—कुड्य और भित्ति के अर्थों में अन्तर—शब्दकोष के अनुसार इन दोनों का अर्थ एक है, किन्तु बृहद्वृत्ति के अनुसार कुड्य का अर्थ मिट्टी से बनी हुई भींत, सुखबोधा के अनुसार पत्थरों की दीवार और चूर्णि के अनुसार पक्की ईंटों से बनी भींत है। शान्त्याचार्य और आ. नेमिचन्द्र ने भित्ति का अर्थ पक्की ईंटों से बनी भींत और चूर्णिकार के अनुसार केतुक आदि है।

कुड्य (भींत) के ९ प्रकार—अंगविज्जा-भूमिका में कुड्य के ९ प्रकार वर्णित हैं—(१) लीपी हुई भींत, (२) विना लीपी, (३) वस्त्र की भींत, पर्दा, (४) लकड़ी के तख्तों से बनी हुई, (५) अगल-बगल में लकड़ी के तख्तों से बनी, (६) घिस कर चिकनी बनाई हुई, (७) चित्रयुक्त दीवार, (८) चटाई से बनी हुई दीवार तथा (९) फूस से बनी हुई आदि।[1]

कूजनादि शब्दों के अर्थ—कूजित—रतिक्रीड़ा शब्द, **रुदित**—रतिकलहादिकृत शब्द, **हसित**—ठहाका मार का हँसने का, कहकहे लगाने का शब्द, **स्तनित**—अधोवायुनिसर्ग आदि का शब्द, **क्रन्दित**—वियोगिनी का आक्रन्दन।[2]

छठा ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

८. नो निग्गन्थे पुव्वरयं, पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स बम्भयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पुव्वरयं, पुव्व-कीलियं अणुसरेज्जा।

[८] जो साधु (संयमग्रहण से) पूर्व (गृहस्थावस्था में स्त्री आदि के साथ किये गए) रमण का और पूर्व (गृहवास में स्त्री आदि के साथ की गई) क्रीड़ा का अनुस्मरण नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र.] ऐसा क्यों ?

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४२५ (ख) सुखबोधा, पत्र २२१,
(ग) चूर्णि, पृ. २४२ (घ) अंगविज्जा-भूमिका, पृ. ५८-५९

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२५

[उ.] इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं—जो पूर्व (गृहवास में की गई) रति और क्रीड़ा का अनुस्मरण करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश हो जाता है, अथवा उन्माद पैदा होता है, अथवा दीर्घ-कालिक रोग और आतंक हो जाता है, या वह केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ (संयमग्रहण से) पूर्व (गृहवास में) की (गई) रति और क्रीड़ा का अनुस्मरण न करे।

विवेचन—छठे ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान का आशय—साधु अपनी पूर्वावस्था में चाहे भोगी, विलासी, या कामी रहा हो, किन्तु साधुजीवन स्वीकार करने के बाद उसे पिछली उन कामुकता की बातों का तनिक भी स्मरण या चिन्तन नहीं करना चाहिए। अन्यथा ब्रह्मचर्य की जड़ें हिल जाएँगी और धीरे-धीरे वह पूर्वोक्त संकटों से घिर कर सर्वथा भ्रष्ट हो जाएगा।

सातवाँ ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

९. नो पणीयं आहारं आहारित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु पणीयं पाणभोयणं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पणीयं आहारं आहारेज्जा।

[९] जो प्रणीत—रसयुक्त पौष्टिक आहार नहीं करता वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र.] ऐसा क्यों?

[उ.] इस पर आचार्य कहते हैं—जो रसयुक्त पौष्टिक भोजन-पान करता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती है, अथवा उसके ब्रह्मचर्य का भंग हो जाता है, अथवा उन्माद पैदा हो जाता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक होता है, अथवा वह केवलिप्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

इसलिए निर्ग्रन्थ प्रणीत—सरस एवं पौष्टिक आहार न करे।

विवेचन—पणीयं—प्रणीत : दो अर्थ—(१) जिस खाद्यपदार्थ से तेल, घी आदि की बूंदें टपक रही हों, वह, अथवा (२) जो धातुवृद्धिकारक हो।[1]

आठवाँ ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

१०. नो अइमायाए पाणभोयणं आहारेत्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु अइमायाए पाणभोयणं आहारेमाणस्स, बम्भयारिस्स बंभचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा,

---

१ बृहद्वृत्ति, पत्र ४२५

दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे अइमायाए पाणभोयणं भुंजिज्जा।

[१०] जो अतिमात्रा में (परिमाण से अधिक) पान-भोजन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र.] ऐसा क्यों ?

[उ.] उत्तर में आचार्य कहते हैं—जो परिमाण से अधिक खाता-पीता है, उस ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा अथवा विचिकित्सा उत्पन्न होती है, या ब्रह्मचर्य का विनाश हो जाता है, अथवा उन्माद पैदा हो जाता है, अथवा दीर्घकालिक रोग और आतंक हो जाता है, अथवा वह केवलि-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ मात्रा से अधिक पान-भोजन का सेवन न करे।

विवेचन—अइमायाए : व्याख्या—मात्रा का अर्थ है—परिमाण। भोजन का जो परिमाण है, उसका उल्लंघन करना अतिमात्र है। प्राचीन परम्परानुसार पुरुष (साधु) के भोजन का परिमाण है—बत्तीस कौर और स्त्री (साध्वी) के भोजन का परिमाण अट्ठाईस कौर है, इससे अधिक भोजन-पान का सेवन करना अतिमात्रा में भोजन-पान है।[1]

नौवाँ ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

११, नो विभूसाणुवाई हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे ?

आयरियाह-विभूसावत्तिए, विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ णं तस्स इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवाई सिया।

[११] जो विभूषा नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र.] ऐसा क्यों ?

[उ.] इस प्रकार पूछने पर आचार्य कहते हैं—जिसकी मनोवृत्ति विभूषा करने की होती है, जो शरीर को विभूषित (सुसज्जित) किये रहता है, वह स्त्रियों की अभिलाषा का पात्र बन जाता है। इसके पश्चात् स्त्रियों द्वारा चाहे जाने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा अथवा विचिकित्सा उत्पन्न हो जाती है, अथवा ब्रह्मचर्य भंग हो जाता है, अथवा उसे उन्माद पैदा हो जाता है, या उसे दीर्घकालिक रोग और आतंक हो जाता है, अथवा वह केवलि-प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ विभूषानुपाती न बने।

विवेचन—विभूसाणुवाई—शरीर को स्नान करके सुसंस्कृत करना, तेल-फुलेल लगाना,

---

१. **"बत्तीसं किर कवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ।**
पुरिसस्स, महिलियाए अट्ठावीसं भवे कवला॥" —बृहद्वृत्ति, पत्र ४२६

सुन्दर वस्त्रादि उपकरणों से सुसज्जित करना, केशप्रसाधन करना आदि विभूषा है। इस प्रकार से शरीर-संस्कारकर्ता—शरीर को सजाने वाला—विभूषानुपाती है।

विभूसावत्तिए : अर्थ—जिसका स्वभाव विभूषा करने का है, वह विभूषावृत्तिक है।

विभूसियसरीरे—स्नान, अंजन, तेल-फुलेल आदि से शरीर को जो विभूषित—सुसज्जित करता है, वह विभूषितशरीर है।

इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे—विभूषा करने वाला साधु स्त्रीजनों द्वारा अभिलषणीय हो जाता है, स्त्रियाँ उसे चाहने लगती हैं, स्त्रियों द्वारा चाहे जाने या प्रार्थना किये जाने पर ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के विषय में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न हो जाती है, जैसे—जब स्त्रियाँ इस प्रकार मुझे चाहती हैं, तो क्यों न मैं इनका उपभोग कर लूं? अथवा इसका उत्कट परिणाम नरक-गमन है, अतः क्या उपभोग न करूँ? ऐसी शंका तथा अधिक चाहने पर स्त्रीसेवन की आकांक्षा, अथवा बार-बार मन में ऐसे विचारों का भूचाल मच जाने से स्त्रीसेवन की प्रबल इच्छा हो जाती है और वह ब्रह्मचर्य भंग कर देता है।[1]

दसवाँ ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान

१२. नो सद्द-रूव-रस-गन्ध-फासाणुवाई हवइ, से निग्गन्थे।

तं कहमिति चे?

आयरियाह-निग्गन्थस्स खलु सद्द-रूव-रस-गन्ध-फासाणुवाइस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा, कंखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भयं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे सद्द-रूव-रस-गन्ध-फासाणुवाई हविज्जा। दसमे बम्भचेरसमाहिठाणे हवइ।

भवन्ति इत्थ सिलोगा, तं जहा—

[१२] जो साधक शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त नहीं होता, वह निर्ग्रन्थ है।

[प्र.] ऐसा क्यों?

[उ.] उत्तर में आचार्य कहते हैं—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त होने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न हो जाती है, अथवा ब्रह्मचर्य भंग हो जाता है, अथवा उसे उन्माद पैदा हो जाता है, या फिर दीर्घकालिक रोग या आतंक हो जाता है, अथवा वह केवलिभाषित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए निर्ग्रन्थ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में अनुपाती (—आसक्त) न बने। यह ब्रह्मचर्यसमाधि का दसवाँ स्थान है।

इस विषय में यहाँ कुछ श्लोक हैं, जैसे—

विवेचन—सद्द-रूव-रस-गंध-फासाणुवाई : स्त्रियों के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का अनुपाती—मनोज्ञ शब्दादि को देखकर पतित होने वाला या फिसल जाने वाला, या उनमें आसक्त। जैसे कि—**शब्द**—स्त्रियों के कोमल ललित शब्द या गीत, **रूप**—उनके कटाक्ष, वक्षस्थल, कमर आदि

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२७

का या उनके चित्रों का अवलोकन, रस—मधुरादि रसों द्वारा अभिवृद्धि पाने वाला, गन्ध—कामवर्द्धक सुगन्धित पदार्थ एवं स्पर्श—आसक्तिजनक कोमल कमल आदि का स्पर्श, इनमें लुभा जाने (आसक्त हो जाने) वाला।[1]

पूर्वोक्त दस समाधिस्थानों का पद्यरूप में विवरण

१. जं विवित्तमणाइण्णं रहियं थीजणेण य।
बम्भचेरस्स रक्खट्ठा आलयं तु निसेवए॥

[१] निर्ग्रन्थ साधु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ऐसे स्थान (आलय) में रहे, जो विविक्त (एकान्त) हो, अनाकीर्ण—(स्त्री आदि से अव्याप्त) हो और स्त्रीजन से रहित हो।

२. मणपल्हायजणणिं कामरागविवड्ढणिं।
बंभचेररओ भिक्खू थीकहं तु विवज्जए॥

[२] ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु मन में आह्लाद उत्पन्न करने वाली और कामराग बढ़ाने वाली स्त्रीकथा का त्याग करे।

३. समं च संथवं थीहिं संकहं च अभिक्खणं।
बंभचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए॥

[३] ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु स्त्रियों के साथ संस्तव (संसर्ग या अतिपरिचय) और बार-बार वार्तालाप (संकथा) का सदैव त्याग करे।

४. अंगपच्चंग-संठाणं चारुल्लविय-पेहियं।
बंभचेररओ थीणं चक्खुगिज्झं विवज्जए॥

[४] ब्रह्मचर्यपरायण साधु नेत्रेन्द्रिय से ग्राह्य स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग, संस्थान (आकृति, डीलडौल या शरीर रचना), बोलने की सुन्दर छटा (या मुद्रा), तथा कटाक्ष को देखने का परित्याग करे।

५. कूइयं रुइयं गीयं हसियं थणिय-कन्दियं।
बंभचेररओ थीणं सोयगिज्झं विवज्जए॥

[५] ब्रह्मचर्य में रत साधु श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन और क्रन्दन न सुने।

६. हासं किड्डं रइं दप्पं सहभुत्तासियाणि य।
बम्भचेररओ थीणं नाणुचिन्ते कयाइ वि॥

[६] ब्रह्मचर्य-निष्ठ साधु दीक्षाग्रहण से पूर्व जीवन में स्त्रियों के साथ अनुभूत हास्य, क्रीड़ा, रति, दर्प (कन्दर्प, या मान) और साथ किए भोजन एवं बैठने का कदापि चिन्तन न करे।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२७-४२८

७. पणीयं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं।
बम्भचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए॥

[७] ब्रह्मचर्य-रत भिक्षु शीघ्र ही कामवासना को बढ़ाने वाले प्रणीत भोजन-पान का सदैव त्याग करे।

८. धम्मलद्धं मियं काले जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा बम्भचेररओ सया॥

[८] ब्रह्मचर्य में लीन रहने वाला, चित्त-समाधि से सम्पन्न साधु संयमयात्रा (या जीवन-निर्वाह) के लिए उचित (शास्त्र-विहित) समय में धर्म (मुनिधर्म की मर्यादानुसार) उपलब्ध परिमित भोजन करे, किन्तु मात्रा से अधिक भोजन न करे।

९. विभूसं परिवज्जेज्जा सरीरपरिमण्डणं।
बम्भचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए॥

[९] ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु विभूषा का त्याग करे, शृंगार के लिए शरीर का मण्डन (प्रसाधन) न करे।

१०. सद्दे रूवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए॥

[१०] वह शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इन पांच प्रकार के कामगुणों का सदा त्याग करे।

विवेचन—विविक्त, अनाकीर्ण और रहित : तीनों का अन्तर—विविक्त का अर्थ है—स्त्री आदि के निवास से रहित एकान्त, अनाकीर्ण का अर्थ है—उन-उन प्रयोजनों से आने वाली स्त्रियों आदि से अनाकुल—भरा न रहता हो ऐसा स्थान तथा रहित का अर्थ है—अकाल में व्याख्यान, वन्दन आदि के लिए आने वाली स्त्रियों से रहित—वर्जित।[1]

कामरागविवड्ढणी : अर्थ—कामराग—विषयासक्ति की वृद्धि करने वाली।

चक्खुगिज्झं० : तात्पर्य—चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य स्त्रियों के अंगादि को न देखे, न देखने का प्रयत्न करे। यद्यपि नेत्र होने पर रूप का ग्रहण अवश्यम्भावी है, तथापि यहाँ प्रयत्नपूर्वक—स्वेच्छा से देखने का परित्याग करना चाहिए, यह अर्थ अभीष्ट है। कहा भी है—चक्षु-पथ में आए हुए रूप का न देखना तो अशक्य है, किन्तु बुद्धिमान् साधक राग-द्वेषवश देखने का परित्याग करे।[2]

मयविवड्ढणं—मद का अर्थ यहाँ—कामोद्रेक—कामोत्तेजन है, उसको बढ़ाने वाला (मद-विवर्द्धन)।[3]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२८

२. वही, पत्र ४२८ : असक्का रूवमद्दट्ठुं चक्खुगोयरमागयं।
रागद्दोसे उ जे तत्थ, तं बुहो परिवज्जए॥

३. वही, पत्र ४२८

धम्मलद्धं : तीन रूप : तीन अर्थ (१) धर्म्यलब्ध—धर्म्य—धर्मयुक्त एषणीय, निर्दोष भिक्षा द्वारा गृहस्थों से उपलब्ध, न कि स्वयं निर्मित, (२) धर्म—मुनिधर्म के कारण या धर्मलाभ के कारण लब्ध, न कि चमत्कारप्रदर्शन से प्राप्त और (३) 'धर्मलब्धु'—उत्तम क्षमादि दस धर्मों को निरतिचार रूप से प्राप्त करने के लिए प्राप्त ।[1]

'मियं—मितं'—सामान्य अर्थ है—परिमित, परन्तु इसका विशेष अर्थ है—शास्त्रोक्त परिमाणयुक्त आहार । आगम में कहा है—पेट में छह भागों की कल्पना करे, उनमें से आधा—यानी तीन भाग साग-तरकारी सहित भोजन से भरे, दो भाग पानी से भरे और एक भाग वायुसंचार के लिए खाली रखे ।[2]

'जत्तत्थं'—यात्रार्थ—संयमनिर्वाहार्थ, न कि शरीरबल बढ़ाने एवं रूप आदि से सम्पन्न बनने के लिए ।

पणिहाणवं—चित्त की स्वस्थता से युक्त होकर भोजन करे, न कि रागद्वेष या क्रोधादि वश होकर ।[3]

सरीरमंडणं—शरीरपरिमण्डन, अर्थात्—केशप्रसाधन आदि ।

कामगुणे : व्याख्या—इच्छाकाम और मदनकाम रूप द्विविध काम के गुण, अर्थात्—उपकारक या साधन अथवा साधन रूप उपकरण ।[4]

आत्मान्वेषक ब्रह्मचर्यनिष्ठ के लिए दस तालपुटविष-समान

११. आलओ थीजणाइण्णो थीकहा य मणोरमा ।
संथवो चेव नारीणं तासिं इन्दियदरिसणं ॥

१२. कूइयं रुइयं गीयं हसियं भुत्तासियाणि य ।
पणीयं भत्तपाणं च अइमायं पाणभोयणं ॥

१३. गत्तभूसणमिट्ठं च कामभोगा य दुज्जया ।
नारस्सऽत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा ॥

[११-१२-१३] (१) स्त्रियों से आकीर्ण आलय (निवासस्थान), (२) मनोरम स्त्रीकथा, (३) नारियों का परिचय (संसर्ग), (४) उनकी इन्द्रियों का (रागभाव से) अवलोकन, ॥११॥

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२८-४२९

२. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. ७३
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४२९

३. वही, पत्र ४२९
यात्रार्थं-संयमनिर्वाहणार्थं, न तु रूपाद्यर्थम् ।
"प्रणिधानवान्—चित्तस्वास्थ्योपेतो, न तु रागद्वेषवशगो भुंजीत ॥

४. वही, पत्र ४२९

(५) उनके कूजन, रोदन, गीत तथा हास्य (हंसी-मजाक) को (दीवार आदि की ओट में छिप कर सुनना), (६) (पूर्वावस्था में) भुक्त भोग तथा सहावस्थान का स्मरण—(चिन्तन) करना, (७) प्रणीत पान-भोजन और (८) अतिमात्रा में पान-भोजन।

(९) स्त्रियों के लिए इष्ट शरीर की विभूषा करना और (१०) दुर्जय काम-भोग; ये दस आत्मगवेषक मनुष्य के लिए तालपुट विष के समान हैं।

विवेचन—फलितार्थ—प्रस्तुत तीन गाथाओं में ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान की उन्हीं नौ गुप्तियों के भंग को तालपुट विष के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

संस्तव : प्रासंगिक अर्थ—स्त्रियों का परिचय, एक ही आसन पर बैठने या साथ-साथ भोजनादि सेवन से होता है।

काम और भोग—शास्त्रानुसार काम शब्द, शब्द एवं रूप का वाचक है और भोग शब्द है—रस, गन्ध और स्पर्श का वाचक।

विसं तालउडं जहा—तालपुट विष शीघ्रमारक होता है। उसे ओठ पर रखते ही, ताल या ताली बजाने जितने समय में मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्यसमाधि में बाधक ये पूर्वोक्त १० बातें ब्रह्मचारी साधक के संयम की शीघ्र विघातक हैं।[1]

ब्रह्मचर्य-समाधिमान् के लिए कर्त्तव्यप्रेरणा

१४. दुज्जए कामभोगे य निच्चसो परिवज्जए।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पणिहाणवं॥

[१४] प्रणिधानवान् (स्वस्थ या स्थिर चित्त वाला) मुनि दुर्जय कामभोगों का सदैव परित्याग करे और (ब्रह्मचर्य के पूर्वोक्त) सभी शंकास्थानों (भयस्थलों) से दूर रहे।

१५. धम्मारामे चरे भिक्खू धिइमं धम्मसारही।
धम्मारामरए दन्ते बम्भचेर-समाहिए॥

[१५] भिक्षु धृतिमान् (परीषह और उपसर्गों को सहने में सक्षम), धर्मरथ का सारथि, धर्म (श्रुत-चारित्र रूप धर्म) के उद्यान में रत, दान्त तथा ब्रह्मचर्य में सुसमाहित होकर धर्म के आराम (बाग) में विचरण करे।

विवेचन—*संकट्ठाणाणि सव्वाणि*—*पूर्व गाथात्रय में* उक्त दसों ही शंकास्थानों का परित्याग करे, यह ब्रह्मचर्यरत साधु-साध्वी के लिए भगवान् की आज्ञारूप चेतावनी है। इस पर न चलने से आज्ञा-भंग अनवस्था मिथ्यात्व एवं विराधना के दोष की सम्भावना है।[2]

१५ वीं गाथा का द्वितीय अर्थ—ब्रह्मचर्यसमाधि के लिए भिक्षु धृतिमान्, धर्मसारथि,

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४२९
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३०

धर्माराम में रत एवं दान्त होकर धर्म रूप उद्यान में ही विचरण करे। यह अर्थ भी सम्भव है, क्योंकि ये दोनों गाथाएँ ब्रह्मचर्यविशुद्धि के लिए हैं।[1]

धर्मसारथि—यहाँ भिक्षु को धर्मसारथि इसलिए बतलाया गया है कि वह स्वयं धर्म में स्थिर होकर दूसरों (गृहस्थों, श्रावक आदि) को भी धर्म में प्रवृत्त करता है, स्थिर भी करता है।[2]

ब्रह्मचर्य-महिमा

१६. देव—दाणव—गन्धव्वा जक्ख—रक्खस—किन्नरा।
बम्भयारिं नमंसन्ति दुक्करं जे करन्ति तं॥

[१६] देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ये सभी उस को नमस्कार करते हैं, जो दुष्कर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता है।

१७. एस धम्मे धुवे निअए सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण सिज्झिस्सन्ति तहावरे॥
—त्ति बेमि।

[१७] यह (ब्रह्मचर्यरूप) धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है। इस धर्म के द्वारा अनेक साधक सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में होंगे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—देव आदि शब्दों के अर्थ—देव—ज्योतिष्क और वैमानिक, **दानव**—भवनपति, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ये व्यन्तर विशेष हैं। उपलक्षण से अन्य व्यन्तरदेवों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

दुक्करं—कायर लोगों द्वारा कठिनता से आचरणीय।

ध्रुवादि : अर्थ—ध्रुव—प्रमाण से प्रतिष्ठित, **नित्य**—त्रिकालसम्भवी, **शाश्वत**—अनवरत रहने वाला।[3]

॥ ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान : सोलहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३०

२. वही, पत्र ४३०

'ठिओ य ठावए परे।' —इति वचनात्।

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३०

सत्रहवाँ अध्ययन : पापश्रमणीय

अध्ययन-सार

※ प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'पापश्रमणीय' है। इसमें पापी श्रमण के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

※ श्रमण वन जाने के वाद यदि व्यक्ति यह सोचता है कि अव मुझे और कुछ करने की कोई आवश्यकता नहीं है, न तो मुझे ज्ञानवृद्धि के लिए शास्त्रीय अध्ययन की जरूरत है, न तप, जप, ध्यान अहिंसादि व्रतपालन या दशविध श्रमणधर्म के आचरण की अपेक्षा है, तो यह बहुत वड़ी भ्रान्ति है। इसी भ्रान्ति का शिकार होकर साधक यह सोचने लगता है कि मैं महान् गुरु का शिष्य हूँ। मुझे सम्मानपूर्वक भिक्षा मिल जाती है, धर्मस्थान, वस्त्र, पात्र या अन्य सुखसुविधाएँ भी प्राप्त हैं। अव तप या अन्य साधना करके आत्मपीड़न से क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार विवेकभ्रष्ट होकर सोचने वाले श्रमण को प्रस्तुत अध्ययन में 'पापश्रमण' कहा गया है।

※ श्रमण दो कोटि के होते हैं। एक सुविहित श्रमण और दूसरा पापश्रमण। सुविहित श्रमण वह है, जो दीक्षा सिंह की तरह लेता है और सिंह की तरह ही पालन करता है। अहर्निश ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप की साधना में पुरुषार्थ करता है। प्रमाद को जरा भी स्थान नहीं देता। उसका आत्मभान जागृत रहता है। वह निरतिचार संयम का एवं महाव्रतों का पालन करता है। समता उसके जीवन के कण-कण में रमी रहती है। क्षमा आदि दस धर्मों के पालन में वह सतत जागरूक रहता है।

※ इसके विपरीत पापश्रमण सिंह की तरह दीक्षा लेकर सियार की तरह उसका पालन करता है। उसकी दृष्टि शरीर पर टिकी रहती है। फलतः शरीर का पोषण करने में, उसे आराम से रखने में वह रात-दिन लगा रहता है। सुवह से शाम तक यथेच्छ खाता-पीता है, आराम से सोया रहता है। उसे खाने-पीने, सोने-जागने, वैठने-उठने और चलने-फिरने का कोई विवेक नहीं होता। वह चीजों को जहाँ-तहाँ बिना देखे-भाले रख लेता है। उसका सारा कार्य अविवेक से और अव्यवस्थित होता है। आचार्य, उपाध्याय एवं गुरु के समझाने पर भी वह नहीं समझता, उलटे प्रतिवाद करता है। वह न तप करता है, न स्वाध्याय-ध्यान। रसलोलुप वन कर सरस आहार की तलाश में रहता है। वह शान्त हुए कलह को भड़काता है, पापों से नहीं डरता, यहाँ तक कि अपना स्वार्थ सिद्ध न होने पर गण और गणी को भी छोड़ देता है।

प्रस्तुत अध्ययन की १ से ४ गाथा में ज्ञानाचार में प्रमाद से, ५ वीं गाथा में दर्शनाचार में प्रमाद से, ६ से १४ तक की गाथा में चारित्राचार में प्रमाद से, १५-१६ गाथा में तप-आचार में प्रमाद से और १७ से १९ वीं गाथा तक में वीर्याचार में प्रमाद से पापश्रमण होने का निरूपण है।

※ अन्त में २० वीं गाथा में पापश्रमण के निन्द्य जीवन का तथा २१ वीं गाथा में श्रेष्ठश्रमण के वन्द्य जीवन का दिग्दर्शन कराया गया है। □□

सत्तरसमं अज्झयणं : सत्रहवाँ अध्ययन

पावसमणिज्जं : पापश्रमणीय

पापश्रमण : ज्ञानाचार में प्रमादी

१. जे के इमे पव्वइए नियण्ठे धम्मं सुणित्ता विणओववन्ने ।
सुदुल्लहं लहिउं बोहिलाभं विहरेज्ज पच्छा य जहासुहं तु ।।

[१] जो कोई (मुमुक्षु साधक) धर्म-श्रवण कर, अत्यन्त दुर्लभ बोधिलाभ को प्राप्त करके, (पहले तो) विनय (अर्थात्—आचार) से सम्पन्न हो जाता है तथा निर्ग्रन्थधर्म में प्रव्रजित हो जाता है, किन्तु बाद में सुख-सुविधा के अनुसार स्वच्छन्दविहारी हो जाता है ।

२. सेज्जा दढा पाउरणं मे अत्थि उप्पज्जई भोत्तुं तहेव पाउं ।
जाणामि जं वट्टइ आउसु ! त्ति किं नाम काहामि सुएण भन्ते ।।

[२] (आचार्य एवं गुरु के द्वारा शास्त्राध्ययन की प्रेरणा मिलने पर वह दुर्मुख होकर कहता है—) आयुष्मन् ! गुरुदेव ! मुझे रहने को सुरक्षित (दृढ़) वसति (उपाश्रय) मिल गई है, वस्त्र भी मेरे पास है, खाने-पीने को पर्याप्त मिल जाता है तथा (शास्त्र में जीव-अजीव आदि) जो तत्त्व (वर्णित) हैं, (उन्हें) मैं जानता हूँ । भंते ! फिर मैं शास्त्रों का अध्ययन करके क्या करूंगा !

३. जे के इमे पव्वइए निद्दासीले पगामसो ।
भोच्चा पेच्चा सुहं सुवइ पावसमणे त्ति वुच्चई ।।

[३] जो कोई प्रव्रजित हो कर अत्यन्त निद्राशील रहता है, (यथेच्छ) खा-पीकर (निश्चिन्त होकर) सुख से सो जाता है, वह 'पापश्रमण' कहलाता है ।

४. आयरियउवज्झाएहिं सुयं विणयं च गाहिए ।
ते चेव खिसई बाले पावसमणे त्ति वुच्चई ।।

[४] जिन आचार्य और उपाध्याय से श्रुत (शास्त्रीय ज्ञान या विचार) और विनय (आचार) ग्रहण किया है, उन्हीं आचार्यादि की जो निन्दा करता है, वह विवेकभ्रष्ट (बाल) पापश्रमण कहलाता है ।

विवेचन—शास्त्राध्ययन में प्रमादी पापश्रमण के लक्षण : (१) स्वच्छन्दविहारी, (सुखसुविधावादी), (२) धृष्टतापूर्वक कुतर्कयुक्त दुर्वचनी, (३) अतिनिद्राशील, (४) खा-पीकर निश्चिन्त शयनशील, (५) शास्त्रज्ञानदाता का निन्दक और (६) विवेकभ्रष्ट अज्ञानी ।

'धम्मं' आदि शब्दों की व्याख्या—धम्मं—श्रुत-चारित्ररूप धर्म को । **विणओववन्ने**—विनय अर्थात्—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचाररूप विनयाचार से युक्त । **पच्छा जहासुहं**—प्रव्रज्याग्रहण के

पश्चात् जैसे-जैसे विकथा आदि करने से सुख मिलता जाता है, इस कारण सिंहरूप में दीक्षित हो कर शृगालवृत्ति से जीता है। **दढा**—दृढ़-मजबूत अर्थात् हवा, धूप, वर्षा आदि उपद्रवों से सुरक्षित। **पाउरणं**—प्रावरण-वर्षा-कल्प आदि या वस्त्रादि। **किं नाम काहामि सुएणं ?**—वह वर्तमान सुखैषी हो कर कहता है—मैं शास्त्र-अध्ययन करके क्या करूंगा ? आप जो कुछ अध्ययन करते हैं, उससे भी आप किसी भी अतीन्द्रिय वस्तु को नहीं जान-देख सकते, किन्तु वर्तमान मात्र को देखते हैं, इतना ज्ञान तो मुझे में भी है। फिर मैं शास्त्राध्ययन करके अपने कण्ठ और तालु को क्यों सुखाऊँ ? **सुहं सुवइ**—समस्त धर्मक्रियाओं से निरपेक्ष-उदासीन हो कर सो जाता है।[1]

दर्शनाचार में प्रमादी : पापश्रमण

५. आयरिय-उवज्झायाणं, सम्मं नो पडितप्पइ।
अप्पडिपूयए थद्धे, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[५] जो आचार्य और उपाध्याय के सेवा आदि कार्यों की चिन्ता नहीं करता, अपितु उनसे पराङ्मुख हो जाता है, जो अहंकारी होता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

विवेचन—पडितप्पई : भावार्थ—वह दर्शनाचारान्तर्गत वात्सल्य से रहित होकर आचार्यादि की सेवा में ध्यान नहीं देता।

अप्पडिपूअए : वह आचार्यादि के प्रति पूजा-सत्कार के भाव नहीं रखता। उपलक्षण से अरिहन्त आदि के प्रति भी यथोचित विनय-भक्ति से विमुख हो जाता है।[2]

चारित्राचार में प्रमादी : पापश्रमण

६. सम्मद्दमाणे पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य।
असंजए संजयमन्नमाणे, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[६] जो प्राणी (द्वीन्द्रिय आदि जीव), बीज और हरी वनस्पति का सम्मर्दन करता (कुचलता) रहता है तथा असंयत होते हुए भी स्वयं को संयत मानता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

७. संथारं फलगं पीढं, निसेज्जं पायकम्बलं।
अप्पमज्जियमारुहइ, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[७] जो संस्तारक (बिछौना), फलक (पट्टा), पीठ (चौकी या आसन), निषद्या (स्वाध्याय-भूमि आदि) तथा पादकम्बल (पैर पोंछने के ऊनी वस्त्र) का प्रमार्जन किये बिना ही उन पर बैठ जाता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

८. दवदवस्स चरई, पमत्ते य अभिक्खणं।
उल्लंघणे य चण्डे य, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[८] जो जल्दी-जल्दी चलता है, जो बार-बार प्रमादाचरण करता रहता है, जो मर्यादाओं का उल्लंघन करता है, अति क्रोधी होता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

---

१. उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३२-४३३

२. उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३३

९. पडिलेहेइ पमत्ते, उवउज्झइ पायकम्बलं।
पडिलेहणाअणाउत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

[९] जो अनुपयुक्त (असावधान) हो कर प्रतिलेखन करता है, जो पात्र और कम्बल जहाँ-तहाँ रख देता है, जो प्रतिलेखन में अनायुक्त (उपयोगरहित) होता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१०. पडिलेहेइ पमत्ते, से किंचि हु निसामिया।
गुरुं परिभावए निच्चं, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

[१०] जो (इधर-उधर की) तुच्छ बातों को सुनता हुआ प्रमत्त हो कर प्रतिलेखन करता है, जो गुरु की सदा अवहेलना करता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

११. बहुमाई पमुहरे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

[११] जो बहुत मायावी (कपटशील) है, अत्यन्त वाचाल है, लुब्ध है, जिसका इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण नहीं है, जो प्राप्त वस्तुओं का संविभाग नहीं करता, जिसे अपने गुरु आदि के प्रति प्रेम नहीं है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१२. विवादं च उदीरेइ, अहम्मे अत्तपन्नहा।
वुग्गहे कलहे रत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

[१२] जो शान्त हुए विवाद को पुनः भड़काता है, जो अधर्म में अपनी बुद्धि को नष्ट करता है, जो कदाग्रह (विग्रह) तथा कलह करने में रत रहता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१३. अथिरासणे कुक्कुईए, जत्थ तत्थ निसीयई।
आसणम्मि अणाउत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

[१३] जो स्थिरता से नहीं बैठता, जो हाथ-पैर आदि की चपल एवं विकृत चेष्टाएँ करता है, जो जहाँ-तहाँ बैठ जाता है, जिसे आसान पर बैठने का विवेक नहीं है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१४. ससरक्खपाए सुवई, सेज्जं न पडिलेहइ।
संथारए अणाउत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई ॥

[१४] जो सचित्त रज से लिप्त पैरों से सो जाता है, जो शय्या का प्रतिलेखन नहीं करता तथा संस्तारक (बिछौना) करने में भी अनुपयुक्त (असावधान) रहता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

विवेचन—अप्पमज्जियं : प्रमार्जन किये विना अर्थात्—रजोहरण से पट्ट आदि की सफाई (शुद्धि) किये बिना। यहाँ उपलक्षण से प्रतिलेखन किये (देखे) बिना, अर्थ भी समझ लेना चाहिए। जहाँ प्रमार्जन है, वहाँ प्रतिलेखन अवश्य होता है।

'किंचि हु निसामिया' :—जो कुछ भी बातें सुनता है, उधर ध्यान देकर प्रतिलेखन में उपयोग न रखना।[1]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३४

गुरुं परिभावए—(१) जो गुरु का तिरस्कार करता है, गुरु के साथ विवाद करता है, असभ्य वचनों का प्रयोग करके गुरु को अपमानित करता है। जैसे—किसी गलत आचरण पर गुरु के द्वारा प्रेरित करने पर कहे—'आप अपना देखिये ! आपने ही तो पहले हमें ऐसा सिखाया था, अब आप ही इसमें दोष निकालते हैं ! इसमें गलती आपकी है, हमारी नहीं।'

असंविभागी—जो गुरु, रोगी, छोटे साधु आदि को उचित आहारादि दे देता है, वह संविभागी है, किन्तु जो अपना ही आत्मपोषण करता है, वह असंविभागी है।[1]

अत्तपन्नहा : तीन रूप : तीन अर्थ—(१) **आत्तप्रज्ञाहा**—सिद्धान्तादि के श्रवण से प्राप्त सद्बुद्धि (प्रज्ञा) को कुतर्कादि से हनन करने वाला, (२) **आप्तप्रज्ञाहा**—इहलोक-परलोक के लिए आप्त (हित) रूपी प्रज्ञा से कुयुक्तियों द्वारा दूसरों की बुद्धि को बिगाड़ने वाला। (३)**आत्मप्रश्नहा**—अपनी आत्मा में उठती हुई आवाज को दबा देना। जैसे किसी ने पूछा कि आत्मा अन्य भवों में जाती है या नहीं ? तब उसी प्रश्न को अतिवाचालता से उड़ा देना कि आत्मा ही नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुपलब्ध है, इसलिए तुम्हारा प्रश्न ही अयुक्त है।[2]

वुग्गहे : (१) विग्रह—डंडे आदि से मारपीट करके लड़ाई-झगड़ा करना, (२) व्युद्ग्रह—कदाग्रह—मिथ्या आग्रह।

अणाउत्ते—सोते समय मुर्गी की तरह पैर पसार कर सिकोड़ लेने का आगम में विधान है। इसीलिए यहाँ कहा गया कि जो संस्तारक पर सोते समय ऐसी सावधानी नहीं रखता, वह अनायुक्त है।[3]

तप-आचार में प्रमादी : पापश्रमण

१५. दुद्ध-दहीविगईओ, आहारेइ अभिक्खणं।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[१५] जो दूध, दही आदि विकृतियों (विगई) का बार-बार सेवन करता है, जिसकी तप-क्रिया में रुचि नहीं है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१६. अत्थन्तम्मि य सूरम्मि, आहारेइ अभिक्खणं।
चोइओ पडिचोएइ, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[१६] जो सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक बार-बार आहार करता रहता है, जो समझाने (प्रेरणा देने) वाले शिक्षक गुरु को उलटे उपदेश देने लगता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

विवेचन—विगईओ : व्याख्या—दूध, दही, घी, तेल, गुड़ (चीनी आदि मीठी वस्तुएँ) और

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३४
२. वही, पत्र ४३५
३. वही, पत्र ४३५

नवनीत, ये पांच विगइ (विकृतियाँ) कहलाती हैं। इनका बार-बार या अतिमात्रा में बिना किसी पुष्टावलम्बन (कारण) के सेवन विकार बढ़ाता है। इसलिए इन्हें विकृति कहा जाता है।[1]

चोइओ पडिचोएइ : व्याख्या—प्रेरणा करने वाले को ही उपदेश झाड़ने लगता है। जैसे किसी गीतार्थ साधु ने दिन भर आहार करते रहने वाले साधु से कहा—'भाई! क्या तुम दिन भर आहार ही करते रहोगे? मनुष्यजन्म, धर्मश्रवण आदि उत्तम संयोग प्राप्त करके तपस्या में उद्यम करना उचित है।' इस प्रकार प्रेरित करने पर वह उलटा सामने बोलने लगता है—आप दूसरों को उपदेश देने में ही कुशल हैं, स्वयं आचरण करने में नहीं। अन्यथा, जानते हुए भी आप लम्बी तपस्या क्यों नहीं करते हैं?[2]

वीर्याचार में प्रमादी : पापश्रमण

१७. आयरियपरिच्चाई, परपासण्डसेवए।
गाणंगणिए दुब्भूए, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[१७] जो अपने आचार्य का परित्याग करके अन्य पाषण्ड—(मतपरम्परा) को स्वीकार करता है, जो एक गण को छोड़कर दूसरे गण में चला जाता है, वह दुर्भूत (निन्दित) पापश्रमण कहलाता है।

१८. सयं गेहं परिचज्ज, परगेहंसि वावडे।
निमित्तेण य ववहरई, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[१८] जो अपने घर (साधु-संघ) को छोड़कर पर-घर (गृहस्थी के धन्धों) में व्यापृत होता (लग जाता) है, जो शुभाशुभ निमित्त बतला कर व्यवहार चलाता—द्रव्योपार्जन करता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

१९. सन्नाइपिण्डं जेमेइ, नेच्छई सामुदाणियं।
गिहिनिसेज्जं च वाहेइ, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

[१९] जो अपने ज्ञातिजनों—पूर्वपरिचित स्वजनों से ही आहार लेता है, सभी घरों से सामुदानिक भिक्षा लेना नहीं चाहता तथा गृहस्थ की निषद्या (बैठने की गद्दी) पर बैठता है, वह पापश्रमण कहलाता है।

२०. एयारिसे पंचकुसीलसंवुडे, रूवंधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे।
अयंसि लोए विसमेव गरहिए, न से इहं नेव परत्थ लोए॥

[२०] जो इस प्रकार का आचरण करता है, वह पांच कुशील भिक्षुओं के समान असंवृत है, वह केवल मुनिवेष का ही धारक है, वह श्रेष्ठ मुनियों में निकृष्ट है, वह इस लोक में विष की तरह निन्द्य है। न वह इस लोक का रहता है, न परलोक का।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३५
२. वही, पत्र ४३५

विवेचन—आयरियपरिच्चाई—आचार्यपरित्यागी—आचार्य का परित्याग कर देने वाला। तपक्रिया में असमर्थता अनुभव करने वाले साधु को आचार्य तपस्या में उद्यम करने की प्रेरणा देते हैं तथा लाया हुआ आहार भी ग्लान, बालक आदि साधुओं को देते हैं, इस कारण या ऐसे ही किसी अन्य कारणवश जो आचार्य को छोड़ देता है और सुख-सुविधा वाले अन्य पासण्ड मत—पंथ का आश्रय ले लेता है।[1]

गाणंगणिए—गाणंगणिक—जो मुनि स्वेच्छा से गुरु या आचार्य की आज्ञा के विना, अध्ययन आदि किसी प्रयोजन के विना ही छह मास की अल्प अवधि में ही एक गण से दूसरे गण में चला जाता है, वह गाणंगणिक कहलाता है। भ. महावीर की संघव्यवस्था में यह नियम था कि जो साधु जिस गण में दीक्षित हो, उसी में जीवन भर रहे। हाँ, अध्ययनादि किसी विशेष कारणवश गुरु-आज्ञा से वह अन्य साधर्मिक गणों में जा सकता है। परन्तु गणान्तर में जाने के वाद कम-से-कम ६ महीने तक तो उसे उसी गण में रहना चाहिए।[2]

परगेहंसि वावडे : दो अर्थ—(१) चूर्णि के अनुसार परगृह में व्यापृत होता है का अर्थ है—निमित्तादि वता कर निर्वाह करना। (२) बृहद्वृत्ति के अनुसार—स्वगृह—स्वप्रव्रज्या को छोड़कर जो परगृह में व्याप्त होता है—अर्थात्—जो रसलोलुप आहारार्थी होकर गृहस्थों को आप्तभाव दिखाकर उनका काम स्वयं करने लग जाता है।[3]

संनाइपिंडं जेमेइ—स्वज्ञातिजन अर्थात्—स्वजन यथेष्ट स्निग्ध, मधुर एवं स्वादिष्ट आहार देते हैं, इसलिए जो स्वज्ञातिपिण्ड खाता है।

सामुदाणियं—ऊँच-नीच आदि सभी कुलों से भिक्षा लेना सामुदानिक है। बृहद्वृत्ति के अनुसार—(१) अनेक घरों से लाई हुई भिक्षा तथा (२) अज्ञात ऊंछ—अपरिचित घरों से लाई हुई भिक्षा।[4]

दुब्भूए : तात्पर्य—दुराचार के कारणभूत—निन्दित दुर्भूत कहलाता है।

सुविहित श्रमण द्वारा उभयलोकाराधना

२१. जे वज्जए एए सया उ दोसे से सुव्वए होइ मुणीण मज्झे।
अयंसि लोए अमयं व पूइए आराहए लोगमिणं तहावरं॥
—त्ति बेमि

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३५
२. (क) वही, पत्र ४३५-४३६
(ख) "छम्मासब्भंतरतो गणा गणं संकमं करेमाणो।" —दशाश्रुत.
(ग) स्थानांग. ७।५४१
३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४३६ (ख) चूर्णि, पृ. २४६-२४७
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३६

[२१] जो साधु इन दोषों का सदा त्याग करता है, वह मुनियों में सुव्रत होता है, वह इस लोक में अमृत के समान पूजा जाता है। अतः वह इस लोक और परलोक, दोनों लोकों की आराधना करता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—सुव्वए—अर्थ—निरतिचारता के कारण प्रशस्यव्रत।[1]

।। पापश्रमणीय : सत्रहवाँ अध्ययन समाप्त ।।

---

१. वृहद्वृत्ति, पत्र ४३६

अठारहवाँ अध्ययन : संजयीय

अध्ययन-सार

* उत्तराध्ययन सूत्र का अठारहवाँ अध्ययन (१) संजयीय अथवा (२) संयतीय है। यह नाम संजय (राजर्षि) अथवा संयति (राजर्षि) के नाम पर से पड़ा है।

* इस अध्ययन के पूर्वार्द्ध में १८ गाथाओं तक संजय (या संयति) राजा के शिकारी से पंच महाव्रतधारी निर्ग्रन्थमुनि के रूप में परिवर्तन की कथा अंकित है। काम्पिल्यनगर का राजा संजय अपनी चतुरंगिणी सेना सहित शिकार लिए वन में चला। सेना ने जंगल के हिरणों को केसर उद्यान की ओर खदेड़ा। फिर घोड़े पर चढ़े हुए राजा ने उन हिरणों को बाणों से बींधना शुरू किया। कई घायल होकर गिर पड़े, कई मर गए। राजा लगातार उनका पीछा कर रहा था। कुछ दूर जाने पर राजा ने मरे हुए हिरणों के पास ही लतामण्डप में ध्यानस्थ मुनि को देखा। वह भयभीत हुआ कि हो न हो, ये हिरण मुनि के थे, जिन्हें मैंने मार डाला। मुनि क्रुद्ध हो गए तो क्षणभर में मुझे ही नहीं, लाखों व्यक्तियों को भस्म कर सकते हैं। अतः भयभीत होकर अत्यन्त विनय-भक्तिपूर्वक मुनि से अपराध के लिए क्षमा मांगी। मुनि ने ध्यान खोला और राजा को आश्वस्त करते हुए कहा—राजन्! मेरी ओर से तुम्हें कोई भय नहीं है, परन्तु तुम भी इन निर्दोष प्राणियों के अभयदाता बनो। फिर तुम जिनके लिए ये और ऐसे घोर कुकृत्य कर रहे हो, उनके दुष्परिणाम भोगते समय कोई भी तुम्हें बचा न सकेगा, न ही शरण देगा। इसके पश्चात् शरीर, यौवन, धन, परिवार एवं संसार की अनित्यता का उपदेश गर्दभालि आचार्य ने दिया, जिसे सुन कर संजय राजा को विरक्ति हो गई। उसने सर्वस्व त्याग कर जिन-शासन की प्रव्रज्या ले ली।

* इसके उत्तरार्द्ध में, जब कि संजय मुनि गीतार्थ, कठोर श्रमणाचारपालक और एकलविहार-प्रतिमाधारक हो गए थे, तब एक क्षत्रिय राजर्षि ने उनके ज्ञान, दर्शन और चारित्र की थाह लेने के लिए उनसे कुछ प्रश्न पूछे। तत्पश्चात् क्षत्रियमुनि ने स्वयं स्वानुभवमूलक कई तथ्य एकान्तवादी क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद एवं अज्ञानवाद के विषय में बताए, अपने पूर्व-जन्म की स्मृतियों का वर्णन किया।

* गाथा ३४ से ५१ तक में भगवान् महावीर के जिनशासनसम्मत ज्ञान-क्रियावादसमन्वय रूप सिद्धान्तों पर चल कर जिन्होंने स्वपरकल्याण किया, उन भरत आदि १९ महान् आत्माओं का संक्षेप में प्रतिपादन किया है। इन गाथाओं द्वारा जैन इतिहास की पुरातन कथाओं पर काफी प्रकाश डाला गया है।

* अन्तिम तीन गाथाओं द्वारा क्षत्रियमुनि ने अनेकान्तवादी जिनशासन को स्वीकार करने की प्रेरणा दी है तथा उसके सुपरिणाम के विषय में प्रतिपादन किया गया है।

□□

अट्ठारसमं अज्झयणं : अठारहवाँ अध्ययन

संजइज्जं : संजयीय

संजय राजा का शिकार के लिए प्रस्थान एवं मृगवध

१. कम्पिल्ले नयरे राया उदिण्णबल-वाहणे।
नामेणं संजए नाम मिगव्वं उवणिग्गए॥

[१] कांपिल्यनगर में विस्तीर्ण बल (चतुरंग सैन्य) और वाहनों से सुसम्पन्न संजय नाम से प्रसिद्ध राजा था। (वह एक दिवस) मृगया (शिकार) के लिए (नगर से) निकला।

२. हयाणीए गयाणीए रहाणीए तहेव य।
पायत्ताणीए महया सव्वओ परिवारिए॥

[२] वह (राजा) सब ओर से बड़ी संख्या में अश्वसेना, गजसेना, रथसेना तथा पदाति (पैदल) सेना से परिवृत था।

३. मिए छुभित्ता हयगओ कम्पिल्लुज्जाणकेसरे।
भीए सन्ते मिए तत्थ वहेइ रसमुच्छिए॥

[३] वह अश्व पर आरूढ़ था। काम्पिल्यनगर के केसर नामक उद्यान (वगीचे) की ओर (सैनिकों द्वारा) उनमें से धकेले गए अत्यन्त भयभीत और श्रान्त कतिपय मृगों को वह रसमूर्च्छित होकर मार रहा था।

विवेचन—बलवाहणे : दो अर्थ—(१) बल—चतुरंगिणी सेना (हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सेना), **वाहन**—गाड़ी, शिविका, यान आदि। (२) बल—शरीरसामर्थ्य, वाहन—हाथी, घोड़े आदि तथा उपलक्षण से पदाति।[1]

मिए तत्थ : व्याख्या—उन मृगों में से कुछ (परिमित) मृगों को।

रसमुच्छिए : तात्पर्य—मांस के स्वाद में मूर्च्छित—आसक्त।

हयाणीए : अर्थ—हय—अश्वों की, अनीक—सेना से।

वहेइ : दो अर्थ—(१) व्यथित (परेशान) कर रहा था, (२) मार रहा था।[2]

ध्यानस्थ अनगार के समीप राजा द्वारा मृगवध

४. अह केसरम्मि उज्जाणे अणगारे तवोधणे।
सज्झाय-ज्झाणसंजुत्ते धम्मज्झाणं झियायई॥

---

१. (क) उत्तराध्ययनसूत्र बृहद्वृत्ति, पत्रांक ४३८ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. १०९

२. उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३८

[४] इधर उस केसर उद्यान में एक तपोधन अनगार स्वाध्याय और ध्यान में संलग्न थे। वे धर्मध्यान में एकतान हो रहे थे।

५. अप्फोवमण्डवम्मि झायई झवियासवे।
तस्सागए मिए पासं वहेई से नराहिवे॥

[५] आश्रव का क्षय करने वाले मुनि अप्फोव-(लता) मण्डप में ध्यान कर रहे थे। उनके समीप आए हुए मृगों को उस नरेश ने (बाणों से) बींध दिया।

विवेचन—अणगारे तवोधणे : आशय—यहाँ तपोधन अनगार का नाम निर्युक्तिकार ने 'गद्दभालि' (गर्दभालि) बताया है।[१]

सज्झायज्झाणसंजुत्ते—स्वाध्याय से अभिप्राय है—अनुप्रेक्षणादि और ध्यान से अभिप्राय है—धर्मध्यान आदि शुभ ध्यान में संलीन।

झवियासवे—जिन्होंने हिंसा आदि आश्रवों अर्थात् कर्म-बन्ध के हेतुओं को निर्मूल कर दिया था।

अप्फोवमंडवे—यह देशीय शब्द है, वृद्ध व्याख्याकारों ने इसका अर्थ किया है—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता आदि से आच्छादित मण्डप।

वहेइ : दो अर्थ—(१) बींध दिया, (२) वध कर दिया।[२]

मुनि को देखते ही राजा द्वारा पश्चात्ताप और क्षमायाचना

६. अह आसगओ राया खिप्पमागम्म सो तहिं।
हए मिए उ पासित्ता अणगारं तत्थ पासई॥

[६] तदनन्तर वह अश्वारूढ राजा शीघ्र ही वहाँ आया, (जहाँ मुनि ध्यानस्थ थे।) मृत हिरणों को देख कर उसने वहाँ एक ओर अनगार को भी देखा।

७. अह राया तत्थ संभन्तो अणगारो मणाऽऽहओ।
मए उ मन्दपुण्णेणं रसगिद्धेण घन्तुणा॥

[७] वहाँ मुनिराज को देखने पर राजा सम्भ्रान्त (भयत्रस्त) हो उठा। उसने सोचा—मुझ मन्दपुण्य (भाग्यहीन), रसासक्त एवं हिंसापरायण (घातक) ने व्यर्थ ही अणगार को आहत किया, पीड़ा पहुँचाई है।

८. आसं विसज्जइत्ताणं अणगारस्स सो निवो।
विणएण वन्दए पाए भगवं! एत्थ मे खमे॥

[८] उस नृप ने अश्व को (वहीं) छोड़ कर मुनि के चरणों में सविनय वन्दन किया और कहा—'भगवन्! इस अपराध के लिए मुझे क्षमा करें।'

---

१. उत्तरा. निर्युक्ति, गाथा ३९७
२. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ४३८

विवेचन—तहिं : आशय—उस मण्डप में, जहाँ वे मुनि ध्यान कर रहे थे ।

मणाऽऽहओ—उनके निकट में ही हिरणों को मार कर व्यर्थ ही मैंने मुनि के हृदय को चोट पहुँचाई है ।[1]

मुनि के मौन से राजा की भयाकुलता

९. अह मोणेण सो भगवं अणगारे झाणमस्सिए ।
रायाणं न पडिमन्तेइ तओ राया भयद्दुओ ॥

[९] उस समय वे अनगार भगवान् मौनपूर्वक ध्यान (धर्मध्यान) में मग्न थे । (अत:) उन्होंने राजा को कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया । इस कारण राजा भय से और अधिक त्रस्त हो गया ।

१०. संजओ अहमस्सीति भगवं ! वाहराहि मे ।
कुद्धे तेएण अणगारे डहेज्ज नरकोडिओ ॥

[१०] (राजा ने कहा)—भगवन् ! मैं 'संजय' हूँ । आप मुझ से वार्तालाप करें, बोलें; (क्योंकि) क्रुद्ध अनगार अपने तेज से करोड़ों मनुष्यों को भस्म कर सकता है ।

विवेचन—न पडिमंतेइ—प्रत्युत्तर नहीं दिया (अत: राजा ने सोचा—'मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ, या नहीं' ऐसा मुनि ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया । इससे मालूम होता है कि ये अवश्य ही क्रुद्ध हो गये हैं, इसी कारण ये मुझ से कुछ भी नहीं बोलते) ।

भयद्दुओ—मुनि के मौन रहने के कारण राजा अत्यन्त भयत्रस्त हो गया कि न जाने ये ऋषि कुपित होकर क्या करेंगे ?

संजओ अहमस्सीति—भयभीत राजा ने नम्रतापूर्वक अपना परिचय दिया—'मैं 'संजय' नामक राजा हूँ ।' यह इस आशय से कि कहीं मुझे ये नीच समझ कर कोप करके भस्म न कर दें ।

कुद्धे तेएण०—राजा बोला—'मैं इसलिए भयत्रस्त हूँ कि आप मुझ से बात नहीं कर रहे हैं । मैंने सुना है कि तपोधन अनगार कुपित हो जाएँ तो अपने तेज (तपोमाहात्म्यजनित तेजोलेश्यादि) से सैकड़ों, हजारों ही नहीं, करोड़ों मनुष्यों को भस्म कर सकते हैं ।'[2]

मुनि के द्वारा अभयदान, अनासक्ति एवं अनित्यता आदि का उपदेश

११. अभओ पत्थिवा ! तुब्भं अभयदाया भवाहि य ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि किं हिंसाए पसज्जसि ?

[११] मुनि ने कहा—हे पृथ्वीपाल ! तुझे अभय है । किन्तु तू भी अभयदाता बन । इस अनित्य जीवलोक में तू क्यों हिंसा में रचा-पचा है ?

१२. जया सव्वं परिच्चज्ज गन्तव्वमवसस्स ते ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि किं रज्जम्मि पसज्जसि ?

---

१. उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३९

२. उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ४३९

[१२] जब कि तुझे सब कुछ छोड़ कर अवश्य ही विवश होकर (परलोक में) चले जाना है, तब इस अनित्य जीवलोक में तू राज्य में क्यों आसक्त हो रहा है ?

१३. जीवियं चेव रूवं च विज्जुसंपाय-चंचलं ।
जत्थ तं मुज्झसी रायं ! पेच्चत्थं नावबुज्झसे ॥

[१३] राजन ! तू जिस पर मोहित हो रहा है, वह जीवन और रूप विद्युत् की चमक के समान चंचल है । तू अपने परलोक के हित (अर्थ) को नहीं जान रहा है ।

१४. दाराणि य सुया चेव मित्ता य तह बन्धवा ।
जीवन्तमणुजीवन्ति मयं नाणुव्वयन्ति य ॥

[१४] (इस स्वार्थी संसार में) स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र तथा बन्धुजन, (ये सब) जीवित व्यक्ति के साथी हैं, मृत व्यक्ति के साथ कोई नहीं जाता ।

१५. नीहरन्ति मयं पुत्ता पियरं परमदुक्खिया ।
पियरो वि तहा पुत्ते बन्धू रायं ! तवं चरे ॥

[१५] अत्यन्त दुःखित होकर पुत्र अपने मृत पिता को (घर से बाहर) निकाल देते हैं । इसी प्रकार (मृत) पुत्रों को पिता और बन्धुओं को (बन्धुजन) भी बाहर निकाल देते हैं । अतः हे राजन् ! तू तपश्चर्या कर ।

१६. तओ तेणऽज्जिए दव्वे दारे य परिरक्खिए ।
कीलन्तऽन्ने नरा रायं ! हट्ठ-तुट्ठ-मलंकिया ॥

[१६] हे भूपाल ! मृत्यु के बाद उस (मृत व्यक्ति) के द्वारा उपार्जित द्रव्य को तथा सुरक्षित नारियों को दूसरे व्यक्ति (प्राप्त करके) आनन्द मनाते हैं; वे हृष्ट-पुष्ट-सन्तुष्ट और विभूषित (वस्त्राभूषणों से सुसज्जित) होकर रहते हैं ।

१७. तेणावि जं कयं कम्मं सुहं वा जइ वा दुहं ।
कम्मुणा तेण संजुत्तो गच्छई उ परं भवं ॥

[१७] उस मृत व्यक्ति ने (पहले) जो भी सुखहेतुक (शुभ) कर्म या दुःखहेतुक (अशुभ) कर्म किया है, (तदनुसार) वह उस कर्म से युक्त होकर परभव (परलोक) में (अकेला ही) जाता है ।

विवेचन—अभओ पत्थिवा ! तुज्झ—मुनि ने भयाकुल राजा को आश्वासन देते हुए कहा—हे राजन् ! मेरी ओर से तुम्हें कोई भय नहीं है ।

विज्जुसंपाय चंचलं : अर्थ—बिजली के सम्पात, अर्थात् चमक के समान चपल ।

'अभयदाया भवाहि य' : मुनि ने राजा को आश्वस्त करते हुए कहा—राजन् ! जैसे तुम्हें मृत्यु का भय लगा, वैसे दूसरे प्राणियों को भी मृत्यु का भय है । जैसे मैंने तुझे अभयदान दिया, वैसे तू भी दूसरे प्राणियों का अभयदाता बन ।

अणिच्चे जीवलोगम्मि०—यह समग्र जीवलोक अनित्य है, इस दृष्टि से तुम भी अनित्य हो,

तुम्हारा भी जीवन स्वल्प है। फिर इस स्वल्पकालिक जीवन के लिए क्यों हिंसा आदि पापों का उपार्जन कर रहे हो ? इसी प्रकार यह जीवन और सौन्दर्य आदि सब चंचल हैं तथा मृत्यु के अधीन बनकर एक दिन तुम्हें राज्य, धन, कोश आदि सब छोड़कर जाना पड़ेगा, फिर इन वस्तुओं के मोह में क्यों मुग्ध हो रहे हो ?

दाराणि य सुया चेव०—जिन स्त्री-पुत्रादि के लिए मनुष्य धन कमाता है, पापकर्म करता है, वे जीते-जी के साथी हैं, मरने के बाद कोई साथ में नहीं जाता। जीव अकेला ही अपने उपार्जित शुभाशुभ कर्मों के साथ परलोक में जाता है। वहाँ कोई भी सगे-सम्बन्धी दुःख भोगने नहीं आते; उसके मरने के बाद उसके द्वारा पापकर्म से या कष्ट से उपार्जित धन आदि का उपभोग दूसरे ही करते हैं, वे उसकी कमाई पर मौज उड़ाते हैं।[1]

निष्कर्ष—मुनि ने राजा को अभयदान देने, राज्यत्याग करने कर्मपरिणामों की निश्चितता एवं परलोकहित को सोचने तथा अनित्य जीवन, यौवन, बन्धु-बान्धव आदि के प्रति आसक्ति के त्याग का उपदेश दिया।

विरक्त संजय राजा जिनशासन में प्रव्रजित

१८. सोऊण तस्स सो धम्मं अणगारस्स अन्तिए।
महया संवेगनिव्वेयं समावन्नो नराहिवो॥

[१८] उन गर्दभालि अनगार (के पास) से महान् (श्रुत-चारित्ररूप) धर्म (का उपदेश) श्रवण कर वह संजय नराधिप महान् संवेग और निर्वेद को प्राप्त हुआ।

१९. संजओ चइउं रज्जं निक्खन्तो जिणसासणे।
गद्दभालिस्स भगवओ अणगारस्स अन्तिए॥

[१९] राज्य का परित्याग करके वह संजय राजा भगवान् गर्दभालि अनगार के पास जिन-शासन में प्रव्रजित हो गया।

विवेचन—महया : दो अर्थ—(१) महान् संवेग और निर्वेद, अथवा (२) महान् आदर के साथ।

संवेग और निर्वेद—संवेग का अर्थ है—मोक्ष की अभिलाषा और निर्वेद का अर्थ है—संसार से उद्विग्नता—विरक्ति।

रज्जं—राज्य को।[2]

क्षत्रियमुनि द्वारा संजयराजर्षि से प्रश्न

२०. चिच्चा रट्ठं पव्वइए खत्तिए परिभासइ।
जहा ते दीसई रूवं पसन्नं ते तहा मणो॥

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र बृहद्वृत्ति, पत्र ४४०, ४४१
२. उत्तराध्ययन, बृहद्वृत्ति, पत्र ४४१

[२०] जिसने राष्ट्र का परित्याग करके दीक्षा ग्रहण कर ली, उस क्षत्रिय (मुनि) ने (एक दिन) संजय राजर्षि से कहा—'(मुने !) जैसे आपका यह रूप (बाह्य आकार) प्रसन्न (निर्विकार) दिखाई दे रहा है, वैसे ही आपका मन (अन्तर) भी प्रसन्न दीख रहा है।'

> २१. किंनामे ? किंगोत्ते ? कस्सट्ठाए व माहणे ?
> कहं पडियरसी बुद्धे ? कहं विणीए त्ति वुच्चसि ?

[२१] (क्षत्रियमुनि)—'आपका क्या नाम है ? आपका गोत्र कौन-सा है ? आप किस प्रयोजन से माहन बने हैं ? तथा बुद्धों—आचार्यों की किस प्रकार से सेवा (परिचर्या) करते हैं ? एवं आप विनयशील क्यों कहलाते हैं ?'

विवेचन—खत्तिए परिभासइ : तात्पर्य—किसी क्षत्रिय ने दीक्षा धारण कर ली। वह भी राजर्षि था। पूर्वजन्म में वह वैमानिक देव था। वहाँ से च्यवन करके उसने क्षत्रियकुल में जन्म लिया था। किसी निमित्त से उसे पूर्वजन्म की स्मृति हो गई, जिससे संसार से विरक्त होकर उसने प्रव्रज्या धारण कर ली थी। उस मुनि का नाम न लेकर शास्त्रकार क्षत्रियकुल में उसका जन्म होने से क्षत्रिय नाम से उल्लेख करते हैं कि क्षत्रिय ने संजय राजर्षि से सम्भाषण किया।[1]

संजय राजर्षि से क्षत्रिय के प्रश्न : कब और कैसी स्थिति में ?—जब संजय राजर्षि दीक्षा धारण करके कुछ ही वर्षों में गीतार्थ हो गए थे और निर्ग्रन्थमुनि-समाचारी का सावधानीपूर्वक पालन करते हुए गुरु की आज्ञा से एकाकी विहार करने लग गए थे। वे विहार करते हुए एक नगर में पधारे। वहीं इन अप्रतिबद्धविहारी क्षत्रियमुनि ने उनसे भेंट की और परिचय प्राप्त करने के लिए उक्त प्रश्न किये।

पांच प्रश्न : आशय—क्षत्रियमुनि के पांच प्रश्न थे—आपका नाम व गोत्र क्या है ? आप किसलिए मुनि बने हैं ? आप एकाकी विचरण कर रहे हैं, ऐसी स्थिति में आचार्यों की परिचर्या कैसे और कब करते हैं ? तथा आचार्य के सान्निध्य में न रहने के कारण विनीत कैसे कहलाते हैं ?[2]

माहणे—'माहन' शब्द का व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ है—जिसका मन, वचन और क्रिया हिंसा-निवृत्ति-(मत मारो इत्यादि) रूप है, वह माहन है। उपलक्षण से हिंसादि सर्वपापों से विरत मुनि ही यहाँ माहन शब्द से गृहीत है।[3]

राष्ट्र शब्द की परिभाषा—यहाँ 'राष्ट्र' ग्राम, नगर आदि का समुदाय या मण्डल है। एक

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४४२
   (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. १२५
२. (क) "स चैवं गृहीतप्रव्रज्योऽधिगतहेयोपादेयविभागो दशविधचक्रवालसामाचारीरतश्चानियतविहारितया विहरन् तथाविधसन्निवेशमाजगाम।" —उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४२
   (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. १२५
३. (क) माहणेत्ति मा वधीत्येवंरूपं मनो वाक् क्रिया यस्याऽसौ माहनः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४४२
   (ख) मा हन्ति कमपि प्राणिनं मनोवाक्कायैर्यः स माहनः—प्रव्रजितः। —उत्तरा. प्रिय., भा. ३, पृ. १२६

जनपद या प्रान्त को ही प्राचीनकाल में राष्ट्र कहा जाता था। एक ही राज्य में अनेक राष्ट्र होते थे। वर्तमान में राष्ट्र शब्द का अर्थ है—अनेक राज्यों (प्रान्तों) का समुदाय।[1]

पसन्नं ते तहा० : निष्कर्ष—अन्तःकरण कलुषित हो तो वाह्य आकृति अकलुपित (प्रसन्न-निर्विकार) नहीं हो सकती। इसीलिए संजय राजर्षि की वाह्य आकृति पर से क्षत्रियमुनि ने उनके अन्तर की निर्विकारता का अनुमान किया था।[2]

संजय राजर्षि द्वारा परिचयात्मक उत्तर

२२. संजओ नाम नामेणं तहा गोत्तेण गोयमो।
गद्दभाली ममायरिया विज्जाचरणपारगा॥

[२२] (संजय राजर्षि)—मेरा नाम संजय है। मेरा गोत्र गौतम है। विद्या (श्रुत) और चरण (चारित्र) में पारंगत 'गर्दभालि' मेरे आचार्य हैं।

विवेचन—तीन प्रश्नों का एक ही उत्तर में समावेश—पूर्वोक्त गाथा (सं. २१) में क्षत्रियमुनि द्वारा पांच प्रश्न पूछे गए हैं, किन्तु संजय राजर्षि ने प्रथम दो प्रश्नों का तो स्पष्ट उत्तर दिया है, किन्तु पिछले तीन प्रश्नों का एक ही उत्तर दिया है कि मेरे आचार्य (गुरु) गर्दभालि हैं, जो श्रुत-चारित्र में पारंगत हैं। संजय राजर्षि का आशय यह है कि गर्दभालि आचार्य के उपदेश से मैं प्राणातिपात आदि का सर्वथा त्याग करके मुनि वना हूँ, उनसे मैंने ग्रहण (शास्त्राध्ययन) और आसेवन दोनों प्रकार की शिक्षाएँ ग्रहण की हैं, श्रुत और चारित्र में पारंगत मेरे आचार्य ने इनका मुक्तिरूप फल वताया है, इसलिए मैं मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से ही माहन (मुनि) वना हूँ। आचार्यश्री का जैसा मेरे लिए उपदेश-आदेश है, तदनुसार चलता हूँ, यही उनकी सेवा है और उन्हीं के कथनानुसार मैं समस्त मुनिचर्या करता हूँ, यही मेरी विनीतता है।[3]

विज्जाचरण० : अर्थ—विद्या का अर्थ यहाँ श्रुतज्ञान है तथा चरण का अर्थ चारित्र है।

निष्कर्ष—'माहन' पद से पंच महाव्रत रूप मूल गुणों की आराधकता, आचार्यसेवा से गुरुसेवा में परायणता एवं आचार्याज्ञा-पालन से तथा आचार्य के उपदेशानुसार ग्रहणशिक्षा एवं आसेवन-शिक्षा में प्रवृत्ति करने से उत्तरगुणों की आराधकता उनमें प्रकट की गई है।[4]

क्षत्रियमुनि द्वारा क्रियावादी आदि के विषय में चर्चा-विचारणा

२३. किरियं अकिरियं विणयं अन्नाणं च महामुणी!
एएहिं चउहिं ठाणेहिं मेयन्ने किं पभासई॥

[२३] (क्षत्रियमुनि)—महामुनिवर! क्रिया, अक्रिया, विनय और अज्ञान, इन चार स्थानों के द्वारा (कई एकान्तवादी) मेयज्ञ (तत्त्वज्ञ) असत्य (कुत्सित) प्ररूपणा करते हैं।

१. (क) वृहद्वृत्ति, पत्र ४११, ४४२—राष्ट्रं—ग्रामनगरादिसमुदायम्, 'मण्डलम्'।
(ख) 'राज्यं राष्ट्रादिसमुदायात्मकम्, राष्ट्रं च जनपदं च। —राजप्रश्नीय. वृत्ति, पृ. २७६
२. वृहद्वृत्ति, पत्र ४४२
३. (क) वृहद्वृत्ति, पत्र ४४२ (ख) प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. १२७
४. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. १२८

२४. इइ पाउकरे बुद्धे नायए परिनिव्वुडे ।
विज्जाचरणसंपन्ने सच्चे सच्चपरक्कमे ।।

[२४] (हमने अपने मन से नहीं;) बुद्ध—तत्त्ववेत्ता, परिनिर्वृत्त—उपशान्त, विद्या और चरण से सम्पन्न, सत्यवाक् और सत्यपराक्रमी ज्ञातवंशीय भगवान् महावीर ने (भी) ऐसा प्रकट किया है ।

२५. पडन्ति नरए घोरे जे नरा पावकारिणो ।
दिव्वं च गइं गच्छन्ति चरित्ता धम्ममारियं ।।

[२५] जो (एकान्त क्रियावादी आदि असत्प्ररूपक) व्यक्ति पाप करते हैं, वे घोर नरक में जाते हैं । जो मनुष्य आर्य धर्म का आचरण करते हैं, वे दिव्य गति को प्राप्त करते हैं ।

२६. मायावुइयमेयं तु मुसाभासा निरत्थिया ।
संजममाणो वि अहं वसामि इरियामि य ।।

[२६] (क्रियावादी आदि एकान्तवादियों का) यह सब कथन मायापूर्वक है, (अतः) वह मिथ्यावचन है, निरर्थक है । मैं उन मायापूर्ण एकान्तवचनों से बच कर रहता और चलता हूँ ।

२७. सव्वे ते विइया मज्झं मिच्छादिट्ठी अणारिया ।
विज्जमाणे परे लोए सम्मं जाणामि अप्पगं ।।

[२७] वे सब मेरे जाने हुए हैं, जो मिथ्यादृष्टि और अनार्य हैं । मैं परलोक के अस्तित्व से अपने (आत्मा) को भलीभांति जानता हूँ ।

विवेचन—चार वादों का निरूपण—प्रस्तुत (सं. २३) गाथा में भगवान् महावीर के समकालीन एकान्तवादियों के द्वारा अभिमत चार वादों का उल्लेख है । सूत्रकृतांगसूत्र में इन चारों के ३६३ भेद बताए गए हैं । यथा—क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, वैनयिकों के ३२ और अज्ञानवादियों के ६७ भेद हैं ।

(१) **क्रियावाद**—क्रियावादी आत्मा के अस्तित्व को मानते हुए भी, वह व्यापक है अथवा अव्यापक, कर्त्ता है या अकर्त्ता, मूर्त्त है या अमूर्त्त ?; इस विषय में विप्रपन्न हैं, अर्थात्—संशयग्रस्त हैं ।

(२) **अक्रियावाद**—अक्रियावादी वे हैं, जो आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते । वे आत्मा और शरीर को एक मानते हैं । अस्तित्व मानने पर शरीर के साथ एकत्व है या अन्यत्व है, इस विषय में वे अवक्तव्य रहना चाहते हैं । एकत्व मानने पर शरीर की अविनष्ट स्थिति में कभी मरण का प्रसंग नहीं आएगा, अन्यत्व मानने पर शरीर को छेद आदि करने पर वेदना के अभाव का प्रसंग आ जाएगा, इसलिए अवक्तव्य है । कई अक्रियावादी उत्पत्ति के अनन्तर ही आत्मा का प्रलय मानते हैं ।

(३) **विनयवाद**—विनयवादी विनय से ही मुक्ति मानते हैं । विनयवादियों का मानना है कि सुर, असुर, नृप, तपस्वी, हाथी, घोड़ा, मृग, गाय, भैंस, कुत्ता, सियार, जलचर, कबूतर, चिड़िया आदि को नमस्कार करने से क्लेशनाश होता है, विनय से श्रेय होता है, अन्यथा नहीं । किन्तु ऐसे विनय से न तो कोई पारलौकिक हेतु सिद्ध होता है, न इहलौकिक । लौकिक लोकोत्तर जगत् में गुणों

में अधिक ही विनय के योग्य पात्र माना जाता है। गुण ज्ञान, ध्यान के अनुष्ठान रूप होते हैं। देव-दानव आदि में अज्ञान, आश्रव से अविरति आदि दोष होने से वे गुणाधिक कैसे माने जा सकते हैं?

(४) **अज्ञानवाद**—अज्ञानवादी मानते हैं कि अज्ञान ही श्रेयस्कर है। ज्ञान होने से कई जगत् को ब्रह्मादिविवर्त्तरूप, कई प्रकृति-पुरुषात्मक, दूसरे द्रव्यादि षड् भेद रूप, कई चार आर्यसत्यरूप, कई विज्ञानमय, कई शून्य रूप, यों विभिन्न मतपन्थ है, फिर आत्मा को कोई नित्य कहता है, कोई अनित्य, यों अनेक रूप से बताते हैं, अतः इनके जानने से क्या प्रयोजन है? मोक्ष के प्रति ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है। केवल कष्ट रूप तपश्चरण करना पड़ता है। घोर तप, व्रत आदि से ही मोक्ष प्राप्त होता है। अतः ज्ञान अकिञ्चित्कर है।

जैनदर्शन क्रियावादी है, पर वह एकान्तवादी नहीं है, इसलिए सम्यक्वाद है। क्षत्रिय-महर्षि के कहने का आशय यह है कि मैं क्रियावादी हूँ, परन्तु आत्मा को कथञ्चित् (द्रव्यदृष्टि से) नित्य और कथञ्चित् (पर्यायदृष्टि से) अनित्य मानता हूँ। इसीलिए कहा है—'मैं परलोकगत अपने आत्मा को भलीभांति जानता हूँ।'[1]

परलोक के अस्तित्व का प्रमाण : अपने अनुभव से

२८. अहमासी महापाणे जुइमं वरिससओवमे।
जा सा पाली महापाली दिव्वा वरिससओवमा॥

[२८] मैं (पहले) महाप्राण नामक विमान में वर्षशतोपम आयु वाला द्युतिमान् देव था। मनुष्यों की सौ वर्ष की पूर्ण आयु के समान (देवलोक की) जो दिव्य आयु है, वह पाली (पल्योपम) और महापाली (सागरोपम) की पूर्ण (मानी जाती) है।

२९. से चुए बम्भलोगाओ माणुस्सं भवमागए।
अप्पणो य परेसिं च आउं जाणे जहा तहा॥

[२९] ब्रह्मलोक का आयुष्य पूर्ण करके मैं मनुष्यभव में आया हूँ। मैं जैसे अपनी आयु को जानता हूँ, वैसे ही दूसरों की आयु को भी (यथार्थ रूप से) जानता हूँ।

विवेचन—महापाणे—पांचवें ब्रह्मलोक देवलोक का महाप्राण नामक एक विमान। **वरिस-सओवमे**—जैसे यहाँ इस समय सौ वर्ष की आयु परिपूर्ण मानी जाती है, वैसे मैं (क्षत्रियमुनि) ने वहाँ (देवलोक में) परिपूर्ण सौ वर्ष की दिव्य आयु का भोग किया। जो कि यहाँ के वर्षशत के तुल्य वहाँ की पाली (पल्योपम-प्रमाण) और महापाली (सागरोपम-प्रमाण) आयु पूर्ण मानी जाती है। यह उपमेय काल है। असंख्यात काल का एक पल्य होता है और दस कोटाकोटी पल्यों का एक सागरोपम काल होता है।[2]

क्षत्रियमुनि द्वारा जातिस्मरणरूप अतिशय ज्ञान की अभिव्यक्ति—आशय यह है कि मैं अपना और दूसरे जीवों का आयुष्य यथार्थ रूप से जानता हूँ। अर्थात्—जिसका जिस प्रकार जितना आयुष्य होता है, उसी प्रकार से उतना मैं जानता हूँ।[3]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४३ से ४४५ तक का सारांश।
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४५
३. (क) वही, पत्र ४४६ (ख) उत्तरा. (गुजराती अनुवाद भा. २, भावनगर से प्रकाशित), पृ. २५

क्षत्रियमुनि द्वारा क्रियावाद से सम्बंधित उपदेश

३०. नाणारुइं च छन्दं च परिवज्जेज्ज संजए ।
अणट्ठा जे य सव्वत्था इइ विज्जामणुसंचरे ।।

[३०] नाना प्रकार की रुचि (अर्थात्—क्रियावादी आदि के मत वाली इच्छा) तथा छन्दों (स्वमतिपरिकल्पित विकल्पों) का और सब प्रकार के (हिंसादि) अनर्थक व्यापारों (कार्यों) का संयतात्मा मुनि को सर्वत्र परित्याग करना चाहिए। इस प्रकार (सम्यक् तत्त्वज्ञान रूप) विद्या का लक्ष्य करके (तदनुरूप संयमपथ पर) संचरण करे ।

३१. पडिक्कमामि पसिणाणं परमन्तेहिं वा पुणो ।
अहो उट्ठिए अहोरायं इइ विज्जा तवं चरे ।।

[३१] शुभाशभसूचक प्रश्नों से और गृहस्थों (पर)की मंत्रणाओं से मैं निवृत्त (दूर) रहता हूँ । अहो ! अहर्निश धर्म के प्रति उद्यत महात्मा कोई विरला होता है । इस प्रकार जान कर तपश्चरण करो ।

३२. जं च मे पुच्छसी काले सम्मं सुद्धेण चेयसा ।
ताइं पाउकरे बुद्धे तं नाणं जिणसासणे ।।

[३२] जो तुम मुझे सम्यक् शुद्ध चित्त से काल के विषय में पूछ रहे हो, उसे बुद्ध सर्वज्ञ श्री महावीर स्वामी) ने प्रकट किया है । अतः वह ज्ञान जिनशासन में विद्यमान है ।

३३. किरियं च रोयए धीरे अकिरियं परिवज्जए ।
दिट्ठीए दिट्ठिसंपन्ने धम्मं चर सुदुच्चरं ।।

[३३] धीर साधक क्रियावाद में रुचि रखे और अक्रिया (वाद) का त्याग करे । सम्यग्दृष्टि से दृष्टिसम्पन्न होकर तुम दुश्चर धर्म का आचरण करो ।

विवेचन—पडिक्कमामि पसिणाणं परमंतेहिं वा पुणो : क्षत्रियमुनि कहते हैं—मैं शुभाशुभसूचक अंगुष्ठप्रश्न आदि से अथवा अन्य साधिकरणों से दूर रहता हूँ । विशेष रूप से परमंत्रों से अर्थात्—गृहस्थकार्य सम्बन्धी आलोचन रूप मंत्रणाओं से दूर रहता हूँ, क्योंकि वे अतिसावद्य हैं ।[1]

बुद्धे : दो भावार्थ—(१) बुद्ध (सर्वज्ञ महावीर स्वामी) ने प्रकट किया । (२) स्वयं सम्यक्बुद्ध (अविपरीत वोध वाले) चित्त से उसे मैं प्रकट (प्रस्तुत) कर सकता हूँ । कैसे ? इस विषय में क्षत्रियमुनि कहते हैं—जगत् में जो भी यथार्थ वस्तुतत्त्वाववोधरूप ज्ञान प्रचलित है, वह सब जिनशासन में है । अतः मैं जिनशासन में ही स्थित रह कर उसके प्रसाद से बुद्ध—समस्तवस्तुतत्त्वज्ञ हुआ हूँ । तुम भी जिनशासन में स्थित रह कर वस्तुतत्त्वज्ञ (बुद्ध) वन जाओगे; यह आशय है ।[2]

किरियं रोयए : क्रिया अर्थात् जीव के अस्तित्व को मान कर सदनुष्ठान करना क्रियावाद है, उसमें उन-उन भावनाओं से स्वयं अपने में रुचि पैदा करे तथा धीर (मिथ्यादृष्टियों से अक्षोभ्य)

---

१. वृहद्वृत्ति, पत्र ४४६
२. वही, पत्र ४४७

पुरुष अक्रिया अर्थात्—अक्रियावाद, जो मिथ्यादृष्टियों द्वारा परिकल्पित तत्-तदनुष्ठानरूप है, उसका त्याग करे।[1]

भरत चक्रवर्ती भी इसी उपदेश से प्रव्रजित हुए

३४. एयं पुण्णपयं सोच्चा अत्थ—धम्मोवसोहियं।
भरहो वि भारहं वासं चेच्चा कामाइ पव्वए॥

[३४] अर्थ और धर्म से उपशोभित इसी पुण्यपद (पवित्र उपदेश-वचन) को सुन कर भरत चक्रवर्ती भारतवर्ष और काम-भोगों को त्याग कर प्रव्रजित हुए थे।

विवेचन—अत्थ-धम्मोवसोहियं : विशेषार्थ—साधना से जिसे प्राप्त किया जाए, वह अर्थ कहलाता है, प्रसंगवश यहाँ स्वर्ग, मोक्ष आदि अर्थ हैं। इस अर्थ की प्राप्ति में उपायभूत अर्थ श्रुत-चारित्ररूप है, इस अर्थ और धर्म से उपशोभित।[2]

पुण्णपयं : तीन अर्थ—(१) पुण्य अर्थात् पवित्र—निष्कलंक—दूषणरहित, पद अर्थात् जिनोक्त-सूत्र, अथवा (२) पुण्य अर्थात् पुण्य का कारणभूत अथवा (३) पूर्णपद अर्थात्—सम्पूर्णज्ञान।[3]

भरत चक्रवर्ती द्वारा प्रव्रज्या-ग्रहण—भरत चक्रवर्ती प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे। भगवान् के दीक्षित होने के बाद ही उन्हें चक्रवर्तीपद प्राप्त हुआ था। भरतक्षेत्र (भारतवर्ष) के छह खण्डों के वे अधिपति थे। सभी प्रकार के कामसुख एवं वैभव-विलास की सामग्री उन्हें प्राप्त थी। अपने वैभव के अनुरूप वे दान एवं साधर्मिकवात्सल्य भी करते थे। दीन-हीन जनों की रक्षा के लिए प्रतिक्षण तत्पर रहते थे।

एक दिन भरत चक्रवर्ती मालिश, उबटन और स्नान करके सर्ववस्त्रालंकारों से विभूषित होकर अपने शीशमहल में आए। वे दर्पण में अपने शरीर की शोभा का निरीक्षण कर रहे थे। तभी एक अंगूठी अंगुली से निकल कर गिर पड़ी। दर्पण में अंगूठी से रहित अंगुली शोभारहित लगी। चक्रवर्ती ने दूसरी अंगुली से अंगूठी उतारी तो वह भी सुहावनी नहीं लगी। फिर क्रमशः एक-एक अलंकार उतारते हुए अन्त में शरीर से समस्त अलंकार उतार दिये। अब शरीर दर्पण में देखा तो शोभारहित प्रतीत हुआ। इस पर चक्रवर्ती ने चिन्तन किया—अहो! यह शरीर कितना असुन्दर है। इसका अपना सौन्दर्य तो कुछ भी नहीं है। यह शरीर स्नानादि से संस्कारित करके वस्त्राभूषण आदि पहनाने से ही सुन्दर लगता है। ऐसे मलमूत्र से भरे घृणित, अपवित्र और असार देह को सुन्दर मान कर मूढ़ लोग इसमें आसक्त होकर इस शरीर को वस्त्राभूषण आदि से सुशोभित करके, इसका रक्षण करने तथा इसे उत्तम खानपान से पुष्ट बनाने के लिए अनेक प्रकार के पापकर्म करते हैं। वास्तव में वस्त्राभूषणादि या मनोज्ञ खानपान आदि सभी वस्तुएँ इस असुन्दर शरीर के सम्पर्क से अपवित्र और विनष्ट हो जाती हैं। परन्तु मोक्ष के साधनरूप चिन्तामणिसम इस मनुष्यजन्म को पाकर शरीर के लिए पापकर्म करके मनुष्यजन्म को हार जाना ठीक नहीं है। इत्यादि शुभध्यान करते हुए अधिकाधिक

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४७
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४८
३. वही, पत्र ४४८

संवेग को प्राप्त चक्रवर्ती क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हुए। फिर शीघ्र ही चार घातिकर्मों का क्षय करके भावचारित्री बनकर केवलज्ञान प्राप्त किया। ठीक उसी समय विनयावनत होकर शक्रेन्द्र उपस्थित हुआ और हाथ जोड़कर कहा—हे पूज्य! अब आप द्रव्यलिंग अंगीकार करें, जिससे हम दीक्षामहोत्सव तथा केवलज्ञानमहोत्सव करें। यह सुनकर उन्होंने मुनिवेष धारण किया और अपने मस्तक का पंच-मुष्टि लोच किया। फिर बादलों में से सूर्य निकलता है, वैसे ही राजर्षि शीशमहल से निर्लिप्त होकर बाहर निकले। भरत महाराज को मुनिवेष में देखकर १० हजार अन्य राजा भी मुनिधर्म में दीक्षित होकर उनके अनुयायी बन गए। वे कुछ कम एक लाख पूर्व तक केवलीपर्याय में भूमण्डल में भव्यजीवों को सद्धर्मपान कराते हुए विचरण करके अन्त में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।[1]

सगर चक्रवर्ती को संयमसाधना से निर्वाणप्राप्ति

३५. सगरो वि सागरन्तं भरहवासं नराहिवो।
इस्सरियं केवलं हिच्चा दयाए परिनिव्वुडे॥

[३५] सगर नराधिप (चक्रवर्ती) भी सागरपर्यन्त भारतवर्ष एवं परिपूर्ण ऐश्वर्य का त्याग कर दया(—संयम) की साधना से परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

विवेचन—सागरान्तं—तीन दिशाओं में समुद्रपर्यन्त (और उत्तर दिशा में हिमवत्-पर्यन्त।)

केवलं इस्सरियं—केवल अर्थात्—परिपूर्ण या अनन्यसाधारण ऐश्वर्य अर्थात्—आज्ञा और वैभव आदि।

दयाए परिनिव्वुडे—दया का अर्थ यहाँ संयम किया गया है। अर्थात् संयमसाधना से वे परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।[2]

सगर चक्रवर्ती की संयमसाधना—अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवंशीय राजा जितशत्रु और विजया रानी से 'अजित' नामक पुत्र हुआ, जो आगे चलकर द्वितीय तीर्थंकर हुए। जितशत्रु राजा का छोटा भाई सुमित्र युवराज था, उसकी रानी यशोमती से एक पुत्र हुआ, उसका नाम रखा गया—'सगर'। वे आगे चल कर चक्रवर्ती हुए।

दोनों कुमारों के वयस्क होने पर जितशत्रु राजा ने अजित को राजगद्दी पर बिठाया और सगर को युवराज पद दिया। जितशत्रु राजा ने सुमित्र सहित दीक्षा ग्रहण की।

अजित राजा ने कुछ समय तक राज्य का पालन करके धर्मतीर्थप्रवर्त्तन का समय आने, पर सगर को राज्य सौंप कर चारित्र ग्रहण किया, तीर्थ स्थापना की। सगर ने राज्य करते हुए भरत क्षेत्र के छह खण्डों पर विजय प्राप्तकर चक्रवर्ती पद पाया। सगर चक्रवर्ती के ६० हजार पुत्र हुए। उनमें सबसे बड़ा जह्नुकुमार था। उस के विनयादि गुणों से सन्तुष्ट होकर सगरचक्री ने उसे इच्छानुसार मांगने को कहा। इस पर उसने कहा—मेरी इच्छा है कि मैं सब भाइयों के साथ चौदह रत्न एवं सर्वसैन्य साथ में लेकर भूमण्डल में पर्यटन करूं। सगर ने स्वीकृति दी। जह्नुकुमार ने

---

१. (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा. २, पत्र २७
(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. १५१

२. बृहद्वृत्ति, पत्र

प्रस्थान किया। घूमते-घूमते वे सब विशिष्ट शोभासम्पन्न हैम पर्वत पर चढ़े। सहसा विचार आया कि इस पर्वत की रक्षा के लिए इसके चारों ओर खाई खोदना चाहिए। फलतः वे सब दण्डरत्नों से खाई खोदने लगे। खोदते-खोदते विशेष भूमि के नीचे ज्वलनप्रभ नागराज अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा। विनयपूर्वक उसे शान्त किया। परन्तु फिर दूसरी बार उस खाई को गंगा नदी के जल से भरने का उपक्रम किया। नागराज ज्वलनप्रभ इस बार अत्यन्त कुपित हो उठा। उसने दृष्टिविष सर्प भेजे, उन्होंने सभी कुमारों (सागरपुत्रों) को नेत्र की अग्निज्वालाओं से भस्म कर दिया। सेना में हाहाकार मच गया। चिन्तित सेना से एक ब्राह्मण ने चक्रवर्ती पुत्रों के मरण का समाचार सुना तो उसने सगर चक्रवर्ती को विभिन्न युक्तियों से समझाया। पहले तो वे पुत्र शोक से मूर्च्छित होकर गिर पड़े, बाद में स्वस्थ हुए। उन्हें संसार से विरक्ति हो गई। कुछ समय बाद जह्नुकुमार के पुत्र भगीरथ को उन्होंने राज्य सौंपा और स्वयं ने अजितनाथ भगवान् से दीक्षा ग्रहण की। बहुत तपश्चर्या की और *कर्मक्षय करके सिद्ध पद प्राप्त किया।*[1]

चक्रवर्ती मघवा ने प्रव्रज्या अंगीकार की

३६. चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
पव्वज्जमब्भुवगओ मघवं नाम महाजसो॥

[३६] महान् ऋद्धिमान्, महायशस्वी मघवा नामक तीसरे चक्रवर्ती ने भारतवर्ष (षट्खण्ड-व्यापी) का (साम्राज्य) त्याग करके प्रव्रज्या अंगीकार की।

विवेचन—मघवा चक्रवर्ती द्वारा प्रव्रज्या धारण—श्रावस्ती के समुद्रविजय राजा की रानी भद्रा से एक पुत्र हुआ, जिसका नाम 'मघवा' रखा गया। युवावस्था में आने पर समुद्रविजय ने मघवा को राज्य सौंपा। भरतक्षेत्र को साध कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। चिरकाल चक्रवर्ती के वैभव का उपभोग करते हुए एक दिन उन्हें धर्मघोषमुनि का धर्मोपदेश सुनकर संसार से विरक्ति हो गई। विचार किया कि—'संसार के ये सभी रमणीय पदार्थ कर्मबन्ध के हेतु हैं तथा अस्थिर हैं, बिजली की चमक की तरह क्षणविध्वंसी हैं। अतः इन सब रमणीय भोगों का त्याग करके मुझे आत्मकल्याण की साधना करनी चाहिए।' यह विचार करके मघवा चक्रवर्ती ने अपने पुत्र को राज्य सौंप कर प्रव्रज्या ग्रहण की। क्रमशः चारित्र-पालन करके, उग्र तपश्चर्या करके पांच लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके वे सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक में देव बने।[2]

सनत्कुमार चक्रवर्ती द्वारा तपश्चरण

३७. सणंकुमारो मणुस्सिन्दो चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
पुत्तं रज्जे ठवित्ताणं सो वि राया तवं चरे॥

[३७] महान् ऋद्धिसम्पन्न मनुष्येन्द्र सनत्कुमार चक्रवर्ती ने अपने पुत्र को राज्य पर स्थापित करके तप (-चारित्र) का आचरण किया।

---

१ उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. १५३ से १७४ तक का सारांश

२. उत्तरा. प्रियदर्शिनी टीका, भा. ३, पृ. १७७ से १७९

विवेचन—सनत्कुमार चक्रवर्ती की संक्षिप्त जीवनी—कुरुजांगल देशवर्ती हस्तिनापुर नगर के राजा अश्वसेन की रानी सहदेवी की कुक्षि से सनत्कुमार का जन्म हुआ। हस्तिनापुरनिवासी सूर नामक क्षत्रिय का पुत्र महेन्द्रसिंह उसका मित्र था। एक वार अश्वक्रीड़ा करते हुए युवक सनत्कुमार का अश्व विपरीत शिक्षा वाला होने से उसे वहुत दूर ले गया। सव साथी पीछे रह गए। उसकी खोज के लिए महेन्द्रसिंह गया। वहुत खोज करने पर उसका पता लगा। महेन्द्रसिंह ने सनत्कुमार के पराक्रम का सारा वृत्तान्त सुना। दोनों कुमार हस्तिनापुर आए। पिता ने शुभ मुहूर्त्त में सनत्कुमार का राज्याभिषेक किया। उसके मित्र महेन्द्रसिंह को सेनापति वनाया। तत्पश्चात् अश्वसेन और सहदेवी दोनों ने दीक्षा ग्रहण करके मनुष्यजन्म सार्थक किया। कुछ समय वाद सनत्कुमार चक्रवर्ती हो गए। छहों खंडों पर अपनी विजयपताका फहरा दी।

सौधर्मेन्द्र की सभा में ईशानकल्प के किसी देव की उद्दीप्त देहप्रभा देखकर देवों ने पूछा—क्या ऐसी उत्कृष्ट देहप्रभा वाला और भी कोई है? इन्द्र ने हस्तिनापुर में कुरुवंशी सनत्कुमार चक्रवर्ती को सौन्दर्य में अद्वितीय वताया। इस पर विजय, वैजयन्त नामक दो देवों ने इन्द्र के वचनों पर विश्वास न करके स्वयं परीक्षा करने की ठानी। वे दोनों देव व्राह्मण के वेष में आए और तेलमर्दन कराते हुए सनत्कुमार चक्री के रूप को देखकर अत्यन्त विस्मित हुए। सनत्कुमार ने उनसे पूछ कर जव यह जाना कि मेरे अद्वितीय सौन्दर्य को देखने की इच्छा से आए हैं तो उन्होंने रूपगर्वित होकर कहा—जव मैं सर्वालंकार-विभूषित होकर सिंहासन पर वैठूं तव मेरे रूप को देखना। दोनों देवों ने जव सर्ववस्त्रालंकार विभूषित चक्रवर्ती को सिंहासन पर वैठे देखा तो खिन्नचित्त से कहा—अव आपका शरीर पहले जैसा नहीं रहा। चक्रवर्ती ने पूछा—इसका क्या प्रमाण है?

देव—आप थूक कर इस वात की स्वयं परीक्षा कर लीजिए। चक्री ने थूक कर देखा तो उसमें कीड़े कुलवुलाते नजर आए. तथा अपने शरीर पर दृष्टि डाली तो उसके भी रूप, कान्ति और लावण्य आदि फीके प्रतीत हुए। यह देख चक्रवर्ती ने विचार किया— मेरा यह शरीर, जो अद्वितीय सुन्दर था, आज अल्पसमय में ही अनेक व्याधियों से ग्रस्त, निस्तेज तथा असुन्दर वन गया है। इस असार शरीर और शरीर से सम्वन्धित धन, जन, वैभव आदि में आसक्ति एवं गर्व करना अज्ञान है। इस शरीर से भोगों का सेवन उन्माद है, परिग्रह अनिष्टग्रहवत् है। इस सव पर ममत्व का त्याग करके स्वपरहितसाधक शाश्वतसुखप्रदायक सर्वविरति-चारित्र अंगीकार करना ही श्रेयस्कर है। ऐसा दृढ़ निश्चय करके चक्री ने अपने पुत्र को राज्य सौंप कर विनयंधराचार्य के पास मुनिदीक्षा धारण कर ली। राजर्षि के प्रति गाढ़ स्नेह के कारण समस्त राजा, रानियाँ, प्रधान आदि छह महीने तक उनके पीछे-पीछे घूमे और वापस राज्य में लौटने की प्रार्थना की; किन्तु राजर्षि ने उनकी ओर आँख उठा कर भी नहीं देखा। निराश होकर वे सव वापस लौट गए। फिर राजर्षि उग्र तपश्चर्या करने लगे। वेले के पारणे में उन्हें अन्त, प्रान्त, तुच्छ, नीरस आहार मिलता, जिससे उनके शरीर में कण्डू, कास, श्वास आदि ७ महाव्याधियाँ उत्पन्न हुईं, जिन्हें उन्होंने ७०० वर्ष तक समभाव से सहन किया। इसके फलस्वरूप राजर्षि आमर्शौषधि, शकृदोषधि, मूत्रौषधि आदि अनेक प्रकार को लब्धियाँ प्राप्त हुईं, फिर भी राजर्षि ने किसी प्रकार की चिकित्सा नहीं की।

इन्द्र के मुख से महर्षि की प्रशंसा सुन कर वे ही (पूर्वोक्त) दो देव वैद्य का रूप धारण करके परीक्षार्थ आए। उनसे व्याधि की चिकित्सा कराने का वार-वार आग्रह किया तो मुनि ने कहा—आप कर्मरोग की चिकित्सा करते हैं या शरीररोग की? उन्होंने कहा—हम

शरीररोग की चिकित्सा करते हैं, कर्मरोग की नहीं। यह सुन कर मुनि ने अपनी खड़ी हुई अंगुली पर थूक लगा कर उसे स्वर्ण-सी बना दी और देवों से कहा—शरीररोग की तो मैं इस प्रकार से चिकित्सा कर सकता हूँ, फिर भी चिकित्सा करने की मेरी इच्छा नहीं है। देव बोले—कर्मरूपी रोग का नाश करने में तो आप ही समर्थ हैं। देवों ने उनकी धीरता एवं सहिष्णुता की अत्यन्त प्रशंसा की और नमस्कार करके चले गए। सनत्कुमार राजर्षि तीन लाख वर्ष की आयुष्य पूर्ण करके अन्त में सम्मेदशिखर पर जाकर अनशन करके आयुष्यक्षय होने पर तीसरे देवलोक में गए। वहाँ से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्यजन्म धारण करके मोक्ष जाएँगे।[1]

शान्तिनाथ चक्रवर्ती को अनुत्तरगति प्राप्त

३८. चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
सन्ती सन्तिकरे लोए पत्तो गइमणुत्तरं॥

[३८] महान् ऋद्धिसम्पन्न और लोक में शान्ति करने वाले शान्तिनाथ चक्रवर्ती ने भारतवर्ष (के राज्य) का त्याग करके अनुत्तरगति (मुक्ति) प्राप्त की।

विवेचन—मेघरथ राजा के भव में एक शरणागत कबूतर को बचाने के लिए प्राणों की बाजी लगाने से तथा देवियों द्वारा अट्ठम प्रतिमा के समय उनकी दृढ़ता की परीक्षा करने पर उत्तीर्ण होने से एवं संसार से विरक्त होकर मेघरथ राजर्षि ने अपने छोटे भाई दृढ़रथ, सात सौ पुत्रों और चार हजार राजाओं सहित श्रीघनरथ तीर्थंकर से दीक्षा ग्रहण करने से और अपने आर्जवगुणों के कारण राजर्षि द्वारा अरिहंतसेवा, सिद्धसेवा आदि बीस स्थानकों के आराधन से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर सर्वार्थसिद्ध विमान में देव हुए।

सर्वार्थसिद्ध से च्यव कर मेघरथ राजर्षि का जीव हस्तिनापुर नगर के विश्वसेन राजा की रानी अचिरादेवी की कुक्षि में अवतरित हुआ। ठीक समय पर मृगलांछन वाले पुत्र को जन्म दिया। यह पुत्र गर्भ में आया तब फैले हुए महामारी आदि उपद्रव शान्त हो गए, यह सोचकर राजा ने पुत्र का जन्म-महोत्सव करके उसका 'शान्तिनाथ' नाम रखा। वयस्क होने पर यशोमती आदि राजकन्याओं के साथ उनका पाणिग्रहण हुआ। जब ये २५ हजार वर्ष के हुए तब राजा विश्वसेन ने इन्हें राज्य सौंपकर आत्मकल्याण सिद्ध किया। शान्तिनाथ राजा को राज्य करते हुए २५ हजार वर्ष हुए तब एक बार उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ। भारतवर्ष के छह खण्डों पर विजय प्राप्त की। फिर देवों और सर्व राजाओं ने मिलकर १२ वर्ष तक चक्रवर्तीपद का अभिषेक किया। जब २५ हजार वर्ष चक्रवर्ती पद भोगते हुए हो गये तब लोकान्तिक देव आकर प्रभु से प्रार्थना करने लगे—स्वामिन्! तीर्थप्रवर्त्तन कीजिए। अतः प्रभु ने वार्षिक दान दिया। अपना राज्य अपने पुत्र चक्रायुध को सौंप कर सहस्राम्रवन में हजार राजाओं के साथ दीक्षा अंगीकार की। एक वर्ष पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ। बाद में चक्रायुध राजा सहित ३५ अन्य राजाओं ने दीक्षा ली। ये ३६ मुनि शान्तिनाथ भगवान् के गणधर के रूप में हुए। तत्पश्चात् चिरकाल तक भूमण्डल में विचरण किया। अन्त में दीक्षादिवस से २५ हजार वर्ष व्यतीत होने पर प्रभु ने सम्मेतशिखर पर पदार्पण

१. (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर, भावनगर से प्रकाशित) भा. २, पत्र ३४ से ४३ तक
(ख) उत्तरा, प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. १८१ से २१० तक

करके नौ सौ साधुओं सहित अनशन ग्रहण किया । एक मास बाद आयुष्य पूर्ण होने पर सिद्ध पद प्राप्त किया ।[1]

कुन्थुनाथ की अनुत्तरगति-प्राप्ति

३९. इक्खागरायवसभो कुन्थू नाम नराहिवो।
विक्खायकित्ती धिइमं पत्तो गइमणुत्तरं ॥

[३९] इक्ष्वाकुकुल के राजाओं में श्रेष्ठ (वृषभ) नरेश्वर, विख्यातकीर्त्ति तथा धृतिमान् कुन्थुनाथ ने अनुत्तरगति प्राप्त की ।

विवेचन—कुन्थुनाथ भगवान् की संक्षिप्त जीवनगाथा—पूर्वमहाविदेह क्षेत्र में आवर्त्तविजय में खड्गी नामक नगरी का राजा 'सिंहावह' था। एक बार उसने संसार से विरक्त हो कर श्रीसंवराचार्य से दीक्षा ग्रहण की, तत्पश्चात् २० स्थानकों के सेवन से तीर्थंकरनामकर्म का उपार्जन किया। चिरकाल तक चारित्रपालन करके अन्त में अनशन ग्रहण कर आयुष्य का अन्त होने पर सर्वार्थसिद्ध विमान में देव हुआ।

वहाँ से च्यवन कर हस्तिनापुर नगर के राजा सूर की रानी श्रीदेवी की कुक्षि में अवतरित हुए। प्रभु गर्भ में आए थे, तब से ही सभी शत्रु राजा कुन्थुसम अल्पसत्त्व वाले हो गए तथा माता ने भी स्वप्न में कुत्स्थ—अर्थात्- पृथ्वीगत रत्नों के स्तूप (संचय) को देखा था। इस कारण महोत्सवपूर्वक उसका नाम 'कुन्थु' रखा गया।

युवावस्था में आने पर उनका अनेक कन्याओं के साथ पणिग्रहण हुआ। वे राज्य कर रहे थे, तभी उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। अतः भरतक्षेत्र के ६ ही खण्ड उन्होंने साधे। चिरकाल तक राज्य का पालन किया। एक बार लोकान्तिक देवों द्वारा तीर्थ-प्रवर्त्तन के लिए अनुरोध किये जाने पर कुन्थु चक्रवर्ती ने अपने पुत्र को राज्य सौंप कर वार्षिक दान दिया और हजार राजाओं के साथ चारित्र ग्रहण किया। तत्पश्चात् अप्रमत्त विचरण करते हुए १६ वर्ष बाद उन्हें उसी सहस्राम्रवन में ४ घातिकर्म का क्षय होते ही केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तीर्थ-स्थापना की। अन्त में हजार मुनियों सहित सम्मेतशिखर पर एक मास के अनशन से मुक्ति प्राप्त की।[2]

अरनाथ की संक्षिप्त जीवनगाथा

४०. सागरन्तं जहित्ताणं भरहं नरवरीसरो।
अरो य अरयं पत्तो पत्तो गइमणुत्तरं ॥

[४०] समुद्रपर्यन्त भारतवर्ष का (राज्य) त्याग कर कर्मरजरहित अवस्था को प्राप्त करके नरेश्वरों में श्रेष्ठ 'अर' ने अनुत्तरगति प्राप्त की ।

विवेचन—अरनाथ को अनुत्तरगति-प्राप्ति—जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह में वत्स नामक विजय के अन्तर्गत सुसीमा नगरी थी। वहाँ के राजा धनपति ने संसार से विरक्त हो कर समन्तभद्र मुनि से

१. उत्तरा. (गुजराती, भावनगर से प्रकाशित) भा. २, पत्र ६४
२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ६४-६५

दीक्षा ग्रहण की। अरिहन्तसेवा आदि बीस स्थानकों की आराधना से उन्होंने तीर्थंकरनामकर्म का उपार्जन किया। चिरकाल तक तपश्चरण एवं महाव्रतों का पालन करके अन्त में अनशन करके आयुष्य पूर्ण होने पर नौवें ग्रैवेयक में श्रेष्ठ देव हुए।

वहाँ से च्यवन कर वे हस्तिनापुर के सुदर्शन राजा की रानी देवी की कुक्षि में अवतरित हुए। गर्भ का समय पूर्ण होने पर रानी ने कांचनवर्ण वाले पुत्र को जन्म दिया। माता ने स्वप्न में रत्न का अर—चक्र का आरा—देखा था, तदनुसार पुत्र का नाम 'अर' रखा। अरनाथ ने यौवन में पदार्पण किया तो उनका विवाह अनेक राजकन्याओं के साथ किया गया। तत्पश्चात् इन्हें राज्य का भार सौंप कर सुदर्शन राजा ने रानी-सहित सिद्धाचार्य से दीक्षा ग्रहण की। राजा अरनाथ ने सम्पूर्ण भारत क्षेत्र पर आधिपत्य स्थापित करके चक्रवर्तीपद प्राप्त किया। लोकान्तिक देवों ने तीर्थ-प्रवर्तन के लिए प्रार्थना की तो अरनाथ ने वर्षीदान दिया। फिर अपने पुत्र को राज्य सौंप कर एक हजार राजाओं के साथ प्रव्रजित हुए। तीन वर्ष बाद उसी सहस्राम्रवन में उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। तीर्थ रचना की।

अरनाथ भगवान् ने कुल ८४ हजार वर्ष की आयु पूर्ण करके अन्त में सम्मेतशिखर पर हजार साधुओं के साथ जा कर अनशन करके एक मास के पश्चात् आयुष्य पूर्ण होते ही सिद्धि प्राप्त की।[1]

महापद्म चक्रवर्ती द्वारा तपश्चरण

४१. चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी नराहिओ।
चइत्ता उत्तमे भोए महापउमे तवं चरे॥

[४१] समग्र भारतवर्ष का (राज्य-) त्याग कर, उत्तम भोगों का परित्याग करके महापद्म चक्रवर्ती ने तपश्चरण किया।

विवेचन—महापद्मचक्री की जीवनगाथा—हस्तिनापुर में इक्ष्वाकुवंशी पद्मोत्तर नामक राजा था। उसकी ज्वाला नाम की रानी ने सिंह का स्वप्न देखा। उससे विष्णु नामक एक पुत्र हुआ, फिर जब १४ महास्वप्न देखे तो महापद्म नामक पुत्र हुआ, दोनों पुत्रों ने कलाचार्य से समग्र कलाएँ सीखीं। वयस्क होने पर महापद्म को अधिक पराक्रमी एवं योग्य समझ कर पद्मोत्तर राजा ने उसे युवराज पद दिया।

हस्तिनापुर राज्य के सीमावर्ती राज्य में किला बना कर सिंहबल नामक राजा रहता था। वह बारबार हस्तिनापुर राज्य में लूटपाट करके अपने दुर्ग में घुस जाता। उस समय महापद्म का मंत्री नमुचि था, जो साधुओं का द्वेषी था। महापद्म ने सिंहबल को पकड़ लाने का उपाय नमुचि से पूछा। नमुचि ने उसको पकड़ लाने का बीड़ा उठाया और शी- ही ससैन्य जाकर सिंहबल के दुर्ग को नष्टभ्रष्ट करके उसे बांध कर ले आया। उसके इस पराक्रम से प्रसन्न होकर यथेष्ट मांगने को कहा। नमुचि ने कहा—मैं यथावसर आपसे मांगूगा। इसके पश्चात् महापद्म ने दीर्घकाल तक राज्य से बाहर रह कर अनेक पराक्रम के कार्य किये। अन्त में उसके यहाँ चक्रादि रत्न उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् भरतक्षेत्र के ६ खण्ड साध लिये। चक्रवर्ती के रूप में उसने अपने माता-पिता के चरणों में नमन किया। माता-पिता उसकी समृद्धि को देख अत्यन्त हर्षित हुएं।

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. २४० से २४६ तक

इसी अवसर पर श्रीमुनिसुव्रत भगवान् के शिष्य श्रीसुव्रताचार्य पधारे। उनका वैराग्यपूर्ण प्रवचन सुन कर राजा पद्मोत्तर और उनके ज्येष्ठपुत्र विष्णुकुमार को संसार से वैराग्य हो गया। राजा पद्मोत्तर ने युवराज महापद्म का राज्याभिषेक करके विष्णुकुमार सहित दीक्षा ग्रहण की।

कुछकाल के पश्चात् पद्मोत्तर राजर्षि ने केवलज्ञान प्राप्त किया और विष्णुकुमार मुनि ने उग्र तपश्चर्या से अनेक लब्धियाँ प्राप्त कीं।

एक बार श्रीसुव्रताचार्य अपनी शिष्यमण्डली सहित हस्तिनापुर चातुर्मास के लिए पधारे। नमुचि मंत्री ने पूर्व वैर लेने की दृष्टि से महापद्म चक्री से अपना वरदान मांगा कि मुझे यज्ञ करना है और यज्ञसमाप्ति तक मुझे अपना राज्य दें। महापद्म ने सरलभाव से उसे राज्य सौंप दिया। नवीन राजा को बधाई देने के लिए जैनमुनियों के सिवाय अन्य सब वेष वाले साधु एवं तापस गए। इससे कुपित होकर नमुचि ने आदेश निकाला—'आज से ७ दिन के बाद कोई भी जैन साधु मेरे राज्य में रहेगा तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाएगा।' आचार्य ने परस्पर विचारविनिमय करके एक लब्धिधारी मुनि विष्णुकुमार को लाने के लिए भेजा। वे आए। सारी परिस्थिति समझकर विष्णुकुमार आदि मुनियों ने नमुचि को बहुत समझाया, परन्तु वह अपने दुराग्रह पर अड़ा रहा। विष्णुकुमार मुनि ने उससे तीन पैर (कदम) जमीन मांगी। जब नमुचि वचनबद्ध हो गया तो विष्णुकुमार मुनि ने वैक्रियलब्धि का प्रयोग कर अपना शरीर मेरुपर्वत जितना विशाल बना लिया। दुष्ट नमुचि को पृथ्वी पर गिरा कर, अपना एक पैर चुल्लहेमपर्वत पर और दूसरा चरण जम्बूद्वीप की जगती पर रखा, फिर नमुचि से पूछा—कहो, यह तीसरा चरण कहाँ रखा जाए? अपने चरणाघातों से समस्त भूमण्डल को प्रकम्पित करने वाले विष्णुकुमार मुनि के उग्र पराक्रम एवं विराट् रूप को देख कर नमुचि ही क्या, सर्व राजपरिवार, देव, दानव आदि भयभीत और क्षुब्ध हो उठे थे। महापद्म चक्रवर्ती ने आकर सविनय वन्दन करके अधम मन्त्री द्वारा श्रमणसंघ की की गई आशातना के लिए क्षमायाचना की। अन्य सुरासुरों एवं राजपरिवार की प्रार्थना से मुनिवर ने अपना विराट् शरीर पूर्ववत् कर लिया। चक्रवर्ती महापद्म ने दुष्ट पापात्मा नमुचि को देशनिकाला दे दिया। विष्णुकुमार मुनि आलोचना और प्रायश्चित्त से आत्मशुद्धि करके तप द्वारा केवलज्ञानी हुए। क्रमशः मुक्त हुए।

महापद्म चक्रवर्ती ने चिरकाल तक महान् समृद्धि का उपभोग कर अन्त में राज्य आदि सर्वस्व का त्याग करके १० हजार वर्ष तक उग्र आचार का पालन किया। अन्त में घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।[1]

हरिषेण चक्रवर्ती

४२. एगच्छत्तं पसाहित्ता महिं माणनिसूरणो।
हरिसेणो मणुस्सिन्दो पत्तो गइमणुत्तरं॥

[४२] शत्रु के मानमर्दक हरिषेण चक्रवर्ती ने पृथ्वी को एकच्छत्र साध (अपने अधीन) करके अनुत्तरगति (मोक्षगति) प्राप्त की।

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा. २, पत्र ६६ से ७४ तक

विवेचन—माणनिसूरणो—अहंकार-विनाशक।

पसाहित्ता—साध कर या अधीन करके, अथवा एकच्छत्र शासन करके।

मणुस्सिंदो : मनुष्येन्द्र—चक्रवर्ती।

हरिषेण चक्रवर्ती द्वारा अनुत्तरगति प्राप्ति—काम्पिल्यनगर के महाहरि राजा की 'मेरा' नाम की महारानी की कुक्षि से हरिषेण नामक पुत्र हुए। वयस्क होने पर पिता ने उन्हें राज्य सौंपा। राज्य-पालन करते-करते उन्हें चक्रवर्तीपद प्राप्त हुआ। परन्तु लघुकर्मी हरिषेणचक्री को संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठाया और स्वयं ने महान् ऋद्धि त्याग कर गुरुचरणों में दीक्षा ले ली। उग्रतप से क्रमशः चार घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया और अन्त मे मोक्ष पहुँचे।[1]

जय चक्रवर्ती ने मोक्ष प्राप्त किया

४३. अन्निओ रायसहस्सेहिं सुपरिच्चाई दमं चरे।
जयनामो जिणक्खायं पत्तो गइमणुत्तरं॥

[४३] हजार राजाओं सहित श्रेष्ठ त्यागी 'जय' चक्रवर्ती ने राज्य आदि का परित्याग कर जिनोक्त संयम का आचरण किया और (अन्त में) अनुत्तरगति प्राप्त की।

विवेचन—जय चक्रवर्ती की संक्षिप्त जीवनगाथा—राजगृहनगर के राजा समुद्रविजय की वप्रा नाम की रानी थी। उनके जय नामक एक पुत्र था। उसने क्रमशः युवावस्था में पदार्पण किया। पिता के राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली, फिर कुछ काल बाद चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ और दीर्घकाल तक चक्रवर्ती की ऋद्धि-सिद्धि भोगी। वैराग्य हो गया। जयचक्री ने अपने पुत्र को राज्य सौंप कर चारित्र अंगीकार किया। फिर तपश्चरण रूप वायु से कर्मरूपी बादलों का नाश किया। श्री जय चक्रवर्ती कुल साढ़े तीन हजार वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर मोक्ष में गए।[2]

दशार्णभद्र राजा का निष्क्रमण

४४. दसण्णरज्जं मुइयं चइत्ताण मुणी चरे।
दसण्णभद्दो निक्खन्तो सक्खं सक्केण चोइओ॥

[४४] साक्षात् शक्रेन्द्र से प्रेरित होकर दशार्णभद्र राजा ने अपने प्रमुदित (समस्त उपद्रवों से रहित) दशार्णदेश के राज्य को छोड़ कर अभिनिष्क्रमण किया और मुनि होकर विचरण करने लगे।

विवेचन—देवेन्द्र से प्रेरित दशार्णभद्र राजा मुनि बने—भारतवर्ष के दशार्णपुर का राजा दशार्णभद्र था। वह जिनोक्त धर्म में अनुरक्त था। एक बार नगर के बाहर उद्यान में तीर्थंकर भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ, सुन कर दशार्णभद्र राजा के मन में विचार हुआ—आज तक भगवान्

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर), भा. २, पत्र ७४

२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा. २, पत्र ७५

को किसी ने वन्दन न किया हो, उस प्रकार से समस्त वैभव सहित मैं प्रभु को वन्दन करने जाऊँ। तदनुसार घोषणा करवा कर उसने सारे नगर को दुलहिन की तरह सजाया। जगह-जगह माणिक्य के तोरण बंधवाए, नट लोग अपनी कलाओं का प्रदर्शन करने लगे। राजा ने स्नान करके उत्तम वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर उत्तम हाथी पर आरूढ़ होकर प्रभु-वन्दन के लिए प्रस्थान किया। मस्तक पर छत्र धारण किया और चामर ढुलाते हुए सेवकगण जय-जयकार करने लगे। सामन्त राजा तथा अन्य राजा, राजपुरुष और चतुरंगिणी सेना तथा नागरिकगण सुसज्जित होकर पीछे-पीछे चल रहे थे। राजा दशार्णभद्र साक्षात् इन्द्र-सा लग रहा था।

राजा के वैभव के इस गर्व को अवधिज्ञान से जान कर इन्द्र ने विचार किया—प्रभुभक्ति में ऐसा गर्व उचित नहीं है। अतः इन्द्र ने ऐरावण देव को आदेश देकर कैलाशपर्वतसम उत्तुंग ६४ हजार सुसज्जित शृंगारित हाथियों और देव-देवियों की विकुर्वणा की। अब इन्द्र की शोभायात्रा के आगे दशार्णभद्र की शोभायात्रा एकदम फीकी लगने लगी। यह देख कर दशार्णभद्र राजा के मन में अन्तःप्रेरणा हुई—कहाँ इन्द्र का वैभव और कहाँ मेरा तुच्छ वैभव! इन्द्र ने यह लोकोत्तर वैभव धर्माराधना (पुण्यप्रभाव) से ही प्राप्त किया है, अतः मुझे भी शुद्ध धर्म की पूर्ण आराधना करनी चाहिए, जिससे मेरा गर्व भी कृतार्थ हो। यों संसार से विरक्त दशार्णभद्र राजा ने प्रभु महावीर से दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की। अपने हाथ से केशलोच किया। विश्ववत्सल प्रभु ने राजा को स्वयं दीक्षा दी। इन्द्र ने दशार्णभद्र राजर्षि को इतनी विशाल ऋद्धि एवं साम्राज्य का सहसा त्याग कर तथा महाव्रत ग्रहण करके अपनी प्रतिज्ञा-पालन करने के हेतु धन्यवाद दिया—वैभव में हमारी दिव्य शक्ति आप से बढ़ कर है, परन्तु त्याग एवं व्रत ग्रहण करने की शक्ति मुझ में नहीं है। राजर्षि उग्र तपश्चर्या से सर्व कर्म क्षय करके मोक्ष पहुँचे।[1]

नमि राजर्षि की धर्म में सुस्थिरता

४५. नमी नमेइ अप्पाणं सक्खं सक्केण चोइओ।
चइऊण गेहं वइदेही सामण्णे पज्जुवट्ठिओ॥

[४५] साक्षात् देवेन्द्र से प्रेरित किये जाने पर भी विदेह के अधिपति नमि गृह का त्याग करके श्रमणधर्म में भलीभांति स्थिर हुए एवं स्वयं को अतिविनम्र बनाया।

विवेचन—सक्खं सक्केण चोइओ—साक्षात् शक्रेन्द्र ने ब्राह्मण के वेष में आकर क्षत्रियोचित कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा की, किन्तु नमि राजर्षि श्रमण-संस्कृति के सन्दर्भ में इन्द्र का युक्तिसंगत समाधान करके श्रमणधर्म में सुस्थिर रहे। नमि राजर्षि की कथा इसी सूत्र के अ. ९ में दी गई है।[2]

चार प्रत्येकबुद्ध जिनशासन में प्रव्रजित हुए

४६. करकण्डू कलिंगेसु पंचालेसु य दुम्मुहो।
नमी राया विदेहेसु गन्धारेसु य नग्गई॥

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर से संक्षिप्त) भा. २, पत्र ७५ से ८० तक

२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा. २, पत्र ८०

४७. एए नरिन्दवसभा निक्खन्ता जिणसासणे ।
पुत्ते रज्जे ठवित्ताणं सामण्णे पज्जुवट्ठिया ।।

[४६-४७] कलिंगदेश में करकण्डु, पांचालदेश में द्विमुख, विदेहदेश में नमिराज और गान्धारदेश में नग्गति राजा हुए ।

ये चारों श्रेष्ठ राजा अपने-अपने पुत्रों को राज्य में स्थापित कर जिनशासन में प्रव्रजित हुए और श्रमणधर्म में भलीभांति समुद्यत हुए ।

विवेचन—(१)—करकण्डू—कलिंगदेश का राजा दधिवाहन और रानी पद्मावती थी । एक बार गर्भवती रानी को इस प्रकार का दोहद उत्पन्न हुआ कि—'मैं विविध वस्त्राभूषणों से विभूषित होकर पट्टहस्ती पर आसीन होकर छत्र धारण कराती हुई राजोद्यान में घूमूं ।' राजा ने जब यह जाना तो पद्मावती रानी के साथ स्वयं 'जयकुंजर' हाथी पर बैठ कर राजोद्यान में पहुँचे । उद्यान में पहुँचते ही वहाँ की विचित्र सुगन्ध के कारण हाथी उद्दण्ड होकर भागा । राजा ने रानी को सूचित किया कि 'वटवृक्ष आते ही उसकी शाखा पकड़ लेना, जिससे हम सुरक्षित हो जाएँगे ।' वटवृक्ष आते ही राजा ने तो शाखा पकड़ ली, परन्तु रानी न पकड़ सकी । हाथी पवनवेग से एक महारण्य में स्थित सरोवर में पानी पीने को रुका, त्यों ही रानी नीचे उतर गई । अकेली रानी व्याघ्र, सिंह आदि जन्तुओं से भरे अरण्य में भयाकुल और चिन्तित हो उठी । वहीं उसने सागारी अनशन किया और अनिश्चित दिशा में चल पड़ी । रास्ते में एक तापस मिला । उसने रानी की करुणगाथा सुन कर धैर्य बंधाया, पक्के फल दिये, फिर उसे भद्रपुर तक पहुँचाया । आगे दन्तपुर का रास्ता बता दिया, जिससे आसानी से वह चम्पापुरी पहुँच सके । पद्मावती भद्रपुर होकर दन्तपुर पहुँच गई । वहाँ उसने सुगुप्तव्रता साध्वीजी के दर्शन किए । प्रवर्तिनी साध्वीजी ने पद्मावती की दुःखगाथा सुन कर उसे आश्वासन दिया, संसार की वस्तुस्थिति समझाई । इसे सुन कर पद्मावती को संसार से विरक्ति हो गई । गर्भवती होने की बात उसने छिपाई, शेष बातें कह दीं । साध्वीजी ने उसे दीक्षा दे दी । किन्तु धीरे-धीरे जब गर्भिणी होने की बात साध्वियों को मालूम हुई तो पद्मावती साध्वी ने विनयपूर्वक सब बात कह दी । शय्यातर बाई को प्रवर्तिनी ने यह बात अवगत कर दी । उसने विवेकपूर्वक पद्मावती के प्रसव का प्रबन्ध कर दिया । एक सुन्दर बालक को उसने जन्म दिया और नवजात शिशु को श्मशान में एक सुरक्षित स्थान पर छोड़ दिया । कुछ देर तक वह वहीं एक ओर गुप्त रूप से खड़ी रही । एक निःसन्तान चाण्डाल आया, उसने उस शिशु को ले जाकर अपनी पत्नी को सौंप दिया । बालक के शरीर में जन्म से ही सूखी खाज (रूक्ष कण्डूया) थी, इसलिए उसका नाम 'करकण्डू' पड़ गया । युवावस्था में करकण्डू को अपने पालक पिता का श्मशान की रखवाली का परम्परागत काम मिल गया । एक बार श्मशानभूमि में गुरु-शिष्य मुनि ध्यान करने आए । गुरु ने वहाँ जमीन में गड़े हुए बांस को देख कर शिष्य से कहा—'जो इस बांस के डंडे को ग्रहण करेगा, वह राजा बनेगा ।' निकटवर्ती स्थान में बैठे हुए करकण्डू ने तथा एक अन्य ब्राह्मण ने मुनि के वचन सुन लिये । सुनते ही वह ब्राह्मण उस बांस को उखाड़ कर लेकर चलने लगा । करकण्डू ने देखा तो क्रुद्ध होकर ब्राह्मण के हाथ से वह बांस का दण्ड छीन लिया । उसने न्यायालय में करकण्डू के विरुद्ध अभियोग किया । परन्तु उस अभियोग में करकण्डु की जीत हुई । फैसला सुनाते समय राजा ने करकण्डू से कहा—'अगर तुम इस दण्ड के प्रभाव से राजा बनो तो एक गाँव इस ब्राह्मण को दे देना । करकण्ड ने स्वीकार किया ।

किन्तु ब्राह्मण ने अपने जातिभाइयों से कह कर करकण्डू को मार कर उस दण्ड को ले लेने का निश्चय किया। करकण्डू की पालक माता को मालूम पड़ा तो पति-पत्नी दोनों करकण्डू को लेकर उसी समय दूसरे गाँव को चल पड़े। वे सब कांचनपुर पहुँचे। रात्रि का समय होने से ये ग्राम के वाहर ही सो गए थे। संयोगवश उस ग्राम का राजा अपुत्र ही मर गया था। इसलिए मन्त्रियों ने तत्काल राज्य के पट्टहस्ती की सूंड में माला देकर नये राजा की खोज के लिए छोड़ दिया। वह हाथी घूमते-घूमते उसी स्थान पर पहुँचा, जहाँ करकण्डू सो रहा था। हाथी ने माला करकण्डू के गले में डाल दी। करकण्डू को राजा वना दिया गया। कुछ ब्राह्मणों ने इस पर आपत्ति उठाई, परन्तु जाज्वल्यमान दण्ड को देख कर सभी हतप्रभ हो गए। राजा करकण्डू के आदेश से वाटधानक निवासी समस्त मातंगों को शुद्ध कर ब्राह्मण वना दिया गया।

वांस के दण्ड के विषय में जिस ब्राह्मण से झगड़ा हुआ था, वह ब्राह्मण एक दिन राजा करकण्डू से एक ग्राम की याचना करने लगा। करकण्डू राजा ने चम्पापुरी के दधिवाहन राजा पर पत्र लिखा कि उक्त ब्राह्मण को एक ग्राम दे दिया जाए। परन्तु दधिवाहन वह पत्र देखते ही क्रोध से भड़क उठा और अपमानपूर्वक ब्राह्मण को निकाल दिया। करकण्डू राजा ने जब यह सुना तो वह भी रोष से भड़क उठा और उसने युद्ध की तैयारी करने का आदेश दिया। दोनों ओर के सैनिक चम्पापुरी के युद्धक्षेत्र में आ डटे। घमासान युद्ध होने वाला था। तभी साध्वी पद्मावती ने राजा करकण्डू और राजा दधिवाहन दोनों को समझाया। दोनों के पुत्र-पिता होने का रहस्योद्घाटन कर दिया। इससे दोनों में युद्ध के वदले परस्पर प्रेम का वातावरण स्थापित हो गया। राजा दधिवाहन ने हर्षित होकर अपने औरस पुत्र राजा करकण्डू को चम्पापुरी का राज्य सौंप दिया। स्वयं ने मुनि दीक्षा ग्रहण की। करकण्डू राजा ने भी अपनी राजधानी चम्पा को ही बनाया और उक्त ब्राह्मण को उसी राज्य में एक ग्राम दिया। करकण्डू राजा को स्वभाव से गोवंश प्रिय था। इसलिए उसने उत्तम गायें मंगवा कर अपनी गोशाला में रखीं। एक दिन राजा ने अपनी गोशाला में एक श्वेत और तेजस्वी वछड़े को देखा। राजा को वह वहुत ही सुहावना लगा। उसने आदेश दिया कि 'इस वछड़े को इसकी माता (गाय) का पूरा का पूरा दूध पिलाया जाए।' वैसा ही किया गया। इस तरह वढ़ते-वढ़ते वह वछड़ा पूरा जवान, वलिष्ठ और पुष्ट सांड हो गया।

उसके वहुत वर्षों के वाद एक दिन राजा ने गोशाला का निरीक्षण किया तो उसी (वैल) सांड को एकदम कृश और अस्थिपंजरमात्र तथा दयनीय दशा में देख कर राजा को विचार हुआ कि 'वय, रूप, वल, वैभव और प्रभुत्व आदि सव नश्वर हैं। अतः इन पर मोह करना वृथा है। इसलिए मुझे इन सवसे मोह हटा कर नरजन्म को सफल करना चाहिए।' विरक्त राजा ने राज्य को तृण के समान त्याग दिया और स्वयं जिनशासन में प्रव्रजित हुए। दीक्षा के वाद करकण्डू राजर्षि अप्रतिवद्धविहारी वन कर तपश्चर्या की आराधना करते हुए अन्त में समाधिमरणपूर्वक देह-त्याग कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। वे प्रत्येकवुद्ध सिद्ध हुए।

प्रत्येकवुद्ध : द्विमुखराय—पांचालदेश में काम्पिल्यपुर में जयवर्मा राजा था। उसकी रानी गुणमाला थी। एक दिन आस्थानमण्डप में वैठे हुए राजा ने एक विदेशी दूत से पूछा—'हमारे राज्य में कौन-सी विशिष्टता नहीं है, जो दूसरे राज्य में है?' दूत ने कहा—'आपके राज्य में चित्रशाला नहीं है।' राजा ने चित्रशिल्पियों को वुला कर चित्रशाला-निर्माण का आदेश दिया। जब

चित्रशाला की नींव खोदी जा रही थी, तब उसमें से एक अत्यन्त चमकता हुआ रत्नमय मुकुट मिला, उसे पहन कर चित्रशाला का निर्माण पूर्ण होने पर राजा जब राजसिंहासन पर बैठते थे तब उस मुकुट के प्रभाव से दर्शकों को दो मुख वाले दिखाई देते थे। इसलिए लोगों में राजा 'द्विमुखराय' के नाम से प्रसिद्ध हो गए।

राजा के सात पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्री का नाम मदनमंजरी था। जो उज्जयिनीनरेश चण्डप्रद्योतन को दी गई थी।

एक बार इन्द्रमहोत्सव के अवसर पर राजा ने नागरिकों को इन्द्रध्वज को स्थापित करने का आदेश दिया। वैसा ही किया गया। पुष्पमालाओं, मणि, माणिक्य आदि रत्नों एवं रंगबिरंगे वस्त्रों से उसे अत्यन्त सुसज्जित किया गया। उस सुसज्जित इन्द्रध्वज के नीचे नृत्य, वाद्य, गीत होने लगे, दीनों को दान देना प्रारम्भ हुआ, सुगन्धित जल एवं चूर्ण उस पर डाला जाने लगा।

इस प्रकार विविध कार्यक्रमों से उत्सव की शोभा में वृद्धि देख राजा को अपार हर्ष हुआ। आठवें दिन उत्सव की समाप्ति होते ही समस्त नागरिक अपने वस्त्र, रत्न, आभूषण आदि को ले-लेकर अपने घर आ गए। अब वहाँ सिर्फ एक सूखा ठूंठ बच गया था, जिसे नागरिकों ने वहीं डाल दिया था। उसी दिन राजा किसी कार्यवश उधर से गुजरा तो इन्द्रध्वज को धूल में सना, कुस्थान में पड़ा हुआ तथा बालकों द्वारा घसीटा जाता हुआ देखा। इन्द्रध्वज की ऐसी दुर्दशा देख राजा के मन में विचार आया—'अहो! कल जो सारी जनता के आनन्द का कारण बना हुआ था, आज वही विडम्बना का कारण बना हुआ है। संसार के सभी पदार्थों—धन, जन, मकान, महल, राज्य आदि की यही दशा होती है। अतः इन पर आसक्ति रखना कथमपि उचित नहीं है। क्यों न मैं अब दुर्दशा की कारणभूत इस राज्यसम्पदा पर आसक्ति का परित्याग करके एकान्त श्रेयस्कारिणी मोक्ष-राज्य-लक्ष्मी का वरण करूं?' राजा ने इस विचार को कार्यान्वित करने हेतु राज्यादि सर्वस्व त्याग कर स्वयं मुनिदीक्षा ग्रहण की। तत्पश्चात् प्रत्येकबुद्ध द्विमुखराय ने वीतरागधर्म का प्रचार करके अन्त में सिद्धगति प्राप्त की।

प्रत्येकबुद्ध नग्गतिराजा—भरतक्षेत्र में क्षितिप्रतिष्ठित नगर के राजा जितशत्रु ने चित्रकार चित्रांगद की कन्या कनकमंजरी की वाक्चातुरी से प्रभावित हो कर उससे विवाह किया और उसे अपनी पटरानी बना दिया। राजा और रानी ने विमलचन्द्राचार्य से श्रावकव्रत ग्रहण किये। चिरकाल तक पालन करके वे दोनों देवलोक में देव हुए। वहाँ से च्यव कर कनकमंजरी का जीव वैताढ्यतोरणपुर में दृढशक्ति राजा की गुणमाला रानी से पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ। नाम रखा गया कनकमाला। वासव नामक विद्याधर उसका अपहरण करके वैताढ्यपर्वत पर ले आया। कनकमाला के बड़े भाई कनकतेज को पता लगा तो वह वहाँ जा पहुँचा। वासव के साथ उसका युद्ध हुआ। उसमें दोनों ही मारे गए। इसी समय एक व्यन्तर देव आया, उसने भाई के शोक से ग्रस्त कनकमाला को आश्वासन देते हुए कहा कि 'तुम मेरी पुत्री हो।' इतने में कनकमाला का पिता दृढशक्ति भी वहाँ आ गया। व्यन्तर देव ने कनकमाला को मृततुल्य दिखाया, जिससे उसे संसार से विरक्ति हो गई। दृढ़शक्ति ने स्वयं मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली। कनकमाला तथा उस देव ने उन्हें वन्दना की। अपना वृत्तान्त सुनाया। मुनिराज से व्यन्तरदेव ने क्षमायाचना की। जातिस्मरण-ज्ञान से कनकमाला ने व्यन्तरदेव को अपना पूर्वजन्म का पिता जान कर उसने अपने भावी पति के

विषय में पूछा तो उसने कहा—तुम्हारा पूर्वभव का पति जितशत्रु, देवलोक से च्यव कर दृढ़सिंह राजा के यहाँ सिंहरथ नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है। वही तुम्हारा इस जन्म में भी पति होगा। तदनुसार कनकमाला का विवाह सिंहरथ के साथ सम्पन्न हुआ। सिंहरथ को बार-बार अपने नगर जाना और वापस इस पर्वत पर आना होता था, इस कारण वह 'नगगति' नाम से प्रसिद्ध हो गया।

उक्त व्यन्तरदेव (कनकमाला का पिता) विदा लेकर उक्त पर्वत से चला गया, तब सिंहरथ राजा ने कनकमाला को अपने पिता के वियोग का दुःखानुभव न हो, इस विचार से वहीं एक नया नगर बसाया। एक बार राजा कार्तिकी पूर्णिमा के दिन नगर से बाहर चतुर्विध सैन्यसहित गए। वहीं वन में एक स्थान पर पड़ाव डाला। राजा ने वहाँ एक आम्रवृक्ष देखा जो नये पत्तों और मंजरियों से सुशोभित एवं गोलाकार प्रतीत हो रहा था। राजा ने मंगलार्थ उस वृक्ष की एक मंजरी तोड़ ली। इसे देख कर समस्त सैनिकों ने उस वृक्ष की मंजरी व पत्ते आदि तोड़ कर उसे ठूंठ-सा बना दिया। राजा जब वन में घूम कर वापस लौटा तो वहाँ हराभरा आम्रवृक्ष न देख कर पूछा—'मंत्रिप्रवर! यहाँ जो आम का वृक्ष था, वह कहाँ गया?' मंत्री ने कहा—'महाराज! इस समय यहाँ जो ठूंठ के रूप में मौजूद है, यही वह आम्रवृक्ष है।' सारा वृत्तान्त सुन कर पहले के श्रीसम्पन्न आम्रवृक्ष को अब श्रीरहित देख कर संसार की प्रत्येक श्रीसम्पन्न वस्तु पर विचार करते-करते नग्गति राजा को संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने प्रत्येकबुद्ध रूप से दीक्षा ग्रहण की। मुनि बन कर तप-संयम का पालन करते हुए समाधिमरणपूर्वक शरीरत्याग करके अन्त में सिद्धिगति पाई।

नमि राजर्षि भी प्रत्येकबुद्ध थे, जिनकी कथा ९ वें अध्ययन में अंकित है। इस प्रकार ये चारों ही प्रत्येकबुद्ध महाशुक्र नामक ७ वें देवलोक में १७ सागर की उत्कृष्ट स्थिति वाले देव हुए। वहाँ से च्यव कर एक समय में ही मुनिदीक्षा ली और एक ही साथ मोक्ष में गए।[1]

सौवीर-नृप उदायन राजा

४८. सोवीररायवसभो चिच्चा रज्जं मुणी चरे।
उद्दायणो पव्वइओ पत्तो गइमणुत्तरं॥

[४८] सौवीरदेश के श्रेष्ठ राजा उदायन राज्य का परित्याग करके प्रव्रजित हुए। मुनिधर्म का आचरण किया और अनुत्तरगति प्राप्त की।

विवेचन—उदायन राजा को विरक्ति, प्रव्रज्या और मुक्ति—सिन्धु-सौवीर आदि सोलह देशों का और वीतभयपत्तन आदि ३६३ नगरों का पालक राजा उदायन धैर्य, गाम्भीर्य और औदार्य आदि गुणों से अलंकृत था। उसकी पटरानी का नाम प्रभावती था, जो चेटक राजा की पुत्री और जैनधर्मानुरागिणी थी। प्रभावती ने अभिजिन नामक एक पुत्र को जन्म दिया।

यह वही उदायन राजा था, जिसने स्वर्णगुटिका दासी का अपहरण करके ले जाने वाले अपराधी चण्डप्रद्योतन के साथ सांवत्सरिक क्षमायाचना करके उसे बन्धनमुक्त कर देने की उदारता बताई थी।

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र, प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. ३१० से ३९६ (संक्षिप्त)

एक दिन राजा उदायन को पौषध करके धर्मजागरणा करते हुए ऐसा शुभ अध्यवसाय उत्पन्न हुआ कि 'अगर भगवान् महावीर यहाँ पधारें तो मैं दीक्षाग्रहण करके अपना जीवन सफल बनाऊँ।' भगवान् उदायन के इन विचारों को ज्ञान से जान कर चम्पापुरी से वीतभयपत्तन के उद्यान में पधारे। उदायन ने प्रभु के समक्ष जब दीक्षाग्रहण के विचार प्रस्तुत किये तो भगवान् ने कहा—'शुभ-कार्य में विलम्ब न करो।' उदायन ने घर आकर विचार किया और आत्म-कल्याण से विमुख कर देने वाला राज्य पुत्र अभिजितकुमार को न सौंप कर अपने भानजे केशी को सौंपा तथा स्वयं ने वीरप्रभु से दीक्षा ग्रहण की। उदायन मुनि मासक्षमण (मासोपवास) तप द्वारा कर्म का क्षय एवं शरीर को कृश करने लगे। पारणे के दिन भी वे अन्त-प्रान्त आहार लेते थे। इस कारण उनका शरीर रोगग्रस्त हो गया। जब मुनिवर वीतभयपत्तन पधारे तो अकारणशत्रु दुष्ट मन्त्रियों ने उनके विरुद्ध केशी नृप के कान भर दिये। राजा केशी ने उनकी चाल में आकर राज्य में घोषणा करवा दी—'जो उदायन मुनि को रहने को स्थान देगा, वह राजा का अपराधी और दण्ड का भागी समझा जाएगा।' सिर्फ एक कुम्भकार ने अपनी कुम्भनिर्माणशाला में उन्हें ठहरने को स्थान दिया। किन्तु केशी राजा दुष्ट अमात्यों के साथ आकर विनयपूर्वक प्रार्थना करने लगा—'भगवन्! आप रुग्ण हैं, अतः यह स्थान आपके ठहरने योग्य नहीं है। आप उद्यान में पधारें, वहाँ राजवैद्यों द्वारा आपकी चिकित्सा होगी।' इस पर राजर्षि उदायन उद्यान में आकर ठहर गए। वहाँ केशी राजा ने षड्यन्त्र कर वैद्यों द्वारा विषमिश्रित औषध पिला दी। कुछ ही देर में विष समस्त शरीर में व्याप्त हो गया, राजर्षि को यह पता लग गया कि 'केशी राजा ने विषमिश्रित औषध दिलाई है। पर सोचा—इससे मेरी आत्मा का क्या नष्ट होने वाला है? शरीर भले ही नष्ट हो जाए!' पवित्र अध्यवसाय के प्रभाव से राजर्षि ने केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया।

रानी प्रभावती ने देवी के रूप में जब यह सारा काण्ड अवधिज्ञान से जाना तो उक्त कुम्भकार को सिनपल्लीग्राम में पहुँचा कर सारे वीतभयनगर को धूलिवर्षा करके ध्वस्त कर दिया।[1]

काशीराज द्वारा कर्मक्षय

४९. तहेव कासीराया सेओ-सच्चपरक्कमे।
कामभोगे परिच्चज्ज पहणे कम्ममहावणं॥

[४९] इसी प्रकार श्रेय और सत्य (संयम) में पराक्रमी काशीराज ने कामभोगों का परित्याग कर कर्मरूपी महावन को ध्वस्त किया।

विवेचन—काशीराज नन्दन की कथा—वाराणसी में अठारहवें तीर्थंकर श्री अरनाथ भगवान् के शासन में अग्निशिख राजा था। उसकी दो पटरानियाँ थीं—जयन्ती और शेषवती। जयन्ती से नन्दन नामक सप्तम बलदेव और शेषवती से दत्त नामक सप्तम वासुदेव हुए। यथावसर राजा ने दत्त को राज्य सौंपा। इसने नन्दन की सहायता से भरत क्षेत्र के तीन खण्डों पर विजय प्राप्त की। अपनी छप्पन हजार वर्ष की आयु दत्त ने अर्धचक्री की लक्ष्मी एवं भोग भोगने में ही समाप्त की। अतः वह मर करके पंचम नरक भूमि में गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् विरक्त होकर नन्दन ने दीक्षा ग्रहण की,

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ३९७ से ३४१ तक (संक्षिप्त)

चारित्रपालन कर अन्त में केवलज्ञान पाया और ५६ हजार वर्ष की कुल आयु पूर्ण करके सिद्धि प्राप्त की।[1]

विजय राजा राज्य त्याग कर प्रव्रजित

> ५०. तहेव विजओ राया अणट्ठाकित्ति पव्वए।
> रज्जं तु गुणसमिद्धं पयहित्तु महाजसो॥

[५०] इसी प्रकार निर्मलकीर्ति वाले महायशस्वी विजय राजा ने गुणसमृद्ध राज्य का परित्याग करके प्रव्रज्या ग्रहण की।

विवेचन—अणट्ठाकित्ती : तीन अर्थ—(१) अनार्त्तकीर्ति—अनार्त्ता—आर्त्तध्यानरहित होकर दीन, अनाथ आदि को दान देने से होने वाली कीर्ति—प्रसिद्धि—से उपलक्षित। **(२) अनार्त्तकीर्ति**—अनार्त्ता—सकल दोषों से रहित होने से अबाधित कीर्ति वाले। **(३) आज्ञार्थाकृति**—आज्ञा का अर्थ है—आगम तथा अर्थ शब्द का अर्थ है—हेतु, अर्थात्—आज्ञार्थक आकृति—अर्थात् मुनिवेषात्मक आकृति।

रज्जं गुणसमिद्धं : दो अर्थ—(१) राज्य के गुणों, अर्थात्—स्वामी, अमात्य, मित्र, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सैन्य; इन सप्तांग राज्यगुणों से समृद्ध, अथवा (२) गुणों—शब्दादि विषयों से समृद्ध—सम्पन्न—राज्य।[2]

विजय राजा का संयम में पराक्रम—द्वारकानगरी के ब्रह्मराज और उनकी पटरानी सुभद्रा का अंगजात द्वितीय बलदेव था। उसका छोटा भाई द्विपृष्ठ वासुदेव था। जो ७२ लाख वर्ष की आयु पूर्ण करके नरक में गया। जबकि विजय ने वैराग्यपूर्वक प्रव्रजित होकर केवलज्ञान प्राप्त किया और ७५ लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर मोक्ष प्राप्त किया।[3]

महाबल राजर्षि ने सिद्धिपद प्राप्त किया

> ५१. तहेवुग्गं तवं किच्चा अव्वक्खित्तेण चेयसा।
> महाबलो रायरिसी अद्दाय सिरसा सिरं॥

[५१] इसी प्रकार अनाकुल चित्त से उग्र तपश्चर्या करके राजर्षि महाबल ने सिर देकर सिर (शीर्षस्थ पद मोक्ष) प्राप्त किया।

विवेचन—अद्दाय सिरसा सिरं : दो भावार्थ—(१) सिर देकर अर्थात्—जीवन से निरपेक्ष होकर सिर—समस्त जगत् का शीर्षस्थ—सर्वोपरि—मोक्ष, ग्रहण—स्वीकार किया। (२) शीर्षस्थ—सर्वोत्तम, श्री—केवलज्ञान—लक्ष्मी, ग्रहण करके परिनिर्वाण को प्राप्त किया।[4]

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा. २, पत्र ९०
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४९
३. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ४४७
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४९

महाबल राजर्षि का वृत्तान्त—महाबल हस्तिनापुर के अतुल बलशाली बल राजा का पुत्र था। यौवन में पदार्पण करते ही माता प्रभावती रानी और पिता बल राजा ने ८ राजकन्याओं के साथ महाबल का विवाह किया।

एक बार नगर के बाहर उद्यान में विमलनाथ तीर्थंकर के शासन के धर्मघोष आचार्य पधारे। महाबलकुमार ने उनके दर्शन किये, प्रवचन सुना तो संसार से विरक्ति और मुनिधर्म के पालन में तीव्र रुचि हुई। माता-पिता से दीक्षा की अनुज्ञा लेने गया तो उन्होंने मोहवश उसे गृहस्थाश्रम में रह कर सांसारिक सुख भोगने और पिछली वय में दीक्षा लेने को कहा। परन्तु उसने उन्हें भी विविध युक्तियों से समझाया तो उन्होंने निरुपाय होकर दीक्षा की आज्ञा दी।

महाबलकुमार वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर सहस्रमानववाहिनी शिविका पर आरूढ होकर सर्वसैन्य, नृत्य, गीत, वाद्य आदि से गगन गुंजाते हुए नगर के बाहर उद्यान में पहुँचा। माता-पिता ने दीक्षा की आज्ञा दी। समस्त वस्त्राभूषण आदि उतार कर अपने केशों का लोच किया और गुरुदेव से दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के बाद महाबल मुनि ने १२ वर्ष तक तीव्र तपश्चरण किया। चौदह पूर्वों का अध्ययन किया और अन्तिम समय में एक मास का अनशन करके आयुष्य पूर्ण कर पंचम देवलोक में गए। वहाँ का १० सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर वे वाणिज्यग्राम में सुदर्शन श्रेष्ठी के रूप में उत्पन्न हुए। चिरकाल तक श्रावकधर्म का पालन किया। एक बार भगवान् महावीर की धर्मदेशना सुन कर सुदर्शन श्रेष्ठी प्रतिबुद्ध हुआ, याचकों को दान देकर प्रभु के चरणों में दीक्षा ग्रहण की। फिर सुदर्शन मुनि ने समस्त पूर्वों का अध्ययन करके उग्र तप से सर्व कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया।[1]

क्षत्रियमुनि द्वारा सिद्धान्तसम्मत उपदेश

५२. कहं धीरो अहेऊहिं उम्मत्तो व्व महिं चरे ?
एए विसेसमादाय सूरा दढपरक्कमा ॥

[५२] इन (भरत आदि) शूरवीर और दृढपराक्रमी (राजाओं) ने जिनशासन में विशेषता देख कर उसे स्वीकार किया था। अतः धीर साधक (एकान्त क्रिया, अक्रिया, विनय और अज्ञान रूप) कुहेतु वादों से प्रेरित हो कर उन्मत्त की तरह कैसे पृथ्वी पर विचर सकता है ?

५३. अच्चन्तनियाणखमा सच्चा मे भासिया वई।
अतरिंसु तरन्तेगे तरिस्सन्ति अणागया ॥

[५३] मैंने ('जिनशासन ही आश्रयणीय है') यह अत्यन्त निदानक्षम (समुचित युक्तिसंगत) सत्य वाणी कही है। (इसे स्वीकार कर) अनेक (जीव अतीत में संसारसमुद्र से) पार हुए हैं, (वर्तमान में) पार हो रहे हैं और भविष्य में पार होंगे।

५४. कहं धीरे अहेऊहिं अत्ताणं परियावसे ?
सव्वसंगविनिम्मुक्के सिद्धे हवइ नीरए ॥
—त्ति बेमि।

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा. २, पत्र ९१ से ९३ तक

[५४] धीर साधक (पूर्वोक्त एकान्तवादी) अहेतुवादों से अपने आपको कैसे परिवासित करे ? जो सभी संगों से विनिर्मुक्त है, वही नीरज (कर्मरज से रहित) हो कर सिद्ध होता है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—उम्मत्तो व्व :—उन्मत्त—ग्रहगृहीत की तरह, सत्तत्त्व रूप वस्तु का अपलाप करके या असत्प्ररूपणा करके ।

तात्पर्य—गाथा ५१ द्वारा क्षत्रियमुनि का अभिप्राय यह है कि जैसे पूर्वोक्त महान् आत्माओं ने कुवादिपरिकल्पित क्रियावाद आदि को छोड़ कर जिनशासन को अपनाने में ही अपनी बुद्धि निश्चित कर ली थी, वैसे आपको (संजय मुनि को) भी धीर हो कर इसी जिनशासन में अपना चित्त दृढ़ करना चाहिए ।

अच्चंतनियाणखमा : दो अर्थ—(१) अत्यन्त निदानों—कारणों—हेतुओं से सक्षम—युक्त । अथवा (२) अत्यन्त रूप से निदान—कर्ममलशोधन में सक्षम—समर्थ ।

अत्ताणं परियावसे—कुहेतुओं से आत्मा को शासित कर सकता है, अर्थात् आत्मा को कैसे कुहेतुओं के स्थान में आवास करा सकता है ?

सव्वसंगविनिम्मुक्के—समस्त संग—द्रव्य से धन-धान्यादि और भाव से मिथ्यात्वरूप क्रियावादादि से रहित ।[1]

।। संजयीय (संयतीय) : अठारहवाँ अध्ययन सम्पूर्ण ।।

---

1. बृहद्वृत्ति, पत्र ४४९-४५०

उन्नीसवाँ अध्ययन : मृगापुत्रीय

अध्ययन-सार

* इस अध्ययन का नाम मृगापुत्रीय (मियापुत्तिज्जं) है, जो मृगा रानी के पुत्र से सम्वन्धित है।
* मृगापुत्र का सामान्य परिचय देकर, उसे संसार से विरक्ति कैसे हुई ? उसके अपने माता-पिता के साथ क्या-क्या प्रश्नोत्तर हुए ? अन्त में मृगापुत्र श्रमणधर्मपालन के कष्टों और कठिनाइयों से भी अनन्तगुणे कष्टों एवं दुःखों वाले नरकों तथा अन्य गतियों का अपना जाना-माना सजीव वर्णन करके माता-पिता से दीक्षा की अनुज्ञा प्राप्त करने में कैसे सफल हो जाता है ? तथा मृगापुत्र दीक्षा लेने पर किन गुणों से समृद्ध होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुआ ? इन सव विषयों का विशद वर्णन इस अध्ययन में है।
* सुग्रीव नगर के राजा वलभद्र और रानी मृगावती के पुत्र का नाम 'वलश्री' था, परन्तु वह माता के नाम पर 'मृगापुत्र' के नाम से प्रसिद्ध था।

  एक बार मृगापुत्र अपने महल के गवाक्ष में अपनी पत्नियों के साथ वैठा नगर का दृश्य देख रहा था। तभी उसकी दृष्टि राजपथ पर जाते हुए एक प्रशान्त, शीलसम्पन्न, तप, नियम और संयम के धारक तेजस्वी साधु पर पड़ी। मृगापुत्र अनिमेष दृष्टि से देख कर विचारों की गहराई में डूब गया—ऐसा साधु पहले भी मैंने कहीं देखा है। कव देखा है ? यह याद नहीं आता, परन्तु देखा अवश्य है। उसे इस तरह ऊहापोह करते-करते पूर्वजन्म का स्मरण हो आया कि मैं भी पूर्वजन्म में ऐसा ही साधु था। साथ ही साधुजीवन की श्रेष्ठता, चर्या, कर्मों से मुक्ति का सर्वोत्तम पथ आदि-आदि की स्मृतियाँ करवटें लेने लगीं। अव उसे सांसारिक भोग, रिश्ते-नाते, धन-वैभव आदि सव बन्धनरूप लगने लगे। उसके लिए सांसारिक वृत्ति में रहना असह्य हो उठा।
* वह अपने माता-पिता के पास गया और वोला—'मैं साधुदीक्षा अंगीकार करना चाहता हूँ, आप मुझे अनुज्ञा दें। मुझे अव संसार के कामभोगों से विरक्ति और संयम में अनुरक्ति हो गई है।' फिर उसने माता-पिता के समक्ष भोगों के कटु परिणाम वताए, शरीर एवं संसार की अनित्यता का वर्णन किया। यह भी कहा कि धर्मरूपी पाथेय को लिये विना जो परभव में जाता है, वह व्याधि, रोग, दुःख, शोक आदि से पीड़ित होता है। जो धर्माचरण करता है, वह इहलोक-परलोक में अत्यन्त सुखी हो जाता है। (गा. १ से २३ तक)
* परन्तु मृगापुत्र के माता-पिता यों सहज ही उसे दीक्षा की अनुमति देने वाले नहीं थे। वे उसके समक्ष संयम, महाव्रत एवं श्रमणधर्म-पालन के बड़े-बड़े कष्टों और दुःखों का वर्णन करने लगे और अन्त में उसके समक्ष प्रस्ताव रखा—यदि दीक्षा ही लेना है तो भुक्तभोगी वन कर लेना, अभी क्या जल्दी है ? (गा. २४ से ४३ तक)

किम्पाकफल—किम्पाक एक वृक्ष होता है, जिसके फल अत्यन्त मधुर, स्वादिष्ट, एवं सुगन्धित होते हैं, किन्तु उसे खाते ही मनुष्य का शरीर विषाक्त हो जाता है और वह मर जाता है।[1]

अप्पकम्मे अवेयणे—धर्म पाथेय है। धर्माचरणसहित एवं सावद्यव्यापाररहित सपाथेय व्यक्ति जब परभव में जाता है, तो उसे सातावेदनरूप सुख का अनुभव होता है।[2]

माता-पिता द्वारा श्रमणधर्म की कठोरता बता कर उससे विमुख करने का उपाय

२५. तं बित ऽम्मापियरो सामणं पुत्त ! दुच्चरं।
गुणाणं तु सहस्साइं धारेयव्वाइं भिक्खुणो॥

[२५] माता-पिता ने उसे (मृगापुत्र से) कहा—पुत्र ! श्रमणधर्म का आचरण अत्यन्त दुष्कर है। (क्योंकि) भिक्षु को हजारों गुण धारण करने होते हैं।

२६. समया सव्वभूएसु सत्तु-मित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई जावज्जीवाए दुक्करं॥

[२६] भिक्षु को जगत् में शत्रुओं और मित्रों के प्रति, अथवा (यों कहो कि) समस्त जीवों के प्रति समत्व रखना तथा जीवन-पर्यन्त प्राणातिपात से निवृत्त होना अत्यन्त दुष्कर है।

२७. निच्चकालऽप्पमत्तेणं मुसावायविवज्जणं।
भासियव्वं हियं सच्चं निच्चाउत्तेण दुक्करं॥

[२७] सदा अप्रमादी रह कर मृषावाद (असत्य) का त्याग करना (तथा) निरन्तर उपयोग युक्त रह कर हितकर सत्य बोलना, बहुत ही दुष्कर है।

२८. दन्त-सोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जणं।
अणवज्जेसणिज्जस्स गेण्हणा अवि दुक्करं॥

[२८] दन्तशोधन आदि भी विना दिए न लेना तथा प्रदत्त वस्तु भी अनवद्य (—निर्दोष) और एषणीय ही लेना अतिदुष्कर है।

२९. विरई अबम्भचेरस्स कामभोगरसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बम्भं धारेयव्वं सुदुक्करं॥

[२९] कामभोगों के स्वाद से अभिज्ञ व्यक्ति के लिए अब्रह्मचर्य (मैथुन) से विरत होना तथा उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत को धारण करना अतीव दुष्कर कार्य है।

३० धण-धन्न-पेसवग्गेसु परिग्गहविवज्जणं।
सव्वारम्भपरिच्चाओ निम्ममत्तं सुदुक्करं॥

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५४
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५५ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. ४८६

है और वह भी दुःख एवं क्लेश का भाजन है, शरीर के लिए मनुष्य को अनेक क्लेश, दुःख, संकट, रोग, शोक, भय, चिन्ता, आधि, व्याधि, उपाधि आदि सहने पड़ते हैं। शरीर के पालन-पोषण, संवर्द्धन, रक्षण आदि में रातदिन अनेक दुःख उठाने पड़ते हैं। इस कारण इस मनुष्यशरीर को व्याधि और रोग का घर तथा जरा-मरणग्रस्त बता कर मृगापुत्र ने ऐसे नश्वर एवं एक दिन अवश्य त्याज्य इस शरीर में रहने में अपनी अनिच्छा एवं अरुचि दिखाई है।

संसार की नश्वरता—संसार की प्रत्येक सजीव एवं निर्जीव वस्तु नाशवान् है। फिर जिन नश्वर वस्तुओं, स्वजनों या मनोज्ञ विषयभोगों या भोगसामग्री को मनुष्य जुटाता है, उन पर मोह-ममता करता है, उनके लिए नाना कष्ट उठाता है, उन सबको एक दिन विवश होकर उसे छोड़ना पड़ता है। इसीलिए मृगापुत्र कहता है कि जब इन्हें एक दिन छोड़ कर चले जाना है तो फिर इनके साथ मोह-ममत्वसम्बन्ध ही क्यों बांधा जाए?

धर्मकर्ता और अधर्मकर्ता को सपाथेय-अपाथेय की उपमा—१८ से २१ वीं गाथा तक बताया गया है कि जो व्यक्ति धर्मरूपी पाथेय लेकर परभव जाता है, वह सुखी होता है, जबकि धर्मरूपी पाथेय लिये बिना ही परभव जाता है, वह धर्माचरण के बदले अनाचार, कदाचार, विषयभोग आदि में रचा-पचा रहकर जीवन पूराकर देता है। फलतः वह रोग, व्याधि, चिन्ता आदि कष्टों से पीड़ित रहता है।

असार को छोड़ कर सारभूत की सुरक्षा—बुढ़ापे और मरण से जल रहे असार संसार में से निःसारभूत शरीर और शरीर से सम्बन्धित सभी पदार्थों का त्याग करके या उनसे विरक्ति-अनासक्ति रख कर एकमात्र सारभूत आत्मा या आत्मगुणों को सुरक्षित रखना ही मृगापुत्र का आशय है। इस गाथा के द्वारा मृगापुत्र ने धर्माचरण में विलम्ब के प्रति असहिष्णुता प्रगट की है।[1]

रोग और व्याधि में अन्तर—मूल में शरीर को 'वाहीरोगाण आलए' (व्याधि और रोगों का घर) बताया है, सामान्यतया व्याधि और रोग समानार्थक हैं, किन्तु बृहद्वृत्ति में दोनों का अन्तर बताया गया है। व्याधि का अर्थ है—अत्यन्त बाधा (पीड़ा) के कारणभूत राजयक्ष्मा आदि जैसे कष्ट साध्य रोग और रोग का अर्थ है—ज्वर आदि सामान्य रोग।[2]

पच्छा-पुरा य चइयव्वे—शरीर नाशवान् है, क्षणभंगुर है, कब यह नष्ट हो जाएगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है। वह पहले छूटे या पीछे, एक दिन छूटेगा अवश्य। यदि पहले छूटता है तो अभुक्तभोगावस्था यानी बाल्यावस्था में और पीछे छूटता है तो भुक्तभोगावस्था अर्थात्—बुढ़ापे में छूटता है। अथवा जितनी स्थिति (आयुष्य कर्मदलिक) है, उतनी पूर्ण करके यानी आयुक्षय के पश्चात् अथवा सोपक्रमी आयुष्य हो तो जितनी स्थिति है, उससे पहले ही किसी दुर्घटना आदि के कारण आयुष्य टूट जाता है। निष्कर्ष यह है कि शरीर अनित्य होने से पहले या पीछे कभी भी छोड़ना पड़ेगा, तब फिर इस जीवन (शरीरादि) को विषयों या कषायों आदि में नष्ट न करके धर्माचरण में, आत्म-स्वरूपरमण में या रत्नत्रय की आराधना में लगाया जाए यही उचित है।[3]

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५३ से ४५५ तक (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ४७६ से ४८९ तक

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५५ : व्याधयः—अतीव बाधाहेतवः कुष्ठादयो, रोगाः —ज्वरादयः।

३. वही, पत्र ४५४

१९. अद्धाणं जो महन्तं तु अपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो दुही होई छुहा-तण्हाए पीडिओ ॥

[१९] जो व्यक्ति पाथेय लिये विना लम्बे मार्ग पर चल देता है, वह चलता हुआ (रास्ते में) भूख और प्यास से पीड़ित होकर दुःखी होता है ।

२०. एवं धम्मं अकाऊणं जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो दुही होइ वाहीरोगेहिं पीडिओ ॥

[२०] इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म (धर्माचरण) किये विना परभव में जाता है वह जाता हुआ व्याधि और रोग से पीड़ित एवं दुःखी होता है ।

२१. अद्धाणं जो महन्तं तु सपाहेओ पवज्जई ।
गच्छन्तो सो सुही होइ छुहा—तण्हाविवज्जिओ ॥

[२१] जो मनुष्य पाथेय साथ में लेकर लम्बे मार्ग पर चलता है, वह चलता हुआ भूख और प्यास (के दुःख) से रहित होकर सुखी होता है ।

२२. एवं धम्मं पि काऊणं जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो सुही होइ अप्पकम्मे अवेयणे ॥

[२२] इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्माचरण करके परभव (आगामी जन्म) में जाता है, वह अल्पकर्मा (जिसके थोड़े से कर्म शेष रहे हों, वह) जाता हुआ वेदना से रहित एवं सुखी होता है ।

२३. जहा गेहे पलित्तम्मि तस्स गेहस्स जो पहू ।
सारभण्डाणि नीणेइ असारं अवउज्झइ ॥

[२३] जिस प्रकार घर में आग लग जाने पर उस घर का जो स्वामी होता है, वह (उस घर में रखी हुई) सारभूत वस्तुएँ वाहर निकाल लाता है और असार (तुच्छ) वस्तुओं को (वहीं) छोड़ देता है ।

२४. एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य ।
अप्पाणं तारइस्सामि तुब्भेहिं अणुमन्निओ ॥

[२४] इसी प्रकार जरा और मरण से जलते हुए इस लोक में से आपकी अनुमति पा कर सारभूत अपनी आत्मा को वाहर निकालूंगा ।

विवेचन—भोगों का परिणाम—प्रस्तुत में भोगों को जहरीले फल के समान कटुपरिणाम वाला वताया गया है । इसका आशय यही है कि विषयभोग भोगते समय पहले तो मधुर एवं रुचिकर लगते हैं, किन्तु भोग लेने के पश्चात् उनका परिणाम अत्यन्त कटु होता है । इसलिए भोग सतत दुःख-परम्परा को वढ़ाते हैं, दुःख लाते हैं ।

शरीर की अनित्यता, अशुचिता एवं दुःखभाजनता—१३-१४-१५ वीं गाथाओं में कहा गया है कि शरीर अनित्य अशुचि, तथा शुक्र-शोणित आदि घृणित वस्तुओं से वना हुआ एवं भरा हुआ

मृगापुत्र की वैराग्यमूलक उक्तियाँ

१२. अम्मताय ! मए भोगा भुत्ता विसफलोवमा ।
पच्छा कडुयविवागा अणुबन्ध—दुहावहा ॥

[१२] हे माता-पिता ! मैंने भोग भोग लिये हैं, वे विषफल के समान अन्त में कटु परिणाम (विपाक) वाले और निरन्तर दुःखावह होते हैं ।

१३. इमं सरीरं अणिच्चं असुइं असुइसंभवं ।
असासयावासमिणं दुक्ख-केसाण भायणं ॥

[१३] यह शरीर अनित्य है, अपवित्र है और अपवित्र वस्तुओं से उत्पन्न हुआ है, यहाँ का आवास अशाश्वत है तथा दुःखों एवं क्लेशों का भाजन है ।

१४. असासए सरीरम्मि रइं नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे फेणबुब्बुय—सन्निभे ॥

[१४] यह शरीर पानी के बुलबुले के समान क्षणभंगुर है इसे पहले या पीछे (कभी न कभी) छोड़ना ही है । इसलिए इस अशाश्वत शरीर में मैं आनन्द नहीं पा रहा हूँ ।

१५. माणुसत्ते असारम्मि वाही—रोगाण आलए ।
जरा—मरणघत्थम्मि खणं पि न रमामऽहं ॥

[१५] व्याधि और रोगों के घर तथा जरा और मृत्यु से ग्रस्त इस असार मनुष्य शरीर (भव) में एक क्षण भी मुझे सुख नहीं मिल रहा है ।

१६. जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसन्ति जन्तवो ॥

[१६] जन्म दुखःरूप है, जरा (बुढ़ापा) दुःखरूप है, रोग और मरण भी दुःखरूप हैं । अहो ! निश्चय ही यह संसार दुःखमय है, जिसमें प्राणी क्लेश पाते हैं ।

१७. खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च पुत्त—दारं च बन्धवा ।
चइत्ताणं इमं देहं गन्तव्वमवसस्स मे ॥

[१७] खेत (क्षेत्र), वास्तु (घर), हिरण्य (सोना-चांदी) और पुत्र, स्त्री तथा बन्धुजनों को एवं इस शरीर को भी छोड़ कर एक दिन मुझे अवश्य (विवश हो कर) चले जाना है ।

१८. जहा किम्पागफलाणं परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं परिणामो न सुन्दरो ॥

[१८] जैसे खाए हुए किम्पाक फलों का अन्तिम परिणाम सुन्दर नहीं होता, वैसे ही भोगे हुए भोगों का परिणाम भी सुन्दर नहीं होता ।

अभिग्रहात्मक व्रत अथवा ऐच्छिक व्रत या योगसम्मत शौच-संतोष आदि नियम एवं संयम—सत्रह प्रकार का संयम, इनके धारक।[1]

सीलड्ढं : शीलाढ्य :—शील—अठारह हजार शीलांगों से आढ्य—परिपूर्ण या समृद्ध।[2]

अज्झवसाणंमि सोहणे : अर्थ—शोभन (पवित्र) अध्यवसान—अन्तःकरणपरिणाम। अर्थात्—प्रधान क्षायोपशमिक भाववर्ती परिणाम।

पुराकडं : अर्थ—पूर्वजन्म में आचरित।[3]

विरक्त मृगापुत्र द्वारा दीक्षा की अनुज्ञा-याचना

९. जाइसरणे समुप्पन्ने मियापुत्ते महिड्ढिए।
सरई पोराणियं जाइं सामण्णं च पुराकयं॥

[९] जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होने पर महान् ऋद्धि के धारक मृगापुत्र को पूर्वभव का स्मरण हुआ और पूर्वाचरित श्रामण्य-साधुत्व की भी स्मृति हो गई।

१०. विसएहि अरज्जन्तो रज्जन्तो संजमम्मि य।
अम्मापियरं उवागम्म इमं वयणमब्बवी॥

[१०] विषयों से विरक्त और संयम में अनुरक्त मृगापुत्र ने माता-पिता के पास आ कर इस प्रकार कहा—

११. सुयाणि मे पंच महव्वयाणि नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु।
निव्विण्णकामो मि महण्णवाओ अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो!॥

[११] मैंने (पूर्वभव में) पंचमहाव्रतों को सुना है तथा नरकों और तिर्यञ्चयोनियों में दुःख है। मैं संसाररूप महासागर से काम-विरक्त हो गया हूँ। माता! मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूंगा; (अतः) मुझे अनुमति दें।"

विवेचन—विसएहि : अर्थ—मनोज्ञ शब्दादि विषयों में।

पूर्वजन्म का अनुभव—मृगापुत्र ने जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न होने से माता-पिता को अपने पूर्वजन्म के अनुभव अथवा अनुभूत वृत्तान्त बताए, जिनमें मुख्य थे—(१) पूर्वजन्म में पंचमहाव्रत-ग्रहण, (२) नरक-तिर्यञ्चगतियों में अनुभूत दुःख। इन्हीं पूर्वजन्मकृत अनुभूतियों और स्मृतियों के आधार पर मृगापुत्र को संसार के कामभोगों से विरक्ति हुई। फलतः वह माता-पिता को दीक्षाग्रहण करने की अनुज्ञा प्रदान करने के लिए समझाता है।

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५१ : नियमश्च द्रव्याद्यभिग्रहात्मकः।
(ख) शौचसंतोषतपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। —योगदर्शन २।३२

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५२ : शीलं-अष्टादशशीलांगसहस्ररूपं, तेनाढ्यं-परिपूर्णम्।

३. वही, पत्र ४५२

मुनि को देख कर मृगापुत्र को पूर्वजन्म का स्मरण

४. मणिरयणकुट्टिमतले पासायालोयणट्ठिओ ।
आलोएइ नगरस्स चउक्क-तिय-चच्चरे ॥

[४] एक दिन मृगापुत्र मणि और रत्नों से जड़े हुए कुट्टिमतल (फर्श) वाले प्रासाद के गवाक्ष (झरोखे) में स्थित होकर नगर के चौराहों (चौक), तिराहों और चौहट्टों को देख रहा था ।

५. अह तत्थ अइच्छन्तं पासई समणसंजयं ।
तव—नियम—संजमधरं सीलड्ढं गुणआगरं ॥

[५] मृगापुत्र ने वहाँ राजपथ पर जाते हुए तप, नियम और संयम के धारक शील से सुसम्पन्न तथा (ज्ञानादि) गुणों के आकर एक श्रमण को देखा ।

६. तं देहई मियापुत्ते दिट्ठीए अणिमिसाए उ ।
कहिं मन्नेरिसं रूवं दिट्ठपुव्वं मए पुरा ॥

[६] मृगापुत्र उस मुनि को अनिमेष दृष्टि से देखने लगा और सोचने लगा—'ऐसा लगता है कि ऐसा रूप मैंने इससे पूर्व कहीं देखा है ।'

७. साहुस्स दरिसणे तस्स अज्झवसाणंमि सोहणे ।
मोहं गयस्स सन्तस्स जाईसरणं समुप्पन्नं ॥

८. देवलोग-चुओ संतो माणुस्सं भवमागओ ।
सन्निनाणे समुप्पण्णे जाइं सरइ पुराणयं ॥

[७-८] उस साधु के दर्शन तथा प्रशस्त अध्यवसाय के होने पर 'मैंने ऐसा कहीं देखा है' इस प्रकार के अतिचिन्तन (ऊहापोह) वश मूर्च्छा-मोह को प्राप्त होने पर उसे (मृगापुत्र को) जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया ।

संज्ञि-ज्ञान अर्थात् समनस्क ज्ञान होते ही उसने पूर्वजन्म का स्मरण किया—'मैं देवलोक से च्युत हो कर मनुष्यभव में आया हूँ ।

विवेचन—मणि और रत्न में अन्तर—बृहद्वृत्ति के अनुसार—मणि कहते हैं—विशिष्ट माहात्म्य वाले चन्द्रकान्त आदि रत्नों को तथा रत्न कहते हैं—गोमेयक आदि रत्नों को ।[1]

आलोयण : आलोकन : विशिष्ट अर्थ—जहाँ बैठ कर चारों दिशाओं का अवलोकन किया जा सके, ऐसे प्रासाद को आलोकन कहते हैं अथवा सर्वोपरि (सबसे ऊँचा) चतुरिकारूप गवाक्ष ।[2]

तवनियमसंजमधरं : विशिष्ट अर्थ—तप—बाह्य और आभ्यन्तर तप, नियम—द्रव्य आदि का

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५१

२. आलोक्यते दिशोऽस्मिन् स्थितैरित्यालोकनम् तस्मिन् सर्वोपरिवर्त्तिचतुरिकागवाक्षे वा स्थितः—उपविष्टः ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ४५१

एगूणविंसइमं अज्झयणं : उन्नीसवाँ अध्ययन

मियापुत्तिज्जं : मृगापुत्रीय

मृगापुत्र का परिचय

१. सुग्गीवे नयरे रम्मे काणणुज्जाणसोहिए।
राया वलभद्दे त्ति मिया तस्सऽग्गमाहिसी ॥

[१] वनों और उद्यानों से सुशोभित सुग्रीव नामक रमणीय नगर में वलभद्र नामक राजा (राज्य करता) था। 'मृगा' उसकी अग्रमहिषी (-पटरानी) थी।

२. तेसिं पुत्ते वलसिरी मियापुत्ते त्ति विस्सुए।
अम्मापिऊण दइए जुवराया दमीसरे ॥

[२] उनके 'वलश्री' नामक पुत्र था, जो 'मृगापुत्र' के नाम से प्रसिद्ध था। वह माता-पिता को अत्यन्त वल्लभ था तथा दमीश्वर एवं युवराज था।

३. नन्दणे सो उ पासाए कीलए सह इत्थिहिं।
देवो दोगुन्दगो चेव निच्चं मुइयमाणसो ॥

[३] वह प्रसन्नचित्त से नन्दन (आनन्ददायक) प्रासाद (राजमहल) में दोगुन्दक देव की तरह अपनी पत्नियों के साथ क्रीड़ा किया करता था।

विवेचन—दमीसरे—(१) (वर्तमान काल की अपेक्षा से—) उद्धत लोगों का दमन करने वाले राजाओं का ईश्वर-प्रभु, (२) इन्द्रियों को दमन करने वाले व्यक्तियों में अग्रणी, अथवा (३) उपशमशील व्यक्तियों में ईश्वर-प्रधान। (भविष्यकाल की अपेक्षा से)।[1]

काणणुज्जाणसोहिए : अर्थ—कानन का अर्थ है—वड़े-वड़े वृक्षों वाला वन और उद्यान का अर्थ है—आराम या क्रीड़ावन। इन दोनों से सुशोभित।[2]

युवराया—युवराज-पद पर अभिषिक्त, राज्यपद की पूर्व स्वीकृति का द्योतक।

देवो दोगुंदगो : अर्थ—दोगुन्दक देव त्रायस्त्रिंश होते हैं, वे सदैव भोगपरायण रहते हैं। ऐसी वृद्धपरम्परा है।[3]

---

१. (क) वृहद्वृत्ति, पत्र ४५१ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ४१७

२. काननैः—वृहद्वृक्षाश्रयैर्वनैरुद्यानैः आरामैः क्रीड़ावनैर्वा शोभिते। —वृहद्वृत्ति, पत्र ४५१

३ वृहद्वृत्ति, पत्र ४५१ : दोगुन्दकाश्च त्रायस्त्रिंशाः, तथा च वृद्धाः—'त्रायस्त्रिंशा देवा नित्यं भोगपरायणा दोगुन्दगा इति भण्णंति।'

※ इसके युक्तिपूर्वक समाधान के लिए माता-पिता के समक्ष नरक आदि में सहे हुए कष्टों और दुःखों का मार्मिक वर्णन किया। (गा. ४४ से ७४ तक)

※ तब माता-पिता ने कहा—दीक्षित हो जाने पर एकाकी विचरण करने वाले श्रमण का कोई सहायक नहीं होता, वह रोगचिकित्सा नहीं करता, यह एक समस्या है! किन्तु मृगापुत्र ने उन्हें जंगल में एकाकी विचरण करने वाले मृगों की समग्र चर्या का वर्णन करके यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य अगर अभ्यास करे तो उसके लिए रोग का अप्रतीकार तथा अन्य मृगचर्या, निर्दोष भिक्षाचर्या आदि कठिन नहीं है। मैं स्वयं मृगचर्या का आचरण करने का सकल्प लेता हूँ। (गा. ७५ से ८५ तक)

※ इसके पश्चात् शास्त्रकार ने मृगापुत्र की साधुचर्या, समता, एवं साधुता के गुणों के विषय में उल्लेख किया है। अन्त में मृगापुत्र की तरह समस्त साधु-साध्वियों को श्रमणधर्म के पालन का निर्देश दिया है एवं उसके द्वारा आचरित श्रमणधर्म का सर्वोत्कृष्ट फल भी बतलाया है। (गा. ८६ से ९८ तक)

मृगापुत्र के दृढ़ संकल्प को, उसके अनुभवों और पूर्वजन्म की स्मृति के आधार पर बने हुए संयमानुराग को माता-पिता तोड़ नहीं सके, अन्त में दीक्षा की अनुमति दे दी।

मृगापुत्र मुनि बने, उन्होंने मृगचारिका की साधना की, श्रमणधर्म का जागृत रह कर पालन किया और अन्त में सिद्धि प्राप्त की।

□□

[३०] धन-धान्य एवं प्रेष्यवर्ग—दास-दासी आदि से सम्बन्धित परिग्रह का त्याग तथा सभी प्रकार के आरम्भों का परित्याग करना और ममतारहित हो कर रहना अतिदुष्कर है।

३१. चउव्विहे वि आहारे राईभोयणवज्जणा।
सन्निहीसंचओ चेव वज्जेयव्वो सुदुक्करो॥

[३१] अशन-पानादि चतुर्विध आहार का रात्रि में सेवन करने का त्याग करना तथा (काल-मर्यादा से बाहर) घृतादि सन्निधि का संचय न करना भी सुदुष्कर है।

३२. छुहा तण्हा य सीउण्हं दंस-मसग-वेयणा।
अक्कोसा दुक्खसेज्जा य तणफासा जल्लमेव य॥

[३२] क्षुधा, तृषा (प्यास), सर्दी, गर्मी, डांस और मच्छरों की वेदना, आक्रोश (दुर्वचन), दुःखप्रद शय्या (वसति-स्थान), तृणस्पर्श तथा मलपरीषह—

३३. तालणा तज्जणा चेव वह-बन्धपरीसहा।
दुक्खं भिक्खायरिया जायणा य अलाभया॥

[३३] ताड़ना, तर्जना, वध और बन्धन, भिक्षा-चर्या, याचना और अलाभ, इन परीषहों को सहन करना अत्यन्त दुःखकर है।

३४. कावोया जा इमा वित्ती केसलोओ य दारुणो।
दुक्खं बम्भवयं घोरं धारेउं य महप्पणो॥

[३४] यह जो कापोतीवृत्ति (कबूतरों के समान दोषों से साशंक एवं सतर्क रहने की वृत्ति), दारुण (भयंकर) केशलोच करना एवं घोर ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना महात्मा (उत्तम साधु) के लिए भी अतिदुःखरूप है।

३५. सुहोइओ तुमं पुत्ता! सुकुमालो सुमज्जिओ।
न हु सी पभू तुमं पुत्ता! सामण्णमणुपालिउं॥

[३५] हे पुत्र! तू सुख भोगने के योग्य है, सुकुमार है, सुमज्जित (—स्नानादि द्वारा साफ-सुथरा रहता) है। अतः पुत्र! तू (अभी) श्रमणधर्म का पालन करने में समर्थ नहीं है।

३६. जावज्जीवमविस्सामो गुणाणं तु महाभरो।
गुरुओ लोहभारो व्व जो पुत्ता! होई दुव्वहो॥

[३६] पुत्र! साधुचर्या में जीवन भर (कहीं) विश्राम नहीं है। लोहे के भार की तरह साधु-गुणों का वह महान् गुरुतर भार है, जिसे (जीवनपर्यन्त) वहन करना अत्यन्त कठिन है।

३७. आगासे गंगसोउव्व पडिसोओ व्व दुत्तरो।
बाहाहिं सागरो चेव तरियव्वो गुणोयही॥

[३७] जैसे आकाश-गंगा का स्रोत एवं (जलधारा का) प्रतिस्रोत दुस्तर है, जिस प्रकार

समुद्र को भुजाओं से तैरना दुष्कर है, वैसे ही गुणोदधि (—ज्ञानादि गुणों के सागर—संयम) को तैरना —पार पाना दुष्कर है।

३८. वालुयाकवले चेव निरस्साए उ संजमे।
असिधारागमणं चेव दुक्करं चरिउं तवो॥

[३८] संयम, बालू (—रेत) के ग्रास (कौर) की तरह स्वाद-रहित है (तथा) तपश्चरण करना खड्ग की धार पर चलने जैसा दुष्कर है।

३९. अहीवेगन्तदिट्ठीए चरित्ते पुत्त! दुच्चरे।
जवा लोहमया चेव चावेयव्वा सुदुक्करं॥

[३९] हे पुत्र! सर्प की तरह एकान्त (निश्चय) दृष्टि से चारित्र धर्म पर चलना अत्यन्त कठिन है। लोहे के जौ (यव) चबाना जैसे दुष्कर है, वैसे ही चारित्र का पालन करना दुष्कर है।

४०. जहा अग्गिसिहा दित्ता पाउं होइ सुदुक्करं।
तह दुक्करं करेउं जे तारुण्णे समणत्तणं॥

[४०] जैसे प्रदीप्त अग्नि-शिखा (ज्वाला) को पीना दुष्कर है, वैसे ही तरुणावस्था में श्रमण-धर्म का आचरण करना दुष्कर है।

४१. जहा दुक्खं भरेउं जे होई वायस्स कोत्थलो।
तहा दुक्खं करेउं जे कीवेणं समणत्तणं॥

[४१] जैसे कपड़े के कोथले (थैले) को हवा से भरना दुःशक्य है, वैसे ही कायर व्यक्ति के द्वारा श्रमणधर्म का आचरण करना कठिन होता है।

४२. जहा तुलाए तोलेउं दुक्करं मन्दरो गिरी।
तहा निहुयं नीसंकं दुक्करं समणत्तणं॥

[४२] जैसे मन्दराचल को तराजू से तोलना दुष्कर है, वैसे ही निश्चल और निःशंक होकर श्रमणधर्म का आचरण करना भी दुष्कर कार्य है।

४३. जहा भुयाहिं तरिउं दुक्करं रयणागरो।
तहा अणुवसन्तेणं दुक्करं दमसागरो॥

[४३] जैसे भुजाओं से समुद्र को तैरना अति दुष्कर है, वैसे ही अनुपशान्त व्यक्ति के लिए दम (अर्थात् चारित्र) रूपी सागर को तैरना दुष्कर है।

४४. भुंज माणुस्सए भोगे पंचलक्खणए तुमं।
भुत्तभोगी तओ जाया! पच्छा धम्मं चरिस्ससि॥

[४४] हे अंगजात! तू पहले मनुष्य सम्बन्धी शब्द, रूप आदि पांच प्रकार के भोगों का भोग कर; उसके पश्चात् भुक्तभोग हो कर (श्रमण-) धर्म का आचरण करना।

विवेचन—श्रमणधर्म की कठिनता का प्रतिपादन—२४ वीं से ४३ वीं तक १६ गाथाओं में मृगापुत्र के समक्ष उसके माता-पिता ने श्रमणधर्म की दुष्करता एवं कठिनता का चित्र विविध पहलुओं से प्रस्तुत किया है। वह इस प्रकार है—

हजारों गुणों को धारण करना, प्राणिमात्र पर समभाव रखना और प्राणातिपात आदि पांच महाव्रतों का पालन करना अत्यन्त दुष्कर है। रात्रि-भोजनत्याग, संग्रह-त्याग भी अतीव कठिनतर है; यह यहाँ प्रथम सात गाथाओं में प्रतिपादित है।

तत्पश्चात् वाईस परीषहों में से १३ परीषहों को सहन करने की कठिनता का दिग्दर्शन ३१-३२ वीं दो गाथाओं में कराया गया है।

इसके वाद ३३ वीं गाथा में श्रमणधर्म के अन्तर्गत कापोतीवृत्ति, केशलोच, घोर ब्रह्मचर्य-पालन को महासत्त्वशालियों के लिए भी अतिदुष्कर वताया गया है और ३४ वीं गाथा में मृगापुत्र की सुखभोगयोग्य वय, सुकुमारता, स्वच्छता आदि प्रकृति की याद दिला कर श्रमणधर्मपालन में उसकी असमर्थता का संकेत किया गया है।

तदनन्तर विविध उपमाओं द्वारा श्रमणधर्म के आचरण को अतीव दुष्कर सिद्ध करने का प्रयास किया गया है और अन्त में ४४ वीं गाथा में उसे सुझाव दिया गया है कि यदि इतनी दुष्करताओं और कठिनाइयों के वावजूद भी तेरी इच्छा श्रमणधर्म के पालन की हो तो पहले पंचेन्द्रिय-विषय-भोगों को भोग कर फिर साधु वन जाना।[1]

गुणाणं तु सहस्साइं०—साधु को श्रामण्य के लिए उपकारक शीलांगरूप सहस्र गुणों को धारण करना होता है।

समया सव्वभूएसु—साधु को यावज्जीवन सामायिक का पालन करना होता है।[2]

दंतसोहणमाइस्स—(१) दांत कुरेदने की तिनके की पतली सलाई, अथवा (२) दांतों की सफाई करने की दतौन आदि।

आशय यह है कि दांत कुरेदने को तिनके की सलाई जैसी तुच्छतर वस्तु को भी आज्ञा विना ग्रहण करना साधु के लिए वर्जित है, तो फिर अदत्त मूल्यवान् पदार्थों को ग्रहण करना तो वर्जित है ही।[3]

कामभोगरसन्नुणा—(१) कामभोगों के रस को जानने वाला, (२) कामभोगों और शृंगारादि रसों के ज्ञाता।[4]

परिग्रह, सर्वारम्भ एवं ममत्व का परित्याग—इन तीनों के परित्याग द्वारा साधुवर्ग में निराकांक्षता और निर्ममत्व का होना अनिवार्य वताया है।[5]

---

१. उत्तराध्ययन अ. १९, मूलपाठ, बृहद्वृत्ति, पत्र ४५५-४५६

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५६

३. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ० ४९३ (ख) उत्तरा. विवेचन (मुनि नथमल), पृ. २४३

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५६

५. वही, पत्र ४५६

ताडना, तर्जना, वध और बन्ध—ताडन—हाथ आदि से मारना-पीटना, **तर्जना**—तर्जनी अंगुली आदि दिखाकर या भ्रुकुटि चढ़ाकर डांटना-फटकारना, **वध**—लाठी आदि से प्रहार करना, **बन्ध**—मूज, रस्सी आदि से बांधना।[1]

अहीवेगंतदिट्ठीए०—जैसे सांप अपने चलने योग्य मार्ग पर ही अपनी दृष्टि जमाकर चलता है, दूसरी ओर दृष्टि नहीं दौड़ाता, वैसे ही साधक को अपने चारित्रमार्ग के प्रति एकान्त अर्थात्—एक ही (चारित्र ही) में निश्चल दृष्टि रखनी होती है।[2]

निहुयं नीसंकं—निभृत—निश्चल अथवा विषयाभिलाषा आदि द्वारा अक्षोभ्य; निःशंक—शरीरादि निरपेक्ष, अथवा सम्यक्त्व के अतिचार रूप शंका से रहित।

अणुवसंतेणं—अनुपशान्त अर्थात्—जिसका कषाय शान्त नहीं हुआ है।

पंचलक्खणए—यह भोग का विशेषण है। पंचलक्षण का अर्थ है—शब्दादि इन्द्रियविषयरूप पांच लक्षणों वाला......।

भुत्तभोगी तओ पच्छा०—यौवन में प्रव्रज्या अत्यन्त कठिन एवं दुःखकर है, इत्यादि बातें समझाकर अन्त में माता-पिता कहते हैं—इतने पर भी तेरी इच्छा दीक्षा ग्रहण करने की हो तो भुक्त-भोगी होकर ग्रहण करना।[3]

मृगापुत्र द्वारा नरक के अनन्त दुःखों के अनुभव का निरूपण

४५. तं बिंत ऽम्मापियरो एवमेयं जहा फुडं।
इह लोए निप्पिवासस्स नत्थि किंचि वि दुक्करं॥

[४५] (मृगापुत्र)—उसने (मृगापुत्र ने) माता-पिता से कहा—आपने जैसा कहा है, वह वैसा ही है, 'प्रव्रज्या दुष्कर है' यह स्पष्ट है; किन्तु इस लोक में जिसकी पिपासा बुझ चुकी है—अभिलाषा शान्त हो गई है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है।

४६. सारीर-माणसा चेव वेयणाओ अणन्तसो।
मए सोढाओ भीमाओ असइं दुक्खभयाणि य॥

[४६] मैंने शारीरिक और मानसिक भयंकर वेदनाएँ अनन्त वार सहन की हैं तथा अनेक बार दुःखों और भयों का भी अनुभव किया है।

४७. जरा—मरणकन्तारे चाउरन्ते भयागरे।
मए सोढाणि भीमाणि जम्माणि मरणाणि य॥

[४७] मैंने नरकादि चार गतिरूप अन्त वाले, जरामरणरूपी भय के आकर (खान), (संसाररूपी) कान्तार (घोर अरण्य) में भयंकर जन्म और मरण सहे हैं।

---

१. ताडना—करादिभिराहननं, तर्जना—अंगुलिभ्रमण-भ्रूत्क्षेपादिरूपा, वधश्च लकुटादिप्रहारो, बन्धश्च—मयूर-बन्धादिः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४५६

२. (क) वही, पत्र ४५७ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ० ५०८

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५७

४८. जहा इहं अगणी उण्हो एत्तोऽणन्तगुणे तहिं।
नरएसु वेयणा उण्हा अस्साया वेइया मए॥

[४८] जैसे यहाँ अग्नि उष्ण है, उससे अनन्तगुणी अधिक असाता (—दुःख) रूप उष्णवेदना मैंने नरकों में अनुभव की है।

४९. जहा इमं इहं सीयं एत्तोऽणंतगुणं तहिं।
नरएसु वेयणा सीया अस्साया वेइया मए॥

[४९] जैसे यहाँ यह ठंड (शीत) है, उससे अनन्तगुणी अधिक असाता (—दुःख) रूप शीत-वेदना मैंने नरकों में अनुभव की है।

५०. कन्दन्तो कंदुकुम्भीसु उड्ढपाओ अहोसिरो।
हुयासणे जलन्तम्मि पक्कपुव्वो अणन्तसो॥

[५०] मैं नरक की कन्दुकुम्भियों में (—पकाने के लोहपात्रों में) ऊपर पैर और नीचे सिर करके प्रज्वलित (धधकती हुई) अग्नि में आक्रन्दन करता (चिल्लाता) हुआ अनन्त वार पकाया गया हूँ।

५१. महादवग्गिसंकासे मरुम्मि वइरवालुए।
कलम्ववालुयाए य दड्ढपुव्वो अणन्तसो॥

[५१] महादावानल के तुल्य, मरुदेश की वालू के समान तथा वज्रवालुका (—वज्र के समान कर्कश एवं कंकरीली रेत) में और कलम्ववालुका (नदी के पुलिन) की (तपी हुई) वालू में अनन्त वार मैं जलाया गया हूँ।

५२. रसन्तो कंदुकुम्भीसु उड्ढं वद्धो अवन्धवो।
करवत्त-करकयाईहिं छिन्नपुव्वो अणन्तसो॥

[५२] वन्धु-जनों से रहित (असहाय) रोता-चिल्लाता हुआ मैं कन्दुकुम्भियों पर ऊँचा बांधा गया तथा करपत्र (करवत) और क्रकच (—आरे) आदि शस्त्रों से अनन्त वार छेदा गया हूँ।

५३. अइतिक्खकंटगाइण्णे तुंगे सिम्वलिपायवे।
खेवियं पासवद्धेणं कड्ढोकड्ढाहिं दुक्करं॥

[५३] अत्यन्त तीक्ष्ण कांटों से व्याप्त ऊँचे शाल्मलिवृक्ष पर पाश से बांध कर इधर-उधर खींचतान करके दुःसह कष्ट दे कर मुझे फेंका (या खिन्न किया) गया।

५४. महाजन्तेसु उच्छू वा आरसन्तो सुभेरवं।
पीलिओ मि सकम्मेहिं पावकम्मो अणन्तसो॥

[५४] अतीव भयानक आक्रन्दन करता हुआ मैं पापकर्मा अपने (अशुभ) कर्मों के कारण गन्ने की तरह वड़े-वड़े महाकाय यंत्रों में अनन्त वार पीला गया हूँ।

५५. कूवन्तो कोलसुणएहिं सामेहिं सवलेहि य।
पाडिओ फालिओ छिन्नो विप्फुरन्तो अणेगसो ॥

[५५] मैं (इधर-उधर) भागता और चिल्लाता हुआ श्याम (काले) और सबल (चितकबरे) सूअरों और कुत्तों से (परमाधर्मी असुरों द्वारा) अनेक वार गिराया गया, फाड़ा गया और छेदा गया हूँ।

५६. असीहि अयसिवण्णाहिं भल्लीहिं पट्टिसेहि य।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नो य ओइण्णो पावकम्मुणा ॥

[५६] पापकर्मों के कारण मैं नरक में जन्मा और (वहाँ) अलसी के फूलों के सदृश नीले रंग की तलवारों से, भालों से और लोहे के दण्डों (पट्टिश नामक शस्त्रों) से छेदा गया, भेदा गया और टुकड़े-टुकड़े किया गया।

५७. अवसो लोहरहे जुत्तो जलन्ते समिलाजुए।
चोइओ तोत्तजुत्तेहिं रोज्झो वा जह पाडिओ ॥

[५७] समिला (जुए के छेदों में लगाने की कील) से युक्त जुए वाले जलते लोहमय रथ में विवश करके मैं जोता गया हूँ, चाबुक और रास (नाक में बांधी गई रस्सी) से हांका गया हूँ, फिर रोझ की तरह (लट्ठी आदि से पीट कर जमीन पर) गिराया गया हूँ।

५८. हुयासणे जलन्तम्मि चियासु महिसो विव।
दड्ढो पक्को य अवसो पावकम्मेहि पाविओ ॥

[५८] पापकर्मों से आवृत्त मैं परवश हो कर जलती हुई अग्नि की चिताओं में भैंसे की तरह जलाया और पकाया गया हूँ।

५९. बला संडासतुण्डेहिं लोहतुण्डेहि पक्खिहिं।
विलुत्तो विलवन्तोऽहं ढंक-गिद्धेहिऽणन्तसो ॥

[५९] लोहे-सी कठोर और संडासी जैसी चोंच वाले ढंक एवं गिद्ध पक्षियों द्वारा मैं रोता-बिलखता बलात् अनन्तवार नोचा गया हूँ।

६०. तण्हाकिलन्तो धावन्तो पत्तो वेयरणिं नदिं।
जलं पाहिं ति चिन्तन्तो खुरधाराहिं विवाइओ ॥

[६०] पिपासा से व्याकुल हो कर, दौड़ता हुआ मैं वैतरणी नदी पर पहुँचा और 'जल पीऊंगा, यह विचार कर ही रहा था कि सहसा छुरे की धार-सी तीक्ष्ण जल-धारा से मैं चीर दिया गया।

६१. उण्हाभितत्तो संपत्तो असिपत्तं महावणं।
असिपत्तेहिं पडन्तेहिं छिन्नपुव्वो अणेगसो ॥

[६१] गर्मी से अत्यन्त तप जाने पर मैं (छाया में विश्राम के लिए) असिपत्र महावन में पहुँचा, किन्तु वहाँ गिरते हुए असिपत्रों (—खड्ग-से तीक्ष्ण धार वाले पत्तों) से अनेक बार छेदा गया।

६२. मुग्गरेहिं मुसंढीहिं सूलेहिं मुसलेहि य ।
गयासं भग्गगत्तेहिं पत्तं दुक्खं अणन्तसो ।।

[६२] मेरे शरीर को चूर-चूर करने वाले मुद्गरों से, मुसंढियों से, त्रिशूलों (शूलों) से और मूसलों से (रक्षा के लिए) निराश हो कर मैंने अनन्त वार दुःख पाया है ।

६३. खुरेहि तिक्खधारेहिं छुरियाहिं कप्पणीहि य ।
कप्पिओ फालिओ छिन्नो उक्कत्तो य अणेगसो ।।

[६३] तीखी धार वाले छुरों (उस्तरों) से, छुरियों से और कैंचियों से मैं अनेक वार काटा गया हूँ, फाड़ा हूँ, छेदा गया हूँ और मेरी चमड़ी उधेड़ी गई है ।

६४. पासेहिं कूडजालेहिं मिओ वा अवसो अहं ।
वाहिओ बद्धरुद्धो अ बहुसो चेव विवाइओ ।।

[६४] मृग की भांति विवश बना हुआ पाशों और कूट (कपटयुक्त) जालों से मैं अनेक वार छलपूर्वक पकड़ा गया, (बंधनों से) बांधा गया, रोका (बंद कर दिया) गया और विनष्ट किया गया हूँ ।

६५. गलेहिं मगरजालेहिं मच्छो वा अवसो अहं ।
उल्लिओ फालिओ गहिओ मारिओ य अणन्तसो ।।

[६५] गलों (—मछली को फंसाने के कांटों) से, मगरों को पकड़ने के जालों से मत्स्य की तरह विवश बना हुआ मैं अनन्त वार वींधा (या खींचा) गया, फाड़ा गया, पकड़ा गया और मारा गया ।

६६. वीदंसएहि जालेहिं लेप्पाहि सउणो विव ।
गहिओ लग्गो बद्धो य मारिओ य अणन्तसो ।।

[६६] पक्षी की भांति वाज पक्षियों, जालों तथा वज्रलेपों के द्वारा मैं अनन्त वार पकड़ा गया, चिपकाया गया, वांधा गया और मारा गया ।

६७. कुहाड—फरसुमाईहिं वड्ढईहिं दुमो विव ।
कुट्टिओ फालिओ छिन्नो तच्छिओ य अणन्तसो ।।

[६७] सुथारों, के द्वारा वृक्ष की तरह कुल्हाड़ी और फरसा आदि से मैं अनन्त वार कूटा गया, फाड़ा गया, काटा गया और छीला गया हूँ ।

६८. चवेडमुट्ठिमाईहिं कुमारेहिं अयं पिव ।
ताडिओ कुट्टिओ भिन्नो चुण्णिओ य अणन्तसो ।।

[६८] लुहारों के द्वारा लोहे की भांति (परमाधर्मी असुरकुमारों द्वारा) थप्पड़ और मुक्का आदि से अनन्त वार पीटा गया, कूटा गया, खण्ड-खण्ड किया गया और चूर-चूर किया गया ।

६९. तत्ताइं तम्बलोहाइं तउयाइं सीसयाणि य।
पाइओ कलकलन्ताइं आरसन्तो सुभेरवं ॥

[६९] भयंकर आक्रन्दन करते हुए मुझे कलकलाता-उकलता गर्म तांबा लोहा, रांगा और सीसा पिलाया गया।

७०. तुहं पियाइं मंसाइं खण्डाइं सोल्लगाणि य।
खाविओ मि समंसाइं अग्गिवण्णाइं णेगसो ॥

[७०] तुझे 'टुकड़े-टुकड़े किया हुआ और शूल में पिरो कर पकाया हुआ मांस प्रिय था,—(यह याद दिला कर) मुझे अपना ही (शरीरस्थ) मांस (काट कर और उसे तपा कर) अग्नि जैसा लाल रंग का (बना कर) बार-बार खिलाया गया।

७१. तुहं पिया सुरा सीहू मेरओ य महूणि य।
पाइओ मि जलन्तीओ वसाओ रुहिराणि य ॥

[७१] तुझे सुरा, सीधु, मैरेय और मधु (पूर्वभव में) बहुत प्रिय थी,' (यह स्मरण करा कर) मुझे जलती (गर्म की) हुई, (मेरी अपनी ही) चर्बी और रक्त पिलाया गया।

७२. निच्चं भीएण तत्थेण दुहिएण वहिएण य।
परमा दुहसंबद्धा वेयणा वेइया मए ॥

[७२] मैंने (पूर्वजन्मों में नरक में इस प्रकार) नित्य ही भयभीत, संत्रस्त, दुःखित और व्यथित रहते हुए दुःख से सम्बद्ध (—परिपूर्ण) उत्कट वेदनाओं का अनुभव किया है।

७३. तिव्व-चण्ड-प्पगाढाओ घोराओ अइदुस्सहा।
महब्भयाओ भीमाओ नरएसु वेइया मए ॥

[७३] मैंने नरकों में तीव्र, प्रचण्ड, प्रगाढ़, घोर, अतिदुःसह, महाभयंकर और भीषण वेदनाओं का अनुभव किया है।

७४. जारिसा माणुसे लोए ताया! दीसन्ति वेयणा।
एत्तो अणन्तगुणिया नरएसु दुक्खवेयणा ॥

[७४[हे पिता! मनुष्यलोक में जैसी (शीतोष्णादि) वेदनाएँ देखी जाती हैं, उनसे अनन्त-गुणी अधिक दुःखमयी वेदनाएँ नरकों में होती हैं।

७५. सव्वभवेसु अस्साया वेयणा वेइया मए।
निमेसन्तरमित्तं पि जं साया नत्थि वेयणा ॥

[७५] मैंने सभी जन्मों में असाता-(दुःख) रूप वेदना का अनुभव किया है। वहाँ निमेष मात्र के अन्तर जितनी भी सुखरूप वेदना नहीं है।

विवेचन—मृगापुत्र के मुख से नरकों में अनुभूत उत्कृष्ट वेदनाओं का वर्णन—माता-पिता ने मृगापुत्र के समक्ष श्रमणधर्मपालन में होने वाली कठिनाइयों और कष्टकथाओं का वर्णन किया तो

मृगापुत्र ने नरकों में अनुभूत उनसे भी अनन्तगुणी वेदनाओं का वर्णन किया, जो यहाँ ४४ से ७४ वीं तक ३१ गाथाओं में अंकित है। यद्यपि नरकों में पक्षी, शस्त्रास्त्र, सूअर, कुत्ते, छुरे, कुल्हाड़ी, फरसा, लुहार, सुथार, बाजपक्षी आदि नहीं होते, किन्तु वहाँ नारकों को दुःख देने वाले नरकपाल परमाधर्मी असुरों के द्वारा ये सब वैक्रियशक्ति से बना लिये जाते हैं और नारकीय जीवों को अपने-अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार (कभी-कभी पूर्वकृत पापकर्मों की याद दिला कर) विविध यंत्रणाएँ दी जाती हैं।[1]

चाउरंते : चातुरन्त—यह संसार का विशेषण है। इसका विशेषार्थ है—संसार के नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव; ये चार अन्त—अवयव (अंग) हैं, इसलिए वह (संसार) चातुरन्त कहलाता है।[2]

इह लोगे निप्पिवासस्स—इहलोक शब्द से यहाँ इहलोकस्थ, इस लोक सम्बन्धी स्वजन, धन आदि का ग्रहण किया जाता है। किसी के मत से ऐहिक सुखों का ग्रहण किया जाता है। अतः इस पंक्ति का तात्पर्यार्थ हुआ—जो साधक इहलौकिक स्वजन, धन आदि के प्रति या ऐहिक सुखों के प्रति निःस्पृह या निराकांक्ष है, उसके लिए शुभानुष्ठान यदि अत्यन्त कष्टकर हों तो भी वे कुछ भी दुष्कर (दुरनुष्ठेय) नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि भोगादि की स्पृहा होने पर ही ये शुभानुष्ठान दुष्कर लगते हैं।[3]

नरकों में अनन्तगुणी उष्णता—यद्यपि नरकलोक में बादर अग्नि नहीं है, तथापि मनुष्य-लोक में अग्नि की जितनी उष्णता है, उससे भी अनन्तगुणी उष्णता के स्पर्श का अनुभव वहाँ होता है। यही बात नारकीय शीत (ठंड) के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।

नरकों में पीड़ा पहुँचाने वाले कौन?—इस प्रश्न का समाधान यह है कि प्रथम तीन नरक-पृथ्वियों में परमाधर्मी असुरों द्वारा नारकों को पीड़ा पहुँचाई जाती है। शेष अन्तिम चार नरक-पृथ्वियों में नारकीय जीव स्वयं परस्पर में एक दूसरे को वेदना की उदीरणा करते हैं। १५ प्रकार के परमाधार्मिक देवों के नाम इस प्रकार हैं—(१) अम्ब, (२) अम्बरीष, (३) श्याम, (४) शबल, (५) रुद्र, (६) महारुद्र, (७) काल, (८) महाकाल, (९) असिपत्र, (१०) धनुष, (११) कुम्भ, (१२) वालुक, (१३) वैतरणी, (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष।

यहाँ जिन यातनाओं का वर्णन किया गया है, उनमें से बहुत-सी यातनाएँ इन्हीं १५ परमाधर्मी असुरों द्वारा दी जाती हैं।[4]

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र मूलपाठ, अ. १९, गा. ४४ से ७४ तक

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४५९ : चत्वारो देवादिभवा अन्ता—अवयवा यस्याऽसौ चतुरन्तः—संसारः।

३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५९ : "इहलोकशब्देन च 'तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेश' इति कृत्वा ऐहलौकिकाः स्वजन-धन-सम्बन्धादयो गृह्यन्ते।"

(ख) उत्तरा. अनुवाद-विवेचन-युक्त (मुनि नथमल), भा. १ पृ. २४६

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५९, (ख) समवायांग, समवाय १५ वृत्ति, पत्र २८

कंदुकुंभीसु....**तीन अर्थ**—(१) कंदुकुम्भी—लोह आदि धातुओं से निर्मित पाकभाजनविशेष। (२) कन्दु का अर्थ है—भाड़ (भ्राष्ट्र) और कुम्भी का अर्थ है—घड़ा, अर्थात् भाड़ की तरह का विशेष कुम्भ। अथवा (३) ऐसा पाकपात्र, जो नीचे से चौड़े और ऊपर से संकड़े मुँह वाला हो।[1]

हुताशन : अग्नि—नरक में बादर अग्निकायिक जीव नहीं होते, इसलिए वहाँ पृथ्वी का स्पर्श ही वैसा उष्ण प्रतीत होता है। यहाँ जो हुताशन (अग्नि) का उल्लेख है, वह सजीव अग्नि का नहीं अपितु देवमाया (विक्रिया) कृत अग्निवत् उष्ण एवं प्रकाशमान पुद्गलों का द्योतक है।[2]

वइरवालुए कलंबवालुयाए—नरक में वज्रवालुका और कदम्बवालुका नाम की नदियाँ हैं, उनके पुलिन (तटवर्ती बालुमय प्रदेश) को भी वज्रवालुका और कदम्बवालुका कहते हैं, जो महादवाग्नि सदृश अत्यन्त तप्त रहते हैं।[3]

कोलसुणए—कोल का अर्थ है—सुअर और शुनक का अर्थ है—कुत्ता। अथवा कोलशुनक का अर्थ—बृहद्वृत्ति में सूअर किया गया है। अर्थात्—सूकर-कुक्कुर स्वरूपधारी श्याम और शवल परमाधार्मिकों द्वारा।[4]

कड्ढोकड्ढाहिं—कृष्ट एवं अवकृष्ट—अर्थात्—खींचातानी करके।[5]

रोज्झो : रोझ—वृत्तिकार ने रोझ का अर्थ पशुविशेष किया है, परन्तु देशी नाममाला में रोझ का अर्थ मृग की एक जाति किया गया है।[6]

मुसंढीहिं : मुषण्ढियों से—देशी नाममाला के अनुसार—मुषण्ढी लकड़ी का बना एक शस्त्र है, जिसमें लोहे के गोल कांटे लगे रहते हैं।[7]

विदंसएहिं—विदंशकों—विशेषरूप से दंश देने वाले विदंशकों अर्थात्—पक्षियों को पकड़ने वाले बाज पक्षियों से। प्रस्तुत ६५ वीं गाथा का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार इस लोक में पारधी (बहेलिए) बाज आदि पक्षियों की सहायता से पक्षियों को पकड़ लिया करते हैं, अथवा जाल फैला कर उन्हें बांध लिया करते हैं तथा चिपकाने वाले लेप द्वारा उन्हें जोड़ दिया करते हैं और फिर मार देते हैं, इसी प्रकार नरक में परमाधार्मिक देव भी अपनी वैक्रियशक्ति से बाज आदि का रूप

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४५९ (ख) उत्तरा. विवेचन (मुनि नथमल) भा. २, पृ. १४८
२. (क) 'तत्र च बादराग्नेरभावात् पृथिव्या एव तथाविधः स्पर्श इति गम्यते।'
(ख) 'अग्नौ देवमायाकृते।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४५९
३. वही, पत्र ४५९
४. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. ५२४
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४६० : "कोलसुणएहि—सूकरस्वरूपधारिभिः।"
५. कड्ढोकड्ढाहिं—कर्षणापकर्षणैः परमाधार्मिककृतैः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४५९
६. (क) रोज्झः—पशुविशेषः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४६०
(ख) देशी नाममाला, ७।१२
७. देशी नाममाला, श्लोक १५१ : 'मुषुण्डी स्याद्दारुमयी वृत्तायःकोलसंचिता।'

बना कर नारकों को पकड़ लेते हैं, जाल में बांध देते हैं, लेप्य द्रव्य से उन्हें चिपका देते हैं, फिर उन्हें मार देते हैं। ऐसी ही दशा मेरी (मृगापुत्र की) थी।[1]

सोल्लगाणि—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—भाड़ में पकाये हुए, अथवा (२) अन्य विचारकों के मतानुसार—शूल में पिरो कर आग में पकाये गये।[2]

सुरा, सीधु, मैरेय और मधु—सामान्यतया ये चारों शब्द 'मद्य' के अर्थ में हैं, किन्तु इन चारों का विशेष अर्थ इस प्रकार किया गया है—सुरा—चन्द्रहास नाम की मदिरा, सीधु—ताड़ वृक्ष की ताड़ी, मैरेय—जौ आदि के आटे से बनी हुई मदिरा तथा मधु—पुष्पों से तैयार किया हुआ मद्य।[3]

तिव्वचंडपगाढाओ०—यद्यपि तीव्र, चण्ड, प्रगाढ आदि शब्द प्रायः एकार्थक हैं, अत्यन्त भयोत्पादक होने से ये सब वेदना के विशेषण हैं। इनका पृथक्-पृथक् विशेषार्थ इस प्रकार है—तीव्र—नारकीय वेदना रसानुभव की दृष्टि से अतीव तीव्र होने से तीव्र, चण्ड—उत्कट, प्रगाढ—दीर्घकालीन (गुरुतर) स्थिति वाली, घोर—रौद्र, अति दुःसह—अत्यन्त असह्य, महाभया—जिससे महान् भय हो, भीमा—सुनने में भी भयप्रद।[4]

निमेसंतरमित्तं पि—निमेष का अर्थ—आँख की पलक झपकाना, उसमें जितना समय लगता है, उतने समय भर भी।[5]

निष्कर्ष—मृगापुत्र के इस समग्र कथन का आशय यह है कि जब मैंने पलक झपकने जितने समय में भी सुख नहीं पाया, तब वास्तव में कैसे कहा जा सकता है कि मैं सुखशील हूँ या सुकुमार हूँ। इसी तरह जिसने (मैंने) नरकों में अत्युष्ण-अतिशीत आदि महावेदनाएँ अनेक बार सहन की हैं, परमाधार्मिकों द्वारा दी गई विविध यातनाएँ भी सही हैं, उसके लिए महाव्रत-पालन का कष्ट अथवा श्रमणधर्म के पालन का दुःख या परीषह-उपसर्ग सहन किस बिसात में है? वास्तव में महाव्रतपालन, श्रमणधर्माचरण अथवा परीषहसहन उसके लिए परमानन्द का हेतु हैं। इन सब दृष्टियों से मुझे अब निर्ग्रन्थमुनिदीक्षा ही अंगीकार करनी है।[6]

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४६० (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. ५३७

२. (क) 'सोल्लगाणि' त्ति भडित्रीकृतानि।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४६१
(ख) शूलाकृतानि शूले समाविध्य पक्वानि। —उत्तरा. प्रियदर्शिनी, भा. ३, पृ. ५४०

३. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. ५४१
सुरा—चन्द्रहासाभिधानं मद्यं, सीधुः—तालवृक्षनिर्यासः (ताडी), मैरेयः—पिष्ठोद्भवं मद्यं, मधूनि—पुष्पोद्भवानि मद्यानि।

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६१

५. वही, पत्र ४६१

६. वही, पत्र ४६१

माता-पिता द्वारा अनुमति, किन्तु चिकित्सा-समस्या प्रस्तुत

७६. तं बितऽम्मापियरो छन्देणं पुत्त ! पव्वया।
नवरं पुण सामण्णे दुक्खं निप्पडिकम्मया ॥

[७६.] माता-पिता ने उससे कहा—पुत्र ! अपनी इच्छानुसार तुम (भले ही) प्रव्रज्या ग्रहण करो, किन्तु विशेष बात यह है कि श्रमणजीवन में निष्प्रतिकर्मता (—रोग होने पर चिकित्सा का निषेध) यह दुःखरूप है।

विवेचन—निष्प्रतिकर्मता : विधि-निषेध : एक चिन्तन—निष्प्रतिकर्मता का अर्थ है—रोगादि उत्पन्न होने पर भी उसका प्रतीकार—औषध आदि सेवन न करना। दशवैकालिकसूत्र में इसे अनाचीर्ण बताते हुए कहा गया है कि 'साधु चिकित्सा का अभिनन्दन न करे' तथा उत्तराध्ययनसूत्र सभिक्षुक अध्ययन में कहा गया है—'जो चिकित्सा का परित्याग करता है, वह भिक्षु है।' यहाँ साध्वाचार के रूप में निष्प्रतिकर्मता का उल्लेख इसी तथ्य का समर्थन करता है। परन्तु यह विधान विशिष्ट अभिग्रहधारी या एकलविहारी निर्ग्रन्थ साधु के लिए प्रतीत होता है।[1]

मृगापुत्र द्वारा मृगचर्या से निष्प्रतिकर्मता का समर्थन

७७. सो बितऽम्मापियरो ! एवमेयं जहाफुडं।
पडिकम्मं को कुणई अरण्णे मियपक्खिणं ?

[७७] वह (मृगापुत्र) बोला—माता-पिता ! (आपने जो कहा,) वह उसी प्रकार सत्य है, किन्तु अरण्य में रहने वाले पशुओं (मृग) एवं पक्षियों की कौन चिकित्सा करता है ?

७८. एगभूओ अरण्णे वा जहा उ चरई मिगो।
एवं धम्मं चरिस्सामि संजमेण तवेण य ॥

[७८] जैसे—वन में मृग अकेला विचरण करता है, वैसे मैं भी संयम और तप के साथ (एकाकी होकर) धर्म (निर्ग्रन्थधर्म) का आचरण करूंगा।

७९. जया मिगस्स आयंको महारण्णम्मि जायई।
अच्छन्तं रुक्खमूलम्मि को णं ताहे तिगिच्छई ?

[७९] जब महावन में मृग के शरीर में आतंक (शीघ्र घातक रोग) उत्पन्न होता है, तब वृक्ष के नीचे (मूल में) बैठे हुए उस मृग की कौन चिकित्सा करता है ?

८०. को वा से ओसहं देई ? को वा से पुच्छइ सुहं ?
को से भत्तं च पाणं च आहरित्तु पणामए ?

[८०] कौन उसे औषध देता है ? कौन उससे सुख की (कुशल-मंगल या स्वास्थ्य की) बात पूछता है ? कौन उसे भक्त-पान (भोजन-पानी) ला कर देता है ?

---

१. (क) 'निष्प्रतिकर्मता—कथंचिद् रोगोत्पत्तौ चिकित्साऽकरणरूपेति। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४६२
(ख) 'तेगिच्छं नाभिनन्देज्जा'। —दशवै० अ. ३ । ३१-३३
(ग) "........तिगिच्छियं च........तं परिन्नाय परिव्वंए स भिक्खू।" —उत्तरा. अ. १५, गा. ८

८१. जया य से सुही होइ तया गच्छइ गोयरं ।
भत्तपाणस्स अट्ठाए वल्लराणि सराणि य ।।

[८१] जब वह सुखी (स्वस्थ) हो जाता है, तब स्वयं गोचरभूमि में जाता है तथा खाने-पीने के लिए वल्लरों (-लता-निकुंजों) एवं जलाशयों को खोजता है ।

८२. खाइत्ता पाणियं पाउं वल्लरेहिं सरेहि वा ।
मिगचारियं चरित्ताणं गच्छई मिगचारियं ।।

[८२] लता-निकुंजों और जलाशयों में खा (चर) कर, और पानी पी कर, मृगचर्या करता (उछलता-कूदता) हुआ वह मृग अपनी मृगचारिका (मृगों की आवासभूमि) को चला जाता है ।

८३. एवं समुट्ठिओ भिक्खू एवमेव अणेगओ ।
मिगचारियं चरित्ताणं उड्ढं पक्कमई दिसं ।।

[८३] इसी प्रकार संयम के अनुष्ठान में समुद्यत (तत्पर) इसी (मृग की) तरह रोगोत्पत्ति होने पर चिकित्सा नहीं करने वाला तथा स्वतंत्र रूप से अनेक स्थानों में रह कर भिक्षु मृगचर्या का आचरण (-पालन) करके ऊर्ध्व दिशा (मोक्ष) को प्रयाण करता है ।

८४. जहा मिगे एग अणेगचारी अणेगवासे धुवगोयरे य ।
एवं मुणी गोयरियं पविट्ठे नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा ।।

[८४] जैसे मृग अकेला अनेक स्थानों में चरता (भोजन-पानी आदि लेता) है अथवा विचरता है, अनेक स्थानों में रहता है, गोचरचर्या से ही स्थायीरूप से जीवन निर्वाह करता है, (ठीक) वैसे ही (मृगचर्या में अभ्यस्त) मुनि गोचरी के लिए प्रविष्ट होने पर किसी की हीलना (निन्दा) नहीं करता और न ही किसी की अवज्ञा करता है ।

संयम की अनुमति और मृगचर्या का संकल्प

८५. मिगचारियं चरिस्सामि एवं पुत्ता ! जहासुहं ।
अम्मापिऊहिं अणुन्नाओ जहाइ उवहिं तओ ।।

[८५] (मृगापुत्र)—हे माता-पिता ! मैं भी मृगचर्या का आचरण (पालन) करूंगा ।

(माता-पिता)—'हे पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो, वैसे करो ।" इस प्रकार माता-पिता की अनुमति पा कर फिर वह उपधि (गृहस्थाश्रम-सम्बन्धी समस्त परिग्रह) का परित्याग करता है ।

८६. मियचारियं चरिस्सामि सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
तुब्भेहि अम्म ! ऽणुन्नाओ गच्छ पुत्त ! जहासुहं ।।

[८६] (मृगापुत्र माता से)—"माताजी ! मैं आपकी अनुमति पा कर समस्त दुःखों का क्षय करने वाली मृगचर्या का आचरण (पालन) करूंगा ।"

(माता)—"पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो, वैसा करो ।"

विवेचन—मृगचर्या का संकल्प—मृगापुत्र के माता-पिता ने उसे जब श्रमणधर्म में रोग-चिकित्सा के निषेध को दुःखकारक बताया तो मृगापुत्र ने वन में एकाकी विचरणशील मृग का उदाहरण देते हुए कहा कि मृग जब रुग्ण हो जाता है तो कौन उसे औषध देता है ? कौन उसे घास-चारा देता है ? कौन उसकी सेवा करता है ? वह प्रकृति पर निर्भर हो कर जीता है, विचरण करता है और जब स्वस्थ होता है, तब स्वयं अपनी चर्या करता हुआ अपनी आवासभूमि में चला जाता है। इसलिए मैं भी वैसी ही मृगचर्या करूंगा। उनके लिए अपनी चर्या दुःखरूप नहीं है, तो मेरे लिए क्यों होगी।[1]

प्रस्तुत गाथाओं में चिकित्सा-निरपेक्षता के सन्दर्भ में मृग और पक्षियों का तथा आगे की गाथाओं में केवल मृग का बारबार उल्लेख किया गया है, अन्य पशुओं का क्यों नहीं ? इसका समाधान बृहद्वृत्तिकार ने किया है कि मृग प्रायः प्रशमप्रधान होते हैं, इसलिए एकचारी साधक के लिए मृगचर्या युक्तिसंगत जँचती है।[2]

एगभूओ अरण्णे वा—घोर जंगल में मृग का कोई सहायक नहीं होता. जो उसकी सहायता कर सके, वह अकेला ही होता है, मृगापुत्र भी उसी तरह एकाकी और असहाय होकर संयम और तप सहित निर्ग्रन्थधर्म का आचरण करने का संकल्प प्रकट करता है। इस गाथा से यह स्पष्ट है कि मृगापुत्र स्वयंबुद्ध (जातिस्मरणज्ञान के निमित्त से) होने के कारण एकलविहारी बने थे। गाथा ७७ और ८३ से यह स्पष्ट है।[3]

गच्छइ गोयरं—इस पंक्ति का तात्पर्य यह है कि जब मृग स्वतः रोग-रहित—स्वस्थ हो जाता है, तब वह अपने तृणादि के भोजन की तलाश में गोचरभूमि में चल जाता है। गोचर का अर्थ बृहद्वृत्ति में यह किया गया है—गाय जैसे परिचित-अपरिचित भूभाग की कल्पना से रहित होकर अपने आहार के लिए विचरण करती है, वैसे ही मृग भी परिचित-अपरिचित गोचरभूमि में जाता है।[4]

वल्लराणि—वल्लर शब्द के अनेक अर्थ यहाँ बृहद्वृत्तिकार ने दिये हैं—गहन लतानिकुंज, अपानीय देश, अरण्य और क्षेत्र। प्रस्तुत प्रसंग में वल्लरों के विभिन्न लताकुंज अर्थ सम्भव है। अर्थात्—वह मृग कभी किसी वल्लर में और कभी किसी में अपने आहार की तलाश के लिए जाता है।[5]

मियचारियं चरित्ताणं—(१) **मृगचर्या**—इधर-उधर उछलकूद के रूप में जो मृगों की चर्या है, उसे करता हुआ। (२) **मितचारितां**—परिमित भक्षणरूपा चर्या करके। मृग स्वभावतः परिमि-

---

१. उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६२

२. 'इह च मृगपक्षिणामुभयेषामुपक्षेपे, यन्मृगस्यैव पुनः पुनर्दृष्टान्तत्वेन समर्थनं, तत्तस्य प्रायः प्रशमप्रधानत्वादिति सम्प्रदायः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४६३

३. वही, पत्र ४६२-४६३ : "एकभूतः—एकत्वं प्राप्तोऽरण्ये।" 'एकः—अद्वितीयः।'

४. 'गौरिव परिचितेतरभूभागपरिभावनारहितत्वेन चरणं भ्रमणमस्मिन्निति गोचरस्तम्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४६२

५. वल्लराणि—गहनानि। उक्तञ्च—'गहणमवाणियं रण्णे छेत्तं च वल्लरं जाण।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४६२

ताहारी होते हैं, इसलिए यह अर्थ भी संगत होता है। (३) **मृगचारिका**—जहाँ मृगों की स्वतंत्र रूप से बैठने की चर्या—चेष्टा होती है, उस आश्रयस्थान को भी मृगचारिका या मृगचर्या कहते हैं।[1]

अणेगओ-अनेकगः—मृग जैसे एक ही नियत वृक्ष के नीचे नहीं बैठता, वह कभी किसी और कभी किसी वृक्ष का आश्रय लेता है, वैसे ही साधक भी एक ही स्थान में नहीं रहता, कभी कहीं और कभी कहीं रहता है। इसी प्रकार भिक्षा भी एक नियत घर से प्रतिदिन नहीं लेता।[2]

मृगचर्या का स्पष्टीकरण—गाथा ८३ में मृग की चर्या के साथ मुनि की मृगचर्या की तुलना की गई है। मुनि मृगतुल्य अकेला (असहाय और एकाकी) होता है, उसके साथ दूसरा कोई सहायक नहीं होता। वह मृग के समान अनेकचारी होता है। अर्थात् वह एक ही जगह आहार-पानी के लिए विचरण नहीं करता, बदल-बदल कर भिन्न-भिन्न स्थानों में जाता है। इसी तरह वह मृगवत् अनेकवास होता है, अर्थात् वह एक ही स्थान में निवास नहीं करता तथा ध्रुवगोचर होता है। अर्थात् जैसे मृग स्वयं इधर-उधर भ्रमण करके अपना आहार ढूंढ कर चर लेता है, किसी और से नहीं मंगाता, इसी प्रकार साधु भी अपने सेवक या भक्त से आहार-पानी नहीं मंगाता। वह ध्रुवगोचर (अर्थात्—गोचरी में प्राप्त आहार का ही सेवन करता है तथा मृग, जैसा भी मिल जाता है, उसी में सन्तुष्ट रहता है, वह न तो किसी से शिकायत करता है, न किसी की निन्दा और भर्त्सना करता है, उसी प्रकार मुनि भी कदाचित् मनोज्ञ या पर्याप्त आहार न मिले अथवा सूखा, रूखा, नीरस आहार मिले तो भी न किसी की अवज्ञा करता है और न किसी की निन्दा या भर्त्सना करता है। इसी प्रकार मृगचर्या में अप्रतिबद्धविहार, पादविहार, गोचरी, चिकित्सानिवृत्ति आदि सभी गुण आ जाते हैं। ऐसी मृगचर्यापालन का सर्वोत्कृष्ट फल—सर्वोपरि स्थान में (मोक्ष में) गमन बताया गया है।[3]

जहाइ उवहिं—मृगापुत्र उपधि का परित्याग करता है, अर्थात्—द्रव्यतः गृहस्थोचित वेष, आभरण, वस्त्रादि उपकरणों का, भावतः कषाय, विषय, छल-छद्म आदि (जो आत्मा को नरक में स्थापित करते हैं, ऐसी) भावोपधि का त्याग करता है—प्रव्रजित होता है।[4]

मृगापुत्र : श्रमण निर्ग्रन्थरूप में

८७. एवं सो अम्मापियरो अणुमाणित्ताण बहुविहं।
ममत्तं छिन्दई ताहे महानागो व्व कंचुयं॥

[८७] इस प्रकार वह (मृगापुत्र) अनेक प्रकार से माता-पिता को अनुमति के लिए मना कर उनके (या उनके प्रति) ममत्व को त्याग देता है, जैसे कि महानाग (महासर्प) केंचुली का परित्याग कर देता है।

---

१. (क) **मृगाणां चर्या**—इतश्चेतश्चोत्प्लवनात्मकं चरणं मृगचर्या तां, मितचारितां वा परिमितभक्षणात्मिकां।
(ख) मृगाणां चर्या—चेष्टा स्वातंत्र्योपवेशनादिका यस्यां सा मृगचर्या—मृगाश्रयभूः।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ४६२-४६३

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६३

३. वही, पत्र ४६३

४. वही, पत्र ४६३ : "त्यजति उपधिं—उपकरणमाभरणादि द्रव्यतः भावतस्तु छद्मादि येनात्मा नरक उपधीयते, ततश्च प्रव्रजतीत्युक्तं भवति।"

८८. इड्ढिं वित्तं च मित्ते य पुत्त-दारं च नायओ।
रेणुयं व पडे लग्गं निद्धुणित्ताण निग्गओ॥

[८८] वस्त्र पर लगी हुई धूल की तरह ऋद्धि, धन, मित्र, पुत्र, स्त्री और ज्ञातिजनों को झटक कर वह संयमयात्रा के लिए निकल पड़ा।

८९. पंचमहव्वयजुत्तो पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य।
सब्भिन्तर—बाहिरओ तवोकम्मंसि उज्जुओ॥

[८९] (वह अब) पंच महाव्रतों से युक्त, पंच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, आभ्यन्तर और बाह्य तप में उद्यत (हो गया।)

९०. निम्ममो निरहंकारो निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य॥

[९०] (वह) ममता से निवृत्त, निरहंकार, निःसंग (अनासक्त), गौरवत्यागी तथा त्रस और स्थावर सभी प्राणियों पर समदृष्टि (हो गया।)

९१. लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निन्दा-पसंसासु तहा माणावमाणओ॥

[९१] (वह) लाभ और अलाभ में, सुख और दुःख में, जीवित और मरण में, निन्दा और प्रशंसा में तथा मान और अपमान में समत्व का (आराधक हो गया।)

९२. गारवेसु कसाएसु दण्ड-सल्ल-भएसु य।
नियत्तो हास-सोगाओ अनियाणो अबन्धणो॥

[९२] (वह) गौरव, कषाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त एवं निदान और बन्धन से रहित (हो गया।)

९३. अणिस्सिओ इहं लोए परलोए अणिस्सिओ।
वासीचन्दणकप्पो य असणे अणसणे तहा॥

[९३] वह इहलोक में और परलोक में अनिश्रित -निरपेक्ष हो गया तथा वासी-चन्दनकल्प-वसूले से काटे जाने अथवा चन्दन लगाए जाने पर भी अर्थात् सुख-दुःख में समभावशील एवं आहार मिलने या न मिलने पर भी समभाव (से रहने लगा।)

९४. अप्पसत्थेहिं दारेहिं सव्वओ पिहियासवे।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं पसत्थ-दमसासणे॥

[९४] अप्रशस्त द्वारों (-कर्मोपार्जन हेतु रूप हिंसादि) से (होने वाले) आश्रवों का सर्वतोभावेन निरोधक (महर्षि मृगापुत्र) अध्यात्म सम्बन्धी ध्यानयोगों से प्रशस्त संयममय शासन में लीन

विवेचन—मृगापुत्र युवराज से निर्ग्रन्थ के रूप में—प्रस्तुत गाथाओं में मृगापुत्र के त्यागी-निर्ग्रन्थरूप का वर्णन किया गया है।

महानागो व्व कंचुयं—जैसे महानाग अपनी कैंचुली छोड़कर आगे बढ़ जाता है, फिर पीछे मुड़कर नहीं देखता, वैसे ही मृगापुत्र भी सांसारिक माता-पिता, धन, धाम आदि का ममत्व-बन्धन तोड़कर प्रव्रजित हो गया।[1]

अनियाणो—इहलोक-परलोक सम्बन्धी विषय-सुखों का संकल्प निदान कहलाता है। महर्षि मृगापुत्र ने निदान का सर्वथा त्याग कर दिया।

अबंधणो—रागद्वेषात्मक बन्धन से रहित।[2]

अणिस्सिओ—इहलोक या परलोक में सुख, भोगसामग्री या किसी भी लौकिक लाभ की आकांक्षा से तप, जप, ध्यान, व्रत, नियम आदि करना इहलोकनिश्रित या परलोकनिश्रित कहलाता है। दशवैकालिक में कहा गया है—इहलोक के लिए तप न करे। परलोक के लिए तप न करे और कीर्ति, वर्ण, या श्लोक (प्रशंसा या प्रशस्ति) के लिए भी तपश्चरण न करे, किन्तु एकमात्र निर्जरा के लिए तपश्चरण करे। इसी प्रकार अन्य आचार के विषय में अनिश्रितता समझ लेनी चाहिए। महर्षि मृगापुत्र इहलोक और परलोक में अनिश्रित—नैलगाव हो गए थे।[3]

अपसत्थेहिं दारेहिं—समस्त अप्रशस्त द्वारों यानी अशुभ आश्रवों (कर्मागमन—हेतुओं) से वे सर्वथा निवृत्त थे।[4]

पसत्थदमसासणे—वे प्रशंसनीय दम अर्थात्—उपशमरूप सर्वज्ञशासन में लीन हो गए।[5]

असणे अणसणे तहा—'अशन' शब्द यहाँ कुत्सित अशन के अर्थ में अथवा अशनाभाव के अर्थ में है। अतः इस पंक्ति का अर्थ हुआ—आहार मिलने तथा तुच्छ आहार मिलने या न मिलने पर भी जो समभाव में स्थित है।[6]

महर्षि मृगापुत्र : अनुत्तरसिद्धिप्राप्त

> ९५. एवं नाणेण चरणेण दंसणेण तवेण य।
> भावणाहि य सुद्धाहिं सम्मं भावेत्तु अप्पयं॥

[९५] इस प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप तथा शुद्ध भावनाओं के द्वारा आत्मा को सम्यक्तया भावित करके—

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६३

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६५ : अबन्धनः—रागद्वेषबन्धनरहित।

३. इहलोके परलोके वा अनिश्रितो, नेहलोकार्थं परलोकार्थंवाऽनुष्ठानवान्। —वही, पत्र ४६५

४. 'अप्रशस्तेभ्यः—प्रशंसाऽनास्पदेभ्यः द्वारेभ्यः—कर्मोपार्जनोपायेभ्यो हिंसादिभ्यः यः आश्रवः—कर्मसंलग्नात्मकः स पिहितः निरुद्धो येन। —वही, पत्र ४६५

५. प्रशस्तः—प्रशंसास्पदो दमश्च उपशमः शासनं च—सर्वज्ञागमात्मकं यस्य स प्रशस्तदमशासनः। —वही, पत्र ४६५

६. बृहद्वृत्ति, ४६५

९६. बहुयाणि उ वासांणि सामण्णमणुपालिया ।
मासिएण उ भत्तेण सिद्धिं पत्तो अणुत्तरं ॥

[९६] बहुत वर्षों तक श्रामण्य का पालन कर (अन्त में) एक मासिक भक्त-प्रत्याख्यान (-अनशन) से उन्होंने (मृगापुत्र महर्षि ने) अनुत्तर सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त की ।

विवेचन—भावणाहिं सुद्धाहिं—शुद्ध अर्थात् निदान आदि दोषों से रहित, भावनाओं—अर्थात् महाव्रत सम्बन्धी भावनाओं अथवा अनित्यत्वादि-विषयक द्वादश भावनाओं से आत्मा को सम्यक्तया भावित करके यानी इन भावनाओं में तन्मय होकर ।

मासिएण भत्तेण—मासिक (एक मास का) उपवास (अनशन) करके ।

अणुत्तरं सिद्धिं—समस्त सिद्धियों में प्रधान सिद्धि अर्थात् मुक्ति प्राप्त की ।[1]

महर्षि मृगापुत्र के चारित्र से प्रेरणा

९७. एवं करन्ति संबुद्धा पण्डिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु मियापुत्ते जहा रिसी ॥

[९७] सम्बुद्ध, पण्डित और अतिविचक्षण व्यक्ति ऐसा ही करते हैं । वे कामभोगों से वैसे ही निवृत्त हो जाते हैं, जैसे कि महर्षि मृगापुत्र निवृत्त हुए थे ।

९८. महापभावस्स महाजसस्स मियाइ पुत्तस्स निसम्म भासियं ।
तवप्पहाणं चरियं च उत्तमं गइप्पहाणं च तिलोगविस्सुयं ॥

[९८] महाप्रभावशाली, महायशस्वी मृगापुत्र के तपःप्रधान, (मोक्षरूप) गति से प्रधान, त्रिलोकविश्रुत (प्रसिद्ध) उत्तम चारित्र के कथन को सुन कर—

९९. वियाणिया दुक्खविवद्धणं धणं ममत्तबंधं च महब्भयावहं ।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं धारेह निव्वाणगुणावहं महं ॥

—त्ति बेमि ।

[९९] धन को दुःखवर्द्धक और ममत्व-बन्धन को अत्यन्त भयावह जान कर (अनन्त-) सुखावह एवं निर्वाण-गुणों को प्राप्त कराने वाली अनुत्तर धर्मधुरा को धारण करो ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—संबुद्धा—(१) जिन की प्रज्ञा सम्यक् है, वे ज्ञानादि सम्पन्न ।

निव्वाणगुणावहं—निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त कराने वाले—अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुखादि गुणों को धारण करने वाले ।

मियापुत्तस्स भासियं—मृगापुत्र का संसार को दुःख रूप बताने वाला वैराग्यमूलक कथन, जो उसने माता-पिता के समक्ष कहा था ।[2]

॥ मृगापुत्रीय : उन्नीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ४६५

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६६

वीसवाँ अध्ययन : महानिर्ग्रन्थीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'महानिर्ग्रन्थीय' (महानियंठिज्जं) है। महानिर्ग्रन्थ की चर्या तथा मौलिक सिद्धान्तों और नियमों से सम्बन्धित वर्णन होने के कारण इसका नाम 'महानिर्ग्रन्थीय' रखा गया है।
* प्रस्तुत अध्ययन में श्रेणिक नृप द्वारा मुनि से पूछे जाने पर उनके द्वारा स्वयं को 'अनाथ' कहने पर चर्चा का सूत्रपात हुआ है और बाद में मुनि द्वारा अपनी अनाथता और सनाथता का वर्णन करने पर तथा अन्त में अनाथता के विविध रूप बताये जाने पर सनाथ-अनाथ का रहस्योद्‌घाटन हुआ है।
* मगधसम्राट् श्रेणिक एक बार घूमने निकले। वे राजगृह के बाहर पर्वत की तलहटी में स्थित मण्डिकुक्ष नामक उद्यान में पहुँच गए। वहाँ उन्होंने एक तरुण मुनि को ध्यानस्थ देखा। मुनि के अनुपम सौन्दर्य, रूप-लावण्य आदि को देख कर विस्मित राजा ने सविनय पूछा—'मुनिवर ! यह तरुण अवस्था तो भोग के योग्य है। आपका यह सुन्दर, दीप्तिमान् एवं स्वस्थ शरीर सांसारिक सुख भोगने के लिए है। इस अवस्था में आप मुनि क्यों बने ?' मुनि ने कहा—'राजन् ! मैं अनाथ था, इस कारण साधु बना !' राजा को यह सुन कर और अधिक आश्चर्य हुआ।

राजा—'आपका इतना सुन्दर रूप, शरीरसौष्ठव आपकी अनाथता की साक्षी नहीं देता। फिर भी यदि किसी अभाव के कारण आप अनाथ थे, या कोई संरक्षक-अभिभावक नहीं था, तो लो मैं आपका नाथ बनता हूँ। आप मेरे यहाँ रहें, मैं धन, धाम, वैभव तथा समस्त प्रकार की भोगसामग्री आपको देता हूँ।'

मुनि—'राजन् ! आप स्वयं अनाथ हैं, फिर दूसरों के नाथ कैसे बनेंगे ?'

राजा—'मैं अपार सम्पत्ति का स्वामी हूँ, मेरे आश्रित सारा राजपरिवार, नौकर-चाकर, सुभट, हाथी, घोड़े, रथ आदि हैं। समस्त सुखभोग के साधन मेरे पास हैं। फिर मैं अनाथ कैसे ?'

मुनि—'राजन् ! आप सनाथ-अनाथ के रहस्य को नहीं समझते, केवल धन-सम्पत्ति होने मात्र से कोई सनाथ नहीं हो जाता। जब समझ लेंगे, तब स्वयं ज्ञात हो जाएगा कि आप अनाथ हैं या सनाथ ! मैं अपनी आपबीती सुनाता हूँ। मेरे पिता कौशाम्बी के धनाढ्य-शिरोमणि थे। मेरा कुल सम्पन्न था। मेरा विवाह उच्च कुल में हुआ। एक बार मुझे असह्य नेत्र-पीड़ा उत्पन्न हुई। मेरे पिताजी ने पानी की तरह पैसा बहा कर मेरी चिकित्सा के लिये वैद्य, मंत्रवादी, तंत्रवादी आदि बुलाए, उनके सब प्रयत्न व्यर्थ हुए। मेरी माता, मेरी सगी बहनें, भाई सब मिलकर रोगनिवारण के प्रयत्न में जुट गए, परन्तु वे किसी भी तरह नहीं मिटा सके। मेरी पत्नी रात-

दिन मेरी सेवा-शुश्रूषा में जुटी रहती थी, परन्तु वह भी मुझे स्वस्थ न कर सकी। धन, धाम, परिवार, वैद्य, चिकित्सक आदि कोई भी मेरी वेदना को नहीं मिटा सका। मुझे कोई भी उससे न बचा सका, यही मेरी अनाथता थी।

एक दिन रोग-शय्या पर पड़े-पड़े मैंने निर्णय किया कि 'धन, परिवार, वैद्य आदि सब शरण मिथ्या हैं। मुझे इन आश्रयों का भरोसा छोड़े बिना शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। मुझे श्रमणधर्म का एकमात्र आश्रय लेकर दुःख के बीजों—कर्मों को निर्मूल कर देना चाहिए। यदि इस पीड़ा से मुक्त हो गया तो मैं प्रभात होते ही निर्ग्रन्थ मुनि बन जाऊँगा।' इस दृढ़ संकल्प के साथ मैं सो गया। धीरे-धीरे मेरा रोग स्वतः शान्त हो गया। सूर्योदय होते-होते मैं पूर्ण स्वस्थ हो गया। अतः प्रातःकाल ही मैंने अपने समस्त परिजनों के समक्ष अपना संकल्प दोहराया और उनसे अनुमति लेकर मैं निर्ग्रन्थ मुनि बन गया। राजन्! इस प्रकार मैं अनाथ से सनाथ हो गया। आज मैं स्वयं अपना नाथ हूँ, क्योंकि मेरी इन्द्रियों, मन, आत्मा आदि पर मेरा अनुशासन है, मैं स्वेच्छा से विधिपूर्वक श्रमणधर्म का पालन करता हूँ। मैं अब त्रस-स्थावर समस्त प्राणियों का भी नाथ (त्राता) बन गया।'

मुनि ने अनाथता के और भी लक्षण बताए, जैसे कि—निर्ग्रन्थधर्म को पाकर उसके पालन से कतराना, महाव्रतों को अंगीकार कर उनका सम्यक् पालन न करना, इन्द्रियनिग्रह न करना, रसलोलुपता रखना, रागद्वेषादि बन्धनों का उच्छेद न करना, पंचसमिति-त्रिगुप्ति का उपयोग-पूर्वक पालन न करना, अहिंसादि व्रतों, नियमों एवं तपस्या से भ्रष्ट हो जाना, मस्तक मुंडा कर भी साधुधर्म का आचरण न करना, केवल वेष एवं चिह्न के सहारे जीविका चलाना, लक्षण, स्वप्न, निमित्त, कौतुक, वैद्यक आदि विद्याओं का प्रयोग करके जीविका चलाना, अनेषणीय, अप्रासुक आहारादि का उपभोग करना, संयमी एवं ब्रह्मचारी न होते हुए स्वयं को संयमी एवं ब्रह्मचारी बताना आदि। इन अनाथताओं का दुष्परिणाम भी मुनि ने साथ-साथ बता दिया।

मुनि की अनुभवपूत वाणी सुन कर राजा अत्यन्त सन्तुष्ट एवं प्रभावित हुआ। वह सनाथ-अनाथ का रहस्य समझ गया। उसने स्वीकार किया कि वास्तव में मैं अनाथ हूँ और तब श्रद्धापूर्वक मुनि के चरणों में वन्दना की, सारा राजपरिवार धर्म में अनुरक्त हो गया। राजा ने मुनि से अपने अपराध के लिए क्षमा मांगी। पुनः वन्दना, स्तुति, भक्ति एवं प्रदक्षिणा करके मगधेश श्रेणिक लौट गया।

प्रस्तुत अध्ययन जीवन के एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को अनावृत करता है कि आत्मा स्वयं अनाथ या सनाथ हो जाता है। बाह्य ऐश्वर्य, विभूति, धन-सम्पत्ति से, या मुनि का उजला वेष या चिह्न कितने ही धारण कर लेने से, अथवा मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि विद्याओं के प्रयोग से कोई भी व्यक्ति सनाथ नहीं हो जाता। बाह्य वैभवादि सब कुछ पा कर भी मनुष्य आत्मानुशासन से यदि रिक्त है तो अनाथ है। □□

विंसइमं अज्झयणं : वीसवाँ अध्ययन

महानियंठिज्जं : महानिर्ग्रन्थीय

अध्ययन का प्रारम्भ

१. सिद्धाणं नमो किच्चा संजयाणं च भावओ ।
अत्थधम्मगइं तच्चं अणुसट्ठिं सुणेह मे ॥

[१] (सुधर्मास्वामी)--(हे शिष्य !) सिद्धों और संयतों को भावपूर्वक नमस्कार कर मैं अर्थ (—मोक्ष) और धर्म (रत्नत्रयरूप धर्म के स्वरूप) का बोध कराने वाली तथ्यपूर्ण अनुशिष्टि (-शिक्षा) का प्रतिपादन करता हूँ, उसे मुझ से सुनो ।

विवेचन—सिद्धाणं नमो किच्चा०—यहाँ अध्ययन के प्रारम्भ में सिद्धों (जिनके अन्तर्गत भावक-सिद्धरूप अर्हन्त भी आ जाते हैं) और संयतों (जिनके अन्तर्गत समस्त सावद्य प्रवृत्तियों से विरत आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु-साध्वीगण आ जाते हैं) को नमस्कार मंगलाचरण के लिए है । सिद्ध का अर्थ है—सित अर्थात्—वद्ध अष्टविध कर्म, जिनके ध्मात अर्थात्—भस्मसात् हो चुके हैं, वे सिद्ध हैं ।

अत्थधम्मगइं तच्चं—मुमुक्षुओं या हितार्थियों द्वारा जिसकी अभिलाषा की जाए, वह अर्थ (मोक्ष या साध्य) तथा धर्म सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म । गति का अर्थ है— (दोनों के) स्वरूप का ज्ञान कराने वाला तथ्य; अनुशासन—शिक्षा ।[1]

मुनिदर्शनानन्तर श्रेणिक राजा की जिज्ञासा

२. पभूयरयणो राया सेणिओ मगहाहिवो ।
विहारजत्तं निज्जाओ मण्डिकुच्छिसि चेइए ॥

[२] प्रचुर रत्नों से समृद्ध मगधाधिपति श्रेणिक राजा विहारयात्रा के लिए मण्डिकुक्षि नामक चैत्य (उद्यान) में नगर से निकला ।

३. नाणादुमलयाइण्णं नाणापक्खिनिसेवियं ।
नाणाकुसुमसंछन्नं उज्जाणं नन्दणोवमं ॥

[३] वह उद्यान विविध प्रकार के वृक्षों और लताओं से व्याप्त, नाना प्रकार के पक्षियों से परिसेवित एवं विभिन्न प्रकार के पुष्पों से भलीभांति आच्छादित था; (किं वहुना) वह नन्दनवन के समान था ।

---

१. वृहद्वृत्ति, पत्र ४७२
(क) सितं—वद्धमिहाष्टविधं कर्म, ध्मातं—भस्मसाद्भूतमेपामिति सिद्धाः ।
(ख). इत्थं पंचपरमेष्ठिरूपेष्टदेवतास्तवमभिधाय····

४. तत्थ सो पासई साहुं संजयं सुसमाहियं ।
निसन्नं रुक्खमूलम्मि सुकुमालं सुहोइयं ॥

[४.] वहाँ (उद्यान में) मगधनरेश ने वृक्ष के नीचे बैठे हुए एक संयत, समाधि-युक्त, सुकुमार एवं सुखोचित (सुखोपभोग के योग्य) मुनि को देखा ।

५. तस्स रूवं तु पासित्ता राइणो तम्मि संजए ।
अच्चन्तपरमो आसी अउलो रूवविम्हओ ॥

[५.] उन (साधु) के रूप को देख कर राजा श्रेणिक को उन संयमी के प्रति अत्यन्त अतुल्य विस्मय हुआ ।

६. अहो ! वण्णो अहो ! रूवं अहो ! अज्जस्स सोमया ।
अहो ! खंती अहो ! मुत्ती अहो ! भोगे असंगया ॥

[६.] (राजा सोचने लगा) अहो, कैसा वर्ण (रंग) है ! अहो, क्या रूप है ! अहो, आर्य का कैसा सौम्यभाव है ! अहो कितनी क्षमा (क्षान्ति) है और कितनी निर्लोभता (मुक्ति) है ! अहो, भोगों के प्रति इनकी कैसी निःसंगता है !

७. तस्स पाए उ वन्दित्ता काऊण य पयाहिणं ।
नाइदूरमणासन्ने पंजली पडिपुच्छई ॥

[७.] उन मुनि के चरणों में वन्दना और प्रदक्षिणा करने के पश्चात् राजा, न अत्यन्त दूर और न अत्यन्त समीप (अर्थात् योग्य स्थान में खड़ा रहा और) करबद्ध होकर पूछने लगा—

८. तरुणोसि अज्ज ! पव्वइओ भोगकालम्मि संजया ।
उवट्ठिओ सि सामण्णे एयमट्ठं सुणेमि ता ॥

[८.] हे आर्य ! आप अभी युवा हैं, फिर भी हे संयत ! आप भोगकाल में दीक्षित हो गए हैं ! श्रमणधर्म-(पालन) के लिए उद्यत हुए हैं; इसका कारण मैं सुनना चाहता हूँ ।

विवेचन—पभूयरयणो—(१) मरकत आदि प्रचुर रत्नों का स्वामी, अथवा (२) प्रवर हाथी, घोड़ा आदि के रूप में जिसके पास प्रचुर रत्न हों, वह ।[1]

विहारजत्तं निज्जाओ : तात्पर्य—विहारयात्रा अर्थात् क्रीडार्थ भ्रमण—सैर-सपाटे के लिए नगर से निकला ।[2]

साहुं संजयं सुसमाहियं—यद्यपि यहाँ 'साधु' शब्द कहने से ही अर्थबोध हो जाता, फिर भी उसके दो अतिरिक्त विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं, वे सकारण हैं, क्योंकि शिष्ट पुरुष को भी साधु कहा जाता है, अतः भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए 'संयत' (संयमी) शब्द का प्रयोग किया; किन्तु

---

१. प्रभूतानि रत्नानि—मरकतादीनि, प्रवरगजाश्वादिरूपाणि वा यस्याऽसौ प्रभूतरत्नः । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७२
२. वही, पत्र ४७२

निह्नव आदि भी वाह्य दृष्टि से संयमी हो सकते हैं, अतः 'सुसमाहित' विशेषण और जोडा गया, अर्थात्—वह संयत होने के साथ-साथ सम्यक् मनःसमाधान-सम्पन्न थे ।[1]

अच्चंतपरमो अउलो रूवविम्हओ—'राजा को उनके रूप के प्रति अत्यधिक अतुल—असाधारण विस्मय हुआ ।'

वर्ण और रूप में अन्तर—वर्ण का अर्थ है सुस्निग्धता या गोरा, गेहुंआ आदि रंग और रूप कहते हैं—आकार, (आकृति) एवं डीलडौल को । वर्ण और रूप से 'व्यक्तित्व' जाना जाता है ।[2]

असंगया—असंगता का अर्थ—निःस्पृहता या अनासक्ति है ।[3]

चरणवन्दन के वाद प्रदक्षिणा क्यों ?—प्राचीनकाल में पूज्य पुरुषों के दर्शन होते ही चरणों में वन्दना और फिर साथ-साथ ही उनकी प्रदक्षिणा की जाती थी । इस विशेष परिपाटी को वताने के लिए यहाँ दर्शन, वन्दन और प्रदक्षिणा का क्रम अंकित है ।[4]

राजा की विस्मययुक्त जिज्ञासा का कारण—श्रेणिक राजा को उक्त मुनि को देखकर विस्मय तो इसलिए हुआ कि एक तो वे मुनि तरुण थे, तरुणावस्था भोगकाल के रूप में प्रसिद्ध है, किन्तु उस अवस्था में कदाचित् कोई रोगादि हो या संयम के प्रति अनुद्यत हो तो कोई आश्चर्य नहीं होता, किन्तु यह मुनि तरुण थे, स्वस्थ थे, समाधि-सम्पन्न थे और श्रमणधर्मपालन में समुद्यत थे, यही विस्मय राजा की जिज्ञासा का कारण वना । अर्थात्—भोगयोग्य काल (तारुण्य) में जो आप प्रव्रजित हो गए हैं, मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ ।[5]

मुनि और राजा के सनाथ-अनाथ सम्वन्धी उत्तर-प्रत्युत्तर

९. अणाहो मि महाराय ! नाहो मज्झ न विज्जई ।
अणुकम्पगं सुहिं वावि कंचि नाभिसमेमऽहं ॥

[९] (मुनि)—महाराज ! मैं अनाथ हूँ । मेरा कोई नाथ नहीं है । मुझ पर अनुकम्पा करने वाला या सुहृद् (सहृदय) मुझे नहीं मिला ।

१०. तओ सो पहसिओ राया सेणिओ मगहाहिवो ।
एवं ते इड्ढिमन्तस्स कहं नाहो न विज्जई ?

[१०] (राजा)—यह सुनकर मगधनरेश राजा श्रेणिक जोर से हंसता हुआ वोला—इस प्रकार ऋद्धिसम्पन्न-ऋद्धिमान् (वैभवशाली) आपका कोई नाथ कैसे नहीं है ?

---

१. "साधुः सर्वोऽपि शिष्ट उच्यते, तद्व्यवच्छेदार्थं संयतमित्युक्तं, सोऽपि च वहिःसंयमवान्निह्नवादिरपि स्यादिति सुष्ठु समाहितो—मनःसमाधानवान् सुसमाहितस्तमित्युक्तम् ।" —वृहद्वृत्ति, पत्र ४७२
२. 'वर्णः सुस्निग्धो गौरतादिः, रूपम्—आकारः । —वृहद्वृत्ति, पत्र ४७३
३. (क) वही, पत्र ४७३ (ख) उत्तरा. अनुवाद विवेचन (मुनि नथमल), भा. १, पृ. २६२
४. वृहद्वृत्ति, पत्र ४७३
५. वही, पत्र ४७३

११. होमि नाहो भयन्ताणं भोगे भुंजाहि संजया ! ।
मित्त–नाईपरिवुडो माणुस्सं खु सुदुल्लहं ॥

[११] हे संयत ! (चलो,) मैं आप भदन्त का नाथ बनता हूँ । आप मित्र और ज्ञातिजनों सहित (यथेच्छ) विषय-भोगों का उपभोग करिये; (क्योंकि) यह मनुष्य-जीवन अतिदुर्लभ है ।

१२. अप्पणा वि अणाहो सि सेणिया ! मगहाहिवा !
अप्पणा अणाहो सन्तो कहं नाहो भविस्ससि ?

[१२] (मुनि)—हे मगधाधिप श्रेणिक ! तुम स्वयं अनाथ हो । जब तुम स्वय अनाथ हो तो (किसी दूसरे के) नाथ कैसे हो सकोगे ?

१३. एवं वुत्तो नरिन्दो सो सुसंभन्तो सुविम्हिओ ।
वयणं अस्सुयपुव्वं साहुणा विम्हयन्निओ ॥

[१३] राजा (पहले ही) अतिविस्मित (हो रहा) था, (अब) मुनि के द्वारा ('तुम अनाथ हो') इस प्रकार के अश्रुतपूर्व (पहले कभी नहीं सुने गये) वचन कहे जाने पर तो वह नरेन्द्र और भी अधिक सम्भ्रान्त (—संशयाकुल) एवं विस्मित हो गया ।

१४. अस्सा हत्थी मणुस्सा मे पुरं अन्तेउरं च मे ।
भुंजामि माणुसे भोगे आणा इस्सरियं च मे ॥

[१४] (राजा श्रेणिक)—मेरे पास अश्व हैं, हाथी हैं, (अनेक) मनुष्य हैं, (सारा) नगर और अन्तःपुर मेरा है । मैं मनुष्य-सम्बन्धी (सभी सुख-) भोगों को भोग रहा हूँ । मेरी आज्ञा (चलती) है और मेरा ऐश्वर्य (प्रभुत्व) भी है ।

१५. एरिसे सम्पयग्गम्मि सव्वकामसमप्पिए ।
कहं अणाहो भवइ ? मा हु भन्ते ! मुसं वए ॥

[१५] ऐसे श्रेष्ठ सम्पदा से युक्त समस्त कामभोग मुझे (मेरे चरणों में) समर्पित (प्राप्त) होने पर भी (भला) मैं कैसे अनाथ हूँ ? भदन्त ! आप मिथ्या न बोलें ।

१६. न तुमं जाणे अणाहस्स अत्थं पोत्थं व पत्थिवा ! ।
जहा अणाहो भवई सणाहो वा नराहिवा ! ॥

[१६] (मुनि)—हे पृथ्वीपाल ! तुम 'अनाथ' के अर्थ या परमार्थ को नहीं जानते हो कि नराधिप भी कैसे अनाथ या सनाथ होता है ?

विवेचन—अणाहोमि—मुनि द्वारा उक्त यह वृत्तान्त 'भूतकालीन' होते हुए भी तत्कालापेक्षया सर्वत्र वर्तमानकालिक प्रयोग किया गया है । अर्थात्—मैं अनाथ था, मेरा कोई भी नाथ नहीं था ।[१]

---

१. '..........तत्कालापेक्षया वर्त्तमाननिर्देशः ।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७३

नाभिसमेमहं—किसी अनुकम्पाशील सहृदय सुहृद् का मेरे साथ समागम नहीं हुआ, जिससे कि मैं नाथ बन जाता ; यह मुनि के कहने का आशय है।[1]

विम्हयन्निओ—वह श्रेणिक नरेन्द्र पहले ही मुनि के रूपादि को देखकर विस्मित था, फिर तू अनाथ है, इस प्रकार की अश्रुतपूर्व बात सुनते ही और भी अधिक आश्चर्यान्वित एवं अत्याकुल हो गया।[2]

इड्ढिमंतस्स—ऋद्धिमान्—आश्चर्यजनक आकर्षक वर्णादि सम्पत्तिशाली।[3]

'कहं नाहो न विज्जई ?'—श्रेणिक राजा के कथन का आशय यह है कि 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' इस न्याय से आपकी आकृति से आप अनाथ थे, ऐसा प्रतीत नहीं होता। आपकी आकृति ही आपमें सनाथता की साक्षी दे रही है। फिर जहाँ गुण होते हैं, वहाँ धन होता है और धन होता है, वहाँ 'श्री' और श्रीमान् में आज्ञा और जहाँ आज्ञा हो वहाँ प्रभुता होती है यह लोकप्रवाद है। इस दृष्टि से आप में अनाथता सम्भव नहीं है।[4]

होमि नाहो भयंताणं—श्रेणिक राजा के कहने का अभिप्राय यह है कि इतने पर भी यदि अनाथता ही आपके प्रव्रज्या-ग्रहण का कारण है तो मैं आपका नाथ बनता हूँ। आप सनाथ बनकर मित्र-ज्ञातिजन सहित यथेच्छ भोगों का उपभोग कीजिए और दुर्लभ मनुष्यजन्म को सार्थक कीजिए।

श्रेणिक राजा 'नाथ' का अर्थ—'योगक्षेम करने वाला' समझा हुआ था, इसी दृष्टि से उसने मुनि से कहा था कि मैं आपका नाथ (योगक्षेमविधाता) बनता हूँ। अप्राप्त की प्राप्ति को 'योग' और प्राप्त वस्तु के संरक्षण को 'क्षेम' कहते हैं। श्रेणिक ने मुनि के समक्ष इस प्रकार के योगक्षेम को वहन करने का दायित्व स्वयं लेने का प्रस्ताव रखा था।[5]

आणाइस्सरियं च मे—(१) आज्ञा—अस्खलितशासनरूप, और ऐश्वर्य—द्रव्यादिसमृद्धि, अथवा (२) आज्ञा सहित ऐश्वर्य—प्रभुत्व, दोनों मेरे पास हैं।[6]

निष्कर्ष—राजा भौतिक सम्पदाओं और प्रचुर भोगसामग्री आदि के स्वामी को ही 'नाथ'

---

१. न केनचिदनुकम्पकेन सुहृदा वा संगतोऽहमित्यादिनाऽर्थेन तारुण्येऽपि प्रव्रजित इति भावः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७३

२. वही, पत्र ४७४

३. वही, पत्र ४७३

४. वही, पत्र ४७३ : "यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति, तथा 'गुणवति धनं, ततः श्रीः, श्रीमत्याज्ञा, ततो राज्यमिति' लोकप्रवादः। तथा च न कथञ्चिदनाथत्वं भवतः सम्भवतीति भावः।"

५. (क) यदि अनाथतैव भवतः प्रव्रज्याप्रतिपत्तिहेतुस्तदा भवाम्यहं भदन्तानां-पूज्यानां नाथः। मयि नाथे मित्राणि ज्ञातयो भोगाश्च तव सुलभा एवेत्यभिप्रायेण भोगेत्याद्युक्तवान्।............"

(ख) 'नाथः योगक्षेमविधाता'। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७३

६. आज्ञा-अस्खलितशासनात्मिका, ऐश्वर्यं च द्रव्यादिसमृद्धिः, यद्वा आज्ञया ऐश्वर्यं—प्रभुत्वम्-आज्ञैश्वर्यम्।
—वही, पत्र ४७४

समझ रहा था। इसलिए मुनि ने उसको कहा—तुम नहीं जानते कि पुरुष 'अनाथ' या 'सनाथ' कैसे होता है ?[१]

मुनि द्वारा अपनी अनाथता का प्रतिपादन

१७. सुणेह मे महाराय ! अव्वक्खित्तेण चेयसा।
जहा अणाहो भवई जहा मे य पवत्तियं॥

[१७] हे महाराज ! आप मुझ से अव्याक्षिप्त (एकाग्र) चित्त होकर सुनिये कि (वास्तव में मनुष्य) अनाथ कैसे होता है ? और मैंने किस अभिप्राय से वह (अनाथ) शब्द प्रयुक्त किया है ?

१८. कोसम्बी नाम नयरी पुराणपुरभेयणी।
तत्थ आसी पिया मज्झ पभूयधणसंचओ॥

[१८] (मुनि)—प्राचीन नगरों में असाधारण, अद्वितीय कौशाम्बी नाम की नगरी है। उसमें मेरे पिता (रहते) थे। उनके पास प्रचुर धन का संग्रह था।

१९. पढमे वए महाराय ! अउला मे अच्छिवेयणा।
अहोत्था विउलो दाहो सव्वंगेसु य पत्थिवा ! ॥

[१९] महाराज ! प्रथम वय (युवावस्था) में मुझे (एक बार) अतुल (असाधारण) नेत्र-पीड़ा उत्पन्न हुई। हे पृथ्वीपाल ! उससे मेरे शरीर के सभी अंगों में बहुत (विपुल) जलन होने लगी।

२०. सत्थं जहा परमतिक्खं सरीरविवरन्तरे।
पवेसेज्ज अरी कुद्धो एवं मे अच्छिवेयणा॥

[२०] जैसे कोई शत्रु क्रुद्ध होकर शरीर के (कान-नाक आदि के) छिद्रों में अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र को घोंप दे और उससे जो वेदना हो, वैसी ही (असह्य) वेदना मेरी आंखों में होती थी।

२१. तियं मे अन्तरिच्छं च उत्तमंगं च पीडई।
इन्दासणिसमा घोरा वेयणा परमदारुणा॥

[२१] इन्द्र के वज्र-प्रहार के समान घोर एवं परम दारुण वेदना मेरे त्रिक—कटि भाग को, अन्तरेच्छ-हृदय को और उत्तमांग—मस्तिष्क को पीड़ित कर रही थी।

२२. उवट्ठिया मे आयरिया विज्जा-मन्ततिगिच्छगा।
अबीया सत्थकुसला मन्त-मूलविसारया॥

[२२] विद्या और मंत्र से चिकित्सा करने वाले, मंत्र तथा मूल (जड़ी-बूटियों) में विशारद, अद्वितीय शास्त्रकुशल प्राणाचार्य (या आयुर्वेदाचार्य) उपस्थित हुए।

---

१. "अनाथशब्दस्यार्थं चाभिधेयम्, उत्थां वा—उत्थानं मूलोत्पत्ति, केनाभिप्रायेण मयोक्तमित्येवंरूपाम्। अथवा—अर्थं, प्रोत्थां वा—प्रकृष्टोत्थानरूपामतएव यथाऽनाथः सनाथो वा भवति तथा च न जानीषे इति सम्बन्धः।"
—बृहद्वृत्ति, पत्र ४७५

२३. ते मे तिगिच्छं कुव्वन्ति चाउप्पायं जहाहियं ।
न य दुक्खा विमोयन्ति एसा मज्झ अणाहया ॥

[२३] जैसे भी मेरा हित हो, वैसे उन्होंने मेरी चतुष्पाद (वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक रूप चतुष्प्रकार) चिकित्सा की, किन्तु वे मुझे दुःख (पीड़ा) से मुक्त न कर सके; यह मेरी अनाथता है ।

२४. पिया मे सव्वसारं पि दिज्जाहि मम कारणा ।
न य दुक्खा विमोएइ एसा मज्झ अणाहया ॥

[२४] मेरे पिता ने मेरे निमित्त (उन चिकित्सकों को उपहारस्वरूप) (घर की) सर्वसार (—समस्त धन आदि सारभूत) वस्तुएँ दीं, किन्तु वे मुझे दुःख से मुक्त न कर सके, यह मेरी अनाथता है ।

२५. माया य मे महाराय ! पुत्तसोगदुहट्टिया ।
न य दुक्खा विमोएइ एसा मज्झ अणाहया ॥

[२५] हे महाराज ! मेरी माता पुत्रशोक के दुःख से पीड़ित रहती थी, किन्तु वह भी मुझे दुःख से मुक्त न कर सकी, यह मेरी अनाथता है ।

२६. भायरो मे महाराय ! सगा जेट्ठ-कणिट्ठगा ।
न य दुक्खा विमोयन्ति एसा मज्झ अणाहया ॥

[२६] मेरे बड़े और छोटे सभी सहोदर भाई भी दुःख से मुक्त नहीं कर सके, यह मेरी अनाथता है ।

२७. भइणीओ मे महाराय ! सगा जेट्ठ-कणिट्ठगा ।
न य दुक्खा विमोयन्ति एसा मज्झ अणाहया ॥

[२७] महाराज ! मेरी छोटी और बड़ी सगी भगिनियां (बहनें) भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकीं यह मेरी अनाथता है ।

२८. भारिया मे महाराय ! अणुरत्ता अणुव्वया ।
अंसुपुण्णेहिं नयणेहिं उरं मे परिसिंचई ॥

[२८] महाराज ! मेरी पत्नी, जो मुझ में अनुरक्ता और अनुव्रता (पतिव्रता) थी, अश्रुपूर्ण नेत्रों से मेरे उरःस्थल (छाती) को सींचती रहती थी ।

२९. अन्नं पाणं च ण्हाणं च गन्ध-मल्ल-विलेवणं ।
मए नायमणायं वा सा बाला नोवभुंजई ॥

[२९] वह बाला (नवयौवना पत्नी) मेरे जानते या अनजानते (प्रत्यक्ष या परोक्ष में) कदापि अन्न, पान, स्नान, गन्ध, माल्य और विलेपन का उपभोग नहीं करती थी ।

३०. खणं पि मे महाराय ! पासाम्रो वि न फिट्टई ।
न य दुक्खा विमोएइ एसा मज्झ अणाहया ॥

[३०] वह एक क्षणभर भी मुझ से दूर नहीं हटती थी; फिर भी वह मुझे दु:ख से विमुक्त न कर सकी, महाराज ! यह मेरी अनाथता है ।

विवेचन—अनाथता के कतिपय कारण : मुनि के मुख से—(१) विविध चिकित्सकों ने विविध प्रकार से चिकित्सा की, किन्तु दु:खमुक्त न कर सके, (२) मेरे पिता ने चिकित्सा में पानी की तरह सर्वस्व बहाया, किन्तु वे भी दु:खमुक्त न कर सके, (३) पुत्रदु:खपीड़ित माता भी दु:खमुक्त न कर सकी, (४) छोटे-बड़े भाई भी दु:खमुक्त न कर सके, (५) छोटी-बड़ी बहनें भी दु:खमुक्त न कर सकीं, (६) अनुरक्ता एवं पतिव्रता पत्नी भी दु:खमुक्त न कर सकी । अपनी अनाथता के ये कतिपय कारण मुनिवर ने प्रस्तुत किये हैं ।[1]

पुराणपुरभेयणी—अपने गुणों से असाधारण होने के कारण पुरातन नगरों से भिन्नता स्थापित करने वाली अर्थात्—प्रमुख नगरी या श्रेष्ठ नगरी (कौशाम्बी नगरी) थी ।[2]

घोरा परमदारुणा—घोरा—भयंकर, जो दूसरों को भी प्रत्यक्ष दिखाई दे, ऐसी भयोत्पादिनी । परमदारुणा—अतीव दु:खोत्पादिका ।[3]

उवट्ठिया—(वेदना का प्रतीकार करने के लिए) उद्यत हुए ।

आयरिया : आचार्या—प्राणाचार्य, वैद्य ।[4]

सत्थकुसला—(१) शस्त्रकुशल (शल्यचिकित्सा या शस्त्रक्रिया में निपुण चिकित्सक) और (२) शास्त्रकुशल (आयुर्वेदविशारद) ।

मंतमूलविसारया—मन्त्रों और मूलों—औषधियों—जड़ीबूटियों के विशेषज्ञ ।

चाउप्पायं-चतुष्पदां—चतुर्भागात्मक चिकित्सा—(१) भिषक्, भेषज, रुग्ण और परिचारक रूप चार चरणों वाली, (२) वमन, विरेचन, मर्दन एवं स्वेदन रूप चतुर्भागात्मक, अथवा (३) अंजन, बन्धन, लेपन और, मर्दन रूप चिकित्सा । स्थानांगसूत्र में वैद्यादि चारों चिकित्सा के अंग कहे गए हैं । अपने-अपने शास्त्रों तथा गुरुपरम्परा के अनुसार विविध चिकित्सकों ने चिकित्सा की, किन्तु पीड़ा न मिटा सके ।[5]

---

१. उत्तराध्ययन, अ. २०, मूलपाठ तथा बृहद्वृत्ति का सारांश

२. "पुराणपुराणि भिनत्ति—स्वगुणैरसाधारणत्वाद् भेदेन व्यवस्थापयति—पुराणपुरभेदिनी।"—बृहद्वृत्ति, पत्र ४७५

३. घोरा—परेषामपि दृश्यमाना, भयोत्पादनी; परमदारुणा—अतीवदु:खोत्पादिका ।

४. (क) उपस्थिता:—वेदनाप्रतीकारं प्रत्युद्यता: । —वही, पत्र ४७५
(ख) आचार्या:—प्राणाचार्या:, वैद्या इति यावत् । —वही, पत्र ४७५

५. (क) "शस्त्रेषु शास्त्रेषु वा कुशला: शस्त्रकुशला: शास्त्रकुशला: वा ।"
(ख) "चतुष्पदां—भिषग्भैषजातुरप्रतिचारकात्मकचतुर्भागां ।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७५
(ग) "**चउव्विहा तिगिच्छा पण्णत्ता, तं०—विज्जो, ओसधाइं, आउरे, परिचारते ।**"
—स्थानांग. ४, स्था. ४।३४३
(घ) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. ५९१

अणुव्वया-अनुव्रता : कुलानुरूप व्रत—आचार वाली, अर्थात्—पतिव्रता अथवा 'अनुवयाः' रूपान्तर होने से अर्थ होगा—वय के अनुरूप (वह सभी कार्य स्फूर्ति से करती) थी।[1]

पासाओवि न फिट्टइ—मेरे पास से कभी दूर नहीं होती थी, हटती न थी। अर्थात्—उसका मेरे प्रति इतना अधिक अनुराग या वात्सल्य था।[2]

अनाथता से सनाथता-प्राप्ति की कथा

३१. तओ हं एवमाहंसु दुक्खमा हु पुणो पुणो।
वेयणा अणुभविउं जे संसारम्मि अणन्तए॥

[३१] तब मैंने (मन ही मन) इस प्रकार कहा (-सोचा—) कि 'प्राणी को इस अनन्त संसार में अवश्य ही बार-बार दुःसह वेदना का अनुभव करना होता है।'

३२. सइं च जइ मुच्चेज्जा वेयणा विउला इओ।
खन्तो दन्तो निरारम्भो पव्वए अणगारियं॥

[३२] यदि इस विपुल वेदना से एक बार मुक्त हो जाऊँ तो मैं क्षान्त, दान्त और निरारम्भ अनगारता (भावभिक्षुता) में प्रव्रजित हो जाऊँगा।

३३. एवं च चिन्तइत्ताणं पसुत्तो मि नराहिवा!।
परियट्टन्तीए राईए वेयणा मे खयं गया॥

[३३] हे नरेश! इस प्रकार (मन में) विचार करके मैं सो गया। परिवर्त्तमान (व्यतीत होती हुई) रात्रि के साथ-साथ मेरी (नेत्र-) वेदना भी नष्ट हो गई।

३४. तओ कल्ले पभायम्मि आपुच्छित्ताण बन्धवे।
खन्तो दन्तो निरारम्भो पव्वइओऽणगारियं॥

[३४] तदन्तर प्रभातकाल में नीरोग होते ही मैं बन्धुजनों से अनुमति लेकर क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगारधर्म में प्रव्रजित हो गया।

३५. ततो हं नाहो जाओ अप्पणो य परस्स य।
सव्वेसिं चेव भूयाणं तसाण थावराण य॥

[३५] तब (प्रव्रज्या अंगीकार करने के बाद) मैं अपना और दूसरों का, त्रस और स्थावर सभी प्राणियों का 'नाथ' हो गया।

३६. अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं॥

[३६] अपनी आत्मा स्वयं ही वैतरणी नदी है, अपनी आत्मा ही कूटशाल्मलि वृक्ष है, आत्मा ही कामदुघा धेनु है और अपनी आत्मा ही नन्दनवन है।

---

१. "कुलानुरूपं व्रतं—आचारोऽस्या अनुव्रता, पतिव्रतेति यावत्, वयोऽनुरूपा वा।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७६
२. "मत्पार्श्वाच्च नापयाति, सदा सन्निहितैवास्ते, अनेन तस्या अतिवत्सलत्वमाह।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ४७६

३७. अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय—सुपट्ठिओ ।।

[३७] आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्त्ता और विकर्त्ता (विनाशक) है । सुप्रस्थित(—सत् प्रवृत्ति में स्थित) आत्मा ही अपना मित्र है और दुःप्रस्थित (-दुष्प्रवृत्ति में स्थित) आत्मा ही अपना शत्रु है ।

विवेचन—अनाथता दूर करने का उपाय—प्रस्तुत पांच गाथाओं (३१ से ३५ तक) में मुनि ने प्रकारान्तर से अनाथता दूर करने का नुस्खा बता दिया है । वह क्रम संक्षेप में इस प्रकार है—(१) अनाथता के मूल कारण का चिन्तन—संसार में प्राणी को बार-बार जन्म-मरणादि का दुःसह दुःखानुभव, (२) अनाथता के मूल कारणभूत दुःख को दूर करने के लिए अनगारधर्म अंगीकार करने का दृढ़ संकल्प, (३) वेदना के मूलकारणभूत जन्ममरणादि दुःख (वेदना रूप) का नाश, (४) सनाथ बनने के लिए प्रव्रज्या-स्वीकार और (५) इसके पश्चात्—स्व-पर का 'नाथ' बनना ।[1]

दुक्खमा : अर्थ—'दुःक्षमा' का अर्थ है—दुःसहा । यह वेदना का विशेषण है ।[2]

पव्वइए अणगारियं—(१) प्रव्रजन करूंगा अर्थात्—घर से प्रव्रज्या के लिए निष्क्रमण करूंगा, फिर अनगारता अर्थात्—भावभिक्षुता को अंगीकार करूंगा, अथवा (२) अनगारिता का प्रव्रजन स्वीकार करूंगा, जिससे कि संसार का उच्छेदन होने से मूल से ही वेदना उत्पन्न नहीं होगी ।[3]

कल्ले पभायम्मि : दो अर्थ—(१) कल्य अर्थात् नीरोग होकर प्रभात—प्रातःकाल में । अथवा (२) कल्ये—आगामी कल, चिन्तनादि की अपेक्षा से दूसरे दिन प्रातःकाल में ।

स्व-पर एवं त्रस-स्थावरों का नाथ : कैसे ?—(१) इन्द्रियं और मन को वश में कर लेने के कारण 'स्व' का नाथ हो जाता है । आत्मा इनकी तथा सांसारिक पदार्थों की गुलामी छोड़ देता है, तब अपना नाथ बन जाता है । (२) दूसरे व्यक्तियों का नाथ साधु बन जाने पर होता है, क्योंकि वास्तविक सुख जिन्हें अप्राप्त है, उन्हें प्राप्त कराता है तथा जिन्हें प्राप्त है, उन्हें रक्षणोपाय बताता है । इस कारण मुनि 'नाथ' बनता है । इसी प्रकार (३) त्रस-स्थावर जीवों का नाथ यानी शरण-दाता, त्राता, धर्ममूर्ति संयमी साधु है ही ।

अपना 'नाथ' या 'अनाथ' कैसे ?—निश्चयदृष्टि से सत्प्रवृत्त आत्मा ही अपना नाथ है और दुष्प्रवृत्त आत्मा ही 'अनाथ' है । 'धम्मपद' में इस सम्बन्ध में एक गाथा है—

अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया ।
अत्तना ही सुदन्तेन 'नाथं' लभति दुल्लभं ।।४।।[5]

---

१. उत्तरा. मूलपाठ, अ. २० गा. ३१ से ३५ तक का सारांश ।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र १७६

३. प्रव्रजेयं—गृहान्निष्क्रामयेयम्, ततश्च अनगारतां—भावभिक्षुतामंगीकुर्यामिति । यद्वा—प्रव्रजेयं—प्रतिपद्येयमनगारितां, येन संसारोच्छित्तितो मूलत एव न वेदनासम्भवः । —वही, पत्र ४७६

४. "कल्यो—नीरोगः सन् प्रभाते—प्रातः, यद्वा कल्ल इति चिन्तनादिनाऽपेक्षया द्वितीयदिने प्रकर्षेण व्रजितो गतः ।" —वही, पत्र ४७६

५. (क) धम्मपद, १२ वाँ अत्तवग्गो, गा. ४

अर्थात्—आत्मा ही आत्मा का नाथ है या हो सकता है। इसका दूसरा कौन नाथ (स्वामी) हो सकता है ?

भलीभांति दमन किया गया आत्मा स्वयं ही दुर्लभ 'नाथ' (स्वामित्व) पद प्राप्त कर लेता है।

आत्मा ही मित्र और शत्रु आदि—आत्मा उपकारी होने से मित्र है और अपकारी होने से शत्रु। दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा शत्रु है और सत्प्रवृत्ति में स्थित मित्र है। दुष्प्रस्थित आत्मा ही समस्त दुःखहेतु होने से वैतरणी आदि रूप है और सुप्रस्थित आत्मा सकल सुखहेतु होने से कामधेनु, नन्दनवन आदि रूप है।[1]

निष्कर्ष—प्रस्तुत दो गाथाओं (३६-३७) में यह आशय गर्भित है कि प्रव्रज्यावस्था में सुप्रस्थित होने से योगक्षेम करने में समर्थ होने से साधु स्व-पर का नाथ हो जाता है।[2]

अन्य प्रकार की अनाथता

३८. इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा ! तमेगचित्तो निहुओ सुणेहि।
नियण्ठधम्मं लहियाण वी जहा सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा ॥

[३८] हे नृप ! यह एक और भी अनाथता है; शान्त और एकाग्रचित्त हो कर उसे सुनो। जैसे—कई अत्यन्त कायर नर होते हैं, जो निर्ग्रन्थधर्म को पा कर भी दुःखानुभव करते हैं। (—उसका आचरण करने में शिथिल हो जाते हैं।)

३९. जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं सम्मं नो फासयई पमाया।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे न मूलओ छिन्दइ बन्धणं से ॥

[३९] जो प्रव्रज्या ग्रहण करके प्रमादवश महाव्रतों का सम्यक् पालन नहीं करता; अपनी आत्मा का निग्रह नहीं करता; रसों में आसक्त रहता है; वह मूल से (रागद्वेषरूप) बन्धन का उच्छेद नहीं कर पाता।

४०. आउत्तया जस्स न अत्थि काइ इरियाए भासाए तहेसणाए।
आयाण-निक्खेव-दुगुंछणाए न वीरजायं अणुजाइ मग्गं ॥

[४०] जिसकी ईर्या, भाषा, एषणा और आदान-निक्षेप में तथा उच्चार-प्रस्रवणादि-परिष्ठापन (जुगुप्सना) में कोई भी आयुक्तता (—सावधानी) नहीं है, वह वीरयात—वीर पुरुषों द्वारा सेवित मार्ग का अनुगमन नहीं कर सकता।

४१. चिरं पि से मुण्डरुई भवित्ता अथिरव्वए तव-नियमेहि भट्ठे।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता न पारए होइ हु संपराए ॥

[४१] जो अहिंसादि व्रतों में अस्थिर है, तप और नियमों से भ्रष्ट है, वह चिरकाल तक

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४६७ का तात्पर्य
२. वही, पत्र ४७७

मुण्डरुचि रह कर और चिरकाल तक आत्मा को (लोच आदि से) क्लेश दे कर भी संसार का पारगामी नहीं हो पाता।

४२. पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे अयन्तिए कूडकहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे अमहग्घए होइ य जाणएसु॥

[४२] जैसे पोली (खाली) मुट्ठी निस्सार होती है, उसी तरह वह (द्रव्यसाधु रत्नत्रयशून्य होने से) साररहित होता है। अथवा वह खोटे सिक्के (कार्षापण) की तरह अयन्त्रित (अनादरणीय अथवा अप्रमाणित) होता है; क्योंकि वैडूर्यमणि की तरह चमकने वाली तुच्छ राढामणि—काचमणि के समान वह जानकार परीक्षकों की दृष्टि में मूल्यवान् नहीं होता।

४३. कुसीललिंगं इह धारइत्ता इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता।
असंजए संजयलप्पमाणे विणिघायमागच्छइ से चिरंपि॥

[४३] जो (साध्वाचारहीन) व्यक्ति कुशीलों (पार्श्वस्थादि आचारहीनों) का वेष (लिंग) तथा ऋषिध्वज (रजोहरणादि मुनिचिह्न) धारण करके अपनी जीविका चलाता (बढ़ाता) है और असंयमी होते हुए भी अपने आपको संयमी कहता है; वह चिरकाल तक विनिघात (विनाश) को प्राप्त होता है।

४४. विसं तु पीयं जह कालकूडं हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसे व धम्मो विसओववन्नो हणाइ वेयाल इवाविवन्नो॥

[४४] जैसे—पिया हुआ कालकूट विष तथा विपरीतरूप से पकड़ा हुआ शस्त्र, स्वयं का घातक होता है और अनियंत्रित वैताल भी विनाशकारी होता है, वैसे ही विषयविकारों से युक्त यह धर्म भी विनाश कर देता है।

४५. जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे निमित्त—कोऊहलसंपगाढे।
कुहेडविज्जासवदारजीवी न गच्छई सरणं तम्मि काले॥

[४५] जो लक्षणशास्त्र और स्वप्नशास्त्र का प्रयोग करता है, जो निमित्तशास्त्र और कौतुक-कार्य में अत्यन्त आसक्त है, मिथ्या आश्चर्य उत्पन्न करने वाली कुहेटक विद्याओं (जादूगरों के तमाशों) से आश्रवद्वार (कर्मबन्धन हेतु) रूप जीविका करता है, वह उस कर्मफलभोग के समय किसी की शरण नहीं पा सकता।

४६. तमंतमेणेव उ से असीले सया दुही विप्परियासुवेइ।
संधावई नरगतिरिक्खजोणिं मोणं विराहेत्तु असाहुरूवे॥

[४६] शीलविहीन वह द्रव्यसाधु अपने घोर अज्ञानतमस् के कारण सदा दुःखी हो कर विपरीत दृष्टि को प्राप्त होता है। फलतः असाधुरूप वह साधु मुनिधर्म की विराधना करके नरक और तिर्यञ्चयोनि में सतत आवागमन करता रहता है।

४७. उद्देसियं कीयगडं नियागं न मुंचई किंचि अणेसणिज्जं।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं॥

[४७] जो औद्देशिक, क्रीतकृत, नियाग (नित्यपिण्ड) आदि के रूप में थोड़ा-सा भी

अनेषणीय आहार नहीं छोड़ता; वह भिक्षु अग्नि के समान सर्वभक्षी होकर पाप कर्म करके यहाँ से मर कर दुर्गति में जाता है।

४८. न तं अरी कंठछेत्ता करेइ जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥

[४८] उस (पापात्मा साधु) की अपनी दुष्प्रवृत्तिशील दुरात्मा जो अनर्थ करती है, वह (वैसा अनर्थ) गला काटने वाला शत्रु भी नहीं करता। उक्त तथ्य को वह निर्दय (-संयमहीन) मनुष्य मृत्यु के मुख में पहुँचने के समय पश्चात्ताप के साथ जान पाएगा।

४९. निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेइ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए दुहओ वि से झिज्जइ तत्थ लोए ॥

[४९] जो (द्रव्यसाधु) उत्तमार्थ (अन्तिम समय की आराधना) के विषय में विपरीत दृष्टि रखता है, उसकी श्रामण्य में रुचि व्यर्थ है। उसके लिए न तो यह लोक है और न ही परलोक। दोनों लोकों के प्रयोजन से शून्य होने के कारण वह दोनों लोकों से भ्रष्ट भिक्षु (चिन्ता से) क्षीण हो जाता है।

५०. एमेवऽहाछन्द—कुसीलरूवे मग्गं विराहेत्तु जिणुत्तमाणं।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा निरट्ठसोया परियावमेइ ॥

[५०] इसी प्रकार स्वच्छन्द और कुशीलरूप साधु जिनोत्तमों (—जिनेश्वरों) के मार्ग की विराधना करके वैसे ही परिताप को प्राप्त होता है, जैसे कि भोगरसों में गृद्ध होकर निरर्थक शोक करने वाली कुररी पक्षिणी परिताप को प्राप्त होती है।

विवेचन—साधकों की अनाथता के प्रकार—प्रस्तुत ३८ वीं से ५० वीं गाथा तक में अनाथी मुनि द्वारा साधुजीवन अंगीकार करने पर भी सनाथ के बदले 'अनाथ' बनने वाले साधकों का लक्षण दिया गया है—(१) निर्ग्रन्थधर्म को पाकर उसके पालन करने से कतराने वाले, (२) प्रव्रजित होकर प्रमादवश महाव्रतों का सम्यक् पालन न करने वाले, (३) आत्मनिग्रह न करने वाले, (४) रसों में आसक्त, (५) पंच समितियों के पालन में सावधानी न रखने वाले,(६) अहिंसादि महाव्रतों में अस्थिर, (७) तप और नियमों से भ्रष्ट, केवल मुण्डनरुचि, (८) रत्नत्रयशून्य होने से विज्ञों की दृष्टि में मूल्यहीन, (९) कुशीलवेष तथा ऋषिध्वज धारण करके उनसे अपनी जीविका चलाने वाले, (वेषचिह्नजीवी, (१०) असंयमी होते हुए भी स्वयं को संयमी कहने वाले, (११) विषयविकारों के साथ मुनिधर्म के आराधक, (१२) लक्षणशास्त्र का प्रयोग करने वाले, (१३) निमित्तशास्त्र एवं कौतुककार्य में अत्यासक्त, (१४) जादू के खेल दिखा कर जीविका चलाने वाले; (१५) शीलविहीन, विपरीतदृष्टि, मुनिधर्मविराधक असाधुरूप साधु, (१६) औद्देशिक आदि अनेषणीय आहार-ग्रहणकर्ता, अग्निवत् सर्वभक्षी साधु, (१७) दुष्प्रवृत्तिशील दुरात्मा एवं संयमहीन साधक, (१८) अन्तिम समय की आराधना के विषय में विपरीतदृष्टि एवं उभयलोक-प्रयोजनभ्रष्ट साधु और (१९) यथाछन्द एवं कुशील तथा जिनमार्गविराधक साधु।[1]

---

१. उत्तरा. मूलपाठ अ. २०, गा. ३८ से ५० तक

सीयंति—निर्ग्रन्थधर्म के पालन में शिथिल हो जाते हैं, कतराते हैं। जो स्वयं निर्ग्रन्थधर्म के पालन में दुःखानुभव करते हैं, वे स्व-पर की रक्षा करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ? अतएव उनकी अनाथता स्पष्ट है।

आउत्तया—सावधानी।

दुगुंछणाए : जुगुप्सनायां—उच्चार-प्रस्रवण आदि संयम के प्रति उपयोगशून्य होने से तथा परिष्ठापना जुगुप्सनीय होने से उसे "जुगुप्सना" कहा गया है।

वीरजायं मग्गं—वीरों के द्वारा यात अर्थात्—जिस मार्ग पर वीर पुरुष चलते हैं, वह मार्ग।

मुंडरुचि—चिरकाल से सिर मुंडाने—अर्थात्—केशलोच करने में जिसकी रुचि रही है, जो साधुजीवन के शेष आचार से विमुख रहता है, वह न तो तप करता है और न किसी नियम के पालन में रुचि रखता है।

चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता—चिरकाल तक लोच आदि से अपने आप को क्लेशित करके—कष्ट देकर।[1]

अयंतिए कूडकहावणे वा—इसका सामान्य अर्थ होता है—अयंत्रित—अनियमित कूटकार्षापणवत्। कार्षापण एक सिक्के का नाम है, जो चाँदी का होता था। यहाँ साध्वाचारशून्य निःसार (थोथे) साधु की खोटे सिक्के से उपमा दी गई है। खोटे सिक्के को कोई भी नहीं अपनाता और न उससे व्यवहार चलता है, वह सर्वथा उपेक्षणीय होता है, इसी तरह सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरहित साधु भी गुरु, संघ आदि द्वारा उपेक्षणीय होता है।[2]

इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता—(१) ऋषिध्वज अर्थात् मुनिचिह्न—रजोहरण आदि, उन्हीं को जीविका के लिए लोगों के समक्ष प्रधान रूप से प्रतिपादित करके, अर्थात्—साधु के रजोहरणादि चिह्न होने चाहिए, और बातों में क्या रखा है ? इस प्रकार वेष और चिह्न से जीने वाला। अथवा (२) ऋषिध्वज से असंयमी जीवन का पोषण करके, या (३) निर्वाहोपायरूप जीविका का पोषण करके।[3]

एसे व धम्मो विसओववन्नो—कालकूट विष आदि की तरह शब्दादि विषयों से युक्त सुविधावादी धर्म—श्रमणधर्म भी विनाशकारी अर्थात्—दुर्गतिपतन का हेतु होता है।

वेयाल इवाविवण्णो—मंत्र आदि से वश में नहीं किया हुआ अनियंत्रित वेताल भी अपने साधक का ध्वंस कर देता है, तद्वत्।[4]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७८

२. अयन्त्रितः—अनियमितः कूटकार्षापणवत्। वा शब्दस्येहोपमार्थत्वात्। यथाऽसौ न केनचित् कूटतया नियंत्र्यते, तथैषोऽपि गुरूणामप्यविनीततयोपेक्षणीयत्वात्। —वही, पत्र ४७८

३. 'ऋषिध्वजं—मुनिचिह्नं रजोहरणादि, जीवियत्ति—जीविकार्थं, बृंहयित्वा—इदमेव प्रधानमिति ख्यापनेनोपबृंह्य; यद्वा 'इसिज्झयंमि'—ऋषिध्वजेन जीवितं—असंयमजीवितं, जीविकां वा—निर्वहणोपायरूपां बृंहयित्वेति—पोषयित्वा...... ......। —वही, पत्र ४७८

४. वही, पत्र ४७८-४७९

कुहेडविज्जासवदारजीवी—कुहेटक विद्या—मिथ्या, आश्चर्य में डालने वाली मंत्र-तंत्र ज्ञानात्मिका विद्या, जो कि कर्मबन्धन का हेतु होने से आश्रवद्वार रूप है, ऐसी जादूगरी विद्या से जीविका चलाने वाला।[१]

निमित्त-कोऊहलसंपगाढे—निमित्त कहते हैं—भौम, अन्तरिक्ष आदि, कौतूहल—कौतुक—संतानादि के लिए स्नानादि प्रयोग बताना। इन दोनों में अत्यासक्त।[२]

तमंतमेणेव उ से०…………—अत्यन्त मिथ्यात्व से आहत होने के कारण घोर अज्ञानान्धकार के कारण वह शीलविहीन द्रव्यसाधु सदा विराधनाजनित दुःख से दुःखी होकर तत्त्वादि के विषय में विपरीत दृष्टि अपनाता है।[३]

अग्गीव सव्वभक्खी—जैसे अग्नि गीली-सूखी सभी लकड़ियों को अपना भक्ष्य बना लेती (जला डालती) है, वैसे ही हर परिस्थिति में अनेषणीय ग्रहणशील कुसाधु अप्रासुक आदि सभी पदार्थ खा जाता है।[४]

से नाहिई…………**पच्छाणुतावेण**—वह संयम-सत्यादिविहीन द्रव्यसाधु मृत्यु के समय 'हाय! मैंने बहुत बुरा किया, पापकर्म किया,' इस रूप में पश्चात्ताप के साथ उक्त तथ्य को जान लेता है। कहावत है—मृत्यु के समय अत्यन्त मंदधर्मी मानव को भी धर्मविषयक रुचि उत्पन्न होती है, किन्तु उस समय सिवाय पश्चात्ताप के वह कुछ कर नहीं सकता। इस वाक्य में यह उपदेश गर्भित है कि पहले से ही मूढता छोड़ कर दुराचार प्रवृत्ति छोड़ देनी चाहिए।

दुहओवि सेझिज्झइ—जिस साधु के लिए इहलोक और परलोक कुछ भी नहीं है, वह शरीरक्लेश के कारणभूत केशलोच आदि करके केवल कष्ट उठाता है। इसलिए वह इहलोक भी सार्थक नहीं करता और न परलोक ही सार्थक कर पाता है। क्योंकि यह जीवन साधुधर्म के वास्तविक आचरण से दूर रहा, इसलिए परलोक में कुगति में जाने के कारण उसे शारीरिक एवं मानसिक दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिए वह उभयलोकभ्रष्ट होकर इहलौकिक एवं पारलौकिक सम्पत्तिशाली जनों को देख कर मुझ पापभाजन (दुर्भाग्यग्रस्त) को धिक्कार है जो उभयलोकभ्रष्ट है, इस चिन्ता से क्षीण होता जाता है।[५]

कुररीव निरट्ठसोया—जैसे मांसलोलुप गीध पक्षिणी माँस का टुकड़ा मुंह में लेकर चलती है, तब दूसरे पक्षी उस पर झपटते हैं, इस विपत्ति का प्रतीकार करने में असमर्थ वह पक्षिणी पश्चात्ताप रूप शोक करती है, वैसे ही भोगों के आस्वाद में गृद्ध साधु इहलौकिक पारलौकिक अनर्थ प्राप्त होने पर न तो स्वयं की रक्षा कर सकता है, न दूसरों की। इसलिए वह अनाथ बन कर व्यर्थ

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४७९

२. वही, पत्र ४७९

३. 'तमस्तमसैव—अतिमिथ्यात्वोपहततया प्रकृष्टाज्ञानेनैव……।' —वही, पत्र ४७९

४. वही, पत्र ४७९

५. वही, पत्र ४७९

शोक करता है।[1]

महानिर्ग्रन्थपथ पर चलने का निर्देश और उसका महाफल

५१. सोच्चाण मेहावि सुभासियं इमं अणुसासणं नाणगुणोववेयं।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं महानियंठाण वए पहेणं॥

[५१] (मुनि)—मेधावी (बुद्धिमान्) साधक इस (पूर्वोक्त) सुभाषित को एवं ज्ञानगुण से युक्त अनुशासन (शिक्षा) को श्रवण कर कुशील लोगों के सर्व मार्गों को त्याग कर महानिर्ग्रन्थों के पथ पर चले।

५२. चरित्तमायारगुणन्निए तओ अणुत्तरं संजम पालियाणं।
निरासवे संखवियाण कम्मं उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं॥

[५२] तदनन्तर चारित्राचार और ज्ञान, शील आदि गुणों से युक्त निर्ग्रन्थ अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) सुसंयम का पालन कर, निराश्रव (रागद्वेषादि बन्धहेतुओं से मुक्त) होकर कर्मों का क्षय कर विपुल, उत्तम एवं ध्रुव स्थान—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

५३. एवुग्गदन्ते वि महातवोधणे महामुणी महापइन्ने महायसे।
महानियण्ठिज्जमिणं महासुयं से काहए महया वित्थरेणं॥

[५३] इस प्रकार (कर्मशत्रुओं के प्रति) उग्र एवं दान्त (इन्द्रिय एवं मन को वश में करने वाले), महातपोधन, महाप्रतिज्ञ, महायशस्वी महामुनि ने इस महानिर्ग्रन्थीय महाश्रुत को (राजा श्रेणिक के अनुरोध से) बड़े विस्तार से कहा।

विवेचन—मेहावि—'मेधावी' शब्द साधक का विशेषण है। (२) श्रेणिक राजा के लिए 'मेधाविन्! (हे बुद्धिमान् राजन्!), शब्द से सम्बोधन है।[2]

संजम—संयम का अर्थ यहाँ यथाख्यातचारित्रात्मक संयम है।

चरित्तमायारगुणन्निए—चारित्र का आचाररूप यानी आसेवनरूप गुण, अथवा गुण का अर्थ यहाँ प्रसंगवश ज्ञान है। चारित्राचार एवं (ज्ञानादि) गुणों से जो अन्वित हो वह 'चारित्राचार-गुणान्वित' है।

महानियंठिज्जं—महानिर्ग्रन्थीयम्— महानिर्ग्रन्थों के लिए हितरूप महानिर्ग्रन्थीय।[3]

---

१. '............यथा चैषा आमिषगृद्धा पक्ष्यन्तरेभ्यो विपत्प्राप्तौ शोचते, न च ततः कश्चित् विपत्प्रतीकार इति, एवमसावपि भोगरसगृद्धः ऐहिकामुष्मिकाऽनर्थप्राप्तौ, ततोऽस्य स्वपरपरित्राणाऽसमर्थत्वेनाऽनाथत्वमिति भावः।" —वही, पत्र ४८०

२. (क) उत्तरा. (अनुवाद विवेचन मुनि नथमलजी) भा. १, पृ. २७०
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४८०

३. महानिर्ग्रन्थेभ्यो हितम्—महानिर्ग्रन्थीयम्। —वही, पत्र ४८०

संतुष्ट एवं प्रभावित श्रेणिक राजा द्वारा महिमागानादि

५४. तुट्ठो य सेणिओ राया इणमुदाहु कयंजली ।
अणाहत्तं जहाभूयं सुट्ठु मे उवदंसियं ॥

[५४] (मुनि से सनाथ—अनाथ का रहस्य जान कर) राजा श्रेणिक सन्तुष्ट हुआ। हाथ जोड़ कर उसने इस प्रकार कहा—भगवन् ! अनाथता का यथार्थ स्वरूप आपने मुझे सम्यक् प्रकार से समझाया ।

५५. तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी !
तुब्भे सणाहा य सबन्धवा य जं भे ठिया मग्गे जिणुत्तमाणं ॥

[५५] (राजा श्रेणिक)—हे महर्षि ! आपका मनुष्यजन्म सुलब्ध (-सफल) है, आपकी उपलब्धियाँ सफल हैं। आप सच्चे सनाथ और सबान्धव हैं, क्योंकि आप जिनेश्वरों के मार्ग में स्थित हैं ।

५६. तं सि नाहो अणाहाणं सव्वभूयाण संजया !
खामेमि ते महाभाग ! इच्छामि अणुसासिउं ॥

[५६] हे संयत ! आप अनाथों के नाथ हैं, आप सभी जीवों के नाथ हैं। हे महाभाग ! मैं आपसे क्षमा-याचना करता हूँ। मैं आप से अनुशासित होने की (शिक्षाप्राप्ति की) इच्छा रखता हूँ।

५७. पुच्छिऊण मए तुब्भं झाणविग्घो उ जो कओ ।
निमन्तिओ य भोगेहिं तं सव्वं मरिसेहि मे ॥

[५७] मैंने आप से प्रश्न पूछ कर जो (आपके) ध्यान में विघ्न डाला और भोगों के लिए आपको आमंत्रित किया, उस सबके लिए मुझे क्षमा करें (सहन करें) ।

५८. एवं थुणित्ताण स रायसीहो अणगारसीहं परमाइ भत्तिए ।
सओरोहो य सपरियणो य धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥

[५८] इस प्रकार वह राज-सिंह (श्रेणिक राजा) परमभक्ति के साथ अनगार-सिंह की स्तुति करके अपने अन्तःपुर (रानियों) तथा परिजनों सहित निर्मल चित्त होकर धर्म में अनुरक्त हो गया ।

५९. ऊससिय—रोमकूवो काऊण य पयाहिणं ।
अभिवन्दिऊण सिरसा अइयाओ नराहिवो ॥

[५९] राजा (नराधिप) के रोमकूप (हर्ष से) उच्छ्वसित (-उल्लसित) हो गए। वह मुनि की प्रदक्षिणा करके और नतमस्तक होकर वन्दना करके लौट गया ।

विवेचन—लाभा सुलद्धा—सुन्दर वर्ण, रूप आदि की प्राप्तिरूप लाभ, अथवा धर्मविशेष की उपलब्धियों का अच्छा लाभ कमाया, क्योंकि ये उत्तरोत्तर गुणवृद्धि के कारण हैं ।

अणुसासिउं—मैं आपसे शिक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ ।

रायसीहो, अणगारसीहं—राजाओं में अतिपराक्रमी होने से श्रेणिक को शास्त्रकार ने राज-

सिंह कहा है तथा कर्मविदारण करने में अतीव पराक्रमी (शूरवीर) होने से मुनि को अनगार-सिंह कहा है।[1]

उपसंहार

६०. इयरो वि गुणसमिद्धो तिगुत्तिगुत्तो तिदण्डविरओ य।
विहग इव विप्पमुक्को विहरइ वसुहं विगयमोहो ॥
—त्ति बेमि ॥

[६०] और वह मुनि भी (मुनि के २७) गुणों से समृद्ध, तीन गुप्तियों से गुप्त, तीन दण्डों से विरत पक्षी की तरह प्रतिबन्धमुक्त तथा मोहरहित हो कर भूमण्डल पर विचरण करने लगे।
—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ महानिर्ग्रन्थीय : वीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

इक्कीसवाँ अध्ययन : समुद्रपालीय

अध्ययन-सार

※ प्रस्तुत इक्कीसवें अध्ययन का नाम समुद्रपालीय (समुद्दपालीयं) है। इसमें समुद्रपाल के जन्म से लेकर मुक्तिपर्यन्त की जीवनघटनाओं से सम्बन्धित वर्णन होने के कारण इसका नाम 'समुद्रपालीय' रखा गया है।

※ भगवान् महावीर का एक विद्वान् तत्त्वज्ञ श्रावक शिष्य था—पालित। वह अंगदेश की राजधानी चम्पापुरी का निवासी था। समुद्र में चलने वाले बड़े-बड़े जलपोतों के द्वारा वह अपना माल दूर-सुदूर देशों में ले जाता और वहाँ उत्पन्न होने वाला माल लाता था। इस तरह उसका आयात-निर्यात व्यापार काफी अच्छा चलता था। एक बार जलमार्ग से वह पिहुण्ड नगर गया। वहाँ उसे व्यापार के निमित्त अधिक समय तक रुकना पड़ा। पालित की न्यायनीति, प्रामाणिकता, व्यवहारकुशलता आदि गुणों से आकृष्ट होकर वहाँ के एक स्थानीय श्रेष्ठी ने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया।

※ पालित अपनी पत्नी को साथ लेकर समुद्रमार्ग से चम्पा लौट रहा था। मार्ग में जलपोत में ही पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। समुद्र में जन्म होने के कारण उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा गया। सुन्दर, सुशील समुद्रपाल यथासमय ७२ कलाओं में प्रवीण हो गया। उसके पिता ने 'रूपिणी' नामक सुन्दर कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया। वह उसके साथ देवतुल्य कामभोगों का उपभोग करता हुआ आनन्द से रहने लगा।

※ एक दिन अपने महल के गवाक्ष में बैठा हुआ वह नगर की शोभा का निरीक्षण कर रहा था। तभी उसने राजमार्ग पर मृत्युंदण्ड प्राप्त एक व्यक्ति को देखा, जिसे राजपुरुष वध्यभूमि की ओर ले जा रहे थे। उसे लाल कपड़े पहनाए हुए थे, उसके गले में लाल कनेर की मालाएँ पड़ी थीं। उसके दुष्कर्म की घोषणा की जा रही थी। समुद्रपाल को समझते देर न लगी कि यह घोर अपराधी है। इसने जो दुष्कर्म किया है, उसका फल यह भोग रहा है। उसका चिन्तन आगे बढ़ा—'जो जैसे भी अच्छे या बुरे कर्म करता है, उनका फल उसे देर-सवेर भोगना ही पड़ता है।' इस प्रकार कर्म और कर्मफल पर गहराई से चिन्तन करते-करते उसका मन बन्धनों को काटने के लिए तिलमिला उठा और उसे यह स्पष्ट प्रतिभासित हो गया कि विषयभोगों और कषायों के कीचड़ में पड़ कर तो मैं अधिकाधिक कर्मबन्धन से जकड़ जाऊंगा। अतः इन भोगों और कषायों के दलदल से निकलने का एकमात्र मार्ग है—निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म का पालन। उसका मन संसार के प्रति संवेग और वैराग्य से भर गया। उसने माता-पिता से अनुमति पाकर अनगारधर्म की दीक्षा ली। (गा. १ से १० तक)

* इस अध्ययन के उत्तरार्द्ध में (गा. ११ से २३ तक) अनगारधर्म के मौलिक नियमों और साध्वाचार की महत्त्वपूर्ण चर्चा है। यथा—महाक्लेशकारी संग का परित्याग करे, व्रत, नियम, शील एवं साधुधर्म के पालन तथा परीषह-सहन में अभिरुचि रखे, अहिंसादि पंचमहाव्रतों का तथा जिनोक्त श्रुत-चारित्रधर्म का आचरण करे, सर्वभूतदया, सर्वेन्द्रियनिग्रह, क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म तथा सावद्ययोगत्याग का सम्यक् आचरण एवं शीतोष्णादि परीषहों को समभावपूर्वक सहन करे, राग-द्वेष-मोह का त्याग करके आत्मरक्षक बने। सर्वभूतत्राता मुनि पूजा-प्रतिष्ठा होने पर हृष्ट तथा गर्हा होने पर रुष्ट न हो, अरति-रति को सहन करे, आत्महितैषी साधक शोक, ममत्व, गृहस्थसंसर्ग आदि से रहित हो, अकिंचन साधु समभाव एवं सरलभाव रखे, सम्यग्दर्शनादि परमार्थ साधनों में स्थिर रहे, साधु प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार की परिस्थितियों को समभाव से सहे, जो भी अच्छी वस्तु देखे या सुने उसकी चाह न करे, साधु समयानुसार अपने बलाबल को परख कर विभिन्न देशों में विचरण करे, भयोत्पादक शब्द सुनकर भी घबराए नहीं, न असभ्य वचन सुनकर बदले में असभ्य वचन कहे, देव-मनुष्य-तिर्यञ्चकृत भीषण उपसर्गों को सहन करे, संसार में मनुष्यों के विविध अभिप्राय जानकर उन पर स्वयं अनुशासन करे, निर्दोष, बीजादिरहित, ऋषियों द्वारा स्वीकृत विविक्त एकान्त आवासस्थान का सेवन करे, अनुत्तर धर्म का आचरण करे, सम्यग्ज्ञान उपार्जन करे तथा पुण्य और पाप दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय करने के लिए संयम में निश्चल रहे और समस्त प्रतिबन्धों से मुक्त होकर संसार-समुद्र को पार करे।

* प्रस्तुत अध्ययन में उस युग के व्यवहार (क्रय-विक्रय), वध्यव्यक्ति को दण्ड देने की प्रथा, वैवाहिक सम्बन्ध एवं मुनिचर्या में सावधानी आदि तथ्यों का महत्त्वपूर्ण उल्लेख है।

* समुद्रपाल मुनि बनकर प्रस्तुत अध्ययन में वर्णित साध्वाचारपद्धति के अनुसार विशुद्ध संयम का पालन करके, सर्वकर्मक्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जिस ध्येय से उसने मुनिधर्म ग्रहण किया था, उसको सफलतापूर्वक प्राप्त कर लिया।

□□

एगविंसइमं अज्झयणं : इक्कीसवाँ अध्ययन

समुद्दपालीयं : समुद्रपालीय

पालित श्रावक और पिहुण्ड नगर में व्यापारनिमित्त निवास

१. चम्पाए पालिए नाम सावए आसि वाणिए।
महावीरस्स भगवओ सीसे सो उ महप्पणो ॥

[१] चम्पानगरी में 'पालित' नामक एक वणिक् श्रावक था। वह महान् आत्मा (विराट् पुरुष) भगवान् महावीर का (गृहस्थ-) शिष्य था।

२. निग्गन्थे पावयणे सावए से विकोविए।
पोएण ववहरन्ते पिहुण्डं नगरमागए ॥

[२] वह श्रावक निर्ग्रन्थ-प्रवचन का विशिष्ट ज्ञाता था। (एक वार वह) पोत (जलयान) से व्यापार करता हुआ पिहुण्ड नगर में आया।

विवेचन—सावए : श्रावक—श्रावक का सामान्य अर्थ तो श्रोता होता है, किन्तु यहाँ श्रावक शब्द विशेष अर्थ—श्रमणोपासक अर्थ में प्रयुक्त है। भगवान् महावीर के चतुर्विध धर्मसंघ में साधु और साध्वी—दो त्यागीवर्ग में तथा श्रावक और श्राविका—दो गृहस्थवर्ग में आते हैं। श्रावक देशविरति चरित्र का पालन करता है। श्रावकधर्म पालन के लिए पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत; यों वारह व्रतों का विधान है।[1]

निग्गंथे पावयणे विकोविए—निर्ग्रन्थ सम्वन्धी प्रवचन का अर्थ निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर आदि से सम्वन्धित प्रवचन—सिद्धान्त या तत्त्वज्ञान का विशिष्ट ज्ञाता। वृहद्वृत्तिकार ने कोविद का प्रासंगिक अर्थ किया है—जीवादि पदार्थों का ज्ञाता।[2]

पोएण ववहरंते—इससे प्रतीत होता है कि पालित श्रावक जलमार्ग से वड़ी-वड़ी नौकाओं द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल का आयात-निर्यात करता था। उसी दौरान एक बार वह जलमार्ग से व्यापार करता हुआ उस समय व्यापार के लिए प्रसिद्ध पिहुण्ड नगर में पहुँचा। वहीं उसने अपना व्यापार जमा लिया, यह आगे की गाथा से स्पष्ट है।[3]

---

१. (क) श्रावक का लक्षण एक प्राचीन श्लोक के अनुसार—

श्रद्धालुतां श्राति, शृणोति शासनं, दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमं, तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणाः ॥

(ख) वृहद्वृत्ति, पत्र ४८२ (ग) स्थानांगसूत्र, स्थान ४।४।३६३

२. वृहद्वृत्ति, पत्र ४८२ : विशेषेण कोविदः—विकोविदः पण्डितः, कोऽर्थः ? विदितजीवादिपदार्थः।

३. वही, पत्र ४८२

पिहुण्ड नगर में विवाह, समुद्रपाल का जन्म

३. पिहुण्डे ववहरन्तस्स वाणिओ देइ धूयरं।
तं ससत्तं पइगिज्झ सदेसमह पत्थिओ ॥

[३] पिहुण्ड नगर में व्यवसाय करते समय उसे (पालित श्रावक को) किसी वणिक् ने अपनी पुत्री प्रदान की। कुछ समय के पश्चात् अपनी सगर्भा पत्नी को लेकर उसने स्वदेश की ओर प्रस्थान किया।

४. अह पालियस्स घरणी समुद्दंमि पसवई।
अह दारए तहिं जाए 'समुद्दपालि' त्ति नामए ॥

[४] पालित श्रावक की पत्नी ने समुद्र में ही पुत्र को जन्म दिया। वह बालक वहीं (समुद्र में) जन्मा, इस कारण उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा गया।

विवेचन—वाणिओ देइ धूयरं—पिहुण्ड नगर में न्यायनीतिपूर्वक व्यापार करते हुए पालित श्रावक के गुणों से आकृष्ट होकर वहीं के निवासी वणिक् ने उसे अपनी कन्या दे दी। अर्थात्—वणिक् ने अपनी कन्या का विवाह पालित के साथ कर दिया।[1]

समुद्रपाल का संवर्द्धन, शिक्षण एवं पाणिग्रहण

५. खेमेण आगए चम्पं सावए वाणिए घरं।
संवड्ढई घरे तस्स दारए से सुहोइए ॥

[५] वह वणिक् श्रावक क्षेमकुशलपूर्वक चम्पापुरी में अपने घर आ गया। वह सुखोचित (सुखभोग के योग्य—सुकुमार) बालक उसके घर में भलीभांति बढ़ने लगा।

६. बावत्तरिं कलाओ य सिक्खए नीइकोविए।
जोव्वणेण य संपन्ने सुरूवे पियदंसणे ॥

[६] वह बहत्तर कलाओं में शिक्षित तथा नीति में निपुण हो गया। यौवन से सम्पन्न (होकर) वह 'सुरूप' और देखने में प्रिय लगने लगा।

७. तस्सं रूववइं भज्जं पिया आणेइ रूविणीं।
पासाए कीलए रम्मे देवो दोगुन्दओ जहा ॥

[७] उसके पिता ने उसके लिए 'रूपिणी' नाम की रूपवती पत्नी ला दी। वह (अपनी पत्नी के साथ) दोगुन्दक देव की भांति रमणीय प्रासाद में क्रीड़ा करने लगा।

विवेचन—समुद्रपाल का संवर्द्धन—प्रस्तुत गाथा ५-६ में समुद्रपाल का संवर्द्धनक्रम का उल्लेख है। घर में ही उसका लालन-पालन होता है, कुछ बड़ा होने पर वह कलाग्रहण के योग्य हुआ तो पिता ने उसे ७२ कलाओं का प्रशिक्षण दिलाया। कलाओं में प्रशिक्षित होने के साथ ही नीति

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८३

(शास्त्र) में पण्डित हो गया। युवावस्था आते ही पिता ने एक सुन्दर सुशील कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण कर दिया। पिता का एक मात्र लाडला पुत्र समुद्रपाल अपने महल में दिव्य क्रीड़ा करने लगा। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि पालित श्रावक ने समुद्रपाल को अभी तक व्यवसाय कार्य में नहीं लगाया था।[1]

बहत्तर कलाओं का प्रशिक्षण—प्राचीन काल में प्रत्येक सम्भ्रान्त नागरिक अपने पुत्र को ७२ कलाओं का प्रशिक्षण दिलाता था, जिससे वह प्रत्येक कार्य में दक्ष और स्वावलम्बी बन सके। शास्त्रों में यत्र-तत्र ७२ कलाओं का उल्लेख मिलता है।[2]

सुरूवे पियदंसणे—सुरूप का अर्थ है—आकृति और डीलडौल से सुन्दर तथा प्रियदर्शन का अर्थ है—सभी को आनन्द देने वाला।[3]

समुद्रपाल की विरक्ति और दीक्षा

८. अह अन्नया कयाई पासायालोयणे ठिओ।
वज्झमण्डणसोभागं वज्झं पासइ वज्झगं॥

[८] तत्पश्चात् एक दिन वह प्रासाद के आलोकन (अर्थात् झरोखे) में बैठा था, (तभी) उसने वध्य के मण्डनों से शोभित एक वध्य (चोर) को नगर से बाहर (वधस्थल की ओर) ले जाते हुए देखा।

९. तं पासिऊण संविग्गो समुद्दपालो इणमब्बवी।
अहोऽसुभाण कम्माणं निज्जाणं पावगं इमं॥

[९] उसे देख कर संवेग को प्राप्त समुद्रपाल ने (मन ही मन) इस प्रकार कहा—अहो! (खेद है कि) अशुभकर्मों का यह पापरूप (—अशुभ—दुःखद) निर्याण-परिणाम है।

१०. संबुद्धो सो तहिं भगवं परं संवेगमागओ।
आपुच्छ ऽम्मापियरो पव्वए अणगारियं॥

[१०] इस प्रकार वहाँ (गवाक्ष में) बैठे हुए वह भगवान् (—माहात्म्यवान्) परम संवेग को प्राप्त हुआ और सम्बुद्ध हो गया। (फिर) उसने माता-पिता से पूछ कर, उनकी अनुमति लेकर अनगारिता (—मुनिदीक्षा) अंगीकार की।

विवेचन—वज्झमंडणसोभागं—वध्य—वध के योग्य व्यक्ति के मण्डनों—रक्तचन्दन, करवीर आदि से—शोभित। प्राचीन काल में मृत्युदण्ड-योग्य व्यक्ति को लाल कपड़े पहनाए जाते थे, उसके शरीर पर लाल चन्दन का लेप किया जाता, उसके गले में लाल कनेर की माला पहनाई जाती थी

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८३
२. बहत्तर कलाओं के लिये देखिये, 'समवायांग', समवाय ७२
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८३

और उसे सारे नगर में घुमाया जाता तथा उसको मृत्युदण्ड दिये जाने की घोषणा की जाती थी। इस प्रकार उसे वधस्थल की ओर ले जाया जाता था।[1]

बज्झगं—(१) **बाह्यगं**—नगर के बहिर्वर्त्ती वध्यप्रदेश की ओर ले जाते हुए, अथवा (२) **वध्यगम्**—वध्यभूमि की ओर ले जाते हुए।

संविग्गो—संवेग अर्थात् मुक्ति की अभिलाषा को प्राप्त—संविग्न।[2]

भगवं : तात्पर्य—'भगवान्' विशेषण समुद्रपाल के लिए यहाँ प्रयुक्त है, उसका यहाँ प्रासंगिक अर्थ है—माहात्म्यवान्। भगवान् शब्द माहात्म्य अर्थ में भी प्रयुक्त देखा गया है।[3]

महर्षि समुद्रपाल द्वारा आत्मा को स्वयं स्फुरित मुनिधर्मशिक्षा

११. जहित्तु संगं च महाकिलेसं महन्तमोहं कसिणं भयावहं।
परियायधम्मं चऽभिरोयएज्जा वयाणि सीलाणि परीसहे य॥

[११] दीक्षित होने पर मुनि महाक्लेशकारी महामोह और पूर्ण भयजनक संग (आसक्ति) का त्याग करके पर्यायधर्म (—चारित्रधर्म) में, व्रत में, शील में और परीषहों में (परीषहों को सम-भावपूर्वक सहने में) निरत रहे।

१२. अहिंस सच्चं च अतेणगं च तत्तो य बम्भं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाणि चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ॥

[१२] तत्त्वज्ञ मुनि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पंच महाव्रतों को स्वीकार करके जिनोपदिष्ट धर्म का आचरण करे।

१३. सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकम्पी खन्तिक्खमे संजय बम्भयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयन्तो चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइन्दिए॥

[१३] इन्द्रियों को सम्यक् रूप से वश करने वाला भिक्षु—(साधु) समस्त प्राणियों के प्रति दया से अनुकम्पाशील रहे, क्षमा से दुर्वचनादि सहन करने वाला हो, संयत (संयमशील) एवं ब्रह्मचर्य-धारी हो। वह सावद्ययोग (—पापयुक्त प्रवृत्तियों) का परित्याग करता हुआ विचरण करे।

१४. कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे बलाबलं जाणिय अप्पणो य।
सीहो व सद्देण न संतसेज्जा वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु॥

[१४] साधु यथायोग्य कालानुसार अपने बलाबल (शक्ति-अशक्ति) को जानकर राष्ट्रों में

---

१. (क) वधमर्हति वध्यस्तस्य मण्डनानि—रक्तचन्दनकरवीरादीनि तैः शोभा—तत्कालोचितपरभागलक्षणा यस्यासौ वध्यमण्डनशोभाकरस्तं वध्यम्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४८३

(ख) "चोरो रक्तकणवीरकृतमुंडमालो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलिप्तश्च प्रहतवध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः।" —सूत्रकृतांग, शीलांक. वृत्ति १।६ पत्र १५०

२. "बाह्यं नगरबहिर्वर्त्तिप्रदेशं गच्छतीति बाह्यगस्तम्, कोऽर्थः? वहिर्निष्क्रामन्तं; यद्वा वध्यगम्—इह वध्य-शब्देनोपचारात् वध्यभूमिरुक्ता।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ४८३

३. वही, पत्र ४८३

विहार करे। सिंह की भांति, भयोत्पादक शब्द सुन कर संत्रस्त न हो। अशुभ (या असभ्य) वचनयोग सुन कर बदले में असभ्य वचन न कहे।

१५. उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा न यावि पूयं गरहं च संजए॥

[१५] संयमी साधक प्रतिकूलताओं की उपेक्षा करता हुआ विचरण करे। वह प्रिय और अप्रिय (अर्थात्—अनुकूल और प्रतिकूल) सब (परीषहों) को सहन करे। सर्वत्र सबकी अभिलाषा न करे तथा पूजा और गर्हा दोनों पर भी ध्यान न दे।

१६. अणेगछन्दा इह माणवेहिं जे भावओ संपगरेइ भिक्खू।
भयभेरवा तत्थ उइन्ति भीमा दिव्वा मणुस्सा अदुवा तिरिच्छा॥

[१६] इस संसार में मनुष्यों के अनेक प्रकार के छन्द (अभिप्राय) होते हैं। (कर्मवशगत) भिक्षु भी जिन्हें (अभिप्रायों को) भाव (मन) से करता है। अतः उसमें (साधुजीवन में) भयोत्पादक होने से भयानक तथा अतिरौद्र (भीम) देवसम्बन्धी, मनुष्यसम्बन्धी और तिर्यञ्चसम्बन्धी उपसर्गों को सहन करे।

१७. परीसहा दुव्विसहा अणेगे सीयन्ति जत्था बहुकायरा नरा।
ते तत्थ पत्ते न वहिज्ज भिक्खू संगामसीसे इव नागराया॥

[१७] अनेक दुर्विषह (दुःख से सहे जा सकें, ऐसे) परीषह प्राप्त होने पर बहुत से कायर मनुष्य खिन्न हो जाते हैं। किन्तु भिक्षु परीषह प्राप्त होने पर संग्राम में आगे रहने वाले नागराज (हाथी) की तरह व्यथित (क्षुब्ध) न हो।

१८. सीओसिणा दंसमसा य फासा आयंका विविहा फुसन्ति देहं।
अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा रयाइं खेवेज्ज पुरेकडाइं॥

[१८] शीत, उष्ण, दंश-मशक तथा तृणस्पर्श और अन्य विविध प्रकार के आतंक जब साधु के शरीर को स्पर्श करें, तब वह कुत्सित शब्द न करते हुए समभाव से उन्हें सहन करे और पूर्वकृत कर्मों (रजों) का क्षय करे।

१९. पहाय रागं च तहेव दोसं मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणो।
मेरु व्व वाएण अकम्पमाणो परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा॥

[१९] विचक्षण साधु राग और द्वेष को तथा मोह को निरन्तर छोड़ कर वायु से अकम्पित रहने वाले मेरुपर्वत के समान आत्मगुप्त बन कर परीषहों को सहन करे।

२०. अणुन्नए नावणए महेसी न यावि पूयं गरहं च संजए।
स उज्जुभावं पडिवज्ज संजए निव्वाणमग्गं विरए उवेइ॥

[२०] पूजा-प्रतिष्ठा में (गर्व से) उत्तुंग और गर्हा में अधोमुख न होने वाला संयमी महर्षि पूजा और गर्हा में आसक्त न हो। वह समभावी विरत संयमी सरलता को स्वीकार करके निर्वाणमार्ग के निकट पहुँच जाता है।

२१. अरइरइसहे पहीणसंथवे विरए आयहिए पहाणवं।
परमट्ठपएहिं चिट्ठई छिन्नसोए अममे अकिंचणे ॥

[२१] जो अरति और रति को सहन करता है, संसारी जनों के परिचय (संसर्ग) से दूर रहता है, विरत है, आत्महित का साधक है, प्रधान (संयम) वान् है, शोकरहित है, ममत्व-रहित है, अकिंचन है, वह परमार्थ पदों (-सम्यग्दर्शन आदि साधनों) में स्थित होता है।

२२. विवित्तलयणाइ भएज्ज ताई निरोवलेवाइ असंथडाइं।
इसीहि चिण्णाइ महायसेहिं काएण फासेज्ज परीसहाइं ॥

[२२] त्राता (प्राणियों का रक्षक) साधु महान यशस्वी ऋषियों द्वारा आसेवित, लेपादि कर्म से रहित, असंसृत (-बीज आदि से रहित), विविक्त (एकान्त) लयनों (स्थानों) का सेवन करे और शरीर से परीषहों को सहन करे।

२३. सन्नाणनाणोवगए महेसी अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं।
अणुत्तरे नाणधरे जसंसी ओभासई सूरिए वऽन्तलिक्खे ॥

[२३] अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) धर्मसंचय का आचरण करके सद्ज्ञान (श्रुतज्ञान) से तत्त्व को उपलब्ध करने वाला अनुत्तर ज्ञानधारी यशस्वी महर्षि मुनिवर अन्तरिक्ष में सूर्य के समान धर्मसंघ में प्रकाशमान होता है।

विवेचन—शास्त्रकार द्वारा उपदेश अथवा आत्मानुशासन ?—गाथा ११ से २३ तक प्रस्तुत १३ गाथाओं में शास्त्रकार ने जो महर्षि समुद्रपाल के सन्दर्भ में मुनिधर्म का निरूपण किया है, वह क्या है ? इसके लिए बृहद्वृत्तिकार सूचित करते हैं कि शास्त्रीय सम्पादन के न्याय से ये गाथाएँ साधुधर्म को बताने के लिए उपदेश रूप हैं, अथवा महर्षि समुद्रपाल द्वारा स्वयमेव अपनी आत्मा को लक्ष्य करके शिक्षा (अनुशासन) दी गई है। यथा—हे आत्मन् ! पूर्ण भयावह संग का परित्याग कर प्रव्रज्या धर्म में अभिरुचि कर; इत्यादि।[1]

जहित्तु संगं०—संग अर्थात्—स्वजनादि प्रतिबन्ध, जो कि महाक्लेशकर है तथा महामोह, जो कि कृष्णलेश्या के परिणाम का हेतु होने से कृष्णरूप एवं भयानक है; इन दोनों को छोड़ कर..............।[2]

परियायधम्मं—'पर्याय' का अर्थ यहाँ प्रसंगवश 'प्रव्रज्यापर्याय' किया गया है। उसमें जो धर्म है, अर्थात्—मुनिदीक्षावस्था में जो धर्म पालनीय है, उसमें अभिरुचि कर। यहाँ 'व्रत' से मूलगुणरूप पंच महाव्रत और 'शील' से उत्तरगुणरूप पिण्डविशुद्धि एवं परीषहसहन आदि साधुजीवन में पालनीय श्रुतचारित्ररूप धर्म का ग्रहण किया गया है।[3]

---

१. "........उपदेशरूपतां च तन्त्रन्यायेन ख्यापयितुमित्थं प्रयोगः, यद्वाऽऽत्मानमेवायमनुशास्ति—यथा—हे आत्मन् ! संगं त्यक्त्वा प्रव्रज्याधर्ममभिरोचयेद् भवान्। एवमुत्तरक्रियास्वपि यथासम्भवं भावनीयम्।"

—बृहद्वृत्ति, पत्र ४८५

२. वही, पत्र ४८५

३. "परियाय त्ति प्रक्रमात् प्रव्रज्यापर्यायस्तत्र धर्मः पर्यायधर्मः।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ४८५

दयाणुकंपी : अर्थ—हितोपदेशादि दानात्मिका अथवा प्राणि-रक्षणरूपा दया से अनुकम्पनशील ।

खंतिखमे : क्षान्तिक्षम—अशक्ति से नहीं, किन्तु क्षमा से जो विरोधियों या प्रतिकूल व्यक्तियों आदि द्वारा कहे गए दुर्वचनों—अपशब्दों आदि को सहता है ।[1]

अभिप्राय—गाथा १२ वीं द्वारा मूलगुणों के आचरण का तथा गाथा १३ वीं से २३ वीं तक विविध पहलुओं से मूलगुण रक्षणोपाय का प्रतिपादन किया गया है ।[2]

रट्ठे : राष्ट्रे—प्रस्तुत प्रसंग में 'राष्ट्र' का अर्थ 'मण्डल' किया गया है । अर्थात्—कुछ गांवों का समूह, जिसे वर्तमान में 'तहसील' या 'जिला' कहते हैं ।[3]

बलाबलं जाणिय अप्पणो य—अपने बलाबल अर्थात् सहिष्णुता-असहिष्णुता को जान कर, जिससे अपने संयमयोग की हानि न हो ।[4]

वयजोग सुच्चा—असभ्य अथवा दु.खोत्पादक वचनप्रयोग सुन कर ।[5]

न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा : दो व्याख्या—बृहद्वृत्ति के अनुसार—(१) जो कुछ भी देखे, उसकी अभिलाषा न करे, अथवा (२) एक अवसर पर पुष्टालम्बनतः (विशेष कारणवश अपवादरूप में) जिसका सेवन किया, उसका सर्वत्र सेवन करने की इच्छा न करे ।[6]

न याऽविपूयं गरहं च संजए : दो व्याख्या—(१) पूजा और गर्हा में भी अभिरुचि न रखे । यहाँ पूजा का अर्थ अपनी पूजा-प्रतिष्ठा, सत्कार आदि है तथा गर्हा का अर्थ—परनिन्दा से है । कई लोग गर्हा का अर्थ—आत्मगर्हा या हीनभावना करके उससे कर्मक्षय मानते हैं, उनके मत का खण्डन करने हेतु यहाँ गर्हा परनिन्दा रूप अर्थ में ही लेना चाहिए । (२) १५ वीं गाथा की तरह २० वीं गाथा में भी यही पंक्ति अंकित है; वहाँ दूसरी तरह से बृहद्वृत्तिकार ने अर्थ किया है—अपनी पूजा के प्रति उन्नत और अपनी गर्हा के प्रति अवनत न होने वाला मुनि पूजा और गर्हा में लिप्त (आसक्त) न हो । बृहद्वृत्ति में इन दोनों पंक्तियों के अभिप्राय में अन्तर बताया गया है कि पहले अभिरुचि का निषेध बताया गया था, यहाँ संग (आसक्ति) का ।[7]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८५ : "सर्वेषु अशेषेषु प्राणिषु दयया—हितोपदेशादिदानात्मिकया रक्षणरूपया वाऽनुकम्पनशीलो दयानुकम्पी । ....क्षान्त्या, न त्वशक्तया क्षमते प्रत्यनीकाद्युदीरितदुर्वचनादिकं सहते इति क्षान्तिक्षमः ।"

२. वही, पत्र ४८५-४८६

३. 'राष्ट्रे—मण्डले ।' —वही, पत्र ४८६

४. वही, पत्र ४८६

५. वाग्योगम्—अर्थाद्—दुःखोत्पादकम्, सोच्चा—श्रुत्वा । —वही, पत्र ४८६

६. न सर्वं वस्तु सर्वत्र स्थानेऽभ्यरोचयत, न यथादृष्टाभिलाषुकोऽभूदिति भावः । यदि वा यदेकत्र पुष्टा-लम्बनतः सेवितं, न तत् सर्वम्—अभिमताहारादि सर्वत्राभिलषितवान् ।

७. '.........पूर्वत्राभिरुचिनिषेध उक्तः, इह तु संगस्येति पूर्वस्माद् विशेषः ।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४८६-४८७

पहीणसंथवे—संस्तव अर्थात् गृहस्थों के साथ अति-परिचय, दो प्रकार का है—(१) पूर्व-पश्चात्-संस्तवरूप अथवा (२) वचन-संवासरूप। जो संस्तव से रहित है, वह प्रहीणसंस्तव है।[1]

पहाणवं : प्रधानवान्—प्रधान का अर्थ यहाँ संयम है, क्योंकि वह मुक्ति का हेतु है। इसलिए प्रधानवान् का अर्थ संयमी—संयमशील होता है।[2]

परमट्ठपएहिं—परमार्थपदैः—परमार्थ का अर्थ प्रधान पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष है, वह जिन पदों—साधनों या मार्गों से प्राप्त किया जाता है, वे परमार्थपद हैं—सम्यग्दर्शनादि। उनमें जो स्थित है।[3]

छिन्नसोए—(१) **छिन्नशोक**—शोकरहित, (२) **छिन्नस्रोत**—मिथ्यादर्शनादि कर्मबन्धन-स्रोत जिसके छिन्न हो गए हैं, वह।[4]

निरोवलेवाइं—'निरुपलेपानि' विशेषण 'लयनानि' शब्द का है। वृहद्वृत्तिकार ने इसके दो दृष्टियों से अर्थ किए हैं—द्रव्यतः लेपादि कर्म से रहित और भावतः आसक्तिरूप उपलेप से रहित।[5]

सन्नाणनाणोवगए—सद्ज्ञानज्ञानोपगत : दो अर्थ—(१) सद्ज्ञान यहाँ श्रुतज्ञान अर्थ में है। अर्थ हुआ—श्रुतज्ञान से यथार्थ क्रियाकलाप के ज्ञान से उपगत—युक्त। (२) अथवा सन्नानाज्ञानोपगत—संगत्याग, पर्यायधर्म, अभीष्ट तत्त्वावबोध, इत्यादि अनेक प्रकार (अनेकरूप) शुभ ज्ञानों से उपगत—युक्त।[6]

अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा—शीतोष्णादि परीषह आएँ, उस समय किसी प्रकार का विलाप या प्रलाप किये विना, कर्कश शब्द कहे विना अथवा निमित्त को कोसे विना या किसी को गाली या अपशब्द कहे विना सहन करे।[7]

आयगुत्ते—आत्मगुप्त—कछुए की तरह अपने समस्त अंगों को सिकोड़ कर परीषह सहन करे। प्रस्तुत गाथा (१६) में परीषहसहन करने का उपाय बताया गया है।[8]

१. ·······संस्तवश्च पूर्वपश्चात्संस्तवरूपो वचनसंवासरूपो वा गृहिभिः सह। —वृहद्वृत्ति, पत्र ४८७
२. ·······प्रधानः स च संयमो मुक्तिहेतुत्वात्, स यस्यास्त्यसौ प्रधानवान्। —वृहद्वृत्ति, पत्र ४८७
३. परमः प्रधानोऽर्थः पुरुषार्थो—परमार्थो—मोक्षः, स पद्यते—गम्यते यैस्तानि परमार्थपदानि—सम्यग्दर्शनादीनि, तेषु तिष्ठति—अविराधकतयाऽऽस्ते। —वृहद्वृत्ति, पत्र ४८७
४. "छिन्नसोय त्ति छिन्नशोकः, छिन्नानि वा स्रोतांसीव स्रोतांसि—मिथ्यादर्शनादीनि येनाऽसौ छिन्नस्रोताः।" —वही, पत्र ४८७
५. निरोवलेवाइं ति—निरुपलेपानि—अभिष्वंगरूपोपलेपवर्जितानि भावतो, द्रव्यतस्तु तदर्थ नोपलिप्तानि। —वही, पत्र ४८७
६. सद्ज्ञानमिह श्रुतज्ञानं, तेन ज्ञानं—अवगमः, प्रक्रमात् यथावत् क्रियाकलापस्य तेनोपगतो—युक्तो, सद्ज्ञानज्ञानोपगतः, सन्ति शोभनानि नानेत्यनेकरूपाणि ज्ञानानि—संगत्याग-पर्यायधर्माभिरुचितत्त्वावबोधात्मकानि तैरुपगतः—सन्नानाज्ञानोपगतः। —वृहद्वृत्ति, पत्र ४८७
७. वृहद्वृत्ति, पत्र ४८६,
८. 'आत्मना गुप्तः आत्मगुप्तः—कूर्मवत् संकुचितसर्वांगः।' —वही, पत्र ४८६

उपसंहार

२४. दुविहं खवेऊण य पुण्णपावं निरंगणे सव्वओ विप्पमुक्के।
तरित्ता समुद्दं व महाभवोघं समुद्दपाले अपुणागमं गए ॥
—त्ति बेमि ॥

[२४] समुद्रपाल मुनि पुण्य और पाप (शुभ-अशुभ) दोनों ही प्रकार के कर्मों का क्षय करके, (संयम में) निरंगन (—निश्चल) और सब प्रकार से विमुक्त होकर समुद्र के समान विशाल संसार-प्रवाह (महाभवौघ) को तैर कर अपुनरागमस्थान (—मोक्ष) में गए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—दुविहं—दो भेद वाला—घाती कर्म और अघाती कर्म, इस प्रकार द्विविध, अथवा पुण्य-पाप—शुभाशुभ रूप द्विविध कर्म।

निरंगणे—(१) निरंगन—संयम के प्रति निश्चल—शैलेशीअवस्था प्राप्त। अथवा (२) निरंजन—कर्मसंगरहित।

समुद्दं व महाभवोहं—समुद्र के समान अतिदुस्तर, महान्, भवौघ देवादिभवसमूह को तैर कर।[1]

॥ समुद्रपालीय : इक्कीसवां अध्ययन समाप्त ॥

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८७-४८८

बाईसवाँ अध्ययन : रथनेमीय

अध्ययन-सार

※ प्रस्तुत अध्ययन का नाम रथनेमीय (रहनेमिज्जं) है। इस अध्ययन में रथनेमि से सम्बन्धित वर्णन मुख्य होने से इसका नाम 'रथनेमीय' रखा गया है।

※ वैसे इस अध्ययन के पूर्वार्द्ध में राजा समुद्रविजय के ज्येष्ठ पुत्र अरिष्टनेमि तथा उनके गुणों, लक्षणों, उनकी राजीमती से हुई सगाई, वरात का प्रस्थान, वाड़े पिंजरे में वंद पशुपक्षियों को देख कर करुणा, अविवाहित ही लौट कर आर्हती दीक्षा का ग्रहण, राजीमती की शोकमग्नता तथा नेमिनाथ के पथ का अनुसरण करके साध्वीदीक्षाग्रहण आदि का वर्णन है, जो कि तीर्थंकर अरिष्टनेमि और महासती राजीमती से सम्वन्धित होने के कारण प्रासंगिक है।

※ अरिष्टनेमि की पूर्वकथा इस प्रकार है—व्रजमण्डल के सोरियपुर (शौर्यपुर) के राजा समुद्रविजय थे। उनकी रानी का नाम शिवादेवी था। उनके चार पुत्र थे—अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढनेमि। वसुदेव समुद्रविजय के सवसे छोटे भाई थे। उनकी दो रानियाँ थीं—रोहिणी और देवकी। रोहिणी का पुत्र 'वलराम' और देवकी का पुत्र था—केशव।

उस समय मथुरा नगरी में वसुदेव के पुत्र कृष्ण ने जरासन्ध की पुत्री जीवयशा के पति 'कंस' को मार दिया था। इससे क्रुद्ध होकर जरासन्ध यदुवंशियों को नष्ट करने पर उतारू हो रहा था। जरासन्ध के आक्रमण के कारण सभी यादववंशीय व्रजमण्डल छोड़कर पश्चिम समुद्र के तट पर आए। वहाँ द्वारकानगरी का निर्माण कर विशाल साम्राज्य की नींव डाली। इस राज्य के नेता श्रीकृष्ण वासुदेव हुए। श्री कृष्ण ने समस्त यादवों की सहायता से प्रतिवासुदेव जरासन्ध को मार कर भरतक्षेत्र के तीनों खण्डों पर अपना आधिपत्य कर लिया।

अरिष्टनेमि प्रतिभासम्पन्न, वलिष्ठ एवं तेजस्वी युवक थे; किन्तु सांसारिक भोगवासना से विरक्त थे। एक बार समुद्रविजय ने श्रीकृष्ण से कहा—'वत्स! ऐसा कोई उपाय करो, जिससे अरिष्टनेमि विवाह कर ले।' श्रीकृष्ण ने वसन्तमहोत्सव के अवसर पर सत्यभामा, रुक्मणी आदि को इस विषय में प्रयत्न करने के लिए कहा। श्रीकृष्ण ने भी उनसे अनुरोध किया तो भी वे मौन रहे। 'मौनं सम्मतिलक्षणम्', इस न्याय के अनुसार विवाह की स्वीकृति मानकर श्रीकृष्ण ने भोजकुल के राजन्य उग्रसेन की पुत्री राजीमती को अरिष्टनेमि के योग्य समझ कर विवाह की वातचीत की। उग्रसेन ने इसे अनुग्रह मान कर स्वीकार कर लिया। दोनों ओर विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। अरिष्टनेमि को दूल्हा वना कर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित किया गया। श्रीकृष्ण वहुत बड़ी बरात के साथ श्रीअरिष्टनेमि को लेकर राजा उग्रसेन की राजधानी में विवाहमण्डप के निकट पहुँचे। इसी समय अरिष्टनेमि ने बाडों और पिंजरों में अवरुद्ध पशुपक्षियों का आर्त्तनाद सुना। सारथि से पूछा तो उसने कहा—'आपके विवाह के उपलक्ष्य में भोज दिया जाएगा, उसी के लिए ये पशुपक्षी यहाँ वंद किए गए हैं।'

अरिष्टनेमि ने करुणार्द्र होकर सारथि को संकेत किया, सभी पशुपक्षी बन्धनमुक्त कर दिये गए। अरिष्टनेमि वापस लौट गए।

वरातियों में कोलाहल मच गया। सभी प्रमुख यादव अरिष्टनेमि को समझाने लगे। अरिष्टनेमि ने सबको समझाया और वे अपने निर्णय पर अटल रहे। नेमिनाथ को वापस लौटते देख कर राजीमती मूर्च्छित और शोकमग्न हो गई। वह विलाप करने और नेमिनाथ को उपालंभ देने लगी। सखियों ने दूसरे यादवकुमारों के साथ विवाह का प्रस्ताव रखा। स्वयं रथनेमि ने राजीमती के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा, परन्तु राजीमती ने स्पष्ट इन्कार कर दिया। रथनेमि साधु बन गए। अन्त में राजीमती पतिव्रता नारी की तरह अरिष्टनेमि के महान् संयमपथ का अनुसरण करने को तैयार हो गई। अरिष्टनेमि को केवलज्ञान होते ही राजीमती अनेक राजकन्याओं के साथ दीक्षित हुई।

* *भगवान् अरिष्टनेमि एक बार रैवतक पर्वत पर विराजमान थे। राजीमती आदि साध्वियाँ* उनके दर्शनार्थ रैवतक पर्वत पर जा रही थीं, किन्तु मार्ग में ही आँधी और वर्षा के कारण सभी साध्वियाँ तितर-बितर हो गई। राजीमती अकेली एक[1] गुफा में पहुँची। सुरक्षित स्थान देख उसने शरीर पर से गीले कपड़े उतारे और सूखने के लिए फैलाए। वहीं रथनेमि ध्यानलीन थे, उन्होंने राजीमती को निर्वस्त्र देखा तो मन चंचल हो उठा। राजीमती के समीप आये, त्यों ही उसने अपनी बाहुओं से अपने वक्षस्थल आदि का संगोपन कर लिया। रथनेमि ने सती के समक्ष सांसारिक भोग भोगने का और ढलती उम्र में पुनः संयम लेने का प्रस्ताव रखा, किन्तु राजीमती ने कुल और शील की मर्यादाओं का उल्लेख करते हुए अपनी जोशीली वाणी से रथनेमि को समझाया और संयमपथ पर स्थिर किया। राजीमती के ओजस्वी बोधवचनों से रथनेमि उसी प्रकार नियंत्रित हो गए, जिस प्रकार अंकुश से हाथी नियंत्रित हो जाता है। अन्ततोगत्वा रथनेमि प्रभु अरिष्टनेमि से प्रायश्चित्त ग्रहण करके शुद्ध हुए। राजीमती और रथनेमि दोनों विशुद्ध संयम पालन कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने।

* प्रस्तुत अध्ययन के उत्तरार्द्ध में रथनेमि को राजीमती द्वारा दिया गया बोधवचन संकलित है, जिसका उल्लेख "दशवैकालिकसूत्र" के द्वितीय अध्ययन में[2] भी है। यह बोधवचन इतना प्रभावशाली एवं प्रेरणादायक है कि संयमपथ से भ्रष्ट होते हुए साधक को जागृत एवं सावधान कर देता है, भोगवासना को सहसा नियंत्रित कर देता है, पवित्र कुल का स्मरण करा कर साधक को वह भटकने से बचाता है। प्रत्येक साधक के लिए यह प्रकाशस्तम्भ है, जो उसकी जीवन-नौका को भोगवासना की चट्टानों से टकराने से बचाता है। यह बोधवचन शाश्वत सत्य है, अजर-अमर है। □□

---

१. 'वह गुफा आज भी 'राजीमतीगुफा' के नाम से प्रसिद्ध है।' —विविधतीर्थकल्प, पृ. ६

२. दशवैकालिक अ. २, गा. ६ से ११ तक

बाइसमं अज्झयणं : बाईसवाँ अध्ययन

रहनेमिज्जं : रथनेमीय

तीर्थंकर अरिष्टनेमि का परिचय

१. सोरियपुरंमि नयरे आसि राया महिड्ढिए।
वसुदेवे त्ति नामेणं राय—लक्खण—संजुए॥

[१] सोरियपुर नगर में महान् ऋद्धि से सम्पन्न तथा राजा के लक्षणों (चिह्नों तथा गुणों) से युक्त वसुदेव नाम का राजा था।

२. तस्स भज्जा दुवे आसी रोहिणी देवई तहा।
तासिं दोण्हं पि दो पुत्ता इट्ठा य राम-केसवा॥

[२] उसकी दो पत्नियाँ (भार्याएँ) थीं—रोहिणी और देवकी। उन दोनों के भी क्रमशः दो वल्लभ पुत्र थे—राम (बलदेव) और केशव (कृष्ण)।

३. सोरियपुरंमि नयरे आसी राया महिड्ढिए।
समुद्दविजए नामं राय—लक्खण—संजुए॥

[३] (उसी) सोरियपुर नगर में महान् ऋद्धि से सम्पन्न राज-लक्षणों से युक्त समुद्रविजय नाम का राजा था।

४. तस्स भज्जा सिवा नाम तीसे पुत्तो महायसो।
भगवं अरिट्ठनेमि त्ति लोगनाहे दमीसरे॥

[४] उसकी शिवा नाम की पत्नी थी, जिसके पुत्र महायशस्वी, जितेन्द्रियों में श्रेष्ठ, लोकनाथ भगवान् अरिष्टनेमि थे।

५. सोऽरिट्ठनेमि-नामो उ लक्खणस्सर-संजुओ।
अट्ठ सहस्सलक्खणधरो गोयमो कालगच्छवी॥

[५] वह अरिष्टनेमि स्वर-लक्षणों से सम्पन्न थे। एक हजार आठ शुभ लक्षणों के भी धारक थे। उनका गोत्र गौतम था और वह वर्ण से श्याम थे।

विवेचन—सोरियपुरंमि नयरे : तीन रूप (१) सोरियपुर, (२) शौर्यपुर अथवा (३) सौरीपुर। वर्तमान में आगरा से लगभग ४२ मील दूर बटेश्वर तीर्थ है, जहाँ प्रतिवर्ष मेला लगता है। बटेश्वर के निकट ही भगवान् अरिष्टनेमि का जन्मस्थान (वर्तमान में) सौरीपुर है। प्रस्तुत गाथा १ और ३

दोनों में जो सोरियपुर का उल्लेख है, वह समुद्रविजय और वसुदेव दोनों का एक ही जगह निवास था, यह बताने के लिए है ।[1]

वसुदेव आदि का उल्लेख प्रस्तुत अध्ययन में क्यों ? यहाँ रथनेमि के सम्बन्धित वक्तव्यता में वह किसके तीर्थ में हुआ ? इस प्रसंग से भगवान् अरिष्टनेमि का तथा उनके विवाह आदि में उपयोगी एवं उपकारी केशव (श्रीकृष्ण) आदि का उनके पूर्व उत्पन्न होने से पहले उल्लेख किया गया है ।[2]

रायलक्खण संजुए : तीन अर्थ—प्रस्तुत दो गाथाओं में 'राजलक्षणों से युक्त' शब्द प्रथम 'वसुदेव' का विशेषण है और द्वितीय समुद्रविजय का । प्रथम राजलक्षणसम्पन्न के दो अर्थ हैं—(१) सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार राजा के हाथ और चरणतल में चक्र, स्वस्तिक, अंकुश आदि लक्षण (चिह्न) होते हैं तथा (२) गुणों की दृष्टि से राजा के लक्षण हैं—धैर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, त्याग, सत्य, शौर्य आदि । वसुदेव इन दोनों प्रकार के राजलक्षणों से युक्त थे । द्वितीय राजलक्षणसम्पन्न के प्रथम दो अर्थों के अतिरिक्त एक अर्थ और भी है—छत्र, चामर, सिंहासन आदि राजचिह्नों से सुशोभित ।[3]

दमीसरे—दमन अर्थात् उपशमन करने वालों के ईश्वर अर्थात् नायक—अग्रणी । अरिष्टनेमि कुमार कौमार्यावस्था से ही अत्यन्त उपशान्त तथा जितेन्द्रिय थे । कुमारावस्था में ही उन्होंने कामवासना का दमन कर लिया था ।[4]

लक्खणस्सरसंजुओ—(१) स्वर के सुस्वरत्व, गाम्भीर्य, सौन्दर्य आदि लक्षणों से युक्त, (२) अथवा (मध्यमपदलोपी समास से) उक्त लक्षणोपलक्षित स्वर से संयुक्त ।[5]

अट्ठसहस्सलक्खणधरो—वृषभ, सिंह, श्रीवत्स, शंख, चक्र, गज, समुद्र आदि एक हजार आठ शुभसूचक चक्रादि लक्षणों का धारक । तीर्थंकर और चक्रवर्ती के १००८ लक्षण होते हैं ।[6]

राजीमती के साथ वाग्दान, वरात के साथ प्रस्थान

६. वज्जरिसहसंघयणो समचउरंसो झसोयरो ।
तस्स राईमइं कन्नं भज्जं जायइ केसवो ॥

[६] वह वज्र-ऋषभ-नाराचसंहनन और समचतुरस्रसंस्थान वाले थे । मछली के उदर जैसा उनका (कोमल) उदर था । राजीमती कन्या को उसकी भार्या बनाने के लिए वासुदेव (केशव) ने (राजा उग्रसेन से) उसकी याचना की ।

---

१. (क) जैनतीर्थों का इतिहास (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४८९

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४८९

३. (क) राजेव राजा तस्य लक्षणानि चक्रस्वस्तिकांकुशादीनि, त्यागसत्यशौर्यादीनि वा तैः संयुतो—युक्तः ।
(ख) इह च राजलक्षणसंयुत इत्यत्र राजलक्षणानि—छत्रचामरसिंहासनादीन्यपि गृह्यन्ते ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ४८९

४. दमिनः—उपशमिनस्तेषामीश्वरः—अत्यन्तोपशमवत्तया नायको दमीश्वरः । कौमार एवं क्षतमारवीर्यत्वात्तस्य ।
—वही, पत्र ४८९

५. वही, पत्र ४८९

६. वही, पत्र ४८९

७. अह सा रायवर-कन्ना सुसीला चारुपेहिणी ।
सव्वलक्खणसंपन्ना विज्जुसोयामणिप्पभा ।।

[७] वह (उग्रसेन) राजा की श्रेष्ठ कन्या सुशीला, चारुप्रेक्षिणी (सुन्दर दृष्टि वाली) तथा समस्त शुभ लक्षणों से सम्पन्न थी, उसके शरीर की प्रभा (-कान्ति) चमकती हुई विद्युत् की प्रभा के समान थी ।

८. अहाह जणओ तीसे वासुदेवं महिड्ढियं ।
इहागच्छउ कुमारो जा मे कन्नं दलामऽहं ।।

[८] (याचना करने के पश्चात्) उस (राजीमती) के पिता ने महान् ऋद्धिशाली वासुदेद से कहा—'(नेमि) कुमार यहाँ आएँ तो मैं अपनी कन्या उन्हें प्रदान करूँगा ।'

९. सव्वोसहीहि ण्हविओ कयकोउयमंगलो ।
दिव्वजुयलपरिहिओ आभरणेहिं विभूसिओ ।।

[९] (इसके पश्चात्) अरिष्टनेमि को समस्त औषधियों के जल से स्नान कराया गया, (यथाविधि) कौतुक और मंगल किये गए; दिव्य वस्त्र-युगल पहनाया गया और अलंकारों से विभूषित किया गया ।

१०. मत्तं च गन्धहत्थिं वासुदेवस्स जेट्ठगं ।
आरूढो सोहए अहियं सिरे चूडामणी जहा ।।

[१०] वे दूल्हा के रूप में वासुदेव के सबसे बड़े मत्त गन्धहस्ती पर जब आरूढ हुए (चढ़े) तो मस्तक पर चूडामणि के समान अत्यधिक सुशोभित हुए ।

११. अह ऊसिएण छत्तेण चामराहि य सोहिए ।
दसारचक्केण य सो सव्वओ परिवारिओ ।।

[११] तत्पश्चात् वे अरिष्टनेमि मस्तक पर धारण किये हुए ऊँचे छत्र से तथा (ढुलाते हुए) चामरों से सुशोभित थे और दशार्हचक्र (यदुवंश के प्रसिद्ध क्षत्रियों के समूह) से चारों ओर से परिवृत (घिरे हुए) थे ।

१२. चउरंगिणीए सेनाए रइयाए जहक्कमं ।
तुरियाण सन्निनाएण दिव्वेण गगणं फुसे ।।

[१२] चतुरंगिणी सेना यथाक्रम से नियोजित की गई थी, वाद्यों का गगनस्पर्शी दिव्य निनाद होने लगा ।

१३. एयारिसीइ इड्ढीए जुइए उत्तिमाइ य ।
नियगाओ भवणाओ निज्जाओ वण्हिपुंगवो ।।

[१३] ऐसी उत्तम ऋद्धि और उत्तम द्युति सहित वह वृष्णिपुंगव (अरिष्टनेमि) अपने भवन से निकले ।

विवेचन—वज्रऋषभनाराचसंहनन—संहनन जैनसिद्धान्त का पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ है—अस्थिबन्धन। समस्त जीवों का संहनन ६ कोटि का होता है—(१) वज्रऋषभनाराच, (२) ऋषभनाराच, (३) नाराच, (४) अर्धनाराच, (५) कीलक और (६) असंप्राप्तसृपाटिका। सर्वोत्तम संहनन वज्रऋषभनाराच है, जो उत्तम पुरुषों का होता है। वज्रऋषभनाराच संहनन वज्र-सा सुदृढ अस्थिबन्धन होता है, जिसमें शरीर के संधि अंगों की दोनों हड्डियाँ परस्पर आंटी लगाए हुए हों, उन पर तीसरी हड्डी का वेष्टन—लपेट हो और चौथी हड्डी की कील उन तीनों को भेद रही हो। यहाँ कीलक के आकार वाली हड्डी का नाम वज्र है, पट्टाकार हड्डी का नाम ऋषभ है और उभयतः मर्कटबन्ध का नाम नाराच है, इनसे शरीर की जो रचना होती है, वह वज्रऋषभनाराच है।

समचतुरस्रसंस्थान—संस्थान का अर्थ है—शरीर का आकार (ढांचा)। संस्थान भी ६ प्रकार के होते हैं—(१) समचतुरस्र, (२) न्यग्रोधपरिमण्डल, (३) सादि, (४) वामन, (५) कुब्जक और (६) हुण्डक।

पालथी मार कर बैठने पर चारों कोण सम हों तो वह समचतुरस्र नामक सर्वश्रेष्ठ संस्थान है।[1]

अरिष्टनेमि के लिए केशव द्वारा राजीमती की याचना की पृष्ठभूमि—कथा इस प्रकार है—एक बार अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण की आयुधशाला में जा पहुँचे। उन्होंने धनुष और गदा को अनायास ही उठा लिया और जब पाञ्चजन्य शंख फूंका तब तो चारों ओर तहलका मच गया। श्रीकृष्ण भी क्षुब्ध हो उठे और जब उन्होंने यह सुना कि यह शंख अरिष्टनेमि ने बजाया है, तब आशंकित हो उठे कि कहीं नेमिकुमार हमारा राज्य न ले लें। बलभद्र ने इस शंका का निवारण भी किया, फिर भी कृष्ण शंकाशील बने रहे। उन्होंने एक दिन नेमिकुमार से शौर्यपरीक्षण के लिए युद्ध करने का प्रस्ताव रखा, किन्तु नेमिकुमार ने कहा—बलपरीक्षण तो बाहुयुद्ध से भी हो सकता है। सर्वप्रथम श्रीकृष्ण की भुजा को उन्होंने अनायास ही नमा दिया, किन्तु श्रीकृष्ण नेमिकुमार के भुजदण्ड को नहीं नमा सके। इसके पश्चात एक दिन श्रीसमुद्रविजय ने श्रीकृष्ण से नेमिकुमार को विवाह के लिए सहमत करने को कहा। उन्होंने अपनी पटरानियों से वसन्तोत्सव के दिन विवाह के लिए मनाने को कहा। आठों ही पटरानियों ने क्रमशः नेमिकुमार को विभिन्न युक्तियों से विवाह करने के लिए अनुरोध किया, मगर वे मौन रहे। फिर बलदेव और श्रीकृष्ण ने भी विवाह कर लेने का आग्रह किया। अरिष्टनेमि के मंदहास्य को सबने विवाह की स्वीकृति का लक्षण माना।

श्रीसमुद्रविजय भी यह शुभ संवाद सुन कर आनन्दित हो उठे। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण स्वयं उग्रसेन के पास गए और राजीमती का अरिष्टनेमि के साथ विवाह कर देने की प्रार्थना की। श्री उग्रसेन को यह जान कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। उन्होंने श्रीकृष्ण की याचना इस शर्त पर स्वीकार कर ली कि यदि अरिष्टनेमि कुमार मेरे यहाँ पधारें तो मैं अपनी कन्या का उनके साथ विधिपूर्वक पाणिग्रहण करना स्वीकार करता हूँ। उग्रसेन की स्वीकृति पाते ही श्रीकृष्ण ने क्रौष्ठिकी नैमित्तिक से विवाह का मुहूर्त्त निकलवाया। विवाहमुहूर्त्त निश्चित होते ही श्रीकृष्ण ने सारी तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं, जिसका वर्णन मूलपाठ में है।[2]

१. (क) प्रज्ञापना. पद २३।२, सूत्र २९३ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भाग. ३, पृ. ७३७

२. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. ७३९ से ७५६ तक का सारांश (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४९०

दिव्वजुयलपरिहिओ—प्राचीनकाल में दो ही वस्त्र पहने जाते थे—एक अन्तरीय—नीचे पहनने के लिए धोती और एक उत्तरीय—ऊपर ओढ़ने के लिए चादर। इसे ही यहाँ **'दिव्ययुगल'** कहा गया है।[1]

गंधहत्थी : परिचय और स्वरूप—गन्धहस्ती, सब हाथियों से अधिक शक्तिशाली, बुद्धिमान् और निर्भय होता है। इसकी गन्ध से दूसरे हाथियों का मद झरने लगता है और वे डर के मारे भाग जाते हैं। वासुदेव (कृष्ण) का यह ज्येष्ठ पट्टहस्ती था।

कयकोउयमंगलो : तात्पर्य—विवाह से पूर्व वर के ललाट से मूसलस्पर्श कराना इत्यादि कौतुक और दधि, अक्षत, दूब, चन्दन आदि द्रव्यों का उपयोग करना मंगल कहलाता था।[2]

सव्वोसहीहिं०—बृहद्वृत्ति के अनुसार—जया, विजया, ऋद्धि, वृद्धि आदि समस्त औषधियों से अरिष्टनेमि को नहलाया गया।[3]

दसारचक्केण—समुद्रविजय, अक्षोभ्य, स्तिमित, सागर, हिमवान्, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द्र और वसुदेव; ये दस भाई, जो यादव जाति के थे, इन का समूह दशार (दशार्ह-चक्र) कहलाता था। यदुप्रमुख ये दश अर्ह अर्थात् पूज्य थे, बड़े थे, इसलिए इन्हें 'दशार्ह' कहा गया।[4]

वण्हिपुंगवो—वृष्णिकुल में प्रधान श्री अरिष्टनेमि थे। अरिष्टनेमि का कुल 'अन्धकवृष्णि' नाम से प्रसिद्ध था, क्योंकि अन्धक और वृष्णि, ये दो भाई थे। वृष्णि अरिष्टनेमि के पितामह थे। परन्तु पुराणों के अनुसार अन्धकवृष्णि (या अन्धकवृष्टि) एक ही व्यक्ति का नाम है, जो समुद्रविजय के पिता थे। दशवैकालिक सूत्र में तथा इसी अध्ययन की ५३ वीं गाथा में नेमिनाथ के कुल को अन्धकवृष्णि कुल बताया गया है।[5]

अवरुद्ध आर्त्त पशुपक्षियों को देख कर करुणामग्न अरिष्टनेमि

१४. अह सो तत्थ निज्जन्तो दिस्स पाणे भयद्दुए।
वाडेहिं पंजरेहिं च सन्निरुद्धे सुदुक्खिए॥

[१४] तदनन्तर उन्होंने (अरिष्टनेमि ने) वहाँ (मण्डप के समीप) जाते हुए बाड़ों और पिंजरों में बन्द किये गए, भयत्रस्त और अतिदुःखित प्राणियों को देखा।

---

१. (क) उत्तरा. अनुवाद टिप्पण (साध्वी चन्दना), पृ. ४४०
   (ख) दिव्ययुगलमिति प्रस्तावाद् दूष्ययुगलं। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९०

२, (क) वासुदेवस्य सम्बन्धिनमिति गम्यते। ज्येष्ठमेव ज्येष्ठकम्—अतिशयप्रशस्यमतिवृद्धं वा गुणैः पट्टहस्तिनमित्यर्थः।
   (ख) कृतकौतुकमंगल इत्यत्र कौतुकानि ललाटस्य मुशलस्पर्शनादीनि, मंगलानि च दध्यक्षतदूर्वाचन्दनादीनि। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९०

३. सर्वाश्च ता औषधयश्च—जयाविजयर्द्धिवृद्ध्यादयः सर्वौषधयस्ताभिः स्नपितः अभिषिक्तः। —वही, पत्र ४९०

४. (क) 'दसारचक्केणं ति दशार्हचक्रेण—यदुसमूहेन।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९०
   (ख) 'दश च तेऽर्हाश्च-पूज्या इति दशार्हाः।' —अन्तकृद्दशांग. १।१ वृत्ति

५. (क) वृष्णिपुंगवः यादवप्रधानो भगवानरिष्टनेमिरिति यावत्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९०
   (ख) दशवैकालिक २।८ (ग) उत्तराध्ययन अ. २२, गा. ४३ (घ) उत्तरपुराण ७०।९२-९४

१५. जीवियन्तं तु संपत्ते मंसट्ठा भक्खियव्वए।
पासेत्ता से महापन्ने सारहिं इणमब्बवी॥

[१५] वे जीवन की अन्तिम स्थिति में पहुँचे हुए थे, और मांसभोजन के लिए खाये जाने वाले थे। उन्हें देख कर उन महाप्रज्ञावान् अरिष्टनेमि ने सारथि (या पीलवान) से इस प्रकार कहा—

१६. कस्स अट्ठा इमे पाणा एए सव्वे सुहेसिणो।
वाडेहिं पंजरेहिं च सन्निरुद्धा य अच्छहिं?

[१६] (अरिष्टनेमि—) ये सब सुखार्थी प्राणी किस प्रयोजन के लिए बाड़ों और पिंजरों में बन्द किये गए हैं?

१७. अह सारही तओ भणइ एए भद्दा उ पाणिणो।
तुज्झं विवाहकज्जंमि भोयावेउं बहुं जणं॥

[१७] तब सारथि (इस प्रकार) बोला—ये भद्र प्राणी आपके विवाहकार्य में बहुत-से लोगों को मांसभोजन कराने के लिए (यहाँ रोके गए) हैं।

१८. सोऊण तस्स वयणं बहुपाणि—विणासणं।
चिन्तेइ से महापन्ने साणुक्कोसे जिएहि उ॥

[१८] अनेक प्राणियों के विनाश से सम्बन्धित उसका (सारथि का) वचन सुन कर जीवों के प्रति करुणायुक्त होकर महाप्राज्ञ अरिष्टनेमि (यों) चिन्तन करने लगे—

१९. जइ मज्झ कारणा एए हम्मिहिंति बहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं परलोगे भविस्सई॥

[१९] 'यदि मेरे कारण से इन बहुत-से प्राणियों का वध होगा तो यह परलोक में मेरे लिए निःश्रेयस्कर (कल्याणकारी) नहीं होगा।'

२०. सो कुण्डलाण जुयलं सुत्तगं च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि सारहिस्स पणामए॥

[२०] उन महान् यशस्वी (अरिष्टनेमि) ने कुण्डलयुगल, करधनी (सूत्रक) और समस्त अलंकार उतार कर सारथि को दे दिए। (और बिना विवाह किये ही रथ को वहाँ से लौटाने का आदेश दिया।)

विवेचन—जीवयंतं तु संपत्ते—(१) जीवन के अन्त को प्राप्त—मरणासन्न।[1]

मंसट्ठा—(१) मांस अतिगृद्धि का कारण होने से मांसाहार के लिए अथवा (२) 'मांस से ही मांस बढ़ता है' इस कहावत के अनुसार अविवेकी जनों द्वारा शरीर की मांसवृद्धि के लिए।[2]

१. 'जीवितस्यान्तो मरणमित्यर्थस्तं सम्प्राप्तानिव सम्प्राप्तान् अतिप्रत्यासन्नत्वात्तस्य, यद्वा जीवितस्यान्तःपर्यन्तवर्ती भागस्तमुक्तहेतोः सम्प्राप्तान्।' —बृहद्वृत्ति, ४९०

२. मांसार्थं—मांसनिमित्तं च भक्षयितव्यान् मांसस्यैवातिगृद्धिहेतुत्वेन तद्भक्षणनिमित्तत्वादेवमुक्तं, यदि वा 'मांसेनैव मांसमुपचीयते' इति प्रवादतो मांसमुपचितं स्यादिति हेतोः—मांसार्थं भक्षयितव्यानविवेकिभिः।
—वही, पत्र ४९१

महापन्ने—जिसकी प्रज्ञा महान् हो, वह महाप्रज्ञ है, आशय यह है कि भगवान् नेमिनाथ में मति, श्रुत और अवधि ज्ञान होने से वे महाप्रज्ञ थे।[1]

करुणा का स्रोत उमड़ पड़ा—सर्वप्रथम भयभीत एवं अत्यन्त दु:खित प्राणियों को देखते ही उनका करुणाशील हृदय पसीज उठा। फिर उन्होंने सारथि से पूछा और जब यह जाना कि मेरे विवाह के समय आने वाले अतिथियों को मांसभोज देने के लिए इन पशु-पक्षियों को बन्द किया गया है, तब तो और भी करुणार्द्र हो उठे। अपने लिए इसे अकल्याणकर समझ कर उन्होंने विवाह न करना ही उचित समझा। फलत: उन्हें वहीं संसार से विरक्ति हो गई और वहीं से रथ को लौटा देने तथा बाड़ों और पिंजरों को खोल कर उन पशु-पक्षियों को मुक्त कर देने का संकेत किया। यह कार्य सम्पन्न करते ही पारितोषिक के रूप में समस्त आभूषण सारथि को दे दिये।[2]

एक शंका : समाधान—प्रस्तुत अध्ययन की १० वीं गाथा में विवाह के लिए प्रस्थान करते समय गन्धहस्ती पर आरूढ़ होने का उल्लेख है और आगे १५ वीं गाथा में सारथि से पूछने और उसके द्वारा आदेशानुकूल कार्य सम्पन्न करने पर पारितोषिक देने के प्रसंग में सारथि का उल्लेख है। इससे अरिष्टनेमि का रथारोहण अनुमित होता है। ऐसा पूर्वापर विरोध क्यों? बृहद्वृत्तिकार ने इसका समाधान करते हुए लिखा है—वरयात्रा में चलते समय वे रथारूढ़ हो गए हों, ऐसा अनुमान होता है, इस दृष्टि से 'सारथि' शब्द सार्थक है।[3]

अरिष्टनेमि के द्वारा प्रव्रज्याग्रहण

> **२१. मणपरिणामे य कए देवा य जहोइयं समोइण्णा।**
> **सव्विड्ढीए सपरिसा निक्खमणं तस्स काउं जे॥**

[२१] (अरिष्टनेमि के द्वारा) मन में (दीक्षा-ग्रहण के) परिणाम (भाव) होते ही उनके यथोचित अभिनिष्क्रमण के लिए देव अपनी समस्त ऋद्धि और परिषद् के साथ आकर उपस्थित हो गए।

> **२२. देव-मणुस्सपरिवुडो सीयारयणं तओ समारूढो।**
> **निक्खमिय बारगाओ रेवययंमि ट्ठिओ भगवं॥**

[२२] तदनन्तर देवों और मानवों से परिवृत भगवान् (अरिष्टनेमि) शिविकारत्न (—श्रेष्ठ पालखी) पर आरूढ हुए। द्वारका से निष्क्रमण (चल) कर वे रैवतक (गिरनार) पर्वत पर स्थित हुए।

---

१. महती प्रज्ञा—प्रक्रमान्मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयात्मिका यस्याऽसौ महाप्रज्ञ:। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९१

२. वही, पत्र ४९१ : न तु नि:श्रेयसं कल्याणं परलोके भविष्यति, पापहेतुत्वादस्येति भाव:। ....एवं च विदिताकूतेन सारथिना मोचितेषु सत्त्वेषु पारितोषितोऽसौ।

३. 'सारथि—प्रवर्त्तयितारं प्रक्रमाद् गन्धहस्तिनो हस्तिपकमिति यावत्। यद्वाऽत एव तदा रथारोहणमनुमीयते इति रथप्रवर्त्तयितारम्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९२

२३. उज्जाणं संपत्तो ओइण्णो उत्तिमाओ सीयाओ।
साहस्सीए परिवुडो अह निक्खमई उ चित्ताहिं ॥

[२३] उद्यान (सहस्राम्रवन) में पहुँच कर वे उत्तम शिविका से उतरे। (फिर) एक हजार व्यक्तियों के साथ भगवान् ने चित्रा नक्षत्र में अभिनिष्क्रमण किया।

२४. अह से सुगन्धिगंन्धिए तुरियं मउयकुंचिए।
सयमेव लुंचई केसे पंचमुट्ठीहिं समाहिओ ॥

[२४] तदनन्तर समाहित (समाधिसम्पन्न) अरिष्टनेमि ने तुरन्त सुगन्ध से सुवासित अपने कोमल और घुंघराले बालों का स्वयं अपने हाथों से पंचमुष्टि लोच किया।

२५. वासुदेवो य णं भणइ लुत्तकेसं जिइन्दियं।
इच्छियमणोरहे तुरियं पावेसु तं दमीसरा ! ॥

[२५] वासुदेव कृष्ण ने लुंचितकेश एवं जितेन्द्रिय भगवान् से कहा—'हे दमीश्वर! आप अपने अभीष्ट मनोरथ को शीघ्र प्राप्त करो।'

२६. नाणेणं दंसणेणं च चरित्तेण तहेव य।
खन्तीए मुत्तीए वड्ढमाणो भवाहि य ॥

[२६] 'आप ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षान्ति (क्षमा) और मुक्ति (निर्लोभता) के द्वारा आगे बढ़ो।'

२७. एवं ते रामकेसवा दसारा य बहू जणा।
अरिट्ठणेमिं वन्दित्ता अइगया बारगापुरिं ॥

[२७] इस प्रकार बलराम, केशव, दशार्ह यादव और अन्य बहुत-से लोग अरिष्टनेमि को वन्दना कर द्वारकापुरी को लौट आए।

विवेचन—सपरिसा—यह 'देवों' का विशेषण है। सपरिषद् अर्थात् बाह्य, मध्यम और आभ्यन्तर, इन तीनों परिषदों से सहित।

निक्खमणं काउं—निष्क्रमणमहिमा या निष्क्रमणमहोत्सव करने के लिए।

सीयारयणं—शिविकारत्न—यह देवनिर्मित 'उत्तरकुरु' नाम की श्रेष्ठ शिविका थी।

अहि निक्खमई—श्रमणदीक्षा ग्रहण की या श्रमणधर्म में प्रव्रजित हुए।

समाहिओ—समाहित (समाधिसम्पन्न) शब्द अरिष्टनेमि का विशेषण है। इसका तात्पर्य यह है कि 'मुझे यावज्जीवन तक समस्त सावद्य व्यापार नहीं करना है' इस प्रकार की प्रतिज्ञा से युक्त हुए।[1]

रथ लौटाने से लेकर द्वारका में आगमन तक—पशु-पक्षियों को बन्धनमुक्त करवा कर ज्यों ही रथ वापिस लौटाया, त्यों ही मन में अभिनिष्क्रमण का विचार आते ही सारस्वतादि नौ प्रकार

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९२

के लोकान्तिक देवों ने आकर भगवान् को प्रबोधित किया—'भगवन् ! दीक्षा लेकर तीर्थप्रवर्तन कीजिए ।' इसी समय शिवा रानी और समुद्रविजय राजा आँखों से अश्रु बहाते हुए समझाने लगे—'वत्स ! यों विवाह का त्याग करने से हमें तथा कृष्ण आदि यादवों को कितना खेद होगा ? तेरे लिए उग्रसेन राजा से श्री कृष्ण ने स्वयं जा कर उनकी पुत्री की याचना की थी । वह अब कैसे अपना मुख दिखायेगा ? राजीमती की क्या दिशा होगी ? पतिव्रता स्त्री एक बार मन से भी जिसको पतिरूप में वरण कर लेती है, फिर जीवन भर दूसरा पति नहीं करती । अतः हमारे अनुरोध को स्वीकार कर तू विवाह कर ले ।' भगवान् ने कहा—'हे पूज्यो ! आप यह आग्रह छोड़ दें । प्रियजनों को सदैव हितकार्य में ही प्रेरणा देनी चाहिए । स्त्रीसंग मुमुक्षु के लिए योग्य नहीं है । प्रारम्भ में सुन्दर और परिणाम में दारुण कार्य के लिए कोई भी बुद्धिमान् मुमुक्षु प्रयत्न नहीं करता ।' इसके पश्चात् समागत लोकान्तिक देवों ने भी समुद्रविजय आदि दशार्हों से कहा—'आप सब भाग्यशाली हैं कि आपके कुल में ऐसे महापुरुष पैदा हुए हैं । ये भगवान् दीक्षा ग्रहण करके केवलज्ञान पाकर चिरकाल तक तीर्थप्रवर्तन करके जगत् को आनन्द देने वाले हैं । अतः आप खेद छोड़ कर हर्ष मनाइए ।' इस प्रकार देवों के वचन सुनकर सभी हर्षित हुए ।

भगवान् सहित सभी यादवगण द्वारका आए । भगवान् स्व-भवन में पहुँचे । उसी दिन से दीक्षा का संकल्प कर लिया । सांवत्सरिक दान देने लगे और तत्पश्चात् रैवतक (उज्जयंत) गिरि पर स्थित सहस्राम्रवन में जा कर दीक्षा ग्रहण की । स्वयं पंचमुष्टि लोच किया, आजीवन सामायिकव्रत अंगीकार किया । कृष्ण आदि सभी यादव आशीर्वचन कह कर वहाँ से वापस लौटे ।[1]

इसके पश्चात् भगवान् ने केवलज्ञान होने पर तीर्थस्थापना की, आदि वर्णन समझ लेना चाहिए ।

प्रथम शोकमग्न और तत्पश्चात् प्रव्रजित राजीमती

२८. सोऊण रायकन्ना पव्वज्जं सा जिणस्स उ ।
नीहासा य निराणन्दा सोगेण उ समुच्छिया ॥

[२८] (अरिष्टनेमि) जिनेश्वर की प्रव्रज्या को सुन कर राजकन्या (राजीमती) हास्य-रहित और आनन्दविहीन हो गई । वह शोक से मूर्च्छित हो गई ।

२९. राईमई विचिन्तेइ धिरत्थु मम जीवियं ।
जाऽहं तेण परिच्चत्ता सेयं पव्वइउं मम ॥

[२९] राजीमती ने विचार किया—'धिक्कार है मेरे जीवन को कि मैं उनके (अरिष्टनेमि के) द्वारा परित्यक्त की गई । (अतः) मेरा (अब) प्रव्रजित होना ही श्रेयस्कर है ।'

---

१. (क) उत्तरा. (गुजराती अनुवाद, जै. ध. प्र. सभा, भावनगर से प्रकाशित), पत्र १५१
(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३, पृ. ७७०-७७१
(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ४९२ : 'इह तु वन्दिकाचार्यः सत्त्वमोचनसमये सारस्वतादिप्रबोधन, भवनगमन-महा-दानानन्तरं निष्क्रमणाय पुरीनिर्गममुपवर्णयाम्बभूवेति सूत्रसप्तकार्थः ।'

३०. अह सा भमरसन्निभे कुच्च—फणग—पसाहिए।
सयमेव लुंचई केसे धिइमन्ता ववस्सिया॥

[३०] इसके पश्चात् धैर्यवती एवं कृतनिश्चया उस राजीमती ने कूर्च और कंघी से प्रसाधित भ्रमर जैसे काले केशों का अपने हाथों से लुञ्चन किया।

३१. वासुदेवो य णं भणइ लुत्तकेसं जिइन्दियं।
संसारसागरं घोरं तर कन्ने! लहुं लहुं॥

[३१] वासुदेव ने केशों का लुञ्चन की हुई एवं जितेन्द्रिय राजीमती से कहा—'कन्ये! तू इस घोर संसारसागर को अतिशीघ्र पार कर।'

३२. सा पव्वइया सन्ती पव्वावेसी तहिं बहुं।
सयणं परियणं चेव सीलवन्ता बहुस्सुया॥

[३२] प्रव्रजित होने के पश्चात् उस शीलवती राजीमती ने बहुश्रुत हो कर उस द्वारका नगरी में (अपने साथ) बहुत-सी स्वजनों और परिजनों की स्त्रियों को प्रव्रजित किया।

विवेचन—तीर्थंकर अरिष्टनेमि के विरक्त एवं प्रव्रजित होने पर राजीमती की दशा—पहले तो राजीमती अरिष्टनेमि कुमार को दूल्हे के रूप में आते देख अतीव प्रसन्न हुई और सखियों के समक्ष हर्षावेश में आकर उनके गुणगान करने लगी। किन्तु ज्यों ही उसकी दांयी आँख फड़की, वह अत्यन्त उदास और अधीर होकर बोली—मैं इस अपशकुन से जानती हूँ कि मेरे नाथ यहाँ तक पधारे हैं, फिर भी वे वापस लौट जाएँगे, मेरा पाणिग्रहण नहीं करेंगे।

ज्यों ही नेमि कुमार वापस लौटे, राजीमती अत्यन्त शोकातुर एवं मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। सचेतन होते ही वह दुःखभरे उद्गार प्रकट करती हुई विलाप करने और मन ही मन नेमि कुमार को उपालम्भ देने लगी। उसकी सखियों ने बहुत समझाया और अन्य सुन्दर राजकुमारों का वरण करने का आग्रह किया, परन्तु राजीमती ने कहा—मैं स्वप्न में भी दूसरे व्यक्ति का वरण नहीं कर सकती।

कुछ ही देर में वह स्वस्थ होकर कहने लगी—'सखियो! वापस लौट कर वे मुझे संकेत कर गए हैं कि पतिव्रता स्त्री का कर्त्तव्य पति के मार्ग का अनुसरण करना है। आज मुझे एक स्वप्न आया था कि कोई पुरुष ऐरावत हाथी पर चढ़कर मेरे घर आया और तत्काल मेरुपर्वत पर चढ़ गया। जाते समय उसने लोगों को चार फल दिये, मुझे भी फल दिया।' सखियों ने स्वप्न को शुभ-फलदायक बताया। तत्पश्चात् राजीमती भी नेमिनाथप्रभु का ध्यान करती हुई घर में रही और उग्र तप करने तथा नेमिनाथ भगवान् द्वारा दीक्षा लेने तथा तीर्थस्थापना करने की प्रतीक्षा करने लगी।

इधर नेमिनाथ का छोटा भाई रथनेमि राजीमती पर आसक्त था। रथनेमि ने राजीमती को स्वयं को पतिरूप में अंगीकार करने को कहा, परन्तु राजीमती ने स्पष्ट अस्वीकार करते हुए कहा—'मैं उनके द्वारा वमन की हुई हूँ। तुम वमन की हुई वस्तु का उपभोग करोगे तो श्वानतुल्य होगे। मैं तुम्हें नहीं चाहती।' इस पर रथनेमि निराश होकर चला गया।

इधर नेमिनाथ भगवान् दीक्षित होने के बाद ५४ दिन तक छद्मस्थ अवस्था में अनेक ग्रामों में विचरण करते रहे और फिर रैवताचल पर्वत पर आए। वहाँ प्रभु तेले का तप करके शुक्ल-ध्यान में मग्न हो गए। उस समय उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। सभी इन्द्र अपने-अपने देवगणों सहित वहाँ आए। मनोहर समवसरण की रचना की। प्रभु ने धर्मदेशना दी। प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ जान कर बलभद्र, श्रीकृष्ण, राजीमती, दशार्ह आदि यादवगण तथा अन्य साधारण जन रैवतक पर्वत पर पहुँचे। वन्दन करके यथायोग्य स्थान पर बैठकर धर्मदेशना सुनी। अनेक राजाओं, साधारण जनों तथा महिलाओं ने प्रतिबुद्ध होकर प्रभु से दीक्षा ग्रहण की। अनेकों ने श्रावक व्रत अंगीकार किये। तत्पश्चात् रथनेमि ने भी विरक्त होकर प्रभु से दीक्षा ली तथा राजीमती ने भी अनेक कन्याओं सहित दीक्षा ग्रहण की।[1]

नीहासा निराणंदा सोगेण उ समुत्थया—राजीमती की हँसी (प्रसन्नता), खुशी एवं आनन्द समाप्त हो गया, वह शोक से स्तब्ध हो गई।[2]

सेयं पव्वइउं मम—राजीमती का आशय यह है कि अब तो मेरे लिए प्रव्रज्या ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है, जिससे कि मैं फिर अन्य जन्म में भी इस तरह दुःखी न होऊँ। तत्पश्चात् विरक्त राजीमती तब तक घर में ही तप करती रही, जब तक भगवान् अन्यत्र विहार करके पुनः वहाँ (रैवतकगिरि पर) नहीं आ गए। भगवान् को केवलज्ञान होते ही उनकी देशना सुनकर अधिक वैराग्यवती होकर वह प्रव्रजित हो गई।[3]

कुच्च-फणग-पसाहिए—कूर्च का अर्थ है—गूढ़ और उलझे हुए केशों को अलग-अलग करने वाला बांस से निर्मित विशेष कंघा और फणक का अर्थ भी एक प्रकार का कंघा है, इनसे राजीमती के बाल संवारे हुए थे।[4]

ववस्सिया—श्रमणधर्म की आराधना करने के लिए कृतसंकल्प (—कटिबद्ध)।[5]

राजीमती द्वारा भग्नचित्त रथनेमि का संयम में स्थिरीकरण

> ३३. गिरिं रेवययं जन्ती वासेणुल्ला उ अन्तरा।
> वासन्ते अंधयारंमि अन्तो लयणस्स सा ठिया॥

[३३] वह (साध्वी राजीमती प्रभु के दर्शन-वंदनार्थ एक बार) रैवतकगिरि पर जा रही

---

१. (क) उत्तरा.(गुजराती अनुवाद, जै.ध.प्र.सभा, भावनगर से प्रकाशित)पृ. १४९, १५१ से १५५ तक का सारांश
   (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ७७३ से ७७८ तथा ७८७ से ७९२ तक का सारांश
   (ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ४९२-४९३

२. वही, पत्र ४९३

३. श्रेयः अतिशयप्रशस्यं 'प्रव्रजितु'—प्रव्रज्यां प्रतिपत्तुं मम, येनाऽन्यजन्मन्यपि नैवं दुःखभागिनी भवेयम् इति भावः। इत्थं चासौ तावदवस्थिता, यावदन्यत्र प्रविहृत्य तत्रैव भगवानाजगाम। तत उत्पन्नकेवलस्य भगवतो निशम्य देशनां विशेषत उत्पन्नवैराग्या..............। —बृहद्वृत्ति, प. ४९३

४. 'कूर्चो—गूढकेशोन्मोचको वंशमयः, फणकः—कंकतकः।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९३

५. व्यवसिता—अध्यवसिता सती धर्मं विधातुमिति शेषः। —वही, पत्र ४९३

थी कि बीच में ही वर्षा से भीग गई। घनघोर वर्षा हो रही थी, (इस कारण चारों ओर) अन्धकार हो गया था। (इस स्थिति में) वह (एक) गुफा (लयन) के अन्दर (जा कर) ठहरी।

३४. चीवराइं विसारन्ती जहा जाय त्ति पासिया।
रहनेमी भग्गचित्तो पच्छा दिट्ठो य तीइ वि॥

[३४] सुखाने के लिए अपने चीवरों (वस्त्रों) को फैलाती हुई राजीमती को यथाजात (नग्न) रूप में देख कर रथनेमि का चित्त विचलित हो गया। फिर राजीमती ने भी उसे देख लिया।

३५. भीया य सा तहिं दट्ठुं एगन्ते संजयं तयं।
बाहाहिं काउं संगोफं वेवमाणी निसीयई॥

[३५] वहाँ (उस गुफा में) एकान्त में उस संयत को देख कर वह भयभीत हो गई। भय से कांपती हुई राजीमती अपनी दोनों बांहों से वक्षस्थल को आवृत कर बैठ गई।

३६. अह सो वि रायपुत्तो समुद्दविजयंगओ।
भीयं पवेवियं दट्ठुं इमं वक्कं उदाहरे॥

[३६] तब समुद्रविजय के अंगजात (पुत्र) उस राजपुत्र (रथनेमि) ने भी राजीमती को भयभीत और कांपती हुई देख कर इस प्रकार वचन कहा—

३७. रहनेमी अहं भद्दे! सुरूवे! चारुभासिणि!।
ममं भयाहि सुयणू! न ते पीला भविस्सई॥

[३७] (रथनेमि)—'हे भद्रे! हे सुन्दरि! मैं रथनेमि हूँ। हे मधुरभाषिणी! तू मुझे (पति रूप में) स्वीकार कर। हे सुतनु! (ऐसा करने से) तुझे कोई पीड़ा नहीं होगी।'

३८. एहि ता भुंजिमो भोए माणुस्सं खु सुदुल्लहं।
भुत्तभोगा तओ पच्छा जिणमग्गं चरिस्समो॥

[३८] 'निश्चित ही मनुष्यजन्म अतिदुर्लभ है। आओ, हम भोगों को भोगें। भुक्तभोगी होकर उसके पश्चात् हम जिनमार्ग (सर्वविरतिचारित्र) का आचरण करेंगे।'

३९. दट्ठूण रहनेमिं तं भग्गुज्जोयपराइयं।
राईमई असम्भन्ता अप्पाणं संवरे तहिं॥

[३९] संयम के प्रति भग्नोद्योग (निरुत्साह) एवं (भोगवासना या स्त्रीपरीषह से) पराजित रथनेमि को देख कर राजीमती सम्भ्रान्त न हुई (घबराई नहीं)। उसने वहीं (गुफा में ही) अपने शरीर को (वस्त्रों से) ढँक लिया।

४०. अह सा रायवरकन्ना सुट्ठिया नियम-व्वए।
जाई कुलं च सीलं च रक्खमाणी तयं वए॥

[४०] तत्पश्चात् अपने नियमों और व्रतों में सुस्थित (अविचल) उस श्रेष्ठ राजकन्या (राजीमती) ने जाति, कुल और शील का रक्षण करते हुए रथनेमि से कहा—

४१. जइ सि रूवेण वेसमणो ललिएण नलकूबरो।
तहा वि ते न इच्छामि जइ सि सक्खं पुरन्दरो ॥

[४१] 'हे रथनेमि ! यदि तुम रूप में वैश्रमण (कुवेर)-से होओ, लीला-विलास में नलकूबर देव जैसे होओ, और तो क्या, तुम साक्षात् इन्द्र भी होओ, तो भी मैं तुम्हें नहीं चाहती।'

४२. पक्खंदे जलियं जोइं धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छन्ति वंतयं भोत्तुं कुले जाया अगंधणे ॥

[४२] 'अगन्धन कुल में उत्पन्न हुए सर्प धूम की ध्वजा वाली, जाज्वल्यमान, भयंकर दुष्प्रवेश (या दुःसह) अग्निज्वाला में प्रवेश कर जाते हैं, किन्तु वमन किये (उगले) हुए अपने विष को (पुनः) पीना नहीं चाहते।'

४३. धिरत्थु तेऽजसोकामी ! जो तं जीवियकारणा।
वन्तं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे ॥

[४३] '(किन्तु) हे अपयश के कामी ! धिक्कार है तुम्हें कि तुम (भोगी) जीवन के लिए वान्त—त्यागे हुए भोगों का पुनः आस्वादन करना चाहते हो ! इससे तो तुम्हारा मर जाना श्रेयस्कर है।'

४४. अहं च भोयरायस्स तं च सि अन्धगवण्हिणो।
मा कुले गन्धणा होमो संजमं निहुओ चर ॥

[४४] 'मैं भोजराज की (पौत्री) हूँ और तुम अन्धकवृष्णि के (पौत्र) हो। अतः अपने कुल में हम गन्धनजाति के सर्पतुल्य न बनें। तुम निभृत (स्थिर) होकर संयम का आचरण करो।'

४५. जइ तं काहिसि भावं जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धो व्व हडो अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥

[४५] 'यदि तुम जिस किसी स्त्री को देख कर ऐसे ही रागभाव करते रहोगे, तो वायु से प्रकम्पित हड नामक निर्मूल वनस्पति की तरह अस्थिर चित्त वाले हो जाओगे।'

४६. गोवालो भण्डवालो वा जहा तद्दव्वऽणिस्सरो।
एवं अणिस्सरो तं पि सामण्णस्स भविस्ससि ॥

[४६] 'जैसे गोपालक (दूसरे की गायें चराने वाला) अथवा भाण्डपाल (वेतन लेकर किसी के किराने का रक्षक) उस द्रव्य (गायों या किराने) का स्वामी नहीं होता; इसी प्रकार (संयमरहित, केवल वेषधारी होने पर) तुम भी श्रामण्य के स्वामी नहीं होगे।'

४७. कोहं माणं निगिण्हित्ता मायं लोभं च सव्वसो।
इन्दियाइं वसे काउं अप्पाणं उवसंहरे ॥

[४७] 'तुम क्रोध, मान, माया और लोभ का पूर्ण रूप से निग्रह करके, इन्द्रियों को वश में करके अपने आपको उपसंहरण (अनाचार से विरत) करो।'

४८. तीसे सो वयणं सोच्चा संजयाए सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपडिवाइओ ॥

[४८] उस संयती (साध्वी राजीमती) के सुभाषित वचनों को सुन कर रथनेमि (श्रमण-) धर्म में वैसे ही सुस्थिर हो गया, जैसे अंकुश से हाथी वश में हो जाता है।

विवेचन—वासेणुल्ला—वृष्टि से भीग गई अर्थात् उसके सारे वस्त्र गीले हो गए थे।

चीवराइं—संघाटी (चादर) आदि वस्त्र।

भग्गचित्तो—संयम के प्रति जिसका परिणाम विचलित हो गया हो।

पच्छा दिट्ठो०—शास्त्रकार का आशय यह है कि गुफा में अन्धेरा रहता है और अन्धकार-प्रदेश में बाहर से प्रवेश करने वाले को सर्वप्रथम सहसा कुछ भी दिखाई नहीं देता। यदि दिखाई देता तो वर्षा की हड़बड़ी में शेष साध्वियों के अन्यान्य आश्रयस्थानों में चले जाने के कारण राजीमती अकेली वहाँ प्रवेश नहीं करती। इससे स्पष्ट है कि गुफा में रथनेमि है, यह राजीमती को पहले नहीं दिखाई दिया। बाद में उसने उसे वहाँ देखा।[1]

भयभीत और कम्पित होने का कारण—राजीमती वहाँ गुफा में अकेली थी और वस्त्र गीले होने से सुखा दिये थे, इसलिए निर्वस्त्रावस्था में थी, फिर जब उसने वहाँ रथनेमि को देखा, तब वह भयभीत हो गई कि कदाचित् यह बलात् शील भंग न कर बैठे, इसीलिए बलात् आलिंगनादि न करने देने हेतु झटपट अपने अंगों को सिकोड़कर वक्षस्थल पर अपनी दोनों भुजाओं से परस्पर गुम्फन करके यानी मर्कटबन्ध करके वह बैठ गई थी। फिर भी शीलभंग के भय से वह कांप रही थी।[2]

ममं भयाहि—(१) मां भजस्व—तू मुझे स्वीकार कर, **(२) ममा भैषी**—तू बिलकुल डर मत।[3]

सुतनु—सुतनु का अर्थ होता है—सुन्दर शरीर वाली। किन्तु विष्णुपुराण में उग्रसेन की एक पुत्री का नाम 'सुतनु' बताया गया है। संभव है, राजीमती का दूसरा नाम 'सुतनु' हो।[4]

भुत्तभोगा तओ पच्छा०—रथनेमि के द्वारा इन उद्गारों के कहने का तात्पर्य यह है कि 'मनुष्यजन्म अतीव दुर्लभ है। जब मनुष्यजन्म मिला ही है तो इसके द्वारा विषयसुखरूप फल का उपभोग कर लें। फिर भुक्तभोगी होने के बाद बुढ़ापे में जिनमार्ग—जिनोक्त मुक्तिपथ का सेवन कर लेंगे।'[5]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९३
२. 'भीता च मा कदाचिदसौ मम शीलभंगं विधास्यतीति कृत्वा सा बाहाहिं—बाहुभ्यां, कृत्वा संगोपं, परस्पर-बाहुगुम्फनं स्तनोपरिमर्कटबन्धमिति यावत्। तदाश्लेषादिपरिहारार्थम्, वेपमाना।' —वही, पत्र ४९४
३. वही, पत्र ४९४
४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ४९४, : सुतनु ! शब्द से राजीमती को सम्बोधित किया गया है।
   (ख) कंसा-कंसवती-सुतनु-राष्ट्रपालिकाह्वाश्चोग्रसेनस्य तनुजाः कन्याः। —विष्णुपुराण ४।१४।२१
५. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९४

असंभंता—राजीमती मन में आश्वस्त हो गई कि यह कुलीन है, इसलिए बलात् अकार्य में प्रवृत्त नहीं होगा, इस अभिप्राय से वह घबराई नहीं।[1]

धिरत्थु तेऽ जसोकामी—(१) हे अपयश के कामी! दुराचार की वांछा होने के कारण तुम्हारे पौरुष को धिक्कार है या (२) हे कामिन् भोगाभिलाषी! महाकुल में जन्म होने से प्राप्त यश को धिक्कार है।[2]

जीवियकारणा—असंयमी जीवन जीने के निमित्त से अथवा भोगवासनामय जीवन जीने के हेतु।[3]

वंतं इच्छसि आवेउं—तुम दीक्षाग्रहण करने के पश्चात् भी त्यागे हुए भोगों को पुनः भोगने को आतुर हो रहे हो।

दोनों के कुल का निर्देश—राजीमती ने अपने आपको भोजराजकुल की और रथनेमि को अन्धकवृष्णिकुल का बताया है, इस प्रकार कुल का स्मरण करा कर अकार्य में प्रवृत्त होने से रोका है।[4]

मा कुले गंधणा होमो—सर्प की दो जातियाँ होती हैं—गन्धन और अगन्धन। गन्धनकुल का सर्प किसी को डस लेने के बाद यदि मंत्रबल से बुलाया जाता है, तो वह आता है और अपने उगले हुए विष को पुनः चूस कर पी लेता है, किन्तु अगन्धनकुल का सर्प मंत्रबल से आता जरूर है, किन्तु वह मरना स्वीकार कर लेता है, मगर उगले हुए विष को पुनः चूस कर नहीं पीता।

विवेचन – सुभासियं—सुभाषित—ऐसा सुभाषित जो संवेगजनक था।[5]

अंकुसेण जहा नागो—जैसे अंकुश से हाथी पुनः यथास्थिति में आ जाता है। इस विषय में प्राचीन आचार्यों ने नूपुरपण्डित का आख्यान प्रस्तुत किया है—किसी राजा ने नूपुरपण्डित का आख्यान पढ़ा। उसे पढ़ते ही रुष्ट होकर उसने रानी, महावत और हाथी को मारने का विचार कर लिया। राजा ने इन तीनों को एक टूटे हुए पर्वतशिखर पर चढ़ा दिया और महावत को आदेश दिया कि इस हाथी को यहाँ से नीचे धकेल दो। निरुपाय महावत ने ज्यों ही हाथी को प्रेरणा दी कि हाथी क्रमशः अपने तीनों पैर आकाश की ओर उठा कर सिर्फ एक पैर से खड़ा हो गया, फिर भी राजा का रोष नहीं मिटा। नागरिकों को जब राजा के इस अकृत्य का पता चला तो उन्होंने राजा से प्रार्थना की—महाराज! चिन्तामणि के समान इस दुर्लभ हाथी को क्यों मरवा रहे हैं? बेचारे इस पशु का क्या अपराध है? इस पर राजा ने महावत से पूछा—क्या हाथी को वापस

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९४

२. (क) धिगस्तु ते—तव पौरुषमिति गम्यते, अयशःकामिन्निव अयशःकामिन्! दुराचारवाञ्छितया; यद्वा ते—तव यशो—महाकुलसंभवोद्भूतं धिगस्त्विति सम्बन्धः। कामिन्—भोगाभिलाषिन्!—बृहद्वृत्ति, पत्र ४९५

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९५

४. ...... अहम् ....भोजराजस्य उग्रसेनस्य, त्वं चासि अन्धकवृष्णेः कुले जात इत्युभयत्र शेषः। ....

—बृहद्वृत्ति, पत्र ४९५

५. बृहद्वृत्ति पत्र, ४९६

लौटा सकते हो? महावत ने कहा—अगर आप रानी को तथा मुझे अभयदान दें तो मैं वैसा कर सकता हूँ। राजा ने 'तथाऽस्तु' कहा। तब महावत ने अपने अंकुश से हाथी को धीरे-धीरे लौटा लिया। इसी तरह राजीमती ने भी संयम से पतित होने की भावना वाले रथनेमि को अहितकर पथ से धीरे-धीरे वचन रूपी अंकुश से लौटा कर चारित्रधर्म में स्थापित किया।[1]

रथनेमि पुनः संयम में दृढ़

४९. मणगुत्तो वयगुत्तो कायगुत्तो जिइन्दिओ।
सामण्णं निच्चलं फासे जावज्जीवं दढव्वओ॥

[४९] वह (रथनेमि) मन-वचन-काया से गुप्त, जितेन्द्रिय एवं महाव्रतों में दृढ़ हो गया तथा जीवनपर्यन्त निश्चलभाव से श्रामण्य का पालन करता रहा।

उपसंहार—

५०. उग्गं तवं चरित्ताणं जाया दोण्णि वि केवली।
सव्वं कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं॥

[५०] उग्र तप का आचरण करके दोनों ही केवलज्ञानी हो गए तथा समस्त कर्मों का क्षय करके उन्होंने अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की।

५१. एवं करेन्ति संबुद्धा पण्डिया पवियक्खणा।
विणियट्टन्ति भोगेसु जहा सो पुरिसोत्तमो॥
—त्ति बेमि।

[५१] सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष ऐसा ही करते हैं। पुरुषोत्तम रथनेमि की तरह वे भोगों से निवृत्त हो जाते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

दोण्णि वि····सिद्धिं पत्ता—रथनेमि और राजीमती दोनों केवली हुए और समस्त भवोपग्राही कर्मों का क्षय करके सर्वोत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त की।[2]

रथनेमि का संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त—सोरियपुर के राजा समुद्रविजय और रानी शिवादेवी के चार पुत्र थे—अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि। अरिष्टनेमि २२ वें तीर्थंकर अर्हन्त हुए, रथनेमि प्रत्येकबुद्ध हुए। भगवान् रथनेमि ४०० वर्ष तक गृहस्थपर्याय में, १ वर्ष छद्मावस्था में और ५०० वर्ष तक केवलीपर्याय में रहे। इनकी कुल आयु ९०१ वर्ष की थी। इतनी ही आयु तथा कालमान राजीमती का था।[3]

॥ रथनेमीय : बाईसवाँ अध्ययन समाप्त॥

---

१. (क) वही, पत्र ४९६ (ख) उत्त. प्रिय. टीका भा. ३, पृ. ८१२-८१३

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९६

३. निर्युक्ति गाथा, ४४३ से ४४७, बृहद्वृत्ति, पत्र ४९६

तेईसवाँ अध्ययन : केशी-गौतमीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत तेईसवें अध्ययन का नाम केशी-गौतमीय (केसि-गोयमिज्जं) है। इसमें पार्श्वापत्य केशी कुमारश्रमण और भगवान् महावीर के पट्टशिष्य गणधर गौतम (इन्द्रभूति) का जो संवाद श्रावस्ती नगरी में हुआ, उसका रोचक वर्णन है।

* जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर पुरुषादानीय भ. पार्श्वनाथ थे। उनका धर्मशासनकाल श्रमण भगवान् महावीर (२४ वें तीर्थंकर) से ढाई सौ वर्ष पूर्व का था।[1] भगवान् पार्श्वनाथ मोक्ष प्राप्त कर चुके थे, किन्तु उनके शासन के कई श्रमण और श्रमणोपासक विद्यमान थे। वे यदा-कदा श्रमण भगवान् महावीर से तथा उनके श्रमणों से मिलते रहते थे। भगवतीसूत्र आदि में ऐसे कई पार्श्वापत्य स्थविरों (कालास्यवैशिक, श्रमण गांगेय आदि) के उल्लेख आते हैं। वे विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में तत्त्वचर्चा करके उनके समाधान से सन्तुष्ट होकर अपनी पूर्वपरम्परा को त्याग कर भ. महावीर द्वारा प्ररूपित पंचमहाव्रतधर्म को स्वीकार करते हैं।[2] प्रस्तुत अध्ययन में भी वर्णन है कि केशी और गौतम की विभिन्न विषयों पर तत्त्वचर्चा हुई और अन्त में केशी श्रमण अपने शिष्यवृन्द सहित भ. महावीर के पंचमहाव्रतरूप धर्मतीर्थ में सम्मिलित हो जाते हैं।

* भ. पार्श्वनाथ की परम्परा के प्रथम पट्टधर आचार्य शुभदत्त, द्वितीय पट्टधर आचार्य हरिदत्त तथा तृतीय पट्टधर आचार्य समुद्रसूरि थे, इनके समय में 'विदेशी' नामक धर्मप्रचारक आचार्य उज्जयिनी नगरी में पधारे और उनके उपदेश से तत्कालीन महाराजा जयसेन, उनकी रानी अनंगसुन्दरी और राजकुमार केशी कुमार प्रतिबुद्ध हुए। तीनों ने दीक्षा ली। कहा जाता है कि इन्हीं केशी श्रमण ने श्वेताम्बिका नगरी के नास्तिक राजा प्रदेशी को समझाकर आस्तिक एवं दृढ़धर्मी बनाया था।[3]

* एक बार केशी श्रमण अपनी शिष्यमण्डली सहित विचरण करते हुए श्रावस्ती पधारे। वे तिन्दुक उद्यान में ठहरे। संयोगवश उन्हीं दिनों गणधर गौतम भी अपने शिष्यवर्गसहित विचरण करते हुए श्रावस्ती पधारे और कोष्ठक उद्यान में ठहरे। जब दोनों के शिष्य भिक्षाचरी, आदि को नगरी में जाते तो दोनों को दोनों परम्पराओं के क्रियाकलाप में प्रायः समानता और वेष में असमानता देखकर आश्चर्य तथा जिज्ञासा उत्पन्न हुई। दोनों के शिष्यों ने अपने-अपने गुरुजनों से कहा। अतः दोनों पक्ष के गुरुओं ने निश्चय किया कि हमारे पारस्पारिक मतभेदों तथा

---

१. 'पासजिणाओ य होइ वीर जिणो। अड्ढाइज्जसएहिं गएहिं चरिमो समुप्पन्नो॥'

— आवश्यकनिर्युक्ति मलय. वृत्ति, पत्र २४१

२. भगवतीसूत्र १।९, ५।९ ९।३२; सूत्रकृतांग २।७ अ.

३. नाभिनन्दनोद्धारप्रबन्ध — १३६

आचारभेदों के विषय में एक जगह बैठकर चर्चा कर ली जाए। केशी कुमारश्रमण पार्श्व-परम्परा के आचार्य होने के नाते गौतम से ज्येष्ठ थे, इसलिए गौतम ने विनयमर्यादा की दृष्टि से इस विषय में पहल की। वे अपने शिष्यसमूहसहित तिन्दुक उद्यान में पधारे, जहाँ केशी श्रमण विराजमान थे। गौतम को आए देख, केशी श्रमण ने उन्हें पूरा आदरसत्कार दिया, उनके बैठने के लिए पलाल आदि प्रस्तुत किया और फिर क्रमशः बारह प्रश्नोत्तरों में उनकी धर्मचर्चा चली।

※ सबसे मुख्य प्रश्न थे दोनों के परम्परागत महाव्रतधर्म, आचार और वेष में जो अन्तर था, उसके सम्बन्ध में। जो अचेलक-सचेलक तथा चातुर्याम-पंचमहाव्रतधर्म तथा वेष के अन्तर से सम्बन्धित थे। गौतम ने आचार-विचार अथवा धर्म एवं वेष के अन्तर का मूल कारण बताया—साधकों की प्रज्ञा। प्रथम तीर्थंकर के शासन के श्रमण ऋजुजड़ प्रज्ञावाले, द्वितीय से २३ वें तीर्थंकर (मध्यवर्ती) तक के श्रमण ऋजुप्राज्ञ बुद्धिवाले तथा अन्तिम तीर्थंकर के श्रमण वक्रजड़ प्रज्ञावाले होते हैं। इसी दृष्टि से भगवान् पार्श्वनाथ और भ. महावीर के मूल उद्देश्य—मोक्ष तथा उसके साधन—में (निश्चयदृष्टि से) सम्यग्दर्शनादि में समानता होते हुए भी व्यवहार-नय की दृष्टि से त्याग, तप, संयम आदि के आचरण में विभिन्नता है। देश, काल, पात्र के अनुसार यह भेद होना स्वाभाविक है। बाह्य आचार और वेष का प्रयोजन तो सिर्फ लोक-प्रत्यय है। बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार भ. महावीर ने देशकालानुसार धर्मसाधना का व्यावहारिक विशुद्ध रूप प्रस्तुत किया है। वे आज के फैले हुए घोर अज्ञानान्धकार में दिव्य-प्रकाश करने वाले जिनेन्द्रसूर्य हैं।[1]

※ इसके पश्चात् केशी कुमार द्वारा शत्रुओं, बन्धनों, लता, अग्नि, दुष्ट अश्व, मार्ग-कुमार्ग, महाद्वीप, नौका आदि रूपकों को लेकर आध्यात्मिक विषयों के सम्बन्ध में पूछे जाने पर गौतमस्वामी ने उन सब का समुचित उत्तर दिया।

※ अन्त में—लोक में दिव्यप्रकाशक तथा ध्रुव एवं निराबाधस्थान (निर्वाण) के विषय में केशी कुमार ने प्रश्न किये, जिनका गौतम स्वामी ने युक्तिसंगत उत्तर दिया।[2]

※ गौतमस्वामी द्वारा दिये गए समाधान से केशी कुमारश्रमण सन्तुष्ट और प्रभावित हुए। उन्होंने गौतमस्वामी को संशयातीत एवं सर्वश्रुतमहोदधि कह कर उनकी प्रज्ञा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है तथा कृतज्ञताप्रकाशनपूर्वक मस्तक झुका कर उन्हें वन्दन-नमन किया। इतना ही नहीं, केशी कुमार ने अपने शिष्यों सहित हार्दिक श्रद्धापूर्वक भ. महावीर के पंचमहाव्रतरूप धर्म को स्वीकार किया है। वास्तव में इस महत्त्वपूर्ण परिसंवाद से युग-युग के सघन संशयों और उलझे हुए प्रश्नों का यथार्थ समाधान प्रस्तुत हुआ है।

※ अन्त में—इस संवाद की फलश्रुति दी गई है कि इस प्रकार के पक्षपातमुक्त, समत्वलक्षी

---

१. उत्तराध्ययन मूलपाठ अ. २३, गा. १ से १० तक
२. उत्तरा. मूलपाठ अ. २३, गा. ११ से ८४ तक

परिसंवाद से श्रुत और शील का उत्कर्ष हुआ, महान् प्रयोजनभूत तत्त्वों का निर्णय हुआ। इस धर्मचर्चा से सारी सभा सन्तुष्ट हुई।

* अन्तिम गाथा में जो प्रशस्ति दी गई है, वह अध्ययन के रचनाकार की दृष्टि से दी गई प्रतीत होती है।

* वस्तुतः समदर्शी तत्त्वद्रष्टाओं का मिलन, निष्पक्ष चिन्तन एवं परिसंवाद बहुत ही लाभप्रद होता है। वह जनचिन्तन को सही मोड़ देता है, युग के बदलते हुए परिवेष में धर्म और उसके आचार-विचार एवं नियमोपनियमों को यथार्थ दिशा प्रदान करता है, जिससे साधकों का आध्यात्मिक विकास निराबाधरूप से होता रहे। संघ एवं धार्मिक साधकवर्ग की व्यवस्था सुदृढ़ बनी रहे।[1] □□

---

१. उत्तरा. मूलपाठ अध्याय २३, गाथा ८५ से ८९ तक

तेविंसइमं अज्झयणं : तेईसवाँ अध्ययन

केसि-गोयमिज्जं : केशि-गौतमीय

पार्श्व जिन और उनके शिष्य केशी श्रमण : संक्षिप्त परिचय

१. जिणे पासे त्ति नामेण अरहा लोगपूइओ ।
संबुद्धप्पा य सव्वन्नू धम्मतित्थयरे जिणे ।।

[१] पार्श्व (नाथ) नामक जिन, अर्हन्, लोकपूजित, सम्बुद्धात्मा, सर्वज्ञ, धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक और रागद्वेषविजेता (वीतराग) थे ।

२. तस्स लोगपईवस्स आसि सीसे महायसे ।
केसी कुमार—समणे विज्जा-चरण—पारगे ।।

[२] उन लोकप्रदीप भगवान् पार्श्वनाथ के विद्या (—ज्ञान) और चरण (—चारित्र) में में पारगामी एवं महायशस्वी शिष्य 'केशी कुमारश्रमण' थे ।

३. ओहिनाण-सुए बुद्धे सीससंघ—समाउले ।
गामाणुगामं रीयन्ते सावत्थिं नगरिमागए ।।

[३] वे अवधिज्ञान और श्रुतसम्पदा (श्रुत ज्ञान) से प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ) थे । वे अपने शिष्यसंघ से समायुक्त हो कर ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए श्रावस्ती नगरी में आए ।

४. तिन्दुयं नाम उज्जाणं तम्मी नगरमण्डले ।
फासुए सिज्जसंथारे तत्थ वासमुवागए ।।

[४] उस नगर के निकट तिन्दुक नामक उद्यान में, जहाँ प्रासुक (-जीवरहित) और एषणीय शय्या (आवासस्थान) और संस्तारक (पीठ, फलक—पट्टा, पटिया, आदि आसन) सुलभ थे, वहाँ निवास किया ।

विवेचन—**अरहा**—अर्हन्—अर्थ—पूजा के योग्य तीर्थंकर ।

लोकपूजित तीनों लोकों के द्वारा पूजित—सेवित ।[1]

संबुद्धप्पा सव्वण्णू—संबुद्धात्मा—जिसकी आत्मा सम्यक् प्रकार से तत्त्वज्ञ हो चुकी थी, ऐसा तत्त्वज्ञ छद्मस्थ भी हो सकता है, इसीलिए दूसरा विशेषण दिया है—सव्वण्णू, अर्थात्—सर्वज्ञ, समस्त लोकालोकस्वरूप के ज्ञाता ।[2]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९८

२. 'संबुद्धप्पा—तत्त्वावबोधयुक्तात्मा, एवंविधश्छद्मस्थोऽपि स्यादत आह—सव्वण्णू—सर्वज्ञः—सकललोकालोकस्वरूपज्ञानसम्पन्नः ।' —उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ८२०

लोगपईवस्स : अर्थ—लोकान्तर्गत समस्त वस्तुओं के प्रकाशक होने से प्रदीप के समान ।[1]

केसी कुमारसमणे—(१) कुमारावस्था अर्थात् अपरिणीत अवस्था में चारित्र ग्रहण करके बने हुए श्रमण । (२) अथवा केशी कुमार नामक श्रमण—तपस्वी ।[2]

नयरमंडलो : नगरमण्डले—(१) नगर के निकट या नगर के परिसर में ।

सी संघसमाउलो—शिष्यों के समूह से परिवृत-समायुक्त ।[3]

'जिणे' के द्वितीय बार प्रयोग का प्रयोजन—प्रस्तुत प्रथम गाथा में 'जिन' शब्द का दो बार प्रयोग विशेष प्रयोजन से हुआ है । द्वितीय बार प्रयोग भगवान् पार्श्वनाथ का मुक्तिगमन सूचित करने के लिए हुआ है, इसलिए यहाँ जिन का अर्थ है—जिन्होंने समस्त कर्मशत्रुओं को जीत लिया था, वह । अर्थात्—उस समय भगवान् महावीरस्वामी चौवीसवें तीर्थंकर के रूप में साक्षात् विचरण करते थे, भगवान् पार्श्वनाथ मोक्ष पहुँच चुके थे ।[4]

भगवान् महावीर और उनके शिष्य गौतम : संक्षिप्त-परिचय

५. अह तेणेव कालेणं धम्मतित्थयरे जिणे ।
भगवं वद्धमाणो त्ति सव्वलोगम्मि विस्सुए ।।

[५] उसी समय धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक, जिन (रागद्वेषविजेता) भगवान् वर्धमान (महावीर) विद्यमान थे, जो समग्र लोक में प्रख्यात थे ।

६. तस्स लोगपईवस्स आसि सीसे महायसे ।
भगवं गोयमे नामं विज्जा—चरणपारगे ।।

[६] उन लोक-प्रदीप (भगवान्) वर्धमान स्वामी के विद्या (ज्ञान) और चारित्र के पारगामी, महायशस्वी भगवान् गौतम (इन्द्रभूति) नामक शिष्य थे ।

७. बारसंगविऊ बुद्धे सीस-संघ-समाउले ।
गामाणुगामं रीयन्ते से वि सावत्थिमागए ।।

[७] वे बारह अंगों (श्रुत-द्वादशांगी) के ज्ञाता और प्रबुद्ध गौतम भी शिष्यवर्ग सहित ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती नगरी में आए ।

८. कोट्ठगं नाम उज्जाणं तम्मी नयरमण्डले ।
फासुए सिज्जसंथारे तत्थ वासमुवागए ।।

---

१. 'लोके तद्गतसमस्तवस्तु प्रकाशकतया प्रदीप इव लोकप्रदीपस्तस्य ।'—, उत्तरा. प्रिय दर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ८८८

२. (क) कुमारो हि अपरिणीततया कुमारत्वेन एव श्रमणः संगृहीतचारित्रः कुमारश्रमणः ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ४९८

(ख) कुमारोऽपरिणीततया, श्रमणश्च तपस्वितया, बालब्रह्मचारी अत्युग्रतपस्वी चेत्यर्थः ।
—उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ८८९

३. शिष्यसंघसमाकुलः—शिष्यवर्गसहितः । —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९८

४. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९८

[८] (उन्होंने भी) उस नगर के परिसर (बाह्यप्रदेश) में कोष्ठक नामक उद्यान में जहाँ प्रासुक शय्या (आवासस्थान) और संस्तारक सुलभ थे, वहाँ निवास किया (ठहर गए)।

विवेचन—गोयमे—भगवान् महावीरस्वामी के पट्टशिष्य प्रथम गणधर इन्द्रभूति थे। ये गौतमगोत्रीय थे। आगमों में यत्र-तत्र 'गौतम' नाम से ही इनका उल्लेख हुआ है, जैनजगत् में ये 'गौतमस्वामी' नाम से विख्यात हैं।[1]

कोट्ठगं : कुट्ठगं—बृहद्वृत्तिकार के अनुसार 'क्रोष्टुक' रूप है और अन्य टीकाओं में 'कोष्ठक' रूप मिलता है। केशी कुमारश्रमण और गौतम गणधर दोनों अपने-अपने शिष्यसमुदाय सहित श्रावस्ती नगरी के निकटस्थ बाह्यप्रदेश में ठहरे थे। आवास अलग-अलग उद्यानों में था। केशी कुमारश्रमण का आवास था—तिन्दुक उद्यान में और गौतमस्वामी का था—कोष्ठक उद्यान में। सम्भव है, दोनों उद्यान पास-पास ही हों।[2]

दोनों के शिष्यसंघों में धर्मविषयक अन्तर-संबंधी शंकाएँ

९. केसी कुमार—समणे गोयमे य महायसे।
उभओ वि तत्थ विहरिंसु अल्लीणा सुसमाहिया॥

[९] केशी कुमारश्रमण और महायशस्वी गौतम, दोनों ही वहाँ (श्रावस्ती में) विचरते थे। दोनों ही आलीन (-आत्मलीन) और सुसमाहित (सम्यक् समाधि से युक्त) थे।

१०. उभओ सीससंघाणं संजयाणं तवस्सिणं।
तत्थ चिन्ता समुप्पन्ना गुणवन्ताण ताइणं॥

[१०] उस श्रावस्ती में संयमी, तपस्वी, गुणवान् (ज्ञान-दर्शन-चारित्रगुणसम्पन्न) और षट्काय के संरक्षक (त्रायी) उन दोनों (केशी कुमारश्रमण तथा गौतम) के शिष्य संघों में यह चिन्तन उत्पन्न हुआ—

११. केरिसो वा इमो धम्मो? इमो धम्मो व केरिसो?।
आयारधम्मपणिही इमा वा सा व केरिसी?॥

[११] (हमारे द्वारा पाला जाने वाला) यह (महाव्रतरूप) धर्म कैसा है? (और इनके द्वारा पालित) यह (महाव्रतरूप) धर्म कैसा है? आचारधर्म की प्रणिधि (व्यवस्था) यह (हमारी) कैसी है? और (उनकी) कैसी है?

१२. चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी॥

[१२] यह चातुर्यामधर्म है, जो महामुनि पार्श्व द्वारा प्रतिपादित है और यह पंच-शिक्षात्मक धर्म है, जिसका प्रतिपादन महामुनि वर्द्धमान ने किया है।

---

१. उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ४९९

२. (क) क्रोष्टुकं नाम उद्यानम्,
(ख) कोष्ठकं नाम उद्यानं। —उत्तरा. (विवेचन मुनि नथमल) भा. १, पृ. ३०३, बृ. वृत्ति, पत्र ४९९

१३. अचेलगो य जो धम्मो जो इमो सन्तरुत्तरो।
एगकज्ज—पवन्नाणं विसेसे किं नु कारणं ? ।।

[१३] (वर्द्धमान-महावीर द्वारा प्रतिपादित) यह जो अचेलकधर्म है और यह जो (भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा प्ररूपित) सान्तरोत्तर धर्म है, एक ही कार्य (मुक्तिरूप कार्य) में प्रवृत्त हुए इन दोनों में विशेष भेद का क्या कारण है ?

विवेचन—अल्लीणा—(१) आलीन—आत्मा में लीन, (२) अलीन—मन-वचन-कायगुप्तियों से युक्त या गुप्त ।[1]

दोनों के शिष्यसंघों में चिन्तन क्यों और कब उठा ?—दोनों के शिष्यवृन्द जब भिक्षाचर्या आदि के लिए गमनागमन करते थे, तब एक दूसरे के वेष, क्रियाकलाप और आचार-विचार को देख कर उनके मन में विचार उठे, शंकाएँ उत्पन्न हुईं कि हम दोनों के धर्म-प्रवर्त्तकों (तीर्थंकरों) का उद्देश्य तो एक ही है मुक्ति प्राप्त करना। फिर क्या कारण है कि हम दोनों के द्वारा गृहीत महाव्रतों में अन्तर है ? अर्थात्—हमारे तीर्थंकर (भ. वर्धमान) ने पांच महाव्रत बताए हैं और इनके तीर्थंकर (भ. पार्श्वनाथ) ने चातुर्याम (चार महाव्रत) ही बताए हैं ? और फिर इनके वेष और हमारे वेष में भी अन्तर क्यों है ?[2]

आयारधम्मपणिही : विशेषार्थ—आचार का अर्थ है—आचरण अर्थात्—वेषधारण आदि बाह्यक्रियाकलाप, वही धर्म है, क्योंकि वह भी आत्मशुद्धि या ज्ञान-दर्शन-चारित्र के विकास का साधन बनता है, अथवा सुगति में आत्मा को पहुँचाता है, इसलिए धर्म है। प्रणिधि का अर्थ है—व्यवस्थापन। समग्र पंक्ति का अर्थ हुआ—बाह्यक्रियाकलापरूप धर्म की व्यवस्था।[3]

चाउज्जामो य जो धम्मो—चातुर्यामरूप (चार महाव्रतवाला) साधुधर्म जिसे महामुनि पार्श्वनाथ ने बताया है। चातुर्याम धर्म इस प्रकार है—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) चौर्यत्याग और (४) बहिर्द्धादानत्याग। भगवान् पार्श्वनाथ ने ब्रह्मचर्यमहाव्रत को परिग्रह (बाह्य वस्तुओं के आदान—ग्रहण) के त्याग (विरमण) में इसलिए समाविष्ट कर दिया था कि उन्होंने 'मैथुन' को परिग्रह के अन्तर्गत माना था। स्त्री को परिगृहीत किये बिना मैथुन कैसे होगा ? इसीलिए शब्दकोष में 'पत्नी' को 'परिग्रह' भी कहा गया है। इस दृष्टि से पार्श्वनाथ तीर्थंकर ने साधु के लिए ब्रह्मचर्य को अलग से महाव्रत न मानकर अपरिग्रहमहाव्रत में ही समाविष्ट कर दिया था।

---

१. (क) उत्तरा. (अनुवाद, विवेचन, मुनि नथमलजी) भा. १, पृ. ३०४
(ख) 'अलीनौ मन-वचन-कायगुप्तिष्वाश्रितौ'। —बृहद्वृत्ति, पत्र ४९९

२. '.........भिक्षाचर्यादौ गमनागमनं कुर्वतां शिष्यसंघानां परस्परावलोकनात् विचारः समुत्पन्नः।'
—उत्तरा. प्रियदर्शिनी भा. ३, पृ. ८९४

३. आचारो वेषधारणादिको बाह्यः क्रियाकलापः, स एव धर्मः, तस्य व्यवस्थापनम्-आचारधर्मप्रणिधिः।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ४९९

पंचसिक्खिओ : पंचमहाव्रत स्थापना का रहस्य—(१) पंचशिक्षित, (महावीर ने)—पंचमहाव्रतों के द्वारा शिक्षित—प्रकाशित किया, अथवा (२) पंचशिक्षिक—पांच शिक्षाओं में होने वाला—पंचशिक्षिक अर्थात् पंचमहाव्रतात्मक। पांच महाव्रत ये हैं—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अचौर्य, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह। मालूम होता है, पार्श्वनाथ भगवान् के मोक्षगमन के पश्चात् युग-परिवर्तन के साथ कुछ कुतर्क उठे होंगे कि स्त्री को विधिवत् परिगृहीत किये बिना भी उसकी प्रार्थना पर उसकी रजामंदी से यदि समागम किया जाए तो क्या हानि है? अपरिगृहीता से समागम का तो निषेध है ही नहीं? सूत्रकृतांगसूत्र में भी तीन गाथाएं ऐसी मिलती हैं, जिनमें ऐसी ही कुयुक्तियों सहित एक मिथ्या मान्यता प्रस्तुत की गई है। सूत्रकृतांग में इन्हें पार्श्वस्थ और वृत्तिकार शीलांकाचार्य ने इन्हें 'स्वयूथिक' भी बताया है। इन सब कुतर्कों, कुयुक्तियों और मिथ्या मान्यताओं का निराकरण करने हेतु भ. महावीर ने 'ब्रह्मचर्य' को पृथक् चतुर्थ महाव्रत के रूप में स्थान दिया।[1]

अचेलगो य जो धम्मो—(१) अचेलक—वह धर्म-साधना, जिसमें बिलकुल ही वस्त्र न रखा जाता हो अथवा (२) अचेलक—जिसमें अल्प मूल्य वाले, जीर्णप्राय एवं साधारण—प्रमाणोपेत श्वेत-वस्त्र रखे जाते हों। 'अ' का अर्थ अभाव भी है और अल्प भी। जैसे—'अनुदरा कन्या' का अर्थ—बिना पेट वाली कन्या नहीं, अपितु अल्प-कृश उदर वाली कन्या होता है।

आचारांग, उत्तराध्ययन आदि आगमों में साधना के इन दोनों रूपों का उल्लेख है। विष्णुपुराण में भी जैन मुनियों के निर्वस्त्र और सवस्त्र, इन दोनों रूपों का उल्लेख मिलता है। प्रस्तुत में भी 'अचेलक' शब्द के द्वारा इन दोनों अर्थों को ध्वनित किया गया है। यह अचेलकधर्म भ. महावीर द्वारा प्ररूपित है।[2]

जो इमो संतरुत्तरो : तीन अर्थ—यह सान्तरोत्तर धर्म भ. पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित है। इसमें 'सान्तर' और 'उत्तर' ये दो शब्द हैं। जिनके तीन अर्थ विभिन्न आगम वृत्तियों में मिलते हैं—(१) बृहद्वृत्तिकार के अनुसार—सान्तर का अर्थ—विशिष्ट अन्तर यानी प्रधान सहित है और उत्तर का अर्थ है—नाना वर्ण के बहुमूल्य और प्रलम्ब वस्त्र से सहित, (२) आचारांगसूत्र की वृत्ति के अनुसार—सान्तर का अर्थ है—विभिन्न अवसरों पर तथा उत्तर का अर्थ है—प्रावरणीय। तात्पर्य यह है कि मुनि अपनी आत्मशक्ति को तोलने के लिए कभी वस्त्र का उपयोग करता है और कभी शीतादि की आशंका से केवल पास में रखता है। (३) ओघनिर्युक्तिवृत्ति, कल्पसूत्रचूर्णि आदि में वर्षा आदि प्रसंगों में सूती वस्त्र को भीतर और ऊपर में ऊनी वस्त्र ओढ़ कर भिक्षा आदि के लिए जाने वाला।

---

१. (क) 'बहिद्धाणाओ वेरमणं—बहिस्ताद् आदानविरमणं।' (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ४९९

(ग) नो अपरिग्गहियाए इत्थीए, जेण होई परिभोगो।
ता तव्विरई इच्चअ अबंभविरइ त्ति पन्नाणं॥ —कल्पसमर्थनम् गा. १५

(घ) सूत्रकृतांग १, ३, ४। १०-११-१२

२. (क) अचेलं मानोपेतं धवलं जीर्णप्रायं, अल्पमूल्यं वस्त्रं धारणीयमिति वर्द्धमानस्वामिना प्रोक्तम्, असत् इव चेलं यत्र स अचेलः, अचेल एव अचेलकः, यत् वस्त्रं सदपि असदिव तद् धार्यमित्यर्थः।

(ख) 'दिग्वाससामयं धर्मो, धर्मोऽयं बहुवाससाम्।' —विष्णुपुराण अंश ३, अध्याय १८, श्लोक १०

सान्तरोत्तर का शब्दानुसारी प्रतिध्वनित अर्थ—अन्तर—अन्तरीय (अधोवस्त्र) और उत्तर—उत्तरीय ऊपर का वस्त्र भी किया जा सकता है।[1]

दोनों की तुलना में इस गाथा का आशय—भगवान् महावीर ने अचेल या अल्प चेल (केवल श्वेत प्रमाणोपेत जीर्णप्राय अल्पमूल्य वस्त्र) वाले धर्म का प्रतिपादन किया है, जब कि भगवान् पार्श्वनाथ ने सचेल (प्रमाण और वर्ण की विशेषता से विशिष्ट तथा बहुमूल्य वस्त्र वाले) धर्म का प्रतिपादन किया है।[2]

दोनों का परस्पर मिलन : क्यों और कैसे ?

१४. अह ते तत्थ सीसाणं विन्नाय पवितक्कियं।
समागमे कयमई उभओ केसि-गोयमा॥

[१४] (अपने-अपने शिष्यों को पूर्वोक्त शंका उत्पन्न होने पर) केशी और गौतम दोनों ने शिष्यों के वितर्क-(शंका से) युक्त (विचारविमर्श) जान कर परस्पर वहीं (श्रावस्ती में ही) मिलने का विचार किया।

१५. गोयमे पडिरूवन्नू सीससंघ—समाउले।
जेट्ठं कुलमवेक्खन्तो तिन्दुयं वणमागओ॥

[१५] यथोचित् विनयमर्यादा के ज्ञाता (प्रतिरूपज्ञ) गौतम, केशी श्रमण के कुल को ज्येष्ठ जान कर अपने शिष्यसंघ के साथ तिन्दुक वन (उद्यान) में आए।

१६. केसी कुमार—समणे गोयमं दिस्समागयं।
पडिरूवं पडिवत्तिं सम्मं संपडिवज्जई॥

[१६] गौतम को आते हुए देख कर केशी कुमारश्रमण ने सम्यक् प्रकार से (प्रतिरूप प्रतिपत्ति) उनके अनुरूप (योग्य) आदरसत्कार किया।

---

१. (क) सह अन्तरेण उत्तरेण प्रधान-बहुमूल्येन नानावर्णेन प्रलम्बेन वस्त्रेण यः वर्त्तते, स सान्तरोत्तरः।

—बृहद्वृत्ति, पत्र ५००

(ख) 'सान्तरमुत्तरं प्रावरणीयं यस्य स तथा, क्वचित् प्रावृणोति, क्वचित् पार्श्ववर्त्ति विभर्त्ति शीताशंकया नाऽद्यापि परित्यजति। आत्मपरितुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सान्तरोत्तरो भवेत्।

—आचारांग १।८।४।५१ वृत्ति, पत्र २५२

(ग) ओघनिर्युक्ति गा. ७२६ वृत्ति, कल्पसूत्रचूर्णि, पत्र २५६
उत्तराध्ययन (अनुवाद टिप्पण साध्वी चन्दना) पृ. ४४२

२. 'अचेलकओ' उक्तन्यायेनाविद्यमानचेलकः कुत्सितचेलको वा यो धर्मो वर्धमानेन देशित इत्यपेक्ष्यते, तथा 'जो इमो' त्ति पूर्ववद् यश्चायं सान्तराणि—वर्धमानस्वामिसत्क-यतिवस्त्रापेक्षया कस्यचित् कदाचिन्मान-वर्ण-विशेषतो विशेषितानि उत्तराणि च महाधनमूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमाद् वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरो धर्मः पार्श्वेन देशित इतीहापेक्ष्यते। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५००

१७. पलालं फासुयं तत्थ पंचमं कुसतणाणि य ।
गोयमस्स निसेज्जाए खिप्पं संपणामए ॥

[१७] गौतम को बैठने के लिए उन्होंने तत्काल प्रासुक पयाल (चार प्रकार के अनाजों के पराल—घास) तथा पांचवाँ कुश-तृण समर्पित किया (प्रदान किया) ।

१८. केसी कुमार—समणे गोयमे य महायसे ।
उभओ निसण्णा सोहन्ति चन्द-सूर-समप्पभा ॥

[१८] कुमारश्रमण केशी और महायशस्वी गौतम दोनों (वहाँ) बैठे हुए चन्द्र और सूर्य के समान (प्रभासम्पन्न) सुशोभित हो रहे थे ।

१९. समागया बहू तत्थ पासण्डा कोउगा मिगा ।
गिहत्थाणं अणेगाओ साहस्सीओ समागया ॥

[१९] वहाँ कौतूहल की दृष्टि से अनेक अबोधजन, अन्य धर्म-सम्प्रदायों के बहुत-से पाषण्ड-परिव्राजक आए और अनेक सहस्र गृहस्थ भी आ पहुँचे थे ।

२०. देव-दाणव-गन्धव्वा जक्ख-रक्खस-किन्नरा ।
अदिस्साणं च भूयाणं आसी तत्थ समागमो ॥

[२०] देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर और अदृश्य भूतों का वहाँ अद्भुत समागम (मेला-सा) हो गया ।

विवेचन—पडिरूवन्नू : प्रतिरूपज्ञ—जो यथोचित विनयव्यवहार को जानता है, वह ।[1]

जेट्ठं कुलमविक्खंतो—पार्श्वनाथ भगवान् का कुल (अर्थात्—सन्तान) पहले होने से ज्येष्ठ—वृद्ध है, इसका विचार करके गौतमस्वामी ने अपनी ओर से केशी कुमारश्रमण से मिलने की पहल की और तिन्दुक वन में जहाँ केशी श्रमण विराजमान थे, वहाँ आ गए ।[2]

पलालं फासुयं०—साधुओं के बिछाने योग्य प्रासुक (अचित्त और एषणीय) पलाल (अनाज को कूट कर उसके दाने निकाल लेने के बाद बचा हुआ घास—तृण) प्रवचनसारोद्धार के अनुसार पांच प्रकार के हैं—(१) शाली (कलमशाली आदि विशिष्ट चावलों) का पलाल, (२) व्रीहिक (साठी चावल आदि) का पलाल, (३) कोद्रव (कोदों धान्य) का पलाल, (४) रालक (कंगू या कांगणी) का पलाल और (५) अरण्यतृण (-श्यामाक-सांवा चावल आदि) का पलाल । उत्तराध्ययन में पांचवाँ कुश का तृण (घास) माना गया है ।[3]

---

१. 'प्रतिरूपो यथोचितविनयः, तं जानातीति प्रतिरूपज्ञः ।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५००

२. ''''''''ज्येष्ठं कुलमपेक्ष्यमाणः, ज्येष्ठं-वृद्धं प्रथमभवनात् पार्श्वनाथस्य, कुलं-सन्तानं विचारयत इत्यर्थः ।
—वही, पत्र ५००

३. तणपणगं पन्नत्तं जिणेहिं कम्मट्ठगंठिमहणेहिं ।
साली वीही कोद्दव, रालया रण्णे तणाइं च ॥
इति वचनात् चत्वारि पलालानि साधुप्रस्तरणयोग्यानि । पंचमं तु दर्भादि प्रासुकं तृणं ।
—प्रवचनसारोद्धार गा. ६७५, बृहद्वृत्ति, पत्र ५०१

पासंडा—'पाषण्ड' शब्द का अर्थ यहाँ घृणावाचक पाखण्डी (ढोंगी, धर्मध्वजी) नहीं, किन्तु अन्यमतीय परिव्राजक या श्रमण अथवा व्रतधारी (स्वसम्प्रदाय प्रचलित आचार-विचारधारी) होता है। बृहद्‌वृत्तिकार के अनुसार 'पाषण्ड' का अर्थ अन्यदर्शनी परिव्राजकादि है।[1]

अदिस्साणं च भूयाणं—अदृश्य भूतों से यहाँ आशय है ऐसे व्यन्तर देवों से जो क्रीड़ापरायण होते हैं।[2]

प्रथम प्रश्नोत्तर : चातुर्यामधर्म और पंचमहाव्रतधर्म में अन्तर का कारण

२१. पुच्छामि ते महाभाग ! केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी॥

[२१] केशी ने गौतम से कहा—'हे महाभाग ! मैं आप से (कुछ) पूछना चाहता हूँ।' केशी के ऐसा कहने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

२२. पुच्छ भन्ते ! जहिच्छं ते केसिं गोयममब्बवी।
तओ केसी अणुन्नाए गोयमं इणमब्बवी॥

[२२] 'भंते ! जैसी भी इच्छा हो, पूछिए।' अनुज्ञा पा कर तब केशी ने गौतम से इस प्रकार कहा—

२३. चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी॥

[२३] "जो यह चातुर्याम धर्म है, जिसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्वनाथ ने किया है, और यह जो पंचशिक्षात्मक धर्म है, जिसका प्रतिपादन महामुनि वर्धमान ने किया है।'

२४. एगकज्जपवन्नाणं विसेसे किं नु कारणं ?।
धम्मे दुविहे मेहावि ! कहं विप्पच्चओ न ते ?॥

[२४] 'मेधाविन् ! दोनों जब एक ही उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हुए हैं, तब इस विभेद (अन्तर) का क्या कारण है ? इन दो प्रकार के धर्मों को देखकर तुम्हें विप्रत्यय (—सन्देह) क्यों नहीं होता ?'

२५. तओ केसिं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी।
पन्ना समिक्खए धम्मं तत्तं तत्तविणिच्छयं॥

[२५] केशी के इस प्रकार कहने पर गौतम ने यह कहा—तत्त्वों (जीवादि तत्त्वों) का जिसमें विशेष निश्चय होता है, ऐसे धर्मतत्त्व की समीक्षा प्रज्ञा करती है।

---

१. (क) पाषण्डं-व्रतं, तद्योगात् पाषण्डाः, शेषव्रतिनः। —बृहद्‌वृत्ति, पत्र ५०१
(ख) अशोक सम्राट् का १२ वां शिलालेख।
(ग) 'अन्यदर्शिनः परिव्राजकादयः।' —उत्तरा. वृत्ति, अभिधानराजेन्द्र को. भा. ३, पृ. ९६१

२. अदृश्यानां भूतानां केलीकिलव्यन्तराणाम्। —उत्तरा. वृत्ति, अभि. रा. को. भा. ३, पृ. ९६१

२६. पुरिमा उज्जुजडा उ वंकजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना य तेण धम्मे दुहा कए॥

[२६] प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु (सरल) और जड़ (मन्दमति) होते हैं, अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र और जड़ होते हैं, (जबकि) वीच के २२ तीर्थंकरों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते हैं। इसीलिए धर्म के दो प्रकार किये गए हैं।

२७. पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु सुविसोज्झो सुपालओ॥

[२७] प्रथम तीर्थंकर के साधुओं द्वारा कल्प—साध्वाचार दुर्विशोध्य (अत्यन्त कठिनता से निर्मल किया जाता) था, अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं द्वारा साध्वाचार (कल्प) का पालन करना कठिन है, किन्तु वीच के २२ तीर्थंकरों के साधकों द्वारा कल्प (साध्वाचार) का पालन करना सुकर (सरल) है।

विवेचन—धर्म का निर्णय प्रज्ञा पर निर्भर—केशी कुमारश्रमण ने जब गौतम से दोनों तीर्थंकरों के धर्म में अन्तर का कारण पूछा तो उन्होंने कारण का मूलसूत्र बता दिया कि 'धर्मतत्त्व का निश्चय प्रज्ञा करती है।' तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय के साधुओं और भगवान् महावीर के साधुओं की प्रज्ञा (सद्-असद्विवेकशालिनी वुद्धि) में महान् अन्तर है। अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं की वुद्धि वक्रजड़ है, वुद्धि वक्र होने के कारण प्रतिवोध के समय तर्क-वितर्क और विकल्पों का वाहुल्य उसमें होता है, जिससे साधुओं के आचार (महाव्रतादि) को वह जान-समझ लेती है, किन्तु उसका पालन करने में कदाग्रही होने से उनकी वुद्धि कुतर्क-कुविकल्पजाल में फंस कर जड़ (वहीं ठप्प) हो जाती है। इसीलिए उनके लिए पंचमहाव्रत रूप धर्म वताया गया है। जवकि दूसरे तीर्थंकर से लेकर भगवान् पार्श्वनाथ तक (मध्यवर्ती वाईस तीर्थंकरों) के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं। वे आसानी से साधु-धर्म के तत्त्व को ग्रहण भी कर लेते हैं और वुद्धिमत्ता से उसका पालन भी कर लेते हैं। यही कारण है कि भ. पार्श्वनाथ ने उन्हें चातुर्यामरूप धर्म वताया। फिर भी वे परिग्रहत्याग के अन्तर्गत स्त्री के प्रति आसक्ति एवं वासना को या कामवासना को आभ्यन्तर परिग्रह समझ कर उसका त्याग करते थे। प्रथम तीर्थंकर के साधु सरल, किन्तु जड़ होते थे, वे साधुधर्म के तत्त्व को या शिक्षा को कदाचित् सरलता से ग्रहण कर लेते, किन्तु जड़वुद्धि होने के कारण उसी धर्मतत्त्व के दूसरे पहलू में गड़वड़ा जाते। इसलिए उनके द्वारा साधुधर्माचार को शुद्ध रख पाना कठिन होता था।

तात्पर्य यह है कि धर्मतत्त्व का निश्चय केवल श्रवणमात्र से नहीं होता, अपितु प्रज्ञा से होता है। जिसकी जैसी प्रज्ञा होती है, वह तदनुसार धर्मतत्त्व का निश्चय करता है। भगवान् महावीर के युग में अधिकांश साधकों की वुद्धि प्रायः वक्रजड़ होने से ही उन्होंने पंचमहाव्रतरूप धर्म वताया है। जवकि भ. पार्श्वनाथ के साधुओं की वुद्धि ऋजुप्राज्ञ होने से चार महाव्रत कहने से ही काम चल गया।[1]

---

१. (क) उत्तरा. वृहद्वृत्ति, पत्र ५०२
(ख) अभिधानराजेन्द्रकोश भा. ३ 'गोतमकेसिज्ज' शब्द, पृ. ९६१

द्वितीय प्रश्नोत्तर : अचेलक और विशिष्टचेलक धर्म के अन्तर का कारण

२८. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

[२८] (कुमारश्रमण केशी)—हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय मिटा दिया, किन्तु गौतम ! मुझे एक और सन्देह है, उसके विषय में भी मुझे कहिए।

२९. अचेलगो य जो धम्मो जो इमो सन्तरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महाजसा ॥

[२९] यह जो अचेलक धर्म है, वह वर्द्धमान ने बताया है और यह जो सान्तरोत्तर (जो वर्णादि से विशिष्ट एवं बहुमूल्य वस्त्र वाला) धर्म है, वह महायशस्वी पार्श्वनाथ ने बताया है।

३०. एगकज्जपवन्नाणं विसेसे किं नु कारणं ? ।
लिंगे दुविहे मेहावि ! कहं विप्पच्चओ न ते ? ॥

[३०] हे मेधाविन् ! एक ही (मुक्तिरूप) कार्य (—उद्देश्य) से प्रवृत्त इन दोनों (धर्मों) में भेद का कारण क्या है ? दो प्रकार के वेष (लिंग) को देख कर आपको संशय क्यों नहीं होता ?

३१. केसिमेवं बुवाणं तु गोयमो इणमब्बवी।
विन्नाणेण समागम्म धम्मसाहणमिच्छियं ॥

[३१] (गौतम गणधर)—केशी के इस प्रकार कहने पर गौतम ने यह कहा—(सर्वज्ञों ने) *विज्ञान (—केवलज्ञान) से भलीभांति यथोचितरूप से धर्म के साधनों* (वेष, चिह्न आदि उपकरणों) को जान कर ही उनकी अनुमति दी है।

३२. पच्चयत्थं च लोगस्स नाणाविहविगप्पणं।
जत्तत्थं गहणत्थं च लोगे लिंगप्पओयणं ॥

[३२] नाना प्रकार के उपकरणों का विकल्पन (विधान) लोगों (जनता) की प्रतीति के लिए है, संयमयात्रा के निर्वाह के लिए है और 'मैं साधु हूँ'; यथाप्रसंग इस प्रकार के बोध रहने के लिए ही लोक में लिंग (वेष) का प्रयोजन है।

३३. अह भवे पइन्ना उ मोक्खसब्भूयसाहणे।
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं चेव निच्छए ॥

[३३] निश्चयदृष्टि से तो सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही मोक्ष के वास्तविक (सद्भूत) साधन हैं। इस प्रकार का एक-सा सिद्धान्त (प्रतिज्ञा) दोनों तीर्थंकरों का है।

विवेचन—विसेसे किं नु कारणं : तात्पर्य—यह कि मोक्ष रूप साध्य समान होने पर भी दोनों तीर्थंकरों ने अपने-अपने तीर्थ के साधुओं को यह वेषभेद क्यों उपदिष्ट किया ? दोनों तीर्थंकरों की धर्माचरणव्यवस्था में ऐसे भेद का क्या कारण है ? जब कार्य में अन्तर होता है तो कारण में भी अन्तर

हो जाता है, किन्तु यहाँ मुक्तिरूप कार्य में किसी तीर्थंकर को भेद अभीष्ट नहीं है, फिर कारण में भेद क्यों ?[1]

समाधान—जिस तीर्थंकर के काल में जो उचित था, उन्होंने अपने केवलज्ञान के प्रकाश में भलीभांति जान कर उस-उस धर्मसाधन (साधुवेष तथा चिह्न सम्बन्धी वस्त्र तथा अन्य उपकरणों) को रखने की अनुमति दी। आशय यह है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्य ऋजुजड़ और वक्रजड़ होते हैं, यदि उनके लिए रंगीन वस्त्र धारण करने की आज्ञा दे दी जाती तो वे ऋजुजड़ एवं वक्रजड़ होने के कारण वस्त्रों को रंगने लग जाते, इसीलिए प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकरों ने वस्त्र रंगने या रंगीन वस्त्र पहनने का निषेध करके केवल श्वेत और वह भी परिमित वस्त्र पहनने की आज्ञा दी है। मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शिष्य ऋजुप्राज्ञ होते हैं, इसलिए उन्होंने रंगीन वस्त्र धारण करने की आज्ञा प्रदान की है।[2]

व्यवहार और निश्चय से मोक्ष-साधन—निश्चयनय की दृष्टि से तो मोक्ष के वास्तविक साधन सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र हैं। इस विषय में दोनों तीर्थंकर एकमत हैं, किन्तु निश्चय से सम्यग्दर्शनादि किसमें हैं, किसमें नहीं हैं, इसकी प्रतीति साधारणजन को नहीं होती। इसलिए व्यवहारनय का आश्रय लेना आवश्यक है। साधु का वेष तथा प्रतीकचिह्न रजोहरण-पात्रादि तथा साध्वाचारसम्बन्धी वाह्य क्रियाकाण्ड आदि ये सब व्यवहार हैं। इसलिए कहा गया है—'लोक में लिंग (वेष, चिह्न आदि) का प्रयोजन है।' आशय यह है कि तीर्थंकरों ने अपने-अपने युग में देश-काल, पात्र आदि देख कर नाना प्रकार के उपकरणों का विधान किया है, अथवा वर्षाकल्प आदि का विधान किया है। व्यवहारनय से मोक्ष के साधनरूप में वेष आवश्यक है, निश्चयनय से नहीं।[3]

साधुवेष के तीन मुख्य प्रयोजन—शास्त्रकार ने साधुवेष के तीन मुख्य प्रयोजन यहाँ बताए है—(१) लोक (गृहस्थवर्ग) की प्रतीति के लिए, क्योंकि साधुवेष तथा उसके केशलोच आदि आचार को देख कर लोगों को प्रतीति हो जाती है कि ये साधु हैं, ये नहीं, अन्यथा पाखण्डी लोग भी अपनी पूजा आदि के लिए हम भी साधु हैं, महाव्रती हैं, यों कहने लगेंगे। ऐसा होने पर सच्चे साधुओं—महाव्रतियों के प्रति अप्रतीति हो जाएगी। इसलिए नाना-प्रकार के उपकरणों का विधान है। (२) यात्रा—संयमनिर्वाह के लिए भी साधुवेष आवश्यक है। (३) ग्रहणार्थ—अर्थात् कदाचित् चित्त में विप्लव उत्पन्न होने पर या परीषह उत्पन्न होने से संयम में अरति होने पर 'मैं साधु हूँ, मैंने साधु का वेष पहना है, मैं ऐसा अकृत्य कैसे कर सकता हूँ' इस प्रकार के ज्ञान (ग्रहण) के लिए साधुवेष का प्रयोजन है। कहा भी है—**'धम्मं रक्खइ वेसो'** वेष (साधुवेष) साधुधर्म की रक्षा करता है।[4]

तृतीय प्रश्नोत्तर : शत्रुओं पर विजय के सम्बन्ध में

३४. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, अभिधान रा. को. भा. ३, पृ. ९६२ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९१२
२. (क) बृहद्वृत्ति, अभि. रा. को. भा. ३, पृ. ९६२ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९१२
३. (क) अभिधान रा. कोष भा. ३, पृ. ९६२ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९१६-९१७
४. (क) वही, पृ. ९१५. (ख) अभि. रा. को. भा. ३, पृ. ९६२

[३४] हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है ! आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया। मेरा एक और भी संशय है। गौतम ! उस सम्बन्ध में भी मुझे कहिए।

३५. अणेगाणं सहस्साणं मज्झे चिट्ठसि गोयमा ! ।
ते य ते अहिगच्छन्ति कहं ते निज्जिया तुमे ? ॥

[३५] गौतम ! अनेक सहस्र शत्रुओं के बीच में आप खड़े हो। वे आपको जीतने के लिए (आपकी ओर) दौड़ते हैं। (फिर भी) आपने उन शत्रुओं को कैसे जीत लिया ?

३६. एगे जिए जिया पंच पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताणं सव्वसत्तू जिणामहं ॥

[३६] (गणधर गौतम)—एक को जीतने से पांच जीत लिए गए और पांच को जीतने पर दस जीत लिए गए। दसों को जीत कर मैंने सब शत्रुओं को जीत लिया।

३७. सत्तू य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी।
तओ केसिं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥

[३७] (केशी कुमारश्रमण)—गौतम ! आपने (१-५-१०) शत्रु किन्हें कहा है ?—इस प्रकार केशी ने गौतम से पूछा। केशी के यह पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

३८. एगप्पा अजिए सत्तू कसाया इन्दियाणि य।
ते जिणित्तु जहानायं विहरामि अहं मुणी ! ॥

[३८] (गणधर गौतम)—हे मुनिवर ! एक न जीता हुआ अपना आत्मा (मन या जीव) ही शत्रु है। कषाय (चार) और इन्द्रियाँ (पांच, नहीं जीतने पर) शत्रु हैं। उन्हें (दसों को) जीत कर मैं (शास्त्रोक्त) नीति के अनुसार (इन शत्रुओं के बीच में रहता हुआ भी) (अप्रतिबद्ध) विहार करता हूँ।

विवेचन—हजारों शत्रु और उनके बीच में खड़े गौतमस्वामी—जब तक केवलज्ञान नहीं उत्पन्न हो जाता, तब तक आन्तरिक शत्रु परास्त नहीं होते। इसीलिए केशीश्रमण गौतमस्वामी से पूछ रहे हैं कि ऐसी स्थिति में आप पर चारों ओर से हजारों शत्रु हमला करने के लिए दौड़ रहे हैं, फिर भी आपके चेहरे पर उन पर विजय के प्रशमादि चिह्न दिखाई दे रहे हैं, इससे मालूम होता है, आपने उन शत्रुओं पर विजय पा ली है। अतः प्रश्न है कि आपने उन शत्रुओं को कैसे जीता।[१]

दसों को जीतने से सर्वशत्रुओं पर विजय कैसे ?—जैसा कि गौतमस्वामी ने कहा था—एक आत्मा (मन या जीव) को जीत लेने से उसके अधीन जो क्रोधादि ४ कषाय हैं, वे जीते गए और मन सहित इन पांचों को जीतने पर जो पांच इन्द्रियाँ मन के अधीन हैं, वे जीत ली जाती हैं। ये सभी मिल कर दस होते हैं, इन दस को जीत लेने पर इनका समस्त परिवार, जो हजारों की संख्या में है, जीत लिया जाता है। यही गौतम के कथन का आशय है।[२]

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९१९
२. वही, पृ. ९२०

हजारों शत्रु : कौन ?—(१) मूल में क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषाय हैं। सामान्य जीव और चौवीस दण्डकवर्ती जीव, इन २५ के साथ क्रोधादि प्रत्येक को गुणा करने पर प्रत्येक कषाय के १००, और चारों कषायों के प्रत्येक चार-चार भेद मिलकर ४०० भेद होते हैं। क्रोधादि प्रत्येक कषाय अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन के भेद से ४-४ प्रकार के हैं। यों १६ कषायों को २५ से गुणा करने पर ४०० भेद होते हैं। (२) अन्य प्रकार से भी क्रोधादि प्रत्येक कषाय के चार-चार भेद होते हैं—(१) आभोगनिर्वर्तित, (२) अनाभोगनिर्वर्तित, (३) उपशान्त (अनुदयावस्थ) और (४) अनुपशान्त (उदयावलिकाप्रविष्ट), इन ४×४=१६ का पूर्वोक्त २५ के साथ गुणा करने से ४०० भेद क्रोधादि चारों कषायों के होते हैं। (३) तीसरे प्रकार से भी क्रोधादि कषायों के प्रत्येक के चार-चार भेद होते हैं। यथा—(१) आत्मप्रतिष्ठित (स्वनिमित्तक), (२) परप्रतिष्ठित (परनिमित्तक), (३) तदुभयप्रतिष्ठित (स्वपरनिमित्तक) और (४) अप्रतिष्ठित (निराश्रित), इस प्रकार इन ४×४=१६ कषायों का पूर्वोक्त २५ के साथ गुणा करने पर ४०० भेद हो जाते हैं। (४) चौथा प्रकार—क्रोधादि प्रत्येक कषाय का क्षेत्र, वास्तु, शरीर और उपधि, इन चारों के साथ गुणा करने से ४×४=१६ भेद चारों कषायों के हुए। इन १६ का पूर्वोक्त २५ के साथ गुणा करने पर कुल ४०० भेद होते हैं। (५) कारण का कार्य में उपचार करने से कषायों के प्रत्येक के ६-६ भेद और होते हैं। यथा—(१) चय, (२) उपचय, (३) बन्धन, (४) वेदना, (५) उदीरणा और (६) निर्जरा। इन ६ भेदों को भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल (तीन काल) के साथ गुणा करने पर १८ भेद हो जाते हैं। इन १८ ही भेदों को एक जीव तथा अनेक जीवों की अपेक्षा, दो के साथ गुणा करने से ३६ भेद होते हैं। इनको क्रोधादि चारों कषायों के साथ गुणा करने पर १४४ भेद होते हैं। इनको पूर्वोक्त २५ से गुणित करने पर कुल ३६०० भेद कषायों के हुए। इन ३६०० में पहले के १६०० भेदों को और मिलाने पर चारों कषायों के कुल ५२०० भेद हो जाते हैं।

पांच इन्द्रियों के २३ विषय और २४० विकार होते हैं। इस प्रकार इन्द्रियरूप शत्रुओं के ५+२३+२४०=२६८ भेद हुए तथा ५२०० कषायों के भेदों के साथ २६८ इन्द्रियों के एवं एक सर्वप्रधान शत्रु मन के भेद को मिलाने पर कुल शत्रुओं की संख्या ५४६९ हुई तथा हास्यादि ६ के प्रत्येक के ४-४ भेद होने से कुल २४ भेद हुए। इनमें स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेद मिलाने से नोकषायों के कुल २७ भेद होते हैं। पिछले ५४६९ में २७ को मिलाने से ५४९६ भेद शत्रुओं के हुए तथा शत्रु शब्द से मिथ्यात्व, अव्रत आदि तथा ज्ञानावरणीयादि कर्म एवं रागद्वेषादि भी लिये जा सकते हैं। इसीलिए मूलसूत्र में 'अनेकसहस्र शत्रु' बताए गए हैं।[1]

चतुर्थ प्रश्नोत्तर : पाशबन्धनों को तोड़ने के सम्बन्ध में

३९. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

[३९] (केशी कुमारश्रमण)—हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा समीचीन है, (क्योंकि) आपने मेरा यह संशय मिटा दिया; (किन्तु) मेरा एक और भी सन्देह है। गौतम ! उस विषय में मुझे कहें।

---

१. वही, पृ. ९२१ से ९२८ तक

४०. दीसन्ति बहवे लोए पासबद्धा सरीरिणो।
मुक्कपासो लहुब्भूओ कहं तं विहरसी मुणी! ॥

[४०] इस लोक में बहुत-से शरीरधारी—जीव पाशों (बन्धनों) से बद्ध दिखाई देते हैं। मुने! आप बन्धन (पाश) से मुक्त और लघुभूत (वायु की तरह अप्रतिबद्ध एवं हल्के) होकर कैसे विचरण करते हैं?'

४१. ते पासे सव्वसो छित्ता निहन्तूण उवायओ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ विहरामि अहं मुणी! ॥

[४१] (गणधर गौतम)—मुने! मैं उन पाशों (बन्धनों) को सब प्रकार से काट कर तथा उपाय से विनष्ट कर बन्धन-मुक्त एवं लघुभूत (हल्का) होकर विचरण करता हूँ।

४२. पासा य इइ के वुत्ता? केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥

[४२] (केशी कुमारश्रमण)—गौतम! पाश (बन्धन) किन्हें कहा गया है?—(इस प्रकार) केशी ने गौतम से पूछा। केशी के ऐसा पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

४३. रागद्दोसादओ तिव्वा नेहपासा भयंकरा।
ते छिन्दित्तु जहानायं विहरामि जहक्कमं ॥

[४३] (गणधर गौतम) —तीव्र राग-द्वेष आदि और (पुत्र-कलत्रादिसम्बन्धी) स्नेह भयंकर पाश (बन्धन) हैं। उन्हें (शास्त्रोक्त) धर्मनीति के अनुसार काट कर, (साध्वाचार के) क्रमानुसार मैं विचरण करता हूँ।

विवेचन—सव्वसो छित्ता—संसार को अपने चंगुल में फंसाने वाले उन सब बन्धनों—रागद्वेषादि पाशों को पूरी तरह काट कर।

उवायओ निहंतूण—उपाय से अर्थात्—सत्यभावना के या निःसंगता आदि के अभ्यास रूप उपाय से निर्मूल—पुनः उनका बन्ध न हो, इस रूप से उन्हें विनष्ट करके।[1]

पंचम प्रश्नोत्तर—तृष्णारूपी लता को उखाड़ने के सम्बन्ध में—

४४. साहु गोयम! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा! ॥

[४४] (केशी कुमारश्रमण)—गौतम! आपकी प्रज्ञा सुन्दर है। आपने मेरा यह संशय मिटा दिया। परन्तु गौतम। मेरा एक और सन्देह है, उसके विषय में भी मुझे कहिए।

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ३, पृ. ९६३
(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा. २, पत्र १८१
(ग) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९३२

४५. अन्तोहियय—संभूया लया चिट्ठइ गोयमा ! ।
फलेइ विसभक्खीणि सा उ उद्धरिया कहं ? ॥

[४५] हे गौतम ! हृदय के अन्दर उत्पन्न एक लता रही हुई है, जो भक्षण करने पर विषतुल्य फल देती है । आपने उस (विषवेल) को कैसे उखाड़ा ?

४६. तं लयं सव्वसो छित्ता उद्धरित्ता समूलियं ।
विहरामि जहानायं मुक्को मि विसभक्खणं ॥

[४६] (गणधर गौतम)—उस लता को सर्वथा काट कर एवं जड़ से (समूल) उखाड़ कर मैं (सर्वज्ञोक्त) नीति के अनुसार विचरण करता हूँ । अतः मैं उसके विषफल खाने से मुक्त हूँ ।

४७. लया य इइ का वुत्ता ? केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥

[४७] (केशी कुमारश्रमण)—केशी ने गौतम से पूछा 'वह लता आप किसे कहते हैं ?' केशी के इस प्रकार पूछने पर गौतम ने यह कहा—

४८. भवतण्हा लया वुत्ता भीमा भीमफलोदया ।
तमुद्धरित्तु जहानायं विहरामि महामुणी ! ॥

[४८] (गणधर गौतम)—भवतृष्णा (सांसारिक तृष्णा—लालसा) को ही भयंकर लता कहा गया है । उसमें भयंकर विपाक वाले फल लगते हैं । हे महामुने ! मैं उसे मूल से उखाड़ कर (शास्त्रोक्त) नीति के अनुसार विचरण करता हूँ ।

विवेचन—अंतोहिययसंभूया :—वास्तव में तृष्णारूपी लता मनुष्य के हृदय के भीतर पैदा होती है और जब वह फल देती है तो वे फल विषाक्त होते हैं; क्योंकि तीव्र तृष्णा परिवार में या समाज में विषम परिणाम लाती है, इसलिए तृष्णापरायण मनुष्य को उसके विषैले फल भोगने पड़ते हैं ।

भवतण्हा :—संसारविषयक तृष्णा—लोभ प्रकृति ही लता है ।[1]

छठा प्रश्नोत्तर : कषायाग्नि बुझाने के सम्बन्ध में

४९. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

[४९] (केशी कुमारश्रमण)—हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है । आपने मेरे इस संशय को मिटाया है । एक दूसरा संशय भी मेरे मन में है, गौतम ! उस विषय में भी आप मुझे बताओ ।

५०. संपज्जलिया घोरा अग्गी चिट्ठइ गोयमा ! ।
जे डहन्ति सरीरत्था कहं विज्झाविया तुमे ? ॥

---

१. बृहद्वृत्ति, अभिधान रा. कोष भा. ३, पृ. ९६२

[५०] गौतम ! चारों ओर घोर अग्नियाँ प्रज्वलित हो रही हैं, जो शरीरधारी जीवों को जलाती रहती हैं, आपने उन्हें कैसे बुझाया ?

५१. महामेहप्पसूयाओ गिज्झ वारि जलुत्तमं।
सिंचामि सययं देहं सित्ता नो व डहन्ति मे ।।

[५१] (गणधर गौतम)—महामेघ से उत्पन्न सब जलों में उत्तम जल लेकर मैं उसका निरन्तर सिंचन करता हूँ। इसी कारण सिंचन—शान्त की गई अग्नियाँ मुझे नहीं जलातीं।

५२. अग्गी य इइ के वुत्ता ? केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ।।

[५२] (केशी कुमारश्रमण—) "वे अग्नियाँ कौन-सी हैं ?—केशी ने गौतम से पूछा। केशी के यह पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

५३. कसाया अग्गिणो वुत्ता सुय-सील-तवो जलं ।।
सुयधाराभिहया सन्ता भिन्ना हु न डहन्ति मे ।।

[५३] (गणधर गौतम)—कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) ही अग्नियाँ कही गई हैं। श्रुत, शील और तप जल है। श्रुत—(शील-तप) रूप जलधारा से शान्त और नष्ट हुई अग्नियाँ मुझे नहीं जलातीं।

विवेचन—महामेहप्पसूयाओ—महामेघ से प्रसूत, अर्थात् महामेघ के समान जिनप्रवचन से उत्पन्न श्रुत, शील और तपरूप जल से मैं कषायाग्नि को सींचकर शान्त करता हूँ।[1]

सातवाँ प्रश्नोत्तर : मनोनिग्रह के सम्बन्ध में

५४. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ।।

[५४] (केशी श्रमण)—गौतम ! आपकी प्रज्ञा प्रशस्त है। आपने मेरा यह संशय मिटा दिया, किन्तु मेरा एक और सन्देह है, उसके सम्बन्ध में भी मुझे कहें।

५५. अयं साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावई।
जंसि गोयम ! आरूढो कहं तेण न हीरसि ? ।।

[५५] यह साहसिक, भयंकर, दुष्ट घोड़ा इधर-उधर चारों ओर दौड़ रहा है। गौतम ! आप उस पर आरूढ़ हैं, (फिर भी) वह आपको उन्मार्ग पर क्यों नहीं ले जाता ?

५६. पधावन्तं निगिण्हामि सुयरस्सीसमाहियं।
न मे गच्छइ उम्मग्गं मग्गं च पडिवज्जई ।।

[५६] (गणधर गौतम)—दौड़ते हुए उस घोड़े का मैं श्रुत-रश्मि (शास्त्रज्ञानरूपी लगाम) से निग्रह करता हूँ, जिससे वह मुझे उन्मार्ग पर नहीं ले जाता, अपितु सन्मार्ग पर ही चलता है।

१. (क) बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष भा. ३, पृ ९६४
(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९४१

५७. अस्से य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥

[५७] (केशी कुमारश्रमण)—यह अश्व क्या है—अश्व किसे कहा गया है ?—इस प्रकार केशी ने गौतम से पूछा। केशी के ऐसा पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

५८. मणो साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं निगिण्हामि धम्मसिक्खाए कन्थगं ॥

[५८] (गणधर गौतम—) मन ही वह साहसी, भयंकर और दुष्ट अश्व है, जो चारों ओर दौड़ता है। उसे मैं सम्यक् प्रकार से वश में करता हूँ। धर्मशिक्षा से वह कन्थक (—उत्तम जाति के अश्व) के समान हो गया है।

विवेचन—हीरंसि—उन्मार्ग में कैसे नहीं ले जाता ?

सुयरस्सीसमाहियं—श्रुत अर्थात्-सिद्धान्त रूपी रश्मि—लगाम से समाहित—नियंत्रित।

साहसिओ—(१) सहसा बिना विचारे काम करने वाला, (२) साहस (हिम्मत) करने वाला।

धम्मसिक्खाए निगिण्हामि—धर्म के अभ्यास (शिक्षा) से मैं मनरूपी दुष्ट अश्व को वश में करता हूँ।[1]

आठवाँ प्रश्नोत्तर : कुपथ-सत्पथ के विषय में—

५९. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

[५९] (केशी कुमारश्रमण)—गौतम ! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया, (किन्तु) मेरा एक संशय और भी है, गौतम ! उसके सम्बन्ध में मुझे बताइए।

६०. कुप्पहा बहवो लोए जेहिं नासन्ति जंतवो।
अद्धाणे कह वट्टन्ते तं न नस्ससि ? गोयमा ! ॥

[६०] गौतम ! संसार में अनेक कुपथ हैं, जिन (पर चलने) से प्राणी भटक जाते हैं। सन्मार्ग पर चलते हुए आप कैसे नहीं भटके—भ्रष्ट हुए ?

६१. जे य मग्गेण गच्छन्ति जे य उम्मग्गपट्ठिया।
ते सव्वे विइया मज्झं तो न नस्सामहं मुणी ! ॥

[६१] (गौतम गणधर)—मुनिवर ! जो सन्मार्ग पर चलते हैं और जो लोग उन्मार्ग पर चलते हैं, वे सब मेरे जाने हुए हैं। इसलिए मैं भ्रष्ट नहीं होता हूँ।

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, अभिधान रा. कोष भा. ३, पृ. ९६४
(ख) सहसा असमीक्ष्य प्रवर्त्तते इति साहसिकः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५०७

६२. मग्गे य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥

[६२] (केशी कुमारश्रमण)—केशी ने गौतम से पुनः पूछा—'मार्ग किसे कहा गया है ?' केशी के इस प्रकार पूछने पर गौतम ने यह कहा—

६३. कुप्पवयण—पासण्डी सव्वे उम्मग्गपट्ठिया ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं एस मग्गे हि उत्तमे ॥

[६३] (गणधर गौतम)—कुप्रवचनों (मिथ्यादर्शनों) को मानने वाले सभी पाषण्डी—(व्रतधारी लोग) उन्मार्गगामी हैं, सन्मार्ग तो जिनेन्द्र—वीतराग द्वारा कथित है और यही मार्ग उत्तम है ।

विवेचन—जेहिं नासंति जंतवो—यहाँ कुपथ का अर्थ धर्म-सम्प्रदाय विषयक कुमार्ग है । जिन कुमार्गों पर चलकर बहुत-से लोग दुर्गतिरूपी अटवी में जा कर भटक जाते हैं, अर्थात्—मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं । गौतम ! आप उन कुमार्गों से कैसे बच जाते हो ?[1]

सव्वे ते वेइया मज्झ—इस पंक्ति का तात्पर्य यह है कि "मैंने सन्मार्ग और कुमार्ग पर चलने वालों को भलीभांति जान लिया है । सन्मार्ग और कुमार्ग का ज्ञान मुझे हो गया है । इसी कारण मैं कुमार्ग से बचकर, सन्मार्ग पर चलता हूँ । मैं मार्गभ्रष्ट नहीं होता ।"

कुप्पवयण पासंडी—कुत्सित प्रवचन अर्थात् दर्शन कुप्रवचन हैं, क्योंकि उनमें एकान्तकथन तथा हिंसादि का उपदेश है । उन कुप्रवचनों के अनुगामी पाषण्डी (पाखण्डी) अर्थात्—व्रती अथवा एकान्तवादी जन ।[2]

सम्मग्गं तु जिणक्खायं—वीतराग द्वारा प्ररूपित मार्ग ही सन्मार्ग है, क्योंकि इस का मूल दया और विनय है, इसलिए यह सर्वोत्तम है ।[3]

नौवाँ प्रश्नोत्तर : धर्मरूपी महाद्वीप के सम्बन्ध में

६४. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

[६४] (केशी कुमारश्रमण)—'हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा प्रशस्त है । आपने मेरा यह सन्देह मिटा दिया, किन्तु मेरे मन में एक और सन्देह है, उसके विषय में भी मुझे कहिए ।'

६५. महाउदग—वेगेणं बुज्झमाणाण पाणिणं ।
सरणं गई पइट्ठा य दीवं कं मन्नसी मुणी ?

[६५] मुनिवर ! महान् जलप्रवाह के वेग से बहते (-डूबते) हुए प्राणियों के लिए शरण, गति, प्रतिष्ठा और द्वीप आप किसे मानते हो ?

---

१. बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष भा. ३, पृ. ९६४
२. वही, पृ. ९६४ : कुत्सितानि प्रवचनानि कुप्रवचनानि-कुदर्शनानि, तेषु पाखण्डिनः—कुप्रवचनपाखण्डिनः एकान्तवादिनः ।
३. वही, पृ. ९६४ : जिनोक्त, सर्वमार्गेषु उत्तमः—दयाविनयमूलत्वादित्यर्थः ।

६६. अत्थि एगो महादीवो वारिमज्झे महालओ ।
महाउदगवेगस्स गई तत्थ न विज्जई ।।

[६६] (गणधर गौतम)—जल के मध्य में एक विशाल (लम्बा-चौड़ा महाकाय) महाद्वीप है। वहाँ महान् जलप्रवाह के वेग की गति (प्रवेश) नहीं है।

६७. दीवे य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ।।

[६७] (केशी कुमारश्रमण)—केशी ने गौतम से (फिर) पूछा—वह (महा) द्वीप आप किसे कहते हैं ? केशी के ऐसा पूछने पर गौतम ने यों कहा—

६८. जरा—मरणवेगेणं बुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य गई सरणमुत्तमं ।।

[६८] (गणधर गौतम)—जरा और मरण (आदि) के वेग से बहते-डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति है तथा उत्तम शरण है।

विवेचन—शरण, गति, प्रतिष्ठा और द्वीप-सम्बन्धी प्रश्न का आशय—संसार में जन्म, जरा, मरण आदि रूप जो जलप्रवाह तीव्र गति से प्राणियों को बहाये ले जा रहा है, प्राणी उसमें डूब जाते हैं, तो उन प्राणियों को डूबने से बचाने, बहने से सुरक्षा करने के लिए कौन शरण आदि है ? यह केशी श्रमण के प्रश्न का आशय है। शरण का अर्थ यहाँ त्राण देने—रक्षण करने में समर्थ है, गति का अर्थ है—आधारभूमि, प्रतिष्ठा का अर्थ है—स्थिरतापूर्वक टिकाने वाला और द्वीप का अर्थ है—जलमध्यवर्ती उन्नत निवासस्थान। यद्यपि इनके अर्थ पृथक्-पृथक् हैं, तथापि इन चारों में परस्पर कार्य-कारणभावसम्बन्ध है। इन सबका केन्द्रबिन्दु 'द्वीप' है। इसीलिए दूसरी बार केशी कुमार ने केवल 'द्वीप' के सम्बन्ध में ही प्रश्न किया है।[1]

धम्मो दीवो०—जब केशी श्रमण ने द्वीप आदि के विषय में पूछा तो गौतम ने धर्म (विशाल जिनोक्त रत्नत्रयरूप या श्रुतचारित्ररूप शुद्ध धर्म) को ही महाद्वीप बताया है। वस्तुतः धर्म इतना विशाल एवं व्यापक द्वीप है कि वह संसारसमुद्र में डूबते या उसके जन्म-मरणादि विशाल तीव्रप्रवाह में बहते हुए प्राणी को स्थान, शरण, आधार या स्थिरता देने में सक्षम है। संसार के समस्त प्राणियों को वह स्थान शरणादि दे सकता है, वह इतना व्यापक है।[2]

महाउदगवेगस्स गई तत्थ न विज्जइ—महान् जलप्रवाह के वेग की गति वहाँ नहीं है, जहाँ धर्म है। क्योंकि जो प्राणी शुद्ध धर्म की शरण ले लेता है, धर्मरूपी द्वीप में आकर बस जाता है, टिक जाता है, वह जन्म, जरा, मृत्यु आदि के हेतुभूत कर्मों का क्षय कर देता है, ऐसी स्थिति में जहाँ धर्म होता है, वहाँ जन्म, जरा, मरणादिरूप तीव्र जलप्रवाह पहुँच ही नहीं सकता। धर्मरूपी महाद्वीप में

१. (क) शरणं-रक्षणक्षमम्, गति-आधारभूमि, प्रतिष्ठां-स्थिरावस्थानहेतुम्, द्वीपं-निवासस्थानं जलमध्यवर्ती।
—उत्तरा. वृत्ति, अ. रा. को. भा. ३, पृ. ९६४-९६५

(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९४९

२. उत्तरा. वृत्ति, अ. रा. को. भा. ३, पृ. ९६५

जन्ममरणादि जलप्रवाह का प्रवेश ही नहीं है। धर्म ही जन्ममरणादि दुःख से बचा कर मुक्तिसुख का कारण बनता है।[1]

दसवाँ प्रश्नोत्तर : महासमुद्र को नौका से पार करने के सम्बन्ध में

६९. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

[६९] (केशी कुमारश्रमण)—हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा बहुत सुशोभन है, आपने मेरा संशय-निवारण कर दिया। परन्तु मेरा एक और संशय है। गौतम ! उसके सम्बन्ध में भी मुझे बताइए।

७०. अण्णवंसि महोहंसि नावा विपरिधावई।
जंसि गोयममारूढो कहं पारं गमिस्ससि ? ॥

[७०] गौतम ! महाप्रवाह वाले समुद्र में नौका डगमगा रही (इधर-उधर भागती) है, (ऐसी स्थिति में) आप उस पर आरूढ होकर कैसे (समुद्र) पार जा सकोगे ?

७१. जा उ अस्साविणी नावा न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा सा उ पारस्स गामिणी ॥

[७१] (गणधर गौतम)—जो नौका छिद्रयुक्त (फूटी हुई) है, वह (समुद्र के) पार तक नहीं जा सकती, किन्तु जो नौका छिद्ररहित है, वह (समुद्र) पार जा सकती है।

७२. नावा य इइ का वुत्ता ? केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥

[७२] (केशी कुमारश्रमण)—केशी ने गौतम से पूछा—आप नौका किसे कहते हैं ? केशी के यों पूछने पर गौतम ने इस प्रकार कहा—

७३. सरीरमाहु नाव त्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरन्ति महेसिणो ॥

[७३] (गणधर गौतम)—शरीर को नौका कहा गया है और जीव (आत्मा) को इसका नाविक (खेवैया) कहा जाता है तथा (जन्ममरणरूप चातुर्गतिक) संसार को समुद्र कहा गया है, जिसे महर्षि पार कर जाते हैं।

विवेचन—अस्साविणी नावा—आस्राविणी नौका का अर्थ है—जिसमें छिद्र होने से पानी अन्दर आता हो, भर जाता हो, जिसमें से पानी रिसता हो, निकलता हो।

निरस्साविणी नावा—निःस्राविणी नौका वह है, जिसमें पानी अन्दर न आ सके, भर न सके।[2]

---

१. उत्तरा. वृत्ति, अ. रा. को. भा. ३, पृ. ९६५

२. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९५३

गौतम का आशय—गौतमस्वामी के कहने का आशय यह है कि जो नौका सछिद्र होती है, वह बीच में ही डूब जाती है, क्योंकि उसमें पानी भर जाता है, वह समुद्रपार नहीं जा सकती। किन्तु जो नौका निश्छिद्र होती है, उसमें पानी नहीं भर सकता, वह बीच में नहीं डूबती तथा वह निर्विघ्नरूप से व्यक्ति को सागर से पार कर देती है। मैं जिस नौका पर चढ़ा हुआ हूँ, वह सछिद्र नौका नहीं है, किन्तु निश्छिद्र है, अतः वह न तो डगमगा सकती है, न मझधार में डूब सकती है। अतः मैं उस नौका के द्वारा समुद्र को निर्विघ्नतया पार कर लेता हूँ।[1]

शरीरमाहु नाव त्ति—शरीर को नौका, जीव को नाविक और संसार को समुद्र कह कर संकेत किया है कि जो साधक निश्छिद्र नौका की तरह समस्त कर्माश्रव-छिद्रों को बन्द कर देता है, वह संसारसागर को पार कर लेता है।

आशय यह है कि यह शरीर जब कर्मागमन के कारणरूप आश्रवद्वार से रहित हो जाता है, तब रत्नत्रय की आराधना का साधनभूत बनता हुआ इस जीवरूपी मल्लाह को संसार-समुद्र से पार करने में सहायक बन जाता है, इसीलिए ऐसे शरीर को नौका की उपमा दी गई है। रत्नत्रयाराधक साधक ही शरीररूपी नौका द्वारा इस संसारसमुद्र को पार करता है, इसलिए इसे नाविक कहा गया है। जीवों द्वारा पार करने योग्य यह जन्ममरणादि रूप संसार है।[2]

ग्यारहवाँ प्रश्नोत्तर : अन्धकाराच्छन्न लोक में प्रकाश करने वाले के सम्बन्ध में

७४. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

[७४] (केशी कुमारश्रमण)—गौतम ! आपकी प्रज्ञा श्रेष्ठ है। आपने मेरे इस संशय को मिटा दिया, (किन्तु) मेरा एक और संशय है। उसके विषय में भी आप मुझे बताइए।

७५. अन्धयारे तमे घोरे चिट्ठन्ति पाणिणो बहू।
को करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोगंमि पाणिणं ? ॥

[७५] घोर एवं गाढ़ अन्धकार में (संसार के) बहुत-से प्राणी रह रहे हैं। (ऐसी स्थिति में) सम्पूर्ण लोक में प्राणियों के लिए कौन उद्योत (प्रकाश) करेगा ?

७६. उग्गओ विमलो भाणू सव्वलोगप्पभंकरो।
सो करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोगंमि पाणिणं ॥

[७६] (गणधर गौतम)—समग्र लोक में प्रकाश करने वाला निर्मल सूर्य उदित हो चुका है, वही समस्त लोक में प्राणियों के लिए प्रकाश प्रदान करेगा ?

७७. भाणू य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥

[७७] (केशी कुमारश्रमण)—केशी ने गौतम से पूछा—'आप सूर्य किसे कहते हैं ?' केशी के इस प्रकार पूछने पर गौतम ने यह कहा—

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९५३

२. वही, पृ. ९५४

७८. उग्गओ खीणसंसारो सव्वन्नू जिणभक्खरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं सव्वलोयंमि पाणिणं ॥

[७८] (गणधर गौतम)—जिसका संसार क्षीण हो चुका है, जो सर्वज्ञ है, ऐसा जिन-भास्कर उदित हो चुका है । वही सारे लोक में प्राणियों के लिए प्रकाश करेगा ।

विवेचन—अन्धयारे तमे घोरे—यहाँ अन्धकार का संकेत अज्ञानरूप अन्धकार से है तथा प्रकाश का अर्थ—ज्ञान । संसार के अधिकांश प्राणी अज्ञानरूप गाढ़ अन्धकार से घिरे हुए हैं, उन्हें सद्ज्ञान का जाज्वल्यमान प्रकाश देने वाले सूर्य जिनेन्द्र हैं ।

यद्यपि 'अन्धकार' और 'तम' शब्द एकार्थक हैं, तथापि यहाँ 'तम' अन्धकार का विशेषण होने से 'तम' का अर्थ यहाँ गाढ़ होता है ।[1]

विमलो भाणू—निर्मल भानु का तात्पर्य यहाँ बाह्यरूप में बादलों से रहित सूर्य है, किन्तु आन्तरिक रूप में कर्मरूप मेघ से अनाच्छादित विशुद्ध केवलज्ञानयुक्त सर्वज्ञ परम आत्मा । आत्मा जब पूर्ण विशुद्ध होता है, तब सर्वज्ञ, केवली, राग द्वेष-मोह-विजेता, अष्टविध कर्मो से सर्वथा रहित हो जाता है । ऐसे परम विशुद्ध आत्मा जिनेश्वर ही है, वही सम्पूर्ण लोक में प्रकाश—सम्यग्ज्ञान प्रदान करते हैं ।[2]

बारहवाँ प्रश्नोत्तर : क्षेम, शिव और अनाबाध स्थान के विषय में

७९. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं तं मे कहसु गोयमा ! ॥

[७९] (केशी कुमारश्रमण)—गौतम ! तुम्हारी प्रज्ञा निर्मल है । तुमने मेरा यह संशय तो दूर कर दिया । अब मेरा एक संशय रह जाता है, गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहिए ।

८०. सारीर-माणसे दुक्खे बज्झमाणाण पाणिणं ।
खेमं सिवमणाबाहं ठाणं किं मन्नसी मुणी ? ॥

[८०] मुनिवर ! शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित प्राणियों के लिए क्षेम, शिव और अनाबाध—बाधारहित स्थान कौन-सा मानते हो ?

८१. अत्थि एगं धुवं ठाणं लोगग्गंमि दुरारुहं ।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू वाहिणो वेयणा तहा ॥

[८१] (गणधर गौतम)—लोक के अग्रभाग में एक ऐसा ध्रुव (अचल) स्थान है, जहाँ जरा (बुढ़ापा), मृत्यु, व्याधियाँ तथा वेदनाएँ नहीं हैं; परन्तु वहाँ पहुँचना दुरारुह (बहुत कठिन) है ।

८२. ठाणे य इइ के वुत्ते ? केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥

---

१. उत्तरा. वृत्ति, अभि. रा, कोष भा. ३, पृ. ९६५
२. वही, पृ. ९६५

[८२] (केशी कुमारश्रमण)—वह स्थान ...न-सा कहा गया है ? - केशी ने गौतम से पूछा। केशी के इस प्रकार पूछने पर गौतम ने यह कहा—

८३. निव्वाणं ति अबाहं ति सिद्धी लोगग्गमेव
खेमं सिवं अणाबाहं जं चरन्ति महेसि... ॥

८४. तं ठाणं सासयं वासं लोगग्गंमि दुरारुहं।
जं संपत्ता न सोयन्ति भवोहन्तकरा मुणी ॥

[८३-८४] (गणधर गौतम)—जिस स्थान को महामुनि जन ही प्राप्त करते हैं, वह स्थान निर्वाण, अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध (इत्यादि नामों से प्रसिद्ध) है। भव-प्रवाह का अन्त करने वाले महामुनि जिसे प्राप्त कर शोक से मुक्त हो जाते हैं, वह स्थान लोक के अग्रभाग में है, शाश्वतरूप से (मुक्त जीव का) वहाँ वास हो जाता है, जहाँ पहुँच पाना अत्यन्त कठिन है।

विवेचन—खेमं सिवं अणाबाहं : क्षेमं—व्याधि आदि से रहित, शिवं—जरा, उपद्रव से रहित, अनाबाधं—शत्रुजन का अभाव होने से स्वाभाविक रूप से पीड़ारहित।

दुरारुहं—जो स्थान दुष्प्राप्य हो, जहाँ पर आरूढ होना कठिन हो।

वाहिणो—वात, पित्त, कफ आदि से उत्पन्न रोग।

सासयं : शाश्वत—स्थायी निवास वाला स्थान।

निव्वाणं : निर्वाण—जहाँ संताप के अभाव के कारण जीव शान्तिमय हो जाता है।

अबाहं : अबाध—जहाँ किसी प्रकार की भय आदि बाधा न हो।

सिद्धी : जहाँ संसार-परिभ्रमण का अन्त हो जाने से समस्त प्रयोजन सिद्ध होते हैं।[1]

जं चरंति महेसिणो—जिस भूमि को महर्षि-महामुनि सुख से प्राप्त करते हैं। अर्थात्—वीतराग मुनिराज चक्रवर्ती से अधिक सुखभागी होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।[2]

---

१. (क) क्षेमं—व्याध्यादिरहितम्, शिवं—जरोपद्रवरहितं, अनाबाधं—शत्रुजनाभावात् स्वभावेन पीड़ारहितम्।
(ख) दुःखेन आरुह्यते यस्मिन् तत् दुरारोहं, दुष्प्राप्यमित्यर्थः।
(ग) वाहिणो—व्याधयः वातपित्तकफश्लेष्मादयः।
(घ) शाश्वतं—सदातनं, वासः—स्थानम्।
(ग) निर्वान्ति संतापस्याभावात् शीतीभवन्ति जीवा अस्मिन्निति निर्वाणम्।
(घ) न विद्यते बाधा यस्मिन् तदबाधम्—निर्भयम्।
(ङ) सिध्यन्ति समस्तकार्याणि भ्रमणाभावात् यस्यां सा सिद्धिः। —उत्तरा. वृत्ति, अ. रा. को. भा. ३, पृ. ९६

२. महर्षयोऽनाबाधं यथा स्यात्तथा, चरन्ति व्रजन्ति सुखेन मुनयः प्राप्नुवन्ति। मुनयो हि चक्रवर्त्यधिकसुखभाजः सन्तो मोक्षं लभन्ते, इति भावः। —वही, पृ. ९६६,

केशी कुमार द्वारा गौतम को अभिवन्दन एवं पंचमहाव्रतधर्म स्वीकार

८५. साहु गोयम ! पन्ना ते छिन्नो मे संसओ इमो ।
नमो ते संसयाईय ! सव्वसुत्तमहोयही ! ॥

[८५] हे गौतम ! श्रेष्ठ है आपकी प्रज्ञा ! आपने मेरा यह संशय भी दूर किया। हे संशयातीत ! हे सर्वश्रुत-महोदधि ! आपको मेरा नमस्कार है।

८६. एवं तु संसए छिन्ने केसी घोरपरक्कमे ।
अभिवन्दित्ता सिरसा गोयमं तु महायसं ॥

[८६] इस प्रकार संशय निवारण हो जाने पर घोरपराक्रमी केशी कुमारश्रमण ने महायशस्वी गौतम को मस्तक से अभिवन्दना करके—

८७. पंचमहव्वयधम्मं पडिवज्जइ भावओ ।
पुरिमस्स पच्छिमंमी मग्गे तत्थ सुहावहे ॥

[८७] पूर्व जिनेश्वर द्वारा अभिमत (—प्रवर्तित तीर्थ से) उस सुखावह अन्तिम (पश्चिम) तीर्थंकर द्वारा प्रवर्तित मार्ग (तीर्थ) में पंचमहाव्रतरूप धर्म को भाव से अंगीकार किया।

विवेचन—केशी कुमारश्रमण गौतम से प्रभावित—केशी श्रमण गौतम स्वामी के द्वारा अपनी शंकाओं का समाधान होने से बहुत ही सन्तुष्ट एवं प्रभावित हुए। इसी कारण उन्होंने गौतम को संशयातीत, सर्वसिद्धान्तसमुद्र शब्द से सम्बोधित किया तथा मस्तक झुकाकर वन्दन-नमन किया। साथ ही उन्होंने पहले जो चातुर्यामधर्म ग्रहण किया हुआ था, उसका विलीनीकरण अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के पंचमहाव्रतरूपधर्म में कर दिया, अर्थात् पंचमहाव्रतधर्म को अंगीकार किया।[1]

पुरिमस्स पच्छिमंमी मग्गे०—(१) पुरिम अर्थात्—पूर्व (आदि) तीर्थंकर के द्वारा अभिमत (प्रवर्तित) उस सुखावह अन्तिम (पश्चिम) तीर्थंकर द्वारा प्रवर्तित मार्ग (तीर्थ) में, अथवा (२) पूर्व (गृहीत चातुर्यामधर्म के) मार्ग से (उस समय गौतम के वचनों से) सुखावह पश्चिममार्ग (भ. महावीर द्वारा प्रवर्तित तीर्थ) में।[2]

उपसंहार : दो महामुनियों के समागम की फलश्रुति

८८. केसीगोयमओ निच्चं तम्मि आसि समागमे ।
सुय—सीलसमुक्करिसो महत्थऽत्थविणिच्छओ ॥

[८८] उस तिन्दुक उद्यान में केशी और गौतम, दोनों का जो समागम हुआ, उससे श्रुत तथा शील का उत्कर्ष हुआ और महान् प्रयोजनभूत अर्थों का विनिश्चय हुआ।

---

१. उत्तरा० वृत्ति, अभिधान रा. कोश भा. ३, पृ. ९६६
२. (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा. २, पत्र १८८
(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९६७ (ग) अभि. रा. कोश भा. ३, पृ. ९६६

८९. तोसिया परिसा सव्वा सम्मग्गं समुवट्ठिया।
संथुया ते पसीयन्तु भयवं केसिगोयमे ॥
—त्ति बेमि

[८९] (इस प्रकार) वह सारी सभा (देव, असुर और मनुष्यों से परिपूर्ण परिषद्) धर्मचर्चा से सन्तुष्ट तथा सन्मार्ग—मुक्तिमार्ग में समुपस्थित (समुद्यत) हुई। उसने भगवान् केशी और गौतम की स्तुति की कि वे दोनों (हम पर) प्रसन्न रहें। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—महत्थऽत्थविणिच्छओ—महार्थ अर्थात् मोक्ष के साधनभूत शिक्षाव्रत एवं तत्त्वादि का निर्णय हुआ।[१]

॥ केशि-गौतमीय : तेईसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९६८

चौबीसवाँ अध्ययन : प्रवचनमाता

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'प्रवचनमाता' (पवयणमाया) अथवा 'प्रवचनमात' है। समवायांग के अनुसार इसका नाम 'समिईओ' (समितियाँ) नाम है; मूल में इन आठों (पांच समितियों और तीन गुप्तियों) को समिति शब्द से कहा गया है, इसीलिए सम्भव है, समवायांग आदि में यह नाम रखना अभीष्ट लगा हो।[1]

* शास्त्रों में यत्र-तत्र पाँच समितियों (ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग) और तीन गुप्तियों (मनोगुप्ति, वाग्गुप्ति और कायगुप्ति) को 'अष्टप्रवचनमाता' कहा गया है।
* जिस तरह माता अपने पुत्र की सदैव देखभाल रखती है, उसे सदा सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है, उन्मार्ग पर जाने से रोकती है, बालक के रक्षण और चारित्र-निर्माण का सतत ध्यान रखती है, उसी प्रकार से आठों प्रवचनमाताएँ भी प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय साधक की देखभाल करती हैं, सतत उपयोगपूर्वक सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती हैं, असत्प्रवत्ति में जाने से रोकती हैं, साधक की आत्मा का दुष्प्रवृत्तियों से रक्षण तथा उसके चारित्र (अशुभ से निवृत्ति एवं शुभ में प्रवृत्ति) के विकास का ध्यान रखती हैं। इसलिए ये आठों प्रवचन (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप) की, अथवा प्रवचन के आधारभूत संघ (श्रमणसंघ) की मातृ-स्थानीय हैं।[2]

* इन आठों में समस्त द्वादशांगरूप प्रवचन समा जाता है, इसलिए इन्हें 'प्रवचनमात' भी कहा गया है।[3]

* 'समिति' का अर्थ है—सम्यक्प्रवृत्ति, अर्थात् साधक की गति सम्यक् (विवेकपूर्वक) हो, भाषा सम्यक् (विवेक एवं संयम से युक्त) हो, सम्यक् एषणा (आहारादि का ग्रहण एवं उपयोग) हो, सम्यक् आदान-निक्षेप (लेना-रखना सावधानी से) हो और मलमूत्रादि का परिष्ठापन सम्यक् (उचित स्थान में विसर्जन) हो।

* गुप्ति का अर्थ है—असत् से या अशुभ से निवृत्ति, अर्थात् मन से अशुभ-असत् चिन्तन न करना, वचन से अशुभ या असत् भाषा न बोलना तथा काया से अशुभ या असत् व्यवहार एवं आचरण न करना।

* समिति और गुप्ति दोनों में सम्यक् और असम्यक् का मापदण्ड अहिंसा है।

---

१. समवायांग, समवाय ३६

२. प्रवचनस्य तदाधारस्य वा संघस्य मातर इव प्रवचनमातरः। —समवायांगवृत्ति, सम. ८

३. उत्तरा. मूल अ. २४, गा. ३

* ईर्यासमिति की परिशुद्धि के लिए आलम्बन, काल, मार्ग और यतना का विचार करे, स्वाध्याय एवं इन्द्रियविषयों को छोड़कर एकमात्र गमनक्रिया में ही तन्मय हो, उसी को प्रमुख मानकर चले। भाषासमिति की शुद्धि के लिए क्रोधादि आठ स्थानों को छोड़कर हित, मित, सत्य, निरवद्य भाषा बोले, एषणासमिति के विशोधन के लिए गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा के दोषों का वर्जन करके आहार, उपधि और शय्या का उपयोग करे। आदाननिक्षेपसमिति के शोधन के लिए समस्त उपकरणों को नेत्रों से प्रतिलेखन तथा प्रमार्जन करके ले और रखे। परिष्ठापनासमिति के शोधन के लिए अनापात-असंलोक आदि १० विशेषताओं से युक्त स्थण्डिलभूमि देखकर मलमूत्रादि का विसर्जन करे। मन-वचन-कायगुप्ति के परिशोधन के लिए संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त होते हुए मन, वचन और काय को रोके।[1]

* यह अध्ययन साध्वाचार का अनिवार्य अंग है। प्रवचनमाताओं का पालन साधु के लिए नितान्त आवश्यक है। पांच समितियों एवं तीन गुप्तियों के पालन से पंचमहाव्रत सुरक्षित रह सकते हैं और साधक अपने परमलक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।[2] □□

---

१. उत्तरा. अ. २४, गा. ४ से २४ तक

२. उत्तरा. अ. २४, गा. २७

चउवीसइमं अज्झयणं : चौवीसवाँ अध्ययन

पवयणमाया : प्रवचनमाता

अष्ट प्रवचनमाताएँ

१. अट्ठ पवयणमायाओ समिई गुत्ती तहेव य ।
पंचेव य समिईओ तओ गुत्तीओ आहिया ।।

[१] समिति और गुप्ति-रूप अष्ट प्रवचन-माताएँ हैं। समितियाँ पांच और गुप्तियाँ तीन कही गई हैं।

२. इरियाभासेसणादाणे उच्चारे समिई इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती य अट्ठमा ।।

[२] ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानसमिति और उच्चारसमिति (ये पांच समितियाँ हैं) तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, (ये तीन गुप्तियाँ हैं)।

३. एयाओ अट्ठ समिईओ समासेण वियाहिया ।
दुवालसंगं जिणक्खायं मायं जत्थ उ पवयणं ।।

[३] ये आठ समितियाँ संक्षेप में कही गई हैं, जिनमें जिनेन्द्र-कथित द्वादशांगरूप समग्र प्रवचन अन्तर्भूत है।

विवेचन—पांच समितियों का स्वरूप—सर्वज्ञवचनानुसार आत्मा की सम्यक् (विवेकपूर्वक) प्रवृत्ति। समितियाँ पांच हैं। उनका स्वरूप इस प्रकार है—**ईर्यासमिति**—किसी भी प्राणी को क्लेश न हो, इस प्रकार से सावधानीपूर्वक चलना, चर्या करना, उठना, बैठना, सोना, जागना आदि सभी चर्याएँ ईर्यासमिति के अन्तर्गत हैं। **भाषासमिति**—हित, मित, सत्य और सन्देहरहित बोलना, सावधानीपूर्वक भाषण-सम्भाषण करना। **एषणासमिति**—संयमयात्रा में आवश्यक निर्दोष भोजन, पानी, वस्त्रादि साधनों का ग्रहण एवं परिभोग करने में सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करना। **आदान-निक्षेपसमिति**—वस्तुमात्र को भलीभांति देखकर एवं प्रमार्जित करके उठाना (लेना) या रखना। **उत्सर्गसमिति**—जीवरहित (अचित्त) प्रदेश में देख-भाल कर एवं प्रमार्जित करके अनुपयोगी वस्तुओं का विसर्जन करना।[1]

तीन गुप्तियों का स्वरूप—योगों (कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं-प्रवृत्तियों) का प्रशस्त (सम्यक् प्रकार से) निग्रह करना **गुप्ति** है। प्रशस्त निग्रह का अर्थ है—सोच-समझकर श्रद्धापूर्वक स्वीकृत निग्रह। इसका हृय फलितार्थ है बुद्धि और श्रद्धापूर्वक मन-वचन-काम को उन्मार्ग से रोकना। गुप्ति तीन प्रकार की है। **मनोगुप्ति**—दुष्ट विचार, चिन्तन या संकल्प का एवं अच्छे-बुरे मिश्रित संकल्प

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी) पृ. २०८ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९७३

का त्याग करना और **वचनगुप्ति**—बोलने के प्रत्येक प्रसंग पर या तो वचन पर नियंत्रण रखना या मौन धारण करना । **कायगुप्ति**—किसी भी वस्तु के लेने, रखने या उठने-बैठने या चलने-फिरने आदि में कर्त्तव्य का विवेक हो; इस प्रकार शारीरिक व्यापार का नियमन करना ।[1]

समिति और गुप्ति में अन्तर—समिति में सत्क्रिया की मुख्यता है, जबकि गुप्ति में असत् क्रिया के निषेध की मुख्यता है । समिति में नियमतः गुप्ति होती है, क्योंकि उसमें शुभ में प्रवृत्ति के साथ जो अशुभ से निवृत्तिरूप अंश है, वह नियमतः गुप्ति का अंश है । गुप्ति में प्रवृत्तिप्रधान समिति की भजना है ।

आठों को 'समिति' क्यों कहा गया है ?—गा. ३ में इन आठों को (एयाओ अट्ठसमिईओ) समिति कहा गया है । इसका कारण वृहद्वृत्ति में वताया गया है कि गुप्तियाँ प्रवीचार और अप्रवीचार दोनों रूप होती हैं । अर्थात् गुप्तियाँ एकान्त निवृत्तिरूप ही नहीं, प्रवृत्तिरूप भी होती हैं । अतः प्रवृत्तिरूप अंश की अपेक्षा से उन्हें भी समिति कह दिया है ।[2]

द्वादशांगरूप जिनोक्त प्रवचन इनके अन्तर्गत—इन आठ समितियों में द्वादशांगरूप प्रवचन समाविष्ट हो जाता है, ऐसा कहने का कारण यह है कि समिति और गुप्ति दोनों चारित्ररूप हैं तथा चारित्र ज्ञान-दर्शन से अविनाभावी है । वास्तव में ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अतिरिक्त अन्य कोई अर्थतः द्वादशांग नहीं है । इसी दृष्टि है यहाँ चारित्ररूप समिति-गुप्तियों में प्रवचनरूप द्वादशांग अन्त-र्भूत कहा गया है ।[3]

अट्ठपवयणमायाओ—पांच समिति और तीन गुप्ति, ये आठों प्रवचन-माताएँ इसलिए कही गई हैं कि इन से द्वादशांगरूप प्रवचन का प्रसव होता है । इसलिए ये द्वादशांगरूप प्रवचन की माताएँ हैं, साथ ही ये प्रवचन के आधारभूत संघ (चतुर्विध संघ) की भी माताएँ हैं ।

इस दृष्टि से 'मात' और 'माता' ये दो विशेषण यहाँ समिति गुप्तियों के लिए प्रयुक्त हैं । और इन का आशय ऊपर दे दिया गया है ।[4]

चार कारणों से परिशुद्ध : ईर्यासमिति

४. आलम्बणेण कालेण मग्गेण जयणाइ य ।
चउकारणपरिसुद्धं संजए इरियं रिए ॥

---

१. 'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः । —तत्त्वार्थ. अ. ९ सू. ४, (पं. सुखलालजी) पृ. २०७

२. (क) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) टिप्पणी, पृ. ४४३
(ख) उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ५१४ :
'समिओ णियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो ।'

३. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९७४ (ख) 'दुवालसंगं जिणक्खायं मायं जत्थ उ पवयणं ।'
—उत्तरा-मूल अ. २४, भा-३

४. (क) 'प्रवचनस्य द्वादशांगस्य तदाधारस्य वा संघस्य मातर इव प्रवचनमातरः ।' —समवायांगवृत्ति, समवाय ८
(ख) 'एया प्रवयणमाया दुवालसंगं पसूयातो ।' —वृहद्वृत्ति, पत्र ५१४

[४] संयमी साधक आलम्बन, काल, मार्ग और यतना, इन चार कारणों से परिशुद्ध ईर्या (गति) से विचरण करे।

५. तत्थ आलंबणं नाणं दंसणं चरणं तहा।
काले य दिवसे वुत्ते मग्गे उप्पहवज्जिए॥

[५] (इन चारों में) ईर्यासमिति का आलम्बन—ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र है, काल से—दिवस ही विहित है और मार्ग—उत्पथ का वर्जन है।

६. दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ भावओ तहा।
जयणा चउव्विहा वुत्ता तं मे कित्तयओ सुण॥

[६] द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से यतना चार प्रकार की कही गई है। उसे मैं कह रहा हूँ, सुनो।

७. दव्वओ चक्खुसा पेहे जुगमित्तं च खेत्तओ।
कालओ जाव रीएज्जा उवउत्ते य भावओ॥

[७] द्रव्य (की अपेक्षा) से—नेत्रों से (गन्तव्य मार्ग को) देखे, क्षेत्र से—युगप्रमाण भूमि को देखे, काल से—जब तक चलता रहे, तब तक देखे और भाव से—उपयोगपूर्वक गमन करे।

८. इन्दियत्थे विवज्जित्ता सज्झायं चेव पंचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे उवउत्ते इरियं रिए॥

[८] (गमन करते समय) इन्द्रिय-विषयों और पांच प्रकार के स्वाध्याय को छोड़ कर, केवल गमन-क्रिया में ही तन्मय होकर, उसी को 'प्रमुख (आगे)' करके (महत्त्व देकर) उपयोगपूर्वक गति (ईर्या) करे।

विवेचन—चार प्रकार की परिशुद्धि क्यों ?—ईर्यासमिति की परिशुद्धि के लिए जो चार प्रकार बताए हैं, उनका आशय यह है कि मुनि निरुद्देश्य गमनादि प्रवृत्ति न करे। वह किसलिए गमन करे? कब गमन करे? किस क्षेत्र के गमन करे? और किस विधि से करे? ये चारों भाव ईर्या के साथ लगाये। तभी परिशुद्धि हो सकती है। वह ज्ञान, दर्शन अथवा चारित्र के उद्देश्य से गमन करे। दिन में ही गमन करे, रात्रि में ईर्याशुद्धि नहीं हो सकती। रात्रि में बड़ी नीति, लघुनीति परिष्ठापन के लिए गमन करना पड़े तो प्रमार्जन करके चले। मार्ग से—उन्मार्ग को छोड़कर गमन करे, क्योंकि उन्मार्ग पर जाने से आत्मविराधना आदि दोष संभव हैं। यतना चार प्रकार की है—द्रव्य से नेत्रों से देख भाल कर गमन करे। क्षेत्र से युगमात्र भूमि देख कर चले। काल से जहाँ तक चले, देख कर चले तथा भाव से उपयोगसहित चले।[1]

जुगमित्तं तु खेत्तओ—युगमात्र का विलोकन—युग का अर्थ है—गाड़ी का जुआ। गाड़ी

---

१. (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र १९०
(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९७६

का जुआ पीछे से विस्तृत और प्रारम्भ में संकड़ा होता है, वैसी ही साधु की दृष्टि हो। युग लगभग ३।। हाथ प्रमाण लम्वा होता है, इसलिए मुनि ३।। हाथ प्रमाण भूमि देख कर चले।[1]

दस बोलों का वर्जन—इन्द्रियों के शब्दादि पांच विषयों को तथा वाचना आदि पांच प्रकार के स्वाध्याय को—यानी इन दस वोलों को छोड़ कर गमन करे।[2]

गमन के समय स्वाध्याय भी वर्ज्य कहा गया है। क्योंकि स्वाध्याय में उपयोग लगाने से मार्ग संबंधी उपयोग नहीं रह सकता। दो उपयोग एक साथ होते नहीं हैं।

भाषासमिति

९. कोहे माणे य मायाए लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए विगहासु तहेव य॥

[९] क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मौखर्य और विकथाओं के प्रति सतत उपयोगयुक्त होकर रहे।

१०. एयाइं अट्ठ ठाणाइं परिवज्जित्तु संजए।
असावज्जं मियं काले भासं भासेज्ज पन्नवं॥

[१०] प्रज्ञावान् संयमी साधु इन आठ (पूर्वोक्त) स्थानों को त्यागकर उपयुक्त समय पर निरवद्य (दोषरहित) और परिमित भाषा वोले।

विवेचन—असावज्जं—असावद्य अर्थात्—पाप (-दोष) रहित निरवद्य।

क्रोधादिवश वोलने का निषेध—जव क्रोधादि के वश या क्रोध आदि के आवेश में बोला जाता है, तब प्रायः शुभ भाषा नहीं बोली जाती, अतएवं वोलते समय क्रोधादि के आवेश का त्याग करना चाहिए।[3]

एषणाशुद्धि के लिए एषणा समिति

११. गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणा य जा।
आहारोवहि-सेज्जाए एए तिन्नि विसोहए॥

[११] गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा से आहार, उपधि और शय्या, इन तीनों का परिशोधन करे।

१२. उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयंमि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई॥

[१२] यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला संयत, प्रथम एषणा (आहारादि की गवेषणा)

---

१. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९७५-९७६
(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र १९०

२. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ३ पृ. ९७६

३. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र १९१

में उद्गम और उत्पादना संबंधी दोषों का शोधन करे। दूसरी एषणा (ग्रहणैषणा) में आहारादि ग्रहण करने से सम्बन्धित दोषों का शोधन करे तथा परिभोगैषणा में दोषचतुष्टय का शोधन करे।

विवेचन—गवेसणा—गाय की तरह एषणा अर्थात् शुद्ध आहार की खोज (तलाश) करना।

ग्रहणैषणा—ग्रहणा का अर्थ है विशुद्ध आहार लेना, अथवा आहार ग्रहण के सम्बन्ध में एषणा अर्थात् विचार ग्रहणैषणा कहलाती है।

परिभोगैषणा—परिभोग का अर्थ है—भोजन के मण्डल में बैठकर भोजन का उपभोग (सेवन) करते समय की जाने वाली एषणा।

तीनों एषणाएँ : तीन विषय में—पूर्वोक्त तीनों एषणाएँ केवल आहार के विषय में ही शोधन नहीं करनी है, अपितु आहार, उपधि (वस्त्र-पात्रादि) और शय्या (उपाश्रय, संस्तारक आदि), इन तीनों के विषय में शोधन करनी हैं।

किस एषणा में किन दोषों का शोधन आवश्यक ?—गवेषणा (प्रथम एषणा) में आधाकर्म आदि १६ उद्गम के और धात्री आदि १६ उत्पादना के दोषों का शोधन करना है। ग्रहणैषणा में शंकित आदि १० एषणा के दोषों का तथा परिभोगैषणा में संयोजना, प्रमाण, अंगार-धूम और कारण, इन चार दोषों का शोधन करना है। अगर अंगार और धूम इन दो दोषों को अलग-अलग मानें तो परिभोगैषणा के ५ दोष होने से कुल १६+१६+१०+५=४७ दोष होते हैं। यहाँ अंगार और धूम दोनों दोष मोहनीयकर्म के अन्तर्गत होने से दोनों को मिला कर एक दोष कहा गया है।[१]

परिभोगैषणा में चतुष्कविशोधन—परिभोगैषणा में चार वस्तुओं का विशोधन करने का विधान दशवैकालिकसूत्र के अनुसार इस प्रकार है—'**पिण्डं सेज्जं च वत्थं च चउत्थं पायमेव य।**' अर्थात्—पिण्ड, शय्या, वस्त्र और चौथा पात्र, इन चार का उद्गमादि दोषों के परिहार पूर्वक सेवन करे।[२]

आदान-निक्षेपसमिति : विधि

१३. ओहोवहोवग्गहियं भण्डगं दुविहं मुणी।
गिण्हन्तो निक्खिवन्तो य पउंजेज्ज इमं विहिं॥

[१३] मुनि ओघ-उपधि और औपग्रहिक-उपधि, इन दोनों प्रकार के भाण्डक (अर्थात् उपकरणों) को लेने और रखने में इस (आगे कही गई) विधि का प्रयोग करे।

१४. चक्खुसा पडिलेहित्ता पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए निक्खिवेज्जा वा दुहओ वि समिए सया॥

[१४] समितिवान् (उपयोगयुक्त) एवं यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला मुनि पूर्वोक्त दोनों

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भाग २, पत्र १९२

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१७ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९८१

प्रकार के उपकरणों को सदा आँखों से पहले प्रतिलेखन (देख-भाल) करके और फिर प्रमार्जन करके ग्रहण करे या रखे।

विवेचन—ओघोपधि और औपग्रहिकोपधि—उपधि अर्थात् उपकरण, रजोहरण आदि नित्य-ग्राह्य रूप सामान्य उपकरण को औधिक उपधि और कारणवश ग्राह्य दण्ड आदि विशेष उपकरण को औपग्रहिक उपधि कहते हैं।[1]

पडिलेहित्ता पमज्जेज्ज—जिस उपकरण को उठाना या रखना हो, उसे पहले आँखों से भलीभांति देख-भाल (प्रतिलेखन कर) ले, ताकि उस पर कोई जीव-जन्तु न हो, फिर रजोहरण आदि से प्रमार्जन कर ले, ताकि कोई जीव-जन्तु हो तो वह धीरे से एक ओर कर दिया जाए, उसकी विराधना न हो।[2]

परिष्ठापनासमिति : प्रकार और विधि

१५. उच्चारं पासवणं खेलं सिंघाण-जल्लियं।
आहारं उवहिं देहं अन्नं वावि तहाविहं॥

[१५] उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म, सिंघानक, जल्ल, आहार, उपधि, शरीर तथा अन्य इस प्रकार की परिष्ठापन-योग्य वस्तु का विवेकपूर्वक स्थण्डिलभूमि में उत्सर्ग करे।

१६. अणावायमसंलोए अणावाए चेव होइ संलोए।
आवायमसंलोए आवाए चेय संलोए॥

[१६] स्थण्डिलभूमि चार प्रकार की होती है—(१) अनापात-असंलोक, (२) अनापात-संलोक, (३) आपात-असंलोक और (४) आपात-संलोक।

१७. अणावायमसंलोए परस्सऽणुवघाइए।
समे अज्झुसिरे यावि अचिरकालकयंमि य॥
१८. वित्थिण्णे दूरमोगाढे नासन्ने बिलवज्जिए।
तसपाण-बीयरहिए उच्चाराईणि वोसिरे॥

[१७-१८] जो भूमि (१) अनापात-असंलोक हो, (२) उपघात (दूसरे के और प्रवचन के उपघात) से रहित हो, (३) सम हो, (४) अशुषिर (पोली नहीं) हो तथा (५) कुछ समय पहले ही (दाहादि से) निर्जीव हुई हो, (६) जो विस्तृत हो, (७) गाँव (वस्ती), बगीचे आदि से दूर हो, (८) बहुत नीचे (चार अंगुल तक) अचित्त हो, (९) बिल से रहित हो तथा (१०) त्रस प्राणी और बीजों से रहित हो, ऐसी (१० विशेषताओं वाली) भूमि में उच्चार (मल) आदि का विसर्जन करे।

---

१. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९८२
(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र १९२
२. (क) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा. २, पत्र १९२
(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९८३

विवेचन—उच्चार आदि पदों के विशेषार्थ—उच्चार—मल, **प्रस्रवण**—मूत्र, **खेल**—श्लेष्म-कफ, **सिंघाण**—नाक का मैल (लींट), **जल्ल**—शरीर का मैल, पसीना, आहार (परिष्ठापन योग्य), उपकरण (उपधि) और शरीर (मृत शव) तथा **अन्य**—भुक्त शेष अन्न-जल (ऐंठवाड़) या टूटे पात्र, फटे हुए वस्त्र आदि का विवेक पूर्वक स्थण्डिलभूमि में व्युत्सर्ग करे।[1]

अनापात-असंलोक आदि चतुर्विध स्थण्डिलभूमि—(१) **अनापात-असंलोक**—जहाँ लोगों का आवागमन न हो तथा दूर से भी वे न दीखते हों, (२) **अनापात-संलोक**—जहाँ लोगों का आवागमन न हो, किन्तु लोग दूर से दीखते हों, (३) **आपात-असंलोक**—लोगों का जहाँ आवागमन हो, किन्तु वे दीखते न हों और (४) **आपात-संलोक**—जहाँ लोगों का आवागमन भी हो, और वे दिखाई भी देते हों। इन चारों प्रकार की स्थण्डिलभूमियों में से प्रथम प्रकार की अनापात-असंलोक भूमि ही विसर्जन योग्य होती है।[2]

अचिरकालकयंमि—इसका अर्थ है कि स्वल्पकाल पूर्व दग्ध स्थानों में मलादि विसर्जन करे। बृहद्वृत्तिकार इसका आशय बताते हैं कि स्वल्पकाल पूर्व जो स्थान दग्ध होता है, वह सर्वथा अचित्त (निर्जीव) होता है, जो चिरकालदग्ध होते हैं, वहाँ पृथ्वीकायादि के जीव पुनः उत्पन्न हो जाते हैं।[3]

समिति का उपसंहार और गुप्तियों का प्रारम्भ

१९. एयाओ पंच समिईओ समासेण वियाहिया।
एत्तो य तओ गुत्तीओ वोच्छामि अणुपुव्वसो॥

[१९] ये पांच समितियाँ संक्षेप में कही गई हैं, अब यहाँ से तीन गुप्तियों के विषय में क्रमशः कहूँगा।

मनोगुप्ति : प्रकार और विधि

२०. सच्चा तहेव मोसा य सच्चामोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा मणगुत्ती चउव्विहा॥

[२०] मनोगुप्ति चार प्रकार की है—(१) सत्या (सच), (२) मृषा (झूठ) तथा (३) सत्यामृषा (सच और झूठ मिश्रित) और चौथी (४) असत्यामृषा (जो न सच है, न झूठ है केवल लोकव्यवहार है)।

२१. संरम्भ—समारम्भे आरम्भे य तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु नियत्तेज्ज जयं जई॥

[२१] यतनावान् यति (मुनि) संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त होते हुए मन का निवर्त्तन करे।

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र १९२
२. (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र १९३
　(ख) उत्तरा. (साध्वी चन्दना), पृ. २५४
३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५१८
　(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र १९३

विवेचन—चतुर्विध मनोगुप्तियों का स्वरूप—(१) सत्य मनोगुप्ति—मन में सत् (सत्य) पदार्थ के चिन्तनरूप मनोयोग सम्बन्धी गुप्ति। जैसे—जगत् में जीव तत्त्व है, यों सत्य पदार्थ का चिन्तन। (२) **असत्य मनोगुप्ति**—असत्पदार्थ के चिन्तनरूप मनोयोग सम्बन्धी गुप्ति। यथा—जगत् में जीवतत्त्व नहीं है। (३) **सत्यामृषा मनोगुप्ति**—सत् और असत् दोनों के चिन्तनरूप मनोयोग सम्बन्धी गुप्ति। यथा—आम्र आदि विविध वृक्षों का वन देख कर, यह आम्र का वन है, ऐसा चिन्तन करना। (४) **असत्यामृषा मनोगुप्ति**—जो चिन्तन सत्य भी न हो, असत्य भी न हो। यथा—देवदत्त! घड़ा ले आए, इत्यादि आदेश-निर्देशात्मक वचन का मन में चिन्तन करना।[1]

मनोगुप्ति के लिए मन को तीन के चिन्तन से हटाना—प्रस्तुत गाथा २१ में शास्त्रकार ने कहा है, यदि मनोगुप्ति करना चाहते हो तो मन को संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ, इन तीनों में प्रवृत्त होने से रोको; किसी शुभ या शुद्ध संकल्प में मन को प्रवृत्त करो। (१) **संरम्भ**—अशुभ संकल्प करना। जैसे—'मैं ऐसा ध्यान करूं, जिससे वह मर जाएगा, या मरे।' (२) **समारम्भ**—परपीड़ाकारक उच्चाटनादि से सम्बन्धित ध्यान को उद्यत होना। जैसे—मैं अमुक को उच्चाटन आदि करके पीड़ा पहुँचाऊँगा या पहुँचाऊँ, जिससे उसका उच्चाटन हो जाए। (३) **आरम्भ**—दूसरों के प्राणों को कष्ट कर सकने वाले अशुभ परिणाम करना। ऐसे अशुभ में प्रवर्त्तमान मन को अशुभ से हटा कर आगमोक्त विधि अनुसार शुभ में प्रवृत्त करे।[2]

वचनगुप्ति : प्रकार और विधि

२२. सच्चा तहेव मोसा य सच्चामोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा वइगुत्ती चउव्विहा॥

[२२] वचनगुप्ति के चार प्रकार हैं—(१) सत्या, (२) मृषा, तथा (३) सत्यामृषा और (४) असत्यामृपा।

२३. संरम्भ-समारम्भे आरम्भे य तहेव य।
वयं पवत्तमाणं तु नियत्तेज्ज जयं जई॥

[२३] यतनावान् यति (मुनि) संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्त्तमान वचन का निवर्त्तन करे (रोके और शुभ में प्रवृत्त करे)।

विवेचन—सत्या आदि चारों वचनगुप्तियों का स्वरूप—मनोगुप्ति की तरह ही समझना चाहिए। अन्तर इतना ही है कि मनोगुप्ति में मन में चिन्तन है, जब कि वचनगुप्ति में वचन से बोलना है।[3]

वचनगुप्ति के लिए तीन से वचन को हटाना— संरम्भ—दूसरे का विनाश करने में समर्थ मंत्रादि गिनने के संकल्प के सूचक शब्द बोलना। **समारम्भ**—परपीड़ाकारक मंत्रादि जपने को उद्यत

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र १९४
२. वही भा. २, पत्र १९४
३. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९९० (ख) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा. २. पत्र १९४

होना और आरम्भ—दूसरे को विनष्ट करने के कारणरूप मंत्रादि का जाप करना। इन तीनों प्रकार के वचनों से अपनी जिह्वा को रोके और तत्काल शुभवचन में प्रवृत्त करे।[1]

कायगुप्ति : प्रकार और विधि

२४. ठाणे निसीयणे चेव तहेव य तुयट्टणे।
उल्लंघण-पल्लंघणे इन्दियाण य जुंजणे॥

[२४] खड़े होने में, बैठने में, त्वग्वर्त्तन—(करवट बदलने या लेटने) में तथा उल्लंघन (खड्डा, खाई वगैरह लांघने) में, प्रलंघन (सीधा चलने-फिरने) में और इन्द्रियों के (शब्दादि विषयों के) प्रयोग में (प्रवर्त्तमान मुनि कायगुप्ति करे। वह इस प्रकार—)।

२५. संरम्भ-समारम्भे आरम्भम्मि तहेव य।
कायं पवत्तमाणं तु नियत्तेज्ज जयं जई॥

[२५] यतनावान् यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवृत्त होती हुई काया का निवर्त्तन करे।

विवेचन—कायगुप्ति के लिए संरम्भादि से काया को रोकना आवश्यक—संरम्भ का अर्थ यद्यपि संकल्प होता है, तथापि यहाँ उपचार से अर्थ होता है—मारने के लिए मुक्का तानना, लाठी उठाना, अर्थात् किसी को मारने के लिए उद्यत होना। **समारम्भ**—लात, मुक्का आदि से मारना, चोट पहुँचाना तथा **आरम्भ**—प्राणियों के वध के लिए लाठी, तलवार आदि का उपयोग करना। काया जब संरम्भादि में से किसी में प्रवृत्त हो रही हो, तभी उसे रोकना कायगुप्ति है।[2]

समिति और गुप्ति में अन्तर

२६. एयाओ पंच समिईओ चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता असुभत्थेसु सव्वसो॥

[२६] ये पांच समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए हैं और तीन गुप्तियाँ समस्त अशुभ विषयों (अर्थों) से निवृत्ति के लिए कही गई हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—समितियां प्रवृत्तिरूप हैं, जब कि गुप्तियाँ प्रवृत्ति-निवृत्ति उभयरूप हैं।[3]

---

१. (क) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भाग २, पत्र १९४
   (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९९१
२. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९९३
३. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ३, पृ. ९९४

प्रवचनमाताओं के आचरण का सुफल

२७. एया पवयणमाया जे सम्मं आयरे मुणी ।
से खिप्पं सव्वसंसारा विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥
—त्ति बेमि

[२७] जो पण्डित मुनि इन प्रवचनमाताओं का सम्यक् आचरण करता है, वह शीघ्र ही समग्र संसार (जन्म-मरणरूप चातुर्गतिक संसार) से मुक्त हो जाता है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

॥ प्रवचनमाता : चौवीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

पच्चीसवाँ अध्ययन : यज्ञीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत पच्चीसवें अध्ययन का नाम 'यज्ञीय' (जन्नइज्ज) है। इसका मुख्य प्रतिपादित विषय यज्ञ से सम्बन्धित है।

* भगवान् महावीर के युग में बाह्य हिंसाप्रधान एवं लौकिककामनामूलक अथवा स्वर्गादि कामनाओं से प्रेरित यज्ञों की धूम थी। यज्ञ का प्रधान संचालक यायाजी (याज्ञिक) वेदों का पाठक ब्राह्मण हुआ करता था। ये यज्ञ ब्राह्मणसंस्कृति-परम्परागत होते थे।

* श्रमणसंस्कृति तप, संयम, समत्व आदि में यतना करने को. त्यागप्रधान नियमों को यज्ञ कहती थी। ऐसे यज्ञ को भावयज्ञ कहा जाता था। ब्राह्मणसस्कृति के प्रतिनिधि को ब्राह्मण और श्रमणसंस्कृति के प्रतिनिधि को श्रमण कहते थे। ब्राह्मणसंस्कृति उस समय कर्मकाण्ड पर जोर देती थी, जब कि श्रमणसंस्कृति सम्यग्ज्ञान, दर्शन, तप, त्याग, संयम आदि पर। श्रमणों के ज्ञान-दर्शन-चारित्र के कारण श्रमणसंस्कृति का प्रभाव साधारण जनता पर सीधा पड़ता था।

* वाराणसी में जयघोष और विजयघोष दो भाई थे, जो काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। वे वेदों के ज्ञाता थे। एक दिन जयघोष गंगातट पर स्नानार्थ गया, वहाँ उसने देखा कि एक सर्प मेंढक को निगल रहा है और कुरर पक्षी सर्प को। इस दृश्य का जयघोष के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसे संसार से विरक्ति हो गई, फलतः उसने एक जैन श्रमण से दीक्षा ले ली।

* एक बार श्रमण जयघोष विहार करता हुआ वाराणसी आ पहुँचा। भिक्षाटन करते-करते वह अनायास ही विजयघोष के यज्ञमण्डल में पहुँच गया, जहाँ विजयघोष यज्ञ कर रहा था। विजयघोष ने जयघोष श्रमण को नहीं पहचाना। उसने तिरस्कारपूर्वक भिक्षा देने से मना कर दिया। समभावी जयघोष को इससे कोई दुःख न हुआ। उसने विजयघोष को बोध देने की दृष्टि से कहा—तुम जो यज्ञ कर रहे हो, वह सच्चा नहीं है। अन्ततः विजयघोष जयघोष की युक्तियों के आगे निरुत्तर हो गया। फिर जिज्ञासावश विजयघोष के पूछने पर जयघोष ने वेद, ब्राह्मण, यज्ञ आदि के लक्षण बताए, जो यहाँ कई गाथाओं में वर्णित हैं। इस समाधान से विजयघोष अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। उसे सांसारिक कामभोगों से विरक्ति हो गई और वह श्रमण-धर्म में प्रव्रजित हो गया। श्रमणधर्म की सम्यक् साधना करके जयघोष और विजयघोष दोनों ही अन्त में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए। □□

पंचविसइमं अज्झयणं : पच्चीसवाँ अध्ययन

जन्नइज्जं : यज्ञीय

जयघोष : ब्राह्मण से यमयायाजी महामुनि

१. माहणकुलसंभूओ आसि विप्पो महायसो ।
जायाई जमजन्नंमि जयघोसे त्ति नामओ ॥

[१] ब्राह्मणकुल में उत्पन्न महायशस्वी जयघोष नाम का ब्राह्मण था जो यमरूप यज्ञ में (अनुरक्त) यायाजी था ।

२. इन्दियग्गामनिग्गाही मग्गगामी महामुणी ।
गामाणुगामं रीयन्ते पत्तो वाणारसिं पुरिं ॥

[२] वह इन्द्रिय-समूह का निग्रह करने वाला, मार्गगामी महामुनि हो गया था । एक दिन ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ वह वाराणसी पहुँच गया ।

३. वाणारसीए बहिया उज्जाणंमि मणोरमे ।
फासुए सेज्जसंथारे तत्थ वासमुवागए ॥

[३] उसने वाराणसी के बाहर मनोरम नामक उद्यान में प्रासुक शय्या (वसति) और संस्तारक (—पीठ, फलक आदि आसन) लेकर निवास किया ।

विवेचन—ब्राह्मण से यमयायाजी—वाराणसीनिवासी जयघोष और विजयघोष दोनों सगे भाई काश्यपगोत्रीय विप्र थे । एक दिन जयघोष ने गंगा तट पर एक मेंढक को निगलते सांप को देखा, जिसे एक कुररपक्षी अपनी चोंच से पछाड़ कर खा रहा था । संसार की ऐसी दुःखदायी स्थिति देख कर जयघोष को विरक्ति हो गई । धर्म का ही आश्रय लेने का विचार हुआ । गंगा के दूसरे तट पर उत्तम मुनियों को देखा, उनका धर्मोपदेश सुना और निर्ग्रन्थमुनिदीक्षा ग्रहण करके वह पंचमहाव्रत (यम) रूप यज्ञ का यायाजी बना ।[1]

जायाई जमजण्णंसि—यम का अर्थ यहां पंचमहाव्रत है । यमयज्ञ का अर्थ है—पंचमहाव्रत-रूप यज्ञ, उसका यायाजी (बार-बार यज्ञ करने वाला) ।[2]

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर), पत्र १९६

२. 'यमाः—अहिंसा-सत्याऽस्तेय-ब्रह्म-निर्लोभाः पंच, त एव यज्ञो—यमयज्ञस्तस्मिन् यमयज्ञे, अतिशयेन पुनः पुनः यज्ञकरणशीलः—यायाजी । अर्थात्—पंचमहाव्रतरूपे यज्ञे याज्ञिको —मुनिः जातः ।'

—अभि. रा. कोष भा. ४, पृ. १४१९

मग्गगामी—मार्ग अर्थात्—सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में गमन करने-कराने वाला।

गामाणुगामं रीअंते—एक ग्राम से दूसरे ग्राम पैदल विहार करता हुआ।[1]

जयघोष मुनि : विजयघोष के यज्ञ में

४. अह तेणेव कालेणं पुरीए तत्थ माहणे।
विजयघोसे त्ति नामेण जन्नं जयइ वेयवी॥

[४] उसी समय उस नगरी में वेदों का ज्ञाता विजयघोष नाम का ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था।

५. अह से तत्थ अणगारे मासक्खमणपारणे।
विजयघोसस्स जन्नंमि भिक्खस्सऽट्ठा उवट्ठिए॥

[५] एक मास की तपश्चर्या (मासखमण) के पारणा के समय जयघोष मुनि विजयघोष के यज्ञ में उपस्थित हुए।

विवेचन—जन्नं जयई— प्राचीनकाल में कर्मकाण्डी मीमांसक 'यज्ञ' को ब्राह्मण के लिए श्रेष्ठतम कर्म मानते थे। बड़े-बड़े यज्ञसमारोहों में 'पशुबलि' दी जाती थी। श्रमणसंस्कृति के उन्नायकों नें ऐसे यज्ञ का विरोध किया और पंचमहाव्रतरूप भावयज्ञ का प्रतिपादन किया। जिसमें अज्ञान, पापकर्म आदि की आहुति दी जाती है। प्रस्तुत में विजयघोष, जोकि जयघोष मुनि का गृहस्थपक्षीय सहोदर था, ऐसे ही किसी हिंसक यज्ञ का अनुष्ठान कर रहा था। उसके भाई जयघोष अनगार जो पंचमहाव्रतरूप अहिंसक यंज्ञ के याज्ञिक बने हुये थे, विजयघोष के द्वारा आयोजित यज्ञ (मण्डप) में भिक्षा के लिए पहुँचे।[2]

यज्ञकर्ता द्वारा भिक्षादान का निषेध एवं मुनि की प्रतिक्रिया

६. समुवट्ठियं तहिं सन्तं जायगो पडिसेहए।
न हु दाहामि ते भिक्खं भिक्खू ! जायाहि अन्नओ॥

[६] यज्ञकर्ता ब्राह्मण भिक्षा के लिए वहाँ उपस्थित मुनि को मना करता है—'भिक्षु ! मैं तुम्हें भिक्षा नहीं दूंगा। अन्यत्र याचना करो।'

७. जे य वेयविऊ विप्पा जन्नट्ठा य जे दिया।
जोइसंगविऊ जे य जे य धम्माण पारगा॥

[७] जो वेदों के ज्ञाता विप्र (ब्राह्मण) हैं, जो यज्ञ के ही प्रयोजन वाले द्विज (संस्कार से द्विजन्मा) हैं, जो ज्योतिषशास्त्र के अंगों के वेत्ता हैं तथा जो धर्मों (-धर्मशास्त्रों) के पारगामी हैं।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२२ : मार्गं मोक्षं गच्छति स्वयं, अन्यान् गमयतीति मार्गगामी।

२. (क) 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।' —शतपथब्राह्मण १।७।४।५
(ख) अग्निष्टोमीयं पशुमालभेत।— वेद
(ग) देखिये, उत्तरा. अ. १२ गा. ४२, ४४ में अहिंसक यज्ञ का स्वरूप
(घ) बृहद्वृत्ति, पत्र ५

८. जे समत्था समुद्धत्तुं परं अप्पाणमेव य।
तेसिं अन्नमिणं देयं भो भिक्खू ! सव्वकामियं ॥

[८] जो अपना और दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हैं, उन्हीं को हे भिक्षु ! यह सर्व-कामिक (समस्त इष्ट वस्तुओं से युक्त) अन्न देने योग्य है।

९. सो एवं तत्थ पडिसिद्धो जायगेण महामुणी।
न वि रुट्ठो न वि तुट्ठो उत्तमट्ठ—गवेसओ ॥

[९] वहाँ (यज्ञपाटक में) इस प्रकार याजक (विजयघोष) के द्वारा इन्कार किये जाने पर वह महामुनि (जयघोष) न तो रुष्ट हुए और न तुष्ट (प्रसन्न) हुए। (क्योंकि वह) उत्तम अर्थ (मोक्ष) के गवेषक (-अभिलाषी) थे।

विवेचन—विप्र और द्विज में अन्तर—यद्यपि 'विप्र' और 'द्विज' दोनों सामान्यतया ब्राह्मण अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु बृहद्वृत्तिकार ने इन दोनों के अन्तर को स्पष्ट किया है—ब्राह्मण जाति में उत्पन्न होने वाले 'विप्र' कहलाते हैं और जो व्यक्ति योग्य वय प्राप्त होने पर यज्ञोपवीत आदि से संस्कारित होते हैं, उन्हें संस्कार की अपेक्षा से 'द्विज' (दूसरा जन्म ग्रहण करने वाले) कहा जाता है।

प्राचीन काल में जो वेदपाठी होते थे, वे विप्र तथा जो वेदज्ञाता होने के साथ-साथ यज्ञ करते-कराते थे, वे द्विज कहलाते थे।[1]

जोइसंगविऊ—यद्यपि ज्योतिषशास्त्र वेद का एक अंग है, वह 'वेदवित्' शब्द के प्रयोग से गृहीत हो जाता है, तथापि यहाँ ज्योतिषशास्त्र को पृथक् अंकित किया गया है, वह इसकी प्रधानता को बताने के लिए है। अर्थात् वेदवेत्ता होते हुए भी जो ज्योतिष रूप अंग का विशेष रूप से ज्ञाता हो। चूंकि ज्योतिष कालविधायक शास्त्र है, वह वेद का नेत्र है तथा वेद के मुख्य विहित यज्ञों से ज्योतिष का विशिष्ट सम्बन्ध है, फलतः ज्योतिष का ज्ञाता ही यज्ञ का ज्ञाता है, इस महत्त्व के कारण 'ज्योतिषांगवित्' शब्द का पृथक् प्रयोग किया गया है।[2]

सव्वकामियं—(१) जिसमें कामिक अर्थात् अभिलषणीय सर्व वस्तुएँ हैं, (२) सर्व (षड्) रस-सिद्ध अथवा (३) सबको अभीष्ट।

समुद्धत्तुं—समुद्धार करने—तारने में।[3]

निर्ग्रन्थ मुनि का समत्वयुक्त आचार—उत्तराध्ययन के १९ वें अध्ययन की गाथा ९० के अनुसार लाभालाभ आदि में ही नहीं, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, मानापमान में भी समभाव

१. (क) विप्रा जातितः, ये द्विजाः-संस्कारापेक्षया द्वितीयजन्मानः। (ख) 'संस्काराद् द्विज उच्यते।'
(ग) 'वेदपाठी भवेद् विप्रः।' (घ) 'जे य वेयविऊ विप्पा, जन्नट्ठा य जे दिया।' —उत्तरा. अ. २५, गा. ७

२. (क) 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां गतिः।
ज्योतिषश्च षडंगानि.........................॥'
(ख) 'यद्यपि ज्योतिःशास्त्रं वेदस्यांगमेवास्ति 'वेदविद्' इत्युक्ते आगतम्, तथापि अत्र ज्योतिःशास्त्रस्य पृथगुपादानं प्राधान्यख्यापनार्थम्।' —उत्तरा. वृत्ति, अ. रा. कोष भा. ४, पृ. १४१९

३. सर्वकामिकं, षड्रससिद्धं, सर्वाभिलषितम्। —उत्तरा. वृत्ति, अ. रा. कोष भा. ४, पृ. १४१९
—उत्तरा. (गु. भाषान्तर), पत्र १९७

रखना निर्ग्रन्थ मुनि का प्रमुख आचार है। उसी का जयघोष मुनि ने यहाँ परिचय दिया है। वे भिक्षा के लिए याज्ञिक द्वारा इन्कार करने पर भी न रुष्ट हुए, न प्रसन्न।[1]

जयघोष मुनि द्वारा विमोक्षणार्थ उत्तर

१०. नऽन्नट्ठं पाणहेउं वा न वि निव्वाहणाय वा।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए इमं वयणमब्बवी॥

[१०] न अन्न के लिए, न जल के लिए और न जीवननिर्वाह के लिए, किन्तु उस विप्र के विमोक्षण (मिथ्याज्ञान-दर्शन से मुक्त करने) हेतु मुनि ने यह वचन कहा—

११. न वि जाणासि वेयमुहं न वि जन्नाण जं मुहं।
नक्खत्ताण मुहं जं च जं च धम्माण वा मुहं॥

[११] (जयघोष मुनि—) तुम वेद के मुख को नहीं जानते और न यज्ञों का जो मुख है, नक्षत्रों का जो मुख है और धर्मों का जो मुख है, उसे ही जानते हो।

१२. जे समत्था समुद्धत्तुं परं अप्पाणमेव य।
न ते तुमं वियाणासि अह जाणासि तो भण॥

[१२] अपने और दूसरों के उद्धार करने में जो समर्थ हैं, उन्हें भी तुम नहीं जानते। यदि जानते हो तो बताओ।

विवेचन—धर्मोपदेश किसलिए?—प्रस्तुत दसवीं गाथा में साधु को धर्मोपदेश या प्रबोध देने की नीति का रहस्योद्घाटन किया गया है। आचारांगसूत्र में बताया गया है कि साधु को इस दृष्टि से धर्मोपदेश नहीं देना चाहिए कि मेरे उपदेश से प्रसन्न होकर ये मुझे अन्न-पानी देंगे। न वस्त्र-पात्रादि के लिए वह धर्म-कथन करता है। किन्तु संसार से निस्तार के लिए अथवा कर्मनिर्जरा के लिए धर्मोपदेश देना चाहिए।[2]

विमोक्खणट्ठाए—(१) कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त कराने हेतु अथवा (२) अज्ञान और मिथ्यात्व से मुक्त करने हेतु।[3]

'मुख' शब्द के विभिन्न अर्थ—प्रस्तुत ११वीं गाथा में मुख (मुंह) शब्द का चार स्थानों पर प्रयोग हुआ है। इसमें से प्रथम और तृतीय चरण में प्रयुक्त 'मुख' शब्द का अर्थ—**'प्रधान'**, एवं द्वितीय और चतुर्थ चरण में प्रयुक्त 'मुख' शब्द का अर्थ—**'उपाय'** है।[4]

---

१. (क) उत्तरा. अ. १९, गा. ९ (ख) दशवै. अ. ५।२, गा. २७-२८
२. (क) एवं ज्ञात्वा नाऽब्रवीत्-येनाऽहं एभ्य उपदेशं ददामि, एते प्रसन्ना मह्यं सम्यक् अन्नपानं ददति—इति बुद्ध्या।··· ···अपि च वस्त्रपात्रादिकानां निर्वाह एभ्यो मम भविष्यति तेन हेतुना नाऽब्रवीदिति भावः।
(ख) से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे········।
३. (क) विमोक्षणार्थं—कर्मबन्धनात् मुक्तिकरणार्थं। —उत्तरा. वृत्ति, अभि. रा. को. भा. ४, पृ. १४१९
(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र १९८
४. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२४

विजयघोष ब्राह्मण द्वारा जयघोष मुनि से प्रतिप्रश्न

१३. तस्सऽक्खेवपमोक्खं च अचयन्तो तहिं दिओ ।
सपरिसो पंजली होउं पुच्छई तं महामुणिं ॥

[१३] उसके आक्षेपों (आक्षेपात्मक प्रश्नों) का प्रमोक्ष (उत्तर देने) में असमर्थ ब्राह्मण (विजयघोष) ने अपनी समग्र परिषद्-सहित हाथ जोड़ कर उन महामुनि से पूछा—

१४. वेयाणं च मुहं बूहि बूहि जन्नाण जं मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं बूहि बूहि धम्माण वा मुहं ॥

[१४] (विजयघोष ब्राह्मण—) तुम्हीं कहो—वेदों का मुख क्या है ? यज्ञों का जो मुख है, उसे बतलाइए, नक्षत्रों का मुख बताइए और धर्मों का मुख भी कहिए ।

१५. जे समत्था समुद्धत्तुं परं अप्पाणमेव य ।
एयं मे संसयं सव्वं साहू ! कहसु पुच्छिओ ॥

[१५] और—जो अपना और दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हैं, उन्हें भी बताइए । 'हे साधु ! मुझे यह सब संशय है', (इसीलिए) मैंने आपसे पूछा है । आप कहिए ।

विवेचन—तस्सऽक्खेवपमोक्खं च अचयंतो—साधु (जयघोष) के आक्षेपों अर्थात् प्रश्नों का प्रमोक्ष अर्थात् उत्तर देने में अशक्त—असमर्थ ।[1]

जयघोष मुनि द्वारा समाधान

१६. अग्गिहोत्तमुहा वेया जन्नट्ठी वेयसां मुहं ।
नक्खत्ताण मुहं चन्दो धम्माणं कासवो मुहं ॥

[१६] वेदों का मुख अग्निहोत्र है, यज्ञों का मुख 'यज्ञार्थी' है, नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है, और धर्मों के मुख हैं—काश्यप (ऋषभदेव) ।

१७. जहा चंदं गहाईया चिट्ठन्ती पंजलीउडा ।
वन्दमाणा नमंसन्ता उत्तमं मणहारिणो ॥

[१७] जैसे उत्तम एवं मनोहारी ग्रह आदि (देव) हाथ जोड़े हुए चन्द्रमा को वन्दन-नमस्कार करते हुए रहते हैं, वैसे ही भगवान ऋषभदेव हैं—(उनके समक्ष भी देवेन्द्र आदि सभी विनयावनत एवं करबद्ध हैं) ।

१८. अजाणगा जन्नवाई विज्जा माहणसंपया ।
गूढा सज्झायतवसा भासच्छन्ना इवऽग्गिणो ॥

[१८] विद्या ब्राह्मण (माहन) की सम्पदा है, यज्ञवादी उससे अनभिज्ञ हैं । वे बाह्य स्वाध्याय और तप से वैसे ही आच्छादित हैं, जैसे राख से आच्छादित (ढंकी हुई) अग्नि ।

---

१. उत्तरा. वृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ४, पृ. १४२०

विवेचन—चार प्रश्नों के उत्तर—विजयघोष द्वारा पूछे गए चार प्रश्नों के उत्तर १६वीं गाथा में, जयघोष मुनि द्वारा इस प्रकार दिये गये हैं—

(१) प्रथम प्रश्न का उत्तर—वेदों का मुख अर्थात् प्रधानतत्त्व यहाँ अग्निहोत्र बताया गया है। अग्निहोत्र का ब्राह्मण-परम्परा में प्रचलित अर्थ विजयघोष को ज्ञात था, किन्तु जयघोष ने श्रमण-परम्परा की दृष्टि से अग्निहोत्र को वेद का मुख बताया है। अग्निहोत्र का अर्थ है—अग्निकारिका, जो कि अध्यात्मभाव है। दीक्षित साधक को कर्मरूपी इन्धन लेकर धर्मध्यानरूपी अग्नि में उत्तम भावना-रूपी घृताहुति देना अग्निहोत्र है। जैसे दही का सारभूत तत्त्व नवनीत है, वैसे ही वेदों का सारभूत तत्त्व आरण्यक है। उसमें सत्य, तप, सन्तोष, क्षमा, चारित्र, आर्जव, श्रद्धा, धृति, अहिंसा और संवर, यह दस प्रकार का धर्म कहा गया है। अतः तदनुसार उपर्युक्त अग्निहोत्र यथार्थ रूप से हो सकता है। इसी अग्निहोत्र में मन के विकार स्वाहा होते हैं।

(२) दूसरे प्रश्न का उत्तर—यज्ञ का मुख अर्थात्—उपाय (प्रवृत्ति-हेतु) यज्ञार्थी बताया है। विजयघोष यज्ञ का उपाय ब्राह्मणपरम्परानुसार जानता ही था, जयघोष मुनि ने आत्मयज्ञ के सन्दर्भ में अपने बहिर्मुख इन्द्रिय एवं मन को असंयम से हटाकर, संयम में केन्द्रित करने वाले संयमरूप भाव-यज्ञकर्ता आत्मसाधक को सच्चा यज्ञार्थी (याजक) बताया है। आत्मयज्ञ में ऐसे ही यज्ञार्थी की प्रधानता है।

(३) तीसरा प्रश्नोत्तर—कालज्ञान से सम्बन्धित है। स्वाध्याय आदि समयोचित कर्त्तव्य के लिए काल का ज्ञान श्रमण और ब्राह्मण दोनों ही परम्पराओं के लिए अनिवार्य था। वह ज्ञान स्पष्टतः होता था—नक्षत्रों से। चन्द्र की हानि-वृद्धि से तिथियों का बोध भलीभांति हो जाता था। अतः मुनि ने यथार्थ उत्तर दिया है, चन्द्र नक्षत्रों में मुख्य है। इस उत्तर की तुलना गीता के इस वाक्य से की जा सकती है—**'नक्षत्राणामहं शशी'** (मैं नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ)।

(४) चतुर्थ प्रश्नोत्तर—धर्मों का मुख अर्थात् श्रुत-चारित्रधर्मों का आदि कारण क्या है—कौन है? धर्म का प्रथम प्रकाश किससे प्राप्त हुआ? जयघोष मुनि का उत्तर है—धर्मों का मुख (आदिकारण) काश्यप है। वर्तमानकालचक्र में आदि काश्यप ऋषभदेव ही धर्म के आदि-प्ररूपक-आदि-उपदेष्टा तीर्थंकर हैं। भगवान् ऋषभदेव ने वार्षिक तप का पारणा काश्य अर्थात्—इक्षुरस से किया था, अतः वे काश्यप नाम से प्रसिद्ध हुए। आगे चल कर यही उनका गोत्र हो गया। स्थानांग-सूत्र में बताया गया है कि मुनिसुव्रत और नेमिनाथ दो तीर्थंकरों को छोड़ कर शेष सभी तीर्थंकर काश्यपगोत्री थे। सूत्रकृतांग से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी तीर्थंकर काश्यप (ऋषभदेव) के द्वारा प्ररूपित धर्म का ही अनुसरण करते रहे हैं। इस सन्दर्भ में बृहद्वृत्तिकार ने आरण्यक का एक वाक्य भी उद्धृत किया है—**'ऋषभ एव भगवान् ब्रह्मा..........।'**[1]

---

१. (क) अग्निहोत्रं हि अग्निकारिका, सा चेयम्—

कर्मेन्धनं समाश्रित्य, दृढा सद्भावनाहुतिः।
धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाऽग्निकारिका ॥

(ख) यज्ञो दशप्रकारः धर्मः—

सत्यं तपश्च सन्तोषः, क्षमा चारित्रमार्जवम्। (क्रमशः)

विज्जामाहणसंपया—सामान्यतया इसका अर्थ होता है—विद्या ब्राह्मणों की सम्पदा है। आरण्यक एवं ब्रह्माण्डपुराण में अंकित अध्यात्मविद्या ही विद्या है। वही ब्राह्मणों की सम्पदा है। क्योंकि तत्त्वज्ञ ब्राह्मण अकिंचन (अपरिग्रही) होने के कारण विद्या ही उनकी सम्पदा होती है। वे आरण्यक में उक्त १० प्रकार के अहिंसादि धर्मों की विद्या जानते हुए ऐसे हिंसक यज्ञ क्यों करेंगे?[1]

सज्झायतवसा गूढा—शंका हो सकती है कि विजयघोष आदि ब्राह्मण तो आरण्यक आदि के ज्ञाता थे, फिर उन्हें उनसे अनभिज्ञ क्यों कहा गया? इसी का रहस्य इस १८ वीं गाथा में प्रकट किया गया है। तथाकथित हिंसापरक याज्ञिक ब्राह्मणों का स्वाध्याय (वेदाध्ययन) और तप गूढ है, अर्थात् राख से ढंकी अग्नि की तरह आच्छादित है। आशय यह है कि जैसे अग्नि बाहर राख से ढंकी होने से ठंडी दिखाई देती है, किन्तु अन्दर उष्ण होती है। वैसे ही ये ब्राह्मण बाहर से तो वेदाध्ययन तथा उपवासादि तपःकर्म आदि के कारण उपशान्त दिखाई देते हैं, मगर अन्दर से वे प्रायः कषायाग्नि से जाज्वल्यमान हैं। इस कारण जयघोष मुनि के कहने का आशय है कि इस प्रकार के ब्राह्मण स्व-पर का उद्धार करने में समर्थ कैसे हो सकते हैं?[2]

वेयसां-वेदसां—यज्ञों का।

सच्चे ब्राह्मण के लक्षण

१९. जे लोए बम्भणो वुत्तो अग्गी वा महिओ जहा।
सया कुसलसंदिट्ठं तं वयं बूम माहणं॥

[१९] जिसे लोक में कुशल पुरुषों ने ब्राह्मण कहा है, जो अग्नि के समान सदा पूजनीय है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२०. जो न सज्जइ आगन्तुं पव्वयन्तो न सोयई।
रमए अज्जवयणंमि तं वयं बूम माहणं॥

श्रद्धा धृतिरहिंसा च, संवरश्च तथा परः। —'आरण्यक ग्रन्थ'
स चात्र भावयज्ञस्तमर्थयति—अभिलषतीति यज्ञार्थी; संयमीत्यर्थः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५२५

(ग) नक्षत्राणामष्टाविंशतीनां मुखं—प्रधानं चन्द्रो वर्तते।
'नक्षत्राणामहं शशी।' —गीता-१०।२१

(घ) धर्माणां श्रुतचारित्रधर्माणां काश्यपः आदीश्वरो मुखं वर्तते। धर्माः सर्वेऽपि तेनैव प्रकाशिता इत्यर्थः।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ५२६

(ङ) काशे भवः काश्यः—रसस्तं पीतवानिति काश्यपस्तदपत्यानि—काश्यपाः। मुनिसुव्रत-नेमिवर्जा जिनाः।
—स्थानांग, ७।५५१

(च) 'कासवस्स अणुधम्मचारिणो०' —सूत्रकृतांग १।२।३।२०

(छ) बृहद्वृत्ति में उद्धृत आरण्यकपाठ, पत्र ५२५

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५२६

२. वही, पत्र ५२५:

[२०] जो (प्रिय स्वजनादि के) आने पर आसक्त नहीं होता और (उनके) जाने पर शोक नहीं करता, जो आर्यवचन (अर्हद्वाणी) में रमण करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२१. जायरूवं जहामट्ठं निद्धन्तमलपावगं।
राग-द्दोस-भयाईयं तं वयं बूम माहणं॥

[२१] (कसौटी पर) कसे हुए और अग्नि के द्वारा दग्धमल (तपा कर शुद्ध) किये हुए जातरूप (स्वर्ण) की तरह जो विशुद्ध है, जो राग, द्वेष और भय से रहित (अतीत) है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२२. तवस्सियं किसं दन्तं अवचियमंस-सोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं तं वयं बूम माहणं॥

[२२] जो तपस्वी है (और तीव्र तप के कारण) कृश है, दान्त है, जिसका मांस और रक्त अपचित (कम) हो गया है, जो सुव्रत है और शान्त (निर्वाणप्राप्त) है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२३. तसपाणे वियाणेत्ता संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं तं वयं बूम माहणं॥

[२३] जो त्रस और स्थावर जीवों को सम्यक् प्रकार से जान कर उनकी मन, वचन और काय से हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२४. कोहा वा जइ वा हासा लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ तं वयं बूम माहणं॥

[२२] जो क्रोध से अथवा हास्य से, लोभ से अथवा भय से असत्य भाषण नहीं करता, उसे, हम ब्राह्मण कहते हैं।

२५. चित्तमन्तमचित्तं वा अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गेण्हइ अदत्तं जे तं वयं बूम माहणं॥

[२५] जो सचित्त या अचित्त, थोड़ी या वहुत अदत्त (वस्तु को) नहीं ग्रहण करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२६. दिव्व-माणुस-तेरिच्छं जो न सेवइ मेहुणं।
मणसा काय-वक्केणं तं वयं बूम माहणं॥

[२६] जो देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का मन से, वचन से और काया से सेवन नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२७. जहा पोमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तो कामेहिं तं वयं बूम माहणं॥

[२७] जिस प्रकार जल में उत्पन्न होकर भी पद्म जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो (कामभोगों के वातावरण में उत्पन्न हुआ मनुष्य) कामभोगों से अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२८. अलोलुयं मुहाजीवी अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु तं वयं बूम माहणं ॥

[२८] जो (रसादि में) लुब्ध नहीं है, जो मुधाजीवी (निर्दोष भिक्षा से जीवन निर्वाह करता) है, जो गृहत्यागी (अनगार) है, जो अकिंचन है, जो गृहस्थों से असंसक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

२९. जहित्ता पुव्वसंजोगं नाइसंगे य बन्धवे ।
जो न सज्जइ एएहिं तं वयं बूम माहणं ॥

[२९] जो पूर्वसंयोगों को, ज्ञातिजनों की आसक्ति को एवं बान्धवों को त्याग कर फिर आसक्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

विवेचन—यमयायाजी ब्राह्मण के लक्षण—१६ वीं गाथा में यज्ञों का मुख यज्ञार्थी कहा गया है, उस आत्मयज्ञार्थी को ही जयघोष मुनि ने ब्राह्मण कहा है । उसके लक्षण मुख्यतया ये बताए हैं—(१) जो लोक में अग्निवत् पूज्य हो, (२) जो स्वजनादि के आगमन एवं गमन पर हर्ष या शोक से ग्रस्त नहीं होता, (३) अर्हत्-वचनों में रमण करता हो, (४) स्वर्णसम विशुद्ध हो, (५) राग, द्वेष एवं भय से मुक्त हो, (६) तपस्वी, कृश, दान्त, सुव्रत एवं शान्त हो, (७) तप से जिसका रक्त-मांस कम हो गया हो, (८) जो मन-वचन-काया से किसी जीव की हिंसा नहीं करता, (९) जो क्रोधादि वश असत्य नहीं बोलता, (१०) जो किसी प्रकार की चोरी नहीं करता, (११) जो मन-वचन-काया से किसी प्रकार का मैथुन सेवन नहीं करता, (१२) जो कामभोगों से अलिप्त रहता है (१३) जो-अनगार, अकिंचन, गृहस्थों में अनासक्त, मुधाजीवी एवं रसों में अलोलुप है और (१४) जो पूर्व संयोगों, ज्ञातिजनों और बान्धवों का त्याग करके फिर उनमें आसक्त नहीं होता ।[1]

मीमांसकमान्य वेद और यज्ञ आत्मरक्षक नहीं

३०. पसुबन्धा सव्ववेया जट्ठं च पावकम्मुणा ।
न तं तायन्ति दुस्सीलं कम्माणि बलवन्ति हि ॥

[३०] सभी वेद पशुबन्ध (यज्ञ में वध के लिए पशुओं को बांधने) के हेतुरूप हैं और यज्ञ भी पाप (के हेतुभूत पशुवधादि अशुभ) कर्म से होते हैं । अतः वे (पापकर्म से कृत यज्ञ) ऐसे (दुःशील) अनाचारी का त्राण-रक्षण नहीं कर सकते, क्योंकि कर्म बलवान् हैं ।

विवेचन—कम्माणि बलवंति—पूर्वोक्त प्रकार से हिंसक यज्ञों में किये हुए पशुवधादि दुष्टकर्म के कर्ता को बलात् नरक आदि दुर्गतियों में ले जाते हैं । क्योंकि वेद और यज्ञ में पशुवधादि होने से दुष्कर्म अत्यन्त बलवान् होते हैं । अतः ऐसे यज्ञ करने से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता ।[2]

श्रमण-ब्राह्मणादि किन गुणों से होते हैं, किनसे नहीं ?

३१. न वि मुण्डिएण समणो न ओंकारेण बम्भणो ।
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण न तावसो ॥

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २०० से २०२ तक
२. उत्तराध्ययनवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ४, पृ.१४२१

[३१] केवल मस्तक मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता और न ओंकार का जाप करने मात्र से ब्राह्मण होता है, अरण्य में निवास करने से ही कोई मुनि नहीं हो जाता और न कुशनिर्मित चीवर के पहनने मात्र से कोई तापस होता है।

३२. समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ तवेणं होइ तावसो॥

[३२] समभाव (धारण करने) से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य (पालन) से ब्राह्मण होता है, ज्ञान (प्राप्त करने) से मुनि होता है और तपश्चरण करने से तापस होता है।

३३. कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

[३३] कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

३४. एए पाउकरे बुद्धे जेहिं होई सिणायओ।
सव्वकम्मविनिम्मुक्कं तं वयं बूम माहणं॥

[३४] प्रबुद्ध (अर्हत्) ने इन (तत्त्वों) को प्रकट किया है। इसके द्वारा जो स्नातक (परिपूर्ण) होता है तथा सर्वकर्मों से विमुक्त होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

३५. एवं गुणसमाउत्ता जे भवन्ति दिउत्तमा।
ते समत्था उ उद्धत्तुं परं अप्पाणमेव य॥

[३५] इस प्रकार जो गुणसम्पन्न (पंच महाव्रती) द्विजोत्तम होते हैं, वे ही अपना और दूसरों का उद्धार करने में समर्थ होते हैं।

विवेचन—ब्राह्मण-श्रमणादि के वास्तविक लक्षण—प्रस्तुत गाथाओं में मुनिवर जयघोष ने एक-एक असाधारण गुण द्वारा यह स्पष्ट पहचान बता दी है कि श्रमण, ब्राह्मण, मुनि, तपस्वी तथा ब्राह्मणादि चारों वर्ण किन-किन गुणों से अपने वास्तविक स्वरूप में समझे जाते हैं।[1]

ब्राह्मणादि चारों वर्ण जन्म से नहीं, कर्म (क्रिया) से—इस गाथा का आशय यह है कि ब्राह्मण केवल वेद पढ़ने एवं यज्ञ करने या जपादि करने मात्र से नहीं होता। उसके लिए उस वर्ण के असाधारण गुणों से उसकी पहचान होती है। जैसे कि ब्राह्मण का लक्षण किया गया है—

क्षमा दानं दमो ध्यानं, सत्यं शौचं धृतिर्घृणा।
ज्ञान-विज्ञानमास्तिक्यमेतद् ब्राह्मणलक्षणम्॥

क्षमा, दान, दम, ध्यान, सत्य, शौच, धैर्य और दया, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य, ये ब्राह्मण के लक्षण हैं। इन गुणों से जो युक्त हो, वही ब्राह्मण है। इसी प्रकार शरणगतरक्षण रूप गुण से क्षत्रिय

---

१. उत्तरा. (गुजराती अनुवाद भावनगर) भा. २, पत्र २०३-२०४ का सारांश

होता है, क्षत्रिय कुल में जन्म लेने मात्र से या शस्त्र बांधने से ही कोई 'क्षत्रिय' नहीं कहला सकता। वैश्य भी कृषि-पशुपालन, वाणिज्य आदि क्रिया से कहलाता है, न कि जन्म से।[1]

विजयघोष द्वारा कृतज्ञताप्रकाशन एवं गुणगान

३६. एवं तु संसए छिन्ने विजयघोसे य माहणे।
समुदाय तयं तं तु जयघोसं महामुणिं॥

[३६] इस प्रकार संशय मिट जाने पर विजयघोष ब्राह्मण ने महामुनि जयघोष की वाणी को सम्यक् रूप से स्वीकार किया।

३७. तुट्ठे य विजयघोसे इणमुदाहु कयंजली।
माहणत्तं जहाभूयं सुट्ठु मे उवदंसियं॥

[३७] सन्तुष्ट हुए विजयघोष ने हाथ जोड़ कर इस प्रकार कहा—आपने मुझे यथार्थ ब्राह्मणत्व का बहुत ही अच्छा उपदर्शन कराया।

३८. तुब्भे जइया जन्नाणं तुब्भे वेयविऊ विऊ।
जोइसंगविऊ तुब्भे तुब्भे धम्माण पारगा॥

[३८] आप ही यज्ञों के (सच्चे) याज्ञिक (यष्टा) हैं, आप वेदों के ज्ञाता विद्वान् हैं, आप ज्योतिषांगों के वेत्ता हैं, और आप ही धर्मो (धर्मशास्त्रों) के पारगामी हैं।

३९. तुब्भे समत्था उद्धत्तुं परं अप्पाणमेव य।
तमणुग्गहं करेहऽम्हं भिक्खेण भिक्खु उत्तमा॥

[३९] आप अपना और दूसरों का उद्धार करने में समर्थ हैं। अतः उत्तम भिक्षुवर! भिक्षा स्वीकार कर हम पर अनुग्रह कीजिए।

विवेचन—जहाभूयं—जैसा स्वरूप है, वैसा यथार्थ स्वरूप।

धम्माण पारगा—धर्माचरण में पारंगत।

भिक्खेण—भिक्षा ग्रहण करके।[2]

जयघोष मुनि द्वारा वैराग्यपूर्ण उपदेश

४०. न कज्जं मज्झ भिक्खेण खिप्पं निक्खमसू दिया।
मा भमिहिसि भयावट्टे घोरे संसारसागरे॥

[४०] (जयघोष मुनि—) मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन (कार्य) नहीं है। हे द्विज! (मैं

---

१. उत्तराध्ययन संस्कृतटीका, अभि. रा. कोष भा. ४, पृ. १४२१

२. उत्तरा. वृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ४, पृ. १४२२

चाहता हूँ कि) तुम शीघ्र ही अभिनिष्क्रमण करो (अर्थात्—गृहवास छोड़ कर श्रमणत्व अंगीकार करो), जिससे तुम्हें भय के आवर्तों वाले संसार-सागर में भ्रमण न करना पड़े।

४१. उवलेवो होइ भोगेसु अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे अभोगी विप्पमुच्चई॥

[४१] भोगों के कारण (कर्म का) उपलेप (वन्ध) होता है, अभोगी कर्मों से लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में भ्रमण करता है, (जबकि) अभोगी (उससे) विमुक्त हो जाता है।

४२. उल्लो सुक्को य दो छूढा गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे जो उल्लो सो तत्थ लग्गई॥

[४२] एक गीला और एक सूखा, ऐसे दो मिट्टी के गोले फेंके गए। वे दोनों दीवार पर लगे। उनमें से जो गीला था, वह वहीं चिपक गया। (सूखा गोला नहीं चिपका।)

४३. एवं लग्गन्ति दुम्मेहा जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति जहा सुक्को उ गोलओ॥

[४३] इसी प्रकार जो मनुष्य दुर्बुद्धि और कामलालसा में आसक्त हैं, वे विषयों में चिपक जाते हैं। विरक्त साधक सूखे गोले की भांति नहीं चिपकते।

विवेचन—उपलेप—उपलेप—कर्मोपचयरूप वन्ध। **अभोगी**—भोगों का जो उपभोक्ता नहीं है।

मा भमहिसि भयावट्टे—हे विजयघोष! तू मिथ्यात्व के कारण घोर संसारसमुद्र में भ्रमण कर रहा है। अतः मिथ्यात्व छोड़ और शीघ्र ही भागवती मुनिदीक्षा ग्रहण कर, अन्यथा सप्तभय-रूपी आवर्तों के कारण भयावह संसार-समुद्र में डूब जाएगा।

कामलालसा—कामभोगों में लम्पट।[१]

विरक्ति, दीक्षा और सिद्धि

४४. एवं से विजयघोसे जयघोसस्स अन्तिए।
अणगारस्स निक्खन्तो धम्मं सोच्चा अणुत्तरं॥

[४४] इस प्रकार वह विजयघोष (संसार से विरक्त होकर) जयघोष अनगार के पास अनुत्तर धर्म को सुनकर दीक्षित हो गया।

४५. खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
जयघोस-विजयघोसा सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं॥
—त्ति बेमि

[४५] (फिर) जयघोष और विजयघोष दोनों मुनियों ने तप और संयम के द्वारा पूर्व संचित कर्मों को क्षीण कर अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की। —ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. उत्तरा. वृत्ति, अभि. रा. कोष भाग, ४ पृ. १४२२

विवेचन—विशिष्ट शब्दों के विशेषार्थ—निक्खंतो—भागवती दीक्षा ग्रहण की। **अनुत्तरं सिद्धि पत्ता**—अनुत्तर—सर्वोत्कृष्ट सिद्धि-मुक्तिगति प्राप्त की।[1]

।। यज्ञीय : पच्चीसवाँ अध्ययन समाप्त ।।

---

१. उत्तरा. वृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ४, पृ. १४२२

छव्वीसवाँ अध्ययन : सामाचारी

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत छव्वीसवें अध्ययन का नाम 'सामाचारी' (सामायारी) है।

* इसमें साधुजीवन की उस व्यवस्था एवं चर्या का वर्णन है, जिससे साधु परस्पर सम्यक् व्यवहार, आचरण और कर्त्तव्य का यथार्थ पालन करके समस्त शारीरिक-मानसिक दुःखों से मुक्त एवं सिद्ध, बुद्ध हो सके।

* आचार के दो अंग हैं—व्रतात्मक और व्यवहारात्मक। संघीयजीवन को सुव्यवस्थित ढंग से यापन करने के लिए न तो दूसरों के प्रति उदासीनता, रूक्षता एवं अनुत्तरदायिता होनी चाहिए और न अपने या दूसरों के जीवन (शरीर-इन्द्रिय, मन आदि) के प्रति लापरवाही, उपेक्षा या आसक्ति होनी चाहिए। इसलिए स्थविरकल्पी साधु के जीवन में व्रतात्मक आचार की तरह व्यवहारात्मक आचार भी आवश्यक है। जिस धर्मतीर्थ (संघ) में व्यवहारात्मक आचार का सम्यक् पालन होता है, उसकी एकता अखण्ड रहती है, वह दीर्घजीवी होता है और ऐसा धर्मतीर्थ साधु-साध्वियों को तथा श्रावक-श्राविकाओं को संसारसागर से तारने में समर्थ होता है।

* प्रस्तुत अध्ययन में व्यवहारात्मक शिष्टजनाचरित १० प्रकार की सामाचारी का वर्णन है। सामाचारी के दो रूप आगमों में पाए जाते हैं—ओघसामाचारी और पदविभागसामाचारी। प्रस्तुत अध्ययन में ओघसामाचारी के १० प्रकार ये हैं—(१) आवश्यकी, (२) नैषेधिकी, (३) आपृच्छना, (४) प्रतिपृच्छना, (५) छन्दना, (६) इच्छाकार, (७) मिथ्याकार, (८) तथाकार, (९) अभ्युत्थान और (१०) उपसम्पदा।

* साधु का कर्त्तव्य है कि वह कार्यवश उपाश्रय से बाहर जाते और वापस लौटने पर आने की सूचना गुरुजनों को करे अपने कार्य के लिए गुरुजनों से पूछकर अनुमति ले, दूसरों के कार्य के लिए भी पूछे। कोई भी वस्तु लाए तो पहले गुरु आदि को आमंत्रित करे, दूसरों का कार्य आभ्यन्तरिक अभिरुचिपूर्वक करे तथा दूसरों से कार्य लेने के लिए उनको इच्छानुकूल निवेदन करे, दबाव न डाले। दोषों की निवृत्ति के लिए मिथ्याकार (आत्मनिन्दा) करे। गुरुजनों के उपदेश-आदेश या वचन को 'तथाऽस्तु' कह कर स्वीकार करे। गुरुजनों को सत्कार देने के लिए आसन से उठकर खड़ा हो और किसी विशिष्ट प्रयोजनवश अन्य आचार्यों के पास रहना हो तो उपसम्पदा धारण करे। यह दस प्रकार की सामाचारी है।

* उसके पश्चात् औत्सर्गिक दिनचर्या के चार भाग करे। (१) भाण्डोपकरण-प्रतिलेखन, (२) स्वाध्याय या वैयावृत्त्य की अनुज्ञा ले और गुरुजन जिस कार्य में नियुक्त करें, उसे मनोयोगपूर्वक करे। दिन के ४ भाग करके प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में भिक्षाचर्या और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करे।

※ तत्पश्चात् १३ से १६ तक ४ गाथाओं में पौरुषी का ज्ञान बताया है।

※ फिर रात्रि की औत्सर्गिक चर्या का वर्णन है। पूर्ववत् रात्रि के ४ भाग करके—प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय में ध्यान, तृतीय में निद्रा और चतुर्थ में पुनः स्वाध्याय।

※ तत्पश्चात् प्रतिलेखना की विधि एवं उसके दोषों से रक्षा का प्रतिपादन करते हुए मुखवस्त्रिका रजोहरण, वस्त्र आदि के प्रतिलेखन का विधान है।

※ तदनन्तर साधु के लिए तृतीय प्रहर में भिक्षाटन और आहार सेवन का विशेष विधान है। उस सन्दर्भ में छह कारणों से आहार ग्रहण करने और छह कारणों से आहार छोड़ने का उल्लेख है।

※ फिर चतुर्थ पौरुषी में वस्त्र-पात्रादि का प्रतिलेखन करके बांधकर व्यवस्थित रखने और तदनन्तर सान्ध्य प्रतिक्रमण करने का विधान है।

※ पुनः रात्रिक कृत्य एवं पूर्ववत् स्वाध्याय, ध्यान एवं प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग आदि का विधिवत् विधान है।

※ कुल मिला कर यह साधु-सामाचारी शारीरिक मानसिक शान्ति, व्यवस्था एवं स्वस्थता के लिए अत्यन्त लाभदायक है।

※ विशेष लाभ—(१-२) आवश्यकी और नैषेधिकी से निष्प्रयोजन गमनागमन पर नियन्त्रण का अभ्यास होता है, (३-४) आपृच्छा और प्रतिपृच्छा से श्रमशील और दूसरों के लिए उपयोगी बनने की भावना पनपती है, (५) इच्छाकार से दूसरों के अनुग्रह का सहर्ष स्वीकार तथा स्वच्छन्दता में प्रतिरोध आता है, (६) मिथ्याकार से पापों के प्रति जागृति बढ़ती है, (७) तथाकार से हठाग्रहवृत्ति छूटती है और गम्भीरता एवं विचारशीलता पनपती है, (८) छन्दना से अतिथिसत्कार की प्रवृत्ति बढ़ती है, (९) अभ्युत्थान से गुरुजनभक्ति एवं गुरुता बढ़ती है एवं (१०) उपसम्पदा से परस्पर ज्ञानादि के आदान-प्रदान से उनकी वृद्धि होती है।

□□

छव्वीसइमं अज्झयणं : छव्वीसवाँ अध्ययन

सामायारी : सामाचारी

सामाचारी और उसके दश प्रकार

१. सामायारिं पवक्खामि सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
जं चरित्ताण निग्गन्था तिण्णा संसारसागरं ॥

[१] जो समस्त दुःखों से मुक्त कराने वाली है और जिसका आचरण करके निर्ग्रन्थ संसार-सागर को पार कर गए हैं, उस सामाचारी का मैं प्रतिपादन करूंगा ।

२. पढमा आवस्सिया नाम बिइया य निसीहिया ।
आपुच्छणा य तइया चउत्थी पडिपुच्छणा ॥

[२] पहली सामाचारी आवश्यकी है और दूसरी नैषेधिकी है, तीसरी आपृच्छना है और चौथी प्रतिपृच्छना है ।

३. पंचमा छन्दणा नाम इच्छाकारो य छट्ठओ ।
सत्तमो मिच्छकारो य तहक्कारो य अट्ठमो ॥

[३] पांचवीं का नाम छन्दना है और छठी इच्छाकार है तथा सातवीं मिथ्याकार और आठवीं तथाकार है ।

४. अब्भुट्ठाणं नवमं दसमा उवसंपदा ।
एसा दसंगा साहूणं सामायारी पवेइया ॥

[४] नौवीं अभ्युत्थान है और दसवीं सामाचारी उपसम्पदा है । इस प्रकार यह दस अंगों वाली साधुओं की सामाचारी बताई गई है ।

विवेचन—सामाचारी : विशेषार्थ—(१) सम्यक् आचरण समाचार कहलाता है, अर्थात्—शिष्टाचारित क्रियाकलाप, उसका भाव है—सामाचारी, (२) साधुवर्ग की इतिकर्त्तव्यता अर्थात् कर्त्तव्यों की सीमा, (३) समयाचारी अर्थात् आगमोक्त-अहोरात्र-क्रियाकलापसूचिका, अथवा (४) साधुजीवन के आचार-व्यवहार की सम्यक् व्यवस्था ।[1]

सव्वदुक्खविमोक्खणिं—समस्त शरीरिक, मानसिक दुःखों से विमुक्ति की हेतु ।[2]

---

१. (क) 'समाचरणं समाचारः—शिष्टाचरितः क्रियाकलापस्तस्य भावः ।' —ओघनिर्युक्तिटीका
(ख) 'साधुजनेतिकर्त्तव्यतारूपाम् सामाचारीं' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५३४
(ग) आगमोक्त अहोरात्रक्रियाकलापे । —ग. १ अधि; (घ) 'संव्यवहारे' —स्था. १०, स्था. उ. ३

२. उत्तरा. बृहद्वृत्ति, अभि. रा. कोष —भा. ७, पृ. ७७१

तिण्णा संसारसागरं—संसार-सागर को तैर गए हैं, अर्थात् मुक्ति पाए हैं, उपलक्षण से संसार-सागर तरेंगे और वर्तमान में तरते हैं।[1]

दशविध सामाचारी का प्रयोजनात्मक स्वरूप

५. गमणे आवस्सियं कुज्जा ठाणे कुज्जा निसीहियं।
आपुच्छणा सयंकरणे परकरणे पडिपुच्छणा॥

[५] (१) गमन करते (अपने आवासस्थान से बाहर निकलते) समय ('आवस्सियं' के उच्चारणपूर्वक) **'आवश्यकी'** (सामाचारी) करे, (२) (अपने) स्थान में (प्रवेश करते समय) ('निसीहियं' के उच्चारणपूर्वक) **नैषेधिकी** (सामाचारी) करे, (३) अपना कार्य करने में (गुरु से अनुमति लेना) **'आपृच्छना'** (सामाचारी) है और (४) दूसरों के कार्य करने में (गुरु से अनुमति लेना) **'प्रतिपृच्छना'** (सामाचारी) है।

६. छन्दणा दव्वजाएणं इच्छाकारो य सारणे।
मिच्छाकारो य निन्दाए तहक्कारो य पडिस्सुए॥

[६] (५) (पूर्वगृहीत) द्रव्यों के लिए (गुरु आदि को) आमंत्रित करना **'छन्दना'** (सामाचारी) है, (६) सारणा (स्वेच्छा से दूसरों का कार्य करने तथा दूसरों से उनकी इच्छानुसार कार्य कराने में विनम्र प्रेरणा करने) में **'इच्छाकार'** (सामाचारी) है, (७) (दोषनिवृत्ति के लिए आत्म-) निन्दा करने में **'मिथ्याकार'** (सामाचारी) है और (८) गुरुजनों के उपदेश को प्रतिश्रवण (स्वीकार) करने के लिए **'तथाकार'** (सामाचारी) है।

७. अब्भुट्ठाणं गुरुपूया अच्छणे उवसंपदा।
एवं दु-पंच—संजुत्ता सामायारी पवेइया॥

[७] (९) गुरुजनों की पूजा (सत्कार) के लिए (आसन से उठ कर खड़ा होना) **'अभ्युत्थान'** (सामाचारी) है, (१०) (किसी विशिष्ट प्रयोजन से) दूसरे (गण के) आचार्य के पास रहना, **'उपसम्पदा'** (सामाचारी) है। इस प्रकार दश-अंगों से युक्त (इस) सामाचारी का निरूपण किया गया है।

विवेचन—दशविध सामाचारी का विशेषार्थ—(१) आवश्यकी—समस्त आवश्यक कार्यवश उपाश्रय (धर्मस्थान) से बाहर जाते समय साधु को 'आवस्सिया' कहना चाहिए। अर्थात्—'मैं आवश्यक कार्य के लिए बाहर जा रहा हूँ।' इसके पश्चात् साधु कोई भी अनावश्यक कार्य न करे। **(२) नैषेधिकी**—कार्य से निवृत्त होकर जब वह उपाश्रय में प्रवेश करे, तब 'निसीहिया' (नैषेधिकी) का उच्चारण करे, अर्थात् मैं आवश्यक कार्य से निवृत्त हो चुका हूँ। इसका यह भी आशय है कि प्रवृत्ति के समय कोई पापानुष्ठान हुआ हो तो उसका भी निषेध करता (निवृत्त होता) हूँ। ये दोनों मुख्यतया गमन और आगमन की सामाचारी हैं, जो गमन-आगमन काल में लक्ष्य के प्रति जागृति के लिए हैं। **(३) आपृच्छना**—किसी भी कार्य में (प्रथम या द्वितीय बार) प्रवृत्ति के लिए पहले गुरुदेव

---

१. निर्ग्रन्थाः यतयस्तीर्णाः संसारसागरं, मुक्तिं प्राप्ता इति भावः। उपलक्षणत्वात् तरन्ति तरिष्यन्ति चेति सूत्रार्थः।
—उत्तरा. वृत्ति, अ. रा. को. भा. ७, पृ. ७७२

से पूछना कि 'मैं यह कार्य करूँ या नहीं ?' (४) प्रतिपृच्छना—गुरु द्वारा पूर्वनिषिद्ध कार्य को पुनः करना आवश्यक हो तो पुनः गुरुदेव से पूछना चाहिए कि आपने पहले इस कार्य का निषेध कर दिया था, परन्तु यह कार्य अतीव आवश्यक है, अतः आप आज्ञा दें तो यह कार्य कर लूं। इस प्रकार पुनः पूछना प्रतिपृच्छना है। प्रस्तुत में स्वयंकरण के लिए आपृच्छा (प्रथम वार पूछने) तथा परकरण के लिए प्रतिपृच्छा (पुनः पूछने) का विधान है। (५) छन्दना—स्वयं को भिक्षा में प्राप्त हुए आहार के लिए अन्य साधुओं को निमंत्रण करना कि यह आहार लाया हूँ, यदि आप भी इसमें से कुछ ग्रहण करें तो मैं धन्य होऊँगा। इसी के साथ ही 'निमंत्रणा' भी भगवती आदि सूत्रों में प्रतिपादित है, जिसका अर्थ है—आहार लाने के लिए जाते समय अन्य साधुओं से भी पूछना कि 'क्या आप के लिए भी आहार लेता आऊँ ?' निमंत्रण के वदले प्रस्तुत में 'अभ्युत्थान' शब्द प्रयुक्त है। जिसका अर्थ और है। (६) इच्छाकार—'यदि आपकी इच्छा हो अथवा आप चाहें तो मैं अमुक कार्य करूं ?' इस प्रकार पूछना इच्छाकार है, अथवा बड़ा या छोटा साधु कोई कार्य अपने से वड़े या छोटे साधु से कराना चाहे तो उत्सर्गमार्ग में यहाँ बलप्रयोग सर्वथा वर्जित है। अतः उसे इच्छाकार (प्रार्थना) का प्रयोग करना चाहिए कि अगर आपकी इच्छा हो तो (मेरा) काम आप करें। (७) मिथ्याकार—संयम का पालन करते हुए साधु से कोई विपरीत आचरण हो जाए तो फौरन उस दुष्कृत्य के लिए पश्चात्तापपूर्वक वह 'मिच्छामि दुक्कडं' कहे, यह 'मिथ्याकार' है। (८) तथाकार—गुरु आदि जब शास्त्र-वाचना दें, सामाचारी आदि का उपदेश दें अथवा सूत्र या अर्थ वताएँ अथवा कोई भी वात कहें, तव आप जैसा कहते हैं, वैसा ही अवितथ (-सत्य) है, इस प्रकार उनकी वात को स्वीकार करना 'तथाकार' है। (९) अभ्युत्थान—आचार्य, गुरु या स्थविर आदि विशिष्ट गौरवार्ह साधुओं को आते देख कर अपने आसन से उठना, सामने जा कर उनका सत्कार करना, 'आओ—पधारो' कहना अभ्युत्थान सामाचारी है। निर्युक्तिकार ने अभ्युत्थान के वदले 'निमंत्रणा' शब्द का प्रयोग किया है। सामान्य अर्थ में 'अभ्युत्थान' शब्द हो तो उसका अर्थ होगा—'आचार्य, ग्लान, रुग्ण, वालक साधु आदि के लिए यथोचित आहार-औषध आदि ला देने का प्रयत्न करना।'[1]

(१०) उपसम्पदा—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सेवा आदि कारणों से आपवादिक रूप में एक गण (या गच्छ) के साधु का दूसरे गण (गच्छ) के आचार्य, उपाध्याय, वहुश्रुत, स्थविर, गीतार्थ आदि

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५३५

(ख) 'आणा बलाभिओगो निग्गंथाणं न कप्पए काउं। इच्छा पउंजियव्वा सेहे रायणिए य तहा ॥६७७॥'
अपवादतस्तु आज्ञा-बलाभियोगावपि दुर्विनीते प्रयोक्तव्यौ, तेन सहोत्सर्गतः संवास एव न कल्पते, वहुत्वजनादिकारणप्रतिवद्धतया त्वपरित्याज्येऽयं विधिः—प्रथममिच्छाकारेण युज्यते, अकुर्वन्नाज्ञया पुनर्बलाभियोगेनेति। —आवश्यकनिर्युक्ति गा. ६७७ वृत्ति, पत्र ३४४

(ग) वायणपडिसुणयाए उवएसे सुत्त-अत्थ कहणाए। अवितहमेअंति तहा, पडिसुणणाए य तहकारो ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति गा. ६८९

(घ) अभीत्याभिमुख्येनोत्थानम्—उद्गमनं अभ्युत्थानम्। तच्च गुरुपूयत्ति सूत्रत्वाद् गुरुपूजायाम्। सा च गौरवार्हाणाम्—आचार्य-ग्लानबालादीनां यथोचिताहारभैपजादि सम्पादनम्। इह च सामान्याभिधानेऽप्यभ्युत्थानं निमंत्रणारूपमेव परिगृह्यते। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५३५

के समीप अमुक अवधि तक रहने के लिए जाना उपसम्पदा है। 'इतने काल तक मैं आपके पास (अमुक विशिष्ट प्रयोजनवश) रहूँगा', इस प्रकार से उपसम्पदा धारण की जाती है। उपसम्पदा तीन प्रयोजनों से ग्रहण की जाती है—(१) ज्ञान के लिए, (२) दर्शन के लिए और (३) चारित्र के लिए। **ज्ञानार्थ उपसम्पदा** वह है, जो ज्ञान की वर्तना (पुनरावृत्ति), संधान (त्रुटित ज्ञान को पूरा करने) और ग्रहण—नया ज्ञान सम्पादन करने के लिए की जाती है। **दर्शनार्थ उपसम्पदा** वह है, जो दर्शन की वर्त्तना (पुनः पुनः चिन्तन), संधान (स्थिरीकरण) और ग्रहण (शास्त्रों में उक्त दर्शन विषयक चिन्तन का अध्ययन) करने के लिए स्वीकार की जाती है। **चारित्रार्थ उपसम्पदा** वह है, जो वैयावृत्य की, तपश्चर्या की या किसी विशिष्ट साधना की आराधना के लिए अंगीकार की जाती है।[1]

दिन के चार भागों में उत्तरगुणात्मक दिनचर्या

८. पुव्विल्लंमि चउब्भाए आइच्चंमि समुट्ठिए।
भण्डयं पडिलेहित्ता वन्दित्ता य तओ गुरुं ॥

[८] सूर्योदय होने पर दिन के प्रथम प्रहर के चतुर्थ भाग में भाण्ड—उपकरणों का प्रतिलेखन करके तदनन्तर गुरु को वन्दना करके—

९. पुच्छेज्जा पंजलिउडो किं कायव्वं मए इहं ?।
इच्छं निओइउं भन्ते ! वेयावच्चे व सज्झाए ॥

[९] हाथ जोड़कर पूछे—इस समय मुझे क्या करना चाहिए ? 'भंते ! मैं चाहता हूँ कि आप मुझे वैयावृत्त्य (सेवा) में नियुक्त करें, अथवा स्वाध्याय में (नियुक्त करें।)'

१०. वेयावच्चे निउत्तेणं कायव्वं अगिलायओ।
सज्झाए वा निउत्तेणं सव्वदुक्खविमोक्खणे ॥

[१०] वैयावृत्य में नियुक्त किया गया साधक ग्लानिरहित होकर वैयावृत्त्य (सेवा) करे, अथवा समस्त दुःखों से विमुक्त करने वाले स्वाध्याय में नियुक्त किया गया साधक (ग्लानिरहित होकर स्वाध्याय करे।)

११. दिवसस्स चउरो भागे कुज्जा भिक्खू वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा दिणभागेसु चउसु वि ॥

[११] विचक्षण भिक्षु दिवस के चार विभाग करे। फिर दिन के उन चार भागों में (स्वाध्याय आदि) उत्तरगुणों की आराधना करे।

---

१. (क) अच्छणे त्ति आसने, प्रक्रमादाचार्यान्तरादिसन्निधौ अवस्थाने उप-सामीप्येन, सम्पादनं-गमनं....उपसम्पद्-इयन्तं कालं भवदन्तिके मयाऽसितव्यमित्येवंरूपा, सा च ज्ञानार्थतादिभेदेन त्रिधा।

—बृहद्वृत्ति, पत्र ५३५

(ख) 'उवसंपया य तिविहा नाणे तह दंसणे चरित्ते अ।
दंसणनाणे तिविहा, दुविहा य चरित्त अट्ठाए ॥६९८॥
वत्तणा संधणा चेव, गहणं सुत्तत्थतदुभए।
वेयावच्चे खमणे, काले आवक्कहाइ अ ॥६९९॥ —आवश्यकनिर्युक्ति

**१२. पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई ।
तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीए सज्झायं ।।**

[१२] (अर्थात्-दिन के) प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान करे, तीसरे में भिक्षाचर्या करे और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करे ।

विवेचन—पुव्विल्लंमि चउब्भाए : दो व्याख्याएं—(१) बृहद्वृत्ति के अनुसार—पूर्वदिशा में, आकाश में चतुर्थभाग में कुछ कम सूर्य के चढ़ने पर अर्थात्—पादोन पोरसी आ जाए तब । अथवा (२) वर्तमान में प्रचलित परम्परा के अनुसार—दिन के प्रथम प्रहर का चतुर्थ भाग । साधारणतया ३ घंटा १२ मिनिट का यदि प्रहर हो तो उसका चतुर्थ भाग ४८ मिनट का होता है, किन्तु दिन का प्रहर ३½ घंटे का हो, तब उसका चतुर्थ भाग ५२½ मिनट का होता है । आशय यह है, सूर्योदय होने पर प्रथम प्रहर के चतुर्थ भाग यानी ४८ या ५२½ मिनिट की अवधि तक में वस्त्र-पात्रादि उपकरणों की प्रतिलेखना क्रिया पूर्ण कर लेनी चाहिए ।[१]

दैनिक कृत्य—१२ वीं गाथा में ४ प्रहरों में विभाजित दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करने का निर्देश किया है । इससे पूर्व ८ वीं गाथा में प्रथम प्रहर के चौथे भाग में प्रतिलेखन-प्रमार्जन कार्य से निवृत्त होने का विधान है । इससे फलित होता है कि प्रथम प्रहार के चौथे भाग में प्रतिलेखना से निवृत्त होकर वाचनादि स्वाध्याय करने बैठ जाए, यदि गुरु की आज्ञा स्वाध्याय की हो । यदि उनकी आज्ञा ग्लानादि की वैयावृत्य (सेवा) करने की हो तो वैयावृत्य में संलग्न हो जाए । यदि गुरु-आज्ञा स्वाध्याय की हो तो प्रथम प्रहर में स्वाध्याय के पश्चात् दूसरे प्रहर में ध्यान करे । द्वितीय पौरुषी को अर्थपौरुषी कहते हैं, इसलिए मूलपाठ के अर्थ के विषय में चिन्तन (ध्यान) करना अभीष्ट है, ऐसा वृत्तिकार का कथन है । तीसरे प्रहर में भिक्षाचर्या करे । इसे गोचरकाल कहा गया है, इसलिए भिक्षाचर्या, आहार के अतिरिक्त उपलक्षण से (स्थण्डिलभूमि में मलोत्सर्ग आदि के लिए) बहिर्भूमि जाने आदि का कार्य करे । इसके पश्चात् चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय का विधान है, वहाँ भी उपलक्षण से प्रतिलेखन आदि क्रिया समझ लेनी चाहिए । दिन की यह चतुर्विभागीय चर्या औत्सर्गिक है । अपवादमार्ग में इसमें कुछ परिवर्तन भी हो सकता है, अथवा गुरु की आज्ञा वैयावृत्य की हो तो मुख्यता उसी की रहेगी । उससे समय बचेगा तो स्वाध्यायादि भी होगा ।[२]

अगिलायओ : विशेषार्थ—यह शब्द वैयावृत्य के साथ जुड़ता है, तब अर्थ होता है—शरीर-

---

१. (क) पुव्विल्लंमि त्ति-पूर्वस्मिश्चतुर्भागे, आदित्ये समुत्थिते-समुद्गते, इह च यथा दशाविकलोऽपि पटः पट एवोच्यते, एवं किञ्चिदूनोऽपि चतुर्भागश्चतुर्भाग उक्तः । ततोऽयमर्थः—बुद्ध्या नभश्चतुर्धा विभज्यते । तत्र पूर्वदिक्सम्बद्धे किञ्चिदूननभश्चतुर्भागे यदादित्यः समुदेति तदा, पादोनपौरुष्यामित्युक्तं भवति ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ५३६

(ख) पूर्वस्मिश्चतुर्भागे प्रथमपौरुषीलक्षणे प्रक्रमाद् दिनस्य । —वही, पत्र ५४०

२. (क) 'समत्तपडिलेहणाए सज्झाओ'—समाप्तायां प्रत्युपेक्षणायां स्वाध्यायः कर्त्तव्यः सूत्रपौरुषीत्यर्थः । पादोनप्रहरं यावत् । —ओघनिर्युक्ति वृत्ति, पत्र ११५

(ख) आदित्ये समुत्थिते इव समुत्थिते, बहुतरप्रकाशीभवनात्तस्य । —बृहद्वृत्ति, पत्र ५३६

श्रम की चिन्ता न करके एवं स्वाध्याय के साथ जुड़ता है, तब अर्थ होता है—स्वाध्याय को समस्त तपःकर्मों में प्रधान मानकर विना थके या विना मुर्झाए उत्साहपूर्वक करे।[1]

पौरुषी का काल-परिज्ञान

१३. आसाढे मासे दुपया पोसे मासे चउप्पया।
चित्तासोएसु मासेसु तिपया हवइ पोरिसी॥

[१३] आषाढ़ मास में द्विपदा (दो पैर की) पौरुषी होती है, पौष-मास में चतुष्पदा (चार पैर की) तथा चैत्र और आश्विन मास में त्रिपदा (तीन पैर की) पौरुषी होती है।

१४. अंगुलं सत्तरत्तेणं पक्खेण य दुअंगुलं।
वड्ढए हायए वावी मासेणं चउरंगुलं॥

[१४] सात रात में एक अंगुल, पक्ष में दो अंगुल और एक मास में चार अंगुल की वृद्धि और हानि होती है। (अर्थात्—श्रावण से पौष तक वृद्धि होती है तथा माघ से आषाढ़ तक हानि होती है।)

१५. आसाढबहुलपक्खे भद्दवए कत्तिए य पोसे य।
फग्गुण—वइसाहेसु य नायव्वा ओमरत्ताओ॥

[१५] आषाढ़ मास के कृष्णपक्ष में तथा भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख मास के भी कृष्णपक्ष में न्यून (कम) रात्रियाँ होती हैं। (अर्थात्—इन महीनों के कृष्णपक्ष में एक अहोरात्रि तिथि का क्षय होता है, यानी १४ दिन का पक्ष होता है।)

१६. जेट्ठामूले आसाढ-सावणे छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा।
अट्ठहिं बीय-तियंमी तइए दस अट्ठहिं चउत्थे॥

[१६] ज्येष्ठ (ज्येष्ठमासीय मूलनक्षत्र), आषाढ़ और श्रावण—इस प्रथमत्रिक में छह अंगुल; भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक—इस द्वितीयत्रिक में आठ अंगुल तथा मृगशिर, पौष और माघ—इस तृतीयत्रिक में दस अंगुल और फाल्गुन, चैत्र एवं वैशाख—इस चतुर्थत्रिक में आठ अंगुल की वृद्धि करने से प्रतिलेखन का पौरुषीकाल होता है।

औत्सर्गिक रात्रिचर्या

१७. रत्तिं पि चउरो भागे भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा राइभाएसु चउसु वि॥

[१७] विचक्षण भिक्षु रात्रि के भी चार भाग करे। उन चारों भागों में भी उत्तरगुणों की आराधना करे।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५३६

**१८. पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं ॥**

[१८] प्रथम प्रहर में स्वाध्याय और द्वितीय प्रहर में ध्यान करे तथा तृतीय प्रहर में निद्रा ले और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करे।

**१९. जं नेइ जया रत्तिं नक्खत्तं तंमि नहचउब्भाए।
संपत्ते विरमेज्जा सज्झायं पओसकालम्मि ॥**

[१९] जो नक्षत्र जिस रात्रि की पूर्ति करता है, वह (नक्षत्र) जब आकाश के प्रथम चतुर्थ भाग में आ जाता है (अर्थात्—रात्रि का प्रथम प्रहर समाप्त होता है); तब वह प्रदोषकाल होता है, उस काल में स्वाध्याय से निवृत्त (विरत) हो जाना चाहिए।

विवेचन—पौरुषी शब्द का विश्लेषण और कालमान—'पौरुषी' शब्द पुरुष शब्द से निष्पन्न है। पुरुष शब्द के दो अर्थ होते हैं—पुरुषशरीर और शंकु। फलितार्थ यह हुआ कि पुरुषशरीर या शंकु से जिस काल का माप होता हो, वह पौरुषी है।[1]

पुरुषशरीर में पैर से जानु (घुटने) तक का और शंकु का प्रमाण २४-२४ अंगुल होता है। जिस दिन किसी भी वस्तु की छाया वस्तु के प्रमाण के अनुसार होती है, वह दिन दक्षिणायन का प्रथम दिन होता है। युग के प्रथम वर्ष (सूर्य-वर्ष) में श्रावण कृष्णा १ को शंकु और जानु की छाया अपने ही प्रमाण के अनुसार २४ अंगुल पड़ती है। १२ अंगुल की छाया को एक पाद (पैर) माना गया है। अतः शंकु और जानु की २४ अंगुल की छाया को दो पाद माना गया है। फलितार्थ यह हुआ कि पुरुष अपने दाहिने कान के सम्मुख सूर्यमण्डल को रख कर खड़ा रहे, फिर आषाढ़ी पूर्णिमा को अपने घुटने तक की छाया दो पाद प्रमाण हो, तब एक प्रहर होता है। यों सर्वत्र समझ लेना चाहिए।[2]

वर्ष में दो अयन होते हैं—दक्षिणायन और उत्तरायण। दक्षिणायन श्रावण मास से प्रारम्भ होता है और उत्तरायण माघ मास से। दक्षिणायन में छाया बढ़ती है और उत्तरायण में कम होती है। यन्त्र इस प्रकार है—

पौरुषी-छाया का प्रमाण				पादोन (पौन) पौरुषी का छाया प्रमाण				
मास	पाद	अंगुल		कुल		वृद्धि		अंगुल
१. आषाढ़ पूर्णिमा	२–	०	=	२–०	+	६	=	२–६
२. श्रावण पूर्णिमा	२–	४	=	२–४	+	६	=	२–१०

१. शंकुः पुरुषशब्देन, स्याद्देहः पुरुषस्य वा। निष्पन्ना पुरुषात् तस्मात्पौरुषीत्यपि सिद्धयति।

—काललोकप्रकाश २८।९९२

२. चतुर्विंशत्यंगुलस्य शंकोश्छाया यथोदिता। चतुर्विंशत्यंगुलस्य जानोरपि तथा भवेत् ॥
स्वप्रमाणं भवेच्छाया, यदा सर्वस्य वस्तुनः। तदा स्यात् पौरुषी, याम्या-मानस्य प्रथमे दिने ॥

—काललोकप्रकाश २८।१०१, ९९३

३. भाद्रपद पूर्णिमा	२–	८	=	२–८	+	८	=	३–४
४. आश्विन पूर्णिमा	३–	०	=	३–०	+	८	=	३–८
५. कार्तिक पूर्णिमा	३–	४	=	३–४	+	८	=	४–०
६. मृगसिर पूर्णिमा	३–	८	=	३–८	+	१०	=	४–६
७. पौष पूर्णिमा	४–	०	=	४–०	+	१०	=	४–१०
८. माघ पूर्णिमा	३–	८	=	३–८	+	१०	=	४–६
९. फाल्गुन पूर्णिमा	३–	४	=	३–४	+	८	=	४–०
१०. चैत्र पूर्णिमा	३–	०	=	३–०	+	८	=	३–८
११. वैशाख पूर्णिमा	२–	८	=	२–८	+	८	=	३–४
१२. ज्येष्ठ पूर्णिमा	२–	४	=	२–४	+	६	=	२–१०

२०. तम्मेव य नक्खत्ते गयणचउब्भागसावसेसंमि ।
वेरत्तियं पि कालं पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा ॥

[२०] वही नक्षत्र जब आकाश के अन्तिम चतुर्थ भाग में आ जाता है (अर्थात् रात्रि का अन्तिम चौथा प्रहर आ जाता है, तब उसे वैरात्रिक काल समझ कर मुनि स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाए ।

विवेचन—रात्रि के चार भाग—(१) प्रादोषिक (रात्रि का मुख भाग), (२) अर्धरात्रिक, (३) वैरात्रिक और (४) प्राभातिक । प्रादोषिक और प्राभातिक इन दो प्रहरों में स्वाध्याय किया जाता है । अर्धरात्रि में ध्यान और वैरात्रिक में शयनक्रिया (निद्रा-ग्रहण) । प्रस्तुत दो गाथाओं (१८-१९) में मुनि की रात्रि की दिनचर्या की विधि बताई गई है । दशवैकालिकसूत्र में निर्दिष्ट—**'काले कालं समायरे'**—'सब कार्य ठीक समय पर करे' मुनि की चर्या का प्रमुख प्रेरणासूत्र है ।[1]

'नक्खत्तं तम्मि नहचउब्भाए संपत्ते'—जो नक्षत्र चन्द्रमा को रात्रि के अन्त तक पहुँचाता है, वह जब आकाश के चतुर्थ भाग में आता है, उस समय प्रथम पौरुषी का कालमान होता है । इसी प्रकार वह नक्षत्र जब समग्र क्षेत्र का अवगाहन कर लेता है, तब रात्रि के चारों प्रहर बीत जाते हैं ।

जो नक्षत्र पूर्णिमा को उदित होता है और चन्द्र को रात्रि के अन्त तक पहुँचाता है, उसी नक्षत्र के नाम पर महीने के नाम रखे गए हैं । श्रावण और ज्येष्ठ मास इसके अपवाद हैं ।[2]

विशेष दिनचर्या

२१. पुव्विल्लंमि चउब्भाए पडिलेहित्ताण भण्डयं ।
गुरुं वन्दित्तु सज्झायं कुज्जा दुक्खविमोक्खणं ॥

[२१] दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में पात्र आदि भाण्डोपकरणों का प्रतिलेखन करके (फिर) गुरु को वन्दन कर दुःख से विमुक्त करने वाला स्वाध्याय करे ।

---

१. (क) ओघनिर्युक्ति गा. ६५८ वृत्ति, पत्र २०५, गा. ६६२-६६३ (ख) दशवैकालिक ५।२।४

२. (क) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वक्षस्कार ७, सू. १६२ (ख) उत्तरा. (गुजराती भावनगर) ; २, पत्र २१०

२२. पोरिसीए चउब्भाए वन्दित्ताण तओ गुरुं ।
अपडिक्कमित्ता कालस्स भायणं पडिलेहए ।।

[२२] पौरुषी के चतुर्थ भाग में (अर्थात् पौन पौरुषी व्यतीत हो जाने पर) गुरु को वन्दना करके, काल का प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) किये विना ही भाजन का प्रतिलेखन करे ।

विवेचन—विशेष दिनकृत्य का संकेत—सूर्योदय के समय पौरुषी का प्रथम चतुर्थभाग शेष रहते भाण्डक का प्रतिलेखन करे । भाण्डक का अर्थ किया है—प्रावृट्वर्षाकल्पादि उपधि । अर्थात् जो उपधि चातुर्मासिक वर्षाकाल के योग्य हो ।[1]

अपडिक्कमित्ता कालस्स—२२ वीं गाथा में यह बताया गया है कि पौरुषी का चतुर्थभाग शेष रहते अर्थात् पादोन पौरुषी में कायोत्सर्ग किये विना ही भाजन (पात्र)-प्रतिलेखना करे । तात्पर्य यह है—सामान्यतया प्रत्येक कार्य की परिसमाप्ति पर कायोत्सर्ग करने का विधान है । इसलिए यहाँ भी आशंका प्रकट की गई है कि स्वाध्याय से उपरत होने पर प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करके दूसरा कार्य प्रारम्भ करना चाहिए; उसका प्रतिवाद करते हुए प्रस्तुत में कहा गया है—काल का प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) किये बिना ही पात्र प्रतिलेखना करे । इसका आशय यह है कि चतुर्थ पौरुषी में फिर स्वाध्याय करना है ।[2]

प्रतिलेखना का विधि-निषेध

२३. मुहपोत्तियं पडिलेहित्ता पडिलेहिज्ज गोच्छगं ।
गोच्छगलइयंगुलिओ वत्थाइं पडिलेहए ।।

[२३] मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर गोच्छग (प्रमार्जनी-पूंजणी) का प्रतिलेखन करे । अंगुलियों से गोच्छग को पकड़ कर वस्त्रों का प्रतिलेखन करे ।

२४. उड्ढं थिरं अतुरियं पुव्वं ता वत्थमेव पडिलेहे ।
तो बिइयं पप्फोडे तइयं च पुणो पमज्जेज्जा ।।

[२४] (सर्वप्रथम) ऊर्ध्व (उकडू) आसन से बैठे तथा वस्त्र को ऊँचा (अर्थात्—तिरछा) और स्थिर रखे और शीघ्रता किये विना उसका प्रतिलेखन (नेत्र से अवलोकन) करे । दूसरे में वस्त्र को धीरे से झटकारे और तीसरे में फिर वस्त्र का प्रमार्जन करे ।

२५. अणच्चावियं अवलियं अणाणुबन्धि अमोसलिं चेव ।
छप्पुरिमा नव खोडा पाणीपाणविसोहणं ।।

[२५] प्रतिलेखना विधि—(प्रतिलेखन के समय वस्त्र या शरीर को) (१) न नचाए, (२) न मोड़े, (३) वस्त्र को दृष्टि से अलक्षित विभाग न करे, (४) वस्त्र का दीवार आदि से स्पर्श न होने दे, (५) वस्त्र के ६ पूर्व और ९ खोटक करे, (६) कोई प्राणी हो, उसका विशोधन करे ।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५४०

२. अप्रतिक्रम्य कालस्य, तत्प्रतिक्रमार्थं कायोत्सर्गमविधायैव, चतुर्थपौरुष्यामपि स्वाध्यायस्य विधास्यमानत्वात् ।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ५४०

२६. आरभडा सम्मद्दा वज्जेयव्वा य मोसली तइया ।
पप्फोडणा चउत्थी विक्खित्ता वेइया छट्ठा ॥

२७. पसिढिल-पलम्ब-लोला एगामोसा अणेगरूवधुणा ।
कुणइ पमाणि पमायं संकिए गणणोवगं कुज्जा ॥

[२६-२७] (प्रतिलेखन के ६ दोष इस प्रकार हैं—) (१) आरभटा (२) सम्मर्दा (३) मोसली (४) प्रस्फोटना (५) विक्षिप्ता (६) वेदिका (७) प्रशिथिल (८) प्रलम्ब (९) लोल (१०) एकामर्शा (११) अनेक रूप धूनना (१२) प्रमाणप्रमाद (१३) गणनोपगणना दोष ।

२८. अणूणाइरित्तपडिलेहा अविवच्चासा तहेव य ।
पढमं पयं पसत्थं सेसाणि उ अप्पसत्थाइं ॥

[२८] (प्रस्फोटन और प्रमार्जन के प्रमाण से अन्यून, अनतिरिक्त तथा अविपरीत प्रतिलेखना ही शुद्ध होती है । उक्त तीन विकल्पों के ८ विकल्प होते हैं । उनमें प्रथम विकल्प (—भेद) ही शुद्ध (प्रशस्त) है, शेष अशुद्ध (अप्रशस्त) हैं ।

२९. पडिलेहणं कुणन्तो मिहोकहं कुणइ जणवयकहं वा ।
देइ व पच्चक्खाणं वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥

[२९] प्रतिलेखन करते समय जो परस्पर वार्तालाप करता है, जनपद की कथा करता है, अथवा प्रत्याख्यान कराता है, दूसरों को वाचना देता (पढ़ाता) है या स्वयं अध्ययन करता (पढ़ता) है—

३०. पुढवीआउक्काए तेऊवाऊवणस्सइतसाण ।
पडिलेहणापमत्तो छण्हं पि विराहओ होइ ॥

[३०] वह प्रतिलेखना में प्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय; इन षट्कायिक जीवों का विराधक होता है ।

३१. पुढवी-आउक्काए तेऊ-वाऊ—वणस्सइ-तसाणं ।
पडिलेहणआउत्तो छण्हं आराहओ होइ ॥

[३१] प्रतिलेखना में उपयोग-युक्त (अप्रमत्त) मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय; इन षट्कायिक जीवों का आराधक (रक्षक) होता है ।

विवेचन—प्रतिलेखन : स्वरूप, विधि, दोष एवं परिणाम—प्रतिलेखन जैन मुनि की चर्या का महत्त्वपूर्ण अंग है । इसका दायरा बहुत व्यापक है । साधु को केवल वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि भण्डोपकरणों की ही नहीं, अपने निश्रित जो भी मकान, पट्टे, चौकी, पुस्तकें, शरीर आदि हों, उनका भी प्रतिलेखन करना आवश्यक है । साथ ही क्षेत्रप्रतिलेखन अर्थात्—परिष्ठापनस्थान (स्थण्डिल), आवासस्थान—उपाश्रय, धर्मस्थान आदि स्वाध्याय (विचार) भूमि, विहारभूमि आदि का भी प्रतिलेखन आवश्यक है । कालप्रतिलेखन (स्वाध्यायकाल, भिक्षाचरीकाल, प्रतिलेखनकाल, निद्राकाल, ध्यानकाल आदि का भलीभांति विचार करके प्रत्येक कार्य यथासमय करना) भी अनिवार्य है और

भावप्रतिलेखन (अपने मन में उठने वाले शुभाशुभ भावों का सम्प्रेक्षण करना) भी शास्त्रविहित है। प्रतिलेखन के साथ प्रमार्जन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रस्तुत अध्ययन की पूर्व गाथाओं में क्षेत्रप्रतिलेखन और कालप्रतिलेखन के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जा चुका है। द्रव्यप्रतिलेखन के सन्दर्भ में पात्र आदि उपकरणों के प्रतिलेखन के विषय में भी कहा जा चुका है।[1] अब यहाँ गाथा २३ से ३१ तक मुख्यतया वस्त्रप्रतिलेखन से सम्बन्धित विधि—निषेध का निरूपण किया गया है। ओघनिर्युक्ति के अनुसार विचार करने पर गा. २३ पात्रप्रतिलेखन से सम्बन्धित प्रतीत होती है। प्रस्तुत गाथा में पात्र से सम्बन्धित तीन उपकरणों (मुखवस्त्रिका, गोच्छग और वस्त्र (पटल-पल्ला आदि) का उल्लेख है, जबकि ओघनिर्युक्ति में पात्र से सम्बन्धित सात उपकरणों (पात्रनिर्योग—पात्रपरिकर) का निर्देश है—(१) पात्र, (२) पात्रबन्ध (पात्र को बांधने का वस्त्र), (३) पात्रस्थापन (पात्र को रज आदि से बचाने का उपकरण), (४) पात्रकेसरिका (पात्र की मुखवस्त्रिका), (५) पटल (पात्र को ढांकने का पल्ला), (६) रजस्त्राण (चूहों, जीवजन्तुओं, रज या वर्षा के जल कण से बचाव के लिए उपकरण) और (७) गोच्छग (पटलों का प्रमार्जन करने की ऊन की प्रमार्जनिका)। पात्र सम्बन्धी इन मुख्य तीन उपकरणों के प्रतिलेखन का क्रम इस प्रकार बताया गया है—(१) प्रथम मुखवस्त्रिका (पात्रकेसरिका) का, (२) तत्पश्चात् गोच्छग का और (३) फिर अंगुलियों से गोच्छग पकड़ कर पटल आदि पात्र सम्बन्धी वस्त्रों का प्रतिलेखन करना।[2]

वस्त्रप्रतिलेखनाविधि—(१) **उड्ढं**—उकड़ू आसन से बैठकर वस्त्रों को भूमि से ऊँचा रखते हुए प्रतिलेखन करना, (२) **थिरं**—वस्त्र को दृढ़ता से स्थिर (पकड़े) रखना, (३) **अतुरियं**—उपयोगशून्य होकर जल्दी-जल्दी प्रतिलेखना न करना, (४) **पडिलेहे**—वस्त्र के तीन भाग करके उसे दोनों ओर से अच्छी तरह देखना, (५) **पप्फोडे**—देखने के बाद उसे यतना से धीरे-धीरे झड़काना चाहिए और (६) **पमज्जिज्जा**—झड़काने के बाद वस्त्र आदि पर लगे हुए जीव को यतना से प्रमार्जन कर हाथ में लेना और एकान्त में यतना से परठना चाहिए। प्रस्तुत गाथा में इन ६ को मुख्य तीन अंगों में विभक्त कर दिया है—(१) प्रतिलेखना—वस्त्रों का आंखों से निरीक्षण करना, (२) प्रस्फोटना—(झड़काना) और (३) प्रमार्जना (गोच्छग से पूंजना)।[3]

अप्रमाद-प्रतिलेखना—२५ वीं गाथा में वस्त्रप्रतिलेखना में सावधानी रखने के अनर्तित आदि ६ प्रकार बतलाए गए हैं, उन्हें स्थानांगसूत्र में अप्रमाद-प्रतिलेखना के प्रकार बताए गए हैं। उन ६ का लक्षण इस प्रकार है—(१) **अनर्तित**—प्रतिलेखना करते समय शरीर और वस्त्र को इधर-उधर नचाए नहीं, (२) **अवलित**—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र कहीं से मुड़ा हुआ न हो, प्रतिलेखना करने वाले को भी अपने शरीर को बिना मोड़े सीधे बैठना चाहिए। अथवा प्रतिलेखन करते समय वस्त्र

---

१. (क) 'कालं पडिलेहित्ता.....'—अ. २६, गा, २०
(ख) 'भायणं पडिलेहए'—अ. २६, गा २२
(ग) 'वत्थाइं पडिलेहए'—अ. २६. गा. २३
(घ) 'संपिक्खए अप्पगमप्पएण'—दशवै., अ. १०

२. (क) उत्तरा. मूलपाठ अ. २६, गा. २३
(ख) पत्तं पत्ताबंधो, पायट्ठवणं च पायकेसरिया।
पडलाइं रयत्ताणं च, गोच्छओ पायनिज्जोगो॥ —ओघनिर्युक्ति, गा. ६७४

३. (क) उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ५४०-५४२
(ख) स्थानांग, स्थान ६।५०३

या शरीर को चंचल नहीं रखना चाहिए। (३) अननुबन्धी—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को दृष्टि से अलक्षित (ओझल) न करे या वस्त्र को अयतना से न झटकाए। (४) अमोसली—धान्यादि कूटते समय ऊपर, नीचे और तिरछे लगने वाले मूसल की तरह प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे या तिरछे दीवार आदि से नहीं लगाना चाहिए। (५) षट्पुरिम—नवस्फोट का (६ पुरिमा, ९ खोड़ा)—प्रतिलेखना में ६ पुरिम और ९ खोड़ करने चाहिए। षट्पुरिम का रूढ़ अर्थ है—वस्त्र के दोनों ओर के तीन-तीन हिस्से करके उन्हें (दोनों हिस्सों को) तीन-तीन बार खंखेरना झड़काना और नव खोड़ का अर्थ है—स्फोटक अर्थात् प्रमार्जन। वस्त्र के प्रत्येक भाग के ९ खोटक करके दोनों भागों (१८ खोटकों) को तीन-तीन बार पूंजना। फिर उनका तीन बार शोधन करना और (६) पाणि-प्राण-विशोधन—वस्त्र आदि पर कोई जीव दिखाई दे तो उसका यतनापूर्वक अपने हाथ से शोधन करना चाहिए।[1] यहाँ १ दृष्टिप्रतिलेखन, ६ पूर्व (झटकाना) और १८ बार खोटक (प्रमार्जन) करना, यों प्रतिलेखना के कुल १+६+१८=२५ प्रकार होते हैं।

प्रमाद-प्रतिलेखना—२६ वीं गाथा में आरभटा आदि प्रतिलेखना के ६ दोष बताए हैं, जो स्थानांगसूत्र के अनुसार प्रमाद-प्रतिलेखना के प्रकार हैं—(१) आरभटा—निर्दिष्ट विधि से विपरीत रीति से या शीघ्रता से प्रतिलेखना करना अथवा एक वस्त्र की प्रतिलेखना अधूरी छोड़कर दूसरे वस्त्र की प्रतिलेखना में लग जाना, (२) सम्मर्दा—जिस प्रतिलेखना में वस्त्र के कोने मुड़े ही रहें, उनमें सलवटें पड़ी हों, अथवा प्रतिलेख्यमान वस्त्रादि पर बैठकर प्रतिलेखना करना, (३) मोसली—जैसे धान्य कूटते समय मूसल ऊपर, नीचे और तिरछे लगता है, उसी प्रकार वस्त्र को ऊपर, नीचे या तिरछे दीवार या अन्य पदार्थ से लगाना। (४) प्रस्फोटना—धूलिधूसरित वस्त्र की तरह प्रतिलेख्यमान वस्त्र का जोर से झड़काना। (५) विक्षिप्ता—प्रतिलेखना किये हुए वस्त्रों को विना प्रतिलेखना किये हुए वस्त्रों में मिला देना, अथवा प्रतिलेखना करते हुए वस्त्र के पल्ले को इधर-उधर फेंकते रहना या वस्त्र को इतना अधिक ऊँचा उठा लेना कि भलीभांति प्रतिलेखना न हो सके। (६) वेदिका—प्रतिलेखना करते समय दोनों घुटनों के ऊपर, नीचे, बीच में या पार्श्व में या दोनों घुटनों को दोनों हाथों के बीच में या एक जानु को दोनों हाथों के बीच में रखना वेदिका-प्रतिलेखना है। इसी दृष्टि से वेदिका-प्रतिलेखना के ५ प्रकार बताए गए हैं—(१) ऊर्ध्व-वेदिका, (२) अधोवेदिका, (३) तिर्यक्वेदिका, (४) उभयवेदिका और (५) एकवेदिका।[2]

सात प्रतिलेखना-अविधि—२४वीं गाथा में उक्त प्रतिलेखनाविधि को लेकर यहाँ सात प्रकार की प्रतिलेखना-अविधि बताई है—(१) प्रशिथिल—वस्त्र को ढीला पकड़ना, (२) प्रलम्ब—वस्त्र को इस तरह पकड़ना कि उसके कोने नीचे लटकते रहें, (३) लोल—प्रतिलेख्यमान वस्त्र का भूमि से या हाथ से संघर्षण करना, (४) एकामर्शा—वस्त्र को बीच में से पकड़ कर एक दृष्टि में ही समूचे वस्त्र को देख जाना, (५) अनेक रूप धूनना—वस्त्र को अनेक बार (तीन बार से अधिक) झटकना, अथवा अनेक वस्त्रों को एक साथ एक ही बार में झटकना, (६) प्रमाणप्रमाद—प्रस्फोटन और प्रमार्जन का जो प्रमाण (९-९ बार) बताया है, उसमें प्रमाद करना और (७) गणनोपगणना—

---

१. (क) उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ५४२
(ख) स्थानांग, स्थान ६।५०३

२. (क) वही, स्थान ६।५०३ (ख) उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ५४२
(ग) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भाग २, पत्र २१२

प्रस्फोटन और प्रमार्जन के शास्त्रोक्त प्रमाण में शंका के कारण हाथ की अंगुलियों की पर्वरेखाओं से गिनती करना।[1]

प्रतिलेखना : शुद्ध-अशुद्ध—अट्ठाईसवीं गाथा के अनुसार प्रशस्त (शुद्ध) या अप्रशस्त (अशुद्ध) प्रतिलेखना के ८ विकल्प होते हैं—(१) जो प्रतिलेखना (प्रस्फोटन-प्रमार्जन के) प्रमाण से अन्यून, अनतिरिक्त (न कम, न अधिक) और अविपरीत हो, (२) अन्यून, अनतिरिक्त हो, पर विपरीत हो, (३) जो अन्यून हो, किन्तु अतिरिक्त हो, अविपरीत हो, (४) जो न्यून हो, अतिरिक्त हो और विपरीत हो, (५) जो न्यून हो, अनतिरिक्त हो, अविपरीत हो, (६) जो न्यून हो, अनतिरिक्त हो, किन्तु विपरीत हो, (७) जो न्यून हो, अतिरिक्त हो, किन्तु अविपरीत हो, (८) जो न्यून हो, अतिरिक्त हो, और विपरीत भी हो। इसमें प्रथम विकल्प शुद्ध (प्रशस्त) है और शेष ७ विकल्प अशुद्ध (अप्रशस्त) हैं।[2]

प्रतिलेखना में प्रमत्त और अप्रमत्त : परिणाम—गा. २९-३० में प्रतिलेखना-प्रमत्त के लक्षण और उसे षट्काय-विराधक तथा ३१ वीं गाथा में प्रतिलेखना-अप्रमत्त के लक्षण एवं उसे षट्काय का आराधक कहा है।[3]

तृतीय पौरुषी का कार्यक्रम : भिक्षाचर्या

३२. तइयाए पोरिसीए भत्तं पाणं गवेसए।
छण्हं अन्नयरागम्मि कारणंमि समुट्ठिए॥

[३२] छह कारणों में से किसी एक कारण के उपस्थित होने पर तृतीय पौरुषी (तीसरे पहर) में भक्त-पान की गवेषणा करे।

३३. वेयण—वेयावच्चे इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए॥

[३३] (क्षुधा-) वेदना (की शान्ति) के लिए, वैयावृत्य के लिए, ईर्या (समिति के पालन) के लिए, संयम के लिए तथा प्राण-धारण (रक्षण) करने के लिए और छठे धर्मचिन्तन (-रूप कारण) के लिए भक्त-पान की गवेषणा करे।

३४. निग्गन्थो धिइमन्तो निग्गन्थी वि न करेज्ज छहिं चेव।
ठाणेहिं उ इमेहिं अणइक्कमणा य से होइ॥

[३४] धृतिमान् (धैर्यसम्पन्न) निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी (साध्वी) इन छह कारणों से भक्त-पान की गवेषणा न करे जिससे संयम का अतिक्रमण न हो।

३५. आयंके उवसग्गे तितिक्खया बम्भचेरगुत्तीसु।
पाणिदया तवहेउं सरीर—वोच्छेयणट्ठाए॥

[३५] आतंक (रोग) होने पर, उपसर्ग आने पर, तितिक्षा के लिए, ब्रह्मचर्य की गुप्तियों की

---

१. (क) उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ५४२ (ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र २१३
२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र २१३
३. उत्तरा. (गु. भाषान्तर,) भा. २, पत्र २१३

रक्षा के लिए प्राणियों की दया के लिए, तप के लिए तथा शरीर-विच्छेद (व्युत्सर्ग) के लिए मुनि भक्त-पान की गवेषणा न करे।

३६. अवसेसं भण्डगं गिज्झा चक्खुसा पडिलेहए।
परमद्धजोयणाओ विहारं विहरए मुणी ॥

[३६] समस्त उपकरणों का आँखों से प्रतिलेखन करे और उनको लेकर (आवश्यक हो तो) मुनि उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) आधे योजन (दो कोस) क्षेत्र (विहार) तक विचरण करे (अर्थात् भक्त-पान की गवेषणा के लिए पर्यटन करे)।

विवेचन—भक्तपान की गवेषणा के कारण—स्थानांगसूत्र और मूलाचार में भी छह कारणों से आहार करने का विधान है, जो कि भक्त-पान-गवेषणा का फलितार्थ है। मूलाचार में 'इरियट्ठाए' के बदले 'किरियट्ठाए' पाठ है। वहाँ उसका अर्थ किया गया है—षड् आवश्यक आदि क्रियाओं का पालन करने के लिए। छह कारणों की मीमांसा करते हुए ओघनिर्युक्ति में कहा गया कि प्रथम कारण इसलिए बताया है कि क्षुधा के समान कोई शरीरवेदना नहीं है, क्योंकि क्षुधा से पीड़ित व्यक्ति वैयावृत्य नहीं कर सकता, क्षुधापीड़ित व्यक्ति आँखों के आगे अंधेरा आ जाने के कारण ईर्या का शोधन नहीं कर सकता है, आहारादि ग्रहण किये बिना कच्छ और महाकच्छ आदि की तरह वह प्रेक्षा आदि संयमों का पालन नहीं कर सकता। आहार किये बिना उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। इससे वह गुणन (चिन्तन) और अनुप्रेक्षण करने में अशक्त हो जाता है। प्राणवृत्ति अर्थात् प्राणरक्षण (जीवनधारण) के लिए आहार-ग्रहण करना आवश्यक है। प्राण का त्याग तभी किया जाना युक्त है, जब आयुष्य पूर्ण होने का कोई कारण उपस्थित हो, अन्यथा आत्महत्या का दोष लगता है। इसलिए जीवनधारण के लिए आहार करना आवश्यक है। छठा कारण धर्मचिन्ता है। इसका तात्पर्य यह है कि क्षुधादि से दुर्बल हुए व्यक्ति को दुर्ध्यान होना सम्भव है, उससे धर्मध्यान नहीं हो सकता।[1]

भक्तपान-गवेषणा-निषेध के ६ कारण—(१) **आतंक**—ज्वर आदि रोग होने पर, (२) उपसर्ग आने पर अर्थात्-देव, मनुष्य अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग आया हो तब अथवा व्रतभंग करने के लिए स्वजनादि के द्वारा किये गए उपसर्ग के समय, (३) ब्रह्मचर्य की गुप्तियों की रक्षा के लिए, अर्थात् आहार करने से मन में विकार उत्पन्न होता हो तो आहार का त्याग किये बिना ब्रह्मचर्य-पालन नहीं हो सकता है, (४) प्राणियों की दया के लिए अर्थात् वर्षा आदि ऋतुओं में अप्काय

---

१. (क) स्थानांग. वृत्ति ६।५०० (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५४३

(ग) वेयणवेयावच्चे किरियाठाणे य संजमट्ठाए।
तवपाणधम्मचिंता कुज्जा एवेहिं आहारं ॥ —मूलाचार ६।६० वृत्ति

(घ) नत्थि छुहाए सरिसया, वेयण भुंजेज्ज तप्प-समणट्ठा।
छाओ वेयावच्चं, न तरइ काउं अओ भुंजे ॥
इरियं नवि सोहेइ पेहाईयं च संजमं काउं।
थामो वा परिहायइ, गुणणुप्पेहासु य असत्तो ॥ —ओघनिर्युक्ति भाष्य, गाथा २९०-२९१

(ङ) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २१५

आदि के जीवों की रक्षा के लिए आहारत्याग करना आवश्यक है, (५) उपवास आदि तपस्या के समय आहारत्याग आवश्यक है, (६) शरीर का व्युत्सर्ग करने हेतु—आयुष्य की समाप्ति पर शरीर का त्याग करने हेतु उचित समय पर अनशन करते समय। इन ६ कारणों से आहार नहीं करना चाहिए। अर्थात् ६ कारणों से भक्त-पान की गवेषणा नहीं करनी चाहिए।[1]

विहारं विहरए—व्यवहारभाष्य की वृत्ति में 'विहारभूमि' का अर्थ किया गया है—'भिक्षा-भूमि।' इसीलिए प्रस्तुत प्रसंग में 'विहारं विहरए' का अर्थ किया गया है—भिक्षा के निमित्त पर्यटन करे। बृहद्वृत्ति में विहार का अर्थ—प्रदेश (क्षेत्र) किया है, क्योंकि उसका सम्बन्ध अर्द्धयोजन (दो कोस) तक आहार-पानी की गवेषणा के लिए पर्यटन के साथ जोड़ा गया है।[2]

भिक्षाभूमि में जाते समय सोपकरण जाए या निरुपकरण ?—ओघनिर्युक्ति में इस सम्बन्ध में यह मत व्यक्त किया गया है कि मुनि सभी उपकरणों को साथ में लेकर भिक्षा-गवेषणा करे, यह उत्सर्गविधि है। यदि वह सभी उपकरणों को साथ ले जाने में असमर्थ हो तो आचारभण्डक को साथ लेकर जाए, यह अपवादविधि है। आचारभण्डक में निम्नोक्त ६ उपकरण आते हैं—(१) पात्र, (२) पटल (पल्ला), (३) रजोहरण, (४) दण्डक, (५) कल्पद्वय अर्थात् एक ऊनी और एक सूती चादर और (६) मात्रक (पेशाव आदि के लिए भाजन)। शान्त्याचार्य ने 'अवशेष' का अर्थ समस्त पात्रनिर्योग (पात्र से सम्वन्धित समस्त उपकरण) किया है। विकल्प रूप से समस्त भाण्डक—उपकरण अर्थ किया है।[3]

चतुर्थ पौरुषी का कार्यक्रम

३७. चउत्थीए पोरिसीए निक्खिवित्ताण भायणं।
सज्झायं तओ कुज्जा सव्वभावविभावणं॥

[३७] चतुर्थ पौरुषी (प्रहर) में प्रतिलेखना करके सभी पात्रों को (वांध कर) रख दे। तदनन्तर (जीवादि) समस्त भावों का प्रकाशक (अभिव्यक्त करने वाला) स्वाध्याय करे।

३८. पोरिसीए चउब्भाए वन्दित्ताण तओ गुरुं।
पडिक्कमित्ता कालस्स सेज्जं तु पडिलेहए॥

[३८] पौरुषी के चतुर्थ भाग में गुरु को वन्दना करके फिर काल का प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) कर शय्या का प्रतिलेखन करे।

---

१. (क) स्थानांग. स्थान ६।५०० वृत्ति
(ख) ओघनिर्युक्तिभाष्य, गाथा २९३-२९४
(ग) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर, भावनगर) भा. २, पत्र २१५

२. (क) यत्र च महती विहारभूमिर्भिक्षानिमित्तं परिभ्रमणभूमिः····· —व्यवहारभाष्य ४।४० वृत्ति
(ख) विहरत्यस्मिन् प्रदेश इति विहारस्तम्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५४४

३. (क) ओघनिर्युक्तिभाष्य गाथा २२७, वृत्तिसहित
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ५४४

३९. पासवणुच्चारभूमिं च पडिलेहिज्ज जयं जई।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥

[३९] यतना में प्रयत्नशील मुनि फिर प्रस्रवण (भूमि) और उच्चारभूमि का प्रतिलेखन करे, उसके वाद सर्वदु:खों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

विवेचन—चतुर्थ प्रहर की चर्या का क्रम—प्रस्तुत तीन गाथाओं (३७ से ३९ तक) में चतुर्थ प्रहर की चर्या का क्रम इस प्रकार वताया गया है—(१) प्रतिलेखना, (२) पात्र बांधकर रखना, (३) स्वाध्याय, (४) गुरुवन्दन-काल का कायोत्सर्ग करके शय्याप्रतिलेखन, (५) उच्चार-प्रस्रवण भूमि-प्रतिलेखन और अन्त में (६) कायोत्सर्ग।[1]

दैवसिक प्रतिक्रमण

४०. देसियं च अईयारं चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो।
नाणे य दंसणे चेव चरित्तम्मि तहेव य ॥

[४०] ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सम्बन्धित दिवस सम्बन्धी अतिचारों का अनुक्रम से चिन्तन करे।

४१. पारियकाउस्सग्गो वन्दित्ताण तओ गुरुं।
देसियं तु अईयारं आलोएज्ज जहक्कमं ॥

[४१] कायोत्सर्ग को पूर्ण (पारित) करके गुरु को वन्दना करे। तदनन्तर क्रमशः दिवस-सम्बन्धी अतिचारों की आलोचना करे।

४२. पडिक्कमित्तु निस्सल्लो वन्दित्ताण तओ गुरुं।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणं ॥

[४२] (इस प्रकार) प्रतिक्रमण करके निःशल्य होकर गुरु को वन्दना करे। तत्पश्चात् सर्वदु:खों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४३. पारियकाउस्सग्गो वन्दित्ताण तओ गुरुं।
थुइमंगलं च काऊण कालं संपडिलेहए ॥

[४३] कायोत्सर्ग पूरा (पारित) करके गुरु को वन्दना करे। फिर स्तुति-मंगल (सिद्धस्तव) करके काल का सम्यक् प्रतिलेखन करे।

विवेचन—दैवसिक प्रतिक्रमण का क्रम—३९ वीं गाथा के अन्त में दूसरी पंक्ति में जो कायोत्सर्ग का विधान किया गया था, वह इसी प्रतिक्रमण से सम्वन्धित है, जो ४० वीं गाथा से प्रारम्भ होता है। अर्थात्—प्रतिक्रमण प्रारम्भ करने से पूर्व सर्वदु:खनाशक कायोत्सर्ग करे, उसमें (४० वीं गाथा के अनुसार) ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सम्बन्धित दिन भर में जो भी अतिचार लगे हों, उनका क्रमशः चिन्तन करे।

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २१६

ज्ञान के १४ अतिचार—व्याविद्ध, व्यत्याम्रे डित, हीनाक्षर, अत्यक्षर, पदहीन, विनयहीन, योगहीन, घोषहीन, सुष्ठुदत्त, दुष्ठुप्रतीच्छित, अकाल में स्वाध्याय किया, काल में स्वाध्याय न किया, ये १४ ज्ञान में लगने वाले अतिचार (दोष) हैं।

दर्शन के ५ अतिचार—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परपाषण्डप्रशंसा और परपाषण्डसंस्तव, ये दर्शन (सम्यग्दर्शन) के ५ अतिचार हैं।

चारित्र के अतिचार—५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति तथा अन्यविहित कर्त्तव्यों में जो भी अतिचार हैं, वे चारित्रिक अतिचार हैं। इसमें शयनसम्बन्धी, भिक्षाचरीसम्बन्धी, प्रतिलेखनसम्बन्धी तथा स्वाध्यायसम्बन्धी एवं गमनागमनसम्बन्धी (ऐर्यापथिक) प्रतिक्रमण भी आ जाता है।

यों अतिचारों का चिन्तन, फिर कायोत्सर्ग करके गुरु को द्वादशावर्त्त वन्दन, तदनन्तर दिवस-सम्बन्धी चिन्तित अतिचारों की गुरु के समक्ष आलोचना करे—इसमें गुरु के समक्ष दोषों का प्रकटीकरण, निन्दना (पश्चात्ताप), गर्हणा, क्षमापना, प्रायश्चित्त इत्यादि प्रतिक्रमण के सब अंगों का समावेश हो जाता है।

इस प्रकार प्रतिक्रमण करके निःशल्य, शुद्ध होकर गुरुवन्दना करके फिर कायोत्सर्ग करे, तत्पश्चात् पुनः गुरुवन्दन करके सिद्धस्तव (चतुर्विंशतिस्तव) रूप स्तुतिमंगल करके 'नमोत्थु णं' बोल कर प्रादोषिक काल की प्रतिलेखना करे। यह हुआ समग्र दैवसिक प्रतिक्रमण का सांगोपांग क्रम।[1]

रात्रिक चर्या और प्रतिक्रमण

४४. पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु सज्झायं तु चउत्थिए॥

[४४] (रात्रि के) प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे।

४५. पोरिसीए चउत्थीए कालं तु पडिलेहिया।
सज्झायं तओ कुज्जा अबोहेन्तो असंजए॥

[४५] चौथे प्रहर में काल का प्रतिलेखन कर असंयत व्यक्तियों को न जगाता हुआ स्वाध्याय करे।

४६. पोरिसीए चउब्भाए वन्दिऊण तओ गुरुं।
पडिक्कमित्तु कालस्स कालं तु पडिलेहए॥

[४६] चतुर्थ पौरुषी के चौथे भाग में गुरु को वन्दना कर काल का प्रतिक्रमण करके काल का प्रतिलेखन करे।

४७. आगए कायवोस्सग्गे सव्वदुक्खविमोक्खणे।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणं॥

---

१. उत्तराध्ययन (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २१७-२१८

[४७] फिर सब दुःखों से मुक्त करने वाले कायोत्सर्ग का समय होने पर सर्वदुःख-विमुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४८. राइयं च अईयारं चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो।
नाणंमि दंसणंमी चरित्तंमि तवंमि य॥

[४८] (इसके पश्चात्) ज्ञान, दर्शन और चारित्र तथा तप में लगे हुए रात्रि-सम्बन्धी अतिचारों का अनुक्रम से चिन्तन करे।

४९. पारियकाउस्सग्गो वन्दित्ताण तओ गुरुं।
राइयं तु अईयारं आलोएज्ज जहक्कमं॥

[४९] कायोत्सर्ग को पूर्ण करके गुरु को वन्दना करे, फिर अनुक्रम से रात्रि-सम्बन्धी (कायोत्सर्ग में चिन्तित) अतिचारों की (गुरु के समक्ष) आलोचना करे।

५०. पडिक्कमित्तु निस्सल्लो वन्दित्ताण तओ गुरुं।
काउस्सग्गं तओ कुज्जा सव्वदुक्खविमोक्खणं॥

[५०] तत्पश्चात् प्रतिक्रमण कर निःशल्य होकर गुरुवन्दना करे, फिर सब दुःखों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

५१. किं तवं पडिवज्जामि एवं तत्थ विचिन्तए।
काउस्सग्गं तु पारित्ता वन्दई य तओ गुरुं॥

[५१] कायोत्सर्ग में ऐसा चिन्तन करे कि मैं (आज) किस तप को स्वीकार करूं? कायोत्सर्ग को समाप्त (पारित) कर गुरु को वन्दना करे।

५२. पारियकाउस्सग्गो वन्दित्ताण तओ गुरुं।
तवं संपडिवज्जेत्ता करेज्ज सिद्धाण संथवं॥

[५२] कायोत्सर्ग पूर्ण होते ही गुरुवन्दन करके यथोचित तप को स्वीकार करके सिद्धों की स्तुति करे।

विवेचन—कायोत्सर्ग, स्वाध्याय और प्रतिक्रमण—रात्रि के चार प्रहर में नियत कार्यक्रम का पुनः ४४ वीं गाथा द्वारा उल्लेख करके चतुर्थ प्रहर के वैरात्रिक काल का प्रतिलेखन कर स्वाध्याय-काल को भलीभांति समझ कर असंयमी (गृहस्थों) को नहीं जगाता हुआ मौनपूर्वक स्वाध्याय करे। फिर चतुर्थ प्रहर का चौथा भाग शेष रहने पर गुरुवन्दन करके वैरात्रिक काल (के कार्यक्रम) का प्रतिक्रमण करे और प्राभातिक काल का प्रतिलेखन करे (अर्थात् काल ग्रहण करे)।

यहाँ मध्यम क्रम की अपेक्षा से तीन काल ग्रहण किये हैं, अन्यथा उत्सर्गमार्ग में जघन्य तीन और उत्कृष्ट चार कालों के ग्रहण का विधान है, अपवादमार्ग में जघन्य एक और उत्कृष्ट दो कालों के ग्रहण का विधान है।

तदनन्तर पुनः (प्राभातिक) कायोत्सर्ग का काल प्राप्त होने पर सर्वदुःख-विमोचक कायोत्सर्ग करे। प्रस्तुत में तीन कायोत्सर्ग (रात्रिप्रतिक्रमण सम्बन्धी) विहित हैं। प्रथम कायोत्सर्ग में रत्नत्रय

में लगे अतिचारों का चिन्तन, फिर उनकी आलोचना तथा तीसरे कायोत्सर्ग में तपश्चरण का विचार करे।

कायोत्सर्ग के **'सव्वदुक्खविमोक्खणं'** विशेषण का अभिप्राय यह है कि कायोत्सर्ग महान् निर्जरा का (ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप एवं वीर्य की और परम्परा से आत्मा की शुद्धि का) कारण है। इसलिए इसे पुनः पुनः करने का विधान है। शुद्ध चिन्तन के लिए एकाग्रता जरूरी है और कायोत्सर्ग में एकाग्रता आ जाती है, शरीर और शरीर से सम्बन्धित समस्त सजीव-निर्जीव पदार्थो का व्युत्सर्ग करने के बाद एकमात्र आत्मा ही साधक के समक्ष रहती है, इसलिए आत्मलक्षी चिन्तन इससे हो जाता है।

कायोत्सर्ग के पश्चात्—प्रत्याख्यान आवश्यक आता है। इस दृष्टि से यहाँ **तप को स्वीकार** करने के चिन्तन का उल्लेख है। चिन्तन में अधिक से अधिक ६ मास से लेकर नीचे उतरते-उतरते अन्त में नौकारसी तप तक को स्वीकार करने का कायोत्सर्ग में चिन्तन करे और जो भी संकल्प हुआ हो, तदनुसार गुरुदेव से उस तप को ग्रहण करे।[1]

उपसंहार

५३. एसा सामायारी समासेण वियाहिया।
जं चरित्ता बहू जीवा तिण्णा संसारसागरं॥
—त्ति बेमि।

[५३] संक्षेप में, यह (साधु-) सामाचारी कही है, जिसका आचरण करके बहुत-से जीव संसारसमुद्र को पार कर गए हैं। —ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ सामाचारी : छब्बीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २१७-२१८

सत्ताईसवाँ अध्ययन : खलुंकीय

अध्ययन-सार

प्रस्तुत सत्ताईसवें अध्ययन का नाम है—खलुंकीय (खलुंकिज्ज)।

खलुंक का अर्थ है—दुष्ट बैल। उसकी उद्दण्ड एवं अविनीत शिष्य से उपमा दी गई और ऐसे शिष्य की दुर्विनीतता का चित्रण किया गया है।

अनुशासन और विनय ये दो रत्नत्रय की ग्रहणशिक्षा और आसेवनाशिक्षा के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इनके विना साधक ज्ञानादि में खोखला रह जाता है, उसके चारित्र की नींव सुदृढ़ नहीं होती। आगे चल कर अनुशासनविहीन एवं दुर्विनीत शिष्य या तो उच्छृंखल एवं स्वच्छन्द हो जाता हैं, अथवा वह संयम से ही भ्रष्ट हो जाता है।

अनुशासनहीन दुर्विनीत शिष्य भी खलुंक (दुष्ट बैल) की तरह संघ रूपी शकट और उसके स्वामी संघाचार्य की हानि करता है। थोड़ी-सी प्रतिकूलता या प्रेरणा का ताप आते ही संत्रस्त हो जाता है। जुए और चाबुक की तरह वह महाव्रत-भार और अंकुश को भंग कर डालता है और विपथगामी हो जाता है।

अविनीत शिष्य खलुंक-सा दुष्ट, दंशमशक के समान कष्टदायक, जौंक की तरह गुरु के दोष ग्रहण करने वाला, वृश्चिक की तरह वचन-कंटकों से बींधने वाला, असहिष्णु, आलसी और गुरुकथन न मानने वाला होता है।

वह गुरु का प्रत्यनीक, चारित्र में दोष लगाने वाला, असमाधि उत्पन्न करने वाला और कलह-कारी होता है।

वह चुगलखोर, दूसरों को सताने वाला, मर्म प्रकट करने वाला, दूसरों का तिरस्कार करने वाला, श्रमणधर्म के पालन में खिन्न और मायावी होता है।

गार्ग्याचार्य स्थविर, गणधर और शास्त्रविशारद तथा गुणों से सम्पन्न थे। वे समाधिस्थ रहना चाहते थे। किन्तु उनके सभी शिष्य उद्दण्ड, उच्छृंखल, अविनीत एवं आलसी हो गए। लम्बे समय तक तो उन्होंने सहन किया। किन्तु अन्त में उनको सुधारने का कोई उपाय न देख कर एक दिन वे आत्मभाव से प्रेरित हो कर शिष्यवर्ग को छोड़ अकेले ही चल दिए। आत्मार्थी मुनि के लिए यही कर्त्तव्य है कि समाधि और साधना समूह से भंग होती हो या कोई निपुण या गुण में अधिक या सम सहायक न मिले तो अपने संयम की रक्षा करता हुआ एकाकी रह कर साधना करे। अपने जीवन में पापवासना, विषमता, आसक्ति आदि न आने दे। □□

सत्तावीसइमं अज्झयणं : सत्ताईसवाँ अध्ययन

खलुंकिज्जं : खलुंकीय

गार्ग्य मुनि का परिचय

१. थेरे गणहरे गग्गे मुणी आसि विसारए।
आइण्णे गणिभावम्मि समाहिं पडिसंधए ॥

[१] गर्गगोत्रोत्पन्न गार्ग्य मुनि स्थविर, गणधर और (सर्वशास्त्र) विशारद थे, (आचार्य के) गुणों से व्याप्त (युक्त) थे, गणिभाव में स्थित थे, (तथा) समाधि में (स्वयं को) जोड़ने (प्रतिसन्धान करने) वाले थे।

विवेचन—स्थविर आदि शब्दों के विशेषार्थ—स्थविर—धर्म में स्थिर करने वाला, वृद्ध। **गणधर**—गण अर्थात् गच्छ को धारण करने वाला गणी। **मुनि**—जो सर्वसावद्यविरमण का मनन (संकल्प या प्रतिज्ञा) करता है। **विशारद**—सर्वशास्त्र-निपुण। **आइण्णे**—आकीर्ण-व्याप्त या युक्त। **गणिभावम्मि**—गणिभाव में—आचार्यपद में **आसि**—स्थित थे।[1]

समाहिं पडिसंधए—(१) वह (गार्ग्याचार्य) समाधि का प्रतिसंधान करते थे। अर्थात् कुशिष्यों के द्वारा ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप भाव-समाधि या चित्त-समाधि को तोड़ने या भंग करने पर भी वे पुनः जोड़ लेते थे अर्थात् अपने चित्त को समाधि में लगा लेते थे। (२) अथवा बृहद्वृत्तिकार के अनुसार कर्मोदय से नष्ट हुई अविनीत शिष्यों की समाधि का पुनः प्रतिसंधान कर लेते (जोड़ लेते) थे।[2]

विनीत वृषभवत् विनीत शिष्यों से गुरु को समाधि

२. वहणे वहमाणस्स कन्तारं अइवत्तई।
जोए वहमाणस्स संसारो अइवत्तई ॥

[२] (गाड़ी आदि) वाहन में जोड़े हुए विनीत वृषभ आदि को हांकते हुए पुरुष का अरण्य (जैसे) सुखपूर्वक पार हो जाता है, उसी तरह योग (—संयमव्यापार) में (जोड़े हुए सुशिष्यों को) प्रवृत्त करते हुए (आचार्यादि का) संसार भी सुखपूर्वक पार हो जाता है।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा की दो व्याख्याएँ—(१) एक व्याख्या ऊपर दी गई है, (२) दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—शकटादि वाहन को ठीक तरह से वहन करने वाला बैल जैसे कान्तार-जंगल

---

१. (क) उत्तरा. वृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ३, पृ. ७२५ (ख) उत्तरा. (गुज. भाषान्तर) भा. २, पत्र २१९

२. (क) उत्तरा. वृत्ति, अभिधान रा. को. भा. ३, पृ. ७२५ : कुशिष्यैः त्रोटितं ज्ञानदर्शनचारित्राणां समाधिं प्रतिसन्धत्ते।
(ख) कर्मोदयात् त्रुटितमपि (समाधिं) संघट्टयति, तथाविधशिष्याणामिति गम्यते। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५५०

को सुखपूर्वक पार करता है, उसी तरह योग (संयम) में संलग्न मुनि संसार को पार कर जाता है। आशय यह है शिष्यों के विनीतभाव को देख कर गुरु स्वयं समाधिमान् हो जाता है। शिष्य भी विनीतभाव से स्वयं संसार को पार कर जाते हैं। इस प्रकार विनीत शिष्य एवं सदाचार्य का योग-सम्बन्ध संसार का उच्छेदकर होता है।[1]

अविनीत शिष्यों को दुष्ट वृषभों के विविधरूपों से उपमित

३. खलुंके जो उ जोएइ विहम्माणो किलिस्सई।
असमाहिं च वेएइ तोत्तओ य से भज्जई॥

[३] जो खलुंक (दुष्ट-अविनीत) बैलों को वाहन में जोतता है, वह (व्यक्ति) उन्हें मारता हुआ क्लेश पाता (थक जाता) है; असमाधि का अनुभव करता है और (अन्त में) उस (हांकने वाले व्यक्ति) का चावुक भी टूट जाता है।

४. एगं डसइ पुच्छंमि एगं विन्धइऽभिक्खणं।
एगो भंजइ समिलं एगो उप्पहपट्ठिओ॥

[४] (वह क्षुब्ध वाहक) किसी (एक) की पूंछ काट देता है, तो किसी (एक) को वार-वार वींधता है और उन वैलों में से कोई एक जुए की कील (समिला) को तोड़ देता है, तो दूसरा उन्मार्ग पर चल पड़ता है।

५. एगो पडइ पासेणं निवेसइ निवज्जई।
उक्कुद्दइ उप्फिडई सढे वालगवी वए॥

[५] कोई (दुष्ट वैल) मार्ग के एक ओर (दायें या बाएँ पार्श्व में) गिर पड़ता है, कोई बैठ जाता है, कोई लम्वा लेट जाता है, कोई कूदता है, कोई उछलता (या छलांग मारता) है, कोई शठ (धूर्त्त वैल) तरुण गाय की ओर भाग जाता है।

६. माई मुद्धेण पडई कुद्धे गच्छइ पडिप्पहं।
मयलक्खेण चिट्ठई वेगेण य पहावई॥

[६] कोई कपटी (मायी) वैल सिर को निढाल बना कर (भूमि पर) गिर पड़ता है, कोई क्रोधित हो कर प्रतिपथ (—उत्पथ या उलटे मार्ग) पर चल पड़ता है, कोई मृतकवत् हो कर पड़ा रहता है, तो कोई वेग से दौड़ने लगता है।

---

१. (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २१९
(ख) उत्तरा. (अनुवाद टिप्पण) साध्वी चन्दना, पृ. २८२
(ग) "..........योगे संयमव्यापारे (विनीत) शिष्यान् वाहयतः आचार्यस्य संसारः अतिवर्तते, शिष्याणां विनीतत्वं दृष्ट्वा स्वयं समाधिमान् जायते। शिष्यास्तु विनीतत्वेन स्वयं संसारमुल्लंघ्यन्ते एवं, एवमुभयोर्विनीतशिष्यसदाचार्ययोर्योगः—सम्वन्धः संसारच्छेदकर इति भावः।"
—उत्तरा. वृत्ति. अ. भा. रा. को. ३, पृ. ७२५

७. छिन्नाले छिन्दई सेल्लिं दुद्दन्तो भंजए जुगं।
से वि य सुस्सुयाइत्ता उज्जहित्ता पलायए॥

[७] कोई छिनाल (दुष्ट जाति का) बैल रास को तोड़ डालता है, कोई दुर्दान्त हो कर जुए को तोड़ देता है और वही उद्धत बैल सूं-सूं आवाज करके (वाहन और स्वामी को) छोड़ कर भाग जाता है।

८. खलुंका जारिसा जोज्जा दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि भज्जन्ति धिइदुब्बला॥

[८] अयोग्य बैल वाहन में जोतने पर जैसे वाहन को तोड़ने वाले होते हैं, वैसे ही धैर्य में दुर्बल शिष्यों को धर्मयान में जोतने पर वे भी उसे तोड़ देते हैं।

विवेचन—खलुंक : अनेक अर्थों में—(१) खलुंक का संस्कृतरूप अनुमानतः 'खलोक्ष' हो तो उसका अर्थ दुष्ट बैल, (२) निर्युक्तिकार के अनुसार जुए को तोड़कर उत्पथ पर भागने वाला बैल, अथवा (३) वक्र या कुटिल, जिसे कि झुकाया-सुधारा नहीं जा सकता, (४) खलुंक शब्द मनुष्य या पशु का विशेषण हो, तब उसका अर्थ है—दुष्ट या अविनीत मनुष्य अथवा पशु।[1]

एगं डसइ पुच्छंमि : दो व्याख्याएं—(१) इसका सम्बन्ध क्रुद्ध शकटवाहक (सारथि) से हो तो वही अर्थ है जो ऊपर दिया गया है, किन्तु (२) प्रकरणसंगत अर्थ दुष्ट बैल से सम्बन्धित प्रतीत होता है।[2]

सढे बालगवी वए : दो व्याख्याएँ—कोई शठ हो जाता है, अर्थात् धूर्तता अपना लेता है और कोई दुष्ट बैल जवान गाय के पीछे दौड़ता है, (२) कोई शठ (धूर्त) व्यालगव—दुष्ट बैल भाग जाता है।[3]

'उज्जूहित्ता' या 'उज्जाहित्ता' पलायए—(१) वाहन और स्वामी को उन्मार्ग में छोड़ कर

---

१. (क) 'खलुंकान्-गलिवृषभान्।'—सुखबोधा, पत्र ३१६
(ख) अवदाली उत्तसम्रो, जुत्तजुगं भंज, तोत्तभंजो य।
उप्पह-विप्पहगामी एए खलुंका भवे गोणा॥ २४॥
'.....तं दव्वेसु खलुंकं वक्ककुडिल चेट्ठमाइद्धं॥ २५॥
जे किर गुरुपडिणीया, सबला असमाहिकारगा पावा।
कलहकरणस्सभावा जिणवयणे ते किर खलुंका॥ २८॥
पिसुणा परोवयावी भिन्नरहस्सा परं परिभवंति।
निव्वेयणिज्जा सढा, जिणवयणे से किर खलुंका॥ २९॥ —उत्तरा. निर्युक्ति.
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५५१ (ख) The Sacred Books of the East Vol. XLV Uttara. P. 150 —डॉ. हर्मन जैकोबी
३. (क) वालगवी वएत्ति-वालगवीं-अवृद्धां गाम्, (ख) यदि वा आर्षत्वात्.....व्यालगवो-दुष्टबलीवर्दः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५५१

भाग जाता है। (२) अपने स्वामी और शकट को उन्मार्ग में लाकर किसी विषमप्रदेश में गाड़ी को तोड़ कर स्वयं भाग जाता है।[1]

धम्मजाणंमि—मुक्तिनगर में पहुँचने वाले धर्मयान (संयम-रथ) में जोते हुए (प्रेरित) वे धृतिदुर्बल (संयम में दुःस्थिर) कुशिष्य उसे ही तोड़ देते हैं, अर्थात्—संयमक्रियानुष्ठान से स्खलित हो जाते हैं।[2]

आचार्य गार्ग्य का चिन्तन

९. इड्ढीगारविए एगे एगेऽत्थ रसगारवे।
सायागारविए एगे एगे सुचिरकोहणे॥

[९] (गार्ग्याचार्य—) (मेरा) कोई (शिष्य) ऋद्धि (ऐश्वर्य) का गौरव (अहंकार) करता है, इनमें से कोई रस का गौरव करता है, कोई साता (-सुख) का गौरव करता है, तो कोई शिष्य चिरकाल तक क्रोधयुक्त रहता है।

१०. भिक्खालसिए एगे एगे ओमाणभीरुए थद्धे।
एगं च अणुसासम्मी हेऊहिं कारणेहि य॥

[१०] कोई भिक्षाचरी करने में आलसी है, तो कोई अपमान से डरता है तथा कोई शिष्य स्तब्ध (अहंकारी) है, किसी को मैं हेतुओं और कारणों से अनुशासित करता (शिक्षा देता) हूँ, (फिर भी वह समझता नहीं।)

११. सो वि अन्तरभासिल्लो दोसमेव पकुव्वई।
आयरियाणं तं वयणं पडिकूलेइ अभिक्खणं॥

[११] इतने पर भी वह बीच में बोलने लगता है, (गुरु के वचन में) दोष निकालने लगता है, आचार्यों के उस (शिक्षाप्रद) वचन के प्रतिकूल बार-बार आचरण करता है।

१२. न सा ममं वियाणाइ न वि सा मज्झ दाहिई।
निग्गया होहिई मन्ने साहू अन्नोऽत्थ वच्चउ॥

[१२] (किसी के यहाँ से भिक्षा लाने के लिए कहता हूँ, तो कोई शिष्य उत्तर देता है—) वह (श्राविका) मुझे नहीं जानती (पहचानती), अतः वह मुझे देगी भी नहीं। (अथवा कहता है—) मैं समझता हूँ, वह घर से बाहर चली गई होगी। अथवा—इसके लिए कोई दूसरा साधु जाए।

१३. पेसिया पलिउंचन्ति ते परियन्ति समन्तओ।
रायवेट्ठिं व मन्नन्ता करेन्ति भिउडिं मुहे॥

[१३] (किसी प्रयोजनविशेष से) भेजने पर, (विना कार्य किये) वापस लौट आते हैं,

---

१. (क) उत्प्रावल्येन (जूहित्ता इति) स्वस्वामिनं शकटं उन्मार्गे लात्वा कुत्रचिद् विषमप्रदेशे भङ्क्त्वा स्वयं पलायते।
(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २२०

२. उत्तरा. वृत्ति, अभिधान रा. कोष भा. ३, पृ. ७२६

(अथवा अपलाप करते हैं), यों वे इधर-उधर चारों ओर भटकते रहते हैं। किन्तु गुरु की आज्ञा का राजा के द्वारा ली जाने वाली वेठ (वेगार) की तरह मान कर मुख पर भृकुटि चढ़ा लेते हैं।

१४. वाइया संगहिया चेव भत्तपाणे य पोसिया।
जायपक्खा जहा हंसा पक्कमन्ति दिसोदिसिं॥

[१४] जैसे पंख आने पर हंस विभिन्न दिशाओं में उड़ जाते हैं, वैसे ही शिक्षित एवं दीक्षित किये हुए, पास में रखे हुए तथा भक्त-पान से पोषित किये हुए कुशिष्य भी (गुरु को छोड़कर) अन्यत्र (विभिन्न दिशाओं में) चले जाते हैं।

१५. अह सारही विचिन्तेइ खलुंकेहिं समागओ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं अप्पा मे अवसीयई॥

[१५] ऐसे अविनीत शिष्यों से युक्त धर्मयान के सारथी आचार्य खिन्न होकर सोचते हैं—मुझे इन दुष्ट शिष्यों से क्या लाभ ? (इनसे तो) मेरी आत्मा अवसन्न ही होती (दुःख ही पाती) है।

विवेचन—इड्ढिगारविए : ऋद्धिगौरविक : आशय—मेरे श्रावक धनाढ्य हैं, अमुक धनिक श्रावक मेरा भक्त है, मेरे पास उत्तम वस्त्र-पात्रादि हैं, इस प्रकार कोई अपनी ऋद्धि-अहंकार से युक्त है।

रसगारविए—किसी शिष्य को यह गर्व है कि मैं सरस स्वादिष्ट आहार पाता हूँ या सेवन करता हूँ। इस कारण वह न तो रुग्ण या वृद्ध साधुओं के लिए आहार लाता है और न तपस्या करता है।

सायागारविए—किसी को सुखसुविधाओं से सम्पन्न होने का अहंकार है, इस कारण वह एक ही स्थान पर जमा हुआ है, अन्यत्र विहार नहीं करता, न परीषह सहन कर सकता है।

थद्धे—कोई स्तब्ध यानी अभिमानी है, हठाग्रही है, उसे कदाग्रह छोड़ने के लिए मनाया या नम्र किया नहीं जा सकता।

ओमाणभीरुए—अपमानभीरु होने के कारण अपमान के डर से किसी के यहाँ भिक्षा के लिए नहीं जाता।

साहू अन्नोऽत्थवच्चउ—दूसरा कोई चला जाए (अर्थात् कोई कहता है—क्या मैं अकेला ही आपका शिष्य हूँ, जिससे हर काम मुझे ही बताते हैं ? दूसरे बहुत-से शिष्य हैं, उन्हें भेजिए न !)[1]

पलिउंचति : दो अर्थ—(१) किसी कार्य के लिए भेजने पर विना कार्य किये ही वापस लौट आते हैं, अथवा (२) किसी कार्य के भेजने पर वे अपलाप करते हैं, अर्थात्—व्यर्थ के प्रश्नोत्तर करते हैं, जैसे—गुरु के ऐसा पूछने पर कि वह कार्य क्यों नहीं किया ?, वे झूठा उत्तर दे देते हैं कि "उस कार्य के लिए आपने कब कहा था ?" अथवा "हम तो गए थे, लेकिन उक्त व्यक्ति वहाँ मिला ही नहीं।"[2]

---

१. उत्तराध्ययनवृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ३, पृ.७२६
२. (क) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) पृ. २८४ (ख) उत्तरा. वृत्ति, अभि. रा. को. भा. ३, वृ. ७२६

परियंति समंतओ—वे कुशिष्य वैसे तो चारों ओर भटकते या घूमते रहते हैं, किन्तु हमारे पास यह सोचकर नहीं रहते कि इनके पास रहेंगे तो इनका काम करना पड़ेगा, यों सोचकर वे हम से दूर-दूर रहते हैं।[1]

वाइया संगहिया चेव—इन्हें सूत्रवाचना दी, शास्त्र पढ़ाकर विद्वान् बनाया, इन्हें अपने पास रक्खा तथा स्वयं ने इन्हें दीक्षा दी।[2]

किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं—ऐसे दुष्ट—अविनीत शिष्यों से मुझे क्या लाभ ? अर्थात्—मेरा कौन सा इहलौकिक या पारलौकिक प्रयोजन सिद्ध होता है ? उलटे, इन्हें प्रेरणा देने से मेरे काय (आत्म-कर्त्तव्य) में हानि होती है और कोई फल नहीं। फलितार्थ यह निकलता है कि इन कुशिष्यों का त्याग करके मुझे स्वयं उद्यतविहारी होना चाहिए। यही गार्ग्याचार्य के चिन्तन का निष्कर्ष है।[3]

कुशिष्यों का त्याग करके तपःसाधना में संलग्न गार्ग्याचार्य

१६. जारिसा मम सीसाउ तारिसा गलिगद्दहा।
गलिगद्दहे चइत्ताणं दढं परिगिण्हइ तवं॥

[१६] जैसे गलिगर्दभ (आलसी और निकम्मे गधे) होते हैं, वैसे ही ये मेरे शिष्य हैं। (ऐसा सोचकर गार्ग्याचार्य ने) गलिगर्दभरूप शिष्यों को छोड़ कर दृढ तपश्चरण (उग्र बाह्याभ्यन्तर तपोमार्ग) स्वीकार किया।

१७. मिउ—मद्दवसंपन्ने गम्भीरे सुसमाहिए।
विहरइ महिं महप्पा सीलभूएण अप्पणा॥
—त्ति बेमि।

[१७] (उसके पश्चात्) मृदु और मार्दव से सम्पन्न, गम्भीर, सुसमाहित एवं शीलभूत (चारित्रमय) आत्मा से युक्त होकर वे महात्मा गार्ग्याचार्य (अविनीत शिष्यों को छोड़कर) पृथ्वी पर (एकाकी) विचरण करने लगे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—गलिगर्दभ से उपमित कुशिष्य—गार्ग्याचार्य के द्वारा 'गलिगर्दभ' शब्द का प्रयोग उक्त शिष्यों की दुष्टता एवं नीचता बताने के लिए किया गया है। प्रायः गधों का यह स्वभाव होता है कि मंदबुद्धि होने के कारण बार-बार अत्यन्त प्रेरणा करने पर ही वे चलते हैं या नहीं चलते, इसी प्रकार गार्ग्याचार्य के शिष्य भी बार-बार प्रेरणा देने पर भी सन्मार्ग पर नहीं चलते थे, ढीठ होकर उलटा-सीधा प्रतिवाद करते थे, वे साधना में आलसी और निरुत्साह हो गए थे, इसलिए उन्होंने सोचा कि 'मेरा सारा समय तो इन्हीं कुशिष्यों को प्रेरणा देने में चला जाता है, अन्य साधना के लिए

---

१. उत्तरा. वृत्ति, अभि. रा. को. भा. ३, पृ. ७२६
२. वही, भा. ३, पृ. ७२६
३. वही, भा. ३, पृ. ७२६

शान्त वातावरण एवं समय नहीं मिलता, अतः इन्हें छोड़ देना श्रेयस्कर है, यह सोच कर वे एकाकी होकर आत्मसाधना में संलग्न हो गए।[1]

मिउ-मद्दवसंपन्ने—मृदु—बाह्यवृत्ति से कोमल—विनम्र तथा मन से भी मृदुता से युक्त।[2]

॥ खलुंकीय : सत्ताईसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. उत्तरा. वृत्ति. अभिधान रा. कोष भा. ३, पृ. ७२७

२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र २२२

अट्ठाईसवाँ अध्ययन : मोक्षमार्गगति

अध्ययन-सार

※ प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'मोक्षमार्गगति' (मोक्खमग्गगई) है।

※ मोक्ष साधुजीवन का अन्तिम लक्ष्य है और मार्ग उसको पाने का उपाय। गति साधक का अपना यथार्थ पुरुषार्थ है। साध्य हो, किन्तु साधन न मिले तो साध्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार साध्य भी हो, साध्यप्राप्ति का उपाय भी हो, किन्तु उसकी ओर चरण न बढ़ें तो वह प्राप्त नहीं हो सकता।

※ प्रस्तुत अध्ययन में मोक्षप्राप्ति के चार उपाय (साधन) बताए हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग बताया गया है और यहाँ तप को अधिक बताया है, किन्तु यह विवक्षाभेद के कारण ही है। चारित्र में ही तप का समावेश हो जाता है। इस चतुरंग मोक्षमार्ग में गति करने वाले साधक ही उस चरम लक्ष्य को प्राप्त करते हैं।

※ प्रस्तुत अध्ययन की १ से १४ वीं गाथा तक ज्ञान और ज्ञेय (प्रमेय) का निरूपण है। १५ से ३१ वीं गाथा तक दर्शन का विविध पहलुओं से वर्णन है। ३२ से ३४ वीं गाथा तक चारित्र का प्रतिपादन है और ३५ वीं गाथा में तप का निरूपण है।

※ मोक्षप्राप्ति का प्रथम साधन सम्यग्ज्ञान है। विना ज्ञान के कोरी क्रिया अंधी है और क्रिया के विना ज्ञान पंगु है। अतः सर्वप्रथम ज्ञान के निरूपण के सन्दर्भ में ५ ज्ञान और उसके ज्ञेय द्रव्य-गुण-पर्याय तथा षट्द्रव्य का प्रतिपादन है।

※ दूसरा साधन दर्शन है, जिसका विषय है—नौ तत्त्वों की उपलब्धि—वास्तविक श्रद्धा। वे तत्त्व यहाँ स्वरूपसहित बताए हैं। फिर दर्शन को निसर्गरुचि आदि १० प्रकारों सें समझाया गया है।

※ मोक्षप्राप्ति का तृतीय मार्ग है—चारित्र। उसके सामायिक आदि ५ भेद हैं, जिनका प्रतिपादन यहाँ किया गया है।

※ अन्त में मोक्ष के चतुर्थ साधन तप के दो रूप—बाह्य और आभ्यन्तर बता कर प्रत्येक के ६-६ भेदों का सांगोपांग निरूपण किया है।

※ कुछ अनिवार्यताएँ बताई हैं—दर्शन के विना ज्ञान सम्यक् नहीं होता, सम्यग्ज्ञान के विना चारित्र असम्यक् है और चारित्र नहीं होगा, तब तक मोक्ष नहीं होता। मोक्ष के विना आत्मसमाधि, समग्र आत्मगुणों का परिपूर्ण विकास या निर्वाण प्राप्त नहीं होता। □□

अट्ठावीसइमं अज्झयणं : अट्ठाईसवाँ अध्ययन

मोक्खमग्गगई : मोक्षमार्गगति

मोक्षमार्गगति : माहात्म्य और स्वरूप

१. मोक्खमग्गगइं तच्चं सुणेह जिणभासियं।
चउकारणसंजुत्तं नाण-दंसणलक्खणं॥

[१] (ज्ञानादि) चार कारणों से युक्त, ज्ञान-दर्शन लक्षणरूप, जिनभाषित, सत्य (-सम्यक्) मोक्षमार्ग की गति को सुनो।

२. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥

[२] वरदर्शी (-सत्य के सम्यक् द्रष्टा) जिनवरों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप; इस (चतुष्टय) को मोक्ष का मार्ग प्ररूपित किया है।

३. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छन्ति सोग्गइं॥

[३] ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप, इस (मोक्ष-) मार्ग पर आरूढ जीव सद्गति को प्राप्त करते हैं।

विवेचन—मोक्ष-मार्ग-गति : विश्लेषण—मोक्ष का लक्षण है—अष्टविध कर्मों का सर्वथा उच्छेद। उसका मार्ग, तीर्थंकरप्रतिपादित ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप रूप है। उक्त मोक्षमार्ग में वास्तविक गति करना 'मोक्षमार्गगति' है।[1]

नाणदंसणलक्खणं : तात्पर्य—जब ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार से युक्त मोक्षमार्ग है, तब उसे ज्ञान-दर्शन-लक्षण वाला ही क्यों कहा गया? इसका समाधान बृहद्वृत्तिकार ने किया है कि जिसमें सम्यक् ज्ञान-दर्शन का अस्तित्व होगा, उसकी मुक्ति अवश्यम्भावी है। शास्त्रकार ने इन दोनों को मुक्ति के मूल कारण बताने के लिए यहाँ अंकित किया है। अथवा समस्त कर्मक्षय रूप मोक्ष के मार्ग में शुद्ध गति अर्थात् प्राप्ति—मोक्षमार्गगति है। वह ज्ञान-दर्शनरूप है, अर्थात्—विशेष-सामान्योपयोगरूप है।[2]

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ६, पृ. ४४८
(ख) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा. २

२. बृहद्वृत्ति पत्र ५५६

मोक्षमार्ग— प्रस्तुत अध्ययन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों को मोक्षमार्ग वताया गया है, जवकि तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीन को ही मोक्षमार्ग वताया है। इसका कारण यह है कि यद्यपि तप चारित्र का ही एक अंग है, तथापि कर्मक्षय करने का विशिष्ट साधन होने के कारण तप को यहाँ पृथक् स्थान दिया गया है। अतः यह केवल अपेक्षाभेद है। विभिन्न दर्शनों और धर्मों ने अन्यान्य प्रकार से मोक्षमार्ग वताया है, उनके निषेध के लिए यहाँ तथ्य और जिनभाषित दो विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं।[1]

मोक्ष का फलितार्थ—वन्ध और वन्ध के कारणों के अभाव से तथा पूर्ववद्ध कर्मों के क्षय से होने वाला परिपूर्ण आत्मिक विकास मोक्ष है, अर्थात्—ज्ञान और वीतरागभाव की पराकाष्ठा ही मोक्ष है।

सम्यग्ज्ञानादि का स्वरूप—नय और प्रमाण से होने वाला जीवादि पदार्थों का यथार्थ वोध सम्यग्ज्ञान है। जिस गुण अर्थात् शक्ति के विकास से तत्त्व (सत्य) की प्रतीति हो, जिसमें हेय, ज्ञेय और उपादेय के यथार्थ विवेक की अभिरुचि हो, वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक-काषायिक भाव यानी राग-द्वेष और योग की निवृत्ति से होने वाला स्वरूपरमण सम्यक्चारित्र है।[2]

ज्ञान और उसके प्रकार

४. तत्थ पंचविहं नाणं सुयं आभिनिवोहियं।
ओहीनाणं तइयं मणनाणं च केवलं॥

[४] उक्त चारों में से ज्ञान पांच प्रकार का है—श्रुतज्ञान, आभिनिवोधिक (मतिज्ञान), तीसरा अवधिज्ञान एवं मनोज्ञान (मनःपर्यायज्ञान) और केवलज्ञान।

५. एयं पंचविहं नाणं दव्वाण य गुणाण य।
पज्जवाणं च सव्वेसिं नाणं नाणीहि देसियं॥

[५] ज्ञानी पुरुषों ने वताया है कि यह पांच प्रकार का ज्ञान सर्व द्रव्यों, गुणों और पर्यायों का अववोधक—जानने वाला है।

विवेचन—पांच ज्ञानों के क्रम में अन्तर—नन्दीसूत्र आदि में मतिज्ञान को प्रथम और श्रुतज्ञान को दूसरा कहा गया है, किन्तु यहाँ श्रुतज्ञान को प्रथम और मतिज्ञान को वाद में कहा है। उसका कारण वृत्तिकार ने यह वताया है कि शेष सभी ज्ञानों के स्वरूप का ज्ञान प्रायः श्रुतज्ञान से ही हो सकता है, इसलिए श्रुतज्ञान की मुख्यता वताने के लिए इसे प्रथम कहा है। मति और श्रुत दोनों ज्ञान अन्योन्याश्रित हैं। अथवा मति और श्रुत लब्धि की अपेक्षा साथ ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए इन में पहले पीछे का प्रश्न ही नहीं उठता।[3]

मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्द—अनुयोगद्वार में 'आभिनिवोधिक' शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु नन्दीसूत्र में ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा को इसका

---

१. (क) वृहद्वृत्ति, पत्र ५५६ : इह च चारित्रभेदत्वेऽपि तपसः पृथगुपादानमस्यैव कर्मक्षपणं प्रत्यसाधारणहेतुत्वमुपदर्शयितुम्। तथा च वक्ष्यति—तवसा "विसुज्झइ।"
(ख) तत्त्वार्थसूत्र १।१

२. तत्त्वार्थसूत्र—वन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्। —तत्त्वार्थ. १०।२, १।१ पं. सुखलालजीकृत विवेचन —पृ. १-२

३. वृहद्वृत्ति, पत्र ५५७

पर्यायवाची माना गया है। तत्त्वार्थसूत्र में भी मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिवोध को एकार्थक बताया गया है। वस्तुतः ईहा आदि मतिज्ञान में ही गर्भित हैं।[1]

ज्ञान का अर्थ यहाँ सम्यग्ज्ञान—प्रस्तुत में ज्ञान शब्द से सम्यग्ज्ञान ही गृहीत होता है, मिथ्याज्ञान नहीं, क्योंकि सम्यग्ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। मिथ्याज्ञान मोक्ष का हेतु नहीं है।[2]

विशिष्ट शब्दों के विशेषार्थ—**नाणीहिं**—ज्ञानियों ने—तीर्थंकरों ने, **दव्वाण**—जीवादि द्रव्यों का, **गुणाण**—रूप आदि गुणों का, **पज्जवाणं**—नूतनत्व, पुरातनत्व आदि अनुक्रम से होने वाले पर्यायों (परिवर्तनों) का, **नाणं**—ज्ञायक है—जानने वाला है।[3]

पंचविध ज्ञान : द्रव्य-गुण-पर्यायज्ञाता कैसे ?—यहाँ केवलज्ञान की अपेक्षा से पंचविध ज्ञान को सर्वद्रव्य-गुण-पर्यायज्ञाता कहा है, केवलज्ञान के अतिरिक्त अन्य ज्ञान तो नियमित पर्यायों को ही जान सकते हैं।[4]

द्रव्य, गुण और पर्याय का लक्षण

६. गुणाणमासओ दव्वं एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे॥

[६] (जो) गुणों का आश्रय (आधार) है, (वह) द्रव्य है। (जो) केवल द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वे गुण कहलाते हैं और जो दोनों अर्थात् द्रव्य और गुणों के आश्रित हों उन्हें पर्याय (पर्यव) कहते हैं।

७. धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल-जन्तवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥

[७] वरदर्शी जिनवरों ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव; यह (षड्द्रव्यात्मक) लोक कहा है।

८. धम्मो अहम्मो आगासं दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणन्ताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल-जन्तवो॥

[८] धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीनों द्रव्य (संख्या में) एक-एक कहे गए हैं। काल, पुद्गल और जीव, ये तीनों द्रव्य अनन्त-अनन्त हैं।

९. गइलक्खणो उ धम्मो अहम्मो ठाणलक्खणो।
भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं॥

[९] गति (गतिहेतुता) धर्म (धर्मास्तिकाय) का लक्षण है। स्थिति (होने में हेतु होना)

१. (क) ईहापोहवीमंसा, मग्गणा य गवेसणा।
सन्ना सई मई पन्ना सव्वं आभिणिबोहियं॥ —नन्दीसूत्र गा. ७७
(ख) मतिःस्मृतिः संज्ञा चिन्ता अभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। —तत्त्वार्थसूत्र १।१३
२. तत्त्वार्थसूत्र १।१ भाष्य
३. उत्तराध्ययन (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २२४
४. वही, भा. २, पत्र २२४

अधर्म (अधर्मास्तिकाय) का लक्षण है। सभी द्रव्यों का भाजन (आधार) आकाश है। वह अवगाह लक्षण वाला है।

१०. वत्तणालक्खणो कालो जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च सुहेण य दुहेण य॥

[१०] वर्त्तना (परिवर्तन) काल का लक्षण है। उपयोग (चेतना-व्यापार) जीव का लक्षण है, जो ज्ञान (विशेषबोध), दर्शन (सामान्यबोध) और सुख तथा दुःख से पहचाना जाता है।

११. नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य एयं जीवस्स लक्खणं॥

[११] ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग, ये जीव के लक्षण हैं।

१२. सद्दऽन्धयार-उज्जोओ पहा छायाऽऽतवे इ वा।
वण्ण-रस-गन्ध-फासा पुग्गलाणं तु लक्खणं॥

[१२] शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया और आतप तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, ये पुद्गल के लक्षण हैं।

१३. एगत्तं च पुहत्तं च संखा संठाणमेव य।
संजोगा य विभागा य पज्जवाणं तु लक्खणं॥

[१३] एकत्व, पृथक्त्व (भिन्नत्व), संख्या, संस्थान (आकार), संयोग और विभाग—ये पर्यायों के लक्षण हैं।

विवेचन—द्रव्य का लक्षण—विभिन्न दर्शनों ने द्रव्य का लक्षण अपनी-अपनी दृष्टि से भिन्न-भिन्न मान्य किया है। जैनदर्शन के अनुसार द्रव्य वह है जो गुणों (रूप आदि) का आश्रय (अनन्त गुणों का पिण्ड) है। उत्तरवर्ती जैनदार्शनिकों ने गुण और पर्याय में भेदविवक्षा करके द्रव्य का लक्षण किया—"जो गुणपर्यायवान् है, वह द्रव्य है।" इसके अतिरिक्त जैनदर्शन के ग्रन्थों में द्रव्यशब्द का प्रयोग विभिन्न शब्दों में हुआ है यथा—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त हो, वह सत् है, जो सत् है, वह 'द्रव्य' है। विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया गया है—जिसमें पूर्वपर्याय का विनाश और उत्तर-पर्याय का उत्पाद हो, वह द्रव्य है।[१]

गुण का लक्षण—गुण का लक्षण भी विभिन्न दार्शनिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से किया है। जैनदर्शन का आगमकालीन लक्षण प्रस्तुत गाथा (६) में दिया है—"जो किसी द्रव्य के आश्रित रहते हैं, वे गुण होते हैं।"[१] उत्तरवर्ती जैनदार्शनिकों ने लक्षण किया—'जो द्रव्य के आश्रय में रहते

---

१. (क) गुणाणमासओ दव्वं। —उत्तरा. अ. २८, गा. ६
(ख) 'गुणपर्यायवद् द्रव्यम्।' —तत्त्वार्थ. ५।३७
(ग) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्, सद्द्रव्यलक्षणम्। —तत्त्वार्थ. ५।२९
(घ) विशेषावश्यकभाष्य, गा. २८

हों तथा स्वयं निर्गुण हों, वे गुण हैं।' अर्थात्—द्रव्य के आश्रय में रहने वाला वही गुण 'गुण'[1] है, जिसमें दूसरे गुणों का सद्भाव न हो, अथवा जो निर्गुण हो। वास्तव में गुण द्रव्य में ही रहते हैं।

पर्याय का लक्षण—जो द्रव्य और गुण, दोनों के आश्रित रहता है, वह पर्याय है। नयप्रदीप एवं न्यायालोक में पर्याय का लक्षण कहा गया है—जो उत्पन्न, विनष्ट होता है तथा समग्र द्रव्य को व्याप्त करता है, वह पर्याय है। बृहद्वृत्तिकार कहते हैं—जो समस्त द्रव्यों और समस्त गुणों में व्याप्त होते हैं, वे पर्यव या पर्याय कहलाते हैं।[2]

समीक्षा—प्राचीन युग में द्रव्य और पर्याय, ये दो शब्द ही प्रचलित थे। 'गुण' शब्द दार्शनिक युग में 'पर्याय' से कुछ भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। कई आगम ग्रन्थों में 'गुण' को पर्याय का ही एक भेद माना गया है, इसीलिए कतिपय उत्तरवर्ती दार्शनिक विद्वानों ने गुण और पर्याय की अभिन्नता का समर्थन किया है। जो भी हो, उत्तराध्ययन में गुण का लक्षण पर्याय से पृथक् किया है। द्रव्य के दो प्रकार के धर्म होते हैं—गुण और पर्याय। इसी दृष्टि से दोनों का अर्थ किया गया—**सहभावी गुणः, क्रमभावी पर्यायः**। अर्थात्—द्रव्य का जो सहभावी अर्थात् नित्य रूप से रहने वाला धर्म है, वह गुण है, और जो क्रमभावी धर्म है, वह पर्याय है।[3] निष्कर्ष यह है कि 'गुण' द्रव्य का व्यवच्छेदक धर्म बन कर उसकी अन्य द्रव्यों से पृथक् सत्ता सिद्ध करता है। गुण द्रव्य में कथंचित् तादात्म्यसम्बन्ध से रहते हैं, जब कि पर्याय द्रव्य और गुण, दोनों में रहते हैं। यथा आत्मा द्रव्य है, ज्ञान उसका गुण है, मनुष्यत्व आदि आत्मद्रव्य के पर्याय हैं और मतिज्ञानादि ज्ञानगुण के पर्याय हैं।

गुण दो प्रकार का होता है—सामान्य और विशेष। प्रत्येक द्रव्य में **सामान्य गुण** हैं—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्व और अगुरुलघुत्व आदि।

विशेष गुण हैं—(१) गतिहेतुत्व, (२) स्थितिहेतुत्व, (३) अवगाहहेतुत्व, (४) वर्त्तनाहेतुत्व, (५) स्पर्श, (६) रस, (७) गन्ध, (८) वर्ण, (९) ज्ञान, (१०) दर्शन, (११) सुख, (१२) वीर्य, (१३) चेतनत्व, (१४) अचेतनत्व, (१५) मूर्त्तत्व और (१६) अमूर्त्तत्व आदि।

द्रव्य ६ हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। इन छहों द्रव्यों में द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व आदि **सामान्यधर्म** (गुण) समानरूप से पाए जाते हैं।

---

१. (क) **एगदव्वस्सिया गुणा।** —उत्तरा. अ. २८, गा. ६
   (ख) 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः। —तत्त्वार्थ. ५।४०

२. (क) लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे। —उत्तरा. २८।६
   (ख) पर्येति उत्पत्ति—विपत्ति चाप्नोति पर्यवति वा व्याप्नोति समस्तमपि द्रव्यमिति पर्यायः पर्यवो वा। —न्यायालोक तत्त्वप्रभावृत्ति, पत्र २०३
   (ग) पर्येति उत्पादमुत्पत्ति विपत्तिं च प्राप्नोतीति पर्यायः। —नयप्रदीप. पत्र ९९
   (घ) परि सर्वतः—द्रव्येषु गुणेषु सर्वेष्ववन्ति—गच्छन्तीति पर्यवाः।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५५७

३. (क) प्रमाणनयतत्त्वालोक रत्नाकरावतारिका, ५।७-८
   (ख) पंचास्तिकाय ता. वृत्ति. १६।३५।१२ (ग) श्लोकवार्तिक ४।१।३३।६०

असाधारणधर्म—इन छह द्रव्यों में से प्रत्येक का एक-एक विशेष (व्यवच्छेदक) धर्म भी है, जो उसी में ही पाया जाता है। जैसे--धर्मास्तिकाय का गतिसहायकत्व, अधर्मास्तिकाय का स्थिति-सहायकत्व, आकाशास्तिकाय का अवकाश (अवगाह)-दायकत्व, आदि।[1]

पर्याय का विशिष्ट अर्थ और विविध प्रकार—पर्याय का विशिष्ट अर्थ परिवर्तन भी होता है, जो जीव में भी होता है और अजीव में भी। इस प्रकार पर्याय के दो रूप हैं—जीवपर्याय और अजीवपर्याय। फिर परिवर्तन स्वाभाविक भी होते हैं, वैभाविक (नैमित्तिक) भी। इस आधार पर दो रूप बनते हैं—स्वाभाविक और वैभाविक। अगुरुलघुत्व आदि पर्याय स्वाभाविक हैं और मनुष्यत्व, देवत्व, नारकत्व आदि वैभाविक पर्याय हैं। फिर परिवर्तन स्थूल भी होता है, सूक्ष्म भी। इस अपेक्षा से पर्याय के दो रूप और बनते हैं—व्यञ्जनपर्याय और अर्थपर्याय। व्यञ्जनपर्याय कहते हैं—स्थूल और कालान्तरस्थायी पर्याय को तथा अर्थपर्याय कहते हैं—सूक्ष्म और वर्तमानकालवर्ती पर्याय को।

इन और ऐसे ही अन्य परिवर्तनों के आधार पर प्रस्तुत अध्ययन की १३ वीं गाथा में एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, संस्थान, संयोग, विभाग आदि को पर्याय का लक्षण बताया गया है।[2]

लोक षड्द्रव्यात्मक क्यों और कैसे?—'लोक' क्या है? इसका समाधान जैनागमों में चार प्रकार से किया गया है। भगवतीसूत्र में एक जगह 'धर्मास्तिकाय' को लोक कहा गया, दूसरी जगह लोक को पंचास्तिकायमय कहा गया है तथा उत्तराध्ययन के ३६ वें अध्ययन में तथा स्थानांगसूत्र में जीव और अजीव को लोक कहा गया है। प्रस्तुत गा. ७ में लोक को षड्द्रव्यात्मक कहा गया है। अतः अपेक्षाभेद से यह सब कथन समझना चाहिए, इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं। पुद्गल और जीव संख्या में अनन्त-अनन्त हैं।[3]

---

१. (क) अत्थित्तं वत्थुत्तं दव्वत्तं पमेयत्तं अगुरुलहुत्तं।
देसत्तं चेदणितरं मुत्तममुत्तं वियाणेह॥
एक्केक्का अट्ठट्ठा सामण्णा हुंति सव्वदव्वाणं॥ —बृहद्नयचक्र गा. ११ से १२, १५

(ख) सव्वेसिं सामण्णा दह भणिया सोलस विसेसा॥ ११॥
णाणं दंसण सुहसत्ति रूपरसगंधफास-गमण-ठिदी॥
वट्टण-गाहणहेउं मुत्तममुत्तं खलु चेदणिदरं च॥ १३॥
छवि जीवपोग्गलाणं इयराण वि सेस तितिभेदा॥ १५॥ —बृहद्नयचक्र, गा. ११, १३, १५

(ग) "अवगाहनाहेतुत्वं, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्वं, वर्त्तनायतनत्वं, रूपादिमत्ता, चेतनत्वमित्यादयो विशेषगुणाः।" —प्रवचनसार ता. वृत्ति, ९५

२. (क) परि-समन्तात् आयः—पर्यायः। —राजवार्तिक १।३३।१।९५

(ख) स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्यायः। —आलापपद्धति ६

(ग) तद्भावः परिणामः—उसका होना—प्रति समय बदलते रहना पर्याय है।

(घ) अथवा द्वितीयप्रकारेणार्थव्यञ्जनपर्यायरूपेण द्विधा पर्याया भवन्ति। —पंचास्तिकाय ता. वृ. १६।३५।१२

(ङ) 'सब्भावं खु विहावं दव्वाणं पज्जयं जिणुद्दिट्ठं॥' —बृहद्नयचक्र १७-१८

(च) धवला ९।४,१,४८

३. (क) भगवती. २।१०, तथा १३।४

(ख) उत्तरा, अ. ३६।२ तथा स्थानांग. २।४।१३०

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का उपकार—भगवतीसूत्र में गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से जब इन दोनों के उपकार के विषय में पूछा तो उन्होंने कहा—गौतम ! जीवों के गमन, आगमन, भाषा, उन्मेष, मन, वचन और काय के योगों की प्रवृत्ति तथा इसी प्रकार के अन्य चलभाव धर्मास्तिकाय से ही होते हैं। इसी प्रकार जीवों की स्थिति, निषीदन, शयन, मन का एकत्वभाव तथा ऐसे ही अन्य स्थिरभाव अधर्मास्तिकाय से होते हैं। धर्म और अधर्म ये दोनों लोक में ही हैं, अलोक में नहीं।

आकाशास्तिकाय का उपकार—सभी द्रव्यों को अवकाश देना है।[1]

काल का लक्षण और उपकार—काल का लक्षण है—वर्त्तना। आशय यह है कि नये को पुराना और पुराने को नया बनाना काल का लक्षण है। काल के उपकार या लिंग पांच हैं—वर्त्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व। श्वेताम्बरपरम्परा के अनुसार काल जीव-अजीव की पर्याय तथा व्यवहारदृष्टि से द्रव्य माना जाता है। काल को मानने का कारण उसकी उपयोगिता है, वह परिणाम का हेतु है, यही उसका उपकार है। व्यवहारकाल मनुष्यक्षेत्रप्रमाण और औपचारिक द्रव्य है। दिगम्बरपरम्परा के अनुसार काल लोकव्यापी एवं अणुरूप है और कालाणुओं की संख्या लोकाकाश के तुल्य है।

काल के विभाग—काल के चार प्रकार है—(१) **प्रमाणकाल**—पदार्थ मापने का काल, (२-३) **यथायुर्निवृत्तिकाल** तथा **मरणकाल**—जीवन की स्थिति को यथायुर्निवृत्तिकाल एवं उसके 'अन्त' को मरणकाल कहते हैं। (४) **अद्धाकाल**—सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्धित काल। अनुयोगद्वारसूत्र में काल के अन्य विभागों का भी उल्लेख है।[2]

जीव का लक्षण और उपकार—एक शब्द में जीव का लक्षण 'उपयोग' है। उपयोग का अर्थ है—चेतना का व्यापार। चेतना के दो भेद हैं—ज्ञान और दर्शन, अर्थात्—उपयोग के दो रूप हैं—साकार और अनाकार। उपयोग ही जीव को अजीव से भिन्न (पृथक्) करने वाला गुण है। जिसमें उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन है, वह जीव है; जिसमें यह नहीं है, वह 'अजीव' है। आगे ११ वीं गाथा में जीव का विस्तृत लक्षण दिया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा वीर्य और उपयोग, ये जीव के लक्षण हैं। इन सबको हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—वीर्य और उपयोग। उपयोग में ज्ञान

---

१. (क) भगवतीसूत्र १३।४
(ख) उत्तरा. अ. २८।९
(ग) गतिस्थित्युपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारः, आकाशस्यावगाहः। —तत्त्वार्थ. अ. ५।१७-१८

२. (क) 'वत्तणालक्खणो कालो।' —उत्तरा. २८।९
(ख) वर्त्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य —तत्त्वार्थ-५।२२
(ग) 'समयाति वा, आवलियाति वा, जीवाति वा अजीवाति वा पवुच्चति।' —स्थानांग २।४।९५
(घ) लोगागासपदेसे, एक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का।
रयणाणं रासीइव, ते कालाणू असंखदव्वाणि॥ —द्रव्यसंग्रह २२
(ङ) अनुयोगद्वारसूत्र १३४-१४०

और दर्शन का तथा वीर्य में चारित्र और तप का समावेश हो जाता है। जीवों का उपकार है—परस्पर में एक दूसरे का उपग्रह करना।[1]

पुद्गल का लक्षण और उपकार—प्रस्तुत १२ वीं एवं १३ वीं गाथा में पुद्गल के १० लक्षण बताए हैं। इनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, ये चार पुद्गल के गुण हैं और शेष ६ पुद्गलों के परिणाम या कार्य हैं। जैसे—शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया एवं आतप, ये ६ पुद्गल के परिणाम या कार्य हैं। लक्षण में दोनों ही आते हैं। गुण सदा साथ ही रहते हैं, परिणाम या कार्य निमित्त मिलने पर प्रकट होते हैं।[2]

शब्द : व्याख्या—शब्द को जैनदर्शन ने पौद्गलिक, मूर्त्त और अनित्य माना है। स्थानांगसूत्र में—पुद्गलों के संघात और विघात तथा जीव के प्रयत्न से होने वाले पुद्गलों के ध्वनिपरिणाम को शब्द कहा गया है। पुद्गलों के संघात-विघात से होने वाली शब्दोत्पत्ति को वैस्रासिक और जीव के प्रयत्न से होने वाली को प्रायोगिक कहा जाता है। पहले काययोग द्वारा शब्द के योग्य अर्थात् भाषावर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण होता है और फिर वे पुद्गल शब्दरूप में परिणत होते हैं। तत्पश्चात् जब वे वक्ता के मुँह से वचनयोग—वाक्प्रयत्न द्वारा बोले जाते हैं, तभी उन्हें 'शब्दसंज्ञा' प्राप्त होती है। अर्थात् वचनयोग द्वारा जब तक उनका विसर्जन नहीं हो जाता, तब तक उन्हें शब्द नहीं कहा जाता। शब्द जीव के द्वारा भी होता है, अजीव के द्वारा भी। जीवशब्द साक्षर और निरक्षर दोनों प्रकार का होता है, अजीवशब्द अनक्षरात्मक होता है। तीसरा मिश्रशब्द जीव-अजीव दोनों के संयोग से उत्पन्न होता है।

वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है तो शब्द के भाषापुद्गल बिखरकर फैलने लगते हैं। वे भिन्न होकर इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि अपने समकक्ष अन्यान्य अनन्त परमाणु-स्कन्धों को भाषा के रूप में परिणत करके लोकान्त तक फैल जाते हैं। वक्ता का प्रयत्न मन्द होता है तो शब्द के पुद्गल अभिन्न होकर फैलते हैं, लेकिन वे असंख्य योजन तक पहुँच कर नष्ट हो जाते हैं।[3]

अन्धकार और उद्योत—अन्धकार को जैनदर्शन ने प्रकाश का अभावरूप न मानकर प्रकाश (उद्योत) की तरह पुद्गल का सद्रूप पर्याय माना है। वास्तव में अन्धकार पुद्गलद्रव्य है, क्योंकि

---

१. (क) जीवो उवओगलक्खणो। —उत्तरा. २८।१०
   (ख) परस्परोपग्रहो जीवानाम्। —तत्त्वार्थ. ५।२१

२. (क) उत्तरा. २८।१२
   (ख) स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः—पुद्गलाः।
   शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च। —तत्त्वार्थ. ५।२३-२४

३. (क) भगवती. १३।७ रूवी भंते! भासा, अरूवी भासा? गोयमा! रूवी भासा, नो अरूपी भासा।
   (ख) 'शब्दान्धकारोद्योतप्रभाच्छायातपवर्णगन्धरसस्पर्शा एते पुद्गलपरिणामाः पुद्गललक्षणं वा।' —नवतत्त्वप्रकरण
   (ग) स्थानांग स्था. २।३८१
   (घ) भगवती. १३।७—'भासिज्जमाणी भासा।'
   (ङ) प्रज्ञापना. पद ११

उसमें गुण है। जो-जो गुणवान् होता है, वह-वह द्रव्य होता है, जैसे—प्रकाश। जैसे प्रकाश का भास्वर रूप और उष्ण स्पर्श प्रसिद्ध है, वैसे ही अन्धकार का कृष्ण रूप और शीत स्पर्श अनुभवसिद्ध है। निष्कर्ष यह हैं कि अन्धकार (अशुभ) पुद्गल का कार्य—लक्षण है, इसलिए वह पौद्गलिक है। पुद्गल का एक पर्याय है।[1]

छाया : स्वरूप और प्रकार—छाया भी पौद्गलिक है—पुद्गल का एक पर्याय है। प्रत्येक स्थूल पौद्गलिक पदार्थ चय-उपचय धर्म वाला है। पुद्गलरूप पदार्थ का चय-उपचय होने के साथ-साथ उसमें से तदाकार किरणें निकलती रहती हैं। वे ही किरणें योग्य निमित्त मिलने पर प्रतिबिम्बित होती हैं, उसे ही 'छाया' कहा जाता है। वह दो प्रकार की है—तद्वर्णादिविकार छाया (दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में ज्यों की त्यों दिखाई देने वाली आकृति) और प्रतिबिम्ब छाया (अन्य पदार्थों पर अस्पष्ट प्रतिबिम्ब मात्र पड़ना)। अतएव छाया भावरूप है, अभावरूप नहीं।[2]

नौ तत्त्व और सम्यक्त्व का लक्षण

१४. जीवाजीवा य बन्धो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो सन्तेए तहिया नव॥

[१४] जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये नौ तत्त्व हैं।

१५. तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतज्स सम्मत्तं तं वियाहियं॥

[१५] इन तथ्यस्वरूप भावों के सद्भाव (अस्तित्व) के निरूपण में जो भावपूर्वक श्रद्धा है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं।

विवेचन—तत्त्व का स्वरूप—यथावस्थित वस्तुस्वरूप अथवा यथार्थरूप। इसे वर्तमान भाषा में तथ्य या सत्य कह सकते हैं। इन सत्यों (या तत्त्वों) के नौ प्रकार हैं, आत्मा के हित के लिए जिनमें से कुछ का जानना, कुछ का छोड़ना तथा कुछ का ग्रहण करना आवश्यक है। यहाँ तत्त्व शब्द का अर्थ अनादि-अनन्त और स्वतंत्र भाव नहीं है, किन्तु मोक्षप्राप्ति में उपयोगी होने वाला ज्ञेयभाव है।[3]

तत्त्वों की उपयोगिता—प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'मोक्षमार्गगति' है, अतः इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय मोक्ष होने से मुमुक्षुओं के लिए जिन वस्तुओं का जानना आवश्यक है, उनका यहाँ तत्त्वरूप में वर्णन है। **मोक्ष** तो मुख्य साध्य है ही, इसलिए उसको तथा उसके कारणों को जाने बिना मोक्षमार्ग में मुमुक्षु की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि मुमुक्षु मोक्ष के विरोधी

---

१. (क) न्यायकुमुदचन्द्र. पृ. ६६९ (ख) द्रव्यसंग्रह, गा. १६

२. प्रकाशावरणं शरीरादि यस्या निमित्तं भवति सा छाया ॥१६॥
सा छाया द्वेधा व्यवतिष्ठते, तद्वर्णादिविकारात् प्रतिबिम्बमात्रग्रहणाच्च। आदर्शतलादिषु प्रसन्नद्रव्येषु मुखादिच्छाया तद्वर्णादिपरिणता उपलभ्यते, इतरत्र प्रतिबिम्बमात्रमेव। —राजवार्तिक ५।२४।१६-१७

३. (क) स्याद्वादमंजरी (ख) स्थानांग. स्था. ९ वृत्ति (ग) तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी) पृ. ६,

(बन्ध और आश्रव) तत्त्वों का और उनके कारणों का स्वरूप न जाने तो भी वह अपने पथ (मोक्षपथ) में अस्खलित प्रवृत्ति नहीं कर सकता। मुमुक्षु को सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि मेरा शुद्ध स्वरूप क्या है? इस प्रकार के ज्ञान की पूर्ति के लिए ९ तत्त्वों का कथन है। जीव तत्त्व के कथन का अर्थ है—मोक्ष का अधिकारी बतलाना। अजीव तत्त्व से यह सूचित किया गया है कि जगत् में एक ऐसा भी तत्त्व है, जो जड़ होने से मोक्षमार्ग के उपदेश का अधिकारी नहीं है। बन्धतत्त्व से मोक्ष के विरोधी भाव (संसारमार्ग) का और आश्रव तथा पाप तत्त्व से उक्त विरोधी भाव (संसार) के कारण का निर्देश किया गया है। संवर और निर्जरा तत्त्व से मोक्ष के कारणों को सूचित किया गया है। पुण्य कथंचित् हेय एवं कथंचित् उपादेय तत्त्व है, जो निर्जरा में परम्परा से सहायक बनता है।[1]

नौ तत्त्वों का संक्षिप्त लक्षण—जीव का लक्षण सुख, दुःख, ज्ञान और उपयोग है। अजीव इससे विपरीत धर्मास्तिकायादि हैं। पुण्य शुभप्रकृतिरूप सातादि कर्म है, पाप अशुभप्रकृतिरूप मिथ्यात्वादि कर्म है। आश्रव का लक्षण है—जिससे शुभाशुभ कर्म ग्रहण (आश्रवण) किये जाते हैं। अर्थात् कर्मबन्धन के हेतु—हिंसादि आश्रव हैं। संवर है—महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि द्वारा आश्रवों का निरोध करना। बन्ध है—आश्रवों के द्वारा गृहीत कर्मों का आत्मा के साथ संयोग। कर्मों को भोग लेने से अथवा बारह प्रकार के तप करने से बंधे हुए कर्मों का देशतः क्षय करना निर्जरा है तथा बन्ध और आश्रवों द्वारा गृहीत कर्मों का आत्मा से पूर्णतया वियोग मोक्ष है, अथवा समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय होने से आत्मा का अपने शुद्ध रूप में प्रकट हो जाना मोक्ष है।[2]

जीव और अजीव, दो में ही समावेश क्यों नहीं? वस्तुतः नौ तत्त्वों में दो ही तत्त्व मौलिक हैं—जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व। शेष तत्त्वों का इन्हीं दो में समावेश हो सकता है। जैसे कि पुण्य और पाप, दोनों कर्म हैं। बन्ध भी कर्मात्मक है और कर्म पुद्गल-परिणाम है। पुद्गल अजीव है। आश्रव मिथ्या दर्शनादिरूप परिणाम है और वह जीव का है। अतः आश्रव आत्मा (जीव) और पुद्गलों से अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नहीं है। संवर आश्रवनिरोधरूप है, वह देशसंवर और सर्वसंवर के भेद से आत्मा का निवृत्तिरूप परिणाम है। निर्जरा कर्म का एकादेश से क्षय (परिशाटन) रूप है। जीव अपनी शक्ति से आत्मा से कर्मों का पार्थक्य-संपादन करता है। मोक्ष भी समस्त कर्मरहित-रूप आत्मा (जीव) है। निष्कर्ष यह है कि अजीव और जीव इन दोनों में शेष तत्त्वों का समावेश हो जाता है, फिर नौ तत्त्वों का कथन क्यों किया गया? इसका समाधान यह है कि सामान्यतया जीव और अजीव, ये दो ही तत्त्व हैं किन्तु विशेषतया, तथा मोक्षमार्ग में मुमुक्षु को प्रवृत्त करने के लिए ९ तत्त्वों का कथन किया गया है।[3]

नौ तत्त्वों के भेद-प्रभेद—नौ तत्त्वों के भेद-प्रभेद इस प्रकार हैं—**जीव के भेद**—जीव के मुख्य दो भेद हैं—सिद्ध और संसारी। संसारी जीवों के भी त्रस और स्थावर ये दो भेद हैं। स्थावर (एकेन्द्रिय) के दो भेद—सूक्ष्म और बादर। उनके दो-दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। वनस्पतिकाय के दो भेद—प्रत्येक और साधारण, फिर त्रस—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से ८ भेद हुए। इस प्रकार ४+२+८=१४ भेद। फिर एकेन्द्रिय के

१. तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी) अ. १, सू. ४, पृ. ६
२. स्थानांगसूत्र स्थान ९, वृत्ति
३. वही, स्था. ९, वृत्ति

पृथ्वीकायादि ५ भेद जोड़ने से तथा पंचेन्द्रिय के जलचर आदि ५ भेद अथवा नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव तथा इनके भी भेद-प्रभेद मिलाकर अनेकानेक भेद-प्रभेद होते हैं। अजीव के धर्मास्तिकायादि ५ द्रव्यों के भेद से ५ भेद मुख्य हैं।

पुण्य के भेद—(१) अन्नपुण्य, (२) पानपुण्य, (३) लयनपुण्य, (४) शयनपुण्य, (५) वस्त्रपुण्य, (६) मनपुण्य, (७) वचनपुण्य, (८) कायपुण्य और (९) नमस्कारपुण्य। इन नौ कारणों से पुण्यबंध होता है तथा ४२ शुभ कर्मप्रकृतियों द्वारा वह भोगा जाता है।

पाप के भेद—(१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य, (१५) परपरिवाद (१६) रति-अरति, (१७) मायामृषा और (१८) मिथ्यादर्शनशल्य। इन १८ कारणों से पापकर्म का बन्ध होता है और ८२ प्रकार की अशुभ प्रकृतियों से भोगा जाता है।

आश्रव के भेद—(१) मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच कर्मों के आश्रव के मुख्य कारण हैं। इनमें से प्रत्येक के अनेक-अनेक भेद-प्रभेद हैं। प्रकारान्तर से इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रिया, ये चार मुख्य आश्रव हैं। इनके क्रमशः ५, ४, ५ और २५ भेद हैं।

संवर के भेद—सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग, ये ५ मुख्य भेद हैं। दूसरी तरह से १२ भावना (अनुप्रेक्षा), ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, २२ परीषहजय और १० श्रमणधर्म, यों कुल मिलाकर संवर के ५७ भेद हैं।

निर्जरा के भेद—तपस्या द्वारा कर्मों का आत्मा से पृथक् होना निर्जरा है। इसके साधनों को भी निर्जरा कहा गया है। इसलिए १२ प्रकार के तप के कारण निर्जरा के भी १२ भेद होते हैं। अथवा उसके अकामनिर्जरा और सकामनिर्जरा, ये दो भेद भी हैं।

बन्ध के भेद—मिथ्यात्व, अव्रत आदि ५ कर्मबन्ध के हेतु होने से बन्ध के ५ भेद हैं। फिर शुभ और अशुभ के भेद से भी बन्ध के दो प्रकार होते हैं। प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और रसबन्ध, इन चार प्रकारों से बन्ध होता है।

मोक्षतत्त्व के भेद—वैसे तो मोक्ष एक ही है, किन्तु मोक्ष के हेतु पृथक्-पृथक् होने से मुक्तात्माओं की पूर्वपर्यायापेक्षया १५ प्रकार का माना गया है—(१) तीर्थसिद्ध, (२) अतीर्थसिद्ध, (३) तीर्थंकरसिद्ध, (४) अतीर्थंकरसिद्ध, (५) स्वयंबुद्धसिद्ध, (६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध, (७) बुद्धबोधितसिद्ध, (८) स्वलिंगसिद्ध, (९) अन्यलिंगसिद्ध, (१०) गृहिलिंगसिद्ध, (११) स्त्रीलिंगसिद्ध, (१२) पुरुषलिंगसिद्ध (१३) नपुंसकलिंगसिद्ध, (१४) एकसिद्ध और (१५) अनेकसिद्ध।[१]

सम्यक्त्व : स्वरूप—तत्त्वभूत इन नौ पदार्थों के अस्तित्व के निरूपण में भावपूर्वक श्रद्धान क अथवा मोहनीयकर्म के क्षय और उपशम आदि से उत्पन्न हुए आत्मा के परिणामविशेष को सम्यक्त्व कहते हैं।[२]

---

१. कर्मग्रन्थ प्रथम; गा. १ से २०

२. उत्तरा. वृत्ति (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २२६

दशविधरुचिरूप सम्यक्त्व के दस प्रकार

१६. निसग्गुवएसरुई आणारुई सुत्त-बीयरुइमेव ।
अभिगम-वित्थाररुई किरया-संखेव-धम्मरुई ॥

[१६] (सम्यक्त्व—सम्यग्दर्शन के दस प्रकार हैं—) निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अभिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, संक्षेपरुचि और धर्मरुचि ।

१७. भूयत्थेणाहिगया जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
सहसम्मुइयासवसंवरो य रोएइ उ निसग्गो ॥

[१७] (दूसरे के उपदेश के बिना ही) अपनी ही मति से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव और संवर आदि तत्त्वों को यथार्थ रूप से ज्ञात कर श्रद्धा करना निसर्गरुचि सम्यक्त्व है ।

१८. जो जिणदिट्ठे भावे चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव ।
एमेव नऽन्नह त्ति य निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥

[१८] जो जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट (अथवा दृष्ट) (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन) चार प्रकारों से (अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार प्रकारों से) विशिष्ट भावों (—पदार्थों) के प्रति स्वयमेव (दूसरों के उपदेश के बिना), यह ऐसा ही है, अन्यथा नहीं; ऐसी (स्वतःस्फूर्त्त) श्रद्धा (रुचि) रखता है, उसे निसर्गरुचि वाला जानना चाहिए ।

१९. एए चेव उ भावे उवइट्ठे जो परेण सद्दहई ।
छउमत्थेण जिणेण व उवएसरुइ त्ति नायव्वो ॥

[१९] जो अन्य—छद्मस्थ अथवा जिनेन्द्र—के द्वारा उपदेश प्राप्त कर, इन्हीं जीवादि भावों (पदार्थों) पर श्रद्धा रखता है, उसे उपदेशरुचि सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए ।

२०. रागो दोसो मोहो अन्नाणं जस्स अवगयं होइ ।
आणाए रोयंतो सो खलु आणारुई नाम ॥

[२०] जिस (महापुरुष—आप्तपुरुष) के राग, द्वेष, मोह और अज्ञान दूर हो गए हैं, उनकी आज्ञा से जो तत्त्वों पर रुचि रखता है, वह आज्ञारुचि है ।

२१. जो सुत्तमहिज्जन्तो सुएण ओगाहई उ सम्मत्तं ।
अंगेण बाहिरेण व सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो ॥

[२१] अंग (-प्रविष्ट) अथवा अंगबाह्य श्रुत में अवगाहन करता हुआ जो सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, उसे सूत्ररुचि जानना चाहिए ।

२२. एगेण अणेगाइं पयाइं जो पसरई उ सम्मत्तं ।
उदए व्व तेल्लबिन्दू सो बीयरुइ त्ति नायव्वो ॥

[२२] जैसे जल में तेल की बूंद फैल जाती है, वैसे ही जो सम्यक्त्व एक पद (तत्त्वबोध) अनेक पदों में फैलता है, उसे बीजरुचि समझना चाहिए ।

२३. सो होइ अभिगमरुई सुयनाणं जेण अत्थओ दिट्ठं ।
एक्कारस अंगाइं पइण्णगं दिट्ठिवाओ य ।।

[२३] जिसने ग्यारह अंग, प्रकीर्णक एवं दृष्टिवाद आदि श्रुतज्ञान को अर्थसहित अधिगत (दृष्ट या उपदेशप्राप्त) किया है वह अभिगमरुचि है ।

२४. दव्वाण सव्वभावा सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा ।
सव्वाहि नयविहीहि य वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ।।

[२४] समस्त प्रमाणों और सभी नयविधियों से द्रव्यों के सभी भाव जिसे उपलब्ध (ज्ञात) हो गए हैं, उसे विस्ताररुचि जानना चाहिए ।

२५. दंसण-नाण-चरित्ते-तव-विणए सच्च-समिइ-गुत्तीसु ।
जो किरियाभावरुई सो खलु किरियारुई नाम ।।

[२५] दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति और गुप्ति आदि क्रियाओं में जिसे भाव से रुचि है, वह क्रियारुचि है ।

२६. अणभिग्गहिय—कुदिट्ठी संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो ।
अविसारओ पवयणे अणभिग्गहिओ य सेसेसु ।।

[२६] जो निर्ग्रन्थ-प्रवचन में अकुशल है तथा अन्यान्य (-मिथ्या) प्रवचनों से भी अनभिज्ञ है; किन्तु कुदृष्टि का आग्रह न होने से अल्पबोध से ही जो तत्त्वश्रद्धा वाला है, उसे संक्षेपरुचि समझना चाहिए ।

२७. जो अत्थिकायधम्मं सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ।
सद्दहइ जिणाभिहियं सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो ।।

[२७] जो व्यक्ति जिनेन्द्र-कथित, अस्तिकायधर्म (धर्मास्तिकायादि अस्तिकायों के गुण-स्वभावादि धर्म) में, श्रुतधर्म में और चारित्रधर्म में श्रद्धा करता है, उसे धर्मरुचि वाला समझना चाहिए ।

विवेचन—सम्यक्त्व की उत्पत्ति के प्रकार—प्रस्तुत १२ गाथाओं (१६ से २७ तक) में दस रुचियों का जो वर्णन किया गया है, वह विभिन्न निमित्तों से उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण है । यहाँ रुचि का अर्थ है—सत्यप्राप्ति के विभिन्न निमित्तों के प्रति श्रद्धा । इन दस रुचियों को तत्त्वार्थसूत्र में **'तन्निसर्गादधिगमाद् वा'** कह कर निसर्ग और अधिगम इन दो सम्यक्त्वोत्पत्ति—निमित्तों में समाविष्ट कर दिया है । स्थानांगसूत्र में इन्हें **'सरागसम्यग्दर्शन'** कहा है । तत्त्वार्थराजवार्तिक में इन्हें दस प्रकार के 'दर्शन-आर्य' बताया है । राजवार्तिक में तथा उत्तराध्ययन में प्रतिपादित कुछ नाम समान हैं, कुछ भिन्न हैं । यथा—आज्ञारुचि, उपदेशरुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, संक्षेपरुचि, विस्ताररुचि, इन नामों में साम्य है, किन्तु निसर्गरुचि, अभिगमरुचि, क्रियारुचि एवं धर्मरुचि, इन चार के बदले क्रमशः मार्गरुचि, अर्थरुचि अवगाढरुचि और परम-अवगाढरुचि-दर्शनार्य नाम हैं । इनकी व्याख्या में भी कुछ भिन्नता है ।[1]

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५६३ (ख) स्थानांग. १०।७५१ (ग) राजवार्तिक ३।३६, पृ. २०१

सम्यक्त्व-श्रद्धा के स्थायित्व के तीन उपाय

२८. परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा वि।
वावण्णकुदंसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा ॥

[२८] परमार्थ का गाढ़ परिचय, परमार्थ के सम्यक् द्रष्टा पुरुषों की सेवा और व्यापन्नदर्शन (सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट) तथा कुदर्शन (मिथ्यादृष्टि) जनों (के संसर्ग) का वर्जन, यह सम्यक्त्व का श्रद्धान है, अर्थात् ऐसा करने से सम्यग्दर्शन में स्थिरता आती है।

विवेचन—परमार्थसंस्तव—परम पदार्थों अर्थात्—जीवादि तत्त्वभूत पदार्थों का संस्तव—अर्थात् उनके स्वरूप का वारवार चिन्तन करने से होने वाला प्रगाढ परिचय।

सुदृष्ट-परमार्थसेवना—परम तत्त्वों को जिन्होंने भलीभाँति देख (—हृदयंगम कर) लिया है, ऐसे आचार्य, स्थविर या उपाध्याय आदि तत्त्वद्रष्टा पुरुषों की उपासना एवं सेवा।

व्यापन्न-कुदर्शन-वर्जना—व्यापन्न और कुदर्शन। प्रथम शब्द में 'दर्शन' शब्द का अध्याहार करने से अर्थ होता है—जिनका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है, ऐसे निह्नव आदि तथा कुदर्शन अर्थात् जिनके दर्शन (मत या दृष्टि) मिथ्या हों, ऐसे अन्य दार्शनिक, मिथ्यादृष्टि जनों का वर्जन।

ये तीन सम्यग्दर्शन को टिकाने के, सत्यश्रद्धा को निश्चल, निर्मल और गाढ रखने के उपाय हैं।[1]

सम्यग्दर्शन की महत्ता

२९. नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्त-चरित्ताइं जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥

[२९] (सम्यक्) चारित्र सम्यग्दर्शन के विना नहीं होता, किन्तु सम्यक्त्व चारित्र के विना भी हो सकता है। सम्यक्त्व और चारित्र युगपत्—एक साथ भी होते हैं, (किन्तु) चारित्र से पूर्व सम्यक्त्व का होना आवश्यक है।

३०. नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

[३०] सम्यग्दर्शनरहित व्यक्ति को (सम्यग्) ज्ञान नहीं होता। (सम्यग्) ज्ञान के विना चारित्र-गुण नहीं होता। चारित्र-गुण के विना मोक्ष (कर्मक्षय) नहीं हो सकता और मोक्ष के विना निर्वाण (अचल चिदानन्द) नहीं होता।

विवेचन—मोक्षमार्ग के तीनों साधनों का स्वरूप और साहचर्य—जिस गुण अर्थात् शक्ति के विकास से तत्त्व अर्थात् सत्य की प्रतीति हो, अथवा जिससे हेय, ज्ञेय एवं उपादेय तत्त्व के यथार्थ विवेक की अभिरुचि हो, वह **सम्यग्दर्शन** है। नय और प्रमाण से होने वाला जीव आदि तत्त्वों का यथार्थ-बोध **सम्यग्ज्ञान** है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक काषायिक भाव अर्थात् राग-द्वेष और योग (मन-वचन-काय की

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २२९

प्रवृत्ति) की निवृत्ति से होने वाला स्वरूपरमण **सम्यक्चारित्र** है। मोक्ष के लिए तीनों साधनों का होना आवश्यक है। इसलिए साहचर्य नियम यह है कि उक्त तीनों साधनों में से पहले दो अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अवश्य सहचारी होते हैं, परन्तु सम्यक्चारित्र के साथ उनका साहचर्य अवश्यम्भावी नहीं है। इसी का फलितार्थ यहाँ व्यक्त किया गया है कि सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता और सम्यग्ज्ञान के विना भावचारित्र नहीं होता। उत्क्रान्ति (विकास) के नियमानुसार चारित्र का यह नियम है कि जब वह प्राप्त होता है, तब उसके पूर्ववर्ती सम्यग्दर्शन आदि दो साधन अवश्य होते हैं। दूसरी बात यह भी है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान परिपूर्ण रूप में हों, तभी सम्यक्चारित्र परिपूर्ण हो सकता है। एक भी साधन के अपूर्ण रहने पर परिपूर्ण मोक्ष नहीं हो सकता। यही कारण है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान परिपूर्ण रूप में प्राप्त हो जाने पर भी सम्यक्चारित्र की अपूर्णता के कारण तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण मोक्ष, अर्थात् विदेहमुक्ति—अशरीर-सिद्धि नहीं होती। वह होती है—शैलेशी-अवस्थारूप पूर्ण (यथाख्यात) चारित्र के प्राप्त होते ही १४वें गुणस्थान के अन्त में। इसी बात को प्रस्तुत गाथा ३० में व्यक्त किया गया है कि चारित्रगुण के विना मोक्ष नहीं होता और मोक्ष (सम्पूर्ण कर्मक्षय) के विना निर्वाण—विदेहमुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।[1] निष्कर्ष यह कि इसमें सर्वाधिक महत्ता एवं विशेषता सम्यग्दर्शन की है। वह हो तो ज्ञान भी सम्यक् हो जाता है और चारित्र भी। ज्ञान सम्यक् होने पर चारित्र का सम्यक् होना अवश्यम्भावी है।

सम्यक्त्व के आठ अंग

३१. निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह थिरीकरणे वच्छल्ल पभावणे अट्ठ॥

[३१] निःशंकता, निष्कांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना, ये आठ (सम्यक्त्व के अंग) हैं।

विवेचन—सम्यग्दर्शन : प्रकार और अंग—सम्यग्दर्शन के दो प्रकार हैं—निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन। निश्चय सम्यग्दर्शन का सम्बन्ध मुख्यतया आत्मा की अन्तरंगशुद्धि या सत्य के प्रति दृढ श्रद्धा से है, जबकि व्यवहार सम्यग्दर्शन का सम्बन्ध मुख्यतया—देव, गुरु, धर्म-संघ, तत्त्व, शास्त्र आदि के साथ है। परन्तु साधक में दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों का होना आवश्यक है। सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का निरूपण भी इन्हीं दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शनों को लेकर किया गया है। जैसे एक-दो अक्षररहित अशुद्ध मंत्र विष की वेदना को नष्ट नहीं कर सकता, वैसे ही अंग-रहित सम्यग्दर्शन भी संसार की जन्ममरण-परम्परा का छेदन करने में समर्थ नहीं है। वस्तुतः ये आठों अंग सम्यक्त्व को विशुद्ध करते हैं। ये आठ अंग सम्यक्त्वाचार के आठ प्रकार हैं। जैनागमों में सम्यग्दर्शन के ५ अतिचार बताए हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परपाषण्डप्रशंसा और परपाषण्ड-संस्तव। सम्यक्त्वाचार का उल्लंघन करना अथवा सम्यक्त्व को दूषित या मलिन करना 'अतिचार'

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र अ. १, सू. १, २, ६ (पं. सुखलालजी) पृ. २, ८
(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २२९-२३०

है। प्रस्तुत गाथा में आचारात्मक अंग ८ हैं, जबकि अतिचारात्मक ५ हैं। शंका, कांक्षा और विचिकित्सा, ये तीन अतिचार तो तीन आचारों के उल्लंघन के रूप में हैं। शेष रहे ५ आचार, इनके उल्लंघन के रूप में परपाषण्डप्रशंसा और परपाषण्डसंस्तव ये दो हैं ही। यथा—जो मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा, स्तुति या घनिष्ठ सम्पर्क करता है वह मूढदृष्टि तो है ही, वह गुणी सम्यग्दृष्टि के गुणों का उपबृंहण, प्रशंसा या स्थिरीकरण नहीं करता और न उसमें स्वधर्मी के प्रति वत्सलता या प्रभावना सम्भव है।[1]

१. निःशंकता—जिनोक्त तत्त्व, देव, गुरु, धर्म-संघ या शास्त्र आदि में देशतः या सर्वतः शंका का न होना सम्यग्दर्शनाचार का प्रथम अंग निःशंकता है। शंका के दो अर्थ किये गए हैं—संदेह और भय। अर्थात् जिनोक्त तत्त्वादि के प्रति संदेह अथवा सात भयों से रहित होना निःशंकित सम्यग्दर्शन है।[2]

२. निष्कांक्षा—कांक्षारहित होना निष्कांक्षित सम्यग्दर्शन है। कांक्षा के दो अर्थ मिलते हैं—(१) एकान्तदृष्टि वाले दर्शनों को स्वीकार करने की इच्छा, अथवा (२) धर्माचरण से इहलौकिक-पारलौकिक वैभव या सुखभोग आदि पाने की इच्छा।[3]

३. निर्विचिकित्सा—विचिकित्सा रहित होना सम्यग्दर्शन का तृतीय आचार है। विचिकित्सा के भी दो अर्थ हैं—(१) धर्मफल में सन्देह करना और (२) जुगुप्सा—घृणा। द्वितीय अर्थ का आशय है—रत्नत्रय से पवित्र साधु-साध्वियों के शरीर को मलिन देख कर घृणा करना, या सुदेव, सुगुरु, सुधर्म आदि की निन्दा करना भी विचिकित्सा है।[4]

---

१. (क) मूलाराधना २०१ (ख) रत्नकरण्डश्रावकाचार २१ (ग) कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४२५
(घ) शंका-कांक्षा-विचिकित्साऽन्यदृष्टि-प्रशंसा-संस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः। —तत्त्वार्थ. ७।१८
(ङ) तत्त्वार्थ. श्रुतसागरीय वृत्ति, ७।२३ पृ. २४८

२. (क) 'शंकनं शंकितं देशसर्वशंकात्मकं तस्याभावो निःशंकितम्।' —बृ. वृत्ति, पत्र ५६७
(ख) 'सम्मद्दिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा हु णिस्संका॥' —समयसार गा. २२८
(ग) 'तत्र शंका—यथा निर्ग्रन्थानां मुक्तिरुक्ता तथा सग्रन्थानामपि गृहस्थादीनां किं मुक्तिर्भवतीति शंका, अथवा भयप्रकृतिः शंका।' —तत्त्वार्थ. वृत्ति ७।२३

३. (क) 'इहपर-लोकभोगाकांक्षणं कांक्षा।' —तत्त्वार्थ. वृत्ति ७।२३
(ख) इहजन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषित-परसमयानपि च नाकांक्षेत्॥ —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २४
(ग) मूलाराधना विजयोदयावृत्ति १।४४

४. (क) 'विचिकित्सा—मतिविभ्रमः युक्त्यागमोपपन्नेऽप्यर्थे फलं प्रति सम्मोहः। यद्वा विद्वज्जुगुप्सा—मलमलिना एते इत्यादि साधुजुगुप्सा।' —प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, पत्र ६४
(ख) रत्नकरण्डश्रावकाचार १।१३
(ग) 'यद्वा विचिकित्सा निन्दा सा च सदाचारमुनिविषया, यथा—अस्नानेन प्रस्वेदजलक्लिन्नमलत्वात् दुर्गन्धिवपुष एत इति।' —योगशास्त्र २।१७ वृत्ति, पत्र ६७

४. **अमूढदृष्टि**—देवमूढता, गुरुमूढता, धर्ममूढता, शास्त्रमूढता, लोकमूढता आदि मूढताओं—मोहमयी दृष्टियों से रहित होना अमूढदृष्टि है। **देवमूढता**—रागी-द्वेषी देवों की उपासना करना, **गुरुमूढता**—आरम्भ-परिग्रह में आसक्त, हिंसादि में प्रवृत्त, मात्र वेपधारी साधु को गुरु मानना, **धर्ममूढता**—अहिंसादि शुद्ध धर्मतत्त्वों को धर्म न मानकर हिंसा, आरम्भ, आडम्बर, प्रपंच आदि से युक्त सम्प्रदाय या मत-पंथ को या स्नानादि आरम्भजन्य क्रियाकाण्डों या अमुक वेप को धर्म मानना धर्ममूढता है। **शास्त्रमूढता**—हिंसादि की प्ररूपणा करने वाले या असत्य-कल्पनाप्रधान, अथवा राग-द्वेषयुक्त अल्पज्ञों द्वारा जिनाज्ञा-विरुद्ध प्ररूपित ग्रन्थों को शास्त्र मानना। **लोकमूढता**—अमुक नदी या समुद्र में स्नान, अथवा गिरिपतन, आदि लोकप्रचलित कुरूढ़ियों, या कुप्रथाओं को धर्म मानना। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों के अनुसार मूढता का अर्थ—एकान्तवादी, कुपथगामियों तथा षडायतनों (मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र, मिथ्याचारित्री) की प्रशंसा, स्तुति, सेवा या सम्पर्क अथवा परिचय करना भी है।[1]

५. **उपबृंहण**—इसके अर्थ हैं—(१) प्रशंसा, (२) वृद्धि, (३) पुष्टि। यथा—(१) गुणीजनों की प्रशंसा करके उनके गुणों को बढ़ावा देना, (२) अपने आत्मगुणों (क्षमा, मृदुता आदि) की वृद्धि करना, (३) सम्यग्दर्शन की पुष्टि करना। कई आचार्य इसके बदले उपगूहन मानते हैं। जिसका अर्थ है—(१) परदोषों का निगूहन करना, अथवा अपने गुणों का गोपन करना।[2]

६. **स्थिरीकरण**—सम्यक्त्व अथवा चारित्र से चलायमान हो रहे व्यक्तियों को पुनः उसी मार्ग में स्थिर कर देना, या उसे अर्थादि का सहयोग देकर धर्म में स्थिर करना स्थिरीकरण है।[3]

७. **वात्सल्य**—अहिंसादि धर्म अथवा साधर्मिकों के प्रति हार्दिक एवं निःस्वार्थ अनुराग, वत्सल-भाव रखना तथा साधर्मिक साधुवर्ग की या श्रावकवर्ग की सेवा करना।[4]

८. **प्रभावना**—प्रभावना का अर्थ है—(१) रत्नत्रय से अपनी आत्मा को भावित (प्रभावित) करना, (२) धर्म एवं संघ की उन्नति के लिए चिन्तन, मंगलमयी भावना करना। आठ प्रकार के व्यक्ति प्रभावक माने जाते हैं—(१) प्रवचनी, (२) वादी, (३) धर्मकथी, (६) नैमित्तिक, (७) सिद्ध (मन्त्रसिद्धिप्राप्त आदि) और (८) कवि।[5]

---

१. (क) रत्नकरण्डश्रावकाचार १।२२-२३-२४

(ख) कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः।
असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढादृष्टिरुच्यते ॥ —रत्नकरण्डश्रावकचार १।१४

(ग) अणादयणसेवणा चेव—अनायतनं षड्विधं—मिथ्यात्वं, मिथ्यादृष्टयः, मिथ्याज्ञानं, तद्वन्तः, मिथ्याचारित्रं मिथ्याचारित्रवन्त इति। —मूलाराधना १।४४

२. धर्मोऽभिवर्द्धनीयः, सदात्मनो मार्दवादि विभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्। —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २८

३. दर्शनाच्चरणाद्वाऽपि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥ —रत्नकरण्डश्रावकाचार १।१६

४. वत्सलभावो वात्सल्यं—साधर्मिकजनस्य भक्तपानादिनोचितप्रतिपत्तिकरणम्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५६७

५. (क) प्रभावना च—तथा तथा स्वतीर्थोन्नतिचेष्टासु प्रवर्त्तनात्मिका। —वही, पत्र ५६७

(ख) योगशास्त्र २।१६ वृत्ति, पत्र ६५

चारित्र : स्वरूप और प्रकार

३२. सामाइयत्थ पढमं छेओवट्ठावणं भवे बीयं ।
परिहारविसुद्धीयं सुहुमं तह संपरायं च ॥

[३२] चारित्र के पांच प्रकार हैं—पहला सामायिक, दूसरा छेदोपस्थापनीय, तीसरा परिहारविशुद्धि, चौथा सूक्ष्म-सम्पराय और—

३३. अकसायं अहक्खायं छउमत्थस्स जिणस्स वा ।
एयं चयरित्तकरं चारित्तं होइ आहियं ॥

[३३] पांचवाँ यथाख्यातचारित्र है, जो सर्वथा कपायरहित होता है । वह छद्मस्थ और केवली—दोनों को होता है । यह पंचविध चारित्र कर्म के चय (संचय) को रिक्त (खाली) करता है, इसलिए यह चारित्र कहा गया है ।

विवेचन—चारित्र के दो रूपों में विरोध नहीं—गाथा ३३ में चारित्र का निरुक्त दिया है—**'चयरित्तकरं चारित्तं'** । इसका भावार्थ यह है कि पूर्वबद्ध कर्मों का जो संचय है, उसे १२ प्रकार के तप से रिक्त करना चारित्र है । यह निर्जरारूप चारित्र है और आगे गाथा ३५ में **'चरित्तेण निगिण्हाइ'** कह कर चारित्र का जो स्वरूप वताया है, वह संवररूप चारित्र है, अर्थात्—नये कर्मों के आश्रव को रोकना संवररूप चारित्र है । अतः इन दोनों में परस्पर विरोध नहीं है, वल्कि कर्मों से आत्मा को पृथक् करने के दोनों मार्ग हैं । ये दोनों चारित्र के रूप हैं ।[1]

चारित्र के प्रकार और स्वरूप—चारित्र के पांच प्रकार यहाँ वताए गए हैं—(१) सामायिक चारित्र, (२) छेदोपस्थापनीय चारित्र, (३) परिहारविशुद्धि चारित्र, (४) सूक्ष्मसम्पराय चारित्र और (५) यथाख्यात चारित्र । वास्तव में सम्यक्चारित्र तो एक ही है । उसके ये पांच प्रकार विशेष अपेक्षाओं से किये गए हैं ।

सामायिक चारित्र—जिसमें सर्वसावद्य प्रवृत्तियों का त्याग किया जाता है । विविध अपेक्षाओं से कथित छेदोपस्थापनीय आदि शेप चार चारित्र, इसी के विशेष रूप हैं । मूलाचार के अनुसार—प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर ने छेदोपस्थापनीय चारित्र का उपदेश दिया था, मध्य के शेष २२ तीर्थंकरों ने सामायिक चारित्र का प्ररूपण किया । दूसरी बात यह है कि सामायिक चारित्र दो प्रकार का होता है—इत्वरिक और यावत्कथिक । इत्वरिक सामायिक का भगवान् आदिनाथ और भगवान् महावीर के (नवदीक्षित) शिष्यों के लिए विधान है, जिसकी स्थिति ७ दिन, ४ मास या ६ मास की होती है । तत्पश्चात् इसके स्थान पर छेदोपस्थापनीय चारित्र अंगीकार किया जाता है । शेप २२ तीर्थंकरों के शासन में सामायिक चारित्र 'यावत्कथिक' (यावज्जीवन के लिए) होता है ।[2]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५६९

२. (क) सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणसामायिकापेक्षया एकं व्रतम्, भेदपरतंत्रच्छेदोपस्थापनापेक्षया पंचविधं व्रतम् ।
—तत्त्वार्थ. राजवार्तिक

(ख) **'बावीसं तित्थयरा सामायिकं संजमं उवदिसंति ।**
छेदोवट्ठावणियं पुण, भयवं उसहो य वीरो य ॥' —मूलाचार ७।३६

(ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ५६८

छेदोपस्थापनीय चारित्र—छेदोपस्थापनीय के यहाँ दो तात्पर्य हैं—(१) सर्वसावद्यत्याग का छेदशः—विभागशः पंचमहाव्रतों के रूप में उपस्थापित (आरोपित) करना, (२) दोपसेवन करने वाले मुनि के दीक्षापर्याय का छेद (काट) करके महाव्रतों का पुनः आरोपण करना। इसी दृष्टि से छेदोपस्थापनीय चारित्र के दो प्रकार बताए गए हैं—निरतिचार और सातिचार। छेद का अर्थ जहाँ विभाग किया जाता है, वहाँ निरतिचार तथा जहाँ छेद का अर्थ—दीक्षापर्याय का छेदन (घटाना) होता है, वहाँ सातिचार समझना चाहिए।[1]

परिहारविशुद्धि चारित्र—परिहार का अर्थ है—प्राणिवध से निवृत्ति। परिहार से जिस चारित्र में कर्मकलंक की विशुद्धि (प्रक्षालन) की जाती है, वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। इसकी विधि इस प्रकार है—इसकी आराधना ९ साधु मिलकर करते हैं। इसकी अवधि १८ महीने की होती है। प्रथम ६ मास में ४ साधु तपस्या (ऋतु के अनुसार उपवास से लेकर पंचौला तक की तपश्चर्या) करते हैं, चार साधु उनकी सेवा करते हैं और एक वाचनाचार्य (गुरुस्थानीय) रहता है। दूसरे ६ महीनों में तपस्या करने वाले सेवा और सेवा करने वाले तप करते हैं, वाचनाचार्य वही रहता है। इसके पश्चात् तीसरी छमाही में वाचनाचार्य तप करते हैं, शेष साधु उनकी सेवा करते हैं। तप की पारणा सभी साधक आयम्बिल से करते हैं, उनमें से एक साधु वाचनाचार्य हो जाता है। इस दृष्टि से परिहार का तात्पर्यार्थ—तप होता है, उसी से विशेष आत्म-शुद्धि की जाती है। जब साधक तप करता है तो प्राणिवध के आरम्भ-समारम्भ के दोप से सर्वथा निवृत्त हो ही जाता है।[2]

सूक्ष्मसम्पराय चारित्र—सामायिक अथवा छेदोपस्थापनीय चारित्र की साधना करते-करते जब क्रोधादि तीन कषाय उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, केवल लोभकषाय सूक्ष्म रूप में रह जाता है, इस स्थिति को सूक्ष्मसम्पराय चारित्र कहा जाता है। यह चारित्र दशम गुणस्थानवर्ती साधुओं को होता है।[3]

यथाख्यात चारित्र—जब चारों कषाय सर्वथा उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, उस समय की चारित्रिक स्थिति को यथाख्यात चारित्र कहते हैं। यह चारित्र गुणस्थान की अपेक्षा से दो भागों में विभक्त है—उपशमात्मक यथाख्यात चारित्र और क्षयात्मक यथाख्यात चारित्र। प्रथम चारित्र ११ वें गुणस्थान वाले साधक को और द्वितीय चारित्र १२ वें आदि ऊपर के गुणस्थानों के अधिकारी महापुरुषों के होता है।[4]

---

१. (क) छेदैर्भेदैरूपेत्यर्थं, स्थापनं स्वस्थितिक्रिया।
छेदोपस्थापनं प्रोक्तं सर्वसावद्यवर्जने ॥ —आचारसार ५।६-७

(ख) सातिचारस्य यतेर्निरतिचारस्य वा शैक्षकस्य पूर्वपर्यायिन्यवच्छेदरूपस्तद् युक्तोपस्थापना महाव्रतारोपणरूपा यस्मिंस्तच्छेदोपस्थापनम्।

२. (क) परिहरणं परिहारः—प्राणिवधान्निवृत्तिरित्यर्थः। परिहारेण विशिष्टा शुद्धिः कर्मकलंकप्रक्षालनं यस्मिन् चारित्रे तत्परिहारविशुद्धिचारित्रमिति।

(ख) स्थानांग ५।४२८ वृत्ति, पत्र ३२४

(ग) प्रवचनसारोद्धार ६०२-६१०

३. 'सूक्ष्मः—किट्टीकरणतः संपर्येति—पर्यटति अनेन संसारमिति सम्परायो—लोभाख्यः कषायो यस्मिंस्तत्सूक्ष्मसम्परायम्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५६८

४. सुह-असुहाण णिवित्ति चरणं साहुस्स वीयरायस्स। —बृहद् नयचक्र गा. ३७८

सम्यक् तप : भेद-प्रभेद

३४. तवो य दुविहो वुत्तो बाहिरऽब्भन्तरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो एवमब्भन्तरो तवो ॥

[३४] तप दो प्रकार का कहा गया है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकार का है। इसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है।

विवेचन—मोक्ष का चतुर्थ साधन—तप अंतरंग एवं बहिरंग रूप से कर्मक्षय (निर्जरा) या आत्मविशुद्धि का कारण होने से मुक्ति का विशिष्ट साधन है। इसलिए इसे पृथक् मोक्षमार्ग के रूप में यहाँ स्थान दिया गया है। तप की भेद-प्रभेदसहित विस्तृत व्याख्या 'तपोमार्गगति' नामक तीसवें अध्ययन में दी गई है।

मोक्षप्राप्ति के लिए चारों की उपयोगिता

३५. नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई ॥

[३५] (आत्मा) ज्ञान से जीवादि भावों (पदार्थों) को जानता है, दर्शन से उन पर श्रद्धान करता है, चारित्र से (नवीन कर्मों के आश्रव का) निरोध करता है और तप से परिशुद्ध (पूर्वसंचित कर्मों का क्षय) होता है।

३६. खवेत्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमन्ति महेसिणो ॥
—त्ति बेमि।

[३६] सर्वदुःखों से मुक्त होने के लिए महर्षि संयम और तप से पूर्वकर्मों का क्षय करके (मुक्ति को) प्राप्त करते हैं। —ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ मोक्षमार्गगति : अट्ठाईसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

उनतीसवाँ अध्ययन : सम्यक्त्वपराक्रम

अध्ययन-सार

※ प्रस्तुत अध्ययन का नाम सम्यक्त्व-पराक्रम है। इससे सम्यक्त्व में पराक्रम करने का, अथवा सम्यक्त्व अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तप के प्रति सम्यक्रूप में श्रद्धा करने का दिशानिर्देश मिलता है, इसलिए यह गुणनिष्पन्न नाम है। कई आचार्य इसे 'वीतरागश्रुत' अथवा 'अप्रमादश्रुत' भी कहते हैं।

※ इसमें अध्यात्मसाधना अथवा मोक्षप्राप्ति की साधना का सम्यक् दृष्टिकोण, महत्त्व, परिणाम और लाभ सूचित किया गया है। इसमें सम्पूर्ण उत्तराध्ययनसूत्र के सार का समावेश हो जाता है। इसमें अध्यात्मसाधना-पद्धति के प्रत्येक प्रमुख साधन पर गंभीरता से चर्चा-विचारणा की गई है। छोटे-छोटे सूत्रात्मक प्रश्न हैं, किन्तु उनके उत्तर गम्भीर एवं तलस्पर्शी हैं और अध्यात्मविज्ञान पर आधारित हैं।

※ प्रस्तुत अध्ययन में ७३ प्रश्न और उनके उत्तर हैं। ७३ बोलों की फलश्रुति बहुत ही गहनता के साथ बताई गई है। प्रश्नोत्तरों का क्रम इस प्रकार है—(१) संवेग, (२) निर्वेद, (३) धर्मश्रद्धा, (४) गुरुसाधर्मिकशुश्रूषा, (५) आलोचना, (६) निन्दना, (७) गर्हणा, (८) सामायिक, (९) चतुर्विंशतिस्तव, (१०) वन्दना, (११) प्रतिक्रमण, (१२) कायोत्सर्ग, (१३) प्रत्याख्यान, (१४) स्तवस्तुतिमंगल, (१५) कालप्रतिलेखना, (१६) प्रायश्चित्तकरण, (१७) क्षमापना, (१८) स्वाध्याय, (१९) वाचना, (२०) प्रतिपृच्छना, (२१) परावर्त्तना (पुनरावृत्ति), (२२) अनुप्रेक्षा, (२३) धर्मकथा, (२४) श्रुत-आराधना, (२५) मन की एकाग्रता, (२६) संयम, (२७) तप, (२८) व्यवदान (विशुद्धि), (२९) सुखशात, (३०) अप्रतिबद्धता, (३१) विविक्तशयनासन-सेवन, (३२) विनिवर्त्तना, (३३) संभोग-प्रत्याख्यान, (३४) उपधि-प्रत्याख्यान, (३५) आहार-प्रत्याख्यान, (३६) कषाय-प्रत्याख्यान, (३७) योग-प्रत्याख्यान, (३८) शरीर-प्रत्याख्यान, (३९) सहाय-प्रत्याख्यान, (४०) भक्त-प्रत्याख्यान, (४१) सद्भाव-प्रत्याख्यान, (४२) प्रतिरूपता, (४३) वैयावृत्य, (४४) सर्वगुणसम्पन्नता, (४५) वीतरागता, (४६) क्षान्ति, (४७) मुक्ति (निर्लोभता), (४८) आर्जव, (४९) मार्दव, (५०) भावसत्य, (५१) करणसत्य, (५२) योग-सत्य, (५३) मनोगुप्ति, (५४) वचनगुप्ति, (५५) कायगुप्ति, (५६) मनःसमाधारणा, (५७) वचःसमाधारणा, (५८) कायसमाधारणा, (५९) ज्ञानसम्पन्नता, (६०) दर्शनसम्पन्नता, (६१) चारित्रसम्पन्नता, (६२) श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह, (६३) चक्षुरिन्द्रियनिग्रह, (६४) घ्राणेन्द्रियनिग्रह, (६५) जिह्वेन्द्रियनिग्रह, (६६) स्पर्शेन्द्रियनिग्रह, (६७) क्रोधविजय, (६८) मानविजय, (६९) माया-विजय, (७०) लोभविजय और (७१) प्रेयःद्वेष-मिथ्यादर्शनविजय (७२) शैलेशी (७३) अकर्मता।

※ अन्त में योगनिरोध एवं शैलेशी अवस्था का क्रम एवं मुक्त जीवों की गति-स्थिति आदि का निरूपण किया गया है। अतः सम्यक्रूप से पूर्ण श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, स्पर्शन, पालन करने से, गहराई से जानने से, इसके गुणोत्कीर्त्तन से, शोधन से, आराधन से, आज्ञानुसार अनुपालन से साधक परिपूर्णता के—मुक्ति के शिखर पर पहुँच सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। □□

एगुणतीसइमं अज्झयणं : उनतीसवां अध्ययन

समत्तपरक्कमे : सम्यक्त्वपराक्रम

सम्यक्त्व-पराक्रम से परिनिर्वाण प्राप्ति

१—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु सम्मत्तपरक्कमे नाम अज्झयणे समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइए, जं सम्मं सद्दहित्ता, पत्तियाइत्ता, रोयइत्ता, फासइत्ता, पालइत्ता, तीरइत्ता, किट्टइत्ता सोहइत्ता, आराहइत्ता, आणाए अणुपालइत्ता बहवे जीवा सिज्झन्ति, बुज्झन्ति, मुच्चन्ति, परिनिव्वायन्ति, सव्वदुक्खाणमन्तं करेन्ति ।

तस्स णं अयमट्ठे एवमाहिज्जइ, तं जहा—

१ संवेगे २ निव्वेए ३ धम्मसद्धा ४ गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया ५ आलोयणया ६ निन्दणया ७ गरहणया ८ सामाइए ९ चउव्वीसत्थए १० वन्दणए ११ पडिक्कमणे १२ काउस्सग्गे १३ पच्चक्खाणे १४ थवथुइमंगले १५ कालपडिलेहणया १६ पायच्छित्तकरणे १७ खमावणया १८ सज्झाए १९ वायणया २० पडिपुच्छणया २१ परियट्टणया २२ अणुप्पेहा २३ धम्मकहा २४ सुयस्स आराहणया २५ एगग्गमणसंनिवेसणया २५ संजमे २७ तवे २८ वोदाणे २९ सुहसाए ३०. अप्पडिबद्धया ३१ विवित्तसयणासणसेवणया ३२ विणियट्टणया ३३ संभोगपच्चक्खाणे ३४ उवहिपच्चखाणे ३४ आहारपच्चक्खाणे ३६ कसायपच्चक्खाणे ३६ जोगपच्चक्खाणे ३८ सरीरपच्चक्खाणे ३९ सहायपच्चक्खाणे ४० भत्तपच्चक्खाणे ४१ सब्भावपच्चक्खाणे ४२ पडिरूवया ४३ वेयावच्चे ४४ सव्वगुणसंपण्णया ४५ वीयरागया ४६ खन्ती ४७ मुत्ती ४८ अज्जवे ४९ मद्दवे ५० भावसच्चे ५१ करणसच्चे ५२ जोगसच्चे ५३ मणगुत्तया ५४ वयगुत्तया ५५ कायगुत्तया ५६ मणसमाधारणया ५७ वयसमाधारणया ५८ कायसमाधारणया ५९ नाणसंपन्नया ६० दंसणसंपन्नया ६१ चरित्तसंपन्नया ६२ सोइन्दियनिग्गहे ६३ चक्खिन्दियनिग्गहे ६३ घाणिन्दियनिग्गहे ६५ जिब्भिन्दियनिग्गहे ६६ फासिन्दियनिग्गहे ६७ कोहविजए ६८ माणविजए ६९ मायाविजए ७० लोहविजए ७१ पेज्जदोसमिच्छादंसणविजए ७२ सेलेसी ७३ अकम्मया ।

[१] आयुष्मन् ! भगवान् ने जो कहा है, वह मैंने सुना है—इस 'सम्यक्त्व-पराक्रम' नामक अध्ययन में काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने जो प्ररूपणा की है, उस पर सम्यक् श्रद्धा से, प्रतीति से, रुचि से, स्पर्श से, पालन करने से, गहराई से जानने (या भलीभांति पार उतरने) से, कीर्त्तन (गुणानुवाद) करने से, शुद्ध करने से, आराधना करने से, आज्ञानुसार अनुपालन करने से, बहुत-से जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं और समस्त दुःखों का अन्त करते हैं ।

उसका यह अर्थ है, जो इस रूप में कहा जाता है । जैसे कि—

(१) संवेग, (२) निर्वेद, (३) धर्मश्रद्धा, (४) गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा, (५) आलोचना, (६) निन्दना, (७) गर्हणा, (८) सामायिक, (९) चतुर्विंशति-स्तव, (१०) वन्दना, (११) प्रतिक्रमण, (१२) कायोत्सर्ग, (१३) प्रत्याख्यान, (१४) स्तव-स्तुतिमंगल, (१५) कालप्रतिलेखना, (१६) प्रायश्चित्तकरण, (१७) क्षामणा-क्षमापना, (१८) स्वाध्याय, (१९) वाचना, (२०) प्रति-पृच्छना, (२१) परावर्त्तना-(पुनरावृत्ति), (२२) अनुप्रेक्षा, (२३) धर्मकथा, (२४) श्रुत-आराधना, (२५) एकाग्रमनोनिवेश, (२६) संयम, (२७) तप, (२८) व्यवदान (विशुद्धि), (२९) सुखसाता, (३०) अप्रतिबद्धता, (३१) विविक्तशय्यासन-सेवन (३२) विनिवर्त्तना, (३३) संभोग-प्रत्याख्यान, (३४) उपधि-प्रत्याख्यान, (३५) आहार-प्रत्याख्यान, (३६) कषाय-प्रत्याख्यान, (३७) योग-प्रत्याख्यान, (३८) शरीर-प्रत्याख्यान, (३९) सहाय-प्रत्याख्यान, (४०) भक्त-प्रत्याख्यान, (४१) सद्भाव-प्रत्याख्यान, (४२) प्रतिरूपता, (४३) वैयावृत्य, (४४) सर्वगुणसम्पन्नता, (४५) वीतरागता, (४६) क्षान्ति, (४७) मुक्ति (—निर्लोभता), (४८) आर्जव (—ऋजुता), (४९) मार्दव (—मृदुता), (५०) भावसत्य, (५१) करणसत्य, (५२) योगसत्य, (५३) मनोगुप्ति, (५४) वचनगुप्ति, (५५) कायगुप्ति, (५६) मनःसमाधारणता, (५७) वचनसमाधारणता, (५८) कायसमाधारणता, (५९) ज्ञानसम्पन्नता, (६०) दर्शनसम्पन्नता, (६१) चारित्रसम्पन्नता, (६२) श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह, (६३) चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह, (६४) घ्राणेन्द्रिय-निग्रह, (६५) जिह्वेन्द्रिय-निग्रह, (६६) स्पर्शेन्द्रिय-निग्रह, (६७) क्रोधविजय, (६८) मानविजय, (६९) मायाविजय, (७०) लोभविजय, (७१) प्रेय-द्वेष-मिथ्यादर्शनविजय, (७२) शैलेशी (अवस्था) और (७३) अकर्मता (—स्थिति)।

विवेचन—सुधर्मास्वामी का जम्बूस्वामी के प्रति कथन—यद्यपि सुधर्मास्वामी (पंचम गणधर) स्वयं श्रुतकेवली थे, अतः उनके द्वारा जम्बूस्वामी को कहा गया वचन प्रामाणिक ही होता, फिर भी उन्होंने स्वयं अपनी ओर से कथन न करके आयुष्मान् भगवान् महावीर का उल्लेख किया है। वह इस दृष्टि से कि लब्धप्रतिष्ठ साधक को भी गुरुमाहात्म्य प्रकट करने के लिए गुरु द्वारा उपदिष्ट सूत्र और अर्थ का प्रतिपादन करना चाहिए। अतएव स्वयं अपने मुंह से सीधे न कह कर भगवान् के श्रीमुख से उपदिष्ट का कथन किया।[1]

सम्यक्त्व-पराक्रम : अर्थ—आध्यात्मिक जगत् में, अथवा जिनप्रवचन में सम्यक्त्व के अथवा गुण और गुणी का अभेद मानने पर जीव के सम्यक्त्व गुणयुक्त होने पर जो पराक्रम किया जाता है, अर्थात्—उत्तरोत्तर गुण (मूल-उत्तरगुण) प्राप्त करके कर्मरिपुओं पर विजय पाने का सामर्थ्यरूप पुरुषार्थ (पराक्रम) किया जाता है, वह सम्यक्त्व-पराक्रम कहलाता है।[2]

अध्ययन का माहात्म्य और फल—सम्यक्त्व-पराक्रम एक साधना है, समग्रतया शुद्धरूप में होने पर जिसके द्वारा जीव मोक्षरूप फल प्राप्त कर लेता है। इसी तथ्य का निरूपण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—सम्यक्त्वपराक्रम-साधना की पराकाष्ठा पर पहुँचने का क्रम इस प्रकार है—**(१) सद्दहित्ता**—सम्यक् (अविपरीत) रूप से श्रद्धा करके, **(२) पत्तइत्ता**—तत्पश्चात् शब्द, अर्थ और उभयरूप से सामान्यतया प्रतीति (प्राप्ति) करके, अथवा यह कथन उक्तरूप ही है, इस प्रकार ही है, यह विशेषतया निश्चय करके, अथवा संवेगादिजनित फलानुभवरूप विश्वास से प्रतीति

---

१. उत्तरा. बृ. वृत्ति, अ. रा. कोश. भा. ७, पृ. ५०४, २. वही, भा. ७, पृ. ५०४

करके, (३) **रोयइत्ता**—तदनन्तर उक्त अध्ययन में कथित अनुष्ठानविषयक या उक्त अध्ययन-विषयक रुचि (आत्मा में उसको अभिलाषा) उत्पन्न करके (क्योंकि किसी वस्तु के गुणकारी होने पर भी कठोर या कष्टसाध्य होने से कटु-औषध की तरह अरुचि हो सकती है, इसलिए तद्विषयक रुचि होना अनिवार्य है।) (४) **फासित्ता**—फिर उस अध्ययन में उक्त अनुष्ठान का स्पर्श करके अर्थात् आचरण में लाकर, (५) **पालइत्ता**—तत्पश्चात् अध्ययन में विहित कार्य का अतिचारों से रक्षा करते हुए आचरण करके, (६) **तीरित्ता**—उक्त अध्ययन में विहित कर्त्तव्य को जीवन के अन्तिम क्षण तक पार लगा कर, (८) **कित्तइत्ता**—उसका कीर्त्तन—गुणानुवाद करके अथवा स्वाध्याय करके, (९) **सोहइत्ता** फिर अध्ययन में कथित कर्तव्य का आचरण करके उन-उन गुण-स्थानों को प्राप्त करके उत्तरोत्तर शुद्ध करके, (११) **आराहित्ता**—फिर उत्सर्ग और अपवाद में कुशलता प्राप्त करके आजोवन उस ताव का सेवन करके, (११) **आणाए अणुपालइत्ता**—तदनन्तर गुरु-आज्ञा से सतत अनुपालन—सेवन करके, अथवा—मन-वचन-कायरूप त्रियोग (चिन्तन, भाषण और रक्षण) से स्पर्श करके, इसी प्रकार त्रियोग से पालन करके, या आवृत्ति से रक्षा करके, गुरु के समक्ष यह निवेदन (कीर्त्तन) करके कि मैंने इसे इस प्रकार पढ़ा है तथा गुरु की तरह अनुभाषणादि से शुद्ध करके, उत्सूत्रप्ररूपणादि दोषों के परिहारपूर्वक आराधन करके। यह प्रस्तुत अध्ययन में पराक्रम का क्रम है।

इस क्रम से सम्यक्त्व में पराक्रम करने पर जीव सिद्ध होते हैं, सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, बुद्ध होते हैं—घातिकर्मों के क्षय से बोध-केवल-ज्ञान पाते हैं, मुक्त होते हैं—भवोपग्राही शेष चार कर्मों के क्षय से मुक्त हो जाते हैं, फिर परिनिर्वृत्त (परिनिर्वाणप्राप्त) होते हैं, अर्थात् समग्र कर्मरूपी दावानल की शान्ति से शान्त हो जाते हैं और इस कारण (शारीरिक-मानसिक) समस्त दुःखों का अन्त करते हैं अर्थात्—मुक्तिपद प्राप्त करते हैं।[1]

अध्ययन में वर्णित अर्थाधिकार—प्रस्तुत अध्ययन में संवेग से लेकर अकर्मता तक ७३ बोलों के स्वरूप और अप्रमादपूर्वक की गई उक्त बोलों की साधना से होने वाले फलों की चर्चा की गई है।[2]

१. संवेग का फल

२—संवेगेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ। अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ। अणन्ताणु-बन्धिकोह-माण-माया-लोभे खवेइ। नवं च कम्मं न बन्धइ। तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ। दंसणविसोहीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ। सोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ॥

[२ प्र.] भन्ते ! संवेग से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] संवेग से जीव अनुत्तर धर्मश्रद्धा को प्राप्त करता है। अनुत्तर धर्मश्रद्धा से शीघ्र ही

---

१. बृहद्वृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ७, पृ. ५०७

२. वही, सारांश, भा. ७, पृ. ५०४

संवेग आता है। (तब जीव) अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लाभ का क्षय करता है और नए कर्मों का बन्ध नहीं करता। उस (अनन्तानुबन्धीकषायक्षय—) निमित्तक मिथ्यात्व-विशुद्धि करके (जीव) सम्यग्दर्शन का आराधक हो जाता है। दर्शनविशोधि के द्वारा विशुद्ध होकर कई जीव उसी भव (जन्म) से सिद्ध (मुक्त) हो जाते हैं। (दर्शन-) विशोधि से विशुद्ध होने पर (आयुष्य के अल्प रह जाने से जिनके कुछ कर्म बाकी रह जाते हैं, वे) भी तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करते (अर्थात् तीसरे भव में अवश्य ही मोक्ष चले जाते हैं)।

विवेचन—संवेग के विविध रूप—(१) सम्यक् उद्वेग अर्थात् मोक्ष के प्रति उत्कण्ठा संवेग, (२) मनुष्यजन्म और देवभव के सुखों के परित्यागपूर्वक मोक्षसुखाभिलाषा, (३) मोक्षाभिलाषा, (४) नारक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देवभवरूप संसार के दुःखों से नित्य डरना, (५) धर्म में, धर्मफल में, अथवा दर्शन में हर्ष अथवा परम उत्साह होना, अथवा धार्मिक पुरुषों के प्रति अनुराग, पंचपरमेष्ठी में प्रीति होना संवेग है। (६) तत्त्व, धर्म, हिंसा से विरति, राग-द्वेष-मोहादि से रहित देव एवं समस्त ग्रन्थों से रहित निर्ग्रन्थ गुरु में अविचल अनुराग होना भी संवेग है।[1]

संक्षेप में संवेग-फल—(१) उत्कृष्ट धर्मश्रद्धा, (२) परमधर्मरुचि से मोक्षाभिलाषा (संसारदुःखभीरुता), (३) अनन्तानुबन्धीकषायक्षय, (४) नवकर्मबन्धन-निरोध, (५) मिथ्यात्वक्षय से क्षायिक निरतिचार सम्यग्दर्शन का आराधन होना, (६) सम्यक्त्वविशुद्धि से आत्मा निर्मल हो जाने पर या तो उसी भव में या तीसरे भव तक में अवश्य मुक्ति की प्राप्ति।

सम्यक्त्व के पाँच लक्षणों में दूसरा लक्षण है। सम्यक्त्व के लिए इसका होना अनिवार्य है।[2]

नवं च कम्मं न बंधइ : आशय—इस पंक्ति का आशय है कि यह तो नहीं कहा जा सकता कि सम्यग्दृष्टि के अशुभकर्म का बन्ध नहीं होता बल्कि कषायजनित अशुभकर्मबन्ध चालू रहता है। अतः इस पंक्ति का आशय शान्त्याचार्य के अनुसार यह है कि जिसके अनन्तानुबन्धीचतुष्टय सर्वथा क्षीण हो जाता है, जिसका दर्शन विशुद्ध हो जाता है, उसके नये सिरे से मिथ्यादर्शनजनित कर्मबन्ध नहीं होता।[3]

२. निर्वेद से लाभ

३—निव्वेएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

निव्वेएणं दिव्व-माणुस-तेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्व मागच्छइ। सव्वविसएसु

---

१. (क) आचारांगचूर्णि १।४३ (ख) दशवैकालिक १ अ. टीका (ग) बृहद्वृत्ति, पत्र ५७७

(घ) नारकतिर्यग्मनुष्यदेवभवरूपात् संसारदुःखान्नित्यभीरुता संवेगः। —सर्वार्थसिद्धि ६।२४

(ङ) द्रव्यसंग्रहटीका ३५।११२।७ (च) पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध ४३१ :

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चित्तः।
सधर्मेष्वनुरागो वा, प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु॥

(छ) तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रबन्धे, देवे राग-द्वेष-मोहादिमुक्ते।
साधौ सर्वग्रन्थसन्दर्भहीने, संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः॥ —योगविंशिका

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५७७-५७८ (सारांश)

३. वही, पत्र ५७८

विरज्जइ। सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरम्भपरिच्चायं करेइ। आरम्भपरिच्चायं करेमाणे संसारमग्गं वोच्छिन्दइ, सिद्धिमग्गे पडिवन्ने य भवइ ॥

[३ प्र.] भंते! निर्वेद से जीव क्या प्राप्त करता है?

[उ.] निर्वेद से जीव देव, मनुष्य और तिर्यञ्च-सम्बन्धी कामभोगों से शीघ्र ही विराग को प्राप्त होता है, (क्रमशः) सभी विषयों से विरक्त हो जाता है। समस्त विषयों से विरक्त होकर वह आरम्भ का त्याग कर देता है। आरम्भपरित्याग करके संसारमार्ग का विच्छेद करता है और सिद्धिमार्ग को प्राप्त होता है।

विवेचन—निर्वेद के लक्षण—(१) संसार-विषयों के त्याग की भावना, (२) संसार से वैराग्य, (३) संसार से उद्विग्नता, (४) संसार-शरीर-भोग-विरागता, (५) समस्त अभिलाषाओं का त्याग, (६) संवेग विधिरूप होता है, निर्वेद निषेधात्मक।[1]

निर्वेद-फल—(१) सर्व कामभोगों तथा विषयों से विरक्ति, (२) विषयविरक्ति के कारण आरम्भ-परित्याग, (३) आरम्भ-परित्याग के कारण संसारपरिभ्रमणमार्ग का विच्छेद और (४) अन्त में सिद्धिमार्ग की प्राप्ति।[2]

३. धर्मश्रद्धा का फल

४—धम्मसद्धाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ। अगारधम्मं च णं चयइ। अणगारे णं जीवे सारीर-माणसाणं दुक्खाणं छेयण-भेयण-संजोगाईणं वोच्छेयं करेइ, अव्वाबाहं च सुहं निव्वत्तेइ ॥

[४ प्र.] भंते! धर्मश्रद्धा से जीव को क्या उपलब्धि होती है?

[उ.] धर्मश्रद्धा से (जीव) साता-सुखों, अर्थात्—सातावेदनीय कर्मजनित वैषयिक सुखों की आसक्ति से विरक्त हो जाता है, अगारधर्म (गृहस्थसंबंधी प्रवृत्ति) का त्याग करता है। अनगार हो कर जीव छेदन-भेदन आदि शारीरिक तथा संयोग आदि मानसिक दुःखों का विच्छेद (विनाश) कर डालता है और अव्याबाध सुख को प्राप्त करता है।

विवेचन—धर्मश्रद्धा का अर्थ है—श्रुतचारित्ररूप धर्म का आचरण करने की अभिलाषा, तीव्र धर्मेच्छा।[3]

रज्जमाणे विरज्जइ—पहले राग (विषयसुखों के प्रति आसक्ति) करता हुआ विरक्त हो जाता है।[4]

---

१. (क) बृहद्वृत्ति ५७८—"......निर्वेदेन—सामान्यतः संसारविषयेण कदाऽसौ त्यक्ष्यामीत्येवंरूपेण......"।
   (ख) बृहत्कल्प ३ उ.   (ग) उत्तरा. अ. १८ वृत्ति
   (घ) 'निर्वेदः संसार-शरीर-भोगविरागतः।' —मोक्षप्राभृत ८२ टीका
   (ङ) 'त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो......' —पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध ४४३
   (च) वही, गा. ४४२

२. उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ५७८ (सारांश)

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५७८   ४. वही, पत्र ५७८

छेयण-भेयण-संजोगाईणं—छेदन—तलवार आदि से टुकड़े कर देना, काटना। भेदन का अर्थ है—भाले आदि से फाड़ना (विदारण) करना। संयोग—अनिष्टसम्बन्ध, आदि शब्द से इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदि।[1]

तीव्र धर्मश्रद्धा का महाफल—व्यवहारसूत्र के अनुसार तीव्र धर्मश्रद्धा स्वभावतः असंसर्ग-कारिणी होती है, उससे बन्धन सर्वथा छिन्न हो जाते हैं, अर्थात्—धर्मश्रद्धावान् सर्वत्र ममत्वरहित हो जाता है। ऐसा साधक अकेला हो या परिषद् में, सर्वत्र, सभी परिस्थितियों में आत्मा की रक्षा करता है।[2]

४. गुरु-साधर्मिक-शुश्रूषा का फल

५—गुरु-साहम्मियसुस्सूसणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

गुरु-साहम्मियसुस्सूसणयाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ। विणयपडिवन्ने य णं जीवे अणच्चा-सायणसीले नेरइय-तिरिक्खजोणिय-मणुस्स-देव-दोग्गईओ निरुम्भइ। वण्ण-संजलण-भत्ति-बहुमाणयाए मणुस्स-देवसोग्गईओ निबन्धइ, सिद्धिं सोग्गइं च विसोहेइ।

पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ। अन्ने य बहवे जीवे विणइत्ता भवइ॥

[५ प्र.] गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से, भगवन् ! जीव क्या (फल) प्राप्त करता है ?

[उ.] गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से जीव विनय-प्रतिपत्ति को प्राप्त होता है। विनय-प्रतिपन्न व्यक्ति (परिवादादिरूप) आशातनारहित स्वभाव वाला होकर नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गति का निरोध कर देता है। वर्ण, संज्वलन, भक्ति और बहुमान के कारण वह मनुष्य और देव सम्बन्धी सुगति (आयु) का बन्ध करता है। श्रेष्ठ गति और सिद्धि का मार्ग प्रशस्त (शुद्ध) करता है। विनयमूलक सभी (प्रशस्त) कार्यों को साधता (सिद्धि करता) है। बहुत-से दूसरे जीवों को भी विनयी बना देता है।

विवेचन—शुश्रूषा : स्वरूप—(१) गुरु के आदेश को विनयपूर्वक सुनने की इच्छा, (२) परिचर्या, (३) न अतिदूर और न अतिनिकट, किन्तु विधिपूर्वक सेवा करना, (४) गुरु आदि की वैयावृत्य, (५) सद्‌बोध तथा धर्मशास्त्र सुनने की इच्छा।[3]

विणयपडिवत्ति—विनय का प्रारम्भ अथवा विनय का अंगीकार।

विनयप्रतिपत्ति के चार अंग—प्रस्तुत सूत्र (५) में विनयप्रतिपत्ति के चार अंग बताए गए

---

१. छेदनं—खड्गादिना द्विधाकरणम्, भेदनं—कुन्तादिना विदारणम्, आदि शब्दस्येहापि सम्बन्धात् ताडनादयश्च गृह्यन्ते।.....संयोगः—प्रस्तावादनिष्टसम्बन्धः। आदि शब्दादिष्टवियोगादिग्रहः। ततः छेदनभेदनादिना शारीरिक-दुःखानां, संयोगादिना मानसदुःखानां व्यवच्छेदः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५७८

२. निस्सग्गुसग्गकारी य, सव्वतो छिन्नबंधणा।
एगो वा परिसाए वा अप्पाणं सोऽभिरक्खइ॥ —व्यवहारसूत्र, उ. १

३. (क) सूत्रकृतांग श्रु. १, अ. ९ (ख) दशवैकालिक अ. ९, उ. १ (ग) अष्टक २५,
(घ) सद्‌बोधः। धर्मशास्त्रश्रवणेच्छा —पंचाशक ६ विवरण

हैं—(१) वर्ण श्लाघा—गुणगुरु व्यक्ति की प्रशंसा, (२) संज्वलन-गुणप्रकाशन, (३) भक्ति—हाथ जोड़ना, गुरु के आने पर खड़ा होना, आदर देना आदि और (४) बहुमान—आन्तरिक प्रीतिविशेष या वात्सल्य-वश मन में आदरभाव।[1]

मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गति—यों तो मनुष्यगति और देवगति, ये दोनों सुगतियाँ हैं, किन्तु जब मनुष्यगति में म्लेच्छता, दरिद्रता, अंगविकलता आदि मिलती है और देवगति में निम्नतम निकृष्ट जाति, किल्विषीपन आदि मिलते हैं, तब उन्हें दुर्गति समझना चाहिए।[2]

५. आलोचना से उपलब्धि

६—आलोयणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

आलोयणाए णं माया-नियाण-मिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणन्तसंसारवद्धणाणं उद्धरणं करेइ। उज्जुभावं च जणयइ। उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई इत्थीवेय-नपुंसगवेयं च न बन्धइ। पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ।

[६ प्र.] भंते ! आलोचना से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ.] आलोचना से मोक्षमार्ग में विघ्नकारक और अनन्त संसारवर्द्धक मायाशल्य, निदान-शल्य और मिथ्यादर्शनरूप शल्य को निकाल देता है और ऋजुभाव को प्राप्त होता है। ऋजुभाव को प्राप्त जीव मायारहित होता है। अतः वह स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का बन्ध नहीं करता, यदि पूर्व-बद्ध हो तो उसकी निर्जरा करता है।

विवेचन—आलोचना—(१) गुरु के समक्ष अपने दोषों का प्रकाशन, अथवा (२) अपने दैनिक जीवन में लगे हुए दोषों का स्वयं निरीक्षण—स्वावलोकन, आत्मसम्प्रेक्षण, (३) गुणदोषों की समीक्षा।[3]

तीन शल्य—शल्य कहते हैं—तीखे कांटे, तीक्ष्ण बाण या अन्तर्व्रण (अन्दर के घाव), अथवा पीड़ा देने वाली वस्तु को।

जैनागमों में शल्य के तीन प्रकार बताए गये हैं—माया, निदान और मिथ्यादर्शन। माया, निदान और मिथ्यादर्शन, इन तीन शल्यों की जिन से उत्पत्ति होती है, ऐसे कारणभूत कर्म को द्रव्य शल्य और इनके उदय से होने वाले जीव के माया, निदान एवं मिथ्यादर्शनरूप परिणाम को भावशल्य कहते हैं।

---

१. विनयप्रतिपत्तिः—प्रारम्भे अंगीकारे वा।
वर्णः श्लाघा, संज्वलनं—गुणोद्भासनम्, भक्तिः—अंजलिप्रग्रहादिका, बहुमानम्-आन्तरप्रीतिविशेषः।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ५७९

२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २३७

३. (क) उत्तरा. (गु. भाषान्तर) भा. २, पत्र २३७
(ख) संपिक्खए अप्पगमप्पएणं। —दशवैकालिक अ. ९, उ. ३
(ग) आलोचना—गुणदोषसमीक्षा।

माया—बाहर से साधुवेष और अन्तर में वंचकभाव या दूसरों को प्रसन्न करने की वृत्ति।

निदान—तप, धर्माचरण आदि की वैषयिक फलाकांक्षा और मिथ्यादर्शन—धर्म, जीव, साधु, देव और मुक्ति आदि को विपरीतरूप में जानना-मानना। ये तीनों मोक्षपथ में विघ्नकर्ता हैं। इन्हें आलोचनाकर्ता उखाड़ फेंकता है।[1]

६. निन्दना से लाभ

७—निन्दणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

निन्दणयाए णं पच्छाणुतावं जणयइ। पच्छाणुतावेणं विरज्जमाणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ करणगुणसेढिं पडिवन्ने य णं अणगारे मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ।

[७ प्र.] भंते ! निन्दना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] निन्दना से पश्चात्ताप होता है। पश्चात्ताप से विरक्त होता हुआ व्यक्ति करणगुण-श्रेणि को प्राप्त होता है। करणगुणश्रेणि-प्रतिपन्न अनगार मोहनीय कर्म का क्षय करता है।

विवेचन—निन्दना—(१) स्वयं के द्वारा स्वयं के दोषों का तिरस्कार, (२) आत्मसाक्षी-पूर्वक-स्वयं किये हुए दोषों को प्रकट करना, या उन-सम्बन्धी पश्चात्ताप करना, (३) स्वदोषों का पश्चात्ताप करना।[2]

करणगुणश्रेणि : व्याख्या—'करणगुणश्रेणि' शब्द एक पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ है—अपूर्वकरण (पहले कदापि नहीं प्राप्त मन के निर्मल परिणाम) से होने वाली गुणहेतुक कर्मनिर्जरा की श्रेणि। करण आत्मा का विशुद्ध परिणाम है। करणश्रेणि का अर्थ यहाँ प्रसंगवश क्षपकश्रेणि है। मोहनाश की दो प्रक्रियाएँ हैं—उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणि। जिससे मोह का क्रम से उपशम होते-होते अन्त में सर्वथा उपशान्त हो जाता है, अन्तर्मुहूर्त के लिए उसका उदय में आना बन्द हो जाता है, उसे उपशमश्रेणि कहते हैं। उपशमश्रेणि से मोह का सर्वथा उद्घात नहीं होता। इसलिए यहाँ क्षपकश्रेणि ही ग्राह्य है। क्षपकश्रेणि में मोह क्षीण होते-होते अन्त में सर्वथा क्षीण हो जाता है, मोह का एक दलिक भी शेष नहीं रहता। क्षपकश्रेणि आठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होती है। आध्यात्मिक विकास की इस भूमिका का नाम अपूर्वकरणगुणस्थान है। यहाँ परिणामों की धारा इतनी विशुद्ध होती है, जो पहले कभी नहीं हुई थी, इसी कारण यह 'अपूर्वकरण' कहलाती है। आगामी क्षणों में उदित होने वाले मोहनीयकर्म के अनन्तप्रदेशी दलिकों को उदयकालीन प्राथमिक क्षण में ला कर क्षय कर देना भावविशुद्धि की एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। प्रथम समय से दूसरे समय में कर्म-पुद्गलों का क्षय असंख्यातगुण अधिक होता है। दूसरे से तीसरे समय में असंख्यातगुण अधिक और तीसरे से चौथे में असंख्यातगुण अधिक। इस प्रकार कर्मनिर्जरा की यह तीव्रगति प्रत्येक समय से अगले समय में असंख्यातगुणी अधिक होती जाती है। कर्मनिर्जरा की यह धारा असंख्यातसमयात्मक एक

---

१. (क) सर्वार्थसिद्धि ७।१८।३५६ (ख) भगवती आराधना २५।८८

२. (क) उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८०

(ख) 'आत्मसाक्षि-दोषप्रकटनं निन्दा।' —समयसार तात्पर्यवृत्ति ३०६।३८८।१२

(ग) पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध

अन्तर्मुहूर्त्त तक चलती है। इस प्रकार मोहनीयकर्म निर्वीर्य बन जाता है। इसे ही जैन परिभाषा में क्षपकश्रेणी कहते हैं। क्षपकश्रेणि से ही केवलज्ञान प्राप्त होता है।[1]

७. गर्हणा से लाभ

८—गरहणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

गरहणयाए णं अपुरक्कारं जणयइ। अपुरक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ। पसत्थजोग-पडिवन्ने य णं अणगारे अणन्तघाइपज्जवे खवेइ ॥

[८ प्र.] भन्ते ! गर्हणा (गर्हा) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] गर्हणा से जीव को अपुरस्कार प्राप्त होता है। अपुरस्कार प्राप्त जीव अप्रशस्त योग (मन-वचन-काया के व्यापारों) से निवृत्त होता है और प्रशस्त योगों में प्रवृत्त होता है। प्रशस्त-योग प्राप्त अनगार अनन्त (ज्ञान-दर्शन—) घाती पर्यायों (ज्ञानावरणीयादि कर्मों के परिणामों) का क्षय करता है।

विवेचन—गर्हणा (गर्हा) : लक्षण—(१) दूसरों के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करना, (२) गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करना, (३) प्रमादरहित होकर अपनी शक्ति के अनुसार उन कर्मों के क्षय के लिए पंचपरमेष्ठी के समक्ष आत्मसाक्षी से उन रागादि भावों का त्याग करना गर्हा है।[2]

अपुरक्कार—अपुरस्कार—यह गुणवान् है, इस प्रकार का गौरव देना पुरस्कार है। इस प्रकार के पुरस्कार का अभाव अर्थात् गौरव का न होना अपुरस्कार है।

अप्पसत्थेहिंतो : आशय—गौरव-भाव से रहित व्यक्ति कर्मबन्ध के हेतुभूत अप्रशस्त गुणों से निवृत्त होता है।

अणंतघाइपज्जवे : आशय—ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य, आत्मा के ये गुण अनन्त हैं। ज्ञान और दर्शन के आवरक परमाणुओं को क्रमशः ज्ञानावरण और दर्शनावरण कहते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का विघातक मोहनीयकर्म कहलाता है और पांच लब्धियों का विघातक अन्तराय-कर्म है। ये चारों आत्मा के निजगुणों का घात करते हैं। अतः इस पंक्ति का अर्थ होगा—आत्मा के अनन्त विकास के घातक ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के जो 'पर्यव' हैं अर्थात्—कर्मों की (विशेषतः ज्ञाना-वरणादि कर्मों की) विशेष परिणतियों का क्षय कर देता है।[3]

---

१. (क) करणेन—अपूर्वकरणेन गुणहेतुका श्रेणिः करणगुणश्रेणिः।
(ख) प्रक्रमात् क्षपकश्रेणिरेव गृह्यते। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५८० (ग) प्रक्रमात् क्षपकश्रेणि।—सर्वार्थसिद्धि

२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५८० . (ख) 'गुरुसाक्षिदोषप्रकटनं गर्हा।'— समयसार ता. व. ३०६
(ग) पंचाध्यायी, उत्तरार्द्ध ४७४ : गर्हणं तत्परित्यागः पंचगुर्वात्मसाक्षिकः।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥

३. "……… …ज्ञानावरणीयादिकर्मणः तद्घातित्वलक्षणान् परिणतिविशेषान् (पर्यवान्) क्षपयति क्षयं नयति।"
—बृहद्वृत्ति, पत्र ५८०,

८ से १३. सामायिकादि षडावश्यक से लाभ

९—सामाइएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥

[९ प्र.] भन्ते ! सामायिक से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] सामायिक से जीव सावद्ययोगों से विरति को प्राप्त होता है।

१०—चउव्वीसत्थएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥

[१० प्र.] भन्ते ! चतुर्विंशतिस्तव से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] चतुर्विंशतिस्तव से जीव दर्शन-विशोधि प्राप्त करता है।

११—वन्दणएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वन्दणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं निबन्धइ। सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ ॥

[११ प्र.] भन्ते ! वन्दना से जीव क्या उपलब्ध करता है ?

[उ.] वन्दना से जीव नीचगोत्रकर्म का क्षय करता है, उच्चगोत्र का बन्ध करता है। वह अप्रतिहत सौभाग्य को प्राप्त करता है, उसकी आज्ञा (सर्वत्र) अबाधित होती है (अर्थात्—आज्ञा शिरोधार्य हो, ऐसा फल प्राप्त होता है) तथा दाक्षिण्यभाव (जनता के द्वारा अनुकूलभाव) को प्राप्त करता है।

१२—पडिक्कमणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिक्कमणेणं वयछिद्दाइं पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे, असबलचरित्ते, अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ॥

[१२ प्र.] भन्ते ! प्रतिक्रमण से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] प्रतिक्रमण से जीव स्वीकृत व्रतों के छिद्रों को बंद कर देता है। व्रत-छिद्रों को बंद कर देने वाला जीव आश्रवों का निरोध करता है, उसका चारित्र धब्बों (अतिचारों) से रहित (निष्कलंक) होता है, वह अष्ट प्रवचनमाताओं के आराधन में सतत उपयुक्त (सावधान) रहता है तथा (संयम-योग में) अपृथक्त्व (एकरस तल्लीन) हो जाता है तथा सम्यक् समाधियुक्त हो कर विचरण करता है।

१३—काउस्सग्गेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

काउस्सग्गेणं ऽतीय-पडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभारो व्व भारवहे, पसत्थज्झाणोवगए सुहंसुहेणं विहरइ ॥

[१३ प्र.] भन्ते ! कायोत्सर्ग से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] कायोत्सर्ग से अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्तयोग्य अतिचारों का विशोधन करता है। प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुआ जीव अपने भार को उतार (हटा) देने वाले भारवाहक की तरह निर्वृत्तहृदय (स्वस्थ—शान्त चित्त) हो जाता है तथा प्रशस्त ध्यान में मग्न हो कर सुखपूर्वक विचरण करता है।

१४—पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुम्भइ।

[१४ प्र.] भन्ते ! प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] प्रत्याख्यान से वह आश्रवद्वारों (कर्मबन्ध के हेतुओं—हिंसादि) का निरोध कर देता है।

विवेचन—सामायिक आदि छह आवश्यक—(१) सामायिक—समस्त प्राणियों के प्रति समभाव तथा जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा, मानापमान, शत्रु-मित्र, संयोग-वियोग, प्रिय-अप्रिय, मणि-पाषाण एवं स्वर्ण-मृत्तिका में समभाव—रागद्वेष का अभाव सामायिक है। इष्ट-अनिष्ट आदि विषमताओं में राग-द्वेष न करना, बल्कि साक्षीभाव से उनका ज्ञाता—द्रष्टा बन कर एकमात्र शुद्ध चैतन्यमात्र (समतास्वभावी आत्मा) में स्थित रहना, सर्व सावद्ययोगों से विरत रहना सामायिक है।[1] **(२) चतुर्विंशतिस्तव**—ऋषभदेव से लेकर भ. महावीर तक, वर्तमानकालीन २४ तीर्थंकरों का स्तव अर्थात्—गुणोत्कीर्त्तन।[2] **(२) वन्दना**—आचार्य, गुरु आदि की वन्दना—यथोचित-प्रतिपत्तिरूप विनय-भक्ति।[3] **(४) प्रतिक्रमण**—(१) स्वकृत अशुभयोग से वापिस लौटना, (२) स्वीकृत ज्ञान-दर्शन-चारित्र में प्रमादवश जो अतिचार (दोष) लगे हों, जीव स्वस्थान से परस्थान में गया हो, संयम से असंयम में गया हो, उससे वापिस लौटना, निराकरण करना, निवृत्त होना।[4] **(५) कायोत्सर्ग**—शरीर का आगमोक्त नीति से (अतिचारों की शुद्धि के निमित्त) उत्सर्ग, ममत्वत्याग करना।[5] **(६) प्रत्याख्यान**—(१) भविष्य में दोष न हो, उसके लिए वर्तमान में ही कुछ न कुछ त्याग, नियम, व्रत, तप आदि ग्रहण करना, अथवा (२) नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन छहों में शुभ मन-वचन-काय से आगामी काल के लिए अयोग्य का त्याग—प्रत्याख्यान करना, (३) अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, निखण्डित, साकार, अनाकार, परिमाणगत, अपरिशेष, अध्वगत एवं सहेतुक, इस प्रकार के १० सार्थक प्रत्याख्यान करना।[6]

---

१. (क) मूलाराधना २१।५२२ से ५२६ (ख) धवला ८।३, ४१ (ग) अनुयोगद्वार
(घ) राजवार्तिक ६।२४।११ (ङ) अमितगतिश्रावकाचार ८।३१

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८१

३. वही, पत्र ५८१

४. (क) स्वकृतादशुभयोगात् प्रतिनिवृत्तिः प्रतिक्रमणम्। —भगवती आराधना वि. ६।३२।१९
(ख) प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतदैवसिकादिदोषो निराक्रियतेऽनेनेति प्रतिक्रमणम्। —गोमट्टसार जीवकाण्ड ३६७

५. कायःशरीरं, तस्योत्सर्गः—आगमोक्तरीत्या परित्य ाः कायोत्सर्गः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५८१

६. (क) अनागतदोषापोहनं प्रत्याख्यानम्। राजवार्तिक ६।२४।११
(ख) णामादीणं छण्णं अजोग्गपरिवज्जणं तिकरणेण।
पच्चक्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले॥ —मूलाराधना २७
(ग) अणागदमदिकंतं कोटीसहिदं निखंडिदं चेव।
सागारमणागारं परिमाणगदं अपरिसेसं॥ —मूलाराधना ६३७-६३९

१४. स्तव-स्तुति-मंगल से लाभ

१५—थव-थुइमंगलेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

थव-थुइमंगलेणं नाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभं जणयइ । नाण-दंसण-चरित्तबोहिलाभसंपन्ने य णं जीवे अन्तकिरियं कप्पविमाणोववत्तिगं आराहणं आराहेइ ॥

[१५ प्र.] भगवन् ! स्तव-स्तुति-मंगल से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] स्तव-स्तुति-मंगल से जीव को ज्ञान-दर्शन-चारित्र-स्वरूप बोधिलाभ प्राप्त होता है। ज्ञान-चारित्ररूप बोधि के लाभ से सम्पन्न जीव अन्तक्रिया (मुक्ति) के योग्य, अथवा (कल्प) वैमानिक देवों में उत्पन्न होने के योग्य आराधना करता है।

विवेचन—स्तव और स्तुति में अन्तर—यद्यपि स्तव और स्तुति, दोनों का अर्थ भक्ति-बहुमान-पूर्वक गुणोत्कीर्त्तन करना है, तथापि साहित्य की विशिष्ट परम्परानुसार स्तव का अर्थ एक, दो या तीन श्लोक वाला गुणोत्कीर्त्तन है और स्तुति का अर्थ है—तीन से अधिक अथवा सात श्लोक वाला गुणोत्कीर्त्तन, अथवा जो शक्रस्तवरूप हो, वह स्तव है और जो इससे ऊर्ध्वमुखी हो कर कथनरूप हो, वह स्तुति है।[1]

स्तव और स्तुति दोनों द्रव्यमंगलरूप नहीं, अपितु भावमंगल रूप हैं।

ज्ञान-दर्शन-चारित्रबोधिलाभ का तात्पर्य—मतिश्रुतादि ज्ञान, क्षायिक सम्यक्त्वरूप दर्शन, विरतिरूप चारित्र, यों ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप बोधिलाभ अर्थात्—जिनप्ररूपित धर्मबोध की प्राप्ति।[2]

१५. कालप्रतिलेखना से उपलब्धि

१६—कालपडिलेहणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कालपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥

[१६ प्र.] भंते ! काल की प्रतिलेखना से जीव को क्या उपलब्धि होती है ?

[उ.] काल की प्रतिलेखना से जीव ज्ञानावरणीयकर्म का क्षय करता है।

विवेचन—कालप्रतिलेखना : तात्पर्य और महत्त्व—प्रादोषिक, प्राभातिक आदि रूप काल की प्रतिलेखना अर्थात् शास्त्रोक्तविधि से स्वाध्याय, ध्यान, शयन, जागरण, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, भिक्षाचर्या, आदि धर्मक्रिया के लिए उपयुक्त समय की सावधानी या ध्यान रखना।

साधक के लिए काल का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। सूत्रकृतांग में बताया गया है कि अशन, पान, वस्त्र, लयन, शयन आदि के काल में अशनादि क्रियाएँ करनी चाहिए। दशवैकालिक सूत्र में सभी कार्य समय पर करने का विधान है। सामाचारी अध्ययन मुनि को स्वाध्याय आदि के

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८१

२. वही, पत्र ५८१

पूर्व दिन और रात्रि में काल की प्रतिलेखना आवश्यक बताई गई है। आचारांगसूत्र में मुनि को 'कालज्ञ' होना अनिवार्य बताया गया है।[1]

१६. प्रायश्चित्तकरण से लाभ

१७—पायच्छित्तकरणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पायच्छित्तकरणेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ, निरइयारे यावि भवइ। सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ। आयारं च आयारफलं च आराहेइ ॥

[१७ प्र.] भन्ते ! प्रायश्चित्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ.] प्रायश्चित्त करने से जीव पापकर्मों की विशुद्धि करता है और उसके (व्रतादि) निरतिचार हो जाते हैं। सम्यक् प्रकार से प्रायश्चित्त स्वीकार करने वाला साधक मार्ग और मार्गफल को निर्मल करता है। आचार और आचारफल की आराधना करता है।

विवेचन—प्रायश्चित्त : लक्षण—प्राय अर्थात् पाप की, चित्त यानी विशुद्धि को प्रायश्चित्त कहते हैं।[2]

मार्ग और मार्गफल के विभिन्न अर्थ—मार्ग—(१) मुक्तिमार्ग, (२) सम्यक्त्व और (३) सम्यक्त्व एवं ज्ञान, **मार्गफल**—ज्ञान।

प्रस्तुत में मार्ग का अर्थ 'सम्यक्त्व' ही उचित है, क्योंकि चारित्र (आचार और आचारफल) की आराधना इसी सूत्र में आगे बताई है। इसीलिए दर्शन मार्ग है और उसकी विशुद्धि से ज्ञान विशुद्ध होता है, इसलिए वह (ज्ञान) मार्गफल है।

निष्कर्ष यह है कि प्रायश्चित्त से क्रमशः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की शुद्धि होती है।[3]

१७. क्षमापना से लाभ

१८—खमावणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाण-भूय-जीवसत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ ॥

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५८१ (ख) 'अन्नं अन्नकाले, पानं पानकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयण सयणकाले।' —सूत्रकृतांग. २।१।१५
(ग) 'काले कालं समायरे।' —५।२।४
(घ) उत्तरा. अ. २६, गा. ४६ : पडिक्कमित्तु कालस्स, कालं तु पडिलेहए।
(ङ) 'कालण्णू' —आचारांग १ श्रु. अ. ८, उ. ३

२. 'प्रायः पापं विजानीयात् चित्तं तस्य विशोधनम्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५८२

३. मार्गः—इह ज्ञानप्राप्तिहेतुः सम्यक्त्वम्, यद्वा मार्गं चारित्रप्राप्तिनिबन्धतया दर्शनज्ञानाख्यम्, अथवा मार्गं च मुक्तिमार्गं क्षायोपशमिकदर्शनादि तत्फलं च ज्ञानम्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५८३

[१८ प्र.] भन्ते ! क्षामणा—क्षमापणा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] क्षमापणा से जीव को प्रह्लादभाव प्राप्त होता है। प्रह्लादभाव से सम्पन्न साधक सर्व प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के प्रति मैत्रीभाव को प्राप्त होता है। मैत्रीभाव को प्राप्त जीव भावविशुद्धि करके निर्भय हो जाता है।

विवेचन—क्षामणा—क्षमापना : तात्पर्य—किसी दुष्कृत या अपराध के अनन्तर गुरु या आचार्य के समक्ष—"गुरुदेव ! मेरा अपराध क्षमा कीजिए, भविष्य में मैं यह अपराध नहीं करूंगा, इत्यादिरूप से क्षमा मांगना क्षामणा और उनके द्वारा क्षमा प्रदान करना 'क्षमापना' है।[1]

क्षमापना के तीन परिणाम—क्षमापना के उत्तरोत्तर तीन परिणाम निर्दिष्ट हैं—(१) प्रह्लादभाव, (२) सर्वभूतमैत्रीभाव एवं (३) निर्भयता। भय के कारण हैं—राग और द्वेष, उनसे वैरविरोध की वृद्धि होती है एवं आत्मा की प्रसन्नता नष्ट हो जाती है। अतः क्षमापना ही इन सबको टिकाए रखने के लिए सर्वोत्तम उपाय है।[2]

१८ से २४ स्वाध्याय एवं उसके अंगों से लाभ

१९—सज्झाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥

[१९ प्र.] भन्ते ! स्वाध्याय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] स्वाध्याय से जीव ज्ञानावरणीयकर्म का क्षय करता है।

२०—वायणाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वायणाए णं निज्जरं जणयइ। सुयस्स य अणासायणाए वट्टए सुयस्स अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलम्बइ। तित्थधम्मं अवलम्बमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥

[२० प्र.] भन्ते ! वाचना से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ.] वाचना से जीव कर्मों की निर्जरा करता है, श्रुत (शास्त्रज्ञान) की आशातना से दूर रहता है। श्रुत की अनाशातना में प्रवृत्त हुआ जीव तीर्थधर्म का अवलम्बन लेता है। तीर्थधर्म का अवलम्बन लेने वाला साधक (कर्मों की) महानिर्जरा और महापर्यवसान करता है।

२१—पडिपुच्छणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिपुच्छणयाए णं सुत्तऽत्थतदुभयाइं विसोहेइ। कंखामोहणिज्जं कम्मं वोच्छिन्दइ ॥

[२१ प्र.] भन्ते ! प्रतिपृच्छना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] प्रतिपृच्छना से जीव सूत्र, अर्थ और तदुभय (—दोनों) को विशुद्ध कर लेता है तथा कांक्षामोहनीय को विच्छिन्न कर देता है।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८४

२. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ. २६१-२६२

२२—परियट्टणाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

परियट्टणाए णं वंजणाइं जणयइ, वंजणलद्धिं च उप्पाएइ ॥

[२२ प्र.] भन्ते ! परावर्त्तना से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] परावर्त्तना से व्यञ्जनों की उपलब्धि होती है और जीव व्यञ्जनलब्धि को प्राप्त करता है।

२३—अणुप्पेहाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ धणियबन्धणबद्धाओ सिढिलबन्धणबद्धाओ पकरेइ। दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ। तिव्वाणुभावाओ मन्दाणुभावाओ पकरेइ। बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ। आउयं च णं कम्मं सिय बन्धइ, सिय नो बन्धइ। असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ। अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरन्तं संसारकन्तारं खिप्पामेव वीइवयइ ॥

[२३ प्र.] भन्ते ! अनुप्रेक्षा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] अनुप्रेक्षा से आयुष्यकर्म को छोड़ कर शेष ज्ञानावरणीय आदि सात कर्मों की प्रकृतियों के प्रगाढ बन्धन को शिथिल कर लेता है, दीर्घकालीन स्थिति को ह्रस्व (अल्प) कालीन कर लेता है, उनके तीव्र रसानुभाव को मन्दरसानुभाव कर लेता है, बहुकर्मप्रदेशों को अल्पप्रदेशों में परिवर्तित करता है। आयुष्यकर्म का बन्ध कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं करता। असातावेदनीयकर्म का पुनः पुनः उपचय नहीं करता। संसाररूपी अटवी, जो कि अनादि और अनवदग्र (अनन्त) है, दीर्घमार्ग से युक्त, जिसके नरकादि गतिरूप चार अन्त हैं, उसे शीघ्र ही पार कर लेता है।

२४. धम्मकहाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

धम्मकहाए णं निज्जरं जणयइ। धम्मकहाए णं पवयणं पभावेइ। पवयणपभावे णं जीवे आगमिसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबन्धइ ॥

[२४ प्र.] भन्ते ! धर्मकथा से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] धर्मकथा से जीव कर्मों की निर्जरा करता है और प्रवचन की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में शुभ फल देने वाले कर्मों का बन्ध करता है।

२५. सुयस्स आराहणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सुयस्स आराहणयाए णं अन्नाणं खवेइ, न य संकिलिस्सइ ॥

[२५ प्र.] भन्ते ! श्रुत की आराधना से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] श्रुत की आराधना से जीव अज्ञान का क्षय करता है और क्लेश को प्राप्त नहीं होता।

विवेचन—सप्तसूत्री प्रश्नोत्तरी—सू. १९ से २५ तक सात सूत्रों में स्वाध्याय, वाचना, प्रतिपृच्छना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा एवं श्रुत-आराधना से होने वाली उपलब्धियों से सम्बन्धित प्रश्नोत्तरी है।

स्वाध्याय आदि का स्वरूप—स्वाध्याय : तीन निर्वचन—(१) सुन्दर अध्ययन, (२) सुष्ठु मर्यादा सहित जिसका अध्ययन किया जाता है, (३) शोभन मर्यादा—काल वेला छोड़ कर पौरुषी की अपेक्षा अध्ययन करना स्वाध्याय है।[1]

वाचना : तीन अर्थ—(१) शास्त्र की वाचना देना—अध्यापन (पाठन) करना, (२) स्वयं शास्त्र वांचना-पढना, अथवा (३) गुरु या श्रुतधर से शास्त्र का अध्ययन करना। **प्रतिपृच्छना**—ली हुई शास्त्रवाचना या पूर्व-अधीत शास्त्र में किसी विषय पर शंका उत्पन्न होने पर गुरु आदि से पूछना। **परिवर्तना**—आवृत्ति करना, पूछ कर समाहित किये या परिचित विषय का विस्मरण न हो, इसलिए उस सूत्र के पाठ, अर्थ आदि का गुणन करना, बार-बार स्मरण करना। **अनुप्रेक्षा**—परिचित और स्थिर सूत्रार्थ का बार-बार चिन्तन करना, नयी-नयी स्फुरणा होना। **धर्मकथा**—स्थिरीकृत एवं चिन्तत विषय पर धर्मोपदेश करना। **श्रुताराधना**—शास्त्र या सिद्धान्त की सम्यक् आसेवना।[2]

श्रुत की अनाशातना—ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आप्तोपदेश एवं आगम, ये श्रुत के पर्यायवाची हैं। इनकी आशातना-अवज्ञा न करना अनाशातना है।

तीर्थधर्म का अवलम्बन :—सूत्र २० में श्रुत की आशातना न करने वाला तीर्थधर्म का आलम्बन है। तीर्थ शब्द के अर्थ—(१) प्रवचन, (२) गणधर (३) चतुर्विधसंघ, तीर्थ शब्द के इन तीनों अर्थों के आधार पर तीन तीर्थधर्म के तीन अर्थ होते हैं—(१) प्रवचन का धर्म (स्वाध्याय करना), (२) गणधरधर्म—शास्त्र की कर्णोपकर्णगत शास्त्रपरम्परा को अविच्छिन्न रखना, और (३) श्रमणसंघ का धर्म।[3]

महापज्जवसाणे—महापर्यवसान—संसार का अन्त करना।

कंखामोहणिज्जं : कांक्षामोहनीय—कांक्षामोहनीय मिथ्यात्व-मोहनीय का ही एक प्रकार है।[4]

व्यंजनलब्धि : तात्पर्य—पदानुसारिणीलब्धि या एक व्यंजन के आधार पर शेष व्यंजनों को उपलब्ध करने की शक्ति।[5]

---

१. (क) अध्ययनम् अध्यायः, शोभनः अध्यायः स्वाध्यायः।—आव. ४ (ख) सुष्ठ, आ मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः, —स्थानांग २ स्था. २ उ.। (ग) सुष्ठ, आ मार्यादया-कालवेलापरिहारेण पौरुष्यपेक्षया वा अध्यायः स्वाध्यायः। —धर्मग्रसंह अधि. ३

२. (क) वाचना—पाठनम्, (ख) पूर्वाधीतस्य सूत्रादेः शंकितादौ प्रश्नः पृच्छना, (ग) परिवर्तना—गुणनम्, (घ) अनुप्रेक्षा—चिन्तनम्, (ङ) धर्मस्य श्रुतरूपस्य कथा—व्याख्या धर्मकथा।—बृहद्वृत्ति, पत्र ५८३

३. (क) तीर्थमिह गणधरस्तस्य धर्मः—आचारः, श्रुतधर्मप्रदानलक्षणस्तीर्थधर्मः,
(ख) यदि वा तीर्थं—प्रवचनं श्रुतमित्यर्थस्तद्धर्मः स्वाध्यायः। —वही, पत्र ५८४
(ग) तित्थं पुण चाउवण्णे समणसंघे, तंजहा—समणा समणीओ, सावगा, सावियाओ। —भगवती. २०।८

४. मोहयतीति मोहनीयं कर्म तच्च चारित्रमोहनीययमपि भवतीति विशेष्यते—कांक्षा-अन्यान्यदर्शनग्रहः, उपलक्षणत्वाच्चास्य शंकादिपरिग्रहः। कांक्षायाः मोहनीयं—कांक्षामोहनीयम्—मिथ्यात्वमोहनीयमित्यर्थः।

५. च शब्दाद् व्यंजनसमुदायात्मकत्वाद्वा पदस्य तल्लब्धिं पदानुसारितामुत्पादयति। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५८४

श्रुताराधना का फल—एक आचार्य ने कहा है—ज्यों-ज्यों श्रुत (शास्त्र) में गहरा उतरता जाता है, त्यों-त्यों अतिशय प्रशम-रस में सराबोर होकर अपूर्व आनन्द (आह्लाद) प्राप्त करता है, संवेगभाव नयी-नयी श्रद्धा से युक्त होता जाता है।[1]

२५ एकाग्र मन की उपलब्धि

२६. एगग्गमणसंनिवेसणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

एगग्गमणसंनिवेसणायाए णं चित्तनिरोहं करेइ ॥

[२६ प्र.] भन्ते ! मन को एकाग्रता में स्थापित करने (सन्निवेशन) से जीव क्या उपलब्ध करता है ?

[उ.] मन को एकाग्रता में स्थापित करने से चित्त (वृत्ति) का निरोध होता है।

विवेचन—मन की एकाग्रता : आशय—(१) मन को एकाग्र—अर्थात् एक अवलम्बन में स्थिर करना। (२) एक ही पुद्गल में दृष्टि को निविष्ट (स्थिर) करना। (३) ध्येय विषयक ज्ञान की एकतानता भी एकाग्रता है।[2]

चित्तनिरोध—चित्त की विकल्पशून्यता।[3]

२६ से २८ संयम, तप एवं व्यवदान के फल

२७—संजमेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ ॥

[२७ प्र.] भन्ते ! संयम से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] संयम से जीव अनाश्रवत्व (—आश्रवनिरोध) प्राप्त करता है।

२८—तवेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

तवेणं वोदाणं जणयइ ॥

[२८ प्र.] तप से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] तप से जीव (पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करके) व्यवदान—विशुद्धि प्राप्त करता है।

२९—वोदाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वोदाणेणं अकिरियं जणयइ। अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ ॥

[२९ प्र.] भन्ते ! व्यवदान से जीव को क्या उपलब्धि होती है ?

[उ.] व्यवदान से जीव अक्रिया को प्राप्त करता है। अक्रियतासम्पन्न होने के पश्चात् जीव

---

१. "जह जह सुयमोगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं।
तह तह पल्हाइ मुणी, नव-नव संवेगसद्धस्स ॥"

२. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ. २७९
(ख) "एकपोग्गलनिविट्ठदिट्ठित्ति।" —अन्तकृत्. गजसुकुमालवर्णन।

३. उत्तरज्झयणाणि (टिप्पण, मुनि नथमलजी) पृ. २३७

सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त हो जाता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और समस्त दुःखों का अन्त करता है।

विवेचन—मोक्ष की त्रिसूत्री : संयम, तप और व्यवदान—संयम से नये कर्मों का आगमन (आश्रव) रुक जाता है, तप से पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय हो जाता है तथा (व्यवदान) आत्मविशुद्धि हो जाती है और व्यवदान से जीव के मन, वचन और काया की क्रियाएँ रुक जाती हैं, आत्मा अक्रिय हो जाती है और सिद्ध बुद्ध मुक्त परिनिर्वृत्त होकर सर्व दुःखों का अन्त, कर लेता है। अतः ये तीनों क्रमशः मोक्षमार्ग के प्रमुख सोपान हैं।

२९. सुखशात का परिणाम

३०—सुहसाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ। अणुस्सुयाए णं जीवे अणुकम्पए, अणुब्भडे, विगयसोगे, चरित्त-मोहणिज्जं कम्मं खवेइ ॥

[३० प्र.] भगवन् ! सुखशात से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] सुखशात से विषयों के प्रति अनुत्सुकता पैदा होती है। अनुत्सुकता से जीव अनुकम्पा करने वाला, अनुद्भट (अनुद्धत), एवं शोक रहित होकर चारित्रमोहनीयकर्म का क्षय करता है।

विवेचन—सुखशात एवं उसका पंचविध परिणाम—सुखशात का अर्थ है—शब्दादि वैषयिक सुखों के प्रति शात अर्थात् अनासक्ति—अगृद्धि। (१) विषयों के प्रति अनुत्सुकता, (२) अनुकम्पापरायणता, (३) उपशान्तता, (४) शोकरहितता एवं अन्त में (५) चारित्रमोहनीयक्षय, यह क्रम है।[1]

३०. अप्रतिबद्धता से लाभ

३१—अप्पडिबद्धयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

अप्पडिबद्धयाए णं निस्संगत्तं जणयइ। निस्संगत्तेणं जीवे एगे, एगग्गचित्ते, दिया य राओ य असज्जमाणे, अप्पडिबद्धे यावि विहरइ ॥

[३१ प्र.] भगवन् ! अप्रतिबद्धता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] अप्रतिबद्धता से जीव निस्संगता को प्राप्त होता है। निःसंगता से जीव एकाकी (आत्मनिष्ठ) होता है, एकाग्रचित्त होता है, दिन और रात वह सदैव सर्वत्र अनासक्त (विरक्त) और अप्रतिबद्ध होकर विचरण करता है।

विवेचन—प्रतिबद्धता—अप्रतिबद्धता—प्रतिबद्धता का अर्थ है—किसी द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव के पीछे आसक्तिपूर्वक बँध जाना। अप्रतिबद्धता का अर्थ इससे विपरीत है। अप्रतिबद्धता का क्रमशः प्राप्त होने वाला परिणाम इस प्रकार है—(१) निःसंगता, (२) एकाकिता-आत्मनिष्ठा, (३) एकाग्रचित्तता, (४) सदैव सर्वत्र अनासक्ति—विरक्ति एवं (५) अप्रतिबद्ध विचरण।

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ४. पृ. २८३-२८४

३१. विविक्तशयनासन से लाभ

३२—विवित्तसयणासणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

विवित्तसयणासणयाए णं चरित्तगुत्तिं जणयइ। चरित्तगुत्ते य णं जीवे विवित्ताहारे, दढचरित्ते, एगन्तरए, मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहकम्मगंठिं निज्जरेइ ॥

[३२ प्र.] भन्ते ! विविक्त शयन और आसन से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ.] विविक्त (जनसम्पर्क से रहित अथवा स्त्री-पशु-नपुंसक से असंसक्त एकान्त स्थान में निवास से साधक चारित्र की रक्षा (गुप्ति) करता है। चारित्ररक्षा करने वाला जीव विविक्ताहारी (शुद्ध-सात्विक पवित्र-आहारी), दृढचारित्री, एकान्तप्रिय, मोक्षभाव से सम्पन्न एवं आठ प्रकार के कर्मों की ग्रन्थि की निर्जरा (एकदेश से क्षय) करता है।

विवेचन—विविक्त निवास एवं शयनासन का महत्त्व—द्रव्य से जनसम्पर्क से दूर कोलाहल से एवं स्त्री-पशु-नपुंसक के संसर्ग से रहित हो एकान्त, शान्त, साधना योग्य निवास-स्थान हो, भाव से मन में भी राग-द्वेष-कषायादि से तथा वैषयिक पदार्थों की आसक्ति से शून्य एकमात्र आत्मकन्दरा में लीन हो। शास्त्रों में ऐसे एकान्त स्थान बताए हैं—श्मशान, शून्यगृह, वृक्षमूल आदि।"[1]

३२. विनिवर्त्तना से लाभ

३३—विणियट्टणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

विणियट्टणयाए णं पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ। पुव्वबद्धाण य निज्जरणयाए तं नियत्तेइ, तओ पच्छा चाउरन्तं संसारकन्तारं वीइवयइ।

[३३ प्र.] विनिवर्तना से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ.] विनिवर्तना से जीव (नये) पाप कर्मों को न करने के लिए उद्यत रहता है; पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा से वह पापकर्मों का निवर्तन (क्षय) करता है। तत्पश्चात् चार गतिरूप संसाररूपी महारण्य (कान्तार) को पार कर जाता है।

विवेचन—विनिवर्तना : विशेषार्थ—आत्मा (मन और इन्द्रियों) का विषयों से पराङ्मुख होना। जब मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से—अर्थात्—आश्रवों से—बन्ध हेतुओं से साधक विनिवृत्त हो जाता है तो स्वतः ही ज्ञानावरणीयादि पापकर्मों को नहीं बाँधने के लिए उद्यत हो जाता है तथा दूसरे शब्दों में—वह धर्म के प्रति उत्साहित हो जाता है। तथा पापकर्म के हेतु नहीं रहते, तब पूर्वबद्ध कर्म स्वयं क्षीण होने लगते हैं। अतः नये पापकर्म को वह विनष्ट या निवारण कर देता है। बन्ध और आश्रव दोनों अन्योन्याश्रित होते हैं। आश्रव के रुकते ही बन्ध टूट जाते हैं। इसलिए पूर्ण संवर और पूर्ण निर्जरा दोनों के सहवर्ती होने से संसार-महारण्य को पार करने में क्या सन्देह रह जाता है ? यही विनिवर्तना का सुदूरगामी परिणाम है।[2]

---

१. (क) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा. २
(ख) 'सुसाणे सुन्नागारेय रुक्खमूले व एगओ।" —उत्तरा. ३५/६

२. उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८७

३४ से ४१ प्रत्याख्यान की नवसूत्री

३४—संभोग-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

संभोग-पच्चक्खाणेणं आलम्बणाइं खवेइ। निरालम्बणस्स य आययट्ठिया जोगा भवन्ति। सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परलाभं नो आसाएइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ। परलाभं अणासायमाणे, अतक्केमाणे, अपीहेमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

[३४ प्र.] भन्ते ! सम्भोग-प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] सम्भोग के प्रत्याख्यान से आलम्बनों का क्षय (आलम्बन-मुक्त) हो जाता है। निरवलम्ब साधक के मन-वचन-काय के योग (सब प्रयत्न) आयतार्थ (मोक्षार्थ) हो जाते हैं। तब वह स्वयं के द्वारा उपार्जित लाभ से सन्तुष्ट होता है, दूसरों के लाभ का आस्वादन (उपभोग) नहीं करता। (वह परलाभ की) कल्पना भी नहीं करता, न उसकी स्पृहा करता है, न प्रार्थना (याचना) करता है और न अभिलाषा ही करता है। दूसरों के लाभ का आस्वादन, कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना और अभिलाषा न करता हुआ साधक द्वितीय सुखशय्या को प्राप्त करके विचरता है।

३५—उवहि-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उवहि-पच्चक्खाणेणं अपलिमन्थं जणयइ। निरुवहिए णं जीवे निक्कंखे, उवहिमन्तरेण य न संकिलिस्सइ।

[३५ प्र.] भंते ! उपधि के प्रत्याख्यान से जीव को क्या उपलब्धि होती है ?

[उ.] उपधि (उपकरण) के प्रत्याख्यान से जीव परिमन्थ (स्वाध्याय-ध्यान की हानि) से बच जाता है। उपधिरहित साधक आकांक्षा से मुक्त होकर उपधि के अभाव में क्लेश नहीं पाता।

३६—आहार-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

आहार-पच्चक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दइ। जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दित्ता जीवे आहारमन्तरेणं न संकिलिस्सइ।

[३६ प्र.] भन्ते ! आहार के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] आहार के प्रत्याख्यान से जीव जीवन (जीने) की आशंसा (कामना) के प्रयत्न को विच्छिन्न कर देता है। जीवित रहने की आशंसा के प्रयत्न को छोड़ देने पर आहार के अभाव में भी वह क्लेश का अनुभव नहीं करता।

३७—कसाय-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कसाय-पच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ। वीयरागभावपडिवन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ॥

[३७ प्र.] भन्ते ! कषाय के प्रत्याख्यान से जीव को क्या उपलब्धि होती है ?'

[उ.) कषाय के प्रत्याख्यान से वीतरागभाव प्राप्त होता है। वीतरागभाव को प्राप्त जीव सुख-दुःख में समभावी हो जाता है।

३८. जोग-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

जोग-पच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[३८ प्र.] भंते ! योग के प्रत्याख्यान से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] योग (मन-वचन-काया से सम्बन्धित व्यापारों) के प्रत्याख्यान से जीव अयोगत्व को प्राप्त होता है। अयोगी जीव नए कर्मों का बन्ध नहीं करता। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

३९. सरीर-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सरीर-पच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तणं निव्वत्तेइ। सिद्धाइसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्ग-मुवगए परमसुही भवइ।

[३९ प्र.] भंते ! शरीर के प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ.] शरीर के प्रत्याख्यान से जीव सिद्धों के अतिशय गुणों का सम्पादन कर लेता है। सिद्धों के अतिशय गुणों से सम्पन्न जीव लोक के अग्रभाग में पहुँच कर परमसुखी हो जाता है।

४०. सहाय-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सहाय-पच्चक्खाणेणं एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए वि य णं जीवे एगग्गं भावेमाणे अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पकलहे अप्पकसाए, अप्पतुमंतुमे, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिए यावि भवइ।

[४० प्र.] भंते ! सहाय के प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ.] सहाय (सहायक) के प्रत्याख्यान से जीव एकीभाव को प्राप्त होता है। एकीभाव को प्राप्त साधक एकाग्रता की भावना करता हुआ विग्रहकारी शब्द, वाक्कलह (झंझट), कलह (झगड़ा-टंटा), कषाय तथा तू-तू-मैं-मैं आदि से सहज ही मुक्त हो जाता है। संयम और संवर में आगे बढ़ा हुआ वह समाधि-सम्पन्न हो जाता है।

४१. भत्त-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भत्त-पच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुम्भइ।

[४१ प्र.] भन्ते ! भक्त-प्रत्याख्यान (आहारत्याग) से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] भक्त-प्रत्याख्यान से जीव अनेक सैकड़ों भवों (जन्म-मरणों) का निरोध कर लेता है।

४२. सब्भाव-पच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सब्भाव-पच्चक्खाणेणं अनियट्टिं जणयइ। अनियट्टिपडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तं जहा-वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोयं। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ।

[४२ प्र.] भन्ते ! सद्भाव-प्रत्याख्यान से जीव को क्या उपलब्धि होती है ?

[उ.] सद्भाव-प्रत्याख्यान से जीव को अनिवृत्ति (शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद) की प्राप्ति होती है। अनिवृत्ति से सम्पन्न अनगार केवलज्ञानी के शेष रहे हुए—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—इन भवोपग्राही कर्मों का क्षय कर डालता है। तत्पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है तथा सब दुःखों का अन्त करता है।

विवेचन—सम्भोग : लक्षण—समान सामाचारी वाले साधुओं का एक मण्डली में एकत्र होकर भोजन (सहभोजन) करना तथा मुनिजनों द्वारा प्रदत्त आहारादि का ग्रहण करना संभोग है।[1]

सम्भोग-प्रत्याख्यान का आशय—श्रमण निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों का लक्ष्य है—आत्मनिर्भरता। यद्यपि प्रारम्भिक दशा में एक दूसरे से आहार-पानी, वस्त्र-पात्र, उपकरण, रुग्णावस्था में सेवा, आहार-पानी लाने का सहयोग, समवसरण, (धर्मसभा) में साथ बैठना, धर्मोपदेश साथ-साथ करना, परस्पर आदर-सत्कार-वन्दनादि के आदान-प्रदान में सहयोग लेना पड़ता है। किन्तु अधिक सम्पर्क में जहाँ गुण हैं, वहाँ दोष भी आ जाते हैं। परस्पर संघर्ष, कलह, ईर्ष्या, द्वेष, पक्षपात, वैरविरोध, छिद्रान्वेषण, क्रोधादि कषाय कभी-कभी उग्ररूप धारण कर लेता है, तब असंयम बढ़ जाता है। अतः साधु को संभोग-त्याग का लक्ष्य रखना होता है, जिससे वह एकाग्रभाव में रह सके, रागद्वेषादि प्रपंचों से दूर शान्तिमय स्वस्थ संयमी जीवन यापन कर सके। ऐसा व्यक्ति स्वयंलब्ध वस्तु का उपभोग करता है, दूसरे के लाभ का न तो उपभोग करता है और न ही स्पृहा करता है, न ही मन में विषमता लाता है। ऐसा करने से दिव्य, मानुष कामभोगों से स्वतः विरक्त हो जाता है। कितना उच्च आदर्श है साधुसंस्था का ! संभोगप्रत्याख्यान को आदर्श गीतार्थ होने से जिनकल्पादि अवस्था स्वीकार करने वाले साधु का है।[2]

उपधि तथा उसके त्याग का आशय—उपधि कहते हैं—वस्त्र आदि उपकरणों को, जो कि स्थविरकल्पी साधु के विकासक्रम की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। साधु को उपधि रखने में दो बाधाओं की संभावना व्यक्त की गई है—पलिमन्थ और क्लेश। उपधि रखने से स्वाध्याय-ध्यान आदि आवश्यक क्रियाओं में बाधा पहुँचती है, उपधि फूट-टूट जाने, चोरी हो जाने से मन में संक्लेश होता है। दूसरे के पास सुन्दर मनोज्ञ वस्तु देख कर ईर्ष्या, द्वेष आदि विकार उत्पन्न होते हैं। उपधि-प्रत्याख्यान से इन दोनों दोषों तथा परिग्रह-सम्बन्धी दोषों की सम्भावना नहीं रहती। उसके प्रतिलेखन-प्रमार्जन में लगने वाला समय स्वाध्याय-ध्यान में लगाया जा सकता है। यह बहुत बड़ी उपलब्धि है।[3]

आहारत्याग का परिणाम—आहार-प्रत्याख्यान यहाँ व्यापक अर्थ में है। आहार-प्रत्याख्यान के दो पहलू हैं—थोड़े समय के लिए और जीवनभर के लिए। अथवा दोषयुक्त अनेषणीय,

---

१. 'एकमण्डल्यां स्थित्वा आहारस्य करणं सम्भोगः।' —बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष पृ. २१६

२. (क) 'दुवालसविहे संभोगे पण्णत्ते, तं जहा'..........कहाए य पवंधणे।' —समवायांग १२ समवाय

(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) पत्र २४८ (ग) स्थानांग स्था. ४।३।३२५

(घ) बृहद्वृत्ति, पत्र ५८८

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८८ : परिमन्थः स्वाध्यादिक्षतिस्तदभावोऽपरिमन्थः।

अकल्पनीय आहार का त्याग करना भी इसका अर्थ है। इसके दूरगामी सुपरिणामों की चर्चा यहाँ की गई है। सबसे बड़ी दो उपलब्धियाँ आहार-प्रत्याख्यान से होती हैं—(१) जीने की आकांक्षा समाप्त हो जाना, (२) आहार के प्राप्त न होने से उत्पन्न होने वाला मानसिक संक्लेश न होना।[१]

कषाय-प्रत्याख्यान : स्वरूप और परिणाम—कष का अर्थ है संसार। उसकी आय अर्थात् लाभ का नाम कषाय है। वे चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इनके चक्कर में पड़कर आत्मा सकषाय—सराग हो जाती है, जिससे आत्मा में विषमता आती है। इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख आदि बाह्य स्थितियों में मन कषाय (रागद्वेष) से रंगा होने के कारण संसार (कर्मबन्ध) को बढ़ाता रहता है। कषाय का त्याग होने से वीतरागता आती है और वीतरागता आते ही मन सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में सम हो जाता है।[२]

सहाय-प्रत्याख्यान : स्वरूप और परिणाम—संयमी जीवन में किसी दूसरे का सहयोग न लेना सहाय-प्रत्याख्यान है। यह दो कारणों से होता है—(१) कोई साधक इतना पराक्रमी होता है कि दैनिक चर्या में स्वावलम्बी होता है, किसी का सहारा नहीं लेता, (२) दूसरा इतना दुर्बलात्मा होता है कि सामुदायिक जीवन में आने वाले उतार-चढ़ावों या एक दूसरे को आदेश-निर्देश के आदान-प्रदान में उसकी मानसिक समाधि भग्न हो जाती है, बार-बार की रोक-टोक से उसमें विषमता पैदा होती है। इस कारण से साधक सहाय-प्रत्याख्यान करता है। जो संघ में रहते हुए अकेले जैसा निरपेक्ष—सहाय रहितजीवन जीता है, अथवा सामुदायिक जीवन से अलग रह कर एकाकी संयमी जीवन यापन करता है, दोनों ही कलह, क्रोध, कषाय, हम-तुम आदि समाधिभंग के कारणों से बच जाते हैं, फिर उनके संयम और संवर में वृद्धि होती जाती है। मानसिक समाधि भंग नहीं होती, कर्मबन्ध रुक जाते हैं।[३]

भक्त-प्रत्याख्यान : स्वरूप और परिणाम—आहार-प्रत्याख्यान अल्पकालिक अनशनरूप होता है, जिसमें निर्दोष उग्रतपस्या की जाती है, किन्तु भक्तप्रत्याख्यान अनातुरतापूर्वक स्वेच्छा से दृढ अध्यवसायपूर्वक अनशनरूप होता है। शरीर का आधार आहार है, जब आहार की आसक्ति ही छूट जाती है, तब स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों का ममत्व शिथिल हो जाता है। फलतः जन्म-मरण की परम्परा एकदम अल्प हो जाती है। यही भक्तप्रत्याख्यान का सबसे बड़ा लाभ है।[४]

सद्भाव-प्रत्याख्यान : स्वरूप और परिणाम—सर्वान्तिम एवं परमार्थतः होने वाले प्रत्याख्यान को सद्भावप्रत्याख्यान कहते हैं। यह सर्वसंवररूप या शैलेशी-अवस्था रूप होता है। अर्थात्—१४ वें अयोगीकेवलीगुणस्थान में होता है। यह पूर्ण प्रत्याख्यान होता है। इससे पूर्व किये गए सभी प्रत्याख्यान अपूर्ण होते हैं, क्योंकि उनके फिर प्रत्याख्यान करने की अपेक्षा शेष रहती है। जबकि १४ वें गुणस्थान की भूमिका में आगे फिर किसी भी प्रत्याख्यान की आवश्यकता या अपेक्षा नहीं रहती। इसीलिए इसे सद्भाव या 'पारमार्थिक प्रत्याख्यान' कहते हैं। इस भूमिका में शुक्लध्यान के

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ५८८

२. (क) कषः संसारः, तस्य आयः लाभः कषायः (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ. ३०१

३. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ. ३०७ (ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर), पत्र २५०

४. 'तथाविधदृढाध्यवसायतया संसाराल्पत्वापादनात्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५८८

चतुर्थ चरण पर आरूढ साधक सिद्ध हो जाता है, इसलिए स्वाभाविक है कि फिर उसे आश्रव, बन्धन, राग-द्वेष या तज्जनित जन्ममरण की भूमिका में पुनः लौटना नहीं होता, सर्वथा अनिवृत्ति हो जाती है। चार अघातीकर्म भी सर्वथा क्षीण हो जाते हैं।[1]

केवली कम्मंसे खवेइ : भावार्थ—केवली में रहने वाले चार भवोपग्राही कर्मों के शेष रहे अंशों (प्रकृतियों का) भी अस्तित्व समाप्त हो जाता है।[2]

योग-प्रत्याख्यान और शरीर-प्रत्याख्यान—योग-प्रत्याख्यान का अर्थ है—मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों का त्याग और शरीर-प्रत्याख्यान अर्थात् शरीर से मुक्त हो जाना। ये दोनों क्रमभावी दशाएँ हैं। पहले अयोगिदशा आती है, फिर मुक्तदशा। अयोगिदशा प्राप्त होते ही कर्मों का आश्रव और बन्ध दोनों समाप्त हो जाते हैं; पूर्णसंवरदशा, सर्वथा कर्ममुक्तदशा आ जाती है। ऐसी स्थिति में आत्मा शरीर से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाती है। कर्ममुक्त एवं शरीरमुक्त महान् आत्मा अजर, अमर, निराकार-निरंजनरूप हो जाती है। वह लोकाग्रभाग में जाकर अपनी शुद्ध स्वसत्ता में स्थिर हो जाती है। उसमें ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय रहते हैं। अपने स्वाभाविक गुणों से सम्पन्न हो जाती है। यही योग-प्रत्याख्यान और शरीर-प्रत्याख्यान का रहस्य है।[3]

निष्कर्ष—प्रस्तुत ६ सूत्री प्रत्याख्यान का उद्देश्य मुक्ति की ओर बढ़ना और मुक्तदशा प्राप्त करना है, जो कि साधक का अन्तिम लक्ष्य है।

४२ प्रतिरूपता का परिणाम

४३. पडिरूवयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

पडिरूवयाए णं लाघवियं जणयइ। लहुभूए णं जीवे अप्पमत्ते, पागडलिंगे, पसत्थलिंगे, विसुद्धसम्मत्ते, सत्त-समिइसमत्ते, सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु वीससणिज्जरूवे, अप्पडिलेहे, जिइन्दिए, विउलतव-समिइसमन्नागए यावि भवइ।

[४३ प्र.] प्रतिरूपता से, भगवन्! जीव क्या प्राप्त करता है?

[उ.] प्रतिरूपता से जीव लघुता (लाघव) प्राप्त करता है। लघुभूत होकर जीव अप्रमत्त, प्रकट लिंग (वेष) वाला, प्रशस्त लिंग वाला, विशुद्ध सम्यक्त्व, सत्त्व (धैर्य) और समिति से परिपूर्ण, समस्त प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए विश्वसनीय रूप वाला, अल्प प्रतिलेखन वाला, जितेन्द्रिय तथा विपुल तप एवं समितियों से सम्यक् युक्त (या व्याप्त) होता है।

---

१. (क) तत्र सद्भावेन—सर्वथा पुनः करणाऽसंभवात् परमार्थेन प्रत्याख्यानं सद्भावप्रत्याख्यानं, सर्वसंवररूपा शैलेशीति यावत्।

(ख) न विद्यते निवृत्तिः—मुक्तिं प्राप्य निवर्त्तनं यस्मिंस्तद् अनिवृत्तिः शुक्लध्यानं चतुर्थभेदरूपं जनयति।

—बृहद्वृत्ति, पत्र ५८९

२. 'केवलीकम्मंसे—कार्मग्रन्थिकपरिभाषयांऽशशब्दस्य सत्पर्यायत्वात् सत्कर्माणि—केवलिसत्ककर्माणि-भवोपग्राहीणि क्षपयति।'

—वही, पत्र ५८९

३. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ. ३०३, ३०४

विवेचन—प्रतिरूपता : स्वरूप और परिणाम—प्रतिरूप शब्द के तीन अर्थ यहाँ संगत हैं—शान्त्याचार्य के अनुसार—(१) सुविहित प्राचीन मुनियों का रूप, (२) स्थविरकल्पी मुनि के समान वेष वाला, मूलाराधना के अनुसार—(३) जिन के समान रूप (लिंग) धारण करने वाला।[1]

प्रतिरूपता के दस परिणाम—(१) लाघव, (२) अप्रमत्त, (३) प्रकटलिंग, (४) प्रशस्तलिंग, (५) विशुद्धसम्यक्त्व, (६) सम्पूर्ण धैर्य-समिति-युक्त, (७) विश्वसनीयरूप, (८) अल्पप्रतिलेखनावान् या अप्रतिलेखनी, (९) जितेन्द्रिय और (१०) विपुल तप और समिति से युक्त।[2]

स्थानांगसूत्र में पांच कारणों से अचेलक को प्रशस्त कहा गया है—(१) अप्रतिलेखनं, (२) प्रशस्तलाघव, (३) वैश्वासिकरूप, (४) तप-उपकरणसंलीनता, (५) विपुल इन्द्रियनिग्रह। इस दृष्टि से यहाँ प्रतिरूप का जिनकल्पीसदृश वेष वाला अर्थ ही अधिक संगत लगता है। तत्त्वं केवलिगम्यम्।[3]

४३ वैयावृत्त्य से लाभ

४४. वेयावच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबन्धइ ॥

[४४ प्र.] भन्ते ! वैयावृत्य से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] वैयावृत्य से जीव तीर्थंकर नाम-गोत्र का उपार्जन करता है।

विवेचन—वैयावृत्य का लक्षण और परिणाम—वैयावृत्य का सामान्यतया अर्थ है—निःस्वार्थ (व्यापृत) भाव से गुणिजनों की आहारादि से सेवा करना। पिछले पृष्ठों में तप के सन्दर्भ में वैयावृत्य के सम्बन्ध में विस्तार से कहा जा चुका है। यहाँ वैयावृत्य से जो परम उपलब्धि होती है, उसका दिग्दर्शन कराया गया है। तीर्थंकर-पदप्राप्ति के २० हेतु बताए गए हैं, उनमें से एक प्रमुख हेतु वैयावृत्य है। वह पद आचार्यादि १० धर्ममूर्तियों को उत्कटभाव से वैयावृत्य करने पर प्राप्त होता है।[4]

४४. सर्वगुणसम्पन्नता से लाभ

४५. सव्वगुणसंपन्नयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सव्वगुणसंपन्नयाए णं अपुणरावित्तिं जणयइ। अपुणरावित्तिं पत्तए य णं जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ।

---

१. (क) 'सुविहितप्राचीनमुनीनां रूपे।' —बृहद्वृत्ति, अ. १
(ख) प्रतिः सादृश्ये, ततः प्रतीतिः— स्थविरकल्पिकादिसदृशं रूपं वेषो यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता उ. अ. २९।४२, पत्र ५८९।५९०
(ग) मूलाराधना २।८३, ८४, ८५, ८६, ८७

२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २४२

३. 'पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, तं.—अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, तवे अणुन्नाते, विउले इंदियनिग्गहे।' —स्थानांग. ५।४५५

४. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ५९० (ख) ज्ञाताधर्मकथांग, अ. ८

[४५ प्र.] भगवन् सर्वगुणसम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] सर्वगुणसम्पन्नता से जीव अपुनरावृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त होता है। अपुनरावृत्ति को प्राप्त जीव शारीरिक और मानसिक दुःखों का भागी नहीं होता।

विवेचन—सर्वगुणसम्पन्नता—आत्मा के निजी गुण, जो कि उसकी पूर्णता के लिए आवश्यक हैं, तीन हैं—निरावरण ज्ञान, सम्पूर्ण दर्शन (क्षायिक सम्यक्त्व) और पूर्ण (यथाख्यात) चारित्र (सर्वसंवर)। ये तीन गुण परिपूर्ण रूप में होने पर आत्मा सर्वगुणसम्पन्न होती है। इसका तात्पर्य यह है कि अकेले ज्ञान या अकेले दर्शन की पूर्णतामात्र से सर्वगुणसम्पन्नता नहीं होती, किन्तु जब तीनों परिपूर्ण होते हैं, तभी सर्वगुणसम्पन्नता प्राप्त होती है। उसका तात्कालिक परिणाम अपुनरावृत्ति (मुक्ति) है और परम्परागत परिणाम है—शारीरिक, मानसिक दुःखों का सर्वथा अभाव।[1]

४५. वीतरागता का परिणाम

४६. वीयरागयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

वीयरागयाए णं नेहाणुबन्धणाणि, तण्हाणुबन्धणाणि य वोच्छिन्दइ। मणुन्नेसु सद्द-फरिस-रस-रूव-गन्धेसु सचित्ताचित्त-मीसएसु चेव विरज्जइ।

[४६ प्र.] भंते! वीतरागता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] वीतरागता से जीव स्नेहानुबन्धनों और तृष्णानुबन्धनों का विच्छेद करता है। मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध से तथा सचित्त, अचित्त एवं मिश्र द्रव्यों से विरक्त होता है।

विवेचन—वीतरागता : अर्थ और परिणाम—वीतरागता का अर्थ है—राग-द्वेषरहितता। इसके तीन परिणाम हैं—(१) स्नेहबन्धनों का विच्छेद, (२) तृष्णाजनितबन्धनों का विच्छेद और (३) मनोज्ञ शब्दादि विषयों के प्रति विरक्ति।[2]

स्नेहानुबन्धन और तृष्णानुबन्धन का अन्तर—पुत्र आदि में जो मोह-ममता या प्रीति होती है और तदनुरूप बन्धन-परम्परा उत्तरोत्तर बढ़ती है, उसे स्नेहानुबन्धन कहते हैं, जब कि धन आदि के प्रति जो आशा-लालसा होती है और तदनुरूप बन्धन-परम्परा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, उसे तृष्णानुबन्धन कहते हैं।[3]

४६ से ४९ क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव एवं मार्दव से उपलब्धि

४७. खन्तीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

खन्तीए णं परीसहे जिणइ।

---

१ 'ज्ञानादिसर्वगुणसहितत्वे।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५९०

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५९० : वीतरागेन रागद्वेषाभावेन।

३. स्नेहस्यानुकूलानि बन्धनानि पुत्रमित्रकलत्रादिषु प्रेमपाशान् तथा तृष्णाणुबन्धनानि द्रव्यादिषु आशापाशान्।
—उ. बृ. वृत्ति, अ. रा. कोष भा. ६, पृ. १३३६

[४७ प्र.] भंते ! क्षान्ति से जीव को क्या उपलब्धि होती है ?

[उ.] क्षान्ति से जीव परीषहों पर विजय पाता है।

४८. मुत्तीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ। अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं अपत्थणिज्जो भवइ।

[४८ प्र.] भंते ! मुक्ति (निर्लोभता) से जीव को क्या लाभ होता है ?

[उ.] मुक्ति से जीव अकिंचनता प्राप्त करता है। अकिंचन जीव अर्थलोलुपी जनों द्वारा अप्रार्थनीय हो जाता है।

४९. अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

अज्जवयाए णं काउज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ। अविसंवायण-संपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ।

[४९ प्र.] भंते ! ऋजुता (सरलता) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] ऋजुता से जीव काया की सरलता, भावों (मन) की सरलता, भाषा की सरलता और अविसंवादता को प्राप्त करता है। अविसंवाद-सम्पन्नता से जीव (शुद्ध), धर्म का आराधक होता है।

५०. मद्दवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ। अणुस्सियत्ते णं जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठावेइ।

[५० प्र.] भंते ! मृदुता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] मृदुता से जीव अनुद्धत भाव को प्राप्त होता है, अनुद्धत जीव मृदु-मार्दव भाव से सम्पन्न होकर आठ मदस्थानों को नष्ट कर देता है।

विवेचन—क्षान्ति आदि चार : स्वरूप और उपलब्धि—क्षान्ति के दो अर्थ हैं—क्षमा और सहिष्णुता। क्षमा का लक्षण है—प्रतीकार करने की शक्ति होने पर भी प्रतीकार न करके अपकार सह लेना। सहिष्णुता का अर्थ है—तितिक्षा। दोनों प्रकार की क्षमता बढ़ जाने पर व्यक्ति परीषह-विजयी बन जाता है।[1]

मुक्ति—अर्थात् निर्लोभ के दो परिणाम हैं—अकिंचनता अर्थात्—निष्परिग्रहत्व, एवं चोर आदि अर्थलोभी लोगों द्वारा अप्रार्थनीयता।[2]

ऋजुता के चार परिणाम—सरलता से काया (कायचेष्टा), भाषा और भावों में सरलता तथा अविसंवादन अर्थात् दूसरों को वंचन न करना। ऐसा होने पर ही जीव सद्धर्माराधक होता है।[3]

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ५९०, मुक्ति : निर्लोभता।

३. तुलना—चउव्विहे सच्चे प. तं.—काउज्जुयया, भाउज्जुयया, भासुज्जुयया अविसंवायणाजोगे।

मृदुता की उपलब्धियाँ तीन—(१) अनुद्धतता, (२) द्रव्य से कोमलता और भाव से नम्रता और (३) अष्ट मदस्थानों का अभाव। क्षान्ति आदि क्रोधादि पर विजय के परिणाम हैं। जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत और ऐश्वर्य का मद, इन ८ मद के हेतुओं को अष्ट मदस्थान कहते हैं।[1]

५० से ५२ भाव-करण-योग-सत्य का परिणाम

५१. भावसच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ। भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहन्तपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अरहन्तपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता परलोग-धम्मस्स आराहए हवइ।

[५१ प्र.] भंते ! भावसत्य (अन्तरात्मा की सचाई) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] भावसत्य से जीव भावविशुद्धि प्राप्त करता है। भावविशुद्धि में वर्त्तमान जीव अर्हत्प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए उद्यत होता है। अर्हत्प्रज्ञप्त धर्म की आराधना में उद्यत व्यक्ति परलोक-धर्म का आराधक होता है।

५२. करणसच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ। करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ।

[५२ प्र.] भन्ते ! करणसत्य (कार्य की सचाई) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] करणसत्य से जीव करणशक्ति (प्राप्त कार्य को सम्यक्तया सम्पन्न करने की क्षमता) प्राप्त कर लेता है। करणसत्य में वर्त्तमान जीव 'यथावादी तथाकारी' (जैसा कहता है, वैसा करने वाला) होता है।

५३. जोगसच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ।

[५३ प्र.] भन्ते ! योगसत्य से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] योगसत्य से (मन, वचन और काय के प्रयत्नों की सचाई से) जीव योगों को विशुद्ध कर लेता है।

विवेचन—सत्य की त्रिपुटी—सत्य के अनेक पहलू हैं। पूर्ण सत्य को प्राप्त करना सामान्य साधक के लिए अतीव दुःशक्य है। परन्तु सत्यार्थी और मुमुक्षु साधक के लिए सत्य को पूर्णता तक पहुँचने हेतु प्रस्तुत तीन सूत्रों (५१-५२-५३) में प्रतिपादित त्रिपुटी की आराधना आवश्यक है। क्योंकि सत्य का प्रवाह तीन धाराओं से बहता है—भावों (आत्मभावों) की सत्यता से, करण-सत्यता से और योग-सत्यता से। इन तीनों का मुख्य परिणाम तीनों की विशुद्धि और क्षमता में वृद्धि है।[2]

---

१. (क) तुलना—सूत्र ६७ से ७०, (ख) स्थानांग स्था. ४।१।२५४

२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर का सारांश) भा. २, पत्र २५४-२५५

५३ से ५५ गुप्ति की साधना का परिणाम

५४. मणगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयइ। एगग्गचित्ते णं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ।

[५४ प्र.] भन्ते ! मनोगुप्ति से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] मनोगुप्ति से जीव एकाग्रता प्राप्त करता है। एकाग्रचित्त वाला जीव (अशुभ विकल्पों से) मन की रक्षा करता है और संयम का आराधक होता है।

५५. वयगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वयगुत्तयाए णं निव्वियारं जणयइ। निव्वियारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगज्झाणगुत्ते यावि भवइ।

[५५ प्र.] भन्ते ! वचनगुप्ति से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] वचनगुप्ति से जीव निर्विकार भाव को प्राप्त होता है। निर्विकार (या निर्विचार) जीव सर्वथा वाग्गुप्त तथा अध्यात्मयोग के साधनभूत ध्यान से युक्त होता है।

५६. कायगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ। संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ।

[५६ प्र.] कायगुप्ति से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] कायगुप्ति से जीव संवर (अशुभ आश्रव-प्रवृत्ति के निरोध) को प्राप्त होता है। संवर से कायगुप्त होकर (साधक) फिर से होने वाले पापाश्रव का निरोध करता है।

विवेचन : मनोगुप्ति : स्वरूप और परिणाम—अशुभ अध्यवसाय में जाते हुए मन को रोकना मनोगुप्ति है। शास्त्र में मनोगुप्ति के तीन रूप बताए हैं—(१) आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग करना, (२) जिसमें धर्मध्यान का अनुबन्ध हो तथा जो शास्त्रानुसार परलोक का साधन हो, ऐसी माध्यस्थ्य परिणति हो और (३) शुभ एवं अशुभ मनोवृत्ति के निरोध से योगनिरोधावस्था में होने वाली आत्मस्वरूपावस्थानरूप परिणति हो। यही तथ्य योगशास्त्र में बताया है—समस्त कल्पनाओं से रहित होना और समभाव में प्रतिष्ठित हो कर आत्मस्वरूप में रमण करना मनोगुप्ति है। मनोगुप्ति के तीन सुपरिणाम हैं—(१) एकाग्रता, (२) अशुभ अध्यवसायों से मन की रक्षा और (३) समता—आत्मस्वरूपरमणता तथा ज्ञानादि रत्नत्रय रूप संयम की आराधना। मनोगुप्ति में अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की प्रवृत्ति होती है, वही एकाग्रता है। इसमें चित्त का सर्वथा निरोध न होकर, अनेक आलम्बनों में बिखरा मन एक आलम्बन में स्थिर हो जाता है।[१]

वचनगुप्ति : स्वरूप और परिणाम—वचनगुप्ति के दो रूप हैं—(१) सर्वथा वचन का निरोध—मौन और (२) अशुभ (अकुशल) वचन का निरोध एवं शुभ (कुशल) वचन में प्रवृत्ति। इसके परिणाम

१. (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र २५५

(ख) विमुक्तकल्पनाजालं, समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।
आत्मारामं मनस्तज्ज्ञैः मनोगुप्तिरुदाहृता ॥ —योगशास्त्र

भी दो हैं—(१) निर्विचारता-विचारशून्यता, अथवा निर्विकारता-विकथा से मुक्त होना। (२) मौन से आत्मलीनता अथवा धर्मध्यान आदि अध्यात्मयोग से युक्तता।[1]

कायगुप्ति : स्वरूप और परिणाम—शरीर को अशुभ चेष्टाओं—प्रवृत्तियों या कार्यों से हटा कर शुभ चेष्टाओं—प्रवृत्तियों या कार्यों में लगाना कायगुप्ति है। इसके दो परिणाम : (१) अशुभ कायिक प्रवृत्ति से समुत्पन्न आश्रव का निरोध रूप संवर तथा (२) हिंसादि आश्रवों का निरोध।[2]

५६-५८ मन-वचन-कायसमाधारणता का परिणाम

५७. मणसमाहारणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

मणसमाहारणयाए णं एगग्गं जणयइ। एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ। नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ, मिच्छत्तं च निज्जरेइ।

[५७ प्र.] भन्ते ! मन की समाधारणता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] मन की समाधारणता से जीव एकाग्रता प्राप्त करता है। एकाग्रता प्राप्त करके (वह) ज्ञान-पर्यवों को प्राप्त करता है। ज्ञानपर्यवों को प्राप्त करके सम्यक्त्व को विशुद्ध करता है और मिथ्यात्व की निर्जरा करता है।

५८. वयसमाहारणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वयसमाहारणयाए णं वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेइ। वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेत्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ, दुल्लहबोहियत्तं निज्जरेइ।

[५८ प्र.] भन्ते ! वाक्समाधारणता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] वाक्समाधारणता से जीव वाणी के विषयभूत (साधारण वाणी से कथनयोग्य पदार्थ-विषयक) दर्शन के पर्यवों को विशुद्ध करता है। वाणी के विषयभूत दर्शन के पर्यवों को विशुद्ध करके सुलभता से बोधि को प्राप्त करता है, बोधि की दुर्लभता की निर्जरा करता है।

५९. कायसमाहारणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कायसमाहारणयाए णं चरित्तपज्जवे विसोहेइ। चरित्तपज्जवे विसोहेत्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ। अहक्खायचरित्तं विसोहेत्ता चत्तारिकेवलिकम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ।

[५९ प्र.] भन्ते ! कायसमाधारणता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] कायसमाधारणता से जीव चारित्र के पर्यवों को विशुद्ध करता है। चारित्र-पर्यवों को विशुद्ध करके यथाख्यातचारित्र को विशुद्ध करता है। यथाख्यातचारित्र को विशुद्ध करके केवली

---

१. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ. ३३१
(ख) उत्तरज्झयणाणि (टिप्पण) (मुनि नथमलजी) पृ. २४६
२. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ. ३३३
(ख) उत्तरा. टिप्पण, पृ. २४६

में विद्यमान (वेदनीयादि चार) कर्मों का क्षय करता है। तत्पश्चात् सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और समस्त दुःखों का अन्त करता है।

विवेचन—समाधारणा का अर्थ है सम्यक् प्रकार से व्यवस्थापन या नियोजन।

मनःसमाधारणा : स्वरूप और परिणाम—आगमोक्त भावों के (श्रुत के) चिन्तन में मन को भलीभांतिं लगाना या व्यवस्थित करना। इसके चार परिणाम—(१) एकाग्रता, (२) ज्ञान-पर्यव-प्राप्ति, (३) सम्यक्त्वविशुद्धि और (४) मिथ्यात्वनिर्जरा। मन की एकाग्रता होने से वह साधक ज्ञान के विशेष-विशेष विविध तत्त्व श्रुतबोधरूप पर्यायों (प्रकारों) को प्राप्त करता है, जिससे सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है, मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है।[1]

वचनसमाधारणा : स्वरूप और परिणाम—वचन को स्वाध्याय में भलीभांति संलग्न रखना वचनसमाधारणा है। इसके तीन परिणाम होते हैं—(१) वाणी के विषयभूत दर्शनपर्यायों की विशुद्धि, (२) सुलभबोधित्व एवं (३) दुर्लभबोधित्व का क्षय।

निष्कर्ष—वचन को सतत स्वाध्याय में लगाने से प्रज्ञापनीय दर्शनपर्याय विशुद्ध बनते हैं, फलतः अन्यथा निरूपण नहीं होता। दर्शनपर्याय की विशुद्धि ज्ञानपर्यायों के उदय से होती है।[2]

कायसमाधारणा : स्वरूप और परिणाम—काय को संयम की शुद्ध (निरवद्य) प्रवृत्तियों में भलीभांति संलग्न रखना कायसमाधारणा है। इसके परिणाम चार हैं—(१) चारित्रपर्यायों की शुद्धि, (२) यथाख्यातचारित्र की विशुद्धि (प्राप्ति), (३) केवलियों में विद्यमान चार कर्मों का क्षय और अन्त में (४) सिद्धदशा की प्राप्ति।[3]

५९–६१ ज्ञान-दर्शन-चारित्रसम्पन्नता का परिणाम

६०. नाणसंपन्नयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ। नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरन्ते संसार-कन्तारे न विणस्सइ।

जहा सूई ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते संसारे न विणस्सइ॥

नाण-विणय-तव-चरित्तजोगे संपाउणइ, ससमय-परसमयसंघायणिज्जे भवइ।

---

१. (क) मनसः सम् इति सम्यक्, आङिति मर्यादाऽऽगमाभिहितभावाभिव्याप्त्या अवधारणं—व्यवस्थापनं मनः-समाधारणा, तया। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५९२
(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २५६

२. (क) वाक्समाधारणया स्वाध्याय एव सन्निवेशनात्मिकया।
(ख) उत्तरज्झयणाणि (टिप्पण) (मुनि नथमलजी), पृ. २४७

३. (क) कायसमाधारणया—संयमयोगेषु शरीरस्य सम्यग्व्यवस्थापनरूपया।
(ख) उत्तरज्झयणाणि (टिप्पण) (मुनि नथमलजी), पृ. २४७

[६० प्र.] भन्ते ! ज्ञानसम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] ज्ञानसम्पन्नता से जीव सब भावों को जानता है। ज्ञानसम्पन्न जीव चातुर्गतिक संसाररूपी कान्तार (महारण्य) में विनष्ट नहीं होता।

जिस प्रकार सूत्र (धागे) सहित सुई कहीं गिर जाने पर भी विनष्ट नहीं होती (खोती नहीं), उसी प्रकार ससूत्र (शास्त्रज्ञान सहित) जीव संसार में भी विनष्ट नहीं होता। (वह) ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगों को प्राप्त होता है, तथा स्वसमय-परसमय में संघातनीय हो जाता है।

६१. **दंसणसंपन्नयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?**

दंसणसंपन्नयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ, परं न विज्झायइ। अणुत्तरेणं नाणदंसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे, सम्मं भावेमाणे विहरइ।

[६१ प्र.] भंते ! दर्शनसम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] दर्शनसम्पन्नता से संसार के हेतु—मिथ्यात्व का छेदन करता है। उसके पश्चात् सम्यक्त्व का प्रकाश बुझता नहीं है। (फिर वह) अनुत्तर (श्रेष्ठ) ज्ञान-दर्शन से आत्मा को संयोजित करता हुआ तथा उनसे आत्मा को सम्यक् रूप से भावित करता हुआ विचरण करता है।

६२. **चरित्तसंपन्नयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?**

चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ। सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ।

[६२ प्र.] भन्ते ! चारित्रसम्पन्नता से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] चारित्रसम्पन्नता से (साधक) शैलेशीभाव को प्राप्त कर लेता है। शैलेशीभाव को प्राप्त अनगार चार अघाती कर्मों का क्षय करता है। तत्पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और समस्त दुःखों का अन्त कर देता है।

विवेचन—ज्ञानसम्पन्नता : स्वरूप और परिणाम—प्रसंगवश ज्ञान का अर्थ यहाँ श्रुतज्ञान किया गया है; उससे सम्पन्न—सम्यक् प्रकार से श्रुतज्ञानप्राप्ति से युक्त। इसके **चार परिणाम**—(१) सर्वपदार्थों का ज्ञान, (२) संसार में विनाशरहितता (नहीं भटकता), (३) ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगों की संप्राप्ति और (४) स्वसिद्धान्त-परसिद्धान्त विषयक संशयछेदनकर्तृत्व।[1]

सव्वभावाहिगमं—नन्दीसूत्र के अनुसार श्रुतज्ञानसम्पन्न साधक उपयोगयुक्त होने पर सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जान—देख सकता है।[2]

संसारे न विणस्सइ : आशय—संसार में विनष्ट नहीं होता (रुलता नहीं), अर्थात् मोक्ष-मार्ग से अधिक दूर नहीं होता।[3]

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र २५८

२. 'तत्थ दव्वओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ, खित्तओ णं सु. उ. सव्वं खेत्तं जा. पा. कालओ णं सु. उ. सव्वकालं जा. पा, भावओ णं सु. उ. सव्वे भावे जा. पासइ।' —नन्दीसूत्र सू. ५७

३. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २५८

नाण-विणय.....संपाउणइ—श्रुतज्ञानी अभ्यास करता-करता ज्ञान अर्थात् अवधि आदि ज्ञानों को तथा विनय, तप और चारित्र की पराकाष्ठा (योगों) को प्राप्त कर लेता है।[1]

ससमय-परसमय-संघायणिज्जे : दो तात्पर्य—(१) श्रुतज्ञानी स्वमत एवं परमत के विद्वानों के संशयों को सम्यक् प्रकार से संघातनीय अर्थात् मिटाने—छिन्न करने के योग्य होता है, (२) स्वसमय-परसमय के व्यक्तियों के संशयछेदनार्थ संघातनीय-प्रामाणिक पुरुष के रूप में मिलन के योग्य केन्द्र (केन्द्रीभूत पुरुष) होता है।[2]

दर्शनसम्पन्नता : स्वरूप और परिणाम—दशन का अर्थ यहाँ क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) किया गया है। उक्त दर्शनसम्पन्नता से व्यक्ति भवभ्रमणहेतुरूप मिथ्यात्व का सर्वथा उच्छेद करता है, अर्थात्—वह क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। तत्पश्चात् उसका प्रकाश बुझता नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि उत्कृष्टतः उसी भव में, मध्यम और जघन्य की अपेक्षा से तीसरे या चौथे भव में केवलज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो जाने से वह बुझता नहीं, यानी उसके केवलज्ञान-केवलदर्शन का प्रकाश प्रज्वलित रहता है। फिर वह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन (केवलज्ञान-केवलदर्शन) के साथ अपनी आत्मा को संयोजित करता (जोड़ता) हुआ तथा उनमें सम्यक् प्रकार से भावित-तन्मय करता हुआ विचरता है।[3]

चारित्रसम्पन्नता : तीन परिणाम—(१) शैलेशीभाव की प्राप्ति, (२) केवलिसत्क चार कर्मों का क्षय और (३) सिद्ध, बुद्ध, मुक्त दशा की प्राप्ति।

'सेलेसी भावं जणयइ' : तीन अर्थ—(१) शैलेश—मेरुपर्वत की तरह निष्कम्प अवस्था को प्राप्त होता है, (२) शैल—चट्टान की भांति स्थिर ऋषि—शैलर्षि हो जाता है, अथवा (३) शील+ईश—शीलेश, शीलेश की अवस्था शैलेशी, इस दृष्टि से शैलेशी का अर्थ होता है—शील—चारित्र (संवर) की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ।[4]

६२-६६ पांचों इन्द्रियों के निग्रह का परिणाम

६३. सोइन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

सोइन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागद्दोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[६३ प्र.] भंते ! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में होने वाले राग और द्वेष

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २५८

२. (क) उत्तरज्झयणिज्जं (टिप्पण) (मु. नथमलजी) पृ. २४७

(ख) स्वपरसमययोः संघातनीयः—प्रमाणपुरुषतया मीलनीयः....भवति। इह च स्वपरसमयशब्दाभ्यां तद्वेदिनः पुरुषा उच्यन्ते; तेष्वेव संशयादिव्यवच्छेदाय मीलनसंभवात्।

३. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र २५८

४. (क) उत्तरज्झयणाणि (टिप्पण) (मुनि नथमलजी) पृ. २४७

(ख) विशेषावश्यकभाष्य गा. ३६८३-३६८५

का निग्रह करता है। (फिर वह) तत्प्रत्ययिक (-शब्दनिमित्तक) कर्म नहीं बांधता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

६४. चक्खिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

चक्खिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[६४ प्र.] भंते ! चक्षुरिन्द्रिय के निग्रह से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] चक्षुरिन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। (इससे फिर) रूपनिमित्तक कर्म का बन्ध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

६५. घाणिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

घाणिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु गन्धेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[६५ प्र.] भन्ते ! घ्राणेन्द्रिय के निग्रह से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] घ्राणेन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। (इससे फिर) राग-द्वेषनिमित्तक कर्म का बन्ध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

६६. जिब्भिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

जिब्भिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[६६ प्र.] भन्ते ! जिह्वेन्द्रिय के निग्रह से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] जिह्वेन्द्रिय के निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। (इससे फिर) तन्निमित्तक कर्म का बन्ध नहीं करता। पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

६७. फासिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

फासिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु फासेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[६७ प्र.] स्पर्शेन्द्रियनिग्रह से भगवन् ! जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] स्पर्शेन्द्रिय-निग्रह से जीव मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। (इससे फिर) राग-द्वेषनिमित्तक कर्म का बन्ध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

विवेचन—पंचेन्द्रियनिग्रह : स्वरूप और परिणाम—पांचों इन्द्रियों के विषय क्रमशः शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का स्वभाव अपने-अपने विषय की ओर दौड़ना या उनमें प्रवृत्त होना है। इन्द्रियनिग्रह का अर्थ है—अपने विषय की ओर दौड़ने वाली इन्द्रिय को उस ओर से हटाना। मनोज्ञ-अमनोज्ञ प्रतीत होने वाले विषयों के प्रति होने वाले रागद्वेष से रहित होना, मन को समत्व में स्थापित करना। प्रत्येक इन्द्रिय के निग्रह का परिणाम भी उसके विषय के प्रति रागद्वेष न करना है, ऐसा करने से उस निमित्त से होने वाला कर्मबन्ध नहीं होता। साथ ही पहले के बंधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है।[1]

६७-७१ कषायविजय एवं प्रेय-द्वेष-मिथ्यादर्शनविजय का परिणाम

६८. कोहविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कोहविजएणं खन्ति जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[६८ प्र.] भन्ते ! क्रोधविजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] क्रोधविजय से जीव क्षान्ति को प्राप्त होता है। क्रोधवेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता; पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

६९. माणविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

माणविजएणं मद्दवं जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[६९ प्र.] भन्ते ! मानविजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] मानविजय से जीव मृदुता को प्राप्त होता है। मानवेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता; पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

७०. मायाविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

मायाविजएणं उज्जुभावं जणयइ, मायावेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[७० प्र.] भन्ते ! मायाविजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

[उ.] मायाविजय से जीव ऋजुता को प्राप्त होता है। मायावेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता; पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

७१. लोभविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

लोभविजएणं संतोसीभावं जणयइ, लोभवेयणिज्जं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ।

[७१ प्र.] भन्ते ! लोभविजय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] लोभविजय से जीव सन्तोषभाव को प्राप्त होता है। लोभवेदनीय कर्म का बन्ध नहीं करता; पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ. ३४६ से ३४९ तक का सारांश

७२. पेज्ज-दोस-मिच्छादंसणविजएणं भंते जीवे किं जणयइ ?

पेज्ज-दोस-मिच्छादंसणविजएणं नाण-दंसण-चरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगण्ठिविमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्विं अट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविहं नाणावरणिज्जं, नवविहं दंसणावरणिज्जं, पंचविहं अन्तरायं—एए तिन्नि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ। तओ पच्छा अणुत्तरं, अणंतं, कसिणं, पडिपुण्णं, निरावरणं, वितिमिरं, विसुद्धं, लोगालोगप्पभावगं, केवल-वरनाणदंसणं समुप्पाडेइ।

जाव सजोगी भवइ ताव य इरियावहियं कम्मं बन्धइ सुहफरिसं, दुसमयठिइयं। तं पढमसमए बद्धं, बिइयसमए वेइयं, तइयसमए निज्जिण्णं।

तं बद्धं, पुट्ठं, उदीरियं, वेइयं, निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मं चावि भवइ।

[७२ प्र.] भन्ते! प्रेय (राग), द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय से जीव को क्या प्राप्त होता है ?

[उ.] प्रेय, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय पाने से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए उद्यत होता है। आठ प्रकार के कर्मों की ग्रन्थि को खोलने के लिए सर्वप्रथम यथाक्रम से मोहनीयकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों का क्षय करता है। तदनन्तर ज्ञानावरणीयकर्म की पांच, दर्शनावरणीयकर्म की नौ और अन्तरायकर्म की पांच; इन तीनों कर्मों की प्रकृतियों का एक साथ क्षय करता है। तत्पश्चात् वह अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न (-सम्पूर्ण-वस्तुविषयक), प्रतिपूर्ण, निरावरण, अज्ञानतिमिर से रहित, विशुद्ध और लोकालोक-प्रकाशक श्रेष्ठ केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त करता है।

जब तक वह सयोगी रहता है, तब तक ऐर्यापथिक कर्म बांधता है। वह बन्ध भी सुखस्पर्शी (सातावेदनीयरूप पुण्यकर्म) है। उसकी स्थिति दो समय की है। प्रथम समय में बन्ध होता है, द्वितीय समय में वेदन होता है और तृतीय समय में निर्जरा होती है।

वह क्रमशः बद्ध होता है, स्पृष्ट होता है, उदय में आता है, फिर वेदन किया (भोगा) जाता हैं, निर्जरा को प्राप्त (क्षय) हो जाता है। (फलतः) आगामी काल में (अर्थात् अन्त में) वह कर्म अकर्म हो जाता है।

विवेचन—कषायविजय : स्वरूप और परिणाम—कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। क्रोधमोहनीयकर्म के उदय से होने वाला जीव का प्रज्वलनात्मक परिणामविशेष क्रोध है। क्रोध से जीव कृत्य-अकृत्य के विवेक से विहीन बन जाता है। क्योंकि क्रोध उस विवेक को नष्ट कर देता है। 'इसका परिपाक बहुत दुःखद होता है'; इस प्रकार के निरन्तर विचार से जीव क्रोध पर विजय पा लेता है। क्रोध पर विजय पा लेने से जीव के चित्त में क्षमाभाव आ जाता है। इस क्षमाभाव की पहचान यह है कि जीव इसके सद्भाव में दूसरे के कठोर—कटु वचनों को विना किसी उत्तेजना के सह लेता है। इस कारण क्रोध के उदय से बंधने वाले मोहनीयकर्मविशेष (क्रोधवेदनीय) का बन्ध नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है।

मान (अहंकार) एक कषायविशेष है। मान का निग्रह करने से जीव का परिणाम कोमल हो जाता है। फलतः इसके उदय से बंधने वाले मोहनीयकर्मविशेष का बन्ध नहीं होता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।

इसी तरह माया (कपट) पर विजय से सरलता को और लोभविजय से सन्तोष को प्राप्त होता है। और माया तथा लोभ के उदय से बंधने वाले मोहनीयकर्मविशेष का बंध नहीं करता और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है।[1]

राग-द्वेष-मिथ्यादर्शन-विजय का क्रमशः परिणाम—जब तक राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन रहता है, तब तक ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विराधना होती रहती है। इन पर विजय प्राप्त करने अर्थात् इनका निग्रह या निरोध करने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए व्यक्ति उद्यत हो जाता है। ज्ञानादि रत्नत्रय की निरतिचार विशुद्ध आराधना से आठ कर्मों की जो कर्मग्रन्थि है, अर्थात् घातिकर्मचतुष्टय का समूह है, साधक उसका भेदन कर डालता है, जिससे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो जाता है। उसके पश्चात् शेष रहे चार अघाती कर्मों को भी सर्वथा क्षीण कर देता है और अन्त में कर्मरहित हो जाता है।[2]

कर्मग्रन्थि तोड़ने का क्रम—प्रस्तुत सूत्र ७१ में जो कर्मग्रन्थि अर्थात् घातिकर्मचतुष्टय के क्षय का क्रम बताया है, उसका विवरण इस प्रकार है—वह सर्वप्रथम मोहनीयकर्म की २८ प्रकृतियों (१६ कषाय, ९ नोकषाय एवं सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-मिश्रमोहनीय) का क्षय करता है। बृहद्वृत्ति के अनुसार उसका क्रम यों है—सबसे पहले अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्टय के बहुभाग को अन्तर्मुहूर्त्त में क्षीण करता है, उसके अनन्तवें भाग को मिथ्यात्व के पुद्गलों में प्रक्षिप्त कर देता है। फिर उन प्रक्षिप्त पुद्गलों के साथ मिथ्यात्व के बहुभाग को क्षीण करता है और उसके अंश को सम्यग्-मिथ्यात्व में प्रक्षिप्त कर देता है। फिर उन प्रक्षिप्त पुद्गलों के साथ सम्यग्मिथ्यात्व को क्षीण करता है। तदनन्तर उसी प्रकार सम्यग्मिथ्यात्व के अंशसहित सम्यक्त्वमोह के पुद्गलों को क्षीण करता है। तदनन्तर सम्यक्त्वमोह के अवशिष्ट पुद्गलों सहित अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय-चतुष्टय को क्षीण करना प्रारम्भ कर देता है। उसके क्षयकाल में वह दो गति (नरक-तिर्यञ्च), दो आनुपूर्वी (नरकानुपूर्वी-तिर्यञ्चानुपूर्वी), जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति), आतप, उद्योत, स्थावरनाम, साधारण, अपर्याप्त, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि को क्षीण करता है। तत्पश्चात् इसके अवशिष्ट अंश को नपुंसकवेद में प्रक्षिप्त कर उसे क्षीण करता है, उसके अवशिष्टांश को स्त्रीवेद में प्रक्षिप्त कर उसे क्षीण करता है। उसके अवशिष्टांश को हास्यादि षट्क में प्रक्षिप्त कर उसेक्षीण करता है। मोहनीयकर्म का क्षय करने वाला यदि पुरुष हो तो पुरुषवेद के दो खण्डों को, स्त्री या नपुंसक हो तो अपने-अपने वेद के दो-दो खण्डों को हास्यादि षट्क के अवशिष्टांश-सहित क्षीण करता है। फिर वेद के तृतीय खण्ड सहित संज्वलन क्रोध को क्षीण करता है, इसी प्रकार पूर्वांशसहित संज्वलन मान-माया-लोभ को क्षीण करता है। तत्पश्चात् संज्वलन लोभ के संख्यात खण्ड किये जाते हैं। उनमें से प्रत्येक खण्ड को एक-एक अन्तर्मुहूर्त्त में क्षीण किया जाता है। उसके अन्तिम खण्ड के फिर असंख्यात सूक्ष्म खण्ड होते हैं, उनमें से प्रत्येक खण्ड को एक-एक समय में क्षीण

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ. ३५१ से ३५३ तक

२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २६०

किया जाता है। उसके भी अन्तिम खण्ड के असंख्यात सूक्ष्म खण्ड वनते हैं, उनमें से प्रत्येक खण्ड एक-एक समय में क्षीण किया जाता है। इस प्रकार मोहनीयकर्म सर्वथा क्षीण हो जाता है। मोहनीय-कर्म के क्षीण होते ही छद्मस्थ वीतराग (यथाख्यात) चारित्र की प्राप्ति होती है। जो अन्तर्मुहूर्त्त तक रहता है। उसके जब अन्तिम दो खण्ड शेष रहते हैं, तब पहले समय में निद्रा, प्रचला, देवगति, आनुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वज्रऋषभ के सिवाय शेष संहनन और समचतुरस्र के सिवाय शेष संस्थान, तीर्थंकर नामकर्म एवं आहारक नाम कर्म क्षीण हो जाते हैं। चरम समय में जो क्षीण होता है, वह प्रस्तुत सूत्र (७१) में उल्लिखित है। यथा—५ ज्ञानावरणीय, ६ दर्शनावरणीय और ५ अन्तराय, ये सब एक साथ ही क्षीण होते हैं। इस प्रकार घातिकर्मचतुष्टय के क्षीण होते ही केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्त शक्ति प्रकट हो जाते हैं।[१]

केवलज्ञानी से मुक्त होने तक—केवली के जब तक भवोपग्राही कर्म शेष रहते हैं, तब तक वह संसार में रहता है। उसकी स्थितिमर्यादा जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टतः देशोन करोड़ पूर्व की है। जब तक केवली उक्त स्थितिमर्यादा में सयोगी अवस्था में रहता है, तब उसके अनुभागबन्ध एवं स्थितिबन्ध नहीं होता, क्योंकि कषायभाव में ही कर्म का स्थिति-अनुभागबन्ध होता है। कषायरहित होने से केवली के मन-वचन-काया के योगों से ऐर्यापथिक कर्मबन्ध होता है, जिसकी स्थिति केवल दो समय की होती है। उसका बन्ध गाढ़ (निधत्त और निकाचित) नहीं होता। इसीलिए उसे बद्ध और स्पृष्ट कहा है। उसमें रागद्वेषजनित स्निग्धता न होने से दीवार पर लगे सूखे गोले की तरह पहले समय में कर्म बंधता है और दूसरे समय में झड़ जाता है। इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है—पहले समय में बद्ध स्पृष्ट होता है, दूसरे समय में उदीरित अर्थात्—उदयप्राप्त और वेदित होता है, तीसरे समय में वह निर्जीर्ण हो जाता है। अतः चौथे समय वह सर्वथा अकर्म बन जाता है अर्थात् उस कर्म की कर्म-अवस्था नहीं रहती। इससे आगे की अवस्था का वर्णन अगले सूत्र में किया गया है।[२]

केवली के योगनिरोध का क्रम

७३. अहाउयं पालइत्ता अन्तो-मुहुत्तद्धावसेसाउए जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइ सुक्कज्झाणं, झायमाणे, तप्पढमयाए मणजोगं निरुम्भइ, मणजोगं निरुम्भइत्ता वइजोगं निरुम्भइ, वइजोगं निरुम्भइत्ता, आणापाणुनिरोहं करेइ, आणापाणुनिरोहं करेइत्ता ईसि पंचरहस्सक्खरुच्चारद्धाए य णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं, आउयं, नामं, गोत्तं च एए चत्तारि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ ॥

[७३] (केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात्) शेष आयु को भोगता हुआ, जब अन्तर्मुहूर्त्त- परिमित आयु शेष रहती है, तब अनगार योगनिरोध में प्रवृत्त होता है। उस समय सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान को ध्याता हुआ सर्वप्रथम मनोयोग का निरोध करता है। फिर वचनयोग का निरोध करता है। उसके पश्चात् आनापान (अर्थात् श्वासोच्छ्वास) का निरोध करता है। श्वासोच्छ्वास का निरोध करके स्वल्प—(मध्यम गति से) पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण-काल

---

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ५९४ से ५९६ तक

४. (क) वही, पत्र ५९६ (ख) उत्तरज्झयणाणि टिप्पण (मु. नथमलजी), पृ. २४८-२४९

जितने समय में 'समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति' नामक (चतुर्थ) शुक्लध्यान में लीन हुआ अनगार वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र, इन चार कर्मों का—एक साथ क्षय करता है।

विवेचन—योगनिरोध : स्वरूप और क्रम—योगनिरोध का अर्थ है—मन, वचन और काय की प्रवृत्ति का सर्वथा रुक जाना। केवली की आयु जब अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है, तब वह योगनिरोध करता है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—शुक्लध्यान के तीसरे पाद में प्रवर्त्तमान साधक सर्वप्रथम प्रतिसमय मन के पुद्गलों और व्यापार का निरोध करते-करते असंख्यात समयों में उसका पूर्णतया निरोध कर लेता है। फिर वचन के पुद्गलों और व्यापार का प्रतिसमय निरोध करते-करते असंख्यात समयों में उसका (वचनयोग का) पूर्ण निरोध कर लेता है। तत्पश्चात् प्रतिसमय काययोग के पुद्गलों और व्यापार का निरोध करते-करते असंख्यात समयों में श्वासोच्छ्वास पूर्ण निरोध कर लेता है।[1]

शैलेशी-अवस्था-प्राप्ति : क्रम और अवधि—योगों का निरोध होते ही अयोगी या शैलेशी अवस्था प्राप्त हो जाती है। इसे अयोगीकेवलीगुणस्थान (१४ वां गुणस्थान) कहते हैं। न तो विलम्ब से और न शीघ्रता से, किन्तु मध्यमगति से 'अ इ उ ऋ लृ', इन पांच लघु अक्षरों का उच्चारण करने जितना काल १४ वें अयोगीकेवलीगुणस्थान की भूमिका का होता है। इस बीच 'समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति' नामक शुक्लध्यान का चतुर्थपाद होता है। इस ध्यान के प्रभाव से चार अघाती (भवोपग्राही) कर्म सर्वथा क्षीण हो जाते हैं। उसी समय आत्मा औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर को छोड़कर देहमुक्त होकर सिद्ध हो जाता है।

समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति शुक्लध्यान—वह है, जिसमें मानसिक, वाचिक एवं कायिक, समस्त क्रियाओं का सर्वथा अन्त हो जाता है तथा जो सर्वकर्मक्षय करने से पहले निवृत्त नहीं होता। यह शैलेशी अर्थात् मेरुपर्वत के समान निष्कम्प—अचल आत्मस्थिति है।[2]

मोक्ष की ओर जीव की गति एवं स्थिति का निरूपण

७४. तओ ओरालियकम्माइं च सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढिपत्ते, अफुसमाणगई, उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गन्ता, सागारोवउत्ते सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ, सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ ॥

एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेणं आघविए, पन्नविए, परूविए, दंसिए, उवदंसिए ॥ —त्ति बेमि।

[७४] उसके बाद वह औदारिक और कार्मण शरीर को सदा के लिए सर्वथा परित्याग कर देता है। संपूर्णरूप से इन शरीरों से रहित होकर वह ऋजुश्रेणी को प्राप्त होता है और एक समय में अस्पृशद्गतिरूप ऊर्ध्वगति से बिना मोड़ लिए (अविग्रहरूप से) सीधे वहाँ (लोकाग्र में) ज

१. (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र २६२.
(ख) औपपातिक सूत्र, सू. ४३

२. उत्तरा. (साध्वी चन्दना) (टिप्पण), पृ. ४५०

कर साकारोपयोगयुक्त (ज्ञानोपयोगी अवस्था में) सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और समस्त दुःखों का अन्त कर देता है।

श्रमण भगवान् महावीर द्वारा सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन का यह (पूर्वोक्त) अर्थ कहा गया है, प्रज्ञापित किया गया, (बताया गया) है, प्ररूपित किया गया है, दर्शित और उपदर्शित किया गया है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—ओरालियकम्माइं ··· विप्पजहित्ता : तात्पर्य—प्रस्तुत सू. ७४ में मुक्त होते समय जीव क्या छोड़ता है, क्या शेष रहता है ? कैसे और कितने समय में कहाँ जाता है ? इसका निरूपण करते हुए कहा है कि वह औदारिक और कार्मण शरीर का तथा उपलक्षण से तैजस शरीर का सदा के लिए सर्वथा त्याग करता है।[1]

श्रेणि और गति—श्रेणि दो प्रकार की होती है—ऋजु और वक्र। मुक्त जीव का उर्ध्वगमन ऋजुश्रेणि (आकाश प्रदेश की सरल-मोड़ रहित पंक्ति) से होता है, वक्र (मोड़ वाली) श्रेणि से नहीं। इसी प्रकार मुक्त जीव अस्पृशद्गति से जाता है, स्पृशद्गति से नहीं।[2]

अस्पृशद्गति : आशय—(१) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति के अनुसार स्वावगाढ़ आकाशप्रदेशों के स्पर्श के अतिरिक्त आकाशप्रदेशों का स्पर्श न करता हुआ जो गति करता है, वह अस्पृशद्गति है, (२) अभयदेव के अनुसार अन्तरालवर्ती आकाशप्रदेशों का स्पर्श न करते हुए गति करना अस्पृशद्गति है।[3]

साकारोपयोग युक्त का आशय—जीव साकारोपयोग में अर्थात् ज्ञान की धारा में ही मुक्त होता है।

॥ सम्यक्त्वपराक्रम : उनतीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. (क) उत्तरा: प्रियदर्शिनी भा. ४

(ख) 'औदारिककार्मणे शरीरे उपलक्षणत्वात्तैजसं च।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ५९७

२. (क) अनुश्रेणि गतिः। अविग्रहा जीवस्य (मुच्यमानस्य)। —तत्त्वार्थ. अ. २, २७-२८

(ख) प्रज्ञापना. पद १६

३. (क) अस्पृशद्गतिरिति-नायमर्थो यथा नायमाकाशप्रदेशान् स्पृशति, अपितु यावत्सु जीवोऽवगाढस्तावन्त एव स्पृशति, न तु ततोऽतिरिक्तमेकमपि प्रदेशम्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ५९७

(ख) अस्पृशन्ती सिद्धयन्तरालप्रदेशान् गतिर्यस्य सोऽस्पृशद्गतिः।

अन्तरालप्रदेशस्पर्शने हि नैकेन समयेन सिद्धिः॥ —औपपातिक, सूत्र ४३, वृत्ति पृ. २१६

तीसवाँ अध्ययन : तपोमार्गगति

अध्ययन-सार

※ प्रस्तुत अध्ययन का नाम तपोमार्गगति है। तपस्या के मार्ग की ओर गति—पुरुषार्थ का निर्देशक यह अध्ययन है।

※ तप मोक्षप्राप्ति का एक विशिष्ट साधन है। कर्मनिर्जरा और आत्मविशुद्धि का यह सर्वोत्कृष्ट साधन है। कोटि-कोटि साधकों ने तपःसाधना को अपना कर ही अपनी आत्मशुद्धि की, आत्मा पर लगे हुए कर्मदलिकों का क्षय किया और सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

※ किन्तु तप को सम्यक्रूप से आराधना करने का उपाय न जाना जाए, तप के साथ माया, निदान, मिथ्यादर्शन, भोगाकांक्षा, लौकिक फलाकांक्षा आदि दूषणों को जोड़ दिया जाए तो वह तप, मोक्षप्राप्ति या कर्ममुक्ति का साधन नहीं होता। इसलिए तप के साथ उसका सम्यक्मार्ग जानना भी आवश्यक है और उस पर गति—पुरुषार्थ करना भी। अतः यह सब प्रतिपादन करने वाला यह अध्ययन सार्थक है।

※ प्रस्तुत अध्ययन में तप के दो प्रकार कहे गए हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप के ६ प्रकार हैं—अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान (भिक्षाचर्या), कायक्लेश और प्रतिसंलीनता। बाह्यतप के आचरण से शरीरासक्ति, स्वादलोलुपता, कष्टसहिष्णुता, खानपान की लालसा आदि छूट जाते हैं। साधक भूख-प्यास पर विजय पा लेता है। ये सब साधना के विघ्न हैं। परन्तु देह की रक्षा धर्मपालन के लिए आवश्यक है। देहासक्ति विलासिता और प्रमाद को जन्म देती है। यह सोच कर देहासक्ति का त्याग करना तप बताया है।

※ आभ्यन्तर तप के भी ६ प्रकार बताए गए हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग।

प्रायश्चित्त से साधना में लगे दोषों का परिमार्जन एवं नये सिरे से अतिचार न लगाने की जागृति पैदा होती है। विनय से अभिमानमुक्ति, अष्टविध मदत्याग एवं पारस्परिक सहयोग-वृत्ति बढ़ती है। वैयावृत्त्य से सेवाभावना, सहिष्णुता बढ़ती है। स्वाध्याय से विकथा एवं व्यर्थ का वादविवाद, गपशप आदि छूट जाते हैं। ध्यान से चित्त की एकाग्रता, मानसिक शान्ति एवं नियंत्रण पाने की क्षमता बढ़ती है। व्युत्सर्ग से शरीर, उपकरण आदि के प्रति ममत्व का त्याग होता है।

※ तप से पूर्वसंचित कर्मो का क्षय, आत्मविशुद्धि, मन-वचन-काया की प्रवृत्ति का निरोध, अक्रियता, सिद्धि, मुक्ति प्राप्त होती है।

※ इसलिए प्रस्तुत अध्ययन तपश्चरण का विशुद्ध मार्ग निर्देशन करने वाला है। इसकी सम्यक् आराधना से जीव विशुद्धि की पूर्णता तक पहुँच जाता है। □□

तीसइमं अज्झयणं : तीसवाँ अध्ययन

तवमग्गगई : तपोमार्गगति

तप के द्वारा कर्मक्षय की पद्धति

१. जहा उ पावगं कम्मं राग-दोससमज्जियं।
खवेइ तवसा भिक्खू तमेगग्गमणो सुण ॥

[१] जिस पद्धति से तप के द्वारा भिक्षु राग और द्वेष से अर्जित पापकर्म का क्षय करता है, उस (पद्धति) को तुम एकाग्रमन होकर सुनो।

२. पाणवह-मुसावाया अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ जीवो भवइ अणासवो ॥

[२] प्राणिवध, मृषावाद, अदत्त (-आदान), मैथुन और परिग्रह से विरत तथा रात्रिभोजन से निवृत्त जीव अनाश्रव (आश्रवरहित) होता है।

३. पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ।
अगारवो य निस्सल्लो जीवो होइ अणासवो ॥

[३] पांच समिति और तीन गुप्ति से युक्त, (चार) कषाय से रहित, जितेन्द्रिय, (त्रिविध) गौरव (गर्व) से रहित और निःशल्य जीव अनाश्रव होता।

४. एएसिं तु विवच्चासे राग-द्दोससमज्जियं।
जहा खवयइ भिक्खू तं मे एगमणो सुण ॥

[४] इनसे (पूर्वोक्त अनाश्रव-साधना से) विपरीत (आचरण) करने पर रागद्वेष से उपार्जित किये हुए कर्मों का भिक्षु जिस प्रकार क्षय करता है, उसे एकाग्रचित्त हो कर सुनो।

५. जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे ॥

[५] जैसे किसी बड़े तालाब का जल, नया जल आने के मार्ग को रोकने से, पहले के जल को उलीचने से और सूर्य के ताप से क्रमशः सूख जाता है—

६. एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे।
भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जई ॥

[६] उसी प्रकार (नये) पापकर्मों के आश्रव (आगमन) को रोकने पर संयमी के करोड़ों भवों में संचित कर्म तपस्या से क्षीण (निर्जीर्ण) हो जाते हैं।

विवेचन—तप : निर्वचन और पूर्वकर्मक्षय—तप का निर्वचन दो प्रकार से किया गया है। (१) जो तपाता है, अर्थात् कर्मों को जलाता है, वह तप है। (२) जिससे रसादि धातु अथवा कर्म तपाए जाते हैं, अथवा कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है, वह तप है। प्रस्तुत दूसरी, तीसरी गाथा से स्पष्ट हो जाता है कि प्राणिवधादि से विरत, पांचसमिति-त्रिगुप्ति से युक्त, चार कषाय, तीन शल्य एवं तीन प्रकार के गौरव से रहित होकर साधक जब अनाश्रव हो जाता है, अर्थात् नये कर्मों के आगमन को रोक देता है, तभी वह पूर्वसंचित (पहले बंधे हुए) पाप कर्मों को तप के द्वारा क्षीण करने में समर्थ होता है। यही तपोमार्ग है, पुरातन कर्मों को क्षय करने का। उदाहरणार्थ—जैसे किसी महासरोवर का जल पानी आने के मार्ग को रोकने, पहले के पानी को रेंहट आदि साधनों से उलीच कर बाहर निकालने तथा सूर्य के ताप से सूख जाता है, इसी प्रकार पाप कर्मों के आश्रव को पूर्वोक्त पद्धति से रोकने पर तथा व्रत-प्रत्याख्यान आदि से पापकर्मों को निकाल देने एवं परीषहसहन आदि के ताप से उन्हें सुखा देने पर संयमी के पुराने (करोड़ों भवों में) संचित पापकर्म भी तप द्वारा क्षीण हो जाते हैं।[1]

तप के भेद-प्रभेद·

> **७. सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा।**
> **बाहिरो छव्विहो वुत्तो एवमब्भन्तरो तवो ॥**

[७] वह (पूर्वोक्त कर्मक्षयकारक) तप दो प्रकार का कहा गया है—बाह्य और आभ्यन्तर।

बाह्य तप छह प्रकार का है, इसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का कहा गया है।

विवेचन—बाह्य तप : स्वरूप और प्रकार—जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा रखता है, सर्वसाधारण जनता में जो तप नाम से प्रख्यात है, अथवा दूसरों को जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, जिसका सीधा प्रभाव शरीर पर पड़ता है, जो मोक्ष का बहिरंग कारण है, वह बाह्यतप कहलाता है।

भगवती आराधना में बाह्य तप का लक्षण इस प्रकार दिया है—बाह्य तप वह है, जिससे मन दुष्कृत (पाप) के प्रति उद्यत नहीं होता, जिससे आभ्यन्तर तप के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो और पूर्वगृहीत स्वाध्याय, व्रतादि योगों की जिससे हानि न हो। बाह्यतप ६ प्रकार का है, जिसका आगे वर्णन किया किया जायेगा।

---

१. (क) तापयति—अष्टप्रकारं कर्म दहतीति तपः। —आव. म. १ अ.
(ख) ताप्यन्ते रसादिधातवः कर्माण्यनेनेति तपः। —धर्म. अधि. ३
(ग) कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः। —राजवा. ९।६।१७
(घ) उत्तरा. वृत्ति, अभिधान रा. कोष भा. ४, पृ. २१९९
(ङ) कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम्। —पद्मनन्दिपंचविंशतिका १।९८
(च) तुलना कीजिए—'यथाऽग्निः संचितं तृणादि दहति तथा कर्म मिथ्यादर्शनाद्यर्जितं निर्दहतीति तप इति निरुच्यते।" देहेन्द्रियतापाद् वा ॥' —राजवार्तिक ९।२०-२१
(छ) "बारसविहेण तवसा णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्गभावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स ॥" —कार्तिकेयानुप्रेक्षा १०२

आभ्यन्तर तप : स्वरूप और प्रकार—जिनमें बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा न रहे, जो अन्तःकरण के व्यापार से होते हैं, जिनमें अन्तरंग परिणामों की मुख्यता रहती हो, जो स्वसंवेद्य हो, जिनसे मन का नियमन होता हो, जो विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा ही तप रूप में स्वीकृत होते हैं और जो मुक्ति के अन्तरंग कारण हों, वे आभ्यन्तर तप हैं।

आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है, जिसका निरूपण आगे किया जायेगा।[1]

बाह्य और आभ्यन्तर तप का समन्वय—अनशनादि तपश्चरण से शरीर और इन्द्रियाँ उद्रिक्त नहीं हो सकतीं, अपितु कृश हो जाती हैं। दूसरे, इनके निमित्त से सम्पूर्ण अशुभकर्म अग्नि के द्वारा इन्धन की तरह भस्मसात् हो जाते हैं, तीसरे, बाह्य तप प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप की वृद्धि में कारण हैं। बाह्य तपों के द्वारा शरीर कृश हो जाने से इन्द्रियों का मर्दन (दमन) हो जाता है। इन्द्रिय-दमन हो जाने पर मन अपना पराक्रम कैसे प्रकट कर सकता है? कितना ही बलवान् योद्धा हो, प्रतियोद्धा द्वारा अपना घोड़ा मारा जाने पर अवश्य ही हतोत्साह व निर्बल हो जाता है। आभ्यन्तर परिणामशुद्धि का चिह्न अनशनादि बाह्यतप है। बाह्य साधन (तप) होते ही अन्तरंगतप की वृद्धि होती है। रागादि के त्याग के साथ ही चारों प्रकार के आहार के त्याग को अनशन माना है। वस्तुतः बाह्य तप आभ्यन्तर तप के लिए है। अतः आभ्यन्तर तप प्रधान है। वह आभ्यन्तर तप शुभ और शुद्ध परिणामों से युक्त होता है। इसके बिना अकेला बाह्य तप पूर्ण कर्मनिर्जरा करने में असमर्थ है।[2]

---

१. (क) बाह्यं—बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् प्रायो मुक्त्यवाप्ति—बहिरंगत्वाच्च। आभ्यन्तर तद्विपरीतं, यदि वा लोक-प्रतीतत्वात् कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणासेव्यमानत्वाद् बाह्यम्, तदितरत्वादाभ्यन्तरम।.... अन्ये त्वाहुः—प्रायेणान्तःकरणव्यापाररूपमेवाभ्यन्तरम्। बाह्यं त्वन्यथेति। —बृहद्वृत्ति, पत्र ६००

(ख) बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम्। मनोनियमनार्थत्वादाभ्यन्तरत्वम्। —सर्वार्थसिद्धि ९।१९-२०

(ग) अनशनादि हि तीर्थ्यैः गृहस्थैश्च क्रियते, ततोऽप्यस्य बाह्यत्वम्। —राजवा. ९।१९।१९

(घ) बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् स्वसंवेद्यत्वतः परैः।
अनध्यक्षात्तपः प्रायश्चित्ताद्याभ्यन्तरं भवेत्॥ —अनगारधर्मामृत ३३ श्लो.

(ङ) सो णाम बाहिरतवो, जेण मणो दुक्कडं ण उट्ठेदि।
जेण य सड्ढा जायदि, जेण य जोगा ण हायंति॥ —भगवती आराधना, गा. २३६

(क) देहाक्षतपनात्कर्म दहनादान्तरस्य च।
तपसो वृद्धिहेतुत्वात् स्यात्तपोऽनशनादिकम्॥
बाह्यैस्तपोभिः कर्शनादक्षमर्दने।
छिन्नवाहो भट इव, विक्रामति कियन्मनः? —अनगारधर्मामृत ७।५-८

(ख) लिंगं च होदि आब्भंतरस्स सोधीए बाहिरा सोधी। —भगवती आराधना १३५० गा.

(ग) ण च चउव्विह-आहारपरिच्चागो चेव अणसणं।
रागादिहिं सह तच्चागस्स अणसणभावमब्भुवगमादो॥ —धवला १३।५

(घ) यद्धि यदर्थं तत्प्रधानमिति प्रधानताऽभ्यन्तरतपसः।
तच्च शुभशुद्धपरिणामात्मकं, तेन विना न निर्जरायै बाह्यमलम्॥ —भगवती आराधना वि. १३४८।१

वाह्यतप : प्रकार, अनशन के भेद-प्रभेद

८. अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य वज्झो तवो होइ ॥

[८] अनशन, ऊनोदरिका, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और (प्रति) संलीनता, यह (छह) वाह्य तप हैं ।

९. इत्तिरिया मरणकाले दुविहा अणसणा भवे ।
इत्तिरिया सावकंखा निरवकंखा विइज्जिया ॥

[९] अनशन तप के दो प्रकार हैं—इत्वरिक और आमरणकालभावी । इत्वरिक (अनशन) सावकांक्ष (निर्धारित उपवासादि अनशन के वाद पुनः भोजन की आकांक्षा वाला) होता है । आमरणकालभावी निरवकांक्ष (भोजन की आकांक्षा से सर्वथा रहित) होता है ।

१०. जो सो इत्तरियतवो सो समासेण छव्विहो ।
सेढितवो पयरतवो घणो य तह होइ वग्गो य ॥

११. तत्तो य वग्गवग्गो उ पंचमी छट्ठओ पइण्णतवो ।
मणइच्छिय—चित्तत्थो नायव्वो होइ इत्तरिओ ॥

[१०-११] इत्वरिक तप संक्षेप से छह प्रकार का है—(१) श्रेणितप, (२) प्रतरतप, (३) घनतप तथा (४) वर्गतप—

पाँचवाँ वर्ग वर्गतप और छठा प्रकीर्णतप । इस प्रकार मनोवांछित नाना प्रकार का फल देने वाला इत्वरिक अनशन तप जानना चाहिए ।

१२. जा सा अणसणा मरणे दुविहा सा वियाहिया ।
सवियार—अवियारा कायचिट्ठं पई भवे ॥

[१२] कायचेष्टा के आधार पर आमरणकालभावी जो अनशन है, वह दो प्रकार का कहा गया है—सविचार (करवट वदलने आदि चेष्टाओं से युक्त) और अविचार (उक्त चेष्टाओं से रहित) ।

१३. अहवा सपरिकम्मा अपरिकम्मा य आहिया ।
नीहारिमणीहारी आहारच्छेओ य दोसु वि ॥

[१३] अथवा आमरणाकलभावी अनशन के सपरिकर्म और अपरिकर्म, ये दो भेद हैं ।

अविचार अनशन के निर्हारी और अनिर्हारी, ये दो भेद भी होते हैं । दोनों में आहार का त्याग होता है ।

विवेचन—वाह्य तप से परम लाभ—यदि पूर्वकाल में(वाह्य)तप नहीं किया हो तो मरणकाल में समाधि चाहता हुआ भी साधक परीपहों को सहन नहीं कर सकता । विषयसुखों में आसक्त हो जाता है । वाह्य तप के आचरण से मन दुष्कर्म में प्रवृत्त नहीं होता, प्रायश्चित्तादि तपों में श्रद्धा होती है । वाह्य तप से पूर्व स्वीकृत व्रतादि का रक्षण होता है । वाह्य तप से सम्पूर्ण सुखस्वभाव का त्याग होता है, शरीरसंलेखना के उपाय की प्राप्ति होती है और आत्मा संसारभीरुता नामक गुण में स्थिर होता है ।[1]

---

१. भगवती आराधना मूल ९१, १९३

बाह्यतप के सुफल—(१) इन्द्रियदमन, (२) समाधियोग-स्पर्श, (३) वीर्यशक्ति का उपयोग, (४) जीवनसम्बन्धी तृष्णा का नाश, (५) संक्लेशरहित कष्टसहिष्णुता का अभ्यास, (६) देह, रस एवं सुख के प्रति अप्रतिबद्धता, (७) कषायनिग्रह, (८) भोगों के प्रति औदासीन्य, (९) समाधिमरण का स्थिर अभ्यास, (१०) अनायास आत्मदमन, (११) आहार के प्रति अनाकांक्षा का अभ्यास, (१२) अनासक्ति-वृद्धि, (१३) लाभ-अलाभ, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में समता, (१४) ब्रह्मचर्यसिद्धि, (१५) निद्राविजय, (१६) त्यागदृढता, (१७) विशिष्ट त्याग का विकास, (१८) दर्पनाश, (१९) आत्मा कुल, गण, शासन की प्रभावना, (२०) आलस्यत्याग, (२१) कर्मविशुद्धि, (२२) मिथ्यादृष्टियों में भी सौम्यभाव, (२३) मुक्तिमार्ग-प्रकाशन, (२४) जिनाज्ञाराधना, (२५) देहलाघव, (२६) शरीर के प्रति अनासक्ति, (२७) रागादि का उपशम, (२८) आहार परिमित होने से शरीर में नीरोगता, (२९) सन्तोषवृद्धि, (३०) आहारादि-आसक्ति-क्षीणता ।[1]

बाह्य तप के प्रयोजन—तत्त्वार्थसूत्र श्रुतसागरीय वृत्ति में बाह्य तप के विभिन्न प्रयोजन बताए हैं। जैसे कि **(१) अनशन के प्रयोजन**—रोगनाश, संयमदृढता, कर्मफल-विशोधन, सद्ध्यान-प्राप्ति और शास्त्राभ्यास में रुचि । **(२) ऊनोदरिका के प्रयोजन**—वात-पित्त-कफादिजनित दोषोप-शमन, ज्ञान-ध्यानादि की प्राप्ति, संयम में सावधानी, **(३) वृत्तिसंक्षेप**—भोज्य वस्तुओं की इच्छा का निरोध, भोजनचिन्ता-नियन्त्रण । **(४) रसपरित्याग**—इन्द्रियनिग्रह, निद्राविजय और स्वाध्याय-ध्यानरुचि । **(५) विविक्तशय्यासन**—ब्रह्मचर्यसिद्धि, स्वाध्याय-ध्यानसिद्धि और बाधाओं से मुक्ति, **(६) कायक्लेश**—शरीरसुख-वाञ्छा से मुक्ति, कष्टसहिष्णुता का स्थिर स्वभाव, धर्मप्रभावना ।[2]

मणइच्छिय-चित्तत्थो—बृहद्वृत्ति के अनुसार—(१) मनोवाञ्छित विचित्र प्रकार का फल देने वाला, (२) विचित्र स्वर्गापवर्गादि के या तेजोलेश्यादि के प्रयोजन वाला मन का अभीष्ट तप ।[3]

अनशन : प्रकार, स्वरूप—अनशन का अर्थ है—आहारत्याग । वह मुख्यतया दो प्रकार का है—इत्वरिक और आमरणकाल (यावत्कथिक) । **इत्वरिक अनशन** तप देश, काल, परिस्थिति आदि को ध्यान में रखते हुए शक्ति के अनुसार अमुक समय-विशेष की सीमा बांध कर किया जाता है। भगवान् महावीर के शासन में दो घड़ी से लेकर छह मास तक की सीमा है। औपपातिकसूत्र में इसके चौदह भेद बताए गए हैं—

१. चतुर्थभक्त—एक उपवास
२. षष्ठभक्त—दो दिन का उपवास (वेला)
३. अष्टमभक्त—तीन दिन का उपवास (तेला)
४. दशमभक्त—चार दिन का उपवास (चौला)
५. द्वादशभक्त—पांच दिन का उपवास (पंचौला)
६. चतुर्दशभक्त—छह दिन का उपवास
७. षोडशभक्त—सात दिन का उपवास
८. अर्धमासिकभक्त—१५ दिन का उपवास
९. मासिकभक्त—मासखमण—१ मास का उपवास
१०. द्वैमासिकभक्त—दो मास का उपवास
११. त्रैमासिकभक्त—तीन मास का उपवास
१२. चातुर्मासिकभक्त—४ मास का तप
१३. पाञ्चमासिकभक्त—५ मास का उपवा
१४. षाण्मासिकतप—६ मास का उपवास

---

१. मूलाराधना ३।२३७-२४४
२. तत्त्वार्थ. श्रुतसागरीय वृत्ति ९।२०
३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०१ (ख) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा. २, पत्र २६५

वीसवाँ अध्ययन : महानिर्ग्रन्थीय

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'महानिर्ग्रन्थीय' (महानियंठिज्ज) है। महानिर्ग्रन्थ की चर्या तथा मौलिक सिद्धान्तों और नियमों से सम्बन्धित वर्णन होने के कारण इसका नाम 'महानिर्ग्रन्थीय' रखा गया है।
* प्रस्तुत अध्ययन में श्रेणिक नृप द्वारा मुनि से पूछे जाने पर उनके द्वारा स्वयं को 'अनाथ' कहने पर चर्चा का सूत्रपात हुआ है और वाद में मुनि द्वारा अपनी अनाथता और सनाथता का वर्णन करने पर तथा अन्त में अनाथता के विविध रूप वताये जाने पर सनाथ-अनाथ का रहस्योद्घाटन हुआ है।
* मगधसम्राट् श्रेणिक एक वार घूमने निकले। वे राजगृह के वाहर पर्वत की तलहटी में स्थित मण्डिकुक्ष नामक उद्यान में पहुँच गए। वहाँ उन्होंने एक तरुण मुनि को ध्यानस्थ देखा। मुनि के अनुपम सौन्दर्य, रूप-लावण्य आदि को देख कर विस्मित राजा ने सविनय पूछा—'मुनिवर! यह तरुण अवस्था तो भोग के योग्य है। आपका यह सुन्दर, दीप्तिमान् एवं स्वस्थ शरीर सांसारिक सुख भोगने के लिए है। इस अवस्था में आप मुनि क्यों वने?' मुनि ने कहा—'राजन्! मैं अनाथ था, इस कारण साधु वना!' राजा को यह सुन कर और अधिक आश्चर्य हुआ।

राजा—'आपका इतना सुन्दर रूप, शरीरसौष्ठव आपकी अनाथता की साक्षी नहीं देता। फिर भी यदि किसी अभाव के कारण आप अनाथ थे, या कोई संरक्षक-अभिभावक नहीं था, तो लो मैं आपका नाथ वनता हूँ। आप मेरे यहाँ रहें, मैं धन, धाम, वैभव तथा समस्त प्रकार की भोगसामग्री आपको देता हूँ।'

मुनि—'राजन्! आप स्वयं अनाथ हैं, फिर दूसरों के नाथ कैसे वनेंगे?'

राजा—'मैं अपार सम्पत्ति का स्वामी हूँ, मेरे आश्रित सारा राजपरिवार, नौकर-चाकर, सुभट, हाथी, घोड़े, रथ आदि हैं। समस्त सुखभोग के साधन मेरे पास हैं। फिर मैं अनाथ कैसे?'

मुनि—'राजन्! आप सनाथ-अनाथ के रहस्य को नहीं समझते, केवल धन-सम्पत्ति होने मात्र से कोई सनाथ नहीं हो जाता। जव समझ लेंगे, तव स्वयं ज्ञात हो जाएगा कि आप अनाथ हैं या सनाथ! मैं अपनी आपवीती सुनाता हूँ। मेरे पिता कौशाम्वी के धनाढ्य-शिरोमणि थे। मेरा कुल सम्पन्न था। मेरा विवाह उच्च कुल में हुआ। एक वार मुझे असह्य नेत्र-पीड़ा उत्पन्न हुई। मेरे पिताजी ने पानी की तरह पैसा वहा कर मेरी चिकित्सा के लिये वैद्य, मंत्रवादी, तंत्रवादी आदि वुलाए, उनके सव प्रयत्न व्यर्थ हुए। मेरी माता, मेरी सगी वहनें, भाई सव मिलकर रोगनिवारण के प्रयत्न में जुट गए, परन्तु वे किसी भी तरह नहीं मिटा सके। मेरी पत्नी रात-

उपवास करके पुन: क्रमश: एक-एक कम करते-करते एक उपवास पर आ जाना आदि भी इसी तप में आ जाते हैं ।[1]

आमरणकालभावी अनशन—आमरणान्त अनशन संथारा कहलाता है । वह सविचार और अविचार भेद से दो प्रकार का है ।

सविचार—उसे कहते हैं, जिसमें उद्वर्तन-परिवर्तन (करवट बदलने) आदि कायचेष्टाएँ होती हैं । **भक्तप्रत्याख्यान** और **इंगिनीमरण** ये दोनों सविचार हैं । **भक्तप्रत्याख्यान** में अनशन-कर्त्ता स्वयं भी करवट आदि बदल सकता है, दूसरों से भी इस प्रकार की सेवा ले सकता है । यह अनशन दूसरे साधुओं के साथ रहते हुए भी हो सकता है । यह इच्छानुसार त्रिविधाहार या चतुर्विधाहार के प्रत्याख्यान से किया जा सकता है । इंगिनीमरण में अनशनकर्त्ता एकान्त में एकाकी रहता है । यथाशक्ति स्वयं तो करवट आदि की क्रियाएँ कर सकता है, लेकिन इसके लिए दूसरों से सेवा नहीं ले सकता ।

अविचार—वह है, जिसमें करवट आदि की कायचेष्टाएँ न हों । यह पादपोपगमन होता है । 'मूलाराधना' के अनुसार जिसकी मृत्यु अनागाढ (तात्कालिक होने वाली नहीं) है, ऐसे पराक्रमयुक्त साधक का भक्तप्रत्याख्यान **सविचार** कहलाता है और मृत्यु की आकस्मिक (आगाढ) सम्भावना होने पर जो भक्तप्रत्याख्यान किया जाता है, वह **अविचार** कहलाता है । इसके तीन भेद हैं—निरुद्ध (रोगातंक से पीड़ित होने पर),निरुद्धतर (मृत्यु का तात्कालिक कारण उपस्थित होने पर) और परम-निरुद्ध (सर्पदंश आदि कारणों से वाणी रुक जाने पर) । दिगम्बर परम्परा में इसके लिए 'प्रायोपगमन' शब्द मिलता है । वृक्ष कट कर जिस अवस्था में गिर जाता है, उसी स्थिति में पड़ा रहता है, उसी प्रकार गिरिकन्दरा आदि शून्य स्थानों में किया जाने वाला पादपोपगमन अनशन में भी जिस आसन का उपयोग किया जाता है, अन्त तक उसी आसन में स्थिर रहा जाता है । आसन, करवट आदि बदलने की कोई चेष्टा नहीं की जाती । पादपोपगमन अनशनकर्त्ता अपने शरीर की शुश्रूषा न तो स्वयं करता है और न ही किसी दूसरे से करवाता है ।

प्रकारान्तर से मरणकालीन अनशन के दो प्रकार हैं—सपरिकर्म (बैठना, उठना, करवट बदलना आदि परिकर्म से सहित) और अपरिकर्म । भक्तप्रत्याख्यान और इंगिनीमरण **'सपरिकर्म'** होते हैं और पादपोपगमन नियमत: **'अपरिकर्म'** होता है । अथवा संलेखना के परिकर्म से सहित और उससे रहित को भी **'सपरिकर्म'** और **'अपरिकर्म'** कहा जाता है । संल्लेखना का अर्थ है—विधिवत् क्रमश: अनशनादि तप करते हुए शरीर, कषायों, इच्छाओं एवं विकारों को क्रमश: क्षीण करना, अन्तिम मरणकालीन अनशन की पहले से ही तैयारी रखना ।

निर्हारिम-अनिर्हारिम अनशन—अन्य अपेक्षा से भी अनशन के दो प्रकार हैं—निर्हारिम और अनिर्हारिम । वस्ती से बाहर पर्वत आदि पर जाकर जो अन्तिम समाधि-मरण के लिए अनशन किया जाता है और जिसमें अन्तिम संस्कार की अपेक्षा नहीं रहती, वह **अनिर्हारिम** है और जो वस्ती में

---

१. (क) उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ६०१ (ख) औपपातिक सू. १९

ही किया जाता है, अतएव अन्तिम संस्कार की आवश्यकता होती है, वह निर्हारिम है।[1]

२. अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप : स्वरूप और प्रकार

१४. ओमोयरियं पंचहा समासेण वियाहियं।
दव्वओ खेत्त-कालेणं भावेणं पज्जवेहि य॥

[१४] संक्षेप में अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायों की अपेक्षा से पांच प्रकार का कहा गया है।

१५. जो जस्स उ आहारो तत्तो ओमं तु जो करे।
जहन्नेणेगसित्थाई एवं दव्वेण ऊ भवे॥

[१५] जिसका जो (परिपूर्ण) आहार है, उसमें जो जघन्य एक सिक्थ (अन्नकण) कम करता है (या एक ग्रास आदि के रूप में कम भोजन करता है), वह द्रव्य से 'ऊनोदरी तप' है।

१६. गामे नगरे तह रायहाणि निगमे य आगरे पल्ली।
खेडे कब्बडं—दोणमुहपट्टण—मडम्ब—संबाहे॥

१७. आसमपए विहारे सन्निवेसे समाय—घोसे य।
थलि—सेणाखन्धारे सत्थे संवट्ट कोट्टे य॥

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०२-६०३ (ख) मूलाराधना ८।२०४२,४३,६४,
(ग) वही, विजयोदयावृत्ति ८।२०६४
(घ) दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमथ अविचारं।
सविचारमणागाढे, मरणे सपरिक्कमस्स हवे।
तत्थ अविचारभत्तपइण्णा मरणम्मि होइ आगाढो।
अपरिक्कम्मस्स मुणिणो, कालम्मि असंपुहुत्तम्मि॥
—मूलाराधना २।६५, ७।२०११,२०१३,२०१५,२०२१,२०२२
(ङ) औपपातिक. सूत्र १९ (च) समवायांग, समवाय १७
(छ) सह परिकर्मणा—स्थान—निषदन-त्वग्वर्त्तनादि विश्रामणादिना च वर्त्तते यत्तत् सपरिकर्म। अपरिकर्म च तद्विपरीतम्। यद्वा परिकर्म—संलेखना, सा यत्रास्तीति तत् सपरिकर्म, तद्विपरीतं तु अपरिकर्म।
—बृहद्वृत्ति, पत्र ६०२-६०३
(ज) पादपस्येवोपगमनम्—अस्पन्दतयाऽवस्थानं पादपोपगमनम्। —औपपातिक वृत्ति, पृ. ७१
(झ) पाओवगमणमरणस्स—प्रायोपगमनमरणम्। —मूलाराधना, विजयोदया ८।२०६३
(ञ) विचरणं नानागमनं विचार:, विचारेण वर्त्तते इति सविचारम् एतदुक्तं भवति।—मूला. विजयोदया २।६५
..........अविचारं अनियतविहारादिविचारणाविरहात्।
—मूला. दर्पण ७।२०१५
(ट) यद्वसतेरेकदेशे विधीयते तत्तत: शरीरस्य निर्हरणात्—निस्सारणान्निर्हारिमम्।
यत्पुनर्गिरिकन्दरादौ तदनिर्हरणादनिर्हारिमम्।—स्थानांगवृत्ति, २।४।१०२

१८. वाडसु व रत्थासु व घरेसु वा एवमित्तियं खेत्तं ।
कप्पइ उ एवमाई एवं खेत्तेण ऊ भवे ॥

[१६-१७-१८] ग्राम, नगर, राजधानी, निगम, आकर, पल्ली, खेड़, कर्वट, द्रोणमुख, पत्तन, मण्डप, सम्बाध-आश्रमपद, विहार, सन्निवेश, समाज, घोष, स्थली, सेना का शिविर (छावनी), सार्थ, संवर्त्त और कोट, वाट (बाड़ा या पाड़ा), रथ्या (गली) और घर, इन क्षेत्रों में, अथवा इसी प्रकार के दूसरे क्षेत्रों में (पूर्व) निर्धारित क्षेत्र-प्रमाण के अनुसार (भिक्षा के लिए जाना), इस प्रकार का कल्प, क्षेत्र से अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप है ।

१९. पेडा य अद्धपेडा गोमुत्ति पयंगवीहिया चेव ।
सम्बुक्कावट्टाऽऽययगन्तुं पच्चागया छट्ठा ॥

[१९] अथवा (प्रकारान्तर से) पेटा, अर्द्ध पेटा, गोमूत्रिका, पतंगवीथिका, शम्बूकावर्ता और आयतगत्वा-प्रत्यागता—यह छह प्रकार का क्षेत्र से ऊनोदरी तप है ।

२०. दिवसस्स पोरुसीणं चउण्हं पि उ जत्तिओ भवे कालो ।
एवं चरमाणो खलु कालोमाणं मुणेयव्वो ॥

[२०] दिन के चार पहरों (पौरुषियों) में भिक्षा का जितना नियत काल हो, उसी में (तदनुसार) भिक्षा के लिए जाना, (भिक्षाचर्या करने) वाले मुनि के काल से अवमौदर्य (—ऊनोदरी) तप समझना चाहिए ।

२१. अहवा तइयाए पोरिसीए ऊणाइ घासमेसन्तो ।
चउभागूणाए वा एवं कालेण ऊ भवे ॥

[२१] अथवा तीसरी पौरुषी (प्रहर) में कुछ भाग न्यून अथवा चतुर्थ भाग आदि न्यून (प्रहर) में भिक्षा की एषणा करना, इस प्रकार काल की अपेक्षा से ऊनोदरी तप होता है ।

२२. इत्थी वा पुरिसो वा अलंकिओ वाऽणलंकिओ वा वि ।
अन्नयरवयत्थो वा अन्नयरेणं व वत्थेणं ॥

२३. अन्नेण विसेसेणं वण्णेणं भावमणुमुयन्ते उ ।
एवं चरमाणो खलु भावोमाणं मुणेयव्वो ॥

[२२-२३] स्त्री अथवा पुरुष, अलंकृत अथवा अनलंकृत; या अमुक आयु वाले अथवा अमुक वस्त्र वाले; अमुक विशिष्ट वर्ण एवं भाव से युक्त दाता से भिक्षा ग्रहण करूंगा; अन्यथा नहीं, इस प्रकार के अभिग्रहपूर्वक (भिक्षा) चर्या करने वाले भिक्षु के भाव से अवमौदर्य (ऊनोदरी) तप होता है ।

२४. दव्वे खेत्ते काले भावम्मि य आहिया उ जे भावा ।
एएहि ओमचरओ पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥

[२४] द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो पर्याय (भाव) कहे गए हैं, उन सब से भी अवम-चर्या (अवमौदर्य तप) करने वाला भिक्षु पर्यवचरक कहलाता है।

विवेचन—अवमौदर्य : सामान्य स्वरूप—अवमौदर्य का प्रचलित नाम '**ऊनोदरी**' है। इसलिए सामान्यतया इसका अर्थ होता है—उदर में भूख से कम आहार डालना। किन्तु प्रस्तुत में इसके भावार्थ को लेकर द्रव्यतः—(उपकरण, वस्त्र या भक्तपान की आवश्यक मात्रा में कमी करना), क्षेत्रतः, कालतः एवं भावतः तथा पर्यायतः अवमौदर्य की अपेक्षा से इसका व्यापक एवं विशिष्ट अर्थ किया है। निष्कर्ष यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं पर्याय की दृष्टि से आहारादि सब में कमी करना अवमौदर्य या ऊनोदरी तप है।[1]

अवमौदर्य के प्रकार—प्रस्तुत ११ गाथाओं (गा. १४ से २४ तक) में अवमौदर्य के पांच प्रकार बताए हैं—(१) द्रव्य-अवमौदर्य, (२) क्षेत्र-अवमौदर्य, (३) काल-अवमौदर्य, (४) भाव-अवमौदर्य एवं (५) पर्याय-अवमौदर्य। औपपातिकसूत्र में इसके मुख्य दो भेद बताए हैं—द्रव्यतः अवमौदर्य और (२) भावतः अवमौदर्य। फिर द्रव्यतः अवमौदर्य के २ भेद किये हैं—(१) उपकरण-अवमौदर्य, (२) भक्त-पान-अवमौदर्य। फिर भक्त-पान-अवमौदर्य के ५ उपभेद किये गए हैं—(१) एक कवल से आठ कवल तक खाने पर **अल्पाहार** होता है। (२) आठ से बारहग्रास तक खाने पर **अपार्द्ध अवमौदर्य** होता है, (३) तेरह से सोलह कवल तक खाने पर **अर्द्ध अवमौदर्य** है। (४) सत्रह से चौबीस कवल तक खाने पर **पौन-अवमौदर्य** तथा (५) पच्चीस से तक इकतीस कौर लेने पर **किंचित् अवमौदर्य** होता है।

ऊनोदरी तप का कितना सुन्दर स्वरूप बताया गया है। वर्तमान युग में इस तप की बड़ी आवश्यकता है। इसके फल हैं—निद्राविजय, समाधि, स्वाध्याय, परम-संयम एवं इन्द्रियविजय आदि।

क्रोध, मान, माया, लोभ, कलह आदि को घटाना भावतः अवमौदर्य है।[2]

कुछ विशिष्ट शब्दों के विशेषार्थ—ग्राम—बुद्धि या गुणों का जहाँ ग्रास (ह्रास) हो। **नगर**—जहाँ कर न लगता हो। **निगम**—व्यापार की मंडी। **आकर**—सोने आदि की खान। **पल्ली**—(ढाणी) वन में साधारण लोगों या चोरों की वस्ती। **खेट**—खेड़ा, धूल के परकोटे वाला ग्राम। **कर्बट**—कस्वा (छोटा नगर)। **द्रोणमुख**—बंदरगाह, अथवा आवागमन के जल-स्थल उभयमार्ग वाली वस्ती। **पत्तन**—जहाँ सभी ओर से लोग आकर रहते हों। **मडंब**—जिसके निकट ढाई तक कोई ग्राम न हो। **सम्बाध**—जहाँ ब्राह्मणादि चारों वर्णों की प्रचुर संख्या में वस्ती हो। **विहार**—मठ या देवमन्दिर। **सन्निवेश**—पड़ाव या मोहल्ला या यात्री-विश्रामस्थान। **समाज**—सभा या परिषद्। **स्थली**—ऊँचे टीले वाला या ऊँचा स्थान। **घोष**—ग्वालों की वस्ती। **सार्थ**—सार्थवाहों का चलता-फिरता पड़ाव। **संवर्त्त**—भयग्रस्त एवं विचलित लोगों की वस्ती। **कोट्ट**—किला, कोट या प्राकार

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २६७

२. (क) औपपातिक. सूत्र १९ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ. ३९२

(ग) मूलाराधना ३।२११ (अमितगति) पृ. ४२८

आदि। **वाट**—चारों ओर कांटों या तारों की बाड़ लगाया हुआ स्थान, बाड़ा या पाड़ा (मोहल्ला)। **रथ्या**—गली।[1]

क्षेत्र—अवमौदर्य : स्वरूप और प्रकार—भिक्षाचर्या की दृष्टि से क्षेत्र की सीमा कम कर लेना क्षेत्र-अवमौदर्य है। इसके लिए यहाँ गा. १६ से १८ तक में ग्राम से लेकर गृह तक २५ प्रकार के तथा ऐसे ही क्षेत्रों की निर्धारित सीमा में कमी करना बताया है।

गाथा १९ में दूसरे प्रकार से क्षेत्र-अवमौदर्य बताया है, वह भिक्षाचरी के क्षेत्र में कमी करने के अर्थ में है। इसके ६ भेद हैं—(१) **पेटा**—जैसे—पेटी (पेटिका) चौकोर होती है, वैसे ही बीच के घरों को छोड़ कर चारों श्रेणियों में भिक्षाचरी करना। (२) **अर्धपेटा**—केवल दो श्रेणियों से भिक्षा लेना, (३) **गोमूत्रिका**—चलते बैल के मूत्र की रेखा की तरह वक्र अर्थात् टेढ़े-मेढ़े भ्रमण करके भिक्षाटन करना। (४) **पतंगवीथिका**—जैसे पतंग उड़ता हुआ बीच में कहीं-कहीं चमकता है, वैसे ही बीच-बीच में घरों को छोड़ते हुए भिक्षाचरी करना। (५) **शम्बूकावर्त्ता**—शंख के आवर्त्तों की तरह गाँव के बाहरी भाग से भिक्षा लेते हुए अन्दर में जाना, अथवा गाँव के अन्दर से भिक्षा लेते हुए बाहर की ओर जाना। इस प्रकार ये दो प्रकार हैं। (६) **आयतं गत्वा-प्रत्यागता**—गाँव की सीधी-सरल गली में अन्तिम घर तक जाकर फिर वापिस लौटते हुए भिक्षाचर्या करना। इसके भी दो भेद हैं—(१) जाते समय गली की एक पंक्ति से और आते समय दूसरी पंक्ति से भिक्षा ग्रहण करना, अथवा (२) एक ही पंक्ति से भिक्षा लेना, दूसरी पंक्ति से नहीं।[2]

इस प्रकार के संकल्पों (प्रतिमाओं) से ऊनोदरी होती है, अतएव इन्हें क्षेत्र-अवमौदर्य में परिगणित किया गया है।

३. भिक्षाचर्यातप

२५. अट्ठविहगोयरग्गं तु तहा सत्तेव एसणा।
अभिग्गहा य जे अन्ने भिक्खायरियमाहिया॥

[२५] आठ प्रकार के गोचराग्र, सात प्रकार की एषणाएँ तथा अन्य अनेक प्रकार के अभिग्रह—भिक्षचर्यातप है।

विवेचन—अष्टविध गोचराग्र : स्वरूप एवं प्रकार—आठ प्रकार का अग्र—अर्थात् (अकल्प्य-पिण्ड का त्याग कर देने से) प्रधान; जो गोचर अर्थात्—(उच्च-नीच-मध्यम समस्त कुलों (घरों) में सामान्य रूप से) गाय की तरह भ्रमण (चर्या) करना अष्टविध गोचराग्र कहलाता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि प्रधान गोचरी के ८ भेद हैं। इन आठ प्रकार के गोचराग्र में पूर्वोक्त पेटा, अर्धपेटा आदि छह प्रकार और शम्बूकावर्त्ता तथा 'आयतं गत्वा प्रत्यागता' के वैकल्पिक दो भेद मिलाने से कुल आठ भेद गोचराग्र के होते हैं।[3]

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ. ३९३

२. (क) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) टिप्पण पृ. ४५३-४५४ (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५-६०६
(ग) प्रवचनसारोद्धार गा. ७४७-७४८ (घ) स्थानांग ६।५१४ वृत्ति, पत्र ३४७

३. (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २७०
(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०५ (ग) प्रवचनसारोद्धार ७४८-७४९ गा. ७४५

सात प्रकार की एषणाएँ—सात प्रकार की एषणाएँ सप्तविध प्रतिमाएँ (प्रतिज्ञाएँ) हैं। प्रत्येक प्रतिमा एक प्रकार से तप का रूप है। क्योंकि उसी में सन्तोष करना होता है। ये सात एषणाएँ इस प्रकार हैं—(१) **संसृष्टा**—खाद्य वस्तु से लिप्त हाथ या वर्तन से भिक्षा लेना। (२) **असंसृष्टा**—अलिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेना। (३) **उद्धृता**—गृहस्थ द्वारा स्वप्रयोजनवश पकाने के पात्र से दूसरे पात्र में निकाला हुआ आहार लेना। (४) **अल्पलेपा**—अल्पलेप वाली चना, चिउड़ा आदि रूखी वस्तु लेना। (५) **अवगृहीता**—खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना। (६) **प्रगृहीता**—परोसने के लिए कड़छी या चम्मच आदि से निकाला हुआ आहार लेना। (७) **उज्झितधर्मा**—अमनोज्ञ एवं त्याज्य (परिष्ठापनयोग्य) भोजन लेना।

भिक्षाचर्या : वृत्तिसंक्षेप एवं वृत्तिसंख्यान—भिक्षाचर्या तप केवल साधु-साध्वियों के लिए है, गृहस्थों के लिए इसका औचित्य नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र में इसका नाम **'वृत्तिपरिसंख्यान'** मिलता है, जिसका अर्थ किया गया है—वृत्ति अर्थात्—आशा (लालसा) की निवृत्ति के लिए भोज्य वस्तुओं (द्रव्यों) की गणना करना कि मैं आज इतने द्रव्य से अधिक नहीं लगाऊँगा—यानी सेवन नहीं करूंगा, या मैं आज एक वस्तु का ही भोजन या अमुक पानमात्र ही करूंगा, इत्यादि प्रकार के संकल्प करना वृत्तिपरिसंख्यान है। वृत्तिपरिख्यान तप का अर्थ भगवती आराधना में किया गया है—आहार-संज्ञा पर विजय प्राप्त करना। विकल्प से वृत्तिसंक्षेप या वृत्तिपरिसंख्यान का अर्थ—भिक्षावृत्ति की पूर्वोक्त अष्टविध प्रतिमाएँ ग्रहण करना, ऐसा किया गया है। अथवा विविध प्रकार के अभिग्रहों का ग्रहण भी वृत्तिपरिसंख्यान है। इस प्रकार से भिक्षावृत्ति को विविध अभिग्रहों द्वारा संक्षिप्त करना वृत्तिसंक्षेप है।[२]

मूलाराधना में संसृष्ट, फलिहा, परिखा आदि वृत्तिसंक्षेप के ८ प्रकार अन्य रूप में मिलते हैं तथा औपपातिकसूत्र में वृत्तिसंक्षेप के 'द्रव्याभिग्रहचरक' से लेकर 'संख्यादत्तिक' तक ३० प्रकार बतलाए गए हैं। इन सबका अर्थ भिक्षापरक है।[३]

४. रसपरित्यागतप : एक अनुचिन्तन

२६. खीर—दहि—सप्पिमाई पणीयं पाणभोयणं।
परिवज्जणं रसाणं तु भणियं रसविवज्जणं॥

[२६] दूध, दही, घी आदि प्रणीत (स्निग्ध एवं पौष्टिक) पान, भोजन तथा रसों का त्याग करना रसपरित्यागतप है।

---

१. (क) प्रवचनसारोद्धार गाथा ६८७ से ७४३ तक
   (ख) स्थानांग, ७।५४५ वृत्ति, पत्र ५८६, समवायांग, समवाय ६
   (ग) मूलाराधना, विजयोदयावृत्ति ३।२२०

२. (क) सर्वार्थसिद्धि ९।१९।४३८।८ (ख) भगवती आराधना वि. ६।३२।१९
   (ग) धवला १३।५ (घ) भगवती आराधना मूल, २१९-२२१

३. (क) मूलाराधना ३।२२० विजयोदया (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६०७
   (ग) मूलाराधना ३।२०१ (घ) औपपातिकवृत्ति, सूत्र १९

विवेचन—रसपरित्याग के विशिष्ट फलितार्थ—प्रस्तुत गाथा से रसपरित्याग के दो अर्थ फलित होते हैं—(१) दूध, दही, घी आदि रसों का त्याग और (२) प्रणीत (स्निग्ध) पान-भोजन का त्याग। औपपातिकसूत्र में रसपरित्याग के विभिन्न प्रकार बतलाए हैं—(१) निर्विकृति (विकृति-विगई का त्याग), (२) प्रणीतरसत्याग, (३) आचामाम्ल (अम्लरस मिश्रित भात आदि का आहार), (४) आयामसिक्थ भोजन (ओसामण मिले हुए अन्नकण का भोजन), (५) अरस (हींग से असंस्कृत) आहार, (६) विरस (पुराने धान्य का) आहार, (७) अन्त्य (वालोर आदि तुच्छ धान्य का) आहार, (८) प्रान्त्य (शीतल) आहार एवं (९) रूक्ष आहार।[1]

विकृति : स्वरूप और प्रकार—जिन वस्तुओं से जिह्वा और मन, दोनों विकृत होते हैं, ये स्वादलोलुप या विषयलोलुप बनते हैं, उन्हें 'विकृति' कहते हैं। विकृतियाँ सामान्यतया ५ मानी जाती हैं—दूध, दही, घी, तेल एवं गुड़ (मीठा या मिठाइयाँ)। ये चार महाविकृतियाँ मानी जाती हैं—मधु, नवनीत, मांस और मद्य। इनमें मद्य और मांस दो तो सर्वथा त्याज्य हैं। पूर्वोक्त ५ में से किसी एक का या इन सबका त्याग करना रसपरित्याग है। पं. आशाधरजी ने विकृति के ४ प्रकार बताए हैं—(१) **गोरसविकृति**—दूध, दही, घी, मक्खन आदि, (२) **इक्षुरसविकृति**—गुड़, चीनी, मिठाई आदि, (३) **फलरसविकृति**—अंगूर, आम आदि फलों के रस, और (४) **धान्यरस-विकृति** तेल, मांड, पूड़े, हरा शाक, दाल आदि। रसपरित्याग करने वाला शाक, व्यंजन, तली हुई चीजों, नमक आदि मसालों को इच्छानुसार वर्जित करता है।[2]

रसपरित्याग का प्रयोजन और परिणाम—इस तप का प्रयोजन स्वादविजय है। इस तप के फलस्वरूप साधक को तीन लाभ होते हैं—(१) संतोष की भावना, (२) ब्रह्मचर्य-साधना एवं (३) सांसारिक पदार्थों से विरक्ति।[3]

५. कायक्लेशतप

२७. ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहियं॥

[२७] आत्मा के लिए सुखावह वीरासन आदि उग्र आसनों का जो अभ्यास किया जाता है, उसे कायक्लेश तप कहा गया है।

विवेचन—कायक्लेश का लक्षण—शरीर को जानबूझ कर स्वेच्छा से विना ग्लानि के कठिन

---

१. (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २,
(ख) औपपातिकवृत्ति, सूत्र १९

२. (क) सागारधर्मामृतटीका ५।३५
(ख) मूलाराधना ३।२१३
(ग) स्थानांग. स्थान ४।१।२७४ (घ) वही, ९।६७४
(ङ) सागारधर्मामृत ५।३५ टीका (च) मूलाराधना ३।२१५

३. संतोषो भावितः सम्यग् ब्रह्मचर्यं प्रपालितम्।
दर्शितं स्वस्य वैराग्यं, कुर्वाणेन रसोज्झनम्॥ —मूलाराधना (अमितगति) ३।२१७

तप की अग्नि में झोंकना एवं शरीर को सुख मिले, ऐसी भावना को त्यागना कायक्लेश है। प्रस्तुत गाथा में कायक्लेश का अर्थ किया गया है—वीरासन आदि कठोर आसनों का अभ्यास करना। स्थानांगसूत्र में कायक्लेश में ७ बातें निर्दिष्ट हैं—(१) स्थान-कायोत्सर्ग, (२) उकडू-आसन, (३) प्रतिमा-आसन, (४) वीरासन, (५) निषद्या, (६) दण्डायत-आसन और (७) लगण्ड-शयनासन। औपपातिकसूत्र में स्थानांगसूत्रोक्त ५ प्रकार तो ये ही हैं, शेष ५ प्रकार इस प्रकार हैं—(६) आतापना, (७) वस्त्रत्याग, (८) अकण्डूयन (अंग न खुजाना), (९) अनिष्ठीवन (थूकना नहीं) और (१०) सर्वगात्रपरिकर्म-विभूषावर्जन। मूलाराधना और सर्वार्थसिद्धि के अनुसार खड़ा रहना, एक करवट से मृत की तरह सोना, वीरासनादि से बैठना इत्यादि तथा आतापनयोग (ग्रीष्मऋतु में धूप में, शीतऋतु में खुले स्थान में या नदीतट पर तथा वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे सोना-बैठना), वृक्ष के मूल में निवास, निरावरण शयन और नाना प्रकार की प्रतिमाएँ और आसन इत्यादि करना कायक्लेश हैं।[1]

कायक्लेश की सिद्धि के लिए—अनगारधर्मामृत में छह उपायों का निर्देश किया गया है—(१) **अयन** (सूर्य की गति के अनुसार गमन करना), **शयन** (लगड, उत्तान, अवाक्, एकपार्श्व, अभ्रावकाश आदि अनेक प्रकार से सोना), **आसन** (समपर्यंक, असमपर्यंक, गोदोह, मकरमुख, गोशय्या, वीरासन, दण्डासन आदि), **स्थान** (साधार, सविचार, ससन्निरोध, विसृष्टांग, समपाद, प्रसारितबाहू आदि अनेक प्रकार के कायोत्सर्ग), **अवग्रह** (थूकना, खांसना, छींक, जंभाई, खाज, कांटा चुभना, पत्थर लगना आदि बाधाओं को जीतना, खिन्न न होना, केशलोच करना, अस्नान, अदन्तधावन आदि अनेक प्रकार के अवग्रह) और **योग** (आतापनयोग, वृक्षमूलयोग, शीतयोग आदि)।[2]

कायक्लेश तप का प्रयोजन—यह देहदुःख को सहने के लिए, सुखविषयक आसक्ति को कम करने के लिए और प्रवचन की प्रभावना करने के लिए किया जाता है। शीत, वात और आतप के द्वारा, आचाम्ल, निर्विकृति, एकलस्थान, उपवास, बेला, तेला आदि के द्वारा, क्षुधा, तृषा आदि बाधाओं द्वारा और विसंस्थुल आसनों द्वारा ध्यान का अभ्यास करने के लिए यह तप किया जाता है। जिसने इन बाधाओं का अभ्यास नहीं किया है तथा जो इन मारणान्तिक कष्टों से खिन्न हो जाता है, वह ध्यान के योग्य नहीं बन सकता। सम्यग्दर्शनयुक्त इस तप से अन्तरंग बल की वृद्धि और कर्मों की अनन्त निर्जरा होती है। यह मोक्ष का प्रधान कारण है। मुमुक्षुओं तथा प्रशान्त तपस्वियों

१. (क) जैनेन्द्रसिद्धान्तकोष भा. २, पृ. ४६ (ख) भगवती आराधना वि. ८६।३२।१८ कायसुखाभिलाषत्यजनं—कायक्लेशः।
(ग) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा. २ (घ) स्थानांग, स्थान ७।५५४ (ङ) औपपातिक. सू. १९
(च) मूलाराधना मू. ३५६ (छ) सर्वार्थसिद्धि ९।१९।४३८।
'आतपस्थानं वृक्षमूलनिवासो, निरावरणशयनं बहुविधप्रतिमास्थानमित्येवमादिः कायक्लेशः।'

२. ऊर्ध्वार्काद्ययनैः शवादिशयनैर्वीरासनाद्यासनैः।
स्थानैरेकपदाग्रगामिभिरनिष्ठीवाग्रमावग्रहैः॥
योगैश्चातपनादिभिः प्रशमिना संतापनं यत्तनोः।
कायक्लेशमिदं तपोऽस्त्युपनतौ सद्ध्यानसिद्ध्यै भजेत्। —भगवती आराधना मू. २२२-२२७

को ध्यान की सिद्धि के लिए इस तप का नित्य सेवन करना चाहिए।[1]

६. विविक्तशयनासन : प्रतिसंलीनतारूप तप

२८. एगन्तमणावाए इत्थी पसुविवज्जिए।
सयणासणसेवणया विवित्तसयणासणं॥

[२८] एकान्त, अनापात (जहाँ कोई आता-जाता न हो) तथा स्त्री-पशु आदि से रहित शयन एवं आसन का सेवन करना, विविक्तशयनासन (प्रतिसंलीनता) तप है।

विविक्तचर्या और संलीनता—विविक्तशय्यासन बाह्य तप का छठा भेद है। इस गाथा में इसे **'विविक्तशयनासन'** कहा गया है, जबकि ८ वीं गाथा में इसे **'संलीनता'** कहा है। भगवतीसूत्र में इसका नाम 'प्रतिसंलीनता' है। वास्तव में मूल शब्द 'प्रतिसंलीनता' है, विविक्तशयनासन उसी का एक अवान्तर भेद है, संलीनता का एक प्रकार **'विविक्तचर्या'** है। उपलक्षण से अन्य तीन 'संलीनताएँ' भी समझ लेनी चाहिए। यथा—इन्द्रियसंलीनता—(मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्दादि विषयों में राग-द्वेष न करना), कषायसंलीनता—(क्रोधादि कषायों के उदय का निरोध करना) और योगसंलीनता—(मन-वचन-काया के शुभ व्यापार में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति करना)। चौथी विविक्तचर्या-संलीनता तो मूल में है ही।[2]

विविक्तशय्यासन के लक्षण—(१) मूलाराधना के अनुसार—जहाँ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के द्वारा चित्तविक्षेप नहीं होता, स्वाध्याय एवं ध्यान में व्याघात नहीं होता, तथा जहाँ स्त्री, पुरुष (पशु) और नपुंसक न हों, वह विविक्तशय्या है। भले ही उसके द्वार खुले हों या बन्द, उसका आंगन सम हो या विषम, वह गाँव के बाह्यभाग में हो या मध्यभाग में, शीत हो या उष्ण। (२) मूलपाठ में विविक्तशयनासन का अर्थ स्पष्ट है। अथवा (३) एकान्त, (स्त्री-पशु-नपुंसक-रहित—विविक्त), जन्तुओं की पीड़ा से रहित, शून्य घर आदि में निर्बाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदि की सिद्धि के लिए साधु के द्वारा किया जाने वाला विविक्तशय्यासन तप है। अथवा (४) भगवती आराधना के अनुसार—चित्त की व्याकुलता को दूर करना विविक्तशयनासन है।

विविक्तशय्या के प्रकार—शून्यगृह, गिरिगुफा, वृक्षमूल, विश्रामगृह, देवकुल, कूटगृह अथवा अकृत्रिम शिलागृह आदि।[3]

---

१. (क) चारित्रसार: १३६।४ (ख) धवला १३।५ (ग) अनगारधर्मामृत ७।३२।६८६

२. (क) उत्तरा. अ. ३० मूलपाठ गा. २८ और ८, (ख) भगवती. २५।७।८०२
(ग) तत्त्वार्थसूत्र ९।१९ (घ) मूलाराधना ३।२०८
(ङ) से किं तं पडिसंलीणया ? पडिसंलीणया चउव्विहा पण्णत्ता, तं.—इंदिअपडिसंलीणया, कसायपडिसंलीणया, जोगपडिसंलीणया, विवित्तसयणासणसेवणया। —औपपातिक. सू. १९
(च) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २, पत्र २७२

३. (क) मूलाराधना ३।२२८-२९-३१, ३२
(ख) उत्तरा. अ. ३०, गा. २८ (ग) सर्वार्थसिद्धि ९।१९।४३८
(घ) भगवती आराधना वि. ६।३२।१९ 'चित्तव्याकुलतापराजयो विविक्तशयनासनम्।'

विविक्तशय्यासन तप किसके, कैसे और क्यों ?—जो मुनि राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाले शय्या, आसन आदि का त्याग करता है, अपने आत्मस्वरूप में रमण करता है और इन्द्रिय-विषयों से विरक्त रहता है, अथवा जो मुनि अपनी पूजा-प्रतिष्ठा या महिमा को नहीं चाहता, जो संसार, शरीर और भोगों से उदासीन है, जो प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप में कुशल, शान्तपरिणामी, क्षमाशील व महापराक्रमी है। जो मुनि श्मशानभूमि में, गहन वन में, निर्जन महाभयानक स्थान में अथवा किसी अन्य एकान्त स्थान में निवास करता है, उसके विविक्तशय्यासन तप होता है।

विविक्त वसति में कलह, व्यग्र करने वाले शब्द (या शब्दबहुलता), संक्लेश, मन की व्यग्रता, असंयतजनों की संगति, व्यामोह (मेरे-तेरे का भाव), ध्यान, अध्ययन का विघात, इन सब बातों से सहज ही बचाव हो जाता है। एकान्तवासी साधु सुखपूर्वक आत्मस्वरूप में लीन होता है, मन-वचन-काया की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकता है तथा पांच समिति, तीन गुप्ति आदि का पालन करता हुआ आत्मप्रयोजन में तत्पर रहता है। अतएव असभ्यजनों को देखने तथा उनके सहवास से उत्पन्न हुए त्रिकालविषयक दोषों को दूर करने के लिए विविक्तशय्यासन तप किया जाता है।[1]

आभ्यन्तर तप और उसके प्रकार

२९. एसो बहिरंगतवो समासेण वियाहिओ।
अब्भिन्तरं तवं एत्तो वुच्छामि अणुपुव्वसो॥
३०. पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो॥

[२९-३०] यह बाह्य (बहिरंग) तप का संक्षेप में व्याख्यान किया गया है। अब अनुक्रम से आभ्यन्तर तप का निरूपण करूंगा। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग, यह आभ्यन्तर तप हैं।

विवेचन—आभ्यन्तरतप : स्वरूप और प्रयोजन—जो प्रायः अन्तःकरण-व्यापार रूप हो, वह आभ्यन्तरतप है। इस तप में बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं होती। ये आभ्यन्तर-तप विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा तप रूप में स्वीकृत होते हैं तथा इनका प्रत्यक्ष प्रभाव अन्तःकरण पर पड़ता है एवं ये मुक्ति के अन्तरंग कारण होते हैं।[2]

आभ्यन्तर तप के प्रकार और परिणाम—आभ्यन्तरतप छह हैं—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्त्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग।

प्रायश्चित्त के परिणाम—भावशुद्धि, चंचलता का अभाव, शल्य से छुटकारा, धर्मदृढता आदि।

---

१. (क) कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा मूल ४४७ से ४४९ तक
(ख) भगवती आराधना मूल २३२-२३३ (ग) धवला १३।५, ४, २६

२. 'प्रायेणान्तःकरणव्यापाररूपमेवाभ्यंतरं तपः।
'आभ्यन्तरमप्रथितं कुशलजनेनैव तु ग्राह्यम्।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ६००

विनय के परिणाम—ज्ञानप्राप्ति, आचारविशुद्धि, सम्यग् आराधना आदि। **वैयावृत्य के परिणाम**—चित्तसमाधि, ग्लानि का अभाव, प्रवचन-वात्सल्य आदि। **स्वाध्याय के परिणाम**—प्रज्ञा का अतिशय, अध्यवसाय की प्रशस्तता, उत्कृष्टसंवेगोत्पत्ति, प्रवचन की अविच्छिन्नता, अतिचारशुद्धि, संदेहनाश, मिथ्यावादियों के भय का अभाव आदि। **ध्यान के परिणाम**—कषाय से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दुःखों से पीड़ित न होना, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि शरीर को प्रभावित करने वाले कष्टों से बाधित न होना, ध्यान के सुपरिणाम हैं। **व्युत्सर्ग के परिणाम**—निर्ममत्व, निरहंकारता, निर्भयता, जीने के प्रति अनासक्ति, दोषों का उच्छेद, मोक्षमार्ग में सदा तत्परता आदि।[1]

१. प्रायश्चित्त : स्वरूप और प्रकार

३१. आलोयणारिहाईयं पायच्छित्तं तु दसविहं।
जे भिक्खू वहई सम्मं पायच्छित्तं तमाहियं॥

[३१] आलोचनार्ह आदि दस प्रकार का प्रायश्चित्त है, जिसका भिक्षु सम्यक् प्रकार से वहन (पालन) करता है, उसे प्रायश्चित्ततप कहा गया है।

विवेचन—प्रायश्चित्त के लक्षण—(१) आत्मसाधना की दुर्गम यात्रा में सावधान रहते हुए भी कुछ दोष लग जाते हैं। उनका परिमार्जन करके आत्मा को पुनः निर्दोष—विशुद्ध बना लेना प्रायश्चित्त है। (२) प्रमादजन्य दोषों का परिहार करना प्रायश्चित्ततप है। (३) संवेग और निर्वेद से युक्त मुनि अपने अपराध का निराकरण करने के लिए जो अनुष्ठान करता है, वह प्रायश्चित्त तप है। (४) प्रायः के चार अर्थ होते हैं—पाप (अपराध), साधुलोक, अथवा प्रचुररूप से तथा तपस्या। अतः प्रायश्चित्त के अर्थ क्रमशः इस प्रकार होते हैं—प्रायः—पाप अथवा अपराध का चित्त—शोधन प्रायश्चित्त, प्रायः—साधुलोक का चित्त जिस क्रिया में हो, वह प्रायश्चित्त। प्रायः-लोक अर्थात् जिसके द्वारा साधर्मी और संघ में स्थित लोगों का मन (चित्त) अपने (अपराधी के) प्रति शुद्ध हो जाए, उस क्रिया या अनुष्ठान को प्रायश्चित्त कहते हैं। अथवा प्रायः अर्थात्—प्रचुर रूप से जिस अनुष्ठान से निर्विकार चित्त—बोध हो जाए, वह प्रायश्चित्त है, अथवा प्रायः—तपस्या, चित्त—निश्चय। निश्चययुक्त तपस्या को प्रायश्चित्त कहते हैं।[2]

---

१. (क) उत्तरा. अ. ३० मूलपाठ गा. २८-२९
(ख) तत्त्वार्थ. श्रुतसागरीया वृत्ति, अ. ९।२२,२३,२४,२५,२६

२. (क) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) टिप्पण, पृ. ४५४
(ख) 'प्रमाददोषपरिहारः प्रायश्चित्तम्।' —सर्वार्थसिद्धि ९।२०।४३९
(ग) धवला १३।५,४।२६
कयावराहेण ससंवेय-णिव्वेएणा सगावराहणिरायरणट्ठं जमणुट्ठाणं कीरदि तप्पायच्छित्तं णाम तवोकम्मं।
(घ) 'प्रायः पापं विजानीयात् चित्तं तस्य विशोधनम्।' —राजवार्तिक ९।२२।१
(ङ) प्रायस्य—साधुलोकस्य यस्मिन्कर्मणि चित्तं—शुद्धिः तत्प्रायश्चित्तम्। —वही, ९।२२।१
(च) प्रायः—प्राचुर्येण निर्विकारं चित्तं—बोधः प्रायश्चित्तम्। —नियमसार ता. वृ. ११३
(छ) "प्रायो लोकस्तस्य चित्तं, मनस्तच्छुद्धिकृत् क्रिया।
प्राये तपसि वा चित्तं—निश्चयस्तन्निरुच्यते॥" —अनगारधर्मामृत ७।३७

प्रायश्चित्त के दस भेद—(१) **आलोचनार्ह**—अर्ह का अर्थ है योग्य। जो प्रायश्चित्त आलोचनारूप (गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करने के रूप) में हो। (२) **प्रतिक्रमणार्ह**—कृत पापों से निवृत्त होने के लिए 'मिच्छा मि दुक्कडं' (मेरे दुष्कृत—पाप, मिथ्या—निष्फल हों) इस प्रकार हृदय से उच्चारण करना। अर्थात्—पश्चातापपूर्वक पापों को अस्वीकृत करना, कायोत्सर्ग आदि करना तथा भविष्य में पापकर्मों से दूर रहने के लिए सावधान रहना। (३) **तदुभयार्ह**—पापनिवृत्ति के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण, दोनों करना। (४) **विवेकार्ह**—परस्पर मिले हुए अशुद्ध अन्न-पान आदि या उपकरणादि को अलग करना, अथवा जिस पदार्थ के अवलम्बन से अशुभ परिणाम होते हों, उसे त्यागना या उससे दूर रहना विवेकार्ह प्रायश्चित्त है। (५) **व्युत्सर्गार्ह**—चौवीस तीर्थंकरों की स्तुतिपूर्वक कायोत्सर्ग करना। (६) **तपोऽर्ह**—उपवास आदि तप (दण्ड—प्रायश्चित्त रूप में) करना। (७) **छेदार्ह**—अपराधनिवृत्ति के लिए दीक्षापर्याय का छेद करना (काटना) या कम कर देना। (८) **मूलार्ह**—फिर से महाव्रतों में आरोपित करना, नई दीक्षा देना। (९) **अनवस्थापनार्ह**—तपस्यापूर्वक नई दीक्षा देना और (१०) **पारांचिकार्ह**—भयंकर दोष लगने पर काफी समय तक भर्त्सना एवं अवहेलना करने के बाद नई दीक्षा देना।

तत्त्वार्थसूत्र में प्रायश्चित्त के ९ प्रकार ही बतलाए गए हैं। पारांचिकार्ह प्रायश्चित्त का विधान नहीं है।[1]

२. विनय-तप : स्वरूप और प्रकार

३२. अब्भुट्ठाणं अंजलिकरणं तहेवासणदायणं।
गुरुभत्ति-भावसुस्सूसा विणओ एस वियाहिओ॥

[३२] खड़ा होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरुजनों की भक्ति करना तथा भावपूर्वक शुश्रूषा करना विनयतप कहा गया है।

विवेचन—विनय के लक्षण—(१) पूज्य पुरुषों के प्रति आदर करना, (२) मोक्ष के साधनभूत सम्यग्दर्शनादि के प्रति तथा उनके साधक गुरु आदि के प्रति योग्य रीति से सत्कार—आदर आदि करना तथा कषाय से निवृत्ति करना, (३) रत्नत्रयधारक पुरुषों के प्रति नम्रवृत्ति धारण करना, (४) गुणों में अधिक (वृद्ध) पुरुषों के प्रति नम्रवृत्ति रखना, (५) अशुभ क्रिया रूप ज्ञानादि के अतिचारों को वि+नयन करना—हटाना (६) कषायों और इन्द्रियों को नमाना, यह सब विनय के अन्तर्गत है।[2]

---

१. (क) स्थानांग १० स्थान ७३३ (ख) भगवती. २५।७।८०१
(ग) औपपातिक सूत्र २० (घ) मूलाराधना ३६२
(ङ) 'आलोचन-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेद-परिहारोपस्थापनानि।' —तत्त्वार्थ. ९।२२

२. (क) 'पूज्येष्वादरो विनयः।' —सर्वार्थसिद्धि ९।२०
(ख) सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधकेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार—आदरः, कषायनिवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता। —राजवार्तिक ६।२४
(ग) 'रत्नत्रयवत्सु नीचैर्वृत्तिर्विनयः।' —धवला १३।५, ४।२६
(घ) 'गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्तिर्विनयः।' —कषायपाहुड १।१-१
(ङ) ज्ञानदर्शनचारित्रतपसामतीचारा अशुभक्रियाः, तासामपोहनं विनयः।
—भगवती आराधना वि. ३००।५११

विनय के प्रकार—यद्यपि प्रस्तुत गाथा में विनय के प्रकारों का उल्लेख नहीं है। तथापि तत्त्वार्थसूत्र में चार (ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार) विनय एवं औपपातिकसूत्र में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वचन, काय और लोकोपचार, यों ७ विनयों का उल्लेख है।[1]

३. वैयावृत्य का स्वरूप

३३. आयरियमाइयम्मि य वेयावच्चम्मि दसविहे।
आसेवणं जहाथामं वेयावच्चं तमाहियं॥

[३३] आचार्य आदि से सम्बन्धित दस प्रकार के वैयावृत्य का यथाशक्ति आसेवन करने को वैयावृत्य कहा है।

विवेचन—वैयावृत्य के लक्षण—संयमी या गुणी पुरुषों के दुःख में आ पड़ने पर गुणानुराग-पूर्वक निर्दोष (कल्पनीय) विधि से उनका दुःख दूर करना, अथवा शरीरचेष्टा या दूसरे द्रव्य द्वारा उनकी उपासना करना, व्याधि, परीषह आदि का उपद्रव होने पर औषध, आहार-पान, उपाश्रय आदि देकर उपकार करना, जो मुनि उपसर्ग-पीड़ित हो तथा वृद्धावस्था के कारण जिसकी काया क्षीण हो गई हो, उसका निरपेक्ष होकर उपकार करना वैयावृत्यतप है। रोगादि से व्यापृत (व्याकुल) होने पर आपत्ति के समय उसके निवारणार्थ जो किया जाता है, अथवा शरीरपीड़ा अथवा दुष्परिणामों को दूर करने के लिए औषध आदि से या अन्य प्रकार से जो उपकार किया जाता है, वह वैयावृत्य नामक तप है।[2]

वैयावृत्य का प्रयोजन एवं परिणाम—भगवती आराधना में वैयावृत्य के १८ गुण बताए हैं—गुणग्रहण के परिणाम, श्रद्धा, भक्ति, वात्सल्य, पात्रता की प्राप्ति, विच्छिन्न सम्यक्त्व आदि का पुनः सन्धान, तप, पूजा, तीर्थ-अव्युच्छित्ति, समाधि, जिनाज्ञा, संयम, सहाय, दान, निर्विचिकित्सा, प्रवचन-प्रभावना। पुण्यसंचय तथा कर्तव्य का निर्वाह।

सर्वार्थसिद्धि में बताया गया है कि वैयावृत्य का प्रयोजन है—समाधि की प्राप्ति, विचिकित्सा का अभाव तथा प्रवचनवात्सल्य की अभिव्यक्ति। सम्यक्त्वी के लिए वैयावृत्य निर्जरा का निमित्त है। इसी शास्त्र में वैयावृत्य से तीर्थकरत्व की प्राप्ति की संभावना बताई गई है।[3]

---

१. (क) ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचाराः। —तत्त्वार्थ. ९।२३
(ख) औपपातिक. सू. २०

२. (क) रत्नकरण्डश्रावकाचार ११२,
(ख) गुणवददुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्त्याम् —सर्वार्थसिद्धि ९।२४,
(ग) (रोगादिना) व्यापृते, व्यापदि वा यत्क्रियते तद् वैयावृत्यम्। —धवला ८।३, ४१; १३।५,.४
(घ) 'जो उवयरदि जदीणं उवसग्गजराइ खीणकायाणं।
पूयादिसु णिरवेक्खं वेज्जावच्चं तवो तस्स॥' —कात्तिकेयानुप्रेक्षा, ४५९

३. (क) भगवती आराधना मूल ३०९-३१०
(ख) सर्वार्थसिद्धि ९।२४।४४२
(ग) धर्मपरीक्षा ७।९
(घ) धवला ८८।१० : 'ताए एवं विहाए एक्काए वेयावच्चजोगजुत्तदाए वि।
(ङ) उत्तरा. अ. २९ सू. ४४ : वेयावच्चेणं तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबंधइ।

वैयावृत्त्य के १० प्रकार—वैयावृत्त्य के योग्य पात्रों के आधार पर स्थानांग में इसके १० प्रकार बताए हैं—(१) आचार्य-वैयावृत्त्य, (२) उपाध्याय-वैयावृत्त्य, (३) तपस्वी-वैयावृत्त्य, (४) स्थविर-वैयावृत्त्य, (५) ग्लान-वैयावृत्त्य, (६) शैक्ष (नवदीक्षित)—वैयावृत्त्य, (७) कुल-वैयावृत्त्य, (८) गण-वैयावृत्त्य, (९) संघ-वैयावृत्त्य, और (१०) साधर्मिक-वैयावृत्त्य।

मूलाराधना में वैयावृत्त्य के योग्य १० पात्र ये बताए हैं—गुणाधिक, उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, दुर्बल साधु, गण, कुल, चतुर्विध संघ और समनोज्ञ पर आपत्ति आने पर वैयावृत्त्य करना कर्तव्य है।[1]

४. स्वाध्याय : स्वरूप एवं प्रकार

३४. वायणा पुच्छणा चेव तहेव परियट्टणा।
अणुप्पेहा धम्मकहा सज्झाओ पंचहा भवे॥

[३४] वाचना, पृच्छना, परिवर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, यह पांच प्रकार का स्वाध्याय-तप है।

विवेचन—स्वाध्याय के लक्षण—(१) स्व—अपनी आत्मा का हित करने वाला, अध्याय—अध्ययन करना स्वाध्याय है, अथवा (२) आलस्य त्याग कर ज्ञानाराधना करना स्वाध्याय-तप है। (३) तत्त्वज्ञान का पठन, पाठन और स्मरण करना आदि स्वाध्याय है। (४) पूजा-प्रतिष्ठादि से निरपेक्ष होकर केवल कर्ममल-शुद्धि के लिए जो मुनि जिनप्रणीत शास्त्रों को भक्तिपूर्वक पढ़ता है, उसका श्रुतलाभ सुखकारी है।[2]

स्वाध्याय के प्रकार—पांच हैं—(१)वाचना (स्वयं पढ़ना या योग्य व्यक्ति को वाचना देना या व्याख्यान करना), (२) पृच्छना—(शास्त्रों के अर्थ को बार-बार पूछना), (३) परिवर्तना—(पढ़े हुए ग्रन्थ का बार-बार पाठ करना), (४) अनुपेक्षा—(परिचित या पठित शास्त्रपाठ का मर्म समझने के लिए मनन-चिन्तन-पर्यालोचन करना) और (५) धर्मकथा—(पठित या पर्यालोचित शास्त्र का धर्मोपदेश करना अथवा त्रिषष्टिशलाका पुरुषों का चरित्र पढ़ना)।

तत्त्वार्थसूत्र में परिवर्तना के बदले उसी अर्थ का द्योतक 'आम्नाय' शब्द है।[3]

---

१. (क) स्थानांग १०।७३३ (ख) भगवती. २५।७।८०१ (ग) औपपातिक. सू. २०
(घ) तत्त्वार्थ. ९।२४
(ङ) 'गुणधीए उवज्झाए तवस्सि सिस्से य दुब्बले।
साहुगणे कुले संघे समणुण्णे य चापदि॥' —मूलाराधना ३९०

२. (क) 'स्वस्मै हितोऽध्यायः स्वाध्यायः।' —चारित्रसार १५२।५
(ख) 'ज्ञानभावनाऽलस्यत्यागः स्वाध्यायः।' —सर्वार्थसिद्धि ९।२०
(ग) 'स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापनं स्मरणं च।' —चारित्रसार ४४।३
(घ) 'पूयादिसु णिरवेक्खो जिणसत्थं जो पढेइ भत्तिजुओ।
कम्ममलसोहणट्ठं सुयलाहो सुहयरो तस्स।' —कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा ४६२

३. (क) उत्तरा. अ. ३०
(ख) वाचना-पृच्छनाऽनुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः। —तत्त्वार्थ. ९।२५

स्वाध्याय : सर्वोत्तम तप— सर्वज्ञोपदिष्ट बारह प्रकार के तप में स्वाध्यायतप के समान न तो अन्य कोई तप है और न ही होगा। सम्यग्ज्ञान से रहित जीव करोड़ों भवों में जितने कर्मो का क्षय कर पाता है, ज्ञानी साधक तीन गुप्तियों से गुप्त होकर उतने कर्मो को अन्तर्मुहूर्त्त में क्षय कर देता है। एक उपवास से लेकर पक्षोपवास या मासोपवास करने वाले सम्यग्ज्ञानरहित जीव से भोजन करने वाला स्वाध्याय-तत्पर सम्यग्दृष्टि साधक परिणामों की अधिक विशुद्धि कर लेता है।[1]

५. ध्यान : लक्षण और प्रकार

३५. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं झाणं तं तु बुहा वए॥

[३५] आर्त्त और रौद्र ध्यान को त्याग कर जो सुसमाहित मुनि धर्म और शुक्ल ध्यान ध्याता है, ज्ञानी जन उसे ही 'ध्यानतप' कहते हैं।

विवेचन—ध्यान के लक्षण—(१) एकाग्रचिन्तन ध्यान है, (२) जो स्थिर अध्यवसान (चेतन) है, वही ध्यान है। (३) चित्तविक्षेप का त्याग करना ध्यान है। अथवा (४) अपरिस्पन्दमान अग्निज्वाला (शिखा) की तरह अपरिस्पन्दमान ज्ञान ही ध्यान है। अथवा (५) अन्तर्मुहूर्त्त तक चित्त का एक वस्तु में स्थित रहना छद्मस्थों का ध्यान है और वीतराग पुरुष का ध्यान योगनिरोध रूप है। अथवा (६) मन-वचन-काया की स्थिरता को भी ध्यान कहते हैं।[2]

ध्यान के प्रकार और हेयोपादेय ध्यान—एकाग्रचिन्तनात्मक ध्यान की दृष्टि से उसके चार प्रकार होते हैं— (१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म और (४) शुक्ल। आर्त्त और रौद्र, ये दोनों ध्यान अप्रशस्त हैं।

पुत्र-शिष्यादि के लिए, हाथी-घोड़े आदि के लिए, आदर-पूजन के लिए, भोजन-पान के लिए, मकान या स्थान के लिए, शयन, आसन, अपनी भक्ति एवं प्राणरक्षा के लिए, मैथुन की इच्छा या कामभोगों के लिए, आज्ञानिर्देश, कीर्ति, सम्मान, वर्ण (प्रशंसा) या प्रभाव या प्रसिद्धि के लिए मन का संकल्प (चिन्तन) **अप्रशस्त ध्यान** है। जीवों के पापरूप आशय के वश से तथा मोह, मिथ्यात्व, कषाय तथा तत्त्वों के अयथार्थरूप विभ्रम से उत्पन्न हुआ ध्यान **अप्रशस्त** एवं असमीचीन है। पुण्यरूप

१. बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि, ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवोकम्मं॥
जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेदि अंतोमुहुत्तेण॥
छट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं अण्णाणियस्स जा सोही।
तत्तो बहुगुणदरिया होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स॥ —भगवती आराधना १०७-१०८-१०९

२. (क) तत्त्वार्थ. ९।२० (ख) 'जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं।' —ध्यानशतक गा. २
(ग) 'चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्' —सर्वार्थसिद्धि ९।२०।४३९
(घ) अपरिस्पन्दमानं ज्ञानमेव ध्यानमुच्यते। —तत्त्वार्थ. श्रुतसागरीय वृत्ति, ९।२७
(ङ) ध्यानशतक, गाथा ३,
(च) लोकप्रकाश ३०।४२१-४२२

आशय से तथा शुद्ध लेश्या के आलम्बन से और वस्तु के यथार्थस्वरूप के चिन्तन से उत्पन्न हुआ ध्यान प्रशस्त है। प्रस्तुत गाथा में दो प्रशस्त ध्यान ही उपादेय तथा दो अप्रशस्त ध्यान त्याज्य बताए हैं।[1]

जीव का आशय तीन प्रकार का होने से कई संक्षेपरुचि साधकों ने तीन प्रकार का ध्यान माना है— (१) पुण्यरूप शुभाशय, (२) पापरूप अशुभाशय और (३) शुद्धोपयोग रूप आशयवाला।[2]

आर्त्तध्यान : लक्षण एवं प्रकार—आर्त्तध्यान के ४ लक्षण हैं— आक्रन्द, शोक, अश्रुपात और विलाप। इसके चार प्रकार हैं—(१) अप्रिय वस्तु के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए सतत चिन्ता करना, (२) आतंकादि दुःख आ पड़ने पर उसके निवारण की सतत चिन्ता करना, (३) प्रिय वस्तु का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता करना अथवा मनोज्ञ वस्तु या विषय का संयोग होने पर उसका वियोग न होने की चिन्ता करना। (४) अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता या संकल्प करना अथवा प्रीतिकर कामभोग का संयोग होने पर उसका वियोग न होने की चिन्ता करना। इसीलिए चेतना की आर्त्त या वेदनामयी एकाग्र परिणति को आर्त्तध्यान कहा गया है।[3]

रौद्रध्यान : लक्षण एवं प्रकार— रुद्र अर्थात् क्रूर-कठोर चित्त के द्वारा किया जाने वाला ध्यान रौद्रध्यान है। इसके चार लक्षण हैं—(१) हिंसा आदि से प्रायः विरत न होना, (२) हिंसा आदि की प्रवृत्तियों में जुटे रहना, (३) अज्ञानवश हिंसा में प्रवृत्त होना और (४) प्राणांतकारी हिंसा आदि करने पर भी पश्चात्ताप न होना।

प्रकार— हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने और प्राप्त विषयों के संरक्षण की वृत्ति से क्रूरता व कठोरता उत्पन्न होती है। इन्हीं को लेकर जो सतत धाराप्रवाह चिन्तन होता है, वह क्रमशः चार प्रकार का होता है— हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी।

ये दोनों ध्यान पापाश्रव के हेतु होने से अप्रशस्त हैं। साधना की दृष्टि से आर्त्त-रौद्र-परिणतिमयी एकाग्रता विघ्नकारक ही है।

मोक्ष के हेतुभूत ध्यान दो हैं—धर्मध्यान और शुक्लध्यान। ये दोनों प्रशस्त हैं और आश्रव-निरोधक हैं।[4]

धर्मध्यान : लक्षण, प्रकार, आलम्बन और अनुप्रेक्षाएँ— वस्तु के धर्म या सत्य अथवा आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान के चिन्तन-अन्वेषण में परिणत चेतना की एकाग्रता को 'धर्मध्यान' कहते हैं। इसके ४ लक्षण हैं—आज्ञारुचि—(प्रवचन के प्रति श्रद्धा), (२) निसर्गरुचि—(स्वभावतः सत्य में श्रद्धा), (३) सूत्ररुचि—(शास्त्राध्ययन से उत्पन्न श्रद्धा) और (४) अवगाढरुचि—(विस्तृतरूप से सत्य में अवगाहन करने की श्रद्धा)।

चार आलम्बन— वाचना, प्रतिपृच्छना, पुनरावृत्ति करना और अर्थ के सम्बन्ध में चिन्तन—अनुप्रेक्षण।

१. (क) मूलाराधना ६८१-६७२ (ख) ज्ञानार्णव ३।२९-३१
   (ग) चारित्रसार १६७।२
२. ज्ञानार्णव ३।२७-२८
३. तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलालजी) ९।३१, ९।३०, ९।३१-३४
४. वही (पं. सुखलालजी) ९।२९

चार अनुप्रेक्षाएँ—(१) एकत्व-अनुप्रेक्षा, (२) अनित्यत्वानुप्रेक्षा, (३) अशरणानुप्रेक्षा (अशरणदशा का चिन्तन) और (४) संसारानुप्रेक्षा (संसार संबंधी चिन्तन)।[1]

शुक्लध्यान : आत्मा के शुद्ध रूप की सहज परिणति को शुक्लध्यान कहते हैं। इसके भी चार प्रकार हैं—(१) **पृथक्त्ववितर्कसविचार**—श्रुत के आधार पर किसी एक द्रव्य में (परमाणु आदि जड़ में या आत्मरूप चेतन में) उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व आदि अनेक पर्यायों का द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक आदि विविध नयों द्वारा भेदप्रधान चिन्तन करना। (२) **एकत्ववितर्क-अविचार**—ध्याता द्वारा अपने में सम्भाव्य श्रुत के आधार पर एक ही पर्यायरूप अर्थ को लेकर उस पर एकत्व-(अभेद) प्रधान चिन्तन करना, एक ही योग पर अटल रहना। (३) **सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति**—सर्वज्ञ भगवान् जब योगनिरोध के क्रम में सूक्ष्म काययोग का आश्रय लेकर शेष योगों को रोक लेते हैं, उस समय का ध्यान सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति कहलाता है। (४) **समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति**—जब शरीर की श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्मक्रियाएँ भी बंद हो जाती हैं और आत्मप्रदेश सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाते हैं, तब वह ध्यान समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति कहलाता है।

चार लक्षण—अव्यथ (व्यथा का अभाव), असम्मोह, (सूक्ष्म पदार्थविषयक मूढता का अभाव), विवेक (शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान) और व्युत्सर्ग (शरीर और उपधि पर अनासक्ति भाव)।

चार आलम्बन—क्षमा, मुक्ति (निर्लोभता), मृदुता और ऋजुता।

चार अनुप्रेक्षाएँ—(१) अनन्तवृत्तिता (संसारपरम्परा का चिन्तन), (२) विपरिणाम—अनुप्रेक्षा (वस्तुओं के विविध परिणामों पर चिन्तन), (३) अशुभ-अनुप्रेक्षा (पदार्थों की अशुभता का चिन्तन) और (४) अपाय-अनुप्रेक्षा (अपायों—दोषों का चिन्तन)।[2]

६. व्युत्सर्ग : स्वरूप और विश्लेषण

३६. सयणासण-ठाणे वा जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो छट्ठो सो परिकित्तिओ॥

[३६] शयन में, आसन में और खड़े होने में जो भिक्षु शरीर से हिलने-डुलने की चेष्टा नहीं करता, यह शरीर का व्युत्सर्ग, व्युत्सर्ग नामक छठा (आभ्यन्तर) तप कहा गया है।

विवेचन—व्युत्सर्ग-तप : लक्षण, प्रकार और विधि—बाहर में क्षेत्र, वास्तु, शरीर, उपधि; गण, भक्त-पान आदि का और अन्तरंग में कषाय, संसार और कर्म आदि का नित्य अथवा अनियत काल के लिए त्याग करना व्युत्सर्गतप है। इसी कारण द्रव्य और भावरूप से व्युत्सर्गतप मुख्यतया दो प्रकार का आगमों में वर्णित है। द्रव्यव्युत्सर्ग के चार प्रकार—(१) शरीरव्युत्सर्ग (शारीरिक क्रियाओं में चपलता का त्याग), (२) गणव्युत्सर्ग—(विशिष्ट साधना के लिए गण का त्याग), (३) उपधिव्युत्सर्ग (वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों का त्याग) और (४) भक्त-पानव्युत्सर्ग (आहार-पानी का त्याग)।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र (पं, सुखलालजी) ९।३७

२. वही (पं. सुखलालजी) ९।३९-४६, पृ. २२९-२३०

भावव्युत्सर्ग के तीन प्रकार हैं—(१) कषायव्युत्सर्ग, (२) संसारव्युत्सर्ग (संसारपरिभ्रमण का त्याग) और (३) कर्मव्युत्सर्ग-(कर्मपुद्गलों का विसर्जन)।[1]

धवला के अनुसार—शरीर एवं आहार में मन, वचन की प्रवृत्तियों को हटा कर ध्येय वस्तु के प्रति एकाग्रतापूर्वक चित्तनिरोध करना व्युत्सर्ग है। अनगारधर्मामृत में व्युत्सर्ग की निरुक्ति की है—बन्ध के हेतुभूत विविध प्रकार के बाह्य एवं आभ्यन्तर दोषों का विशेष प्रकार से विसर्जन (त्याग) करना।[1]

कायोत्सर्ग के लक्षण—व्युत्सर्ग का ही एक प्रकार कायोत्सर्ग है। (१) नियमसार में कायोत्सर्ग का लक्षण कहा गया है—'काय आदि पर द्रव्यों में स्थिरभाव छोड़कर आत्मा का निर्विकल्परूप से ध्यान करना कायोत्सर्ग है।' (२) दैवसिक निश्चित क्रियाओं में यथोक्त कालप्रमाण-पर्यन्त उत्तम क्षमा आदि जिनेन्द्र गुणों के चिन्तन सहित देह के प्रति ममत्व छोड़ना कायोत्सर्ग है। (३) देह को अचेतन, नश्वर एवं कर्मनिर्मित समझ कर केवल उसके पोषण आदि के लिए जो कोई कार्य नहीं करता, वह, कायोत्सर्ग-धारक है। जो मुनि शरीर-संस्कार के प्रति उदासीन हो, भोजन, शय्या आदि की अपेक्षा न करता हो, दुःसह रोग के हो जाने पर भी चिकित्सा नहीं करता हो, शरीर पसीने और मैल से लिप्त हो कर भी जो अपने स्वरूप के चिन्तन में ही लीन रहता हो, दुर्जन और सज्जन के प्रति मध्यस्थ हो और शरीर के प्रति ममत्व न करता हो, उस मुनि के कायोत्सर्ग नामक तप होता है। (४) खड़े-खड़े या बैठे-बैठे शरीर तथा कषायों का त्याग करना कायोत्सर्ग है। (५) यह अशुचि अनित्य, विनाशशील, दोषपूर्ण, असार एवं दुःखहेतु एवं अनन्तसंसार परिभ्रमण का कारण, यह शरीर मेरा नहीं है और न मैं इसका स्वामी हूँ। मैं भिन्न हूँ, शरीर भिन्न है, इस प्रकार का भेदविज्ञान प्राप्त होते ही शरीर रहते हुए भी शरीर के प्रति आदर घट जाने की तथा ममत्व हट जाने की स्थिति का नाम कायोत्सर्ग है।[2]

कायोत्सर्ग की विधि—कायोत्सर्गकर्ता काय के प्रति निःस्पृह हो कर जीव-जन्तुरहित स्थान में खंभे की तरह निश्चल एवं सीधा खड़ा हो। दोनों बाहु घुटनों की ओर लम्बी करे। चार अंगुल के

---

१. (क) जैनेन्द्रसिद्धान्तकोष भा. ३, पृ. ६२७ (ख) भगवती. २५।७।८०२

(ग) औपपातिक. सू. २६

(घ) 'सरीराहारेसु हु मणवयणपवुत्तीओ ओसारियज्झेयम्मि एअग्गेण चित्तणिरोहो वि ओसग्गो णाम।' —धवला ८।३,४१।८५

(ङ) बाह्याभ्यन्तरदोषा ये विविधा बन्धहेतवः।
यस्तेषामुत्तमः सर्गः, स व्युत्सर्गो निरुच्यते ॥ —अनगारधर्मामृत ७।९४।७२१

२. (क) कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरित्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्वियप्पेण ॥ —नियमसार १२१

(ख) देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि।
जिण-गुणचिंतणजुत्तो काओसग्गो तणुविसग्गो ॥ —मूलाराधना २८

(ग) 'परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः।' —चारित्रसार ५६।३

(घ) योगसार अ. ५।५२ (ङ) कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा ४६७-४६८

(च) भगवती आराधना वि. ११६।२७८।१३ (सारांश)

अन्तर सहित समपाद होकर प्रशस्त ध्यान में निमग्न हो। हाथ आदि अंगों का संचालन न करे। काय को न तो अकड़ कर खड़ा हो और न ही झुका कर। देव-मनुष्य-तिर्यंचकृत तथा अचेतनकृत सभी उपसर्गों को कायोत्सर्ग-स्थित मुनि सहन करे। कायोत्सर्ग में मुनि ईर्यापथ के अतिचारों का शोधन करे तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान का चिन्तन करे। प्रायः वह एकान्त, शान्त, कोलाहल एवं आवागमन से रहित अबाधित स्थान में कायोत्सर्ग करे।[1]

कायोत्सर्ग का प्रयोजन—मुनि अपने शरीर के प्रति ममत्वत्याग के अभ्यास के लिए, ईर्यापथ के तथा अन्य अवसरों पर हुए दोषों के शोधन के लिए, दोषों के आलोचन के लिए, कर्मनाश एवं दुःखक्षय के लिए या मुक्ति के लिए कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग का मुख्य प्रयोजन तो काय से आत्मा को पृथक् (वियुक्त) करना है। आत्मा के सान्निध्य में रहना है तथा स्थान, मौन और ध्यान के द्वारा परद्रव्यों में 'स्व' का व्युत्सर्ग करना है। निःसंगत्व, निर्भयत्व, जीविताशात्याग, दोपोच्छेद, मोक्षमार्ग-प्रभावना और तत्परत्व आदि के लिए दोनों प्रकार का व्युत्सर्ग तप आवश्यक है। प्रयोजन की दृष्टि से: कायोत्सर्ग के दो रूप होते हैं—चेष्टाकायोत्सर्ग—अतिचारशुद्धि के लिए और अभिनवकायोत्सर्ग—विशेष विशुद्धि या प्राप्त कष्ट को सहन करने के लिए। अतिचारशुद्धि के लिए किये जाने वाले कायोत्सर्ग के दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक आदि अनेक विकल्प होते हैं। ये कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण के समय किये जाते हैं।[2]

मानसिक वाचिक कायिक कायोत्सर्ग—मन से शरीर के प्रति ममत्वबुद्धि की निवृत्ति मानस-कायोत्सर्ग है, 'मैं शरीर का त्याग करता हूँ, ऐसा वचनोच्चारण करना वचनकृत, कायोत्सर्ग है और बांहें नीचे फैला कर तथा दोनों पैरों में सिर्फ चार अंगुल का अन्तर रखकर निश्चल खड़े रहना शारीरिक कायोत्सर्ग है। इस त्रिविध कायोत्सर्ग में मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का स्थिरीकरण करना आवश्यक है।[3]

कायोत्सर्ग के प्रकार—हेमचन्द्राचार्य के मतानुसार कायोत्सग खड़े-खड़े, बैठे-बैठे और सोते-सोते तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में कायोत्सर्ग और स्थान दोनों एक हो जाते हैं। भगवती आराधना के अनुसार ऐसे कायोत्सर्ग के चार प्रकार होते हैं—(१) **उत्थित-उत्थित**—(काया एवं ध्यान दोनों से उन्नत (खड़ा हुआ) धर्म-शुक्लध्यान में लीन), (२) **उत्थित-उपविष्ट**—काया से उन्नत (खड़ा) किन्तु ध्यान से आर्त्त-रौद्रध्यानलीन अवनत, (३) **उपविष्ट-**

---

१. (क) मूलाराधना वि. २।११६, पृ. २७८ (ख) भगवती आराधना वि. ११६।२७८।२०
(ग) वही, (मूल) ५५०।७६३

२. (क) मूलाराधना ६६२-६६६, ६६३-६६५, (ख) वही, २।११६ पृ. २७८
(ग) योगशास्त्र (हेमचन्द्राचार्य) प्रकाश ३, पत्र २५०
(घ) राजवार्तिक ९।२६।१०।६२५
(ङ) बृहत्कल्पभाष्य : इह द्विधा कायोत्सर्गः—चेष्टायामभिभवे च। गा. ५९५८
(च) योगशास्त्र प्रकाश ३, पत्र २५०

३. (क) भगवती आराधना विजयोदया ५०९। ७२९। १६
(ख) योगशास्त्र प्रकाश ३, पत्र २५०

उत्थित—(काया से बैठा किन्तु ध्यान से खड़ा—यानी धर्म-शुक्लध्यानलीन) एवं (४) उपविष्ट-उपविष्ट—(काया और ध्यान दोनों से बैठा हुआ, अर्थात्—काया से बैठा और ध्यान से आर्त्त-रौद्रध्यानलीन)। इन चारों विकल्पों में प्रथम और तृतीय प्रकार उपादेय हैं, शेष दो त्याज्य हैं।[1]

द्विविध तप का फल

३७. एयं तवं तु दुविहं जे सम्मं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वसंसारा विप्पमुच्चइ पण्डिए॥
—त्ति बेमि।

[३७] इस प्रकार जो पण्डित मुनि दोनों प्रकार के तप का सम्यक् आचरण करता है, वह शीघ्र ही समस्त संसार से विमुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ तपोमार्गगति : तीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

इकतीसवाँ अध्ययन : चरणविधि

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम चरणविधि (चरणविही) है। चारित्र की विधि का अर्थ है—चारित्र में विवेकपूर्वक प्रवृत्ति। चारित्र का प्रारम्भ संयम से होता है। अतः असंयम से निवृत्ति और विवेक-पूर्वक संयम में प्रवृत्ति ही चारित्रविधि है। अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति में संयम की सुरक्षा कठिन है। अतः विवेकपूर्वक असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति ही चारित्र है।

* चारित्रविधि का प्रारम्भ संयम से होता है, इसलिए उसकी आराधना-साधना करते हुए जिन विषयों को स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए, उन्हीं का इस अध्ययन में संकेत है। ११ उपासक प्रतिमाओं का सर्वविरति चारित्र से सम्बन्ध न होते हुए भी देशविरति चारित्र से इनका सम्बन्ध है। अतः वे कथंचित् उपादेय होने से उनका यहाँ उल्लेख किया गया है। इस प्रकार असंयम (से निवृत्ति) के एक बोल से लेकर ३३ वें बोल तक का इसमें चारित्र के विविध पहलुओं की दृष्टि से निरूपण है।

* उदाहरणार्थ—साधु असंयम से दूर रहे, राग और द्वेष, ये चारित्र में स्खलना पैदा करते हैं, उनसे दूर रहे, त्रिविध दण्ड, शल्य और गौरव से निवृत्त हो, तीन प्रकार के उपसर्गों को सहन करने से चारित्र उज्ज्वल होता है। विकथा, कषाय, संज्ञा और अशुभ ध्यान, ये त्याज्य हैं, क्योंकि ये चारित्र को दूषित करने वाले हैं। इसी प्रकार कुछ बातें त्याज्य हैं, कुछ उपादेय हैं, और कुछ ज्ञेय हैं।

* निष्कर्ष यह है कि साधक को दुष्प्रवृत्तियों से, असंयमजनक आचरणों से दूर रहकर सत्प्रवृत्तियों और संयमजनक आचरणों में प्रवृत्त होना चाहिए। इसका परिणाम संसारचक्र के परिभ्रमण से मुक्ति के रूप में प्राप्त होता है।

□□

एगतीसइमं अज्झयणं : इकतीसवाँ अध्ययन

चरणविही : चरणविधि

चरण-विधि के सेवन का माहात्म्य

१. चरणविहिं पवक्खामि जीवस्स उ सुहावहं ।
जं चरित्ता बहू जीवा तिण्णा संसारसागरं ॥

[१] जीव को सुख प्रदान करने वाली उस चरणविधि का कथन करूंगा, जिसका आचरण करके बहुत-से जीव संसारसमुद्र को पार कर गए हैं ।

विवेचन—चरणविधि—चरण अर्थात् चारित्र की विधि, चारित्र का अनुष्ठान करने का शास्त्रोक्त विधान, जो कि प्रवृत्ति-निवृत्त्यात्मक है । आशय यह है कि अचारित्र से निवृत्ति और चारित्र में प्रवृत्ति ही वास्तविक चरणविधि है । चारित्र क्या और अचारित्र क्या है ? यह आगे की गाथाओं में कहा गया है ।

चारित्र ही वह नाव है, जो साधक को संसारसमुद्र से पार लगा मोक्ष के तट पर पहुँचा देती है । परन्तु चारित्र केवल भावना या वाणी की वस्तु नहीं है, वह आचरण की वस्तु है ।[1]

चरण-विधि की संक्षिप्त झांकी

२. एगओ विरइं कुज्जा एगओ य पवत्तणं ।
असंजमे नियत्तिं च संजमे य पवत्तणं ॥

[२] साधक को एक ओर से विरति (निवृत्ति) करनी चाहिए और एक ओर से प्रवृत्ति । (अर्थात्—) असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति (करनी चाहिए ।)

विवेचन—चरणविधि का स्वरूप—असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति, ये दोनों चरणात्मक अर्थात्—आचरणात्मक हैं । निवृत्ति में असंयम उत्पन्न करने वाली, बढ़ाने वाली, परिणाम में असंयमकारक वस्तु का विधिवत् त्याग-प्रत्याख्यान करना तथा प्रवृत्ति में संयमजनक, संयमवर्द्धक और परिणाम में संयमकारक वस्तु को स्वीकार करना, दोनों ही समाविष्ट हैं । यह चरणविधि की संक्षिप्त झाँकी है । (यह एक बोल वाली है ।)

दो प्रकार के पापकर्मबन्धन से निवृत्ति

३. रागद्दोसे य दो पावे पावकम्मपवत्तणे ।
जे भिक्खू रुम्भई निच्चं से न अच्छइ मण्डले ॥

[३] राग और द्वेष, ये दो पापकर्मों के प्रवर्त्तक होने से पापरूप हैं । जो भिक्षु इनका सदा निरोध करता है, वह संसार (जन्म-मरणरूप मण्डल) में नहीं रहता ।

---

१. (क) उत्तरा. निर्युक्ति गा. ५२ (ख) उत्तरा. वृत्ति, अभि. रा. कोष भा. ३, पृ. ११२८

विवेचन—राग-द्वेषरूप बन्धन—राग और द्वेष, ये दोनों बन्धन हैं, पापकर्मबन्ध के कारण हैं। इसलिए इन्हें पाप तथा पापकर्म में प्रवृत्ति कराने वाला कहा है। अतः चरणविधि के लिए साधक को राग-द्वेष से निवृत्ति और वीतरागता में प्रवृत्ति करनी चाहिए। ये राग और द्वेष दो बोल मुख्यतया निवृत्त्यात्मक हैं।[1]

तीन बोल

४. दण्डाणं गारवाणं च सल्लाणं च तियं तियं।
जे भिक्खू चयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले ॥

[४] तीन दण्डों, तीन गौरवों और तीन शल्यों का जो भिक्षु सदैव त्याग करता है, वह संसार में नहीं रहता।

५. दिव्वे य जे उवसग्गे तहा तेरिच्छ-माणुसे।
जे भिक्खू सहई निच्चं से न अच्छइ मण्डले ॥

[५] दिव्य (देवतासंबंधी), मानुष (मनुष्यसम्बन्धी), और तिर्यञ्चसम्बन्धी जो उपसर्ग हैं, उन्हें जो भिक्षु सदा (समभाव से) सहन करता है, वह संसार में नहीं रहता।

विवेचन—दण्ड और प्रकार—कोई अपराध करने पर राजा या समाज के नेता द्वारा बन्धन, वध, ताडन आदि के रूप में दण्डित करना **द्रव्यदण्ड** है तथा जिन अपराधों या हिंसादिजनक प्रवृत्तियों से आत्मा दण्डित होती है, वह **भावदण्ड** है। प्रस्तुत में भावदण्ड का निर्देश है। भावदण्ड तीन प्रकार के हैं—मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड। दुष्प्रवृत्ति में संलग्न मन, वचन और काय, ये तीनों दण्डरूप हैं। इनसे चारित्रात्मा दण्डित होता है। अतः साधु को इन तीनों दण्डों का त्याग (निवृत्ति) करना और प्रशस्त मन, वचन, काया में प्रवृत्त होना चाहिए।[2]

तीन गौरव—अहंकार से उत्तप्त चित्त की विकृत स्थिति का नाम **गौरव** है। यह भी ऋद्धि (ऐश्वर्य), रस (स्वादिष्ट पदार्थों) और साता (सुखों) का होने से तीन प्रकार का है। साधक को इन तीनों से निवृत्त और निरभिमानता, मृदुता, नम्रता एवं सरलता में प्रवृत्त होना चाहिए।

तीन शल्य—द्रव्यशल्य बाण, कांटे की नोक को कहते हैं। वह जैसे तीव्र पीड़ा देता है, वैसे ही साधक को आत्मा में प्रविष्ट हुए दोषरूप ये भावशल्य निरन्तर उत्पीडित करते रहते हैं, आत्मा में चुभते रहते हैं। ये भावशल्य तीन प्रकार के हैं—मायाशल्य (कपटयुक्त आचरण), निदानशल्य (ऐहिक-पारलौकिक भौतिक सुखों की वांछा से तप-त्यागादिरूप धर्म का सौदा करना) और मिथ्यादर्शनशल्य—आत्मा का तत्त्व के प्रति मिथ्या—सिद्धान्तविपरीत—दृष्टिकोण। इन तीनों से

---

१. (क) बद्ध्यतेऽष्टविधेन कर्मणा येन हेतुभूतेन तद् बन्धनम्। —आचार्यनमि
(ख) स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्। रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवम्।
—आवश्यक हरिभद्रीय टीका

२. "दण्डयते चारित्रैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते एभिरात्मेति दण्डाः ·द्रव्यभावभेदभिन्नाः भावदण्डैरिहाधिकारः। मनःप्रभृतिभिश्च दुष्प्रयुक्तैर्दण्ड्यते आत्मेति।" —आचार्य हरिभद्र

निवृत्ति और निःशल्यता में प्रवृत्ति आवश्यक है। निःशल्य होने पर ही व्यक्ति व्रती या महाव्रती बन सकता है।[1]

तीन उपसर्ग—जो शारीरिक-मानसिक कष्टों का सृजन करते हैं, वे उपसर्ग हैं। उपसर्ग मुख्यतः तीन हैं—**देवसम्बन्धी उपसर्ग**—देवों द्वारा हास्यवश, द्वेषवश या परीक्षा के निमित्त दिया गया कष्ट, **तिर्यञ्चसम्बन्धी उपसर्ग**—तिर्यञ्चों द्वारा भय, प्रद्वेष, आहार, स्वसंतानरक्षण या स्थानसंरक्षण के लिए दिया जाने वाला कष्ट और **मनुष्यसम्बन्धी उपसर्ग**—मनुष्यों द्वारा हास्य, विद्वेष, विमर्श या कुशील-सेवन के लिए दूसरों को दिया जाने वाला कष्ट। साधु स्वयं उपसर्गों को सहन करने में प्रवृत्त होता है, परन्तु उपसर्ग देने वाले को या दूसरे को स्वयं द्वारा उपसर्ग देने, दिलाने से निवृत्त होता है।[2]

चार बोल

६. विगहा-कसाय-सन्नाणं झाणाणं च दुयं तहा।
जे भिक्खू वज्जई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[६] जो भिक्षु (चार) विकथाओं का, कषायों का, संज्ञाओं का तथा आर्त्त और रौद्र, दो ध्यानों का सदा वर्जन (त्याग) करता है, वह संसार में नहीं रहता।

विवेचन—विकथा : स्वरूप और प्रकार—संयमी जीवन को दूषित करने वाली, विरुद्ध एवं निरर्थक कथा (वार्ता) को विकथा कहते हैं। साधु को विकथाओं से उतना ही दूर रहना चाहिए, जितना कालसर्पिणी से दूर रहा जाता है। विकथा वही साधु करता है जिसे अध्यात्मसाधना में ध्यान, मौन, जप, स्वाध्याय आदि में रस न हो, व्यर्थ की गप्पें हांकने वाला और आहारादि की या राजनीति की व्यर्थ चर्चा करने वाला साधु अपने अमूल्य समय और शक्ति को नष्ट करता है। मुख्यतया विकथाएँ ४ हैं—**स्त्रीविकथा**—स्त्रियों के रूप, लावण्य, वस्त्राभूषण आदि से सम्बन्धित बातें करना, **भक्तविकथा**—भोजन की विविधताओं आदि से सम्बन्धित चर्चा में व्यस्त रहना, खाने-पीने की चर्चा वार्ता करना। **देशविकथा**—देशों की विविध वेषभूषा, शृंगार, रचना, भोजनपद्धति, गृहनिर्माणकला, रीतिरिवाज आदि की निन्दा-प्रशंसा करना। **राजविकथा**—शासकों की सेना, रानियों, युद्धकला भोगविलास आदि की चर्चा करना। साधु को इन चारों विकथाओं से निवृत्त होना एवं आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, उद्वेगिनी, संवेगिनी आदि वैराग्यरस युक्त धर्मकथाओं में प्रवृत्त होना चाहिए।[3]

कषाय : स्वरूप एवं प्रकार—कष अर्थात् संसार को जिससे आय—प्राप्ति हो। जिसमें प्राणी विविध दुःखों के कारण कष्ट पाते हैं, उसे कष यानी संसार कहते हैं। कषाय ही कर्मोत्पादक हैं और कर्मों से ही दुःख होता है। अतः साधु को कषायों से निवृत्ति और अकषाय भाव में प्रवृत्ति करनी

---

१. 'शल्यतेऽनेनेति शल्यम्।'—आचार्य हरिभद्र, 'शल्यते बाध्यते जन्तुरेभिरिति शल्यानि।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ६१२
निश्शल्यो व्रती —तत्त्वार्थसूत्र ७।१३

२. स्थानांग. वृत्ति, स्थान ३

३. (क) विरुद्धा विनष्टा वा कथा विकथा।—आचार्य हरिभद्र
(ख) स्थानांगसूत्र स्थान ४, वृत्ति

चाहिए। कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। साधु को इन चारों से निवृत्त और शान्ति, नम्रता या मृदुता, सरलता और संतोष में प्रवृत्त होना चाहिए।[1]

संज्ञा : स्वरूप और प्रकार—संज्ञा पारिभाषिक शब्द है। मोहनीय और असातावेदनीय कर्म के उदय से जब चेतनाशक्ति विकारयुक्त हो जाती है, तब 'संज्ञा'—(विकृत अभिलाषा) कहलाती है। संज्ञाएँ चार हैं—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा। ये संज्ञाएँ क्रमश: क्षुधावेदनीय, भयमोहनीय, वेदमोहोदय और लोभमोहनीय के उदय से जागृत होती हैं। साधु को इन चारों संज्ञाओं से निवृत्त और निराहारसंकल्प, निर्भयता, ब्रह्मचर्य एवं निष्परिग्रहता में प्रवृत्त होना चाहिए।[2]

दो ध्यान—यहाँ जिन दो ध्यानों से निवृत्त होने का संकेत है, वे हैं—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान। निश्चल होकर एक ही विषय का चिन्तन करना ध्यान है। ध्यान चार प्रकार के हैं—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इनका विवेचन तीसवें अध्ययन में किया जा चुका है।

पांच बोल

७. वएसु इन्दियत्थेसु समिईसु किरियासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छई मण्डले॥

[७] जो भिक्षु व्रतों (पांच महाव्रतों) और समितियों के पालन में तथा इन्द्रियविषयों और (पांच) क्रियाओं के परिहार में सदा यत्नशील रहता है; वह संसार में नहीं रहता।

विवेचन—पंचमहाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये जब मर्यादित रूप में ग्रहण किये जाते हैं, तब अणुव्रत कहलाते हैं। अणुव्रत का अधिकारी गृहस्थ होता है। वह हिंसा आदि का सर्वथा परित्याग नहीं कर सकता। जबकि साधु-साध्वी वर्ग का जीवन गृहस्थी के उत्तरदायित्व से मुक्त होता है, वह पूर्ण आत्मबल के साथ पूर्ण चारित्र के पथ पर अग्रसर होता है और अहिंसा आदि महाव्रतों का तीन करण और तीन योग से (यानी नव कोटि से) सदा सर्वथा पूर्ण साधना में प्रवृत्त होता है। ये पंचमहाव्रत साधु के पांच मूलगुण कहलाते हैं।[3]

समिति : स्वरूप और प्रकार—विवेकयुक्त यतना के साथ प्रवृत्ति करना—समिति है। समितियाँ पांच हैं—ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपसमिति और परिष्ठापनासमिति।

ईर्यासमिति—युगपरिमाण भूमि को एकाग्रचित्त से देखते हुए, जीवों को बचाते हुए यतनापूर्वक गमनागमन करना। **भाषासमिति**—आवश्यकतावश भाषा के दोषों का परिहार करते हुए यतनापूर्वक हित, मित एवं स्पष्ट वचन बोलना। **एषणासमिति**—गोचरी संबंधी ४२ दोषों से रहित शुद्ध आहार-पानी तथा वस्त्र-पात्र आदि उपधि का ग्रहण एवं परिभोग करना। **आदानभाण्डमात्र**

---

१. (क) कष्यते प्राणी विविधैर्दु:खैरस्मिन्निति कष: संसार:। तस्य आयो लाभो येभ्यस्ते कषाया:।
—आचार्य नमि

(ख) 'चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स॥' —दशवैकालिक ८ अ.

२. स्थानांगसूत्र स्थान ४, वृत्ति

३. आवश्यकसूत्र हरिभद्रीय टीका

"आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम्।
स्वयमपि महान्ति यस्मान् महाव्रतानीत्यतस्तानि॥" —ज्ञानार्णव, आचार्य शुभचन्द्र

निक्षेपणासमिति—वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों को उपयोगपूर्वक ग्रहण करना एवं जीवरहित प्रमार्जित भूमि पर रखना। **परिष्ठापनिकासमिति**—मलमूत्रादि तथा भुक्तशेष अन्नपान तथा भग्न पात्रादि परठने योग्य वस्तु को जीवरहित एकान्त स्थण्डिलभूमि में परठना-विसर्जन करना। प्रस्तुत पांच समितियाँ सत्प्रवृत्तिरूप होते हुए भी असावधानी से, अयतना से जीवविराधना हो, ऐसी प्रवृत्ति करने से निवृत्त होना भी है। यह तथ्य साधु को ध्यान में रखना है।[1]

क्रिया : स्वरूप और प्रकार—कर्मबन्ध करने वाली चेष्टा क्रिया है। आगमों में यों तो विस्तृत रूप से क्रिया के २५ भेद कहे हैं। किन्तु उन सबका सूत्रोक्त पांच क्रियाओं में अन्तर्भाव हो जाता है। वे इस प्रकार हैं—**कायिकी**—शरीर द्वारा होने वाली, **आधिकरणिकी**—जिसके द्वारा आत्मा नरकादि दुर्गति का अधिकारी होता है (घातक शस्त्रादि अधिकरण कहलाते हैं।), **प्राद्वेषिकी**—जीव या अजीव किसी पदार्थ के प्रति द्वेषभाव (ईर्ष्या, मत्सर, घृणा आदि) से होने वाली, **पारितापनिकी**—किसी प्राणी को परितापन (ताडन आदि) से होने वाली क्रिया और **प्राणातिपातिकी**—स्व और पर के प्राणातिपात से होने वाली क्रिया।[2]

पंचेन्द्रिय-विषय—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श, ये पांच इन्द्रियविषय हैं, इन पांचों में मनोज्ञ पर राग और अमनोज्ञ पर द्वेष न करना, अर्थात्—पांचों विषयों के प्रति राग-द्वेष से निवृत्ति और तटस्थता-समभाव में प्रवृत्ति ही साधक के लिए आवश्यक है।[3]

छह बोल

> ८. लेसासु छसु काएसु छक्के आहारकारणे।
> जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[८] जो भिक्षु (कृष्णादि) छह लेश्याओं, पृथ्वीकाय आदि छह कायों, तथा आहार के छह कारणों में सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रहता।

विवेचन—लेश्याएँ : स्वरूप और प्रकार—लेश्या का संक्षेप में अर्थ होता है—विचारों की तरंग या मनोवृत्ति। आत्मा के जिन शुभाशुभ परिणामों द्वारा शुभाशुभ कर्म का संश्लेष होता है, वे परिणाम लेश्या कहलाते हैं। ये लेश्याएँ निकृष्टतम से लेकर प्रशस्ततम तक ६ हैं, अर्थात्—ऐसे परिणामों की धाराएँ छह हैं, जो उत्तरोत्तर प्रशस्त होती जाती हैं। वे इस प्रकार हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या। इनमें से साधक को प्रारंभ की तीन अधर्म-लेश्याओं से निवृत्ति और तीन धर्मलेश्याओं में प्रवृत्ति करना है।[4]

---

१. (क) सम्-एकीभावेन, इतिः—प्रवृत्तिः समितिः, शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टेत्यर्थः। —आचार्य नमि
 (ख) ईर्याविषये एकीभावेन चेष्टनमीर्यासमितिः। —आचार्य हरिभद्र
 (ग) भाषासमितिर्नाम हितमितासंदिग्धार्थभाषणम्। —आचार्य हरिभद्र
 (घ) भाण्डमात्रे आदान-निक्षेपणया समितिः सुन्दरचेष्टेत्यर्थः। —आ. हरिभद्र
 (ङ) परितः सर्वप्रकारैः स्थापनमपुनर्ग्रहणतया न्यासः, तेन निर्वृत्ता पारिष्ठापनिकी।

२. स्थानांग., स्थान ५ वृत्ति

३. आवश्यक. वृत्ति, आचार्य हरिभद्र

४. (क) संश्लिष्यते आत्मा तैस्तैः परिणामान्तरैः।……लेश्याभिरात्मनि कर्माणि संश्लिष्यन्ते।—आवश्यक. चूर्णि
 (ख) देखिये—उत्तराध्ययनसूत्र, लेश्या-अध्ययन

षट्काय : स्वरूप और कर्त्तव्य—जीवनिकाय (संसारी जीवों के समूह) छह हैं। इन्हें षट्काय भी कहते हैं। वे हैं—पृथ्वीकाय, (पृथ्वीरूप शरीर वाले जीव), अप्काय—(जलरूप शरीर वाले), तेजस्काय (अग्निरूप शरीर वाले), वायुकाय—(वायुरूप शरीर वाले जीव) और वनस्पतिकाय (वनस्पतिरूप शरीर वाले)। ये पांच स्थावर भी कहलाते हैं। इनके सिर्फ एक ही इन्द्रिय (स्पर्शेन्द्रिय) होती है। छठा **त्रसकाय** है, त्रसनामकर्म के उदय से गतिशीलशरीरधारी त्रसकायिक जीव कहलाते हैं। ये चार प्रकार के हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय (नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव)। इन षट्कायिक जीवों की हिंसा से निवृत्ति और इनकी दया या रक्षा में प्रवृत्ति करना-कराना साधुधर्म का अंग है।[१]

आहार के विधान-निषेध के छह कारण—इसी शास्त्र में पहले सामाचारी अध्ययन (अ. २६) में मूलपाठ में आहार करने के ६ और आहार न करने—आहारत्याग करने के ६ कारण बता चुके हैं। अतः प्रस्तुत में साधु को आहार करने के ६ कारणों से आहार में प्रवृत्ति तथा आहार त्याग करने से निवृत्ति करना ही अभीष्ट है।[२]

सात बोल

९. पिण्डोग्गहपडिमासु भयट्ठाणेसु सत्तसु।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[९] जो भिक्षु (सात) पिण्डावग्रहों में, आहारग्रहण की सात प्रतिमाओं में और सात भय-स्थानों में सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रहता।

विवेचन—पिण्डावग्रह प्रतिमा : स्वरूप और प्रकार—सात पिण्डैषणाएँ—अर्थात् आहार से सम्बन्धित एषणाएँ हैं, जिनका वर्णन तपोमार्गगति अध्ययन (३० वाँ, गा. २५) में किया जा चुका है। संसृष्टा, असंसृष्टा, उद्धृता, अल्पलेपा, अवगृहीता, प्रगृहीता और उज्झितधर्मा, ये सात पिण्डैषणाएँ आहार से सम्बन्धित सात प्रतिमाएँ (प्रतिज्ञाएँ) हैं।[३]

अवग्रहप्रतिमा—अवग्रह का अर्थ स्थान है। स्थानसम्बन्धी सात प्रतिज्ञाएँ अवग्रहसम्बन्धी प्रतिमाएँ कहलाती हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) मैं अमुक प्रकार के स्थान में रहूँगा, दूसरे में नहीं। (२) मैं दूसरे साधुओं के लिए स्थान की याचना करूँगा, दूसरे द्वारा याचित स्थान में रहूँगा। यह प्रतिमा गच्छान्तर्गत साधुओं की होती है। (३) मैं दूसरों के लिए स्थान की याचना करूँगा, मगर दूसरों द्वारा याचित स्थान में नहीं रहूँगा। यह प्रतिमा यथालन्दिक साधुओं की होती है। (४) मैं दूसरों के लिए स्थान की याचना नहीं करूँगा, किन्तु दूसरों द्वारा याचित स्थान में रहूँगा। यह जिन-कल्पावस्था का अभ्यास करने वाले साधुओं में होती है। (५) मैं अपने लिए स्थान की याचना करूँगा, दूसरों के लिए नहीं। ऐसी प्रतिमा जिनकल्पिक साधुओं की होती है। (६) जिसका स्थान मैं ग्रहण करूँगा, उसी के यहाँ 'पलाल' आदि का संस्तारक प्राप्त होगा तो लूँगा, अन्यथा सारी रात उकडू या नैषेधिक आसन से बैठा-बैठा बिता दूँगा। ऐसी प्रतिमा अभिग्रहधारी या जिनकल्पिक की

१. स्थानांग., स्थान ६ वृत्ति, आवश्यकसूत्रवृत्ति
२. देखिये—उत्तरा. मूलपाठ अ. २६, गा. ३३, ३४, ३५
३. देखिये—उत्तरा. अ. ३०, गा. २५

होती है। (७) जिसका स्थान मैं ग्रहण करूँगा, उसी के यहाँ सहजभाव से पहले से रखा हुआ शिलापट्ट या काष्ठपट्ट प्राप्त होगा तो उसका उपयोग करूँगा, अन्यथा उकडू या नैषेधिक आसन से बैठे-बैठे सारी रात विता दूंगा। यह प्रतिमा भी जिनकल्पी या अभिग्रहधारी की ही होती है।

सप्त भयस्थान—नाम और स्वरूप— साधुओं को भय से मुक्त और निर्भयतापूर्वक प्रवृत्ति करना आवश्यक है। भय के कारण या आधार (स्थान) सात हैं—(१) **इहलोकभय**—स्वजातीय प्राणी से डरना, (२) **परलोकभय**—दूसरी जाति वाले प्राणी से डरना, (३) **आदानभय**—अपनी वस्तु की रक्षा के लिए चोर आदि से डरना, (४) **अकस्मात्भय**—अकारण ही स्वयं रात्रि आदि में सशंक होकर डरना, (५) **आजीवभय**—दुष्काल आदि में जीवननिर्वाह के लिए भोजनादि की अप्राप्ति के या पीड़ा के दुर्विकल्पवश डरना, (६) **मरणभय**—मृत्यु से डरना और (७) **अपयशभय**—अपयश (वदनामी) की आशंका से डरना। भयमोहनीय-कर्मोदयवश आत्मा का उद्वेग रूप परिणामविशेष भय कहलाता है। भय से चारित्र दूषित होता है। अतः साधु को न तो स्वयं डरना चाहिए और न दूसरों को डराना चाहिए।[2]

आठवाँ, नौवाँ एवं दसवाँ बोल

१०. मयेसु वम्भगुत्तीसु भिक्खुधम्मंमि दसविहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[१०] जो भिक्षु (आठ) मदस्थानों में, (नौ) ब्रह्मचर्य की गुप्तियों में और दस प्रकार के भिक्षुधर्म में सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रहता।

विवेचन—आठ मदस्थान—मानमोहनीयकर्म के उदय से आत्मा का उत्कर्ष (अहंकार) रूप परिणाम मद है। उसके ८ भेद हैं—जातिमद, कुलमद, वलमद, रूपमद, तपोमद, श्रुतमद, लाभमद और ऐश्वर्यमद।[3]

इन मदों से निवृत्ति और नम्रता-मृदुता में प्रवृत्ति साधु के लिए आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियाँ—ब्रह्मचर्य की भलीभांति सुरक्षा के लिए ९ गुप्तियाँ (वाड़) हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—(१) विविक्तवसतिसेवन, (२) स्त्रीकथापरिहार, (३) निषद्यानुपवेशन, (४) स्त्री-अंगोपांगादर्शन, (५) कुड्यान्तरशब्दश्रवणादिवर्जन, (६) पूर्वभोगाऽस्मरण, (७) प्रणीत-भोजनत्याग, (८) अतिमात्रभोजनत्याग और (९) विभूषापरिवर्जन। इनका अर्थ नाम से ही स्पष्ट है। साधु को ब्रह्मचर्यविरोधी वृत्तियों से निवृत्ति और संयमपोषक गुप्तियों में प्रवृत्ति करनी चाहिए।[4]

---

१. स्थानांग. स्थान ७।५४५ वृत्ति, पत्र ३८६-३८७

२. समवायांग. समवाय ७ वाँ

३. (क) 'मदो नाम मानोदयादात्मन उत्कर्षपरिणामः।' —आवश्यक. चूर्णि

४. (क) उत्तरा. अ. १६ के अनुसार यह वर्णन है
(ख) समवायांग, ९वें समवाय में नौ गुप्तियों में कुछ अन्तर है

दशविध श्रमणधर्म—(१) क्षान्ति, (२) मुक्ति (निर्लोभता), (३) आर्जव (सरलता), (४) मार्दव (मृदुता-कोमलता, (५) **लाघव** (लघुता-अल्प उपकरण), (६) सत्य, (७) संयम(हिंसादि आश्रव त्याग), (८) तप, (९) त्याग (सर्वसंगत्याग) और (१०) आकिंचन्य—निष्परिग्रहता। इन दश धर्मों में प्रवृत्ति और इनके विपरीत दस पापों से दूर रहना आवश्यक है।[1]

ग्यारहवाँ-बारहवाँ बोल

११. उवासगाणं पडिमासु भिक्खूणं पडिमासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले ॥

[११] जो भिक्षु उपासकों (श्रावकों) की प्रतिमाओं में और भिक्षुओं की प्रतिमाओं में सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रहता है।

विवेचन—ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ—(१) दर्शनप्रतिमा—किसी प्रकार का राजाभियोग आदि आगार न रख कर निरतिचार शुद्ध सम्यग्दर्शन का पालन करना। इसकी अवधि १ मास की है। **(२) व्रतप्रतिमा**—इसमें व्रती श्रावक द्वारा ससम्यक्त्व पांच अणुव्रतादि व्रतों की प्रतिज्ञा का पालन करना होता है। इसकी अवधि दो मास की है। **(३) सामायिकप्रतिमा**—प्रातः सायंकाल निरतिचार सामायिक व्रत की साधना करता है। इससे दृढ़ समभाव उत्पन्न होता है। अवधि तीन मास। **(४) पौषधप्रतिमा**—अष्टमी आदि पर्व दिनों में चतुर्विध आहार आदि का त्यागरूप परिपूर्ण पौषधव्रत का पालन करना। अवधि—चार मास। **(५) नियमप्रतिमा**—पूर्वोक्त व्रतों का भलीभाँति पालन करने के साथ-साथ अस्नान, रात्रिभोजन त्याग, कायोत्सर्ग, ब्रह्मचर्यमर्यादा आदि नियम ग्रहण करना। अवधि कम से कम १-२ दिन, अधिक से अधिक पांच मास। **(६) ब्रह्मचर्यप्रतिमा**—ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना। अवधि —उत्कृष्ट छह मास की। **(७) सचित्तत्यागप्रतिमा**—अवधि—उत्कृष्ट ७ मास की। **(८) आरम्भत्यागप्रतिमा**—स्वयं आरम्भ करने का त्याग। अवधि—उत्कृष्ट ८ मास की। **(९) प्रेष्यत्यागप्रतिमा**—दूसरों से आरम्भ कराने का त्याग। अवधि—उत्कृष्ट ९ मास। **(१०) उद्दिष्टभक्तत्यागप्रतिमा**—इसमें शिरोमुण्डन करना होता है। अवधि—उत्कृष्ट १० मास **(११) श्रमणभूतप्रतिमा**—मुनि सदृश वेष तथा बाह्य आचार का पालन। अवधि—उत्कृष्ट ११ मास। इन ग्यारह प्रतिमाओं पर श्रद्धा रखना और अश्रद्धा तथा विपरीत प्ररूपणा से दूर रहना साधु के लिए आवश्यक है।[2]

बारह भिक्षुप्रतिमा–(१) प्रथम प्रतिमा—एक दत्ति आहार, एक दत्ति पानी ग्रहण करना। अवधि एक मास। **(२) द्वितीय प्रतिमा**—दो दत्ति आहार और दो दत्ति पानी। अवधि १ मास। **(३ से ७) वीं प्रतिमा**—क्रमशः एक-एक दत्ति आहार और एक-एक दत्ति पानी बढ़ाते जाना। अवधि—प्रत्येक की एक-एक मास की। **(८) अष्टम प्रतिमा**—एकान्तर चौविहार उपवास करके ७ दिन-रात तक रहना। ग्राम के बाहर उत्तानासन, पार्श्वासन या निषद्यासन से ध्यान लगाना।

---

१. (क) ये दशविध श्रमणधर्म नवतत्त्वप्रकरण के अनुसार हैं
(ख) तत्त्वार्थसूत्र में क्रम और नाम इस प्रकार हैं—**"उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।"** —अ ९।६

२. (क) दशाश्रुतस्कन्ध टीका (ख) उत्तरा. बृहद्वृत्ति, भावविजयटीका (ग) समवायांग. स. ११

उपसर्ग सहन करना। (९) **नवम प्रतिमा**—सात अहोरात्र तक चौविहार बेले-बेले पारणा करना। ग्राम के बाहर एकान्त स्थान में दण्डासन, लगुडासन या उत्कुटुकासन से ध्यान करना। (१०) **दसवीं प्रतिमा**—सप्तरात्रि तक चौविहार तेले-तेले पारणा करना। ग्राम के बाहर गोदुहासन, आम्रकुब्जासन या वीरासन से ध्यान करना, (११) **ग्यारहवीं प्रतिमा**—एक अहोरात्र (आठ पहर) तक चौविहार बेले के द्वारा आराधना करना। नगर के बाहर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना। (१२) **बारहवीं प्रतिमा**—यह प्रतिमा केवल एक रात्रि की है। चौविहार तेला करके आराधन करना। ग्राम से बाहर खड़े होकर, मस्तक को थोड़ा-सा झुकाकर, एक पुद्गल पर दृष्टि रख कर निर्निमेष नेत्रों से कायोत्सर्ग करना, समभाव से उपसर्ग सहना।

इन बारह प्रतिमाओं का यथाशक्ति आचरण करना, इन पर श्रद्धा रखना तथा इनके प्रति अश्रद्धा एवं अतिचार से और आचरण की शक्ति को छिपाने से दूर रहना साधु के लिए अनिवार्य है।[1]

तेरहवां, चौदहवाँ और पन्द्रहवां बोल—

१२. किरियासु भूयगामेसु परमाहम्मिएसु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले ॥

[१२] (तेरह) क्रियाओं में, (चौदह प्रकार के) भूतग्रामों (जीवसमूहों) में, तथा (पन्द्रह) परमाधार्मिक देवों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रुकता।

विवेचन—तेरह क्रियास्थान—क्रियाओं के स्थान अर्थात् कारण को क्रियास्थान कहते हैं। वे क्रियाएँ १३ हैं—(१) अर्थक्रिया, (२) अनर्थक्रिया, (३) हिंसाक्रिया, (४) अकस्मात्क्रिया, (५) दृष्टिविपर्यासक्रिया (६) मृषाक्रिया, (७) अदत्तादानक्रिया, (८) अध्यात्मक्रिया (मन से होने वाली शोकादिक्रिया). (९) मानक्रिया, (१०) मित्रक्रिया (प्रियजनों को कठोर दण्ड देना), (११) मायाक्रिया, (१२) लोभक्रिया, और (१३) ईर्यापथिकी क्रिया (अप्रमत्त संयमी को गमनागमन से लगने वाली क्रिया)।

संयमी साधक को इन क्रियाओं से बचना चाहिए; तथा ईर्यापथिकी क्रिया में सहजभाव से प्रवृत्त होना चाहिए।[2]

चौदह भूतग्राम—सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी-पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय, इन सातों के पर्याप्त और अपर्याप्त मिला कर कुल १४ भेद जीवसमूह के होते हैं। साधु को इनकी विराधना या किसी प्रकार की पीड़ा देने से बचना और इनकी दया व रक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए।[3]

पन्द्रह परमाधार्मिक—(१) अम्ब, (२) अम्बरीष, (३) श्याम, (४) शबल, (५) रौद्र, (६) उपरौद्र, (७) काल, (८) महाकाल, (९) असिपत्र, (१०) धनुः (११) कुम्भ, (१२) वालुक, (१३) वैतरणी, (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष। ये १५ परमाधार्मिक असुर नारक जीवों को

---

१. (क) दशाश्रुतस्कन्ध, भगवती सूत्र, हरिभद्रसूरिकृत पंचाशक। समवायांग, सम. १२

२. (क) समवायांग, समवाय १३; (ख) सूत्रकृतांग २।२

३. समवायांग, समवाय १४

मनोविनोद के लिए यातना देते हैं। जिन संक्लिष्ट परिणामों से परमाधार्मिक पर्याय प्राप्त होती है, उनमें प्रवृत्ति न करना, उत्कृष्ट परिणामों में प्रवृत्त होना साधु के लिए आवश्यक है।[1]

सोलहवां और सत्रहवां बोल—

१३. गाहासोलसएहिं तहा असंजमम्मि य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[१३] जो भिक्षु गाथा-षोडशक और (सत्रह प्रकार के) असंयम में उपयोग रखता है; वह संसार में नहीं रुकता।

विवेचन—गाथाषोडशक: आशय और नाम—यहाँ सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन गाथाषोडशक शब्द से अभिप्रेत हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) स्वसमय-परसमय, (२) वैतालीय (३) उपसर्गपरिज्ञा, (४) स्त्रीपरिज्ञा, (५) नरकविभक्ति, (६) वीरस्तुति, (७) कुशीलपरिभाषा, (८) वीर्य, (९) धर्म, (१०) समाधि, (११) मार्ग, (१२) समवसरण, (१३) याथातथ्य, (१४) ग्रन्थ, (१५) आदानीय और (१६) गाथा। इन सोलह अध्ययनों में उक्त आचार-विचार का भली-भांति पालन करना तथा अनाचार और दुर्विचार से निवृत्त होना साधु के लिए आवश्यक है।[2]

सत्रह प्रकार का असंयम—(१-९) पृथ्वीकाय से लेकर पंचेन्द्रिय तक ९ प्रकार के जीवों की हिंसा में कृत-कारित-अनुमोदित रूप से प्रवृत्त होना, (१०) अजीव-असंयम (असंयमजनक या असंयम-वृद्धिकारक वस्तुओं का ग्रहण एवं उपयोग), (११) प्रेक्षा-असंयम-(सजीव स्थान में उठना-बैठना, सोना आदि) (१२) उपेक्षा-असंयम-(गृहस्थ के पापकर्मों का अनुमोदन करना; (१३) अपहृत्य-असंयम-(अविधि से परठना), (१४) प्रमार्जना-असंयम-(वस्त्र-पात्रादि का प्रमार्जन न करना) (१५) मनः असंयम-(मन में दुर्भाव रखना), (१६) वचन असंयम-(दुर्वचन बोलना), (१७) काय-असंयम (गमनागमनादि में असंयम रखना)।

उपर्युक्त १७ प्रकार के असंयम से निवृत्त होना और १७ प्रकार के संयम में प्रवृत्त होना साधु के लिए आवश्यक है।[3]

अठारहवां, उन्नीसवां और बीसवां बोल—

१४. बम्भम्मि नायज्झयणेसु ठाणेसु य ऽसमाहिए।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[१४] (अठारह प्रकार के) ब्रह्मचर्य में, (उन्नीस) ज्ञातासूत्र के अध्ययनों में, तथा वीस प्रकार के असमाधिस्थानों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रुकता।

---

१. (क) समवायांग, समवाय १५, वृत्ति, पत्र २८ (ख) गच्छाचारपइन्ना, पत्र ६४-६५
(ग) 'एत्थ जेहिं परमाधम्मियत्तणं भवति तेसु ठाणेसु जं वट्टितं।' ....—जिनदासमहत्तर

२. (क) "गाहाए सह सोलस अज्झयणा तेसु सुत्तगडपढमसुतक्खंध-अज्झयणेसु इत्यर्थः।"
—आवश्यकचूर्णि (जिनदास महत्तर)
(ख) समवायांग, समवाय १६

३. (क) आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति, (ख) समवायांग समवाय १७

विवेचन—अठारह प्रकार का ब्रह्मचर्य—देव सम्बन्धी भोगों का मन-वचन-काया से स्वयं सेवन करना, दूसरों से कराना और करते हुए को भला जानना, ये नौ भेद वैक्रिय शरीर सम्बन्धी अब्रह्मचर्य के होते हैं। इसी प्रकार नौ भेद मनुष्य—तिर्यञ्चसम्बन्धी औदारिक भोग—सेवनरूप अब्रह्मचर्य के समझ लेने चाहिए। कुल मिला कर अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य से विरत होना और अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य में प्रवृत्त होना साधु के लिए आवश्यक है।[1]

ज्ञाताधर्मकथा के १९ अध्ययन—(१) उत्क्षिप्त (—मेघकुमारजीवत्त), (२) संघाट, (३) अण्ड, (४) कूर्म, (५) शैलक, (६) तुम्ब, (७) रोहिणी, (८) मल्ली, (९) माकन्दी, (१०) चन्द्रमा, (११) दावदव, (१२) उदक, (१३) मण्डूक, (१४) तेतलि, (१५) नन्दीफल, (१६) अवरकंका, (१७) आकीर्णक, (१८) सुंसुमादारिका, (१९) पुण्डरीक। उक्त उन्नीस उदाहरणों के भावानुसार संयम-साधना में प्रवृत्त होना तथा इनसे विपरीत असंयम से निवृत्त होना साधुवर्ग के लिए आवश्यक है।[2]

बीस असमाधिस्थान—(१) द्रुत-द्रुतचारित्व, (२) अप्रमृज्यचारित्व, (३) दुष्प्रमृज्यचारित्व, (४) अतिरिक्तशय्यासनिकत्व (अमर्यादित शय्या और आसन), (५) रात्निकपराभव (गुरुजनों का अपमान), (६) स्थविरोपघात (स्थविरों की अवहेलना), (७) भूतोपघात, (८) संज्वलन (क्षण-क्षण—बार-बार क्रोध करना), (९) दीर्घ कोप (लम्बे समय तक क्रोध युक्त रहना), (१०) पृष्ठमांसिकत्व (निन्दा, चुगली), (११) अभीक्ष्णावभाषण (सशंक होने पर भी निश्चित भाषा बोलना), (१२) नवाधिकरण-करण, (१३) उपशान्तकलहोदीरण, (१४) अकालस्वाध्याय, (१५) सरजस्क-पाणि-भिक्षाग्रहण, (१६) शब्दकरण (प्रहररात्रि बीते विकाल में जोर-जोर से बोलना), (१७) झंझाकरण (संघविघटनकारी वचन बोलना), (१८) कलहकरण (आक्रोशादि रूप कलह करना), (१९) सूर्यप्रमाणभोजित्व (सूर्यास्त होने तक दिनभर कुछ न कुछ खाते पीते रहना), और (२०) एषणा-असमितत्व (एषणासमिति का उचित ध्यान न रखना)।

जिस कार्य के करने से चित्त में अशान्ति एवं अप्रशस्त भावना उत्पन्न हो, ज्ञानादि रत्नत्रय से आत्मा भ्रष्ट हो, उसे असमाधि कहते हैं, और जिस सुकार्य के करने से चित्त में शान्ति, स्वस्थता और मोक्षमार्ग में अवस्थिति रहे, उसे समाधि कहते हैं। प्रस्तुत में असमाधि से निवृत्त होना और समाधि में प्रवृत्त होना साधु के लिए आवश्यक है।[3]

इक्कीसवां और बाईसवां बोल—

१५. एगवीसाए सबलेसु बावीसाए परीसहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[१५] इक्कीस शवल दोषों में और बाईस परीषहों में जो भिक्षु सदैव उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रहता।

---

१. समवायांग, समवाय १८

२. (क) ज्ञाताधर्मकथा सूत्र अ. १ से १९ तक, (ख) समवायांग, समवाय १९

३. (क) समवायांग, समवाय २०, (ख) दशाश्रुतस्कन्ध दशा १

(ग) समाधानं समाधिः—चेतसःस्वास्थ्यं, मोक्षमार्गेऽवस्थितिरित्यर्थः।—आचार्य हरिभद्र

विवेचन—इक्कीस शबल दोष—(१) हस्तकर्म, (२) मैथुन, (३) रात्रिभोजन, (४) आधाकर्म, (५) सागारिक पिण्ड (शय्यातर का आहार लेना), (६) औद्देशिक (साधु के निमित्त बनाया, खरीदा, या लाया हुआ आहार ग्रहण करना), (७) प्रत्याख्यानभंग, (८) गणपरिवर्तन (छह मास में गण से गणान्तर में जाना), (९) उदकलेप (महीने में तीन बार जंघा प्रमाण जल में प्रवेश करके नदी आदि पार करना) (१०) मायास्थान (एक मास में ३ बार मायास्थानों का सेवन करना), (११) राजपिण्ड, (१२) जानबूझ कर हिंसा करना, (१३) इरादा पूर्वक मृषावाद करना (१४) इरादा पूर्वक अदत्तादान करना,(१५) सचित्त पृथ्वीस्पर्श (१६) सस्निग्ध तथा सचित्त रज वाली पृथ्वी, शिला, तथा सजीव लकड़ी आदि पर शयनासनादि, (१७) सजीव स्थानों पर शयनासनादि, (१८) जानबूझ कर कन्द मूलादि का सेवन करना, (१९) वर्ष में दस बार उदक लेप, (२०) वर्ष में दस बार माया स्थानसेवन, और (२१) बार-बार सचित्त जल वाले हाथ, कुड़छी आदि से दिया जाने वाला आहार ग्रहण करना।

उपर्युक्त शबलदोषों का सर्वथा त्याग साधु के लिए अनिवार्य है। जिन कार्यो के करने से चारित्र मलिन हो जाता है, उन्हें शबलदोष कहते हैं।

बाईस परीषह—दूसरे अध्ययन में इनके नाम तथा स्वरूप का उल्लेख किया जा चुका है। साधु को इन परीषहों को समभाव से सहन करना चाहिए।[2]

तेईसवाँ और चौवीसवाँ बोल

१६. तेवीसइ सूयगडे रूवाहिएसु सुरेसु अ।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[१६] सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों में तथा रूपाधिक (सुन्दर रूप वाले) सुरों—अर्थात्-चौबीस प्रकार के देवों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रहता।

विवेचन—सूत्रकृतांगसूत्र के २३ अध्ययन—प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययनों के नाम सोलहवें बोल में बताये गए हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ७ अध्ययन इस प्रकार हैं—(१) पौण्डरीक, (२) क्रियास्थान, (३) आहारपरिज्ञा, (४) प्रत्याख्यानक्रिया, (५) आचारश्रुत, (६) आर्द्रकीय और (७) नालन्दीय। प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ७, ये सब मिला कर २३ अध्ययन हुए। उक्त २३ अध्ययनों के भावानुसार संयमी जीवन में प्रवृत्त होना और असंयम से निवृत्त होना साधुवर्ग के लिए आवश्यक है।[3]

---

१. (क) समवायांग. समवाय २१ (ग) दशाश्रुतस्कन्ध दशा २
(ग) "शबलं कर्बुरं चारित्रं यैः क्रियाविशेषैर्भवति ते शबलास्तद्योगात् साधवोऽपि।"
—समवायांग समवाय. २१ टीका।

२. (क) उत्तराध्ययन अ. २ मूलपाठ, (ख) परीसहिज्जते इति परीसहा अहियासिज्जंतित्ति वुत्तं भवति।
—जिनदास महत्तर

३. (क) सूत्रकतांग. १ से २३ अध्ययन तक (ख) समवायांग, समवाय. २३

चौवीस प्रकार के देव—१० प्रकार के भवनपति देव, ८ प्रकार के व्यन्तरदेव, ५ प्रकार के ज्योतिष्कदेव, और वैमानिक देव (समस्त वैमानिक देवों को सामान्यरूप से एक ही प्रकार में गिना है)। दूसरी व्याख्या के अनुसार-चौवीस तीर्थंकर देवों का ग्रहण किया गया है।[1]

मुमुक्षु को चौवीस जाति के देवों के भोग-जीवन की न तो प्रशंसा करना और न ही निन्दा, किन्तु तटस्थभाव रखना चाहिए। चौवीस तीर्थंकरों का ग्रहण करने पर इनके प्रति श्रद्धा-भक्ति रखना, इनकी आज्ञानुसार चलना साधु के लिए आवश्यक है।

पच्चीसवाँ और छब्बीसवाँ बोल

१७. पणवीस—भावणाहिं उद्देसेसु दसाइणं।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[१७] पच्चीस भावनाओं, तथा दशा आदि (दशाश्रुतस्कन्ध, व्यवहार, और बृहत्कल्प) के (छब्बीस) उद्देशों में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रहता।

विवेचन—पांच महाव्रतों की २५ भावनाएँ—प्रथम महाव्रत की पांच भावना—(१) ईर्यासमिति, (२) आलोकित पानभोजन, (३) आदान-निक्षेपसमिति, (४) मनोगुप्ति, और (५) वचनगुप्ति। **द्वितीय महाव्रत को पांच भावना**—(१) अनुविचिन्त्य भाषण, (२) क्रोध-विवेक (त्याग), (३) लोभविवेक, (४) भयविवेक और (५) हास्यविवेक। **तृतीय महाव्रत की ५ भावना**—(१) अवग्रहानुज्ञापना, (२) अवग्रहसीमापरिज्ञानता, (३) अवग्रहानुग्रहणता (अवग्रहस्थित तृण, पट्ट आदि के लिए पुनः अवग्रहस्वामी की आज्ञा लेकर ग्रहण करना), (४) गुरुजनों तथा अन्य साधर्मिकों से भोजनानुज्ञा-प्राप्त करना, और (५) साधर्मिकों से अवग्रह-अनुज्ञा प्राप्त करना,। **चतुर्थ महाव्रत की ५ भावना**—(१) स्त्रियों में कथावर्जन (अथवा स्त्रीविषयकचर्चात्याग), (२) स्त्रियों के अंगोपांगों का अवलोकन-वर्जन, (३) अतिमात्र एवं प्रणीत पान-भोजनवर्जन, (४) पूर्वभुक्तभोग-स्मृति-वर्जन, और (५) स्त्री आदि से संसक्त शयनासन-वर्जन। **पंचम महाव्रत की ५ भावना**—(१-५) पांचों इन्द्रियों के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के इन्द्रियगोचर होने पर मनोज्ञ पर रागभाव और अमनोज्ञ पर द्वेषभाव न रखना। ५ महाव्रतों की इन २५ भावनाओं द्वारा रक्षा करना तथा संयमविरोधी भावनाओं से निवृत्त होना साधु के लिए आवश्यक है।[2]

दशाश्रुतस्कन्ध आदि सूत्रत्रयी के २६ उद्देशक—दशाश्रुतस्कन्ध के १० उद्देश, बृहत्कल्प के ६ उद्देश और व्यवहारसूत्र के १० उद्देश। कुल मिला कर २६ उद्देश होते हैं। इन तीनों सूत्रों में साधु-जीवन सम्बन्धी आचार, आत्मशुद्धि एवं शुद्ध व्यवहार की चर्चा है। साधु को इन २६ उद्देशों के अनुसार अपना आचार, व्यवहार एवं आत्मशुद्धि का आचरण करना चाहिए।[3]

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६ : भवण-पण-जोइ-वेमाणिया य, दस अट्ठ पंच एगविहा।
इति चउवीसं देवा, केई पुण बेंति अरिहंता॥

(ख) समवायांग. समवाय २४.

२. (क) प्रश्नव्याकरण संवरद्वार, (ख) समवायांग समवाय २५, (ग) आचारांग २।१५

३. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६, (ख) दशाश्रुत. बृहत्कल्प एवं व्यवहारसूत्र

सत्ताईस वाँ और अट्ठाईस वाँ बोल

१८. अणगारगुणेहिं च पकप्पम्मि तहेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले ॥

[१८] (सत्ताईस) अनगारगुणों में और (आचार) प्रकल्प (आचारांग के २८ अध्ययनों) में जो भिक्षु सदैव उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रहता।

विवेचन—सत्ताईस अनगारगुण—(१-५) पांच महाव्रतों का सम्यक् पालन करना, (६-१०) पांचों इन्द्रियों का निग्रह, (११-१४) क्रोध-मान-माया-लोभ-विवेक (१५) भावसत्य (अन्तःकरण शुद्ध रखना), (१६) करणसत्य (वस्त्र-पात्रदि का भलीभांति प्रतिलेखन आदि करना), (१७) योगसत्य, (१८) क्षमा, (१९) विरागता, (२०) मनःसमाधारणता (मन की शुभ प्रवृत्ति), (२१) वचनसमाधारणता (वचन को शुभ प्रवृत्ति), (२२) कायसमाधारणता, (२३) ज्ञानसम्पन्नता, (२४) दर्शनसम्पन्नता, (२५) चारित्रसम्पन्नता, (२६) वेदनाधिसहन और (२७) मारणान्तिकाधिसहन।

किसी आचार्य ने २७ अनगारगुणों में चार कषायों के त्याग के बदले सिर्फ लोभत्याग माना है, तथा शेष के बदले रात्रिभोजन त्याग, छहकाय के जीवों की रक्षा, संयमयोगयुक्तता, माने हैं।[1]

अट्ठाईस आचारप्रकल्प अध्ययन—मूलसूत्र में केवल 'प्रकल्प' शब्द मिलता है। किन्तु उससे 'आचारप्रकल्प' शब्द ही लिया जाता है। आचार का अर्थ है—आचारांग (प्रथम अंगसूत्र), और उसका प्रकल्प अर्थात्-अध्ययन-विशेष निशीथ—आचार-प्रकल्प। जिसमें मुनिजीवन के आचार का वर्णन हो वे आचारांग और निशीथसूत्र हैं। २८ अध्ययन इस प्रकार होते हैं—आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के ९ अध्ययन—(१) शस्त्रपरिज्ञा, (२) लोकविजय, (३) शीतोष्णीय, (४) सम्यक्त्व, (५) लोकसार, (६) धूताऽध्ययन, (७) महापरिज्ञा (लुप्त), (८) विमोक्ष, (९) उपधानश्रुत। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन—(१) पिण्डैषणा, (२) शय्या, (३) ईर्या, (४) भाषा, (५) वस्त्रैषणा, (६) पात्रैषणा, (७) अवग्रहप्रतिमा (८-१४) सप्त सप्ततिका, (सात स्थानादि एक-एक) (१५) भावना और (१६) विमुक्ति।

इसके अतिरिक्त निशीथ [आचारांग-चूला (—चूड़ा) के रूप में अभिमत] के तीन अध्ययन हैं—(१) उद्घात, (२) अनुद्घात और (३) आरोपण। इस प्रकार ९+१६+३=२८ अध्ययन कुल मिला कर होते हैं।

इन २८ अध्ययनों में वर्णित साध्वाचार का पालन करना और अनाचार से विरत होना साधु का परम कर्त्तव्य है।[2]

---

१. (क) समवायांग. समवाय २७

(ख) वयछक्कमिंदियाणं च, निग्गहो भाव-करणसच्चं च।
खमया विरागया वि य, मयमाईणं णिरोहो य।
कायाण छक्कजोगम्मि, जुत्तया वेयणाहियासणया।
तह मारणंतियहियासणया एए ऽणगारगुणा॥ —बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६

उनतीस वाँ और तीस वाँ बोल

१९. पावसुयपसंगेसु मोहट्ठाणेसु चेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले ॥

[१९] पापश्रुत-प्रसंगों में और मोह-स्थानों (महामोहनीयकर्म के कारणों) में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रहता।

विवेचन—पापश्रुत-प्रसंग २९ प्रकार के हैं—(१) भौम (भूमिकम्पादि वतानेवाला शास्त्र), (२) उत्पात (रुधिरवृष्टि, दिशाओं का लाल होना इत्यादि का शुभाशुभफलसूचक शास्त्र), (३) स्वप्नशास्त्र, (४) अन्तरिक्ष (विज्ञान), (५) अंगशास्त्र (६) स्वर-शास्त्र (७) व्यंजनशास्त्र, (८) लक्षणशास्त्र, ये आठों ही सूत्र, वृत्ति और वार्तिक के भेद से २४ शास्त्र हो जाते हैं। (२५) विकथानुयोग, (२६) विद्यानुयोग, (२७) मन्त्रानुयोग, (२८) योगानुयोग (वशीकरणादि योग सूचक) और (२९) अन्यतीर्थिकानुयोग (अन्यतैर्थिक हिंसाप्रधान आचारशास्त्र)।

इन २९ प्रकार के पापाश्रवजनक शास्त्रों का प्रयोग उत्सर्गमार्ग में न करना साधु का कर्त्तव्य है।[1]

महामोहनीय (मोह) के तीस स्थान—(१) त्रसजीवों को पानी में डुवा कर मारना, (२) त्रस जीवों को श्वास आदि रोक कर मारना, (३) त्रस जीवों को मकानादि में वंद करके धुंए से घोट कर मारना, (४) त्रस जीवों को मस्तक पर गीला चमड़ा आदि बांध कर मारना, (५) त्रस जीवों को मस्तक पर डंडे आदि के घातक प्रहार से मारना, (६) पथिकों को धोखा देकर लूटना, (७) गुप्त रीति से अनाचार-सेवन करना, (८) अपने द्वारा कृत महादोष का दूसरे पर आरोप (कलंक) लगाना, (९) सभा में यथार्थ (सत्य) को जानबूझ कर छिपाना, मिश्रभाषा (सत्य जैसा झूठ) वोलना। (१०) अपने अधिकारी (या राजा) को अधिकार और भोगसामग्री से वंचित करना, (११) वालब्रह्मचारी न होते हुए भी अपने को वालब्रह्मचारी कहना, (१२) ब्रह्मचारी न होते हुए भी ब्रह्मचारी होने का ढोंग रचना, (१३) आश्रयदाता का धन हड़पना-चुराना, (१४) कृत उपकार को न मान कर कृतघ्नता करना, उपकारी के भोगों का विच्छेद करना, (१५) पोषण देने वाले गृहपति या संघपति अथवा सेनापति प्रशास्ता की हत्या करना, (१६) राष्ट्रनेता, निगमनेता या प्रसिद्ध श्रेष्ठी की हत्या करना, (१७) जनता एवं समाज के आधारभूत विशिष्ट परोपकारी पुरुष की हत्या करना, (१८) संयम के लिए तत्पर मुमुक्षु और दीक्षित साधु को संयमभ्रष्ट करना, (१९) अनन्तज्ञानी की निन्दा तथा सर्वज्ञता के प्रति अश्रद्धा करना, (२०) आचार्य उपाध्याय की सेवा-पूजा न करना, (२१) अहिंसादि मोक्षमार्ग की निन्दा करके जनता को विमुख करना, (२२) आचार्य और उपाध्याय की निन्दा करना, (२३) वहुश्रुत न होते हुए भी स्वयं को वहुश्रुत (पण्डित) कहलाना (२४) तपस्वी न होते हुए भी स्वयं को तपस्वी कहना, (२५) शक्ति होते हुए भी रोगी, वृद्ध अशक्त आदि की सेवा न करना, (२६) ज्ञान-दर्शन-चारित्रविनाशक कामोत्पादक कथाओं का वार-वार प्रयोग करना, (२७) अपने मित्रादि के लिए वार-वार जादू टोने, मन्त्र वशीकरणादि का प्रयोग करना। (२८) ऐहिक पारलौकिक भोगों की निन्दा करके छिपे-छिपे उनका सेवन करना, उनमें अत्यासक्त रहना, (२९) देवों

---

१. (क) समवायांग, समवाय २९ (ख) वृहद्वृत्ति, पत्र ६१७

की ऋद्धि, द्युति, बल, वीर्य आदि की मजाक उड़ाना और (३०) देवदर्शन न होने पर भी मुझे देव-दर्शन होता है, ऐसा झूठमूठ कहना।

महामोहनीय कर्मबन्ध दुरध्यवसाय की तीव्रता एवं क्रूरता के कारण होता है, इसलिए इसके कारणों को कोई सीमा नहीं बांधी जा सकती। तथापि शास्त्रकारों ने तीस मुख्य कारण महामोहनीय-कर्मबन्ध के बताए हैं। साधु को इनसे सदैव अपनी आत्मा को बचाना चाहिए।[1]

इकतीसवाँ, बत्तीसवाँ और तेतीसवाँ बोल

२०. सिद्धाइगुणजोगेसु तेत्तीसासायणासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

[२०] सिद्धों के ३१ अतिशायी गुणों में, (बत्तीस) योगसंग्रहों में और ३३ आशातनाओं में जो भिक्षु सदा उपयोग रखता है, वह संसार में नहीं रहता।

विवेचन—सिद्धों के इकतीस गुण—आठ कर्मों में से ज्ञानावरणीय के ५, दर्शनावरणीय के ९, वेदनीय के २, मोहनीय के दो (दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय), आयु के ४, नामकर्म के दो, (शुभनाम—अशुभनाम) गोत्रकर्म के दो (उच्चगोत्र, नीचगोत्र), और अन्तरायकर्म के ५ (दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय) इस प्रकार आठों कर्मों के कुल भेद ५+९+२+२+४+२+२+५=३१ होते हैं। इन्हीं ३१ कर्मो का सर्वथा क्षय करके सिद्ध भगवान् ३१ गुणों से युक्त बनते हैं। सिद्धों के गुणों का एक प्रकार और भी है जो आचारांग में बताया गया है—५ संस्थान, ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्श, ३ वेद, शरीर, आसक्ति और पुनर्जन्म, इन ३१ दोषों के क्षय से भी ३१ गुण होते हैं।

'सिद्धाइगुण' का अर्थ होता है—सिद्धों के अतिगुण (उत्कृष्ट या असाधारण गुण)। साधु को सिद्ध-गुणों को प्राप्त करने की भावना करनी चाहिए।[2]

बत्तीस योगसंग्रह—(१) आलोचना (गुरुजनसमक्ष स्व-दोष निवेदन), (२) अप्रकटीकरण (किसी के दोषों की आलोचना सुन कर औरों के सामने न कहना), (३) संकट में धर्मदृढता, (४) अनिश्रित या आसक्तिरहित तपोपधान. (५) ग्रहणशिक्षा और आसेवनाशिक्षा का अभ्यास, (६) निष्प्रतिकर्मता (शरीरादि की साजसज्जा, शृंगार से रहित), (७) अज्ञातता (पूजा-प्रतिष्ठा का

१. (क) दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ९ (ख) समवायांग, समवाय ३०
२. (क) सयवायांग, समवाय ३१
(ख) से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्टे, ण तंसे, ण चउरंसे, ण परिमंडले।
ण किण्हे, ण णीले, ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किले।
ण सुब्भिगंधे, ण दुब्भिगंधे।
ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण महुरे, ण कक्खडे,
ण मउए, ण गरुए, ण लहुए, ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे,
ण लुक्खे, ण काऊ, ण उण्हे। ण संगे। ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अन्नहा॥
—आचारांग १।५।६।१२६-१३४ —बृहद्वृत्ति, पत्र ६१७

मोह त्याग कर गुप्त तप आदि करना), (८) अलोभता, (९) तितिक्षा, (१०) आर्जव, (११) शुचि (सत्य और संयम, की पवित्रता), (१२) सम्यक्त्वशुद्धि, (१३) समाधि-(चित्तप्रसन्नता), (१४) आचारोपगत (मायारहित आचारपालन), (१५) विनय, (१६) धैर्य, (१७) संवेग (मोक्षाभिलाषा, या सांसारिक भोगों से भीति), (१८) प्रणिधि (मायाशल्य से रहित होना), (१९) सुविधि (सदनुष्ठान), (२०) संवर (पापाश्रवनिषेध), (२१) दोषशुद्धि, (२२) सर्वकामभोगविरक्ति, (२३) मूलगुणों का शुद्ध पालन, (२४) उत्तरगुणों का शुद्ध पालन, (२५) व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) करना, (२६) अप्रमाद (प्रमाद न करना), (२७) प्रतिक्षण संयमयात्रा में सावधानी, (२८) शुभध्यान (२९) मारणान्तिक वेदना होने पर धीरता, (अधीर न होना), (३०) संगपरित्याग, (३१) प्रायश्चित्त ग्रहण करना, और (३२) अन्तिम समय संलेखना करके मारणान्तिक आराधना करना।

आचार्य जिनदास दूसरे प्रकार से बत्तीस योगसंग्रह बताते हैं—धर्मध्यान के १६ भेद तथा शुक्लध्यान के १६ भेद, यों दोनों मिल कर ३२ भेद होते हैं।

मन, वचन, काया के व्यापार को योग कहते हैं। वह दो प्रकार का है—शुभ और अशुभ। अशुभ योगों से निवृत्ति और शुभ योगों में प्रवृत्ति ही संयम है। यहाँ मुख्यतया शुभ (प्रशस्त) योगों का संग्रह ही विवक्षित है। फिर भी साधु को अप्रशस्त योगों से निवृत्ति भी करना चाहिए।

तेतीस आशातनाएँ—शातना का अर्थ है—खण्डन। गुरुदेव आदि पूज्य पुरुषों की अवहेलना—अवमानना, निन्दा आदि करने से सम्यग्दर्शनादि गुणों की शातना—खण्डना होती ही है। आशातनाएँ ३३ हैं—(१) अरिहन्तों की आशातना, (२) सिद्धों की आशातना, (३) आचार्यों की आशातना, (४) उपाध्यायों की आशातना, (५) साधुओं की आशातना, (६) साध्वियों की आशातना, (७) श्रावकों की आशातना, (८) श्राविकाओं की आशातना, (९) देवों की आशातना, (१०) देवियों की आशातना, (११) इहलोक की आशातना, (१२) परलोक की आशातना, (१३) सर्वज्ञप्रणीत धर्म की आशातना, (१४) देव-मनुष्य-असुरसहित समग्र लोक की आशातना, (१५) काल की आशातना, (१६) श्रुत की आशातना, (१७) श्रुतदेवता की आशातना, (१८) सर्वप्राण-भूत-जीव-सत्त्व की आशातना, (१९) वचनाचार्य की आशातना, (२०) व्याविद्ध-(वर्णविपर्यास करना), (२१) व्यत्याम्रेडित-(उच्चार्यमाण पाठ में दूसरे पाठों का मिश्रण करना). (२२) हीनाक्षर, (२३) अत्यक्षर, (२४) पदहीन, (२५) विनयहीन, (२६) योगहीन, (२७) घोषहीन, (२८) सुष्ठुदत्त, (योग्यता से अधिक ज्ञान देना), (२९) दुष्ठुप्रतीक्षित (ज्ञान को सम्यक् भाव से ग्रहण न करना), (३०) अकाल में स्वाध्याय करना, (३१) स्वाध्यायकाल में स्वाध्याय न करना, (३२) अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय करना और (३३) स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न करना।

अथवा आशातना का अर्थ है—अविनय, अशिष्टता या अभद्रव्यवहार। इस दृष्टि से दैनन्दिन व्यवहार में संभावित आशातना के भी ३३ प्रकार हैं—(१) बड़े साधु से आगे-आगे चलना, (२) बड़े साधु के बराबर (समश्रेणि) में चलना, (३) बड़े साधु से सटकर चलना, (३) बड़े साधु के आगे खड़ा रहना, समश्रेणि में खड़ा रहना, (६) बड़े साधु से सटकर खड़ा रहना, (७) बड़े साधु के आगे बैठना, (८) समश्रेणि में बैठना, (९) सटकर बैठना। (१०) बड़े साधु से पहले (—जलपात्र एक ही हो तो) शुचि (आचमन) लेना, (११) स्थान में आकर बड़े साधु से पहले गमनागमन की आलोचना करना,

२. समवायांग, समवाय ३२

(१२) बड़े साधु को जिसके साथ वार्तालाप करना हो, उससे पहले ही उसके साथ वार्तालाप कर लेना, (१३) बड़े साधु द्वारा पूछने पर कि कौन जागता है, कौन सो रहा है ?, जागते हुए भी उत्तर न देना, (१४) भिक्षा लाकर पहले छोटे साधु से उक्त भिक्षा के सम्बन्ध में आलोचना करना, फिर बड़े साधु के पास आलोचना करना, (१५) लाई हुई भिक्षा, पहले छोटे साधु को दिखाना, तत्पश्चात् बड़े साधु को दिखाना, (१६) लाई हुई भिक्षा के आहार के लिए पहले छोटे साधु को निमंत्रित करना, फिर बड़े साधु को, (१७) भिक्षाप्राप्त आहार में से बड़े साधु को पूछे विना पहले प्रचुर आहार अपने प्रिय साधुओं को दे देना, (१८) बड़े साधुओं के साथ भोजन करते हुए सरस आहार करने की उतावल करना, (१९) बड़े साधु द्वारा बुलाये जाने पर सुनी-अनसुनी कर देना, (२०) बड़े साधु बुलाएँ, तब अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही उत्तर देना, (२१) बड़े साधु को अनादरपूर्वक 'रे तू' करके बुलाना, (२२) बड़े साधु को अनादरभाव से "क्या कह रहे हो ?' इस प्रकार कहना। (२३) बड़े साधु को रूखे शब्द से आमंत्रित करना या उनके सामने जोर-जोर से बोलना, (२४) बड़े साधु को उसी का कोई शब्द पकड़ कर अवज्ञा करना, (२५) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो उस समय बीच में बोल उठना कि 'यह ऐसे नहीं है, ऐसे है।" (२६) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय यह कहना कि आप भूल रहे हैं ! (२७) बड़ा साधु व्याख्यान दे रहा हो, उस समय अन्यमनस्क या गुमसुम रहना, (२८) बड़ा साधु व्याख्यान दे रहा हो, उस समय बीच में ही परिषद् को भंग कर देना। (२९) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, उस समय कथा का विच्छेद करना। (३०) बड़ा साधु व्याख्यान कर रहा हो, तब बीच में ही स्वयं व्याख्यान देने का प्रयत्न करना। (३१) बड़े साधु के उपकरणों को पैर लगने पर विनयपूर्वक क्षमायाचना न करना, (३२) बड़े साधु के बिछौने पर खड़े रहना, बैठना या सोना। (३३) बड़े साधु से ऊँचे या बराबर के आसन पर खड़े रहना, बैठना या सोना।[1]

इन ३३ प्रकार की आशातनाओं से सदैव बचना और गुरुजनों के प्रति विनयभक्ति बहुमान करना साधु के लिए आवश्यक है।

पूर्वोक्त तेतीस स्थानों के आचरण की फलश्रुति

२१. इइ एएसु ठाणेसु जे भिक्खू जयई सया।
खिप्पं से सव्वसंसारा विप्पमुच्चइ पण्डिओ ॥
—त्ति बेमि।

[२१] इस प्रकार जो पण्डित (विवेकवान्) भिक्षु इन (तेतीस) स्थानों में सतत उपयोग रखता है; वह शीघ्र ही समग्र संसार से विमुक्त हो जाता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—सव्वसंसारा : आशय—जन्ममरणरूप समग्र संसार से अर्थात्—चारों गतियों और ८४ लक्ष योनियों में परिभ्रमणरूप संसार से।

॥ चरणविधि : इकतीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

१. (क) आवश्यकसूत्र, चतुर्थ आवश्यक (ख) दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ३ (ग) समवायांग, समवाय ३३

प्रमादस्थान : बत्तीसवाँ अध्ययन

अध्ययनसार

※ प्रस्तुत अध्ययन का नाम प्रमादस्थान (पमायट्ठाणं) है। इसमें प्रमाद के स्थलों का विवरण प्रस्तुत करके उनसे दूर रहने का निर्देश है।

※ मोक्ष की यात्रा में प्रमाद सबसे बड़ा विघ्न है। वह एक प्रकार से साधना को समाप्त कर देने वाला है। अत: प्रस्तुत अध्ययन में प्रमाद के सहायकों—राग, द्वेष, कषाय, विषयासक्ति आदि से दूर रहने का स्थान-स्थान पर संकेत किया गया है।

※ प्रमाद के मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा, ये पांच प्रकार हैं किन्तु कुछ आगमों में प्रमाद के ८ प्रकार भी बताए हैं—अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, स्मृतिभ्रंश, धर्म के प्रति अनादर और मन-वचन-काया का दुष्प्रणिधान। प्रस्तुत अध्ययन में ८ प्रकार के प्रमाद से सम्बन्धित विषयों का प्राय: उल्लेख है।

※ दु:खों के मूल अज्ञान, मोह, रागद्वेष, आसक्ति आदि हैं, इनसे व्यक्ति दूर रहे तो ज्ञान का प्रकाश होकर अज्ञान, रागद्वेषमोहादि का क्षय हो जाने पर एकान्त आत्मसुखरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

※ मोक्षप्राप्ति के उपायों में सर्वप्रथम सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होना आवश्यक है, उसके लिए तीसरी गाथा में गुरु-वृद्धसेवा, अज्ञ-जनसम्पर्क से दूर रहना, स्वाध्याय, एकान्तनिवास, सूत्रार्थचिन्तन, धृति आदि बतलाए हैं।

※ तत्पश्चात् चारित्रपालन में जागृति की दृष्टि से परिमित एषणीय आहार, निपुण तत्त्वज्ञ साधक का सहयोग, विविक्त स्थान का सेवन प्रतिपादित किया गया है।

※ तत्पश्चात् एकान्तवास, अल्पभोजन, विषयों में अनासक्ति, दृष्टिसंयम, मन-वचन-काय का संयम, चिन्तन की पवित्रता आदि साधन चारित्रपालन में जागृति के लिए बताए हैं।

※ तत्पश्चात् राग, द्वेष, मोह, तृष्णा, लोभ आदि प्रमाद की शृंखलाओं को सुदृढ करने वाले विचारों से दूर रहने का संकेत किया है।

※ तदनन्तर गा. १०. से गा. १०० तक पांचों इन्द्रियों तथा मन के विषयों में राग और द्वेष रखने से उनके उत्पादन, संरक्षण और व्यापरण से क्या-क्या दोष और दु:ख उत्पन्न होते हैं? इन पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है।

※ इसके पश्चात् कामभोगों की आसक्ति से क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, हास्य, भय, शोक, पुरुषवेदादि विविध विचारों से ग्रस्त हो जाता है। वीतरागता और समता में ये वृत्तियाँ बाधक हैं। साधक इन विचारों से ग्रस्त होकर साधना की सम्पत्ति को चौपट कर देता है।

※ अन्त में बताया है—इनसे विरक्त होकर रागद्वेषविजयी साधक वीतराग बन कर चार घातिकर्मों का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त और सर्वदु:खों से रहित हो जाता है। □□

बत्तीसइमं अज्झयणं : बत्तीसवाँ अध्ययन

पमायट्ठाणं : प्रमादस्थान

सर्वदुःखमुक्ति के उपाय-कथन की प्रतिज्ञा

१. अच्चन्तकालस्स समूलगस्स सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो ।
तं भासओ मे पडिपुण्णचित्ता सुणेह एगंतहियं हियत्थं ॥

[१] मूल (कारणों) सहित समस्त अत्यन्त (-अनादि-) कालिक दुःखों से मुक्ति का जो उपाय है, उसे मैं कह रहा हूँ। एकान्त हितरूप है, कल्याण के लिए है, उसे परिपूर्ण चित्त (की एकाग्रता) से सुनो।

विवेचन—अच्चंतकालस्स—जो अन्त का अतिक्रमण कर गया हो, वह अत्यन्त होता है। 'अन्त' दो होते हैं—आरम्भक्षण और अन्तिमक्षण। तात्पर्य यह है—अर्थात् जिस काल की आदि न हो, वैसा काल—अनादि काल। यह दुःख का विशेषण है।[1]

समूलगस्स—मूलसहित। दुःख का मूल है—कषाय, अविरति, आदि। वृत्तिकार का अभिप्राय है कि दूसरे पक्ष में—दुःख का मूल राग और द्वेष है।[2]

पडिपुण्णचित्ता—(१) प्रतिपूर्णचित्त होकर, अर्थात्—चित्त (मन) को दूसरे विषयों में न ले जा कर अखण्डित रखें कर, अथवा (२) **प्रतिपूर्णचिन्ता**—इसी विषय में पूर्ण चिन्तन वाले होकर।[3]

दुःखमुक्ति तथा सुखप्राप्ति का उपाय

२. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएणं एगन्तसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥

[२] सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से, (तथा) राग और द्वेष के सर्वथा क्षय से, जीव एकान्तसुखरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

३. तस्सेस मग्गो गुरु-विद्धसेवा विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।
सज्झाय-एगन्तनिसेवणा य सुत्तऽत्थसंचिन्तणया धिई य ॥

---

१. अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तो, वस्तुतश्च द्वावन्तौ—आरम्भक्षणः समाप्तिक्षणः। तत्रेह आरम्भलक्षणान्तः परिगृह्यते। तथा चात्यन्तः अनादिः कालो यस्य सोऽत्यन्तस्तस्य। —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२१

२. 'सह मूलेन-कषायविरतिरूपेण वर्त्तत इति समूलकः। उक्तं हि—"मूलं संसारस्स हु हुंति कसाया अविरती य" ·······अत्र च पक्षे मूलं रागद्वेषौ। —वही, पत्र ६२१

३. "प्रतिपूर्णं विषयान्तराऽगमनेनाखण्डितं चित्तं चिन्ता वा येषां ते प्रतिपूर्णचित्ता, प्रतिपूर्णचिन्ता वा।" —वही, पत्र ६२१

[३] गुरुजनों और वृद्धों की सेवा करना, अज्ञानी जनों के सम्पर्क से दूर रहना, स्वाध्याय करना, एकान्त-सेवन, सूत्र और अर्थ का सम्यक् चिन्तन करना और धैर्य रखना, यह उसका (ज्ञानादि-प्राप्ति का) मार्ग (उपाय) है।

विवेचन—ज्ञानादि की प्राप्ति—दूसरी गाथा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति को मोक्षसुख-प्राप्ति का हेतु बताया गया है, क्योंकि सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाशन से ज्ञान विशद एवं निर्मल होगा। उधर मति अज्ञानादि तथा मिथ्याश्रुत श्रवण, मिथ्यादृष्टिसंग के परित्याग आदि से एवं अज्ञान और मोह के परिहार से सम्यग्दर्शन प्रकट होगा। तीसरी ओर रागद्वेष तथा उसके परिवार-रूप चारित्रमोहनीय का क्षय होने से सम्यक्चारित्र प्राप्त किया जाएगा, तो अवश्य ही एकान्तसुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी।[1]

ज्ञानादि की प्राप्ति : कैसे एवं किनसे ?—तीसरी गाथा में यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति का उपाय गुरुवृद्धसेवा आदि है।

गुरु-विद्धसेवा : विशेषार्थ—यहाँ गुरु का अर्थ है—शास्त्र के यथार्थ प्रतिपादक और वृद्ध का अर्थ है—तीनों प्रकार के स्थविर। श्रुतस्थविर, पर्याय (बीसवर्ष की दीक्षापर्याय) से स्थविर और वयःस्थविर, यों तीन प्रकार के वृद्ध हैं। गुरुवृद्धसेवा से आशय है— गुरुकुल-सेवा। क्योंकि गुरु और स्थविरों की सेवा में रहने से साधक ज्ञान की प्राप्ति के साथ-साथ दर्शन और चारित्र में भी स्थिर होता है।[2]

अज्ञानीजन-सम्पर्क से दूर रहे—यह इसलिए बताया है कि अज्ञानी जनों के सम्पर्क से सम्यग्-ज्ञानादि तीनों ही विनष्ट हो जाते हैं, इसलिए यह महादोष का कारण है।[3]

धृति : क्यों आवश्यक ?—धैर्य के विना चारित्रपालन, सम्यग्दर्शन एवं परीषहसहन आदि नहीं हो सकता। तथा धृति का अर्थ चित्तसमाधि भी है, उसके विना ज्ञानादि की प्राप्ति नहीं हो सकती।[4]

ज्ञानादिप्राप्तिरूप समाधि के लिए कर्त्तव्य

> ४. आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं सहायमिच्छे निउणत्थबुद्धिं।
> निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्गं समाहिकामे समणे तवस्सी ॥

[४] समाधि की आकांक्षा रखनेवाला तपस्वी श्रमण परिमित और एषणीय (निर्दोष) आहार की इच्छा करे, तत्त्वार्थों को जानने में निपुण बुद्धिवाले सहायक (साथी) को खोजे तथा (स्त्री-पशु-नपुंसक से) विविक्त (रहित) एकान्त स्थान (में रहने) की इच्छा करे।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२२ : ततश्चायमर्थः—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः एकान्तसौख्यं मोक्षं समुपैति।

२. (क) गुरवो यथावच्छास्त्राभिधायकाः, वृद्धाश्च श्रुतपर्यायादिवृद्धाः। तेषां सेवा-पर्युपासना। इयं च गुरुकुलवासोपलक्षणं, तत्र च सुप्राप्यान्येव ज्ञानादीनि। उक्तं च—'णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य।' —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२३

३. 'तत्संगस्याल्पीयसोऽपि महादोषनिबन्धनत्वेनाभिहितत्वात्।' —वही, पत्र ६२२

४. चित्तस्वास्थ्यं विना ज्ञानादिलाभो न, इत्याह-धृतिश्च—चित्तस्वास्थ्य मनुद्विग्नत्वमित्यर्थः। —वही, पत्र ६२२

५. न वा लभेज्जा निउणं सहायं गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइ विवज्जयन्तो विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥

[५] यदि अपने से अधिक गुणों वाला अथवा अपने समान गुण वाला निपुण साथी न मिले तो पापों का वर्जन करता हुआ तथा कामभोगों में अनासक्त रहता हुआ अकेला ही विचरण करे।

विवेचन—समाधि—समाधि द्रव्य और भाव उभयरूप है। द्रव्यसमाधि है—दूध, शक्कर आदि द्रव्यों का परस्पर एकमेक होकर रहना, भावसमाधि है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों का अबाधित-रूप से रहना। यहाँ भावसमाधि ही ग्राह्य है। तात्पर्य है, जो ज्ञानादिप्राप्तिरूप भावसमाधि चाहता है, उसके लिए शास्त्रकार ने तीन बातें रखी हैं—उसका आहार उसका सहायक एवं उसका आवास-स्थान अमुक-अमुक गुणों से युक्त होना आवश्यक है। अगर उसका आहार अतिमात्रा में हुआ या अनेषणीय हुआ तो वह ज्ञानादि में प्रमाद करेगा, चारित्रपालन में विघ्न उपस्थित होगा। अगर उसका साथी तत्त्वज्ञ या गीतार्थ नहीं हुआ तो ज्ञानादि प्राप्ति के स्रोत गुरुवृद्धसेवा आदि से उसे भ्रष्ट कर देगा। और उसका आवासस्थान स्त्री आदि से संसक्त रहा तो चित्तसमाधिभंग होने से गुरुवृद्ध-सेवा आदि से दूर हो जाएगा।[1]

सहायक गुणाधिक या गुणों में सम न मिले तो?—पूर्वगाथा में उल्लिखित तीन बातों में से दो का पालन तो साधक के स्वाधीन है, परन्तु योग्य साथी मिलना उसके वश की बात नहीं है। अगर ज्ञानादि गुणों में स्वयं अधिक योग्य या ज्ञानादिगुणों में सम साथी न मिले तो पापों से (अर्थात् सावद्यकर्मों से) दूर एवं कामभोगों में अनासक्त रह कर एकाकी विचरण करना श्रेष्ठ है। यद्यपि सामान्यतया एकाकी विहार आगम में निषिद्ध है, किन्तु तथाविध गीतार्थ एवं ज्ञानादिगुणयुक्त साधु के लिए यहाँ उसका विधान किया गया है।[2]

यहाँ तक दुःखमुक्ति के हेतुभूत ज्ञानादि की प्राप्ति के उपाय के सम्बन्ध में कहा गया है। अब दुःख की परम्परागत उत्पत्ति के विषय में कहते हैं।

दुःख की परम्परागत उत्पत्ति

६. जहा य अण्डप्पभवा बलागा अण्डं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥

[६] जिस प्रकार बलाका (बगुली) अण्डे से उत्पन्न होती है, और अण्डा बलाका से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मोह का आयतन (जन्मस्थान) तृष्णा है, तथैव तृष्णा का जन्मस्थान मोह है।

७. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति।
कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं दुक्खं च जाई-मरणं वयन्ति ॥

[७] कर्म (-बन्ध) के बीज राग और द्वेष हैं। कर्म उत्पन्न होता है—मोह से। वह कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही (वास्तव में) दुःख हैं।

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६२३ (ख) अभिधानराजेन्द्रकोष भा. ५, पृ. ४८३
२. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६२३ (ख) अ. रा. कोष भा. ५, पृ. ४८३, (ग) तुलना करिये —दशवैकालिक-चूलिका २।१०

८. दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥

[८] (अतः) जिसके मोह नहीं है, उसने दुःख को नष्ट कर दिया । उसने मोह को मिटा दिया है, जिसके तृष्णा नहीं है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया, जिसके लोभ नहीं हैं, उसने लोभ को समाप्त कर दिया, जिसके पास कुछ भी परिग्रह नहीं है, (अर्थात् जो अकिंचन है ।)

विवेचन—तीनों गाथाओं का आशय—प्रस्तुत तीन गाथाओं में निम्नोक्त प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया गया है—(१) दुःख क्या है ? जन्म-मरण ही, (२) जन्ममरण का मूल कारण क्या है ?—कर्म । (२) कर्म की उत्पत्ति किससे होती है ? कर्म की उत्पत्ति मोह से होती है, कर्मों के बीज बोते हैं--जीव के राग और द्वेष । निष्कर्ष यह है कि जन्ममरणरूप दुःख को नष्ट करने के लिए मोह को नष्ट करना आवश्यक है । मोह उसी का नष्ट होता है, जिसके तृष्णा नहीं है ; तथा तृष्णा भी उसी की नष्ट होती है जिसके जीवन में लोभ नहीं है, संतोष, अपरिग्रहवृत्ति, निःस्पृहता एवं अकिंचनता है । क्योंकि तृष्णा और मोह का परस्पर अंडे और बगुली की तरह कार्य-कारणभाव है ।[1]

कुछ विशिष्ट शब्दों के अर्थ—आययणं—आयतन—उत्पत्तिस्थान । **मोह**—जो आत्मा को मूढताओं का शिकार बना देता है । यहाँ मोह का अर्थ—मिथ्यात्व दोष से दूषित अज्ञान है ।[2]

तृष्णा मोह का उत्पत्तिस्थान क्यों ?—किसी मनोज्ञ पदार्थ की तृष्णा मन में उत्पन्न होती है तो उसको पाने के लिए व्यक्ति लालायित होता है, और तब उसके वास्तविक ज्ञान पर पर्दा पड़ जाता है, कि यह पदार्थ मेरा नहीं, मैं इसको पाने के लिए क्यों छटपटाता हूँ ? चूंकि पदार्थ की तृष्णा होते ही ममता-मूर्च्छा होती है, वह अत्यन्त दुस्त्याज्य एवं रागप्रधान होती है । जहाँ राग होता है, वहाँ द्वेष अवश्यम्भावी है । अतः तृष्णा के आते ही राग-द्वेष लग जाते हैं, ये जब अनन्तानुबन्धी कषायरूप होते हैं तो मिथ्यात्व का उदय सत्ता में अवश्य हो जाता है । इस कारण उपशान्तकषाय वीतराग भी मिथ्यात्व (गुणस्थान) को प्राप्त हो जाते हैं । कषाय, मिथ्यात्व आदि मोहनीय के ही परिवार के हैं । अतः तृष्णायतन मोह या मोहायतनभूत तृष्णा दोनों ही अज्ञानरूप हैं ।[3]

फलितार्थ—इसका फलितार्थ यह है कि इस विषचक्र को वही तोड़ सकता है जो अकिंचन है, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रह से रहित है, वितृष्ण है, रागद्वेष-मोह से दूर है ।

रागद्वेष-मोह के उन्मूलन का प्रथम उपाय : अतिभोजन त्याग

९. रागं च दोसं च तहेव मोहं उद्धत्तुकामेण समूलजालं ।
जे जे उवाया पडिवज्जियव्वा ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्वी ॥

[९] जो राग, द्वेष और मोह का समूल उन्मूलन करना चाहता है, उसे जिन-जिन उपायों को अपनाना चाहिए उन्हें मैं अनुक्रम से कहूँगा ।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२३ का तात्पर्य

२. वही, पत्र ६२३ मोहयति—मूढतां नयत्यात्मानमिति मोहः—अज्ञानम् । तच्चेह मिथ्यात्वदोपदुष्टं ज्ञानमेव गृह्यते "मोहः आयतनं-उत्पत्तिस्थानं यस्याः सा मोहायतना तृष्णा ।"

३. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२३

१०. रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥

[१०] रसों का प्रकाम (अत्यधिक) सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि रस प्रायः साधक पुरुषों के लिए दृप्तिकर (—उन्माद को बढाने वाले) होते हैं। उद्दीप्तकाम मनुष्य को काम (विषय-भोग) वैसे ही उत्पीडित करते हैं, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षी।

११. जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई।

[११] जैसे प्रचुर ईन्धन वाले वन में, प्रचण्ड वायु के साथ लगा हुआ दावानल उपशान्त नहीं होता, इसी प्रकार अतिमात्रा में भोजन करने वाले साधक की इन्द्रियाग्नि (इन्द्रियों से उत्पन्न हुई रागरूपी अग्नि) शान्त नहीं होती। किसी भी ब्रह्मचारी के लिए प्रकाम भोजन कदापि हितकर नहीं होता।

विवेचन—प्रकाम रससेवन एवं अतिभोजन का निषेध—इन तीन गाथाओं में राग-द्वेष-मोहवर्द्धक रसों एवं भोजन की अतिमात्रा का निषेध किया गया है। इनका फलितार्थ यह है कि रागद्वेष एवं मोह को जीतने से लिए ब्रह्मचारी को दूध, दही, घी आदि रसों का तथा आहार का अतिमात्रा में सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि रसों का अत्यधिक मात्रा में या बारबार सेवन करने से कामोद्रेक होता है, जिससे रागादिवृद्धि स्वाभाविक है। तथा अतिमात्रा में भोजन से धातु उद्दीप्त हो जाते हैं, प्रमाद बढ़ जाता है, शरीर पुष्ट, मांसल एवं सुन्दर होने पर राग, द्वेष, मोह का बढ़ना स्वाभाविक है। यहाँ रसों के सेवन करने का सर्वथा निषेध नहीं है। बृहद्वृत्तिकार कहते हैं कि वात आदि के प्रकोप के निवारणार्थ साधु के लिए रस-सेवन करना विहित है। एक मुनि ने कहा है—अत्याहार को मेरा शरीर सहन नहीं करता, अतिस्निग्ध आहार से विषय (काय) उद्दीप्त होते हैं, इसलिए संयमी जीवनयात्रा चलाने के लिए उचित मात्रा में आहार करता हूँ, अतिमात्रा में भोजन नहीं करता।[1]

दित्तिकरा : दो अर्थ—(१) दृप्ति अर्थात् धातुओं का उद्रेक करने वाले, (२) दीप्ति—अर्थात्—मोहाग्नि—(कामाग्नि) को उद्दीप्त (उत्तेजित) करने वाला। इसी का फलितार्थ बताया गया है कि जिसकी धातुएँ या मोहाग्नि उद्दीप्त हो जाती है, उसे कामभोग धर दबाते हैं।[2]

निष्कर्ष—११ वीं गाथा में प्रकाम भोजन के दोष बताकर उसे ब्रह्मचर्यघातक एवं ब्रह्मचारी के लिए त्याज्य बताया है।[3]

---

१. (क) रसाः क्षीरादिविकृतयः। प्रकामग्रहणं तु वाताऽदिक्षोभनिवारणाय रसा अपि निषेवितव्या एव निष्कारण-सेवनस्य तु निषेध इति ख्यापनार्थम्। उक्तं च—

'अच्चाहारो न सहइ, अतिनिद्धेण विसया उदिज्जंति।
जायामायाहारो, तं पि पगामं ण भुंजामि ॥' —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२५

२. दृप्तिः धातूद्रेकस्तत्करणशीला दृप्तिकराः, ...यदि वा दीप्तं दीपनं मोहानलज्वलनमित्यर्थः, तत्करणशीला दीप्तिकराः। —वही, पत्र ६२५

३. वही, पत्र ६२६

अब्रह्मचर्यपोषक बातों का त्याग : द्वितीय उपाय

१२. विवित्तसेज्जासणजन्तियाणं ओमासणाणं दमिइन्दियाणं ।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ।।

[१२] जो विविक्त (स्त्री आदि से असंसक्त) शय्यासन से नियंत्रित (नियमबद्ध) हैं, जो अल्पभोजी हैं, जो जितेन्द्रिय हैं, उनके चित्त को राग (-द्वेष) रूपी शत्रु पराभूत नहीं कर सकते, जैसे औषधों से पराजित (दबायी हुई) व्याधि शरीर को पुनः आक्रान्त नहीं कर सकती ।

१३. जहा विरालावसहस्स मूले न मूसगाणं वसही पसत्था ।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे न बम्भयारिस्स खमो निवासो ।।

[१३] जैसे बिल्ली के निवासस्थान के पास चूहों का निवास प्रशस्त नहीं होता, इसी प्रकार स्त्रियों के निवासस्थान के मध्य (पास) में ब्रह्मचारी का निवास भी उचित नहीं है ।

१४. न रूव-लावण्ण-विलास-हासं न जंपियं इंगिय-पेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ।।

[१४] श्रमण तपस्वी साधु स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, आलाप, इंगित (चेष्टा) और कटाक्ष वाले नयनों को मन में निविष्ट (स्थापित) करके देखने का अध्यवसाय (उद्यम) न करे ।

१५. अदंसणं चेव अपत्थणं च अचिन्तणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्सारियझाणजोग्गं हियं सया बम्भवए रयाणं ।।

[१५] जो ब्रह्मचर्य में सदा रत हैं, उनके लिए स्त्रियों के सम्मुख अवलोकन न करना, उनकी इच्छा (या प्रार्थना) न करना, चिन्तन न करना, उनके नाम का कीर्त्तन (या वर्णन) न करना हितकर है, तथा आर्य (सम्यक्धर्म) ध्यान (आदि की साधना) के लिए योग्य है ।

१६. कामं तु देवीहि विभूसियाहिं न चाइया खोभइउं तिगुत्ता ।
तहा वि एगन्तहियं ति नच्चा विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ।।

[१६] माना कि तीन गुप्तियों से गुप्त मुनियों को (वस्त्रालंकारादि से) अलंकृत देवियाँ (अप्सराएँ) भी विक्षुब्ध नहीं कर सकतीं हैं, तथापि (भगवान् ने) एकान्त हित जान कर मुनि के लिए विविक्त (स्त्रीसम्पर्करहित एकान्त) वास प्रशस्त (कहा) है ।

१७. मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे ।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए जहित्थिओ बालमणोहराओ ।।

[१७] मोक्षाभिकांक्षी, संसारभीरु और धर्म में स्थित मानव के लिए लोक में इतना दुस्तर कुछ भी नहीं है, जितनी कि अज्ञानियों के मन को हरण करने वाली स्त्रियाँ दुस्तर हैं ।

१८. एए य संगे समइक्कमित्ता सुहुत्तरा चेव भवन्ति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता नई भवे अवि गंगासमाणा ।।

[१८] इन (उपर्युक्त स्त्री-विषयक) संगों को सम्यक् अतिक्रमण (पार) करने पर (उसके

लिए) शेष सारे संसर्गों का अतिक्रमण वैसे ही सुखोत्तर (सुख से पार करने योग्य) हो जाता है, जैसे कि महासागर को पार करने के बाद गंगा सरीखी नदी का पार करना आसान होता है।

विवेचन—ब्रह्मचारी के लिए स्त्रीसंग सर्वथा त्याज्य—प्रस्तुत सात गाथाओं (१२ से १८ तक) में रागद्वेषादि शत्रुओं को परास्त करने हेतु स्त्रीसंसर्ग से सदैव दूर रहने का संकेत किया है। अर्थात्-ब्रह्मचारी को अपना आवासस्थान, अपना आसन, और अपना सम्पर्क स्त्रियों से रहित एकान्त में रखना चाहिए। यदि विविक्त स्थान में भी स्त्रियाँ आ जाएँ तो साधु को चाहिए कि वह उनके रूप, लावण्य, हास्य, मधुर आलाप, चेष्टा एवं कटाक्ष आदि को अपने चित्त में बिलकुल स्थान न दे, और न कामराग की दृष्टि से उनकी ओर देखे, न चाहे, और न स्त्रीसम्बन्धी किसी प्रकार का चिन्तन या वर्णन करे। स्त्रीसंग को पार कर लिया तो समझो महासागर पार कर लिया। इसलिए विविक्तवास पर अधिक भार दिया गया है।[1]

निष्कर्ष—जिस तपस्वी साधु का आवास और आसन विविक्त है, जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, और जो अल्पभोजी है, उसे सहसा रागादिशत्रु परास्त नहीं कर सकते।[2]

कामभोग : दुःखों के हेतु

१९. कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो॥

[१९] समग्र लोक के, यहाँ तक कि देवों के भी जो कुछ शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, वे सब कामासक्ति से ही पैदा होते हैं। वीतराग आत्मा ही उन दुःखों का अन्त कर पाते हैं।

२०. जहा य किंपागफला मणोरमा रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा एओवमा कामगुणा विवागे॥

[२०] जैसे किम्पाकफल रस और रूपरंग की दृष्टि से (देखने और) खाने में मनोरम लगते हैं; किन्तु परिणाम (परिपाक) में वे सोपक्रम जीवन का अन्त कर देते हैं, कामगुण भी विपाक (अन्तिम परिणाम) में ऐसे ही (विनाशकारी) होते हैं।

विवेचन—कामभोग परम्परा से दुःख के कारण—कामभोग बाहर से सुखकारक लगते हैं, तथा देवों को वे अधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं, इसलिए साधारण लोग यह समझते हैं कि देव अधिक सुखी हैं, किन्तु कामभोगों को अपनाते ही राग और द्वेष तथा मोह अवश्यम्भावी हैं। जहाँ ये तीनों शत्रु होते हैं, वहाँ इहलोक में शारीरिक-मानसिक दुःख होते ही हैं, तथा इनके कारण अशुभकर्मों का बन्ध होने से नरकादिदुर्गतियों में जन्ममरण-परम्परा का दीर्घकालीन दुःख भी भोगना पड़ता है। ये कामभोग सारे संसार को अपने लपेटे में लिये हुए हैं। इन सब दुःखों का अन्त तभी हो सकता है, जब व्यक्ति कामासक्ति से दूर रहे, वीतरागता को अपनाए। इसीलिए कहा गया है—**"तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो।"**[3]

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२७ का सारांश.
२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२७
३. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२७ : "कायिकं दुःखं—रोगादि, मानसिकं च इष्टवियोगजन्यं।"

कामभोगों का स्वरूप और सेवन का कटुपरिणाम—२० वीं गाथा में कामभोगों की किम्पाक-फल से तुलना करते हुए उनके घातक परिणाम बता कर साधकों को उनसे बचने का परामर्श दिया है। फलितार्थ यह है कि यदि एक बार भी साधक कामभोगों के चक्कर में फंस गया तो फिर दीर्घ-काल तक जन्म-मरणजन्य दु:खों को भोगना पड़ेगा।[1]

खुड्डए : दो अर्थ—(१) क्षुद्र जीवन अथवा खुन्दति—विनाश कर देता है।[2]

मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूपों में रागद्वेष से दूर रहे

२१. जे इन्दियाणं विसया मणुन्ना न तेसु भावं निसिरे कयाइ।
न याऽमणुन्नेसु मणं पि कुज्जा समाहिकामे समणे तवस्सी॥

[२१] समाधि की भावना वाला तपस्वी श्रमण, जो इन्द्रियों के (शब्दरूपादि) मनोज्ञ विषय हैं, उनमें कदापि राग (भाव) न करे; तथा (इन्द्रियों के) अमनोज्ञ विषयों में मन (से) भी द्वेषभाव न करे।

२२. चक्खुस्स रूवं गहणं वयन्ति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु य वीयरागो॥

[२२] चक्षु का ग्राह्यविषय रूप है। जो रूप राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहते हैं और जो रूप द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं। इन दोनों (मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूपों) में जो सम (न रागी, न द्वेषी) रहता है, वह वीतराग है।

२३. रूवस्स चक्खुं गहणं वयन्ति चक्खुस्स रूवं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥

[२३] चक्षु को रूप का ग्रहण (ग्राहक) कहते हैं, रूप को चक्षु का ग्राह्य विषय कहते हैं। जो राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते हैं, और जो द्वेष का कारण है उसे अमनोज्ञ कहते हैं।

२४. रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे आलोयलोले समुवेइ मच्चुं॥

[२४] जो (मनोज्ञ) रूपों में तीव्र गृद्धि (आसक्ति) रखता है, वह रागातुर मनुष्य अकाल में वैसे ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे प्रकाश-लोलुप पतंग (प्रकाश के रूप में) रागातुर (आसक्त) होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

---

१. "........यथा किम्पाकफलान्युपभुज्यमानानि मनोरमानि, विपाकावस्थायां तु सोपक्रमायुषां मरणहेतुतयाऽतिदारुणानि; एवं कामगुणा अपि उपभुज्यमाना मनोरमाः, विपाकावस्थायां तु नरकादिदुर्गतिदु:खदायितयाऽतिदारुणानि एवं........।" —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२७

२. वही, पत्र ६२७ : क्षुद्रकं—क्षोदयितुं विनाशयितुं शक्यते इति क्षुद्रं-क्षुद्रकं-सोपक्रममित्यर्थः। जीवियं खुन्दति पच्चमाणं—जीवितं-आयुः खुन्दति-क्षोदयति-विनाशयतीति यावत्।"

२५. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किंचि रूवं अवरज्झई से ॥

[२५] (इसी प्रकार) जो (अमनोज्ञरूप के प्रति) द्वेष करता है, वह अपने दुर्दान्त (अत्यन्त प्रचण्ड) द्वेष के कारण उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। इसमें रूप का कोई अपराध-दोष नहीं है।

२६. एगन्तरत्ते रुइरंसि रूवे अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

[२६] जो रुचिर (सुन्दर) रूप में एकान्त रक्त (आसक्त) होता है और अतादृश रूप (कुरूप) के प्रति प्रद्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःख के समूह को प्राप्त होता है। परन्तु वीतराग मुनि उस (रूप) में लिप्त नहीं होता।

२७. रूवाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

[२७] मनोज्ञ रूप की आशा (लालसा) का अनुसरण करने वाला व्यक्ति अनेक प्रकार के चराचर (त्रस और स्थावर) जीवों की हिंसा करता है, तथा वह मूढ़ नाना प्रकार (के उपायों) से उन्हें (त्रस-स्थावर जीवों को) परिताप देता है; और अपने ही प्रयोजन को महत्व देने वाला क्लिष्ट-परिणामी (राग-बाधित) वह (व्यक्ति उन जीवों को) पीड़ा पहुँचाता है।

२८. रूवाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहिं सुहं से ? संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥

[२८] (मनोज्ञ) रूप के प्रति अनुपात (—अनुराग) और परिग्रह (ममत्व) के कारण, (मनोज्ञ रूप के) उत्पादन (उपार्जन) में, संरक्षण में, सन्नियोग (स्वपरप्रयोजनवश उसका सम्यक् उपयोग करने) में, (उसके) व्यय में, तथा वियोग में सुख कहाँ ? (इतना ही नहीं,) उसके उपभोग-काल में भी तृप्ति नहीं मिलती।

२९. रूवे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं ॥

[२९] रूप में अतृप्त तथा परिग्रह में आसक्त और उपसक्त (—अत्यन्त आसक्त) व्यक्ति सन्तोष को प्राप्त नहीं होता। वह असन्तोष के दोष से दुःखी एवं लोभ से आविल (—कलुषित या व्याकुल) व्यक्ति दूसरे की अदत्त (नहीं दी हुई) वस्तु ग्रहण करता (चुराता) है।

३०. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
माया-मुसं वड्ढइ लोभदोसा तत्थाऽवि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

[३०] जो तृष्णा से अभिभूत है, रूप और परिग्रह में अतृप्त वह दूसरों की वस्तुओं का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसका कपट और झूठ बढ़ता है। परन्तु इतने पर भी वह दुःख से विमुक्त नहीं होता।

३१. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते ।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ।।

[३१] झूठ बोलने से पहले और उसके पश्चात् तथा (झूठ) बोलने के समय में भी मनुष्य दुःखी होता है। उसका अन्त भी दुःखरूप होता है। इस प्रकार रूप से अतृप्त होकर वह अदत्त ग्रहण (चोरी) करने वाला दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

३२. रूवाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ? ।
तत्थोवभोगे वि किलेस दुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ।।

[३२] इस प्रकार रूप में आसक्त मनुष्य को कदापि किंचित् भी सुख कैसे प्राप्त होगा ? जिसको (पाने के) लिए मनुष्य दुःख उठाता है, उसके उपभोग में भी वह क्लेश और दुःख ही उठाता है।

३३. एमेव रूवम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे ।।

[३३] इसी प्रकार रूप के प्रति द्वेष को प्राप्त मनुष्य भी उत्तरोत्तर अनेक दुःखों की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषयुक्त चित्त से (वह) जिन कर्मों का उपार्जन करता है, वे विपाक के समय में दुःख के कारण बनते हैं।

३४. रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।।

[३४] रूप में विरक्त (उपलक्षण से द्वेषरहित) मनुष्य (राग-द्वेषरूप कारण के अभाव में) शोकरहित होता है। वह संसार में रहता हुआ भी दुःख-समूह की परम्परा से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जिस प्रकार जलाशय में रहता हुआ भी कमलिनी का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता।

विवेचन—समाहिकामे—प्रसंगवश 'समाधिकाम' शब्द का आशय है—जो श्रमण रागद्वेषादि का उन्मूलन करना चाहता है; क्योंकि समाधि का अर्थ है—चित्त की एकाग्रता या स्वस्थता, वह रागद्वेषादि के रहते हो नहीं सकती।[1]

न...... मणं पि कुज्जा : फलितार्थ—प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि मनोज्ञ विषयों के प्रति भाव न करे और अमनोज्ञ के प्रति मन भी न करे। इसका तात्पर्य यह है कि मनोज्ञ के प्रति रागभाव और अमनोज्ञ के प्रति द्वेषभाव न करे। जब मन से भी विषयों के प्रति विचार करने का निषेध किया है, तब फलितार्थ यह निकलता है कि इन्द्रियों से विषयों में प्रवृत्त होना तो दूर रहा।[2]

---

१. "समाधिः चित्तैकाग्र्यं, स च रागद्वेषाभाव एवेति,......ततस्तत्कामो रागद्वेषोद्धरणाभिलाषी......।"
—बृहद्वृत्ति, पत्र ६२८

२. ......अपेर्गम्यमानत्वात् भावमपि, प्रस्तावादिन्द्रियाणि प्रवर्त्तयितुम्। किं पुनस्तत् प्रवर्त्तनमित्यपि शब्दार्थः। ......अत्रापीन्द्रियाणि प्रवर्त्तयितुम्। अपि शब्दार्थश्च प्राग्वत्। —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२८

गहणं—गाथा २२ और २३ में गहणं (ग्रहण) शब्द तीन बार आया है। प्रसंगवश गाथा २२ में 'ग्रहण' शब्द का अर्थ—'ग्राह्यविषय' होता है, तथा २३ वीं गाथा में प्रथम 'ग्रहण' का अर्थ है—ग्राहक और द्वितीय ग्रहण का अर्थ है—ग्राह्यविषय'।[1]

रूप अपराधी नहीं—रूप को देख कर व्यक्ति ही राग या द्वेष करता है। इसमें यदि रूप का ही अपराध होता, तब तो व्यक्ति को रागद्वेषजनित कर्मबन्ध और उससे होने वाला जन्ममरणादि दुःख प्राप्त नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति झटपट मुक्त हो जाता। अतः व्यक्ति ही राग-द्वेष के प्रति उत्तरदायी है।[2]

दुक्खस्स संपीलं—(१) दुःखजनित पीड़ा—बाधा को अथवा—(२) दुःख के सम्पिण्ड-संघात-समूह को।[3]

अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे—अपने ही प्रयोजन को महत्ता—प्रधानता देने वाला, एवं क्लिष्ट अर्थात्—रागद्वेषादि से पीड़ित।[4]

रूप में रागी-द्वेषी—रूप में आसक्त या द्वेषग्रस्त मनुष्य रूपवान् वस्तु को प्राप्त करने और कुरूप वस्तु को दूर करने हेतु अनेक जीवों की हिंसा करता है, उन्हें विविध प्रकार से पीड़ा पहुँचाता है, झूठ बोलता है, अपहरण-चोरी करता है, ठगी करता है, स्त्री के रूप में आसक्त होकर अब्रह्मचर्य-सेवन करता है, ममत्वपूर्वक संग्रह करता है, किन्तु फिर भी अतृप्त रहता है। उसके उपार्जन, संरक्षण, उपभोग, व्यय एवं वियोग आदि में दुःखी होता है, इतना सब कुछ पाप करने पर भी वह न यहाँ सुखी होता है, न परलोक में। रूप के प्रति रागद्वेषवश वह अनेक पापकर्मों का उपार्जन करके फलभोग के समय नाना दुःख उठाता है, जन्म-मरण की परम्परा बढ़ाता है। यही गाथा २७ से ३३ तक का निष्कर्ष है।[5]

विरक्त ही दुःख-शोकरहित एवं अलिप्त—जो रूप के प्रति राग या द्वेष नहीं करता, वह न यहाँ शोक या दुःख से ग्रस्त होता है, और न परलोक में ही। क्योंकि वह जन्म-मरणादि रूप दुःख की परम्परा को बढ़ाता नहीं है।[6]

मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों के प्रति रागद्वेष-मुक्त रहने का निर्देश

३५. सोयस्स सद्दं गहणं वयन्ति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥

[३५] श्रोत्र के ग्राह्य विषय को शब्द कहते हैं, जो (शब्द) राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ

---

१. ......अनेन रूपचक्षुषोर्ग्राह्यग्राहकभाव उक्तः। —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२८

२. ......यदि चक्षू रागद्वेषकारणं, न कश्चिद् वीतरागः स्यादत आह—'**समो य जो तेसु स वीयरागो।**'
—वही, पत्र ६२९

३. दुःखस्य सम्पिण्डं-संघातं, यद्वा—समिति भृशं, पीड़ा-दुःखकृता बाधा सम्पीडा। —बृहद्वृत्ति, पत्र ६२९

४. आत्मार्थगुरुः-स्वप्रयोजननिष्ठः क्लिष्टः रागबाधितः। —वही, पत्र ६२९

५. उत्तरा, मूलपाठ तथा बृहद्वृत्ति, अ. ३२, गा. २७ से ३३ तक, पत्र ६३०-६३१

६. बृहद्वृत्ति, पत्र ६३१ का सारांश

कहा जाता है, और जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो इन दोनों (मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों) में सम रहता है, वह वीतराग है।

३६. सद्दस्स सोयं गहणं वयन्ति सोयस्स सद्दं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥

[३६] श्रोत्र को शब्द का ग्राहक कहते हैं, और शब्द श्रोत्र का ग्राह्यविषय है। जो राग का कारण है, उसे समनोज्ञ कहा है, और जो द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहा है।

३७. सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं॥

[३७] जो (मनोज्ञ) शब्दों के प्रति तीव्र आसक्ति रखता है, वह रागातुर अकाल में वैसे ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे शब्द में अतृप्त रागातुर मुग्ध हरिण—मृग मृत्यु को प्राप्त होता है।

३८. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किंचि सद्दं अवरज्झई से॥

[३८] (इसी तरह) जो (अमनोज्ञ शब्दों के प्रति) तीव्र द्वेष करता है, वह प्राणी उसी क्षण अपने दुर्दान्त द्वेष के कारण दुःख पाता है। (इसमें) शब्द का कोई अपराध नहीं है।

३९. एगन्तरत्ते रुइरंसि सद्दे अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥

[३९] जो रुचिर (मनोज्ञ) शब्द में एकान्त रक्त (—आसक्त) होता है, और अतादृश (—अमनोज्ञ) शब्द में प्रद्वेष करता है, वह मूढ़ दुःखसमूह को प्राप्त होता है। इस कारण विरक्त मुनि उनमें (मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द में) लिप्त नहीं होता।

४०. सद्दाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परियावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

[४०] मनोज्ञ शब्द की आशा (स्पृहा) का अनुसरण करने वाला व्यक्ति अनेक प्रकार के चराचर (त्रस-स्थावर) जीवों की हिंसा करता है। अपने ही प्रयोजन को मुख्यता देने वाला क्लिष्ट (रागादिबाधित) अज्ञानी नाना प्रकार से उन (चराचर) जीवों को परिताप देता और पीड़ा पहुँचाता है।

४१. सद्दाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खण-सन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से? संभोगकाले य अतित्तिलाभे॥

[४१] शब्द में अनुराग और परिग्रह (ममत्वबुद्धि) के कारण उसके उत्पादन में, संरक्षण में, सन्नियोग में तथा उसके व्यय और वियोग में, उसको सुख कहाँ? उसे उपभोगकाल में भी अतृप्ति ही मिलती है।

४२. सद्दे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं ।।

[४२] शब्द में अतृप्त, और उसके परिग्रहण (ममत्वपूर्वक ग्रहण-संग्रहण) में जो आसक्त और उपसक्त (गाढ़ आसक्त) होता है, उस व्यक्ति को संतोष प्राप्त नहीं होता। असंतोष के दोष से दुःखी एवं लोभाविष्ट मनुष्य दूसरे की शब्दवान् वस्तुएँ बिना दिये ग्रहण कर लेता है।

४३. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ।।

[४३] शब्द और उसके परिग्रहण में अतृप्त, तथा तृष्णा से अभिभूत व्यक्ति (दूसरे की) बिना दी हुई (शब्दवान्) वस्तुओं का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसका मायासहित झूठ बढ़ता है। ऐसा (कपट प्रधान असत्य का प्रयोग) करने पर भी वह दुःख से विमुक्त नहीं होता।

४४. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ।।

[४४] असत्याचरण के पहले और पीछे तथा प्रयोगकाल अर्थात् बोलने के समय भी वह दुःखी होता है। उसका अन्त भी दुःखरूप होता है। इसी प्रकार शब्द में अतृप्त व्यक्ति चोरी करता हुआ दुःखित और आश्रयहीन हो जाता है।

४५. सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेस दुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ।।

[४५] इस प्रकार शब्द में अनुरक्त व्यक्ति को कदाचित् कुछ भी सुख कहाँ से होगा? अर्थात् कभी भी किञ्चित् भी सुख नहीं होता। जिस (मनोज्ञ शब्द) को पाने के लिए व्यक्ति दुःख उठाता है, उसके उपभोग में भी अतृप्ति का क्लेश और दुःख ही रहता है।

४६. एमेव सद्दम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे ।।

[४६] इसी प्रकार जो (अमनोज्ञ) शब्द के प्रति द्वेष करता है, वह भी उत्तरोत्तर अनेक दुःखों की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषयुक्त चित्त से वह जिन कर्मों का संचय करता है, वे ही पुनः विपाक (फलभोग) के समय में दुःख के कारण बनते हैं।

४७. सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।।

[४७] शब्द से विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह संसार में रहता हुआ भी इस दुःख-समूह की परम्परा से उसी तरह लिप्त नहीं होता, जिस तरह कमलिनी का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता।

विवेचन—शब्द के प्रति त्रयोदश सूत्री वीतरागता का निर्देश—गाथा ३५ से ४७ तक तेरह गाथाओं में रूप की तरह शब्द के प्रति रागद्वेष से मुक्त होने का निर्देश किया गया है। गाथाएँ प्रायः समान हैं। 'रूप' के स्थान में 'शब्द' और 'चक्षु' के स्थान में 'श्रोत्र' का प्रयोग किया गया है।

हरिणमिगे—'हरिण' और 'मृग' ये दोनों शब्द समानार्थक हैं, तथापि मृग शब्द अनेकार्थक होने से यहाँ उसे 'पशु' अर्थ में समझना चाहिए। मृग शब्द के अर्थ होते हैं—पशु, मृगशीर्षनक्षत्र, हाथी की एक जाति, हरिण आदि।[1]

मनोज्ञ-अमनोज्ञ गन्ध के प्रति राग-द्वेष मुक्त रहने का निर्देश

४८. घाणस्स गन्धं गहणं वयन्ति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥

[४८] घ्राण (नासिका) के ग्राह्य विषय को गन्ध कहते हैं, जो गन्ध राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते हैं, और जो गन्ध द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं। जो इन दोनों में सम (न रागी है, न द्वेषी) है उसे वीतराग कहते हैं।

४९. गन्धस्स घाणं गहणं वयन्ति घाणस्स गन्धं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥

[४९] घ्राण को गन्ध का ग्राहक कहते हैं, और गन्ध को घ्राण का ग्राह्य-विषय कहते हैं। जो राग का कारण है, उसे समनोज्ञ कहते हैं, तथा जो द्वेष का कारण है उसे अमनोज्ञ कहते हैं।

५०. गन्धेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगन्धगिद्धे सप्पे बिलाओ विव निक्खमन्ते॥

[५०] जो मनोज्ञ गन्धों में तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे ओषधि की गन्ध में आसक्त रागातुर सर्प बिल से निकल कर विनाश को प्राप्त होता है।

५१. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किंचि गन्धं अवरज्झई से॥

[५१] जो अमनोज्ञ गन्धों के प्रति तीव्र द्वेष रखता है, वह जीव उसी क्षण अपने दुर्दान्त द्वेष के कारण दुःख पाता है। इसमें गन्ध उसका कुछ भी अपराध नहीं करता।

५२. एगन्तरत्ते रुइरंसि गन्धे अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥

[५२] जो सुरभिगन्ध में एकान्त रक्त (आसक्त) होता है, और दुर्गन्ध के प्रति द्वेष करता है, वह मूढ़ दुःखसमूह को प्राप्त होता है। अतः वीतराग-समभावी मुनि उनमें (मनोज्ञ-अमनोज्ञ-गन्ध में) लिप्त नहीं होता।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६३४ : मृगः सर्वोऽपि पशुरुच्यते, यदुक्तं—मृगशीर्षे हस्तिजातौ मृगः पशुकुरङ्गयोः।

५३. गन्धाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

[५३] गन्ध (सुगन्ध) की आशा का अनुसरण करने वाला व्यक्ति अनेक प्रकार के चराचर (त्रस और स्थावर) जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को ही महत्त्व देने वाला क्लिष्ट (रागदिपीड़ित) अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हें परिताप देता है, और पीड़ा पहुँचाता है।

५४. गन्धाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहिं सुहं से ? संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥

[५४] गन्ध के प्रति अनुराग और ममत्व के कारण गन्ध के उत्पादन, संरक्षण और सन्नियो में तथा व्यय और वियोग में सुख कहाँ ? उसके उपभोग-काल में भी तृप्ति नहीं मिलती।

५५. गन्धे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं ॥

[५५] गन्ध में अतृप्त और उसके परिग्रहण में आसक्त तथा उपसक्त व्यक्ति सन्तुष्टि नहीं पाता, वह असन्तोष के दोष से दुःखी लोभाविष्ट व्यक्ति दूसरे के द्वारा बिना दी हुई वस्तु ग्रहण कर लेता है।

५६. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो गन्धे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

[५६] गन्ध और उसके परिग्रहण में अतृप्त तथा तृष्णा से अभिभूत व्यक्ति (दूसरे की) बिना दी हुई वस्तुओं का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसका कपटप्रधान असत्य बढ़ जा— है। इतना करने (कपटप्रधान झूठ बोलने) पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं हो पाता।

५७. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते ।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो गन्धे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

[५७] असत्य-प्रयोग के पूर्व और पश्चात् तथा प्रयोग-काल में वह दुःखी होता है। —सका अन्त भी बुरा होता है। इस प्रकार गन्ध से अतृप्त होकर (सुगन्धित पदार्थों की) चोरी करने वाला व्यक्ति दुःखित और निराश्रित हो जाता हैं।

५८. गन्धाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ? ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

[५८] इस प्रकार सुगन्ध में अनुरक्त व्यक्ति को कदापि कुछ भी सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? वह जिस (गन्ध को पाने) के लिए दुःख उठाता है, उसके उपभोग में भी उसे क्लेश और दुःख (ही) होता है।

५९. एमेव गन्धम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

[५९] इसी प्रकार जो (अमनोज्ञ) गन्ध के प्रति द्वेष करता है, वह उत्तरोत्तर दुःखसमूह की परम्परा को प्राप्त होता है। वह द्वेषयुक्त चित्त से जिन (पाप-) कर्मों का संचय करता है, वे ही (कर्म) विपाक (फलभोग) के समय उसके लिए दुःखरूप बनते हैं।

६०. गन्धे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणी-पलासं ॥

[६०] गन्ध से विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह संसार में रहता हुआ भी इस (उपर्युक्त) दुःखों की परम्परा से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता, जिस प्रकार (जलाशय में) कमलिनी का पत्ता जल से (लिप्त नहीं होता)।

विवेचन—गन्ध के प्रति वीतरागता—४८ से ६० तक तेरह गाथाओं में शास्त्रकार ने रूप की तरह मनोज्ञ-अमनोज्ञ गन्ध के प्रति राग-द्वेष से दूर रहने का निर्देश सर्व-दुःखमुक्ति एवं परमसुख-प्राप्ति के सन्दर्भ में किया है। गाथाएँ प्रायः पूर्व गाथाओं के समान हैं। केवल 'रूप' एवं 'चक्षु' के स्थान में 'गन्ध' एवं 'घ्राण' शब्द का प्रयोग किया गया है।

ओसहिगंधसिद्धे सप्पे—यहाँ उपमा देकर बताया गया है कि सुगन्ध में आसक्ति पुरुष के लिए वैसी ही विनाशकारिणी है, जैसी कि ओषधि की गन्ध में सर्प की आसक्ति। बृत्तिकार ने ओषधि शब्द से 'नागदमनी' आदि ओषधियाँ (जड़ियाँ) सूचित की हैं।[1]

मनोज्ञ-अमनोज्ञ रस के प्रति राग-द्वेषमुक्त होने का निर्देश—

६१. जिब्भाए रसं गहणं वयन्ति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

[६१] जिह्वा के ग्राह्य विषय को रस कहते हैं। जो रस राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते हैं और जो रस द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं। इन दोनों (मनोज्ञ-अमनोज्ञ रसों) में जो सम (राग-द्वेषरहित) रहता है, वह वीतराग है।

६२. रसस्स जिब्भं गहणं वयन्ति जिब्भाए रसं गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

[६२] जिह्वा को रस की ग्राहक कहते हैं, (और) रस को जिह्वा का ग्राह्य (विषय) कहते हैं। जो राग का हेतु है, उसे समनोज्ञ कहा है और जो द्वेष का हेतु है, उसे अमनोज्ञ कहा है।

६३. रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥

[६३] जो (मनोज्ञ) रसों में तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे मांस खाने में आसक्त रागातुर मत्स्य का शरीर कांटे से विंध जाता है।

---

१. बृहद्वृत्ति, पत्र ६२४ : 'तथौषधयो—नागदमन्यादिकाः।'

६४. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू रसं न किंचि अवरज्झई से ॥

[६४] (इसी प्रकार) जो अमनोज्ञ रस के प्रति तीव्र द्वेष करता है, वह उसी क्षण अपने दुर्दमनीय द्वेष के कारण दुःखी होता है। इसमें रस का कोई अपराध नहीं है।

६५. एगन्तरत्ते रुइरे रसम्मि अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेई बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

[६५] जो व्यक्ति रुचिकर रस (स्वाद) में अत्यन्त आसक्त हो जाता है और अरुचिकर रस के प्रति द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को (अथवा दुःखसंघात को) प्राप्त करता है। इसी कारण (मनोज्ञ-अमनोज्ञ रसों से) विरक्त (वीतद्वेष) मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

६६. रसाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

[६६] रसों (मनोज्ञ रसों) की इच्छा के पीछे चलने वाला अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों का घात करता है। अपने स्वार्थ को ही गुरुतर मानने वाला क्लिष्ट (रागादिपीड़ित) अज्ञानी उन्हें विविध प्रकार से परितप्त करता है और पीड़ा पहुँचाता है।

६७. रसाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहिं सुहं से ? संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥

[६७] रस में अनुराग और परिग्रह (ममत्व) के कारण (उसके) उत्पादन, रक्षण और सन्नियोग में, तथा व्यय और वियोग होने पर उसे सुख कैसे हो सकता है ? उपभोगकाल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

६८. रसे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं ॥

[६८] रस में अतृप्त और उसके परिग्रह में आसक्त-उपसक्त (रचा पचा रहने वाला) व्यक्ति सन्तोष नहीं पाता। वह असन्तोष के दोष से दुःखी तथा लोभग्रस्त होकर दूसरों के (रसवान्) पदार्थों को चुराता है।

६९. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो रसे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

[६९] रस और (उसके) परिग्रह में अतृप्त तथा (रसवान् पदार्थों की) तृष्णा से अभिभूत (बाधित) व्यक्ति दूसरों के (सरस) पदार्थों का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसमें कपटयुक्त असत्य (दम्भ) बढ़ जाता हैं। इतने (कूट कपट करने) पर भी वह दुःख से विमुख नहीं होता।

७०. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते ।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

[७०] असत्य-प्रयोग से पूर्व और पश्चात् तथा उसके प्रयोगकाल में भी वह दुःखी होता है।

उसका अन्त भी बुरा होता है। इस प्रकार रस में अतृप्त होकर चोरी करने वाला वह दुःखित और आश्रयरहित हो जाता है।

७१. रसाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि? ।
तत्थोवभोगे वि किलेस दुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं ॥

[७१] इस प्रकार (मनोज्ञ) रस में अनुरक्त पुरुष को कदाचित् भी, कुछ भी सुख कहाँ से हो सकता है ? जिसे पाने के लिये व्यक्ति दुःख उठाता है, उसके उपभोग में भी (उसे) क्लेश और दुःख ही होता है।

७२. एमेव रसम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

[७२] इसी प्रकार (अमनोज्ञ) रस के प्रति द्वेष रखने वाला व्यक्ति उत्तरोत्तर दुःखों की परम्परा को प्राप्त होता है। वह द्वेषग्रस्त चित्त से जिन (पाप-) कर्मों का संचय करता है, वे ही विपाक के समय दुःख रूप बन जाते हैं।

७३. रसे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

[७३] रस से विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह संसार में रहता हुआ भी इस दुःख-समूह की परम्परा से लिप्त नहीं होता—जैसे कि (जलाशय में) कमलिनी का पत्ता जल से (लिप्त नहीं होता)।

विवेचन—रसों के प्रति वीतरागता की त्रयोदशसूत्री—६१ से ७३ तक तेरह गाथाओं में शास्त्रकार ने विविध पहलुओं से मनोज्ञ-अमनोज्ञ रसों के प्रति रागद्वेप से मुक्त रहने का उपदेश दिया है, लक्ष्य वही सर्वथा सुखप्राप्ति एवं सर्व दुःखमुक्ति है। भाव एवं शब्दावली प्रायः समान है।

मनोज्ञ-अमनोज्ञ-स्पर्शों के प्रति रागद्वेषमुक्ति का उपदेश—

७४. कायस्स फासं गहणं वयन्ति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

[७४] काय के ग्राह्य विषय को स्पर्श कहते हैं। जो स्पर्श राग का कारण है, उसे मनोज्ञ कहते हैं। और जो स्पर्श द्वेप का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं। जो इन दोनों (मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्शों) में सम (राग-द्वेप से दूर) रहता है, वह वीतराग है।

७५. फासस्स कायं गहणं वयन्ति कायस्स फासं गहणं वयन्ति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

[७५] काय स्पर्श का ग्राहक है और स्पर्श काय का ग्राह्य विषय है। जो राग का हेतु है, उसे समनोज्ञ कहा गया है और जो द्वेप का हेतु है, उसे अमनोज्ञ कहा गया है।

७६. फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयजलावसन्ने गाहग्गहीए महिसे व ऽरन्ने॥

[७६] जो (मनोज्ञ) स्पर्शों में तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल में ही (इसी तरह) विनाश को प्राप्त हो जाता है—जिस तरह अरण्य में जलाशय के शीतल जल के स्पर्श में आसक्त रागातुर भैंसा ग्राह-मगरमच्छ के द्वारा पकड़ा जा कर विनाश को प्राप्त होता है।

७७. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तंसि क्खणं से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किंचि फासं अवरज्झई से॥

[७७] जो (अमनोज्ञ) स्पर्श के प्रति तीव्र द्वेष रखता है, वह जीव भी तत्क्षण अपने दुर्दम द्वेष के कारण दुःख पाता है। इसमें स्पर्श का कोई अपराध नहीं है।

७८. एगन्तरत्ते रुइरंसि फासे अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥

[७८] जो मनोरम स्पर्श में अत्यन्त आसक्त होता है, तथा अमनोरम स्पर्श के प्रति प्रद्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा (या दुःख के पिण्ड) को प्राप्त होता है। इसीलिए विरागी मुनि इसमें (मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्श में) लिप्त नहीं होता।

७९. फासाणुगासाणुगए य जीवे चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

[७९] (मनोज्ञ) स्पर्श की कामना के पीछे चलनेवाला, अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों का वध करता है, वह अपने स्वार्थ को ही महत्त्व देनेवाला क्लिष्ट अज्ञानी विविध प्रकार से उन्हें संतप्त करता है और पीड़ा पहुँचाता है।

८०. फासाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से? संभोगकाले य अतित्तिलाभे॥

[८०] स्पर्श में अनुराग और ममत्व (परिग्रहण) के कारण उसके उत्पादन, संरक्षण एवं सन्नियोग में तथा व्यय और वियोग होने पर उसे सुख कैसे हो सकता है? उसे तो उपभोगकाल में भी अतृप्ति ही मिलती है।

८१. फासे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं॥

[८१] स्पर्श में अतृप्त एवं उसके परिग्रह में आसक्त-उपसक्त व्यक्ति संतोष नहीं पाता। असंतोष के दोष के कारण वह दुःखी तथा लोभग्रस्त होकर दूसरों के (सुखद स्पर्श जनक) पदार्थ चुराता है।

८२. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो फासे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

[८२] स्पर्श और उसके परिग्रह में अतृप्त तथा तृष्णा से अभिभूत वह व्यक्ति दूसरों के (सुस्पर्श वाले) पदार्थों का अपहरण करता है। लोभ के दोष के कारण उसका मायामृषा (मायासहित असत्य) बढ़ जाता है। इतना कूटकपट करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं हो पाता।

८३. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

[८३] असत्य-भाषण से पहले और बाद में तथा असत्य के प्रयोग के समय में भी वह दुःखी होता है। उसका अन्त भी बुरा होता है। इस प्रकार स्पर्श में अतृप्त होकर चोरी करने वाला वह व्यक्ति दुःखित और निराश्रय हो जाता है।

८४. फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?
तत्थोवभोगे वि किलेस दुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

[८४] इस प्रकार मनोज्ञ स्पर्श में अनुरक्त पुरुष को कदापि, कुछ भी सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? जिसे पाने के लिए वह दुःख उठाता है, उसके उपभोग में भी क्लेश और दुःख ही होता है।

८५. एमेव फासम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥

[८५] इसी प्रकार जो (अमनोज्ञ) स्पर्श के प्रति द्वेष करता है, वह भी (उत्तरोत्तर) नाना दुःखों की परम्परा को प्राप्त होता है। द्वेषयुक्त चित्त से वह जिन (पाप—) कर्मों को संचित करता है, वे ही कर्म विपाक के समय उसके लिए दुःख रूप बनते हैं।

८६. फासे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥

[८६] (अतः) स्पर्श से विरक्त पुरुष ही शोकरहित होता है। वह संसार में रहता हुआ भी (वैसे ही) दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता, जैसे (जलाशय में) कुमुदिनी का पत्ता जल से (लिप्त नहीं होता)।

विवेचन—स्पर्श के प्रति वीतरागता का पाठ—प्रस्तुत १३ गाथाओं (७४ से ८६ तक) में मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्श के प्रति राग और द्वेष से मुक्त, निर्लिप्त और अनासक्त क्यों, किसलिए, और कैसे रहना चाहिए? रागद्वेष से ग्रस्त होने पर हिंसादि कितने पापों का भागी और परिणाम में पद-पद पर कितना दुःख उठाना पड़ता है? यह तथ्य यहाँ प्रदर्शित किया गया है।

मनोज्ञ-अमनोज्ञ भावों के प्रति रागद्वेषमुक्त रहने का निर्देश—

८७. मणस्स भावं गहणं वयन्ति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥

[८७] मन के ग्राह्य (विषय) को भाव (विचार या चिन्तन) कहते हैं। जो भाव राग का

कारण है, उसे मनोज्ञ कहते हैं (और) जो भाव द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं। जो इन दोनों (मनोज्ञ-अमनोज्ञ भावों) में सम (राग-द्वेष से दूर) रहता है, वह वीतराग है।

८८. भावस्स मणं गहणं वयन्ति मणस्स भावं गहणं वयन्ति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

[८८] मन भाव का ग्राहक है, और भाव मन का ग्राह्य (विषय) है। जो राग का हेतु है, उसे 'समनोज्ञ' (भाव) कहते हैं और जो द्वेष का हेतु है, उसे अमनोज्ञ (भाव) कहते हैं।

८९. भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे करेणुमग्गावहिए व नागे ॥

[८९] जो मनोज्ञ भावों में तीव्र आसक्ति रखता है, वह अकाल में (वैसे) ही विनाश को प्राप्त होता है—जैसे हथिनी के प्रति आकृष्ट रागातुर कामगुणों में आसक्त हाथी (विनाश को प्राप्त होता है।)

९०. जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं ।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू न किंचि भावं अवरज्झई से ॥

[९०] (इसी तरह) जो (अमनोज्ञ भावों के प्रति) तीव्र द्वेष करता है, वह उसी क्षण अपने दुर्दमनीय द्वेष के कारण दुःखी होता है। इसमें भाव का कोई अपराध नहीं है।

९१. एगन्तरत्ते रुइरंसि भावे अतालिसे से कुणई पओसं ।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

[९१] जो मनुष्य मनोज्ञ (प्रिय एवं रुचिकर) भाव में एकान्त आसक्त होता है, तथा इसके विपरीत अमनोज्ञ भाव के प्रति द्वेष करता है, वह अज्ञानी, दुःखजनित पीड़ा (अथवा दुःखपिण्ड) को प्राप्त होता है। विरागी मुनि इस कारण उन (दोनों) में लिप्त नहीं होता।

९२. भावाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

[९२] मनोज्ञ भावों की आशा के पीछे दौड़नेवाला व्यक्ति अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर जीवों का घात करता है। अपने ही स्वार्थ को महत्त्व देने वाला वह क्लिष्ट अज्ञानी जीव उन्हें अनेक प्रकार से परिताप देता है और पीड़ा पहुँचाता है।

९३. भावाणुवाएण परिग्गहेण उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहिं सुहं से ? संभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥

[९३] प्रिय भाव में अनुराग और ममत्व के कारण, उसके उत्पादन, सुरक्षण, सन्नियोग व्यय और वियोग में उसे सुख कैसे हो सकता है? उसे तो उपभोग काल में भी तृप्ति नहीं मिलती!

९४. भावे अतित्ते य परिग्गहे य सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स लोभाविले आययई अदत्तं ॥

[९४] भाव में अतृप्त तथा परिग्रह में आसक्त-उपसक्त व्यक्ति सन्तोष नहीं पाता। वह असन्तोष के दोष से दुःखी तथा लोभग्रस्त होकर दूसरों की वस्तु चुराता है।

९५. तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो भावे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

[९५] भाव और परिग्रह में अतृप्त तथा तृष्णा से अभिभूत होकर वह दूसरे के भावों (मनोज्ञ-सद्भावों) का अपहरण करता है। लोभ के दोष से उसमें कपटप्रधान असत्य बढ़ता है। फिर भी (कपटप्रधान असत्य को अपनाने पर भी) वह दुःख से मुक्त नहीं हो पाता।

९६. मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

[९६] असत्यप्रयोग के पूर्व एवं पश्चात् तथा असत्यप्रयोग काल में भी वह दुःखी होता है। उसका अन्त भी दुःखरूप होता है। इस प्रकार भाव में अतृप्त होकर वह चोरी करता है, दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

९७. भावाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

[९७] इस प्रकार (मनोज्ञ) भावों में अनुरक्त मनुष्य को कभी और कुछ भी सुख कहाँ से हो सकता है? जिस (मनोज्ञ भाव को पाने) के लिए वह दुःख उठाता है, उसके उपभोग में भी तो क्लेश और दुःख ही होता है।

९८. एमेव भावम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥

[९८] इसी प्रकार (जो अमनोज्ञ) भाव के प्रति द्वेष करता है, वह भी (उत्तरोत्तर) दुःखों की परम्परा को पाता है। द्वेषयुक्त चित्त से वह जिन (पाप-) कर्मों को संचित करता है, वे (पापकर्म) ही विपाक के समय में दुःखरूप बनते हैं।

९९. भावे विरत्तो मणुओ विसोगो एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥

[९९] अतः (मनोज्ञ-अमनोज्ञ) भाव से विरक्त मनुष्य शोकरहित होता है। वह संसार में रहता हुआ भी इन (पूर्वोक्त) दुखों की परम्परा से (वैसे ही) लिप्त नहीं होता, जैसे (जलाशय में) कमलिनी का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता।

विवेचन—मनोज्ञ-अमनोज्ञ भावों के प्रति वीतरागता—प्रस्तुत १३ गाथाओं (८७ से ९९ तक) में मन के द्वारा किसी घटना या पदार्थ के निमित्त से उठने वाले राग और द्वेष के भावों के प्रति वीतरागता का पाठ पढ़ाया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी पदार्थ, घटना या विचार के साथ मन में उठने वाले मनोज्ञ या अमनोज्ञ भाव को मत जोड़ो, अन्यथा रागद्वेष पैदा होगा, मन दुःखी, संक्लिष्ट और तनाव से परिपूर्ण हो जाएगा, भय, पीड़ा, संताप आदि अशुभ कर्म-

बन्धक भाव आ जाने से दुःखों की परम्परा बढ़ जाएगी। अतः सर्वत्र वीतरागता को ही दुःखमुक्ति या सर्वसुखप्राप्ति के लिए अपनाना उचित है।

रागी के लिए ही ये दुःख के कारण, वीतरागी के लिए नहीं

१००. एविन्दियत्था य मणस्स अत्था दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं न वीयरागस्स करेन्ति किंचि॥

[१००] इस प्रकार इन्द्रिय और मन के जो विषय रागी मनुष्य के लिए दुःख के हेतु हैं, वे ही (विषय) वीतराग के लिए कदापि किंचित् मात्र भी दुःख के कारण नहीं होते।

१०१. न कामभोगा समयं उवेन्ति न यावि भोगा विगइं उवेन्ति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य सो तेसु मोहा विगइं उवेइ॥

[१०१] कामभोग न समता (समभाव) उत्पन्न करते हैं और न विकृति पैदा करते हैं। उनके प्रति जो द्वेष और ममत्व रखता है, उनमें मोह के कारण वही विकृति को प्राप्त होता है।

१०२. कोहं च माणं च तहेव मायं लोहं दुगुंछं अरइं रइं च।
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं नपुंसवेयं विविहे य भावे॥

[१०२] क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद तथा (हर्ष, विषाद आदि) विविध भावों को—

१०३. आवज्जई एवमणेगरूवे एवंविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से॥

[१०३] अनेक प्रकार के विकारों को तथा उनसे उत्पन्न अन्य अनेक कुपरिणामों को वह प्राप्त होता है, जो कामगुणों में आसक्त है और वह करुणास्पद, दीन, लज्जित और अप्रिय होता है।

विवेचन—शंका : समाधान—प्रस्तुत ४ गाथाओं में पुनरुक्ति करके भी शिष्य की इन शंकाओं का समाधान किया है—(१) इन्द्रिय और मन के विषयों के विद्यमान रहते मनुष्य को वीतरागता तथा तज्जनित दुःखमुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? (२) कामभोगों के रहते भी मनुष्य वीतराग, विकृतिरहित तथा दुःखमुक्त कैसे हो सकता है? समाधान यह है कि (३) रागी मनुष्य के लिए इन्द्रियों और मन के विषय दुःख के हेतु हैं, वीतरागी के लिए नहीं, (४) कामभोगों के प्रति भी जो राग-द्वेष, मोह करते हैं, उनके लिए वे विकृतिकारी-दुःखोत्पादक हैं। अर्थात्—कामासक्त मानव को ही कषाय-नोकषाय आदि विकृतियाँ घेरती हैं। जो कामभोगों के प्रति राग-द्वेष-मोह नहीं करते, उन वीतराग पुरुषों को ये विकृतियाँ नहीं घेरती, न ही दुःख प्राप्त होते हैं।[1]

तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों के विषय तो बाह्य निमित्त मात्र बनते हैं। वस्तुतः दुःख का मूल कारण तो आत्मा की रागद्वेषमयी मनोवृत्तियाँ ही हैं। राग-द्वेषविहीन मुनि का इन्द्रिय विषय लेशमात्र भी बिगाड़ नहीं कर सकते।

---

१. उत्तराध्ययन (गुजराती भाषान्तर भावनगर), पत्र ३०६-३०७

रागद्वेषादि विकारों के प्रवेश-स्रोतों से सावधान रहे

१०४. कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू पच्छाणुतावेण तवप्पभावं ।
एवं वियारे अमियप्पयारे आवज्जई इन्दियचोरवस्से ॥

[१०४] (शरीर की सेवा-शुश्रूषारूप) सहायता की लिप्सा से कल्पयोग शिष्य की भी इच्छा न करे । (दीक्षा लेने के) पश्चात् पश्चात्ताप आदि करके तप के प्रभाव की भी इच्छा न करे । इस प्रकार की इच्छाओं से इन्द्रियरूपी चोरों के वशीभूत होकर साधक अनेक प्रकार के अपरिमित विकारों (-दोषों) को प्राप्त कर लेता है ।

१०५. तओ से जायन्ति पओयणाइं निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि ।
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा तप्पच्चयं उज्जमए य रागी ॥

[१०५] (पूर्वोक्त कषाय-नोकषायादि) विकारों के प्राप्त होने के पश्चात् सुखाभिलाषी (इन्द्रिय-चोर-वशीभूत) उस व्यक्ति को मोहरूपी महासागर में डुबाने के लिए (अपने माने हुए तथा-कथित कल्पित) दुःखों के विनाश के लिए (विषयसेवन, हिंसा आदि) अनेक प्रयोजन उपस्थित होते है । इस कारण वह (स्वकल्पित दुःखनिवारणोपाय हेतु) उन (विषयसेवनादि) के निमित्त से रागी (और उपलक्षण से द्वेषी) होकर प्रयत्न करता है ।

विवेचन—रागी व्यक्ति का विपरीत प्रयत्न—असावधान साधक राग-द्वेष से मुक्ति के लिए संयमी जीवन अंगीकार करने के बाद भी किस प्रकार पुनः राग-द्वेष एवं कषायादि विकारों को पकड़ में फँस जाता है तथा रागद्वेषमुक्त होने के बदले विषयसेवनादि कामभोगों के राग में फँस कर दुःख पाता है ? इसे ही इन दो गाथाओं में बतलाया गया है । (१) शरीर और इन्द्रियजनित सुखों की अभिलाषा से प्रेरित होकर वह शिष्य बनाता है, (२) दीक्षित हो जाने के बाद पश्चात्ताप करता है कि हाय ! मैंने ऐसे कष्टों को क्यों अपनाया ? इस दृष्टि से वह तपस्या का सौदा करके कामभोगादि की वांछा एवं निदान कर लेता है । (३) इस प्रकार इन्द्रिय-चोरों के प्रवेश के साथ-साथ उसके जीवन में कषाय एवं नोकषायादि विकार मोहसमुद्र में उसे डुबो देते हैं । (४) फिर वह अपने कल्पित दुःखों के निवारणार्थ रागी बन कर विषय-सुखों में तथा उनकी प्राप्ति के लिए हिंसादि में प्रवृत्त होकर दुःखमुक्ति के बदले नाना दुःखों को न्यौता दे देता है ।

अपने ही संकल्प-विकल्प : दोषों के हेतु

१०६. विरज्जमाणस्स य इन्दियत्था सद्दाइया तावइयप्पगारा ।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा निव्वत्तयन्ती अमणुन्नयं वा ॥

[१०६] इन्द्रियों के जितने भी शब्दादि-विषयों के प्रकार हैं, वे सभी विरक्त व्यक्ति के मन में मनोज्ञता या अमनोज्ञता उत्पन्न नहीं करते ।

१०७. एवं ससंकप्पविकप्पणासु संजायई समयमुवट्ठियस्स ।
अत्थे य संकप्पयओ तओ से पहीयए कामगुणेसु तण्हा ॥

[१०७] (व्यक्ति के) अपने ही संकल्प-(राग-द्वेष-मोहरूप अध्यवसाय)-विकल्प सब दोषों

के, कारण हैं, इन्द्रियों के विषय (अर्थ) नहीं, ऐसा जो संकल्प करता है, उस (के मन) में समता उत्पन्न होती है और उस (समता) से (उसकी) कामगुणों की तृष्णा क्षीण हो जाती है।

विवेचन—वीतरागता या समता ही रागद्वेषादि निवारण का हेतु—प्रस्तुत दो गाथाओं में निष्कर्ष बता दिया है—रागद्वेषादि के कारण इन्द्रियविषय नहीं, अपितु व्यक्ति के अपने ही मनोज्ञता-अमनोज्ञता या रागद्वेषादि के संकल्प ही कारण हैं। यदि व्यक्ति में विरक्ति या समता जागृत हो जाए तो शब्दादि विषय या कामभोग उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। उसके तृष्णा, राग-द्वेषादि विकार क्षीण हो जाते हैं।

वीतरागी की सर्वकर्मों और दुःखों से मुक्ति का क्रम

१०८. स वीयरागो कयसव्वकिच्चो खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ जं चऽन्तरायं पकरेइ कम्मं॥

[१०८] वह कृतकृत्य वीतराग आत्मा क्षणभर में ज्ञानावरण (कर्म) का क्षय कर लेता है, तथैव दर्शन को आवृत्त करने वाले कर्म का भी क्षय करता है और अन्तरायकर्म को भी दूर करता है।

१०९. सव्वं तओ जाणइ पासए य अमोहणे होइ निरन्तराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे॥

[१०९] तदनन्तर (ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षय के पश्चात्) वह सब भावों को जानता है और देखता है, तथा वह मोह और अन्तराय से रहित हो जाता है। वह शुद्ध और आश्रवरहित हो जाता है। फिर वह ध्यान (शुक्लध्यान)—समाधि से युक्त होता है और आयुष्यकर्म का क्षय होते ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

११०. सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को जं बाहई सययं जन्तुमेयं।
दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो तो होइ अच्चन्तसुही कयत्थो॥

[११०] वह उन समस्त दुःखों से तथा दीर्घकालीन कर्मों से मुक्त होता है, जो इस जीव को सदैव बाधा-पीड़ा देते रहते हैं। तब वह दीर्घकालिक-अनादिकाल के रोगों से विमुक्त, प्रशस्त, अत्यन्त-एकान्त सुखी एवं कृतार्थ हो जाता है।

विवेचन—सम्पूर्ण मुक्ति की स्थिति—प्रस्तुत तीन गाथाओं में बताया गया है कि जब आत्मा वीतराग हो जाता है, तब वह क्रमशः ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घातिकर्मों का क्षय कर डालता है, फिर वह कृतकृत्य, निराश्रव एवं शुद्ध हो जाता है, उसमें पूर्वोक्त कोई भी विकार प्रवेश नहीं कर सकते। तदनन्तर वह शुक्लध्यान का प्रयोग करके आयुष्य का क्षय होते ही शेष चार अघातिकर्मों से मुक्त हो जाता है और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन जाता है। समस्त कर्मों और दुःखों से मुक्त होकर वह निरामय, अत्यन्तसुखी, प्रशस्त और कृतार्थ हो जाता है।

उपसंहार

१११. अणाइकालप्पभवस्स एसो सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो।
विर्याहिओ जं समुविच्च सत्ता कमेण अच्चन्तसुही भवन्ति ॥
—त्ति बेमि।

[१११] अनादिकाल से उत्पन्न होते आए समस्त दुःखों से सर्वथा मुक्ति का यह मार्ग बताया गया है, जिसे सम्यक् प्रकार से स्वीकार (पा) कर जीव क्रमशः अत्यन्त सुखी (अनन्तसुखसम्पन्न) होते हैं।
—ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—निष्कर्ष—अध्ययन के प्रारम्भ में समूल दुःखों से मुक्ति का उपाय बताने की प्रतिज्ञा की गई थी, तदनुसार उपसंहार में स्मरण कराया गया है कि यही (पूर्वोक्त) अनादिकालीन सर्वदुःखों से मुक्ति का मार्ग है।

॥ अप्रमादस्थान : बत्तीसवां अध्ययन सम्पूर्ण ॥

तेतीसवाँ अध्ययन : कर्मप्रकृति

अध्ययनसार

* प्रस्तुत अध्ययन का नाम कर्मप्रकृति (कम्मपयडी) है ।

* आत्मा के साथ राग-द्वेषादि के कारण कर्मपुद्गल क्षीर-नीर की तरह एकीभूत हो जाते हैं । वे जब तक रहते हैं तब तक जीव संसार में विविध गतियों और योनियों में विविध प्रकार के शरीर धारण करके भ्रमण करते रहते हैं, नाना दुःख उठाते हैं, भयंकर से भयंकर यातनाएँ सहते हैं । इसलिए साधक को इन कर्मों को आत्मा से पृथक् करना आवश्यक है । यह तभी हो सकता है, जब कर्मों के स्वरूप को व्यक्ति जान ले, उनके वन्ध के कारणों को तथा उन्हें दूर करने का उपाय भी समझ ले । इसी उद्देश्य से कर्मों की मूल ८ प्रकृतियों के नाम तथा उनकी उत्तर प्रकृतियों एवं प्रकृतिबन्ध, स्थितिवन्ध, अनुभागवन्ध और प्रदेशवन्ध का परिज्ञान प्रस्तुत अध्ययन में कराया गया है ।

* सर्वप्रथम ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद, दर्शनावरणीय के नौ भेद, वेदनीय के दो भेद, मोहनीय कर्म के सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्वमोहनीय, और मिश्रमोहनीय आदि फिर कपाय, नोकपाय मोहनीय, मिलाकर २८ भेद, आयुष्यकर्म के चार, नामकर्म के मुख्य दो भेद–शुभ नाम-अशुभ-नाम. गोत्र कर्म के दो भेद, एवं अन्तरायकर्म के पांच भेद वताए हैं ।

* तत्पश्चात्-कर्मबन्ध के चार प्रकारों का वर्णन एवं विश्लेषण किया गया है ।

* प्रत्येक कर्म की स्थिति भी संक्षेप में बताई गई है ।

* कर्मों के विपाक को अनुभाग, अनुभाव, फल, या रस कहते हैं । विपाक तीव्र-मन्द रूप से दो प्रकार का है । तीव्र परिणामों से बंधे हुए कर्म का विपाक तीव्र और मन्द परिणामों से बंधे हुए कर्मों का मन्द होता है ।

  कर्मप्रायोग्य पुद्गल जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट होकर आत्मा के प्रदेशों के साथ चिपक जाते हैं । कर्म अनन्तप्रदेशी पुद्गल स्कन्ध होते हैं, वे आत्मा के असंख्य प्रदेशों के साथ एकीभूत हो जाते हैं । इस प्रकार प्रस्तुत 'अध्ययन' में कर्मविज्ञान का संक्षेप में निरूपण किया गया है । ☐☐

तेत्तीसइमं अज्झयणं : तेतीसवाँ अध्ययन

कम्मपयडी : कर्मप्रकृति

कर्मबन्ध और कर्मों के नाम—

१. अट्ठ कम्माइं वोच्छामि आणुपुव्विं जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो संसारे परिवत्तए ॥

[१] मैं आनुपूर्वी के क्रमानुसार आठ कर्मों का वर्णन करूंगा, जिनसे बंधा हुआ यह जीव संसार में परिवर्त्तन (—परिभ्रमण) करता रहता है ।

२. नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं आउकम्मं तहेव य ॥
३. नामकम्मं च गोयं च अन्तरायं तहेव य ।
एवमेयाइ कम्माइं अट्ठेव उ समासओ ॥

[२-३] ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय तथा आयु कर्म—
नाम कर्म, गोत्र कर्म, और अन्तराय (कर्म), इस प्रकार संक्षेप में ये आठ कर्म हैं ।

विवेचन—कर्म का लक्षण—जिन्हें जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगों द्वारा (बद्ध) करता है, उन्हें कर्म कहते हैं ।

आणुपुव्विं जहक्कमं : भावार्थ—पूर्वानुपूर्वी के क्रमानुसार ।

बन्ध : स्वरूप और प्रकार—बन्ध का अर्थ है—जिससे जीव बँध जाए । वह दो प्रकार का है—द्रव्यबन्ध और भावबन्ध । द्रव्यबन्ध रस्सी आदि से बांधना या बन्धन में डालना है, और भावबन्ध है—रागद्वेषादि के द्वारा कर्मों के साथ बंधना । यहाँ भावबन्ध का प्रसंग है । कर्मों का बन्ध होने से ही जीव नाना गतियों और योनियों में परिभ्रमण करता है ।[१]

आठ कर्म : विशेष व्याख्या :—जीव का लक्षण उपयोग है । वह ज्ञान-दर्शनरूप है । ज्ञानोपयोग को रोकने (आवृत करने) वाले कर्म का नाम ज्ञानावरणकर्म है । जिस प्रकार सूर्य को मेघ आवृत कर देता है, इसी तरह यह कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को ढँक देता है ॥ १ ॥ प्रतीहार (द्वारपाल) जिस प्रकार राजा के दर्शन नहीं होने देता, उसी प्रकार आत्मा के दर्शन-उपयोग, को जो ढँक देता है (प्रकट नहीं होने देता) उसका नाम दर्शनावरणकर्म है ॥ २ ॥ जिस प्रकार मधुलिप्त तलवार के चाटने से जीभ कट जाती है, साथ ही मधु का स्वाद भी आता है, उसी प्रकार जिस कर्म के द्वारा जीव को शारीरिक-मानसिक सुख और दुःख का अनुभव होता रहता है, वह

---

१. उत्तराध्ययन, प्रियदर्शिनीटीका भा. ४. पृ. ५७६

वेदनीय कर्म है ।। ३ ।। जो इस जीव को मदिरा के नशे की तरह मूढ (हेय-उपादेय के विवेक से विकल) कर देता है, वह मोहनीय कर्म है । इससे जीव पर-भाव को स्व-भाव मानकर उसके परिणमन से अपने में 'मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूँ,' इस प्रकार कल्पना करता रहता है ।। ४ ।। जिस कर्म के उदय से जीव एक गति से दूसरी गति में स्वेच्छा से न जा सके; अर्थात्—जिस प्रकार पैरों में पड़ी हुई बेड़ी का बन्धन जीव को वहीं एक ही स्थान में रोके रखता है, उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से जीव चाहने पर भी दूसरी गति में न जा सके, जो विवक्षित गति में ही जीव को रोके रखे, उसका नाम आयु कर्म है ।। ५ ।। जिस प्रकार चित्रकार अनेक प्रकार के छोटे-बड़े चित्र बनाता है, उसी प्रकार जो जीव के शरीर आदि की नाना प्रकार से रचना कर अर्थात्-शरीर को सुन्दर असुन्दर, छोटा-बड़ा आदि बनाए, उसका नाम नामकर्म है ।। ६ ।। जिस प्रकार कुंभार मिट्टी को उच्च-नीच रूप में परिणत करता है, उसी प्रकार जो कर्म जीव को उच्च-नीच संस्कार युक्त कुल में उत्पन्न करता है, उसका नाम गोत्र कर्म है ।। ७ ।। जैसे राजा द्वारा भण्डारी को किसी को दान देने का आदेश दिया जाने पर भी भण्डारी उक्त व्यक्ति को दान देने में अन्तराय (विघ्न) रूप बन जाता है, उसी प्रकार जो कर्म जीव के लिए दानादि करने में विघ्नकारक बन जाता है, वह अन्तरायकर्म है ।। ८ ।। इस प्रकार संक्षेप में ये ८ कर्म हैं, विस्तार की अपेक्षा कर्म अनन्त हैं ।[1]

कर्मों का क्रम : अर्थापेक्ष—समस्त जीवों को जो भव-व्यथा हो रही है, वह ज्ञान-दर्शनावरण-कर्म के उदय से जनित है । इस व्यथा को अनुभव करता हुआ भी जीव मोह से अभिभूत होने के कारण वैराग्य प्राप्त नहीं कर पाता । जब तक यह अविरत अवस्था में रहता है, तब तक देव, मनुष्य तिर्यञ्च एवं नरक आयु में वर्तमान रहता है । बिना नाम के जन्म होता नहीं, तथा जितने भी जन्म धारण करने वाले प्राणी हैं, वे सब गोत्र से बद्ध हैं । संसारी जीवों को जो सुख के लेश का अनुभव होता है, वह सब अन्तराय सहित है । इसलिए ये आठों कर्म परस्पर सापेक्ष हैं ।[2]

आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियां—

४. नाणावरणं पंचविहं सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहिनाणं तइयं मणनाणं च केवलं ।।

[४] ज्ञानावरण कर्म पांच प्रकार का है—श्रुत (—ज्ञानावरण), आभिनिबोधिक (—ज्ञानावरण), अवधि (—ज्ञानावरण), मनो (मनःपर्याय) ज्ञान (—आवरण) और केवल (—ज्ञानावरण) ।

५. निद्दा तहेव पयला निद्दानिद्दा य पयलपयला य ।
तत्तो य थीणगिद्धी उ पंचमा होइ नायव्वा ।।

६. चक्खुचक्खु-ओहिस्स दंसणे केवले य आवरणे ।
एवं तु नवविगप्पं नायव्वं दंसणावरणं ।।

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ. ५७८,

२. वही, भा. ४, पृ. ५७७

[५-६] निद्रा, प्रचला, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और पांचवीं स्त्यानगृद्धि—
चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण, इस प्रकार दर्शनावरण कर्म के ये नौ विकल्प (—भेद) समझने चाहिए।

७. वेयणीयं पि य दुविहं सायमसायं च आहियं।
सायस्स उ बहू भेया एमेव असायस्स वि॥

[७] वेदनीय कर्म दो प्रकार का कहा गया है—सातावेदनीय और असातावेदनीय। सातावेदनीय के अनेक भेद हैं, इसी प्रकार असातावेदनीय के भी अनेक भेद हैं।

८. मोहणिज्जं पि दुविहं दंसणे चरणे तहा।
दंसणं तिविहं वुत्तं चरणे दुविहं भवे॥

[८] मोहनीय कर्म के भी दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन और चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं।

९. सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ मोहणिज्जस्स दंसणे॥

[९] सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व—ये तीन दर्शनीय-मोहनीय की प्रकृतियाँ हैं।

१०. चरित्तमोहणं कम्मं दुविहं तु वियाहियं।
कसायमोहणिज्जं तु नोकसायं तहेव य॥

[१०] चारित्रमोहनीय कर्म दो प्रकार का कहा गया है—कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय।

११. सोलसविहभेएणं कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा कम्मं नोकसायजं॥

[११] कषायमोहनीय कर्म के सोलह भेद हैं। नोकषायमोहनीय कर्म के सात अथवा नौ भेद हैं।

१२. नेरइय-तिरिक्खाउ मणुस्साउ तहेव य।
देवाउयं चउत्थं तु आउकम्मं चउव्विहं॥

[१२] आयुकर्म चार प्रकार का है—नैरयिक-आयु, तिर्यग्-आयु, मनुष्यायु और चौथा देवायु-कर्म।

१३. नामं कम्मं तु दुविहं सुहमसुहं च आहियं।
सुहस्स उ बहू भेया एमेव असुहस्स वि॥

[१३] नामकर्म दो प्रकार का कहा गया है—शुभनाम और अशुभनाम। शुभनाम के बहुत भेद हैं, इसी प्रकार अशुभ (नामकर्म) के भी।

**१४. गोयं कम्मं दुविहं उच्चं नीयं च आहियं।
उच्चं अट्ठविहं होइ एवं नीयं पि आहियं॥**

[१४] गोत्रकर्म दो प्रकार का है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। उच्च (गोत्र) आठ प्रकार का है, इसी प्रकार नीचगोत्र भी (आठ प्रकार का) कहा गया है।

**१५. दाणे लाभे य भोगे य उवभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमन्तरायं समासेण वियाहियं॥**

[१५] अन्तराय (कर्म) संक्षेप में पांच प्रकार का कहा गया है—दान-अन्तराय, लाभ-अन्तराय, भोग-अन्तराय, उपभोग-अन्तराय और वीर्य-अन्तराय।

विवेचन—ज्ञानावरणीयादि कर्मों के कारण—ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के वन्ध के पांच-पांच कारण हैं—(१) ज्ञान और ज्ञानी के तथा दर्शन और दर्शनवान् के दोष निकालना (२) ज्ञान का निह्नव करना, (३) मात्सर्य, (४) आशातना और (५) उपघात करना।[1]

साता और असाता वेदनीय के हेतु—भूत-अनुकम्पा, व्रती-अनुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षान्ति और शौच, ये सातावेदनीय कर्मबन्ध के हेतु हैं। स्व-पर को दुःख, शोक, संताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन, ये असातावेदनीय कर्मबन्ध के हेतु हैं।[2]

दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय के बन्ध हेतु—केवलज्ञानी, श्रुत, संघ, धर्म एवं देव का अवर्णवाद (निन्दा) दर्शनमोहनीय कर्मबन्ध का हेतु है, जब कि कषाय के उदय से होने वाला तीव्र आत्मपरिणाम चारित्रमोहनीय कर्म के वन्ध का हेतु है। दर्शनविषयक मोहनीय दर्शनमोहनीय कहलाता है।[3]

सम्यक्त्वमोहनीयादि तीनों का स्वरूप—मोहनीय कर्म के पुद्गलों का जितना अंश शुद्ध है, वह शुद्धदलिक कहलाता है, वही सम्यक्त्व (सम्यक्त्वमोहनीय) है। जिसके उदय में भी तत्त्वार्थ श्रद्धान-तत्त्वाभिरुचि का विघात नहीं होता। मिथ्यात्व अशुद्ध दलिकरूप है, जिसके उदय से अतत्त्वों में तत्त्वबुद्धि होती है। सम्यग्मिथ्यात्व शुद्धाशुद्धदलिकरूप है, जिसके उदय से जीव का दोनों प्रकार का मिश्रित श्रद्धान होता है। यद्यपि सम्यक्त्वादि जीव के धर्म हैं, तथापि उसके कारणरूप दलिकों का भी सम्यक्त्वादि के नाम से व्यपदेश होता है।[4]

चारित्रमोहनीय : स्वरूप और प्रकार—जिसके उदय से जीव चारित्र के विषय में मोहित हो जाए, उसे चारित्रमोहनीय कहते हैं। इसका उदय होने पर जीव चारित्र का फल जान कर भी

---

१. तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः। —तत्त्वार्थ. ६।११
२. (क) दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य।
(ख) भूतव्रत्यनुकम्पादानं सरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य। —तत्त्वार्थ. ६।१२-१३
(ग) उत्तरा. प्रियदर्शिनी टीका, भा. ४, पृ. ५८३
३. (क) केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य।
(ख) कषायोदयात्तीव्रात्मपरिणामश्चारित्रमोहस्य।
४. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ५८४-५८५

चारित्र को अंगीकार नहीं कर सकता। चारित्रमोहनीय दो प्रकार का है—कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय। क्रोधादि कषायों के रूप से जो वेदन (अनुभव) किया जाता है, वह कषायमोहनीय है और कषायों के सहचारी हास्यादि के रूप में जो वेदन किया जाता है, वह नोकषायमोहनीय है। कषाय मूलतः चार प्रकार के हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। फिर इन चारों के प्रत्येक के अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन रूप से चार-चार भेद हैं। यों कषायमोहनीय के १६ भेद हैं। नोकषायमोहनीय के नौ भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा, तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। तीनों वेदों को सामान्य रूप से एक ही गिना जाए तो इसके सात ही भेद होते हैं।[1]

आयुष्यकर्म के प्रकार और कारण—आयुष्यकर्म चार प्रकार का है—नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु। महारम्भ, महापरिग्रह, पंचेन्द्रियवध और मांसाहार, ये चार नरकायु के वन्ध-हेतु हैं, माया एवं गूढमाया तिर्यञ्चायु के वन्धहेतु हैं, अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह, स्वभाव में मृदुता और ऋजुता, ये मनुष्यायु के वन्धहेतु हैं। और सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और वालतप, ये देवायु के वन्ध हेतु हैं।[2]

नामकर्म : प्रकार और स्वरूप—नामकर्म दो प्रकार का है—शुभनामकर्म और अशुभनामकर्म। योगों की वक्रता और विसंवाद अशुभ नामकर्म के हेतु हैं और इनसे विपरीत योगों की अवक्रता और अविसंवाद शुभ नामकर्म के वन्धहेतु हैं। मध्यम विवक्षा से शुभ और अशुभ नामकर्म के प्रत्येक के क्रमशः ३७ और ३४ भेद कहे गए हैं। यों उत्तर भेदों की उत्कृष्ट विवक्षा से प्रत्येक के अनन्त भेद हो सकते हैं। इनमें तीर्थंकर नामकर्म के २० वन्ध हेतु हैं।[3]

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ५८६-५८७

२. (क) 'वह्वारम्भ-परिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः।' (ख) 'माया तैर्यग्योनस्य।'

(ग) 'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य।'

(घ) 'सरागसंयम-संयमासंयमाकामनिर्जरा-वालतपांसि दैवस्य।' —तत्त्वार्थ. अ. ६।१६ से २० तक

३. (क) योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः।

(ख) तद्विपरीतं शुभस्य

(ग) निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्।

(घ) दर्शनविशुद्धिविनयसम्पन्नता·····················तीर्थकृत्वस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ६/२१ से २३ तक

(ङ) **शुभनाम कर्म के ३७ भेद**—१-मनुष्य, २-देवगति, ३-पंचेन्द्रिय जाति, ४-८-औदारिकादि पांच शरीर, ९-११-प्राथमिक तीन शरीरों के अंगोपांग, १२-१५-प्रशस्त वर्णादि चार, १६-प्रथम संस्थान, १७-प्रथम संहनन, १८-मनुष्यानुपूर्वी, १९-देवानुपूर्वी, २०-अगुरुलघु, २१-पराघात, २२-आतप, २३-उद्योत, २४-उच्छ्वास, २५-प्रशस्त विहायोगति, २६-त्रस, २७-बादर, २८-पर्याप्त, २९-प्रत्येक. ३०-स्थिर, ३१-शुभ, ३२-सुभग, ३३-सुस्वर, ३४-आदेय, ३५-यशोकीर्त्ति, ३६-निर्माण और ३७-तीर्थंकरनामकर्म।

अशुभनामकर्म के ३४ भेद—१-२-नरक-तिर्यञ्चगति, ३-६-एकेन्द्रियादि ४ जाति, ७-११-प्रथम को छोड़ कर शेष ५ संहनन, १२-१६-प्रथम को छोड़ कर शेष ५ संस्थान, १७-२०-अप्रशस्त वर्णादि चार, २१-२२-नरक-तिर्यंचानुपूर्वी, २३-उपघात, २४-अप्रशस्तविहायोगति, २५-३४-स्थावरदशक।

(च) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ-५८८-५८९

गोत्रकर्म : प्रकार और स्वरूप—गोत्रकर्म दो प्रकार का है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। जातिमद आदि आठ प्रकार का मद न करने से उच्चगोत्र का बन्ध होता है और जातिमद आदि आठ प्रकार का मद करने से नीचगोत्र का। तत्त्वार्थसूत्र में—परनिन्दा, आत्मप्रशंसा दूसरे के सद्गुणों का आच्छादन और असद्गुणों का प्रकाशन, इन्हें नीचगोत्र कर्म के बन्ध हेतु कहा गया है, तथा इनके विपरीत-परप्रशंसा, आत्मनिन्दा आदि तथा नम्रवृत्ति और निरभिमानता, ये उच्चगोत्रकर्म के बन्ध-हेतु कहे गए हैं।[1]

अन्तरायकर्म : प्रकार और स्वरूप—अन्तरायकर्म के पांच भेद हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। दानादि में विघ्न डालना, ये दानादि पांचों के कर्मबन्ध के हेतु हैं। पात्र तथा देय वस्तु होते हुए तथा दान का फल जानते हुए भी दान देने की इच्छा (प्रवृत्ति) न होना, **दानान्तराय** है। उदारहृदय दाता तथा याचनाकुशल याचक होते हुए भी याचक को लाभ न होना, **लाभान्तराय** है। आहारादि भोग्य वस्तु होते हुए भी भोग न सकना, **भोगान्तराय** है। वस्त्रादि उपभोग्य वस्तु होते हुए भी उपभोग न कर सकना **उपभोगान्तराय** है, शरीर नीरोग और युवा होते हुए एक तिनके को भी मोड़ (तोड़) न सकना, **वीर्यान्तराय** है।[2]

इस प्रकार १२ गाथाओं (४ से १५ तक) में आठ कर्मों की उत्तरप्रकृतियों का निरूपण किया गया है। आठ मूल प्रकृतियों का उल्लेख इससे पूर्व किया जा चुका है।

कर्मों के प्रदेशाग्र, क्षेत्र, काल और भाव

१६. एयाओ मूलपयडीओ उत्तराओ य आहिया।
पएसग्गं खेत्तकाले य भावं चादुत्तरं सुण॥

[१६] ये (पूर्वोक्त) कर्मों की मूल प्रकृतियाँ और उत्तर-प्रकृत्तियाँ, कही गई हैं। अब इनके प्रदेशाग्र (—द्रव्य परमाणु-परिमाण), क्षेत्र, काल और भाव को सुनो।

१७. सव्वेसिं चेव कम्माणं पएसग्गमणन्तगं।
गण्ठिय-सत्ताईयं अन्तो सिद्धाण आहियं॥

[१७] (एक समय में ग्राह्य-बद्ध होने वाले) समस्त कर्मों का प्रदेशाग्र (कर्म-परमाणु-पुद्गल-द्रव्य दलिक) अनन्त होता है। वह (अनन्त) परिमाण ग्रन्थिग (ग्रन्थिभेद न करने वाले-अभव्य) जीवों से अनन्तगुणा अधिक और सिद्धों के अनन्तवें भाग जितना कहा गया है।

१८. सव्वजीवाण कम्मं तु संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु सव्वं सव्वेण बद्धगं॥

[१८] सभी जीव छह दिशाओं में रहे हुए (ज्ञानावरणीय आदि) कर्मों (कार्मणवर्गणा के

---

१. (क) परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।
(ख) तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्यनुत्सेको चोत्तरस्य। —तत्त्वार्थसूत्र ६/२४-२५

२. (क) 'विघ्नकरणमन्तरायस्य।' —तत्त्वार्थ. अ-६/२६
(ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३१३-३१४

पुद्गलों) को सम्यक् प्रकार से ग्रहण (बद्ध) करते हैं। वे सभी कर्म (—पुद्गल) (बन्ध के समय) आत्मा के समस्त प्रदेशों के साथ सर्व प्रकार से बद्ध हो जाते हैं।

१९. उदहीसरिसनामाणं तीसई कोडिकोडिओ।
उक्कोसिया ठिई होइ अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

[१९] (ज्ञानावरण आदि कर्मों की) उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है।

२०. आवरणिज्जाण दुण्हं पि वेयणिज्जे तहेव य।
अन्तराए य कम्मम्मि ठिई एसा वियाहिया॥

[२०] (यह पूर्वगाथा में कथित स्थिति) दो आवरणीय कर्मों (अर्थात्—ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय) की तथा वेदनीय और अन्तराय कर्म की जाननी चाहिए।

२१. उदहीसरिसनामाणं सत्तरिं कोडिकोडिओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

[२१] मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है।

२२. तेत्तीस सागरोवमा उक्कोसेण वियाहिया।
ठिई उ आउकम्मस्स अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

[२२] आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है।

२३. उदहीसरिसनामाणं वीसई कोडिकोडिओ।
नामगोत्ताणं उक्कोसा अट्ठमुहुत्ता जहन्निया॥

[२३] नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति वीस कोटाकोटि सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है।

२४. सिद्धाणऽणन्तभागो य अणुभागा हवन्ति उ।
सव्वेसु वि पएसग्गं सव्वजीवेसुऽइच्छियं॥

[२४] अनुभाग (अर्थात्—कर्मों के रस-विशेष) सिद्धों के अनन्तवें भाग जितने हैं, तथा समस्त अनुभागों का प्रदेश-परिमाण, समस्त (भव्य और अभव्य) जीवों से भी अधिक है।

विवेचन—बन्ध के चार प्रकारों का निरूपण—कर्मग्रन्थ आदि में कर्मबन्ध के चार प्रकार बताए गए हैं—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभाग (रस) बन्ध। प्रकृतिबन्ध के विषय में पहले १२ गाथाओं (४ से १५ तक) में कहा जा चुका है। गाथा १७ और १८ में प्रदेशबन्ध से सम्बन्धित द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से विचार किया गया है। शास्त्रकार का आशय यह है कि एक समय में बंधने वाले कर्मस्कन्धों का प्रदेशाग्र (अर्थात्-कर्मपरमाणुओं का परिमाण) अनन्त होता है।

आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणाएँ (कर्मपुद्गल-दलिक) चिपकी रहती हैं। अनन्त का सांकेतिक माप बताते हुए कहा गया है कि वह अनन्त यहाँ अभव्य जीवों से अनन्तगुण अधिक और सिद्धों के अनन्तवें भाग जितना है। गोमट्टसार कर्मकाण्ड में इसी तथ्य को प्रकट करने वाली गाथा मिलती है। यह **द्रव्य की अपेक्षा से** कर्मपरमाणुओं का परिमाण बताया गया है।[1]

क्षेत्र की अपेक्षा से—समस्त संसारी जीव छह दिशाओं से आगत कर्मपुद्गलों को प्रतिसमय ग्रहण करते (बांधते) हैं। वे कर्म, जीव के द्वारा अवगाहित आकाशप्रदेशों में स्थित रहते हैं। जिन कर्मपुद्गलों को यह जीव ग्रहण (कषाय के योग से आकृष्ट) करता है, वे समस्त कर्मपुद्गल ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि समस्त कर्मों के रूप में परिणत हो जाते हैं, तथा (वे समस्त कर्म) समस्त आत्मप्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाढ होकर सब प्रकार से (अर्थात्-प्रकृति, स्थिति आदि प्रकार से) क्षीर-नीर की तरह एकक्षेत्रावगाढ होकर (रागादि स्निग्धता के योग से) बन्ध (चिपक) जाते हैं।[2]

काल की अपेक्षा से—५ गाथाओं में (१९ से २३ तक) प्रत्येककर्म की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति बताई गई। इससे शास्त्रकार ने 'स्थितिबन्ध' का निरूपण कर दिया है। वेदनीय कर्म से यहाँ केवल असातावेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति इतनी (अन्तर्मुहूर्त्त) ही समझना चाहिए। जघन्य-स्थिति नहीं; क्योंकि प्रज्ञापनासूत्र में सातावेदनीय की जघन्यस्थिति १२ मुहूर्त्त की और असातावेदनीय की जघन्यस्थिति सागरोपम के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण बताई गई है।[3]

भाव की अपेक्षा से—कर्मों के रसविशेष (अनुभाग) कर्मों में अनुभावलक्षणरूप भाव) सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं। तथा समस्त अनुभागों में प्रदेश-परिमाण समस्त भव्य-अभव्यजीवों से भी अनन्तगुणा अधिक है। यहाँ कर्मों के अनुभागबन्ध का निरूपण किया गया है।[4]

बन्धनकाल में उसके कारणभूत काषायिक अध्यवसाय के तीव्रमन्दभाव के अनुसार प्रत्येककर्म में तीव्रमन्द फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है। अतः विपाक अर्थात् विविध प्रकार के फल देने का यह सामर्थ्य ही अनुभाव है और उसका निर्माण ही अनुभावबन्ध है। प्रत्येक अनुभावशक्ति उस-उस कर्म के स्वभावानुसार फल देती है।

उपसंहार

२५. तम्हा एएसि कम्माणं अणुभागे वियाणिया।
एएसि संवरे चेव खवणे य जए बुहे॥
—त्ति बेमि॥

---

१. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका भा. ४, पृ. ५९१

(ख) ग्रन्थिरिव ग्रन्थिः—घनो रागद्वेषपरिणामस्तत्र गताः ग्रन्थिगाः—निबिडरागद्वेषपरिणामविशेषरूपस्य ग्रन्थेर्भेदनाऽक्षमतया यथाप्रवृत्तिकरणं प्राप्यैव पतन्ति, न तु तदुपरिष्टात् अपूर्वकरणादौ गन्तुं कथमपि कदाचिदपि समर्था भवन्ति ते ग्रन्थिगा इत्यर्थः।

(ग) सिद्धाणंतियभागं अभव्वसिद्धादणंतगुणमेव।
समयपबद्धं बंधदि, जोगवसादो दु विसरित्थं॥ —गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा. ४,

२. उत्तरा. प्रियदर्शिनी भा. ४, पृ. ५९३

३. वही, भा. ४, पृ. ५९७

४. (क) वही, भा. ४, पृ. ६००, (ख) तत्त्वार्थसूत्र अ. ८।२२-२३ (पं. सुखलालजी) पृ. २०२

[२५] इसलिए इन कर्मों के अनुभागों को जान कर बुद्धिमान् साधक इनका संवर और क्षय करने का प्रयत्न करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—अनुभागों को जान कर ही संवर या निर्जरा का पुरुषार्थ—कर्मों के अनुभागों को जानने का अर्थ है—कौन-सा कर्म कितने काषायिक तीव्र मध्यम या मन्द भावों से बांधा गया है? कौन-सा कर्म किस-किस प्रकृति (स्वभाव) का है? उदाहरणार्थ-ज्ञानावरणीयकर्म का अनुभाव उस कर्म के स्वभावानुसार ही तीव्र या मन्द फल देता है, वह ज्ञान को ही आवृत करता है; दर्शन आदि को नहीं। फिर कर्म के स्वभावानुसार विपाक का नियम भी मूलप्रकृतियों पर ही लागू होता है, उत्तरप्रकृतियों पर नहीं। क्योंकि किसी भी कर्म की एक उत्तरप्रकृति बाद में अध्यवसाय के बल से उसी कर्म की दूसरी उत्तरप्रकृति के रूप में बदल सकती है। इसलिए पहले अनुभाग (कर्म विपाक) के स्वभाव एवं उसकी तीव्रता-मन्दता आदि जान लेना आवश्यक है, अन्यथा जिस कर्म का संवर या निर्जरा करना है, उसके बदले दूसरे का संवर या निर्जरा (क्षय) करने का व्यर्थ पुरुषार्थ होगा। अतः ज्ञानावरणीयादि कर्मों के प्रकृतिबन्ध आदि को कटुविपाक एवं भवहेतु वाले जान कर तत्त्वज्ञ व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि इनका संवर और क्षय करे।[1]

॥ तेतीसवाँ अध्ययन : कर्मप्रकृति समाप्त ॥

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र अ. ८।२२-२३-२४ (पं. सुखलालजी) पृ. २०२

(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा, ४, पृ. ६०१

चौतीसवाँ अध्ययन : लेश्या

अध्ययन-सार

※ प्रस्तुत अध्ययन का नाम लेश्याध्ययन (लेसज्झयण) है। लेश्या का बोध कराने वाला अध्ययन होने से इसका सार्थक नाम रखा गया है।

※ व्यक्ति के जीवन का आन्तरिक एवं बाह्य निर्माण, उसके परिणामों, भावों, अध्यवसायों या मनोवृत्तियों पर निर्भर है। जिस व्यक्ति के जैसे अध्यवसाय या परिणाम होते हैं, उसी के अनुसार उसके शरीर की कान्ति, छाया, प्रभा या आभा बनती है, उसी के अनुरूप उसके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श होते हैं, राग, द्वेष और कषायों की आन्तरिक परिणति भी उसके मनोभावों के अनुसार बन जाती है। उसकी शुभाशुभ विचारधारा अपने सजातीय विचाराणुओं को खींच लाती है। तदनुसार कर्मपरमाणुओं का संचय होता रहता है और अन्तिम समय में पूर्व प्रतिबद्ध संस्कारानुसार परिणति होती है, तदनुसार अन्तर्मुहूर्त्त में वैसी ही लेश्या वाले जीवों में, वैसी ही गति-योनि में वह जन्म लेता है। इसी को जैनदर्शन में लेश्या कहा गया है। आधुनिक मनोविज्ञान या भौतिकविज्ञान ने मानव-मस्तिष्क में स्फुरित होने वाले वैसे ही कषायों (क्रोधादिभावों) या मन वचन काया के शुभाशुभ परिणामों या व्यापारों से अनुरंजित होने वाले विचारों का प्रत्यक्षीकरण करने एवं तदनुरूप रंगों के चित्र लेने में सफलता प्राप्त करली है।[1]

※ लेश्या की मुख्यतया चार परिभाषाएँ जैनशास्त्रों में मिलती हैं—
(१) मन आदि योगों से अनुरंजित योगों की प्रवृत्ति।
(२) कषाय से अनुरंजित आत्मपरिणाम।
(३) कर्मनिष्यन्द।
(४) कर्मवर्गणा से निष्पन्न कर्मद्रव्यों की विधायिका।[2]

※ इन चारों परिभाषाओं के अनुसार यह तो निश्चित है कि मन, वचन और काया की जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसी आत्मपरिणति या मनोवृत्ति बनती है। जैसी भी शुभाशुभ परिणति होती है, वैसी ही मन-वचन-काया की प्रवृत्ति बनती जाती है। अतः जैसे-जैसे कृष्णादि लेश्याओं के द्रव्य होते हैं, वैसे ही आत्मपरिणाम होते हैं। जैसे आत्मपरिणाम होते हैं, शरीर के छायारूप पुद्गल भी वैसे रंग, रस, गन्ध, स्पर्श वाले बन जाते हैं। इसका अर्थ है—बाह्य लेश्या के पुद्गल अन्तरंग (भाव) लेश्या को प्रभावित करते हैं। और अन्तरंग लेश्या के अनुसार बाह्य-

---

१. (क) जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होई। गोमट्ट. जी. गा. ४९०
(ख) देखिये—'अणु और आत्मा' —ले. मदर जे. सी. ट्रस्ट
(ग) लेशयति-श्लेपयति वात्मनि जनमनांसीति लेश्या-अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्धदीप्तरूपा छाया।

२. बृहद्वृत्ति, पत्र ६५०

लेश्या बनती है। भावी कर्मों की शृंखला भी इसी लेश्या-परम्परा से सम्बन्धित है। लेश्या के अनुसार कर्मबन्ध होने से इसे कर्मलेश्या (कर्मविधायिका) लेश्या कहा गया है।[१]

* परिणामों की अशुभतम, अशुभतर और अशुभ, तथा शुभ, शुभतर और शुभतम धारा के अनुसार लेश्या भी छह प्रकार की बताई गई है—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, (पीत), पद्म और शुक्ल। वस्तुतः लेश्या में बाह्य और आन्तरिक दोनों जगत् एक दूसरे से प्रभावित होते हैं।[२]

* प्रस्तुत अध्ययन की गाथा २१ से ३२ तक छहों लेश्याओं के लक्षण बताए हैं। ये लक्षण मुख्यतया मन के विविध अशुभ-शुभ परिणामों के आधार पर ही दिये गए हैं।[३]

* तत्पश्चात् स्थानद्वार के माध्यम से लेश्याओं की व्यापकता बताई गई है कि लेश्याओं के तारतम्य के आधार पर उनकी सूक्ष्म श्रेणियाँ कितनी हो सकती हैं?

* इसके बाद लेश्याओं की स्थिति लेश्या के अधिकारी की दृष्टि से अंकित की गई है। इसके आगे नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति की अपेक्षा से लेश्याओं की जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति बताई गई है।[४]

* तदनन्तर दो कोटि की लेश्याएँ (३ अधर्मलेश्याएँ और ३ धर्मलेश्याएँ) बताकर उनसे दुर्गति-सुगति की प्राप्ति बताई गई है।[५]

* अन्त में कहा गया है – मृत्यु से अन्तर्मुहूर्त्त पूर्व दूसरे भव में जन्म लेने की लेश्या का तथा अन्तर्मुहूर्त्त बाद भूतकालीन लेश्या का भाव रहता है।[६]

* परिणाम द्वार से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य चाहे तो कृष्णादि अशुभतम-अशुभतर और अशुभ लेश्याएँ, शुभ, शुभतर और शुभतम रूप में परिणत हो सकती हैं, वर्णादि की दृष्टि से भी उनके पर्याय परिवर्तन हो जाते हैं।[७]

* निष्कर्ष यह है कि आत्मा के अध्यवसायों की विशुद्धि और अशुद्धि पर लेश्याओं की विशुद्धि और अशुद्धि निर्भर है। कषायों की मंदता से अध्यवसाय की शुद्धि होती है। और अन्तःशुद्धि होने पर बाह्य शुद्धि भी होती है। बाह्य दोष भी छूट जाते हैं।[८] □

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, पत्र ६५० (ख) देखिये उत्तरा. अ. ३४ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शद्वार।
(ग) उत्तरा. अ. ३४ गा, १
२. देखिये—परिणामद्वार, गा. २०
३. देखिये—लक्षणद्वार गा. २१ से ३२
४. देखिये—स्थानद्वार गाथा ३३ तथा स्थितिद्वार गा. ३४ से ५६ तक।
५. देखिये—गतिद्वार गा. ५६ के ५७
६. देखिये—आयुष्यद्वार गा. ५८ से ६०
७. प्रज्ञापना पद १७ अ. ४०
८. (क) लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जणस्स।
अज्झवसाणविसोधी मंदलेस्सायस्स णादव्वा॥ —मूलाराधना ७।१९११
(ख) अन्तर्विशुद्धितो जन्तोः शुद्धिः सम्पद्यते बहिः।
बाह्यो हि शुद्धयते दोषः, सर्वोऽन्तरदोषतः॥ —मू. आ. (आराधना) ७।१९६७

चउतीसइमं अज्झयणं : चौतीसवाँ अध्ययन

लेसज्झयणं : लेश्याध्ययन

अध्ययन का उपक्रम

१. लेसज्झयणं पवक्खामि आणुपुव्विं जहक्कमं ।
छण्हं पि कम्मलेसाणं अणुभावे सुणेह मे ॥

[१] 'मैं आनुपूर्वी के क्रमानुसार लेश्या-अध्ययन का निरूपण करूंगा । (सर्वप्रथम) छहों कर्मस्थिति की विधायक लेश्याओं के अनुभावों (-रसविशेषों) के विषय में मुझ से सुनो ।'

२. नामाइं वण्ण-रस-गन्ध-फास-परिणाम-लक्खणं ।
ठाणं ठिइं गइं चाउं लेसाणं तु सुणेह मे ॥

[२] इन लेश्याओं का (वर्णन) नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य, (इन द्वारों के माध्यम से) मुझ से सुनो ।

विवेचन—लेश्या : स्वरूप और प्रकार—लेश्या आत्मा का परिणाम—अध्यवसाय विशेष है । जिस प्रकार काले आदि रंग वाले विभिन्न द्रव्यों के संयोग से स्फटिक वैसे ही रंग-रूप में परिणत हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी राग-द्वेष-कषायादि विभिन्न संयोगों से अथवा मन-वचन काया के योगों से वैसे ही रूप में परिणत हो जाता है । जिसके द्वारा कर्म के साथ आत्मा (जीव) श्लिष्ट हो जाए (चिपक जाए) उसे लेश्या कहा गया है । अर्थात्—वर्ण (रंग) के सम्बन्ध के श्लेष की तरह जो कर्मबन्ध की स्थिति बनाने वाली है, वही लेश्या है ।[1] इसीलिए प्रथम गाथा में कहा गया है—**'छण्हं पि कम्मलेसाणं'**—अर्थात् 'कर्मस्थिति विधायिका लेश्याओं के अनुभाव (विशिष्ट प्रकार के रस को) ।........'

द्वारसूत्र—द्वितीय गाथा में लेश्याओं का विविध पहलुओं से विश्लेषण करने हेतु नाम आदि । ११ द्वारों का उल्लेख किया गया है—(१) नामद्वार, (२) वर्णद्वार, (३) रसद्वार, (४) गन्धद्वार, (५) स्पर्शद्वार, (६) परिणामद्वार, (७) लक्षणद्वार, (८) स्थानद्वार, (९) स्थितिद्वार, (१०) गतिद्वार और (११) आयुष्यद्वार । आगे की गाथाओं में इन द्वारों पर क्रमशः विवेचन किया जाएगा ।[2]

---

१. (क) 'अध्यवसाये, आत्मनः परिणामविशेषे, अन्तःकरणवृत्तौ ।'
—आचारांग १ श्रु. अ. ६, ३-५ तथा अ. ८ उ. ५

(ख) कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः ।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्याशब्दः प्रवर्त्तते ॥ —प्रज्ञापना १७ पदवृत्ति ।

(ग) लिश्यते-श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या । कर्मग्रन्थ ४ कर्म.

(घ) "श्लेष इव वर्णबन्धस्य, कर्मबन्धस्थितिविधात्र्यः ।" स्थानांग १

१. नामद्वार

३. किण्हा नीला य काऊ य तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा उ नामाइं तु जहक्कमं ॥

[३] लेश्याओं के नाम इस प्रकार हैं—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत (४) तेजस (५) पद्म, (६) शुक्ल ।

२. वर्णद्वार

४. जीमूयनिद्धसंकासा गवलऽरिट्ठगसन्निभा ।
खंजणंजण-नयणनिभा किण्हलेसा उ वण्णओ ॥

[४] कृष्णलेश्या वर्ण की अपेक्षा से, स्निग्ध (-सजल काले) मेघ के समान, भैंस के सींग एवं रिष्टक (अर्थात्-कौए या अरीठे) के सदृश, अथवा खंजन (गाड़ी के ओंगन), अंजन (काजल या सुरमा) एवं आँखों के तारे (कीकी) के समान (काली) है ।

५. नीला—ऽसोगसंकासा चासपिच्छसमप्पभा ।
वेरुलियनिद्धसंकासा नीललेसा उ वण्णओ ॥

[५] नीललेश्या वर्ण की अपेक्षा से नील अशोक वृक्ष के समान, चास-पक्षी की पांख जैसी, अथवा स्निग्ध वैडूर्यरत्न-सदृश (अतिनील) है ।

६. अयसीपुप्फसंकासा कोइलच्छदसन्निभा ।
पारेवयगीवनिभा काउलेसा उ वण्णओ ॥

[६] कापोतलेश्या वर्ण की अपेक्षा से अलसी के फूल जैसी, कोयल की पांख सरीखी तथा कबूतर की गर्दन (ग्रीवा) के सदृश (अर्थात्—कुछ काली और कुछ लाल) है ।

७. हिंगुलुयधाउसंकासा तरुणाइच्चसन्निभा ।
सुयतुण्ड-पईवनिभा तेउलेसा उ वण्णओ ॥

[७] तेजोलेश्या वर्ण की अपेक्षा से—हींगलू तथा धातु—गैरु के समान, तरुण (उदय होते हुए) सूर्य के सदृश तथा तोते की चोंच या (जलते हुए) दीपक के समान (लाल रंग की) है ।

८. हरियालभेयसंकासा हलिद्दाभेयसंनिभा ।
सणासणकुसुमनिभा पम्हलेसा उ वण्णओ ॥

[८] पद्मलेश्या वर्ण की अपेक्षा से हड़ताल (हरिताल) के टुकड़े जैसी, हल्दी के रंग सरीखी तथा सण और असन (बीजक) के फूल के समान (पीली) है ।

९. संखंककुन्दसंकासा खीरपूरसमप्पभा ।
रययहारसंकासा सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥

[९] शुक्ललेश्या वर्ण की अपेक्षा से शंख, अंकरत्न (स्फटिक जैसे श्वेत रत्नविशेष) एवं

कुन्द के फूल के समान है, दूध की धारा के सदृश तथा रजत (चाँदी) और हार (मोती की माला) के समान (सफेद) है।

विवेचन—छह लेश्याओं का वर्ण—एक-एक शब्द में कहें तो कृष्णलेश्या का रंग काला, नीललेश्या का नीला, कापोतलेश्या का कुछ काला कुछ लाल, तेजोलेश्या का लाल, पद्मलेश्या का पीला और शुक्ललेश्या का श्वेत बताया गया है। यह वर्णकथन मुख्यता के आधार पर है। भगवतीसूत्र के अनुसार प्रत्येक लेश्या में एक वर्ण तो मुख्यरूप से और शेष चार वर्ण गौणरूप से पाए जाते हैं।[1]

३. रसद्वार

१०. जह कडुयतुम्बगरसो निम्बरसो कडुयरोहिणिरसो वा।
एत्तो वि अणन्तगुणो रसो उ किण्हाए नायव्वो॥

जैसे कड़वे तुम्बे का रस, नीम का रस अथवा कड़वी रोहिणी का रस (जितना) कड़वा होता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक कडुवा कृष्णलेश्या का रस जानना चाहिए।

११. जह तिगडुयस्स य रसो तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा।
एत्तो वि अणन्तगुणो रसो उ नीलाए नायव्वो॥

[११] त्रिकटुक (सोंठ, पिप्पल और काली मिर्च इन त्रिकटुक) का रस अथवा गजपीपल का रस जितना तीखा होता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक तीखा नीललेश्या का रस समझना चाहिए।

१२. जह तरुणअम्बगरसो तुवरकविट्ठस्स वावि जारिसओ।
एत्तो वि अणन्तगुणो रसो उ काऊए नायव्वो॥

[१२] कच्चे (अपक्व) आम और कच्चे कपित्थ फल का रस जैसा कसैला होता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक (कसैला) कापोतलेश्या का रस जानना चाहिए।

१३. जह परिणयम्बगरसो पक्ककविट्ठस्स वावि जारिसओ।
एत्तो वि अनन्तगुणो रसो उ तेऊए नायव्वो॥

[१३] पके हुए आम अथवा पके हुए कपित्थ का रस जैसे खटमीठा होता है, उससे भी अनन्तगुणा खटमीठा रस तेजोलेश्या का समझना चाहिए।

१४. वरवारुणीए व रसो विविहाण व आसवाण जारिसओ।
महु-मेरगस्स व रसो एत्तो पम्हाए परएणं॥

[१४] उत्तम मदिरा का रस (फूलों से बने हुए) विविध आसवों का रस, मधु (मद्यविशेष) तथा मैरेयक (सरके) का जैसा रस (कुछ खट्टा तथा कुछ कसैला) होता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक (अम्ल-कसैला) रस पद्मलेश्या का समझना चाहिए।

---

१. (क) प्रज्ञापना पद १७
(ख) "एयाओ णं भंते ! छल्लेसाओ कइसु वन्नेसु साहिज्जंति ?
गोयमा ! पंचसु वण्णेसु साहिज्जंति।......' —भगवती श. ७, उ. ३, सू. २२६

१५. खज्जूर-मुद्दियरसो खीररसो खण्ड-सक्कररसो वा।
एत्तो वि अणन्तगुणो रसो उ सुक्काए नायव्वो ॥

[१५] खजूर और द्राक्षा (किशमिश) का रस, क्षीर का रस अथवा खांड या शक्कर का रस जितना मधुर होता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक मधुर शुक्ललेश्या का रस जानना चाहिए।

विवेचन—छहों लेश्याओं का रस—कृष्णलेश्या का कड़वा, नीललेश्या का तीखा (चरपरा), कापोतलेश्या का कसैला, तेजोलेश्या का खटमीठा, पद्मलेश्या का कुछ खट्टा-कुछ कसैला, और शुक्ल-लेश्या का मधुर रस होता है।[1]

४. गन्धद्वार

१६. जह गोमडस्स गन्धो सुणगमडगस्स व जहा अहिमडस्स।
एत्तो वि अणन्तगुणो लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥

[१६] मरी हुई गाय, मृत कुत्ते और मरे हुए सांप की जैसी दुर्गन्ध होती है, उससे भी अनन्तगुणी अधिक दुर्गन्ध (कृष्णलेश्या आदि) तीनों अप्रशस्त लेश्याओं की होती है।

१७. जह सुरहिकुसुमगन्धे गन्धवासाण पिस्समाणाणं।
एत्तो वि अणन्तगुणो पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥

[१७] सुगन्धित पुष्प और पीसे जा रहे सुवासित गन्धद्रव्यों की जैसी गन्ध होती है, उससे भी अनन्तगुणी अधिक सुगन्ध तीनों प्रशस्त (तेजो-पद्म-शुक्ल) लेश्याओं की है।

विवेचन—अप्रशस्त और प्रशस्त लेश्याओं की गन्ध—प्रस्तुत गाथाओं में अप्रशस्त तीन लेश्याओं (कृष्ण, नील कापोत) की गन्ध दुर्गन्धित द्रव्यों से भी अनन्तगुणी अनिष्ट बताई गई है। यहाँ कापोत, नील और कृष्ण इस व्युत्क्रम से अप्रशस्त लेश्याओं में दुर्गन्ध का तारतम्य समझ लेना चाहिए। इसी तरह तीन प्रशस्त (तेजो-पद्म-शुक्ल) लेश्याओं की गन्ध सुगन्धित द्रव्यों से भी अनन्तगुणी अच्छी सुगन्ध बताई गई है। अतः इन तीनों प्रशस्त लेश्याओं में सुगन्ध का तारतम्य क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर समझना चाहिए।[2]

५. स्पर्शद्वार

१८. जह करगयस्स फासो गोजिब्भाए व सागपत्ताणं।
एत्तो वि अणन्तगुणो लेसाणं अप्पसत्थाणं ॥

[१८] करवत (करौत), गाय की जीभ और शाक नामक वनस्पति के पत्तों का स्पर्श जैसा कर्कश होता है; उससे भी अनन्तगुणा अधिक कर्कश स्पर्श तीनों अप्रशस्त लेश्याओं का होता है।

१९. जह बूरस्स व फासो नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं।
एत्तो वि अणन्तगुणो पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥

---

१. प्रज्ञापना पद १७ उ. ४ सू. २२७

२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर भावनगर) भा. २ पत्र ३१९

[१९] जैसे बूर (वनस्पति-विशेष), नवनीत (मक्खन) अथवा शिरीष के पुष्पों का स्पर्श कोमल होता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक कोमल स्पर्श तीनों प्रशस्त लेश्याओं का होता है।

विवेचन—अप्रशस्त-प्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श—प्रस्तुत में भी अप्रशस्त एवं प्रशस्त लेश्याओं के कर्कश-कोमल स्पर्श का तारतम्य पूर्ववत् जानना चाहिए।

६. परिणामद्वार

२०. तिविहो व नवविहो वा सत्तावीसइविहेक्कसीओ वा।
दुसओ तेयालो वा लेसाणं होइ परिणामो॥

[२०] लेश्याओं के तीन, नौ, सत्ताईस, इक्कासी, अथवा दो सौ तेंतालीस प्रकार के परिणाम (जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आदि) होते हैं।

विवेचन—परिणाम : स्वरूप, संख्या—जैसे वैडूर्यमणि एक ही होता है किन्तु सम्पर्क में आने वाले विविध रंग के द्रव्यों के कारण वह रूप में उन्हीं के रूप में परिणत हो जाता है, इसी प्रकार कृष्ण लेश्या आदि नीललेश्या आदि द्रव्यों के योग्य सम्पर्क को पाकर नीललेश्या आदि के रूप में परिणत हो जाती है। यही परिणाम है। इस प्रकार के परिणाम जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट आदि के रूप में ३,९,२७,८१, या २४३ संख्या तक हो सकते हैं।[२]

७. लक्षणद्वार

२१. पंचासवप्पवत्तो तीहिं अगुत्तो छसुं अविरओ य।
तिव्वारम्भपरिणओ खुद्दो साहसिओ नरो॥

[२१] जो मनुष्य पांच आश्रवों में प्रवृत्त है, तीन गुप्तियों से अगुप्त है, षट्कायिक जीवों के प्रति अविरत (असंयमी) है, तीव्र आरम्भ (हिंसा आदि) में परिणत (संलग्न) है, क्षुद्र एवं साहसी (अविवेकी) है—

२२. निद्धन्धसपरिणामो निस्संसो अजिइन्दिओ।
एयजोगसमाउत्तो किण्हलेसं तु परिणमे॥

[२२] निःशंक परिणाम वाला है, नृशंस (क्रूर) है, अजितेन्द्रिय है, जो इन योगों से युक्त है, वह कृष्णलेश्या में परिणत होता है।

२३. इस्सा-अमरिस-अतवो अविज्ज-माया अहीरिया य।
गेद्धी पओसे य सढे पमत्ते रसलोलुए सायगवेसए य॥

---

२. (क) "से नूणं भंते ! कण्हलेसा नीललेसं पप्प तारूवत्ताए तावण्णत्ताए तागंधत्ताए तारसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ? हंता गोयमा !........" इत्यादि।

..........नवरं यथा वैडूर्यमणिरेक एव तत्तदुपाधिद्रव्य सम्पर्कतस्तद्रूपतया परिणमते, तथैव तान्येष कृष्णलेश्यायोग्यानि द्रव्याणि तत्तन्नीलादिलेश्यायोग्यद्रव्य सम्पर्कतस्तद्रूपतया परिणमन्ते इति।

—प्रज्ञापना पद १७. सू. २२५ वृत्ति

[२३] जो ईर्ष्यालु है, अमर्ष (असहिष्णु-कदाग्रही) है, अतपस्वी है, अज्ञानी है, मायी है, निर्लज्ज है, विषयासक्त है, प्रद्वेषी है, शठ (धूर्त्त) है, प्रमादी है, रसलोलुप है, सुख का गवेषक है—

२४. आरम्भाओ अविरओ खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एयजोगसमाउत्तो नीललेसं तु परिणमे ॥

[२४] जो आरम्भ से अविरत है, क्षुद्र है, दुःसाहसी है, इन योगों से युक्त मनुष्य नीललेश्या में परिणत होता है।

२५. वंके वंकसमायारे नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचग ओवहिए मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥

[२५] जो मनुष्य वक्र (वाणी से वक्र) है, आचार से वक्र है, कपटी (कुटिल) है, सरलता से रहित है, प्रतिकुञ्चक (स्वदोषों को छिपाने वाला) है, औपधिक (सर्वत्र छल-छद्म का प्रयोग करने वाला) है, मिथ्यादृष्टि है, अनार्य है—

२६. उप्फालग-दुट्ठवाई य तेणे यावि य मच्छरी।
एयजोगसमाउत्तो काउलेसं तु परिणमे ॥

[२६] उत्प्रासक (जो मुंह में आया, वैसा दुर्वचन बोलने वाला) दुष्टवादी है, चोर है, मत्सरी (डाह करने वाला) है, इन योगों से युक्त जीव कापोतलेश्या में परिणत होता है।

२७. नीयावित्ती अचवले अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दन्ते जोगवं उवहाणवं ॥

[२७] जो नम्र वृत्ति का है, अचपल है, माया से रहित है, अकुतूहली है, विनय करने में विनीत (निपुण) है, दान्त है, योगवान् (स्वाध्यायादि से समाधिसम्पन्न) है, उपधानवान् (शास्त्राध्ययन के समय विहित तपस्या का कर्त्ता) है—

२८. पियधम्मे दढधम्मे वज्जभीरू हिएसए।
एयजोगसमाउत्तो तेउलेसं तु परिणमे ॥

[२८] जो प्रियधर्मी है, दृढ़धर्मी है, पापभीरु है, हितैषी है,—इन योगों से युक्त तेजोलेश्या में परिणत होता है।

२९. पयणुक्कोह-माणे य माया-लोभे य पयणुए।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा जोगवं उवहाणवं ॥

[२९] जिसके क्रोध, मान, माया और लोभ (कषाय) अत्यन्त पतले (अल्प) हैं, जो प्रशान्तचित्त है, आत्मा का दमन करता है, योगवान् तथा उपधानवान् है—

३०. तहा पयणुवाई य उवसन्ते जिइन्दिए।
एयजोगसमाउत्ते पम्हलेसं तु परिणमे ॥

[३०] जो अल्पभाषी है, उपशान्त है और जितेंद्रिय है, इन योगों से युक्त जीव पद्मलेश्य में परिणत होता है।

३१. अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता धम्मसुक्काणि झायए।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा समिए गुत्ते य गुत्तिहिं ॥

[३१] आर्त्त और रौद्र ध्यानों का त्याग करके जो धर्म और शुक्लध्यान में लीन है, जो प्रशान्तचित्त और दान्त है, जो पांच समितियों से समित और तीन गुप्तियों से गुप्त है—

३२. सरागे वीयरागे वा उवसन्ते जिइन्दिए।
एयजोगसमाउत्तो सुक्कलेसं तु परिणमे ॥

[३२] (ऐसा व्यक्ति) सराग हो, या वीतराग; किन्तु जो उपशान्त और जितेन्द्रिय है जो इन योगों से युक्त है, वह शुक्ललेश्या में परिणत होता है।

विवेचन—छसु अविरओ—पृथ्वीकायादि षट्कायिक जीवों के उपमर्दन (हिंसा) आदि से विरत न हो।

तिव्वारंभपरिणओ—शरीरतः या अध्यवसायतः अत्यन्त तीव्र आरम्भ-सावद्य व्यापार में जो परिणत—रचा-पचा है।

णिद्धंधसपरिणामो—जिसके परिणाम इहलोक या परलोक में मिलने वाले दुःख या दण्डादि अपाय के प्रति अत्यन्त निःशंक (बेखटके) हैं अथवा जो प्राणियों को होने वाली पीड़ा की परवाह नहीं करता है।

सायगवेसए—अहर्निश सुख की चिन्ता में रहता है—मुझे कैसे सुख हो, इसी की खोज में लगा रहता है।

एयजोगसमाउत्तो—इन पूर्वोक्त लक्षणों के योगों—मन, वचन, काया के व्यापारों से युक्त, अर्थात्—इन्हीं प्रवृत्तियों में मन, वचन, काया को लगाए रखने वाला।

काउलेसं तु परिणमे आशय—कापोतलेश्या के परिणाम वाला है। अर्थात्-उसकी मनःपरिणति कापोतलेश्या की है। इसी प्रकार अन्यत्र समझ लेना चाहिए।

विणीयविणए—अपने गुरु आदि का उचित विनय करने में अभ्यस्त।[1]

८. स्थानद्वार—

३३. असंखिज्जाणोसप्पिणीण उस्सप्पिणीण जे समया।
संखाईया लोगा लेसाणं हुन्ति ठाणाइं ॥

[३३] असंख्य अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के जितने समय होते हैं अथवा असंख्यात लोकों के जितने आकाशप्रदेश होते हैं; उतने ही लेश्याओं के स्थान (शुभाशुभ भावों की चढ़ती-उतरती अवस्थाएँ) होते हैं।

१. बृहद्वृत्ति, उत्त. ३४, अ. रा. कोष भा. ६, पृ. ६८८-६९०

विवेचन—एक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालचक्र वीस कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण होता है। ऐसे असंख्यात कालचक्रों के समयों की—सब से छोटे कालांशों की जितनी संख्या हो, उतने ही लेश्याओं के स्थान हैं, अर्थात् विशुद्धि और अशुद्धि की तरतमता की अवस्थाएँ हैं। अथवा एक लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात हैं। ऐसे असंख्यात लोकाकाशों की कल्पना की जाए तो उन सब के जितने प्रदेशों की संख्या होगी, उतने ही लेश्याओं के स्थान हैं। यह काल और क्षेत्र की अपेक्षा से लेश्या-स्थानों की संख्या हुई।[1]

९. स्थितिद्वार

३४. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना तेत्तीसं सागरा मुहुत्तऽहिया।
उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा किण्हलेसाए॥

[३४] कृष्णलेश्या की स्थिति जघन्य (कम से कम) मुहूर्त्तार्द्ध (अर्थात्—अन्तर्मुहूर्त्त) की है और उत्कृष्ट एक मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागरोपम की जाननी चाहिए।

३५. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना दस उदही पलियमसंखभागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा नीललेसाए॥

[३५] नीललेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागरोपम की समझनी चाहिये।

३६. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना तिण्णुदही पलियमसंखभागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा काउलेसाए॥

[३६] कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागरोपम प्रमाण समझनी चाहिये।

३७. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना दो उदही पलियमसंखभागमब्भहिया।
उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा तेउलेसाए॥

[३७] तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागरोपम की जाननी चाहिये।

३८. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना दस होन्ति सागरा मुहुत्तऽहिया।
उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा पम्हलेसाए॥

[३८] पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति एक मुहूर्त्त अधिक दस सागरोपम समझनी चाहिये

३९. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना तेत्तीसं सागरा मुहुत्तहिया।
उक्कोसा होइ ठिई नायव्वा सुक्कलेसाए॥

[३९] शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागरोपम की है।

---

1. बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष भा. ६, पृ. ६९०

४०. एसा खलु लेसाणं ओहेण ठिई उ वण्णिया होई ।
चउसु वि गईसु एत्तो लेसाण ठिइं तु वोच्छामि ॥

[४०] लेश्याओं की यह स्थिति औघिक (सामान्य रूप से) वर्णित की गई है। अब चारों गतियों की अपेक्षा से लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूंगा।

४१. दस वाससहस्साइं काऊए ठिई जहन्निया होइ ।
तिण्णुदही पलिओवम असंखभागं च उक्कोसा ॥

[४१] कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है, और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागरोपम है।

४२. तिण्णुदही पलिय—मसंखभागा जहन्नेण नीलठिई ।
दस उदही पलिओवम असंखभागं च उक्कोसा ॥

[४२] नीललेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागरोपम है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागरोपम है।

४३. दस उदही पलिय—मसंखभागं जहन्निया होइ ।
तेत्तीससागराइं उक्कोसा होइ किण्हाए ॥

[४३] कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागरोपम है और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम है।

४४. एसा नेरइयाणं लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ ।
तेण परं वोच्छामि तिरिय-मणुस्साण देवाणं ॥

[४४] यह नैरयिक जीवों की लेश्याओं की स्थिति का वर्णन किया है। इसके आगे तिर्यञ्चों, मनुष्यों और देवों की लेश्या-स्थिति का वर्णन करूंगा।

४५. अन्तोमुहुत्तमद्धं लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ ।
तिरियाण नराणं वा वज्जित्ता केवलं लेसं ॥

[४५] केवल शुक्ललेश्या को छोड़ कर मनुष्यों और तिर्यञ्चों की जितनी भी लेश्याएँ हैं, उन सबकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है।

४६. मुहुत्तद्धं तु जहन्ना उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ ।
नवहि वरिसेहि ऊणा नायव्वा सुक्कलेसाए ॥

[४६] शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है और उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष कम एक करोड़ पूर्व है।

४७. एसा तिरिय-नराणं लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ ।
तेण परं वोच्छामि लेसाण ठिई उ देवाणं ॥

[४७] मनुष्यों और तिर्यञ्चों की लेश्याओं की स्थिति का यह वर्णन किया है। इससे आगे देवों की लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूंगा।

४८. दस वाससहस्साइं किण्हाए ठिई जहन्निया होइ।
पलियमसंखिज्जइमो उक्कोसा होइ किण्हाए॥

[४८] (देवों की) कृष्णलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष है, और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है।

४९. जा किण्हाए ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं नीलाए पलियमसंखं तु उक्कोसा॥

[४९] कृष्णलेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उससे एक समय अधिक, नीललेश्या की जघन्य स्थिति है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग है।

५०. जा नीलाए ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं काऊए पलियमसंखं च उक्कोसा॥

[५०] नीललेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उससे एक समय अधिक कापोतलेश्या की जघन्य स्थिति है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग है।

५१. तेण परं वोच्छामि तेउलेसा जहा सुरगणाणं।
भवणवइ—वाणमन्तर—जोइस—वेमाणियाणं च॥

[५१] इससे आगे भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की तेजोलेश्या की स्थिति का निरूपण करूंगा।

५२. पलिओवमं जहन्ना उक्कोसा सागरा उ दुण्हऽहिया।
पलियमसंखेज्जेणं होई भागेण तेऊए॥

[५२] तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्योपम है, और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग अधिक दो सागर की है।

५३. दस वाससहस्साइं तेऊए ठिई जहन्निया होइ।
दुण्णुदही पलिओवम असंखभागं च उक्कोसा॥

[५३] तेजोलेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यावाँ भाग अधिक दो सागर है।

५४. जा तेऊए ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं पम्हाए दस उ मुहुत्तऽहियाइं च उक्कोसा॥

[५४] तेजोलेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उससे एक समय अधिक पद्मलेश्या की जघन्य स्थिति है, और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस सागर है।

५५. जा पम्हाए ठिई खलु उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया ।
जहन्नेणं सुक्काए तेत्तीस-मुहुत्तमब्भहिया ॥

[५५] जो पद्मलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति है, उससे एक समय अधिक शुक्ललेश्या की जघन्य स्थिति है और उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागर है।

विवेचन—लेश्याओं की स्थिति—प्रस्तुत द्वार की गाथा ३४ से ३९ तक में सामान्य रूप से प्रत्येक लेश्या की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण किया गया है। फिर चारों गतियों की अपेक्षा से गाथा ४० से ५५ तक में व्युत्क्रम से लेश्याओं की जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति का निरूपण है।[1]

मुहूर्त्तार्द्ध : भावार्थ—मुहूर्त्तार्द्ध का बराबर समविभागरूप 'अर्द्ध' अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है। अत: एक समय से ऊपर और पूर्ण मुहूर्त्त से नीचे के सभी छोटे-बड़े अंश यहाँ विवक्षित हैं। इसी दृष्टि से मुहूर्त्तार्द्ध का अर्थ अन्तर्मुहूर्त्त किया गया है।[2]

पद्मलेश्या की स्थिति—एक मुहूर्त्त अधिक दस सागर की जो स्थिति गाथा ३८ में बताई है, उसमें मुहूर्त्त से पूर्व एवं उत्तर भव से सम्बन्धित दो अन्तर्मुहूर्त्त विवक्षित हैं।[3]

नीललेश्या आदि की स्थिति—इनके स्थितिनिरूपण में जो पल्योपम का असंख्येय भाग बताया है, उसमें भी पूर्वोत्तर भव से सम्बन्धित दो अन्तर्मुहूर्त्त प्रक्षिप्त हैं। फिर भी सामान्यतया असंख्येय भाग कहने में कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि असंख्येय के भी असंख्येय भेद होते हैं।[4]

तिर्यञ्च-मनुष्य सम्बन्धी लेश्याओं की स्थिति—गाथा ४५-४६ में जघन्यत: और उत्कृष्टत: दोनों ही रूप से अन्तर्मुहूर्त्त बताई है, वह कथन भावलेश्या की दृष्टि से है, क्योंकि छद्मस्थ व्यक्ति के भाव अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक एक स्थिति में नहीं रहते।[5]

शुक्ललेश्या की स्थिति—गाथा ४५ में शुद्ध शुक्ललेश्या को छोड़ दिया गया है और गाथा ४६ में शुक्ललेश्या की स्थिति का प्रतिपादन किया है, यह केवली की अपेक्षा से है, क्योंकि सयोगी केवली की उत्कृष्ट केवलपर्याय ९ वर्ष कम पूर्वकोटि है और सयोगी केवली को एक-सरीखे व्यवस्थित भाव होने से उनकी शुक्ललेश्या की स्थिति भी ९ वर्ष कम पूर्वकोटि बताई गई है। अयोगी केवली में लेश्या होती ही नहीं है।[6]

पाठ-व्यत्यय—गाथा ५२-५३ के मूलपाठ में व्यत्यय मालूम होता है। ५२ के बदले ५३ वीं और ५३ के बदले ५२ वीं गाथा होनी चाहिए। क्योंकि ५१ वीं गाथा में शास्त्रकार के भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक सभी देवों की तेजोलेश्या की स्थिति का प्रतिपादन करने की

---

१. उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा. २, पत्र ३२४ से ३२७ तक
२. बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष, भा. ६, पृ. ६९१
३. वही. अ. रा. कोष, भा. ६ पृ. ६९१
४. वही, अ. रा. कोष, भा. ६, पृ. ६९१
५. वही, अ. रा. कोष, भा. ६, पृ. ६९२
६. ...."वर्जयित्वा शुद्धां केवलां शुक्ललेश्यामिति यावत्"........वही, अ. रा. कोष, भा. ६, पृ. ६९२

प्रतिज्ञा की है, किन्तु ५२ वीं गाथा में सिर्फ वैमानिक देवों की तेजोलेश्या की स्थिति निरूपित की है, जबकि ५३ वीं गाथा में प्रतिपादित लेश्या की स्थिति का कथन चारों प्रकार के देवों की अपेक्षा से है। इसका संकेत टीकाकारों ने भी किया है।[1]

१०. गतिद्वार

५६. किण्हा नीला काऊ तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो दुग्गइं उववज्जई बहुसो॥

[५६] कृष्ण, नील और कापोत; ये तीनों अधर्म (अप्रशस्त) लेश्याएँ हैं। इन तीनों से जीव अनेकों वार दुर्गति में, उत्पन्न होता है।

५७. तेऊ पम्हा सुक्का तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो सुग्गइं उववज्जई बहुसो॥

[५७] तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या; ये तीनों धर्म-लेश्याएँ हैं। इन तीनों से जीव अनेकों वार सुगति को प्राप्त होता है।

विवेचन—दुर्गति-सुगतिकारिणी लेश्याएँ—प्रारम्भ की कृष्णादि तीन लेश्याएँ संक्लिष्ट अध्यवसाय रूप होने से अथवा पापोपादान का हेतु होने से अप्रशस्त, अविशुद्ध एवं अधर्मलेश्याएँ कही गई हैं, अतएव दुर्गतिगामिनी (नरक-तिर्यञ्च रूप दुर्गति में ले जाने वाली) हैं। पिछली तीन (तेजो, पद्म एवं शुक्ल) लेश्याएँ प्रशस्त, विशुद्ध एवं असंक्लिष्ट अध्यवसाय रूप होने से, अथवा पुण्य या धर्म का हेतु होने से धर्मलेश्याएँ हैं, अतएव देव-मनुष्यरूप सुगतिगामिनी हैं।[2]

११. आयुष्यद्वार

५८. लेसाहिं सव्वाहिं पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न वि कस्सवि उववाओ परे भवे अत्थि जीवस्स॥

[५८] प्रथम समय में परिणत सभी लेश्याओं से कोई भी जीव दूसरे भव में उत्पन्न नहीं होता।

५९. लेसाहिं सव्वाहिं चरमे समयम्मि परिणयाहिं तु।
न वि कस्सवि उववाओ परे भवे अत्थि जीवस्स॥

[५९] अन्तिम समय में परिणत सभी लेश्याओं से भी कोई जीव दूसरे भव में उत्पन्न नहीं होता।

---

१. "इयं च सामान्योपक्रमेऽपि वैमानिकनिकायविषयतयां नेया।" —सर्वार्थसिद्धि टीका

२. (क) तओ लेसाओ अविसुद्धाओ, तओ विसुद्धाओ, तओ पसत्थाओ; तओ अपसत्थाओ, तओ संकिलिट्ठाओ, तओ असंकिलिट्ठाओ, तओ दुग्गतिगामियाओ, तओ सुगतिगामियाओ।..........
प्रज्ञापना पद १७ उ. ४ पृ. सू. २२८

(ख) बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष भा. ६, पृ. ६८८

६०. अन्तमुहुत्तम्मि गए अन्तमुहुत्तम्मि सेसए चेव ।
लेसाहिं परिणयाहिं जीवा गच्छन्ति परलोयं ॥

[६०] लेश्याओं की परिणति होने पर जब अन्तर्मुहूर्त्त व्यतीत हो जाता है, और जब अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहता है, उस समय जीव परलोक में जाते हैं।

विवेचन—परलोक में लेश्याप्राप्ति कब और कैसे ?—प्रतिपत्तिकाल की अपेक्षा से छहों ही लेश्याओं के प्रथम समय में जीव का परभव में जन्म नहीं होता और न ही अन्तिम समय में। किसी भी लेश्या की प्राप्ति के बाद अन्तर्मुहूर्त्त बीत जाने पर और अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर जीव परलोक में जन्म लेते हैं। आशय यह है कि मृत्युकाल में आगामी भव की और उत्पत्तिकाल में अतीतभव की लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्तकाल तक होना आवश्यक है। देवलोक और नरक में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों और तिर्यञ्चों को मृत्युकाल में अन्तर्मुहूर्त्तकाल तक अग्रिम भव की लेश्या का सद्भाव होता है। मनुष्य और तिर्यञ्च गति में उत्पन्न होने वाले देव-नारकों को भी मरणानन्तर अपने पहले भव की लेश्या अन्तर्मुहूर्त्तकाल तक रहती है। अतएव आगम में देव और नारक की लेश्या का पहले और पिछले भव के लेश्यासम्बन्धी दो अन्तर्मुहूर्त्तों के साथ स्थितिकाल बतलाया है। प्रज्ञापनासूत्र में भी कहा है,—जिनलेश्याओं के द्रव्यों को ग्रहण करके जीव मरता है, उन्हीं लेश्याओं को प्राप्त करता है।[1]

उपसंहार

६१. तम्हा एयाण लेसाणं अणुभागे वियाणिया ।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता पसत्थाओ अहिट्ठेज्जासि ॥
—त्ति बेमि ।

[६१] अतः लेश्याओं के अनुभाग (विपाक) को जान कर अप्रशस्त लेश्याओं का परित्याग करके प्रशस्त लेश्याओं में अधिष्ठित होना चाहिए। —ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ चौतीसवाँ लेश्याध्ययन समाप्त ॥

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, अ. रा. को भा. ६, पृ. ६९५

(ख) जल्लेसाइं दव्वाइं आयइत्ता कालं करेति, तल्लेसेसु उववज्जइ। —प्रज्ञापना पद १७३-४

पैंतीसवां अध्ययन : अनगारमार्गगति

अध्ययन-सार

* प्रस्तुत पेंतीसवें अध्ययन का नाम अनगारमार्गगति (अणगारमग्गगई) है। इसमें घरबार, स्वजन-परिजन, तथा गृह-कार्य और व्यापार-धंधा आदि छोड़कर अनगार बने हुए भिक्षाजीवी मुनि को विशिष्ट मार्ग में गति (पुरुषार्थ) करने का संकेत किया गया है।

* यद्यपि भगवान् महावीर ने अगारधर्म और अनगारधर्म दो प्रकार के धर्म बताए हैं, और इन दोनों की आराधना के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग बताया है, किन्तु दोनों धर्मों की आराधना-साधना में काफी अन्तर है। उसी को स्पष्ट करने एवं अनगारधर्ममार्ग को विशेष रूप से प्रतिपादित करने हेतु यह अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

* अगारधर्मपालक अगारवासी (गृहस्थ) और अनगारधर्मपालक निर्ग्रन्थ भिक्षु में चारित्राचार की निम्न बातों में अन्तर है।—(१) अगारधर्मी पुत्र-कलत्रादि के संग को सर्वथा नहीं त्याग सकता, जबकि अनगारधर्मपालक को ऐसे संग का सर्वथा त्याग करना अनिवार्य है।

* सागार (गृहस्थ) हिंसादि पंचाश्रवों का पूर्णतया त्याग नहीं कर सकता, जबकि अनगार को पांचों आश्रवों का तीन करण तीन योग से सर्वथा त्याग करना तथा महाव्रतों का ग्रहण एवं पालन आवश्यक है।

* गृहस्थ अपने परिवार के स्त्री पुत्रादि तथा पशु आदि से युक्त घर में निवास करता है, परन्तु साधु को स्त्री आदि से सर्वथा असंसक्त, एकान्त, निरवद्य, परकृत जीव-जन्तु से रहित निराबाध, श्मशान, शून्यगृह तरुतल आदि में निवास करना उचित है।

* गृहस्थ मकान बना या बनवा सकता है. उसे घुलाई पुताई या मरम्मत करा कर सुवासित एवं सुदृढ़ करवा सकता है; वह गृहनिर्माणादि आरम्भ से सर्वथा मुक्त नहीं है, परन्तु साधु आरम्भ (हिंसा) का सर्वथा त्यागी होने से उसका मार्ग (धर्म) है कि वह न तो स्वयं मकान बनाए, न बनवाए, न ही मकान को रंगाई-पुताई करे-करावे।

* गृहस्थ रसोई बनाता-बनवाता है, वह भिक्षा करने का अधिकारी नहीं, जबकि साधु का मार्ग है कि वह न भोजन पकाए न पकवाए क्योंकि उससे अग्नि पानी, पृथ्वी, अन्न तथा काष्ठ के आश्रित अनेक जीवों की हिंसा होती है, जो अनगार के लिए सर्वथा त्याज्य है।

* गृहस्थ अपने तथा परिवार के निर्वाह के लिए उनके विवाहादि तथा अन्य खर्च के लिए मकान, दूकान आदि बनाने के लिए व्यवसाय, नौकरी आदि करके धनसंचय करता है, किन्तु अनगारका मार्ग (धर्म) यह है कि वह जीवननिर्वाह के लिए न तो सोना-चाँदी आदि के रूप में धन ग्रहण करे, न कोई चीज खरीद-बेच कर व्यापार करे, किन्तु निर्दोष एषणीय भिक्षा के रूप में अन्न-वस्त्रादि ग्रहण करे।

* गृहस्थ अपनी जिह्वा पर नियंत्रण न होने से स्वादिष्ट भोजन बनाता और करता है, विवाहादि में खिलाता है, परन्तु अनगार का मार्ग यह है कि वह जिह्वेन्द्रिय को वश में रखे, स्वादलोलुप होकर स्वाद के लिए न खाए, किन्तु संयमयात्रा के निर्वाहार्थ आहार करे।

* गृहस्थ अपनी पूजा, प्रतिष्ठा, सत्कार, सम्मान के लिए एड़ी से लेकर चोटी तक पसीना बहाता है, चुनाव लड़ता है, प्रचुर धन खर्च करता है, परन्तु अनगार का मार्ग यह है कि वह पूजा-प्रतिष्ठा, सत्कार, सम्मान, वन्दना, ऋद्धि-सिद्धि की कामना कदापि न करे।

* गृहस्थ अकिंचन नहीं हो सकता। वह शरीर के प्रति ममत्व रखता है। उसका भली भांति पोषण-जतन करता है किन्तु अनगार का धर्म है अकिंचन, अनिदान, निःस्पृह, शरीर के प्रति निर्ममत्व एवं आत्मध्याननिष्ठ बनकर देहाध्यास से मुक्त बनना।

* *प्रस्तुत अध्ययन में कहा गया है* कि अनगार मार्ग में गति करने वाला पूर्वोक्त धर्म का आराधक ऐसा वीतराग समतायोगी मुनि केवलज्ञान एवं शाश्वत मुक्ति प्राप्त कर समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

* निष्कर्ष यह है कि अनगारमार्ग, अगारमार्ग से भिन्न है। वह एक सुदीर्घ साधना है, जिसके लिए जीवनपर्यन्त सतत सतर्क एवं जागृत रहना होता है। ऊँचे-नीचे, अच्छे-बुरे प्रसंगों तथा जीवन के उतार-चढ़ावों में अपने को संभालना पड़ता है। बाहर से घर बार, परिवार आदि के संग को छोड़ना आसान है, मगर भीतर में असंग तभी हुआ जा सकता है, जब अनगार देह, गेह, धन-कंचन, भक्त-पान, आदि की आसक्ति से मुक्त हो जाए, यहाँ तक कि जीवन-मरण, यश-अपयश, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, सम्मान-अपमान आदि द्वन्द्वों से भी मुक्त हो जाए। अनगारधर्म का मार्ग आत्मनिष्ठ होकर पंचाचारों में पराक्रम करने का मार्ग है।

□□

पणतीसइमं अज्झयणं : पैंतीसवाँ अध्ययन

अणगारमग्गगई : अनगारमार्गगति

उपक्रम

१. सुणेह मेगग्गमणा मग्गं बुद्धेहि देसियं ।
जमायरन्तो भिक्खू दुक्खाणऽन्तकरो भवे ।।

[१] बुद्धों (—तीर्थंकरों या ज्ञानियों) द्वारा उपदिष्ट मार्ग को तुम एकाग्रचित्त हो कर मुझ से सुनो, जिसका आचरण करके भिक्षु (मुनि) दुःखों का अन्त करने वाला होता है ।

विवेचन—बुद्धेहि देसियं—बुद्ध का अर्थ है—जो केवलज्ञानी हैं, जो यथार्थरूप से वस्तुतत्त्व के ज्ञाता हैं, उन अर्हन्तों द्वारा, अथवा श्रुतकेवलियों द्वारा या गणधरों द्वारा उपदिष्ट ।[1]

दुक्खाणंतकरो—समस्त कर्मों का निर्मूलन करके शारीरिक मानसिक, सभी दुःखों का अन्तकर्ता हो जाता है ।[2]

संगों को जान कर त्यागे

२. गिहवासं परिच्चज्ज पवज्जं अस्सिओ मुणी ।
इमे संगे वियाणिज्जा जेहिं सज्जन्ति माणवा ।।

[२] गृहवास का परित्याग कर प्रव्रजित हुआ मुनि, उन संगों को जाने, जिनमें मनुष्य आसक्त (प्रतिबद्ध) होते हैं ।

विवेचन—सर्वसंगपरित्यागरूपा प्रव्रज्या—भागवती दीक्षा स्वीकार किया हुआ मुनि इन (सर्वप्राणियों के लिए प्रत्यक्ष) संगों—पुत्रकलत्रादिरूप प्रतिबन्धों को भवभ्रमण हेतु जाने-ज्ञपरिज्ञा से समझे और प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उन्हें त्यागे, जिनमें मानव आसक्त होते हैं, अथवा जिन संगों से मानव ज्ञानावरणीयादि कर्म से प्रतिबद्ध हो जाते हैं ।[3]

हिंसादि आस्रवों का परित्याग

३. तहेव हिंसं अलियं चोज्जं अबम्भसेवणं ।
इच्छाकामं च लोभं च संजओ परिवज्जए ।।

[३] इसी प्रकार संयमी मुनि हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म (चर्य) सेवन, इच्छा, काम, और लोभ का सर्वथा त्याग करे ।

---

१. बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष. भा. १, पृ. २७९
२. वही, अ. रा. कोष भा. १, पृ. २७९
३. वही, अ. रा. कोष. भा. १, पृ. २८०

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह (इच्छाकाम और लोभ) इन पांचों आश्रवों से दूर रहने और पांच संवरों का अर्थात् पंच महाव्रतों के पालन में जागृत रहने का विधान है।

इच्छाकाम और लोभ का तात्पर्य—इच्छारूप काम का अर्थ है—अप्राप्त वस्तु की कांक्षा, और लोभ का अर्थ है—लब्धवस्तुविषयक गृद्धि।[1]

अनगार का निवास और गृहकर्मसमारम्भ

४. मणोहरं चित्तहरं मल्लधूवेण वासियं।
सकवाडं पण्डुरुल्लोयं मणसा वि न पत्थए॥

[४] मनोहर, चित्रों से युक्त, माल्य और धूप से सुवासित किवाड़ों सहित, श्वेत चंदोवा से युक्त स्थान की मन से भी प्रार्थना (अभिलाषा) न करे।

५. इन्दियाणि उ भिक्खुस्स तारिसम्मि उवस्सए।
दुक्कराइं निवारेउं कामरागविवड्ढणे॥

[५] (क्योंकि) कामराग को बढ़ाने वाले, वैसे उपाश्रय में भिक्षु के लिए इन्द्रियों का निरोध करना दुष्कर है।

६. सुसाणे सुन्नगारे वा रुक्खमूले व एगओ।
पइरिक्के परकडे वा वासं तत्थऽभिरोयए॥

[६] अतः एकाकी भिक्षु श्मशान में, शून्यगृह में, वृक्ष के नीचे (मूल में) परकृत (दूसरों के लिए या पर के द्वारा बनाए गए) प्रतिरिक्त (एकान्त या खाली) स्थान में निवास करने की अभिरुचि रखे।

७. फासुयम्मि अणाबाहे इत्थीहिं अणभिद्दुए।
तत्थ संकप्पए वासं भिक्खू परमसंजए॥

[७] परमसंयत भिक्षु प्रासुक, अनाबाध, स्त्रियों के उपद्रव से रहित स्थान में रहने का संकल्प करे।

८. न सयं गिहाइं कुव्वेज्जा णेव अन्नेहिं कारए।
गिहकम्मसमारम्भे भूयाणं दीसई वहो॥

[८] भिक्षु न स्वयं घर बनाए और न दूसरों से बनवाए (क्योंकि) गृहकर्म के समारम्भ में प्राणियों का वध देखा जाता है।

९. तसाणं थावराणं च सुहुमाण बायराण य।
तम्हा गिहसमारम्भं संजओ परिवज्जए॥

---

१. बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष भा. १, पृ. २८०

[९] त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और बादर (स्थूल) जीवों का वध होता है, इसलिए संयत मुनि गृहकर्म के समारम्भ का परित्याग करे।

विवेचन—अनगार के निवास के लिए अनुपयुक्त स्थान ये हैं—(१) मनोहर तथा चित्रों से युक्त, (२) माला और धूप से सुगन्धित (३) कपाटों वाले तथा (४) श्वेत चन्दोवा से युक्त स्थान, (५) कामरागविवर्द्धक। **योग्यस्थान हैं**—(१) श्मशान, (२) शून्य गृह, (३) वृक्षतल, (४) परनिर्मित गृह आदि जो विविक्त एवं रिक्त हो, प्रासुक (जीवजन्तुरहित) हो, स्वपर के लिए निराबाध, और स्त्री-पशु-नपुंसकादि के उपद्रव से रहित हो।[1]

विविध स्थानों में निवास से लाभ—प्रस्तुत में कपाटयुक्त स्थान में रहने की अभिलाषा का निषेध साधु की उत्कृष्ट साधना, अगुप्तता और अपरिग्रहवृत्ति का द्योतक है। इसका एक फलितार्थ यह भी हो सकता है कि कपाट वाले स्थान में ही रहने की इच्छा न करे किन्तु अनायास ही, स्वाभाविक रूप से कपाट वाला स्थान मिल जाए तो निवास करना वर्जित नहीं है। श्मशान में निवास वैराग्य एवं अनित्यता की भावना जागृत करने हेतु उपयुक्त है। तरुतलनिवास से पेड़ के पत्तों को गिरते देख तथा वृक्ष में होने वाले परिवर्त्तन को देखकर जीवन की अनित्यता का भाव उत्पन्न होगा।[2]

गृहकर्मसमारम्भनिषेध—गृहकर्मसमारम्भ से अनेक त्रस-स्थावर, स्थूल-सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है। अतः साधु मकान बनाने-बनवाने लिपाने-पुतवाने आदि के चक्कर में न पड़े। गृहस्थद्वारा बनाए हुए मकान में उसकी अनुज्ञा लेकर रहे।[3]

भोजन पकाने एवं पकवाने का निषेध

१०. तहेव भत्तपाणेसु पयण-पयावणेसु य।
पाणभूयदयट्ठाए न पये न पयावए॥

[१०] इसी प्रकार भक्त-पान पकाने और पकवाने में हिंसा होती है। अतः भिक्षु प्राणों और भूतों की दया के लिए न तो स्वयं पकाए और न दूसरे से पकवाए।

११. जल-धन्ननिस्सिया जीवा पुढवी-कट्ठनिस्सिया।
हम्मन्ति भत्तपाणेसु तम्हा भिक्खू न पायए॥

[११] भोजन और पान के पकाने-पकवाने में जल, धान्य, पृथ्वी और काष्ठ (ईन्धन) के आश्रित जीवों का वध होता है, अतः भिक्षु न पकवाए।

१२. विसप्पे सव्वओधारे बहुपाणविणासणे।
नत्थि जोइसमे सत्थे तम्हा जोइं न दीवए॥

[१२] अग्नि के समान दूसरा कोई शस्त्र नहीं है, वह अल्प होते हुए भी चारों ओर फैल

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष, भा. १, पृ. २८० (ख) मज्झिमनिकाय, २।३।७ पृ. ३०७
(ग) विसुद्धिमग्गो भा. १, पृ. ७३ से ७६ तक।

२-३. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३३०

जाने वाला, चारों ओर तीक्ष्ण धार वाला तथा बहुत-से प्राणियों का विनाशक है। अतः साधु अग्नि न जलाए।

विवेचन—पचन-पाचनक्रिया का निषेध—साधु के लिए पचन-पाचन क्रिया का निषेध इसलिए किया गया है कि इसमें अग्निकाय के जीवों तथा जल, अनाज, (वनस्पति) लकड़ी एवं पृथ्वी के आश्रित रहे हुए अनेक जीवों का वध होता है, अग्नि भी सजीव है। उसके दूर-दूर तक फैल जाने से अग्निकाय की, तथा उसके छहों दिशावर्ती अनेक त्रस-स्थावर जीवों की प्राणहानि होती है।

क्रय-विक्रय का निषेध-भिक्षा और भोजन की विधि

१३. हिरण्णं जायरूवं च मणसा वि न पत्थए।
समलेट्ठुकंचणे भिक्खू विरए कयविक्कए॥

[१३] सोने और मिट्टी के ढेले को समान समझने वाला भिक्षु सोने और चाँदी की मन से भी इच्छा न करे। वह (सभी प्रकार के) क्रय-विक्रय (खरीदने-बेचने) से विरत रहे—दूर रहे।

१४. किणन्तो कइओ होइ विक्किणन्तो य वाणिओ।
कयविक्कयम्मि वट्टन्तो भिक्खू न भवइ तारिसो॥

[१४] वस्तु को खरीदने वाला क्रयिक (खरीददार) कहलाता है और बेचने वाला वणिक् (विक्रेता) होता है। अतः जो क्रय-विक्रय में प्रवृत्त है वह भिक्षु नहीं है।

१५. भिक्खियव्वं न केयव्वं भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा।
कयविक्कओ महादोसो भिक्खावत्ती सुहावहा॥

[१५] भिक्षाजीवी भिक्षु को भिक्षावृत्ति से ही भिक्षा करनी चाहिए, क्रय-विक्रय से नहीं। क्रय-विक्रय महान् दोष है। भिक्षावृत्ति सुखावह है।

१६. समुयाणं उंछमेसिज्जा जहासुत्तमणिन्दियं।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे पिण्डवायं चरे मुणी॥

[१६] मुनि श्रुत (शास्त्र-विधान) के अनुसार अनिन्दित और सामुदायिक उञ्छ (अनेक घरों से थोड़े-थोड़े आहार) की गवेषणा करे। लाभ और अलाभ में सन्तुष्ट रह कर पिण्डपात (-भिक्षाचर्या) करे।

१७. अलोले न रसे गिद्धे जिब्भादन्ते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा जवणट्ठाए महामुणी॥

[१७] रसनेन्द्रियविजेता अलोलुप एवं अमूर्च्छित महामुनि रस में आसक्त न हों। वह यापनार्थ अर्थात् जीवन-निर्वाह के लिए ही खाए, रस (स्वाद) के लिए नहीं।

विवेचन—आहार-पानी की विधि : उपयुक्त-अनुपयुक्त—भिक्षाजीवी साधु के लिए अनेक घरों से मधुकरीवृत्ति से भिक्षाचरी द्वारा निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने तथा यथालाभ संतुष्ट, अलोलुप

एवं अनासक्त होकर केवल जीवननिर्वाहार्थ आहार करने का विधान है। किन्तु क्रय-विक्रय करना या संग्रह करना उपयुक्त नहीं।

पूजा सत्कार आदि से दूर रहे

१८. अच्चणं रयणं चेव वन्दणं पूयणं तहा।
इड्ढीसक्कार-सम्माणं मणसा वि न पत्थए॥

[१८] मुनि अर्चना, रचना, पूजा तथा ऋद्धि, सत्कार और सम्मान की मन से भी अभिलाषा (प्रार्थना) न करे।

विवेचन—साधु पूजा प्रतिष्ठादि की वाञ्छा न करे—अर्चना—पुष्पादि से पूजा, **रचना**—स्वस्तिक आदि का न्यास, अथवा सेवना(पाठान्तर)—उच्च आसन पर विठाना, **वन्दन**—नमस्कारपूर्वक वाणी से अभिनन्दन करना, **पूजन**—विशिष्ट वस्त्रादि का प्रतिलाभ। **ऋद्धि**—श्रावकों से उपकरणादि की उपलब्धि, अथवा आमर्षौषधि आदि रूप लब्धियों की सम्पदा, **सत्कार**—अर्थ प्रदान आदि। **सम्मान**—अभ्युत्थान आदि की इच्छा न करे।[1]

शुक्लध्यानलीन, अनिदान, अकिंचन : मुनि

१९. सुक्कज्झाणं झियाएज्जा अणियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा जाव कालस्स पज्जओ॥

[१९] मुनि शुक्ल (-विशुद्ध-आत्म-) ध्यान में लीन रहे। निदानरहित और अकिंचन रहे। जहाँ तक काल का पर्याय है, (-जीवनपर्यन्त) शरीर का व्युत्सर्ग (कायासक्ति छोड़) कर विचरण करे।

विवेचन—वोसट्ठकाए विहरेज्जा—शरीर का मानो त्याग (व्युत्सर्ग) कर दिया है, इस प्रकार से अप्रतिवद्ध रूप से विचरण करे।[2]

अन्तिम आराधना से दुःखमुक्त मुनि

२०. निज्जूहिऊण आहारं कालधम्मे उवट्ठिए।
जहिऊण माणुसं बोन्दि पहू दुक्खे विमुच्चई॥

[२०] (अन्त में) कालधर्म उपस्थित होने पर मुनि आहार का परित्याग कर (संलेखना-संथारापूर्वक) मनुष्य शरीर को त्याग कर दुःखों से विमुक्त, प्रभु (विशिष्ट सामर्थ्यशाली) हो जाता है।

२१. निम्ममो निरहंकारो वीयरागो अणासवो।
संपत्तो केवलं नाणं सासयं परिणिव्वुए॥

---

१. बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष, भा. १, पृ. २८२
२. बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष, भा. १, पृ. २८२

[२१] निर्मम, निरहंकार, वीतराग और अनाश्रव मुनि केवलज्ञान को सम्प्राप्त कर शाश्वत परिनिर्वाण को प्राप्त होता है।

विवेचन—निज्जूहिऊण आहारं—संलेखनाक्रम से चतुर्विध आहार का परित्याग कर। बिना संलेखना किए सहसा:यावज्जीवन आहार त्याग करने पर धातुओं के परिक्षीण होने पर अन्तिम समय में आर्त्तध्यान होने की सम्भावना है।

पहू : विशेषार्थ—प्रभु—वीर्यान्तराय के क्षय से विशिष्ट सामर्थ्यवान् होकर।[1]

।। अनगारमार्गगति : पैंतीसवाँ अध्ययन समाप्त ।।

---

१. बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष, भा. ७, पृ. २८२

छत्तीसवाँ अध्ययन : जीवाजीव-विभक्ति

अध्ययनसार

* प्रस्तुत छत्तीसवें अध्ययन का नाम है—जीवाजीव-विभक्ति (जीवाजीवविभत्ती)। इसमें जीव और अजीव के विभागों (भेद-प्रभेदों) का निरूपण किया गया है।

* समग्र सृष्टि जड़-चेतनमय है। यह लोक जीव (चेतन) और अजीव-(जड़) का विस्तार है। जीव और अजीवद्रव्य समग्रता से आकाश के जिस भाग में हैं, वह आकाशखण्ड 'लोक' कहलाता है। जहाँ ये नहीं हैं, वहाँ केवल आकाश ही है, जिसे 'अलोक' कहते हैं। लोक स्वरूपतः (प्रवाह से) अनादि-अनन्त है. अतः न इसका कोई कर्त्ता है, न धर्त्ता है और न संहर्त्ता।[1]

* जीव और अजीव, ये दो तत्त्व ही मूल हैं। शेष सब तत्त्व या द्रव्य इन्हीं दो के संयोग या वियोग से माने जाते हैं। जीव और अजीव का संयोग प्रवाहरूप से अनादि है; विशेष रूप से सादि-सान्त है। यह संयोग ही संसारी जीवन है। क्योंकि जब तक जीव के साथ कर्मपुद्गलों या अन्य सांसारिक पदार्थों का संयोग रहता है, तब तक उसे जन्म-मरण करना पड़ता है। जीव के देह, इन्द्रिय, मन, भाषा, सुख, दुःख आदि सब इसी संयोग पर आधारित हैं। प्रवाह-रूप से अनादि यह संयोग, सान्त भी हो सकता है, क्योंकि राग-द्वेष ही उक्त संयोग के कारण हैं। कारण को मिटा देने पर रागद्वेषजनित कर्मबन्धन और उससे प्राप्त यह संसार-भ्रमणरूप कार्य स्वतः ही समाप्त हो जाता है।

* जीव और अजीव की इस संयुक्ति को मिटाना और विभक्ति (पृथक्) करना अर्थात् साधक के लिए जीव और अजीव का भेदविज्ञान करना ही इस अध्ययन का उद्देश्य है, जिसे शास्त्रकार ने अध्ययन के प्रारम्भ में ही व्यक्त किया है। जीव और अजीव का भेदविज्ञान करना—विभक्ति करना ही तत्त्वज्ञान का फल है, वही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, जिनवचन में अनुराग है। जिन-वचनों को हृदयंगम करके संयमी पुरुष उसे जीवन में उतारता है।[2]

* इसी हेतु से सर्वप्रथम 'जीव' का निरूपण करने की अपेक्षा अजीव का निरूपण किया गया है। अजीव तत्त्व एक होते हुए भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से उसके विभिन्नरूपों की प्ररूपणा की गई है। रूपी अजीव द्रव्यतः स्कन्ध, स्कन्धदेश, प्रदेश और परमाणु पुद्गल के भेद से चार प्रकार का बता कर क्षेत्र और काल की अपेक्षा से उसकी प्ररूपणा की गई है। उसकी स्थिति और अन्तर की भी प्ररूपणा की गई है। तदनन्तर रूपी अजीव के वर्ण, गन्ध,

---

१. 'जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।' —उत्तरा. अ. ३६, गा. २

२. (क) 'जं जाणिऊण समणे, सम्मं जयइ संजमे।' —उत्तरा. अ. ३६, गा. १

(ख) "……सोच्चा सद्दहिऊण……रमेज्जा संजमे मुणी।" —वहीं, गा. २४९, २५०

रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से पंचविध परिणमन के अनेक भेद बताए गए हैं।[1]

* जीव शुद्धस्वरूप की दृष्टि से विभिन्न श्रेणी के नहीं हैं, किन्तु कर्मों से आवृत होने के कारण शरीर, इन्द्रिय, मन, गति, योनि, क्षेत्र आदि की अपेक्षा से उनके अनेक भेदों का निरूपण किया गया है।

* सर्वप्रथम जीव के दो भेद बताए हैं—सिद्ध और संसारी। सिद्धों के क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ आदि की अपेक्षा से अनेक भेद किए गए हैं।

  फिर संसारी जीवों के मुख्य दो भेद बतलाए हैं—स्थावर और त्रस। स्थावर के पृथ्वीकाय आदि तीन और त्रस के तेजस्काय, वायुकाय और द्वीन्द्रियादि भेद बताए गए हैं।

* उसके पश्चात् पंचेन्द्रिय के मुख्य चार भेद—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, बताकर उन सबके भेद-प्रभेदों का निरूपण किया गया है।

* जीव के प्रत्येक भेद के साथ-साथ उनके क्षेत्र और काल का निरूपण किया गया है। काल में—प्रवाह और स्थिति, आयुस्थिति, कायस्थिति और अन्तर का भी निरूपण किया गया है। साथ ही भाव की अपेक्षा से प्रत्येक प्रकार के जीव के हजारों भेदों का प्रतिपादन किया गया है।

* अन्त में जीव और अजीव के स्वरूप का श्रवण, ज्ञान, श्रद्धान करके तदनुरूप संयम में रमण करने का विधान किया गया है।[2]

* अन्तिम समय में संल्लेखना—संथारापूर्वक समाधिमरण प्राप्त करने हेतु संलेखना की विधि, कन्दर्पी आदि पांच अशुभ भावनाओं से आत्मरक्षा तथा मिथ्यादर्शन, निदान, हिंसा, एवं कृष्णलेश्या से बचकर सम्यग्दर्शन, अनिदान और शुक्ललेश्या, जिन-वचन में अनुराग तथा उनका भावपूर्वक आचरण तथा योग्य सुदृढ संयमी गुरुजन के पास आलोचनादि से शुद्ध होकर परीतसंसारी बनने का निर्देश किया गया है।[3]

---

१. उत्तरा. मूलपाठ, अ. ३६, गा. ४ से ४७ तक
२. वही, गा. ४८ से २४९ तक
३. वही, गा. २५० से २६७ तक

छत्तीसइमं अज्झयणं : छत्तीसवाँ अध्ययन

जीवाजीवविभत्ती : जीवाजीवविभक्ति

अध्ययन का उपक्रम और लाभ

१. जीवाजीवविभत्ति सुणेह मे एगमणा इओ।
जं जाणिऊण समणे सम्मं जयइ संजमे ॥

[१] अब जीव और अजीव के विभाग को तुम एकाग्रमना होकर मुझ से सुनो; जिसे जान कर श्रमण सम्यक् प्रकार से संयम में यत्नशील होता है।

२. जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे अलोए से वियाहिए ॥

[२] यह लोक जीव और अजीवमय कहा गया है, और जहाँ अजीव का एकदेश (भाग) केवल आकाश है उसे अलोक कहा गया है।

३. दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ भावओ तहा।
परूवणा तेसि भवे जीवाणमजीवाण य ॥

[३] उन जीवों और अजीवों की प्ररूपणा द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से होती है।

विवेचन—'लोक' की परिभाषा : विभिन्न दृष्टियों से—जैनागमों में विभिन्न दृष्टियों से 'लोक' की परिभाषा की गई है यथा—(१) धर्मास्तिकाय लोक है, (२) षड्द्रव्यात्मक लोक है, (३) 'लोक' पंचास्तिकायमय है, और (४) लोक जीव-अजीवमय है। प्रस्तुत में जीव और अजीव को 'लोक' कहा गया है, परन्तु पूर्वपरिभाषाओं के साथ इसका कोई विरोध नहीं है, केवल अपेक्षा-भेद है।[1]

अलोक—अलोक में धर्मास्तिकाय आदि पांच द्रव्य नहीं हैं, केवल आकाश हैं, जो कि अजीवमय है, इसलिए अलोक में अजीव का एक देश—आकाश का एक भाग ही है।[2]

विभिन्न अपेक्षाओं से प्ररूपणा—प्रस्तुत अध्ययन में जीव और अजीव की प्ररूपणा चार मुख्य अपेक्षाओं से की है—(१) द्रव्यतः, (२) क्षेत्रतः, (३) कालतः और (४) भावतः।

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३३३

२. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनी भा. ४, पृ. ६८७ (ख) बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष भाग ४, पृ. १५६२

जीव/अजीव	द्रव्य-नाम	द्रव्यत:	क्षेत्रत:	कालत:	भावत:
अजीव	धर्मास्तिकाय	एक	लोकव्यापी	अनादि-अनन्त	अरूपी
,,	अधर्मास्तिकाय	एक	,,	,,	,,
,,	आकाशास्तिकाय	,,	लोक-अलोकव्यापी	,,	,,
,,	काल	अनन्त	समयक्षेत्रव्यापी	,,	,,
,,	पुद्गलास्तिकाय	,,	लोकव्यापी	,,	रूपी
जीव	जीवास्तिकाय	अनन्त	,,	,,	अरूपी[1]

जीव-अजीव-विज्ञान का प्रयोजन—जब तक साधु जीव और अजीव तत्त्व के भेद को नहीं समझ लेता, तब तक वह संयम को नहीं समझ सकता। जीव और अजीव को जानने पर ही व्यक्ति अनेक विध गति, पुण्य, पाप, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष को जान सकता है। अत: जीवाजीव विभाग को समझ लेने पर ही संयम की आराधना में साधु का प्रयत्न सफल हो सकता है।[2]

अजीवनिरूपण

४. रूविणो चेवऽरूवी य अजीवा दुविहा भवे।
अरूवी दसहा वुत्ता रूविणो वि चउव्विहा॥

[४] अजीव दो प्रकार है—रूपी और अरूपी। अरूपी दस प्रकार का है और रूपी चार प्रकार का।

विवेचन—अजीव का लक्षण—जिसमें चेतना न हो, जो जीव से विपरीत स्वरूप वाला हो, उसे अजीव कहते हैं।[3]

रूपी, अरूपी—जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हो, वे रूपी या मूर्त्त कहलाते हैं। जिसमें रूप आदि न हों वे अरूपी-अमूर्त्त हैं।[4]

अरूपी-अजीव-निरूपण

५. धम्मत्थिकाए तद्देसे तप्पएसे य आहिए।
अहम्मे तस्स देसे य तप्पएसे य आहिए॥

[५] (सर्वप्रथम) धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय का देश तथा प्रदेश कहा गया है, फिर अधर्मास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश कहा गया है।

---

१. उत्तरा. टिप्पण (मु. नथमलजी) पृ. ३१५
२. (क) दशवैकालिक सूत्र अ. ४, भा. १२-१४ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनी भा. ४, पृ. ६८६
३. प्रज्ञापना पद १ टीका
४. तत्र रूपं स्पर्शाद्याश्रयभूतं मूर्त्तं तदस्ति येषु ते रूपिणः। तद्व्यतिरिक्ता अरूपिणः।
—बृहद्वृत्ति, अ. रा. कोष: भा. १, पृ. २०३

६. आगासे तस्स देसे य तप्पएसे य आहिए ।
अद्धासमए चेव अरूवी दसहा भवे ॥

[६] आकाशास्तिकाय, उसका देश तथा प्रदेश कहा गया है। और एक अद्धासमए (काल), ये दस भेद अरूपी अजीव के हैं।

७. धम्माधम्मे य दोऽवेए लोगमित्ता वियाहिया ।
लोगालोगे य आगासे समए समयखेत्तिए ॥

[७] धर्म और अधर्म, ये दोनों लोक प्रमाण कहे गए हैं। आकाश लोक और अलोक में व्याप्त है। काल समय क्षेत्र (मनुष्य-क्षेत्र) में ही है।

८. धम्माधम्मागासा तिन्नि वि एए अणाइया ।
अपज्जवसिया चेव सव्वद्धं तु वियाहिया ॥

[८] धर्म, अधर्म और आकाश, ये तीनों द्रव्य अनादि, अपर्यवसित—अनन्त और सर्वकाल-स्थायी (नित्य) कहे गए हैं।

९. समए वि सन्तइं पप्प एवमेवं वियाहिए ।
आएसं पप्प साईए सपज्जवसिए वि य ॥

[९] काल भी प्रवाह (सन्तति) की अपेक्षा से इसी प्रकार (अनादि-अनन्त) है। आदेश से (-प्रतिनियत व्यक्तिरूप एक-एक समय की अपेक्षा से) सादि और सान्त है।

विवेचन—यद्यपि धर्मास्तिकाय आदि तीन अरूपी अजीव वास्तव में अखण्ड एक-एक द्रव्य हैं, तथापि उनके स्कन्ध, देश और प्रदेश के रूप में तीन-तीन भेद किये गए हैं।

परमाणु, स्कन्ध, देश और प्रदेश : परिभाषा—पुद्गल के सबसे सूक्ष्म (छोटे) भाग को, जिसके फिर दो टुकड़े न हो सकें, 'परमाणु' कहते हैं। परमाण सूक्ष्म होता है और किसी एक वर्ण, गन्ध, रस तथा दो स्पर्शों से युक्त होता है। वे ही परमाणु जब एकत्र हो जाते हैं, तब 'स्कन्ध' कहलाते हैं। दो परमाणुओं से बनने वाले स्कन्ध को द्विप्रदेशी स्कन्ध कहते हैं। इसी प्रकार त्रिप्रदेशी, चतुःप्रदेशी, दशप्रदेशी, संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होते हैं। अनेक प्रदेशों से परिकल्पित, स्कन्धगत छोटे-बड़े नाना अंश 'देश' कहलाते हैं। जब तक वे स्कन्ध से संलग्न रहते हैं, तब तक 'देश' कहलाते हैं। अलग हो जाने के बाद वह स्वयं स्वतन्त्र स्कन्ध बन जाता है। स्कन्ध के उस छोटे-से छोटे अविभागी विभाग (अर्थात्—फिर भाग होने की कल्पना से रहित सर्वाधिक सूक्ष्म अंश) को प्रदेश कहते हैं। प्रदेश तब तक ही प्रदेश कहलाता है, जब तक वह स्कन्ध के साथ जुड़ा रहता है। अलग हो जाने के बाद वह 'परमाणु' कहलाता है।

धर्मास्तिकाय आदि चार अस्तिकाय—धर्म, अधर्म आदि चार अस्तिकायों के स्कन्ध, देश तथा प्रदेश—ये तीन-तीन भेद होते हैं। केवल पुद्गलास्तिकाय के ही स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु ये चार भेद होते हैं। धर्म, अधर्म और आकाश स्कन्धतः एक हैं। उनके देश और प्रदेश असंख्य हैं। असंख्य

के असंख्य भेद होते हैं। लोकाकाश के असंख्य और अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश होने से आकाश के कुल अनन्त प्रदेश हैं। धर्मास्तिकाय आदि के स्वरूप की चर्चा पहले की जा चुकी है।

अद्धासमय : कालवाचक—काल शब्द वर्ण, प्रमाण, समय, मरण आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतः समयवाची काल शब्द का वर्ण-प्रमाणादि वाचक काल शब्द से पृथक् बोध कराने के लिए, उसके साथ, 'अद्धा' विशेषण जोड़ा गया है। अद्धाविशेषण से वह 'वर्त्तनालक्षण' काल द्रव्य का ही बोध कराता है।

काल का सूर्य की गति से सम्बन्ध रहता है। अतः दिन, रात, मास, पक्ष आदि के रूप में अद्धाकाल अढाई द्वीप प्रमाण मनुष्यक्षेत्र में ही है, अन्यत्र नहीं। काल में देश-प्रदेश परिकल्पना सम्भव नहीं है; क्योंकि निश्चय दृष्टि से वह समय रूप होने से निर्विभाग है। अतः उसे स्कन्ध और अस्तिकाय भी नहीं माना है। अपरापरोत्पत्तिरूप प्रवाहात्मक संतति की अपेक्षा से काल आदि-अनन्त है, किन्तु दिन-रात आदि प्रतिनियत व्यक्ति स्वरूप (विभाग) की अपेक्षा से सादि-सान्त है।[1]

समयक्षेत्र का अर्थ—समयक्षेत्र का दूसरा नाम मनुष्यक्षेत्र है; क्योंकि मनुष्य केवल समयक्षेत्र में ही पाए जाते हैं। क्षेत्र की दृष्टि से समयक्षेत्र जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और अर्धपुष्कर, इन ढाई द्वीपों तक ही सीमित है। इस कारण इन अढाई द्वीपों की संज्ञा ही समयक्षेत्र है।[2]

रूपी-अजीव निरूपण

१०. खन्धा य खन्धदेसा य तप्पएसा तहेव य।
परमाणुणो य बोद्धव्वा रूविणो य चउव्विहा॥

[१०] रूपी अजीव दव्य चार प्रकार का है—स्कन्ध, स्कन्ध-देश, स्कन्ध-प्रदेश और परमाणु।

११. एगत्तेण पुहत्तेण खन्धा य परमाणुणो।
लोएगदेसे लोए य भइयव्वा ते उ खेत्तओ॥
इत्तो कालविभागं तु तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥

[११] परमाणु एकत्वरूप होने से अर्थात् अनेक परमाणु एक रूप में परिणत होकर स्कन्ध बन जाते हैं, और स्कन्ध पृथक् रूप होने से परमाणु बन जाते हैं। (यह द्रव्य की अपेक्षा से है।) क्षेत्र की अपेक्षा से वे (स्कन्ध और परमाणु) लोक के एक देश में तथा (एक देश से लेकर) सम्पूर्ण लोक में भाज्य (-असंख्यविकल्पात्मक) हैं। यहाँ से आगे उनके (स्कन्ध और परमाणु के) काल की अपेक्षा से चार प्रकार का विभाग कहूँगा।

१२. संतइं पप्प तेऽणाइं अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥

---

१. (क) बृहद्वृत्ति, अ. रा, कोष भा. १, पृ. २०४ (ख) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) पृ. ४७६
(ग) प्रज्ञापना पद ५ वृत्ति (घ) स्थानांग स्था. ४।१।२६४ वृत्ति, पत्र १९०

२. (क) प्रज्ञापना पद १ वृत्ति, अ. रा. कोष भा. १ पृ. २०६
(ख) स्थानांग स्था. ४।१।२६४ वृत्ति, पत्र १९०

[१२] सन्तति-प्रवाह की अपेक्षा से वे (स्कन्ध आदि) अनादि और अनन्त हैं तथा स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१३. असंखकालमुक्कोसं एगं समयं जहन्निया।
अजीवाण य रूवीणं ठिई एसा वियाहिया॥

[१३] रूपी अजीवों-पुद्गल द्रव्यों की स्थिति जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट असंख्यात काल की कही गई है।

१४. अणन्तकालमुक्कोसं एगं समयं जहन्नयं।
अजीवाण य रूवीणं अन्तरेयं वियाहियं॥

[१४] रूपी अजीवों का अन्तर (अपने पूर्वावगाहित स्थान) से च्युत होकर उसी स्थान पर कहा गया फिर आने तक का काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अनन्तकाल है।

१५. वण्णओ गन्धओ चेव रसओ फासओ तहा।
संठाणओ यं विन्नेओ परिणामो तेसि पंचहा॥

[१५] उनका (स्कन्ध आदि का) परिणमन वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से पांच प्रकार का है।

१६. वण्णओ परिणया जे उ पंचहा ते पकित्तिया।
किण्हा नीला य लोहिया हालिद्दा सुक्किला तहा॥

[१६] जो (स्कन्ध आदि रूपी अजीव) पुद्गल वर्ण से परिणत होते हैं, वे पांच प्रकार से परिणत होते हैं—कृष्ण, नील, लोहित (रक्त), हारिद्र (—पीत) अथवा शुक्ल (श्वेत)।

१७. गन्धओ परिणया जे उ दुविहा ते वियाहिया।
सुब्भिगन्धपरिणामा दुब्भिगन्धा तहेव य॥

[१७] जो पुद्गल गन्ध से परिणत होते हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं—सुरभिगन्धपरिणत और दुरभिगन्धपरिणत।

१८. रसओ परिणया जे उ पंचहा ते पकित्तिया।
तित्त-कडुय-कसाया अम्बिला महुरा तहा॥

[१८] जो पुद्गल रस से परिणत हैं, वे पांच प्रकार के कहे गए हैं—तिक्त (–चरपरा-तीखा), कटु, कषाय (कसैला), अम्ल (खट्टा) और मधुर रूप में परिणत।

१९. फासओ परिणया जे उ अट्ठहा ते पकित्तिया।
कक्खडा मउया चेव गरुया लहुया तहा॥

२०. सीया उण्हा य निद्धा य य तहा लुक्खा व आहिया।
इइ फासपरिणया एए पुग्गला समुदाहिया॥

[१९-२०] जो पुद्‍गल स्पर्श से परिणत हैं, वे आठ प्रकार के कहे गए हैं—कर्कश, मृदु, गुरु और लघु (हलका); शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। इस प्रकार ये स्पर्श से परिणत पुद्‍गल कहे गए हैं।

२१. संठाणपरिणया जे उ पंचहा ते पकित्तिया।
परिमण्डला य वट्टा तंसा चउरंसमायया॥

[२१] जो पुद्‍गल संस्थान से परिणत हैं, वे पांच प्रकार के हैं—परिमण्डल, वृत्त, त्र्यस्र, त्रिकोण), चतुरस्र (चौकोर) और आयत (लम्बे)।

२२. वण्णओ जे भवे किण्हे भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[२२] जो पुद्‍गल वर्ण से कृष्ण है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य (—अनेक विकल्पों वाला) है।

२३. वण्णओ जे भवे नीले भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[२३] जो पुद्‍गल वर्ण से नील है, वह गन्ध से, रस से, स्पर्श से और संस्थान से भाज्य है।

२४. वण्णओ लोहिए जे उ भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[२४] जो पुद्‍गल वर्ण से रक्त है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२५. वण्णओ पीयए जे उ भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[२५] जो पुद्‍गल वर्ण से पीत है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२६. वण्णओ सुक्किले जे उ भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[२६] जो पुद्‍गल वर्ण से शुक्ल है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२७. गन्धओ जे भवे सुब्भी भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[२७] जो पुद्‍गल गन्ध से सुगन्धित है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२८. गन्धओ जे भवे दुब्भी भइए से उ वण्णओ।
रसओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[२८] जो पुद्‍गल गन्ध से दुर्गन्धित है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

२९. रसओ तित्तए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[२९] जो पुद्गल रस से तिक्त है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

३०. रसओ कडुए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[३०] जो पुद्गल रस से कटु है—वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

३१. रसओ कसाए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[३१] जो पुद्गल रस से कसैला है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

३२. रसओ अम्बिले जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[३२] जो पुद्गल रस से खट्टा है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

३३. रसओ महुरए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[३३] जो पुद्गल रस से मधुर है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और संस्थान से भाज्य है।

३४. फासओ कक्खडे जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[३४] जो पुद्गल स्पर्श से कर्कश है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

३५. फासओ मउए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[३५] जो पुद्गल स्पर्श से मृदु है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

३६. फासओ गुरुए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[३६] जो पुद्गल स्पर्श से गुरु है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

३७. फासओ लहुए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[३७] जो पुद्गल स्पर्श से लघु है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

३८. फासओ सीयए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए संठाणओ वि य ॥

[३८] जो पुद्गल स्पर्श से शीत है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

३९. फासओ उण्हए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[३९] जो पुद्गल स्पर्श से उष्ण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

४०. फासओ निद्धए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[४०] जो पुद्गल स्पर्श से स्निग्ध है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

४१. फासओ लुक्खए जे उ भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए संठाणओ वि य॥

[४१] जो पुद्गल स्पर्श से रूक्ष है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य है।

४२. परिमण्डलसंठाणे भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए फासओ वि य॥

[४२] जो पुद्गल संस्थान से परिमण्डल है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है।

४३. संठाणओ भवे वट्टे भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए फासओ वि य॥

[४३] जो पुद्गल संस्थान से वृत्त है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है।

४४. संठाणओ भवे तंसे भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए फासओ वि य॥

[४४] जो पुद्गल संस्थान से त्रिकोण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है।

४५. संठाणओ य चउरंसे भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए फासओ वि य॥

[४५] जो पुद्गल संस्थान से चतुष्कोण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है।

४६. जे आययसंठाणे भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव भइए फासओ वि य॥

[४६] जो पुद्गल संस्थान से आयत है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य है।

४७. एसा अजीवविभत्ती समासेण वियाहिया।
इत्तो जीवविभत्तिं वुच्छामि अणुपुव्वसो॥

[४७] यह संक्षेप से अजीवविभाग का निरूपण किया गया है। अब यहाँ से आगे जीव-विभाग का क्रमशः निरूपण करूँगा।

विवेचन—पुद्गल (रूपी अजीव) का लक्षण—तत्त्वार्थ० राजवार्तिक आदि के अनुसार पुद्गल में ४ लक्षण पाए जाते हैं—(१) भेद और संघात के अनुसार जो पूरण और गलन को प्राप्त हों, (२) पुरुष (-जीव) जिनको आहार, शरीर, विषय और इन्द्रिय-उपकरण आदि के रूप में निगलें, अर्थात्—ग्रहण करें, (३) जो गलन-पूरण-स्वभाव सहित हैं, वे पुद्गल हैं। गुणों की अपेक्षा से—(४) स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले जो हों वे पुद्गल होते हैं। पुद्गल के ये जो असाधारण धर्म (गुणात्मक लक्षण) हैं, इनमें संस्थान भी एक है।[1]

पुद्गल के भेद—पुद्गल के मूल दो भेद हैं—अणु (परमाणु) और स्कन्ध। स्कन्ध की अपेक्षा से देश और प्रदेश ये दो भेद और होते हैं। मूल पुद्गलद्रव्य परमाणु ही हैं। उसका दूसरा भाग नहीं होता, अतः वह निरंश होता है। दो परमाणुओं से मिल कर एकत्व-परिणतिरूप द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। इसी प्रकार त्रिप्रदेशी आदि से लेकर अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध तक होते हैं। पुद्गल के अनन्त-स्कन्ध हैं। परमाणु जब स्कन्ध से जुड़ा रहता है, तब उसे प्रदेश कहते हैं और जब वह स्कन्ध से पृथक् (अलग) रहता है, तब परमाणु कहलाता है। यह १० वीं, ११ वीं गाथा का आशय है।[2]

स्कन्धादि पुद्गल : द्रव्यादि की अपेक्षा से—स्कन्धादि **द्रव्य की अपेक्षा से** पूर्वोक्त ४ प्रकार के हैं। **क्षेत्र की अपेक्षा से**—लोक के एक देश से लेकर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं, **काल की अपेक्षा से**—प्रवाह को लेकर अनादि-अनन्त और प्रतिनियत क्षेत्रावस्थान की दृष्टि से सादि-सान्त, **स्थिति (पुद्गल द्रव्य की संस्थिति)**—जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्यात काल के बाद स्कन्ध आदि रूप से रहे हुए पुद्गल की संस्थिति में परिवर्तन हो जाता है। स्कन्ध बिखर जाता है, तथा परमाणु भी स्कन्ध में संलग्न होकर प्रदेश का रूप ले लेता है। **अन्तर** (पहले के अवगाहित क्षेत्र को छोड़ कर पुनः उसी विवक्षित क्षेत्र की अवस्थिति को प्राप्त होने में होने वाला व्यवधान (अन्तर) काल की अपेक्षा से—जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट अनन्त काल का पड़ता है।

परिणाम की अपेक्षा से—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से स्कन्ध आदि का परिणमन ५ प्रकार का है।[3]

संस्थान : प्रकार और उनका स्वरूप—संस्थान आकृति को कहते हैं। उसके दो रूप हैं—इत्थंस्थ और अनित्थंस्थ। जिसका परिमण्डल आदि कोई नियत संस्थान हो, वह इत्थंस्थ और जिसका कोई नियत संस्थान न हो, वह अनित्थंस्थ कहलाता है। इत्थंस्थ के ५ प्रकार—**(१) परिमण्डल**—

---

१. (क) भेदसंघाताभ्यां पूर्यन्ते गलन्ते चेति पूरणगलनात्मिकां क्रियामन्तर्भाव्य: पुद्गलशब्दोऽन्वर्थः।
(ख) पुमांसो जीवाः, तैः शरीराऽऽहारविषयकरणोपकरणादिभावेन गिल्यन्ते इति पुद्गलाः।
—राजवार्तिक ५।१।२४-२६
(ग) गलनपूरणस्वभावसनाथः पुद्गलः। —द्रव्यसंग्रहटीका १५।५०।१२
(घ) 'स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।' —तत्त्वार्थ. ५।२३

२. (क) 'अणवः स्कन्धाश्च।' तत्त्वार्थ. ५।२५ (ख) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) पृ. ४७६-४७७

३. (क) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) पृ. ४७७ (ख) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) पत्र ३३५-३३६

चूड़ी की तरह लम्बगोल, (२) वृत्त—गेंद की तरह गोल, (३) त्र्यस्त्र—त्रिकोण, (४) चतुरस्त्र—चतुष्कोण और (५) आयत—बांस या रस्सी की तरह लम्बा।[1]

पंचविध परिणाम की दृष्टि से समग्र भंग—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं संस्थान इन्द्रियग्राह्य भाव हैं। भाव का अर्थ यहाँ पर्याय है। पुद्गल द्रव्य रूपी होने से उसके इन्द्रियग्राह्य स्थूल पर्याय होते हैं, जबकि अरूपी द्रव्य के इन्द्रियग्राह्य स्थूल पर्याय (भाव) नहीं होते। जैन दर्शन में वर्ण पांच, गन्ध दो, रस पांच, स्पर्श आठ और संस्थान पांच प्रसिद्ध हैं। इन्हीं के विभिन्न पर्यायों के कुल ४८२ भंग होते हैं। वे इस प्रकार हैं—कृष्णादि वर्ण गन्ध आदि से भाज्य होते हैं, तब कृष्णादि प्रत्येक पांच वर्ण २० भेदों से गुणित होने पर वर्ण पर्याय के कुल १०० भंग हुए। इसी प्रकार सुगन्ध के २३ और दुर्गन्ध के २३, दोनों के मिल कर गन्ध पर्याय के ४६ भंग होते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक रस के वीस-वीस भेद मिला कर रसपंचक के संयोगी भंग १०० हुए। मृदु आदि प्रत्येक स्पर्श के १७-१७ भेद मिला कर आठ स्पर्श के १३६ भंग होते हैं। प्रत्येक संस्थान के २०-२० भेद मिला कर संस्थानपंचक के १०० संयोगी भंग होते हैं। इस प्रकार कुल १००+४६+१००+१३६+१००=४८२ भंग हुए। ये सब भंग स्थूल दृष्टि से गिने गए हैं। वास्तव में सिद्धान्ततः देखा जाए तो तारतम्य की दृष्टि से प्रत्येक के अनन्त भंग होते हैं।[2]

जीवनिरूपण

४८. संसारत्था य सिद्धा य दुविहा जीवा वियाहिया।
सिद्धाऽणेगविहा वुत्ता तं मे कित्तयओ सुण॥

[४८] जीव के (मूलतः) दो भेद कहे गए हैं—संसारस्थ और सिद्ध। सिद्ध अनेक प्रकार के हैं। (पहले) उनका वर्णन करता हूँ, उसे तुम सुनो।

विवेचन—जीव के लक्षण—(१) जो जीता है,—प्राण धारण करता है, वह जीव है, (२) जो चैतन्यवान् आत्मा है, वह जीव है, वह उपयोगलक्षित, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, देहप्रमाण, अमूर्त्त और कर्मसंयुक्त है। (३) जो दस प्राणों में से अपनी पर्यायानुसार गृहीत यथायोग्य प्राणों द्वारा जीता है, जीया था, व जीएगा, इस त्रैकालिक जीवन गुण वाले को *'जीव'* कहते हैं। (४) जीव का लक्षण चेतना या उपयोग है।[3]

---

१. उत्तरा. गुजराती भाषान्तर, पत्र ३३७

२. (क) उत्तरा, गुजराती भाषान्तर, पत्र ३३८ (ख) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) पृ. ४७७

३. (क) जीवति-प्राणान् धारयतीति जीवः।

(ख) जीवोत्ति हवदि चेदा, उवओग-विसेसिदो पहू कत्ता। भोत्ता य देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो।
—पंचास्तिकाय गा. २७

(ग) पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि, जो हि जीविदो पुव्वं। सो जीवो......। —प्रवचनसार १४६

(घ) 'तत्र चेतनालक्षणो जीवः।' सर्वार्थसिद्धि १।४।१४

(ङ) 'उपयोगो लक्षणम्।' —तत्त्वार्थ. २।८

इन लक्षणों में शब्दभेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं है। ये संसारस्थ जीव की मुख्यता से कहे गए हैं यद्यपि जीवों में सिद्ध भगवान् (मुक्त जीव) भी सम्मिलित हैं किन्तु सिद्धों में शरीर और दस प्राण नहीं हैं। तथापि भूतपूर्व गति न्याय से सिद्धों में जीवत्व कहना औपचारिक है। दूसरी तरह से—सिद्धों में ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य, ये ४ भावप्राण होने से उनमें भी जीवत्व घटित होता है।[1]

संसारस्थ और मुक्त सिद्ध : स्वरूप—जो प्राणी चतुर्गतिरूप या कर्मों के कारण जन्म-मरणरूप संसार में स्थित हैं, वे संसारी या संसारस्थ कहलाते हैं। जिनमें जन्म-मरण, कर्म, कर्मवीज (रागद्वेष), कर्मफलस्वरूप चार गति, शरीर आदि नहीं होते, मुक्त होकर सिद्ध गति में विराजते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।[2]

सिद्धजीव-निरूपण

४९. इत्थी पुरिससिद्धा य तहेव य नपुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य गिहिलिंगे तहेव य॥

[४९] कोई स्त्रीलिंगसिद्ध होते हैं, कोई पुरुषलिंगसिद्ध, कोई नपुंसकलिंगसिद्ध और कोई स्वलिंगसिद्ध, अन्यलिंगसिद्ध तथा गृहस्थलिंगसिद्ध होते हैं।

५०. उक्कोसोगाहणाए य जहन्नमज्झिमाइ य।
उड्ढं अहे य तिरियं च समुद्दम्मि जलम्मि य॥

[५०] उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम अवगाहना में तथा ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में अथवा तिर्यक्‌लोक में, एवं समुद्र अथवा अन्य जलाशय में (जीव सिद्ध होते हैं।)

५१. दस चेव नपुंसेसु वीसं इत्थियासु य।
पुरिसेसु य अट्ठसयं समएणेगेण सिज्झई॥

[५१] एक समय में (अधिक से अधिक) नपुंसकों में से दस, स्त्रियों में से वीस और पुरुषों में से एक सौ आठ जीव सिद्ध होते हैं।

५२. चत्तारि य गिहिलिंगे अन्नलिंगे दसेव य।
सलिंगेण य अट्ठसयं समएणेगेण सिज्झई॥

[५२] एक समय में चार गृहस्थलिंग से, दस अन्यलिंग से तथा एक सौ आठ जीव स्वलिंग से सिद्ध हो सकते हैं।

५३. उक्कोसोगाहणाए य सिज्झन्ते जुगवं दुवे।
चत्तारि जहन्नाए जवमज्झऽट्ठुत्तरं सयं॥

---

१. तथा सति सिद्धानामपि जीवत्वं सिद्धं जीवितपूर्वत्वात्। सम्प्रति न जीवन्ति सिद्धा, भूतपूर्वगत्या जीवत्वमेषामौपचारिकं, मुख्यं चेष्यते ? नैष दोषः, भावप्राणज्ञानदर्शनानुभवनात् साम्प्रतिकमपि जीवत्वमस्ति।
—राजवार्तिक १।४।७

२. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३३९

[५३] (एक समय में) उत्कृष्ट अवगाहना में दो, जघन्य अवगाहना में चार और मध्यम अवगाहना में एक सौ आठ जीव सिद्ध हो सकते हैं।

५४. चउरुड्ढलोए य दुवे समुद्दे तओ जले वीसमहे तहेव।
सयं च अट्ठुत्तर तिरियलोए समएणेगेण उ सिज्झई उ॥

[५४] एक समय में ऊर्ध्वलोक में चार, समुद्र में दो, जलाशय में तीन, अधोलोक में वीस एवं तिर्यक् लोक में एक सौ आठ जीव सिद्ध हो सकते हैं।

५५. कहिं पडिहया सिद्धा? कहिं सिद्धा पइट्ठिया?।
कहिं बोन्दि चइत्ताणं? कत्थ गन्तूण सिज्झई?॥

[५५] [प्र.] सिद्ध कहाँ रुकते हैं? कहाँ प्रतिष्ठित होते हैं? शरीर को कहाँ छोड़कर कहाँ जा कर सिद्ध होते हैं?

५६. अलोए पडिहया सिद्धा लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोन्दि चइत्ताणं तत्थ गन्तूण सिज्झई॥

[५६] [उ.] सिद्ध अलोक में रुक जाते हैं। लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हैं। मनुष्यलोक में शरीर को त्याग कर, लोक के अग्रभाग में जा कर सिद्ध होते हैं।

५७. बारसहिं जोयणेहिं सव्वट्ठस्सुवरिं भवे।
ईसीपब्भारनामा उ पुढवी छत्तसंठिया॥

५८. पणयालसयसहस्सा जोयणाणं तु आयया।
तावइयं चेव वित्थिण्णा तिगुणो तस्सेव परिरओ॥

५९. अट्ठजोयणबाहल्ला सा मज्झम्मि वियाहिया।
परिहायन्ती चरिमन्ते मच्छियपत्ता तणुयरी॥

[५७-५८-५९] सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर ईषत्-प्राग्भारा नामक पृथ्वी है; वह छत्राकार है। उसकी लम्बाई पैंतालीस लाख योजन की है, चौड़ाई भी उतनी ही है। उसकी परिधि उससे तिगुनी (अर्थात् १,४२,३०,२४९ योजन) है। मध्य में वह आठ योजन स्थूल (मोटी) है। फिर क्रमशः पतली होती-होती अन्तिम भाग में मक्खी के पंख से भी अधिक पतली हो जाती है।

६०. अज्जुणसुवण्णगमई सा पुढवी निम्मला सहावेणं।
उत्ताणगछत्तगसंठिया य भणिया जिणवरेहिं॥

[६०] जिनवरों ने कहा है—वह पृथ्वी अर्जुन—(अर्थात्—) श्वेतस्वर्णमयी है, स्वभाव से निर्मल है और उत्तान (उलटे) छत्र के आकार की है।

६१. संखंक-कुन्दसंकासा पण्डुरा निम्मला सुहा।
सीयाए जोयणे तत्तो लोयन्तो उ वियाहिओ॥

[६१] वह शंख, अंकरत्न और कुन्दपुष्प के समान श्वेत है, निर्मल और शुभ है। इस सीता नाम की ईषत्-प्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त कहा गया है।

६२. जोयणस्स उ जो तस्स कोसो उवरिमो भवे।
तस्स कोसस्स छब्भाए सिद्धाणोगाहणा भवे॥

[६२] उस योजन के ऊपर का जो कोस है; उस, कोस के छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना (अवस्थिति) होती है। (अर्थात्-३३३ धनुष्य ३२ अंगुल प्रमाण सिद्धस्थान है।)

६३. तत्थ सिद्धा महाभागा लोयग्गम्मि पइट्ठिया।
भवप्पवंचउम्मुक्का सिद्धिं वरगइं गया॥

[६३] भवप्रपंच से मुक्त, महाभाग एवं परमगति—'सिद्धि' को प्राप्त सिद्ध वहाँ—लोक के अग्रभाग (उक्त कोस के छठे भाग) में विराजमान हैं।

६४. उस्सेहो जस्स जो होइ भवम्मि चरिमम्मि उ।
तिभागहीणा तत्तो य सिद्धाणोगाहणा भवे॥

[६४] अन्तिम भव में जिसकी जितनी ऊँचाई होती है उससे त्रिभाग-न्यून सिद्धों की अवगाहना होती है। (अर्थात्-शरीर के अवयवों के अन्तराल की पूर्ति करने में तीसरा भाग न्यून होने से $\frac{2}{3}$ भाग की अवगाहना रह जाती है।)

६५. एगत्तेण साईया अपज्जवसिया वि य।
पुहुत्तेण अणाईया अपज्जवसिया वि य॥

[६५] एक (मुक्त जीव) की अपेक्षा से सिद्ध सादि-अनन्त है और वहुत-से (मुक्त जीवों) की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त हैं।

६६. अरूविणो जीवघणा नाणदंसणसन्निया।
अउलं सुहं संपत्ता उवमा जस्स नत्थि उ॥

[६४] वे अरूपी हैं, जीवघन (सघन) हैं, ज्ञानदर्शन से सम्पन्न हैं। जिसकी कोई उपमा नहीं है, ऐसा अतुल सुख उन्हें प्राप्त है।

६७. लोएगदेसे ते सव्वे नाणदंसणसन्निया।
संसारपारनित्थिन्ना सिद्धिं वरगइं गया॥

[६७] ज्ञान और दर्शन से युक्त, संसार के पार पहुँचे हुए, सिद्धि नामक श्रेष्ठगति को प्राप्त वे सभी सिद्ध लोक के एक देश में स्थित हैं।

विवेचन—सिद्ध—गाथा ४९ से ६७ तक में सिद्ध जीवों के प्रकार, एक समय में सिद्धत्व-प्राप्ति योग्य जीवों की गणना, तथा वे कब और कैसे सिद्धत्व प्राप्त करते हैं? कहाँ रहते हैं? वह भूमि कैसी है? इत्यादि तथ्यों का निरूपण किया गया है।

सिद्ध जीवों की स्थिति—यद्यपि सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने के पश्चात् सभी जीवों की स्थिति समान हो जाती है, उनकी आत्मा में कोई स्त्री-पुरुष-नपुंसकादि कृत अन्तर—उपाधिजनित भेद नहीं रहता, फिर भी भूतपूर्व पर्याय (अवस्था) की दृष्टि से यहाँ उनके अनेक भेद किए गए हैं। उपलक्षण से यह तथ्य त्रैकालिक समझना चाहिए, अर्थात्—सिद्ध होते हैं, सिद्ध होंगे और सिद्ध हुए हैं।[1]

लिंगदृष्टि से सिद्धों के प्रकार—प्रस्तुत में लिंग की दृष्टि से ६ प्रकार बताए गए हैं—(१) स्त्रीलिंग (स्त्रीपर्याय से) सिद्ध, पुरुषलिंग (पुरुषपर्याय से) सिद्ध. (३) नपुंसकलिंग (नपुंसकपर्याय से) सिद्ध, (४) स्वलिंग (स्वतीर्थिक अनगार के वेष से) सिद्ध, (५) अन्यलिंग (अन्यतीर्थिक साधु वेष से) सिद्ध और (६) गृहिलिंग (गृहस्थ वेष से) सिद्ध। इनमें से पहले तीन प्रकार लिंग (पर्याय) की अपेक्षा से तथा पिछले तीन प्रकार वेष की अपेक्षा से हैं।[2]

सिद्धों के अन्य प्रकार—उपर्युक्त ६ प्रकारों के अतिरिक्त तीर्थादि की अपेक्षा से सिद्धों के ९ प्रकार और होते हैं, जिन्हें गाथा (सं. ४९) में प्रयुक्त 'च' शब्द से समझ लेना चाहिए। यथा—**तीर्थ की अपेक्षा से ४ भेद**—(७) तीर्थसिद्ध, (८) अतीर्थसिद्ध—तीर्थस्थापना से पहले या तीर्थविच्छेद के पश्चात् सिद्ध, (९) तीर्थंकर सिद्ध (तीर्थंकर रूप में सिद्ध) और (१०) अतीर्थंकर (रूप में) सिद्ध। **बोधि की अपेक्षा से तीन भेद**—(११) स्वयंबुद्धसिद्ध, (१२) प्रत्येकबुद्धसिद्ध और (१३) बुद्धबोधित सिद्ध। **संख्या की अपेक्षा सिद्ध के दो भेद**—(१४) एक सिद्ध (एक समय में एक जीव सिद्ध होता है, वह), तथा (१५) अनेक सिद्ध—(एक समय में अनेक जीव उत्कृष्टतः १०८ सिद्ध होते हैं, वे)।

सिद्धों के पूर्वोक्त ६ प्रकार और ये ९ प्रकार मिलाकर कुल १५ प्रकार के सिद्धों का उल्लेख नन्दीसूत्र, औपपातिक आदि शास्त्रों में है।[3]

अवगाहना की अपेक्षा से सिद्ध—तीन प्रकार के हैं—(१) उत्कृष्ट (पांच सौ धनुप परिमित) अवगाहना वाले, (२) जघन्य (दो हाथ प्रमाण) अवगाहना वाले और (३) मध्यम (दो हाथ से अधिक और पांच सौ धनुष से कम) अवगाहना वाले सिद्ध। अवगाहना शरीर की ऊँचाई को कहते हैं।[4]

क्षेत्र की अपेक्षा से सिद्ध—पांच प्रकार के होते हैं—(१) ऊर्ध्वदिशा (१४ रज्जुप्रमाण लोक में से मेरु पर्वत की चूलिका आदि रूप सात रज्जु से कुछ कम यानी ९०० योजन ऊँचाई वाले ऊर्ध्वलोक) में होने वाले सिद्ध, (२) अधोदिशा (कुबड़ीविजय के अधोग्राम रूप अधोलोक में, अर्थात्—७ रज्जु से कुछ अधिक यानी ९०० योजन से कुछ अधिक लम्बाई वाले अधोलोक से होने वाले सिद्ध और (३) तिर्यक्दिशा—अढाई द्वीप और दो समुद्ररूप तिरछे एवं १८०० योजन प्रमाण लम्बे तिर्यक्-लोक—मनुष्यक्षेत्र से होने वाले सिद्ध। (४) समुद्र में से होने वाले सिद्ध और (५) नदी आदि में से होने वाले सिद्ध।

---

१. (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३४०
(ख) उत्तरा. (टिप्पण मुनि नथमलजी) पृ. ३१७-३१८

२. (क) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा. २, पत्र ३४०
(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनी टीका, भा. ४, पृ. ७४१-७९३

३. (क) उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा, २, पत्र ३४०
(ख) नन्दीसूत्र सू. २१ में सिद्धों के १५ प्रकार देखिये।

४. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३४०

साधारणतया जीव तिर्यक्लोक से सिद्ध होते हैं, परन्तु कभी-कभी मेरुपर्वत की चूलिका पर से भी सिद्ध होते हैं। मेरुपर्वत की ऊँचाई १ लाख योजन परिमाण है। अतः इस ऊर्ध्वलोक की सीमा से मुक्त होने वाले जीवों का सिद्धक्षेत्र ऊर्ध्वलोक ही होता है। सामान्यतया अधलोक से मुक्ति नहीं होती, परन्तु महाविदेह क्षेत्र की दो विजय, मेरु के रुचकप्रदेशों से एक हजार योजन नीचे तक चली जाती हैं, जबकि तिर्यक्लोक की कुल सीमा ९०० योजन है, अतः उससे आगे अधोलोक की सीमा आ जाती है, जिसमें १०० योजन की भूमि में जीव मुक्त होते हैं।[१]

लिंग, अवगाहना एवं क्षेत्र की दृष्टि से सिद्धों की संख्या—गाथा ५१ से ५४ तक के अनुसार एक समय में नपुंसक दस, स्त्रियाँ २० और पुरुष १०८ तक सिद्ध हो सकते हैं। एक समय में गृहस्थलिंग में ४, अन्यलिंग में १० तथा स्वलिंग में १०८ जीव सिद्ध हो सकते हैं। एक समय में उत्कृष्ट अवगाहना में २, मध्यम अवगाहना में १०८ और जघन्य अवगाहना में ४ सिद्ध हो सकते हैं। एक समय में ऊर्ध्वलोक में ४, अधोलोक में २०, तिर्यक्लोक में १०८, समुद्र में २ और जलाशय में ३ जीव सिद्ध हो सकते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्ट बताया गया है कि क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व, इन आधारों पर सिद्धों की विशेषताओं का विचार किया जाता है।[२]

ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी—औपपातिक सूत्र में सिद्धशिला के बताए हुए १२ नामों में से यह दूसरा नाम है।[३]

सिद्धों की अवस्थिति—मुक्त जीव समग्र लोक में व्याप्त होते हैं, इस मत का निराकरण करने के लिए कहा गया है—**लोएगदेसे ते सव्वे**—अर्थात्—सर्व सिद्धों की आत्माएँ लोक के एक देश में (परिमित क्षेत्र) में अवस्थित होती हैं। पूर्वावस्था में ५०० धनुष की उत्कृष्ट अवगाहना वाले जीवों की आत्मा ३३३ धनुप १ हाथ ८ अंगुल परिमित क्षेत्र में, मध्यम अवगाहना (दो हाथ से अधिक और ५०० धनुप से कम अवगाहना वाले जीवों की आत्मा अपने अन्तिम शरीर की अवगाहना से त्रिभागहीन क्षेत्र में अवस्थित होती है, तथा पूर्वावस्था में जघन्य (२ हाथ की) अवगाहना वाले जीवों की आत्मा १ हाथ ८ अंगुल परिमित क्षेत्र में अवस्थित होती है। शरीर न होने पर भी सिद्धों की अवगाहना होती है, क्योंकि अरूपी आत्मा भी द्रव्य होने से अपनी अमूर्त्त आकृति तो रखता ही है। द्रव्य आकृतिशून्य कदापि नहीं होता। सिद्धों की आत्मा आकाश के जितने प्रदेश-क्षेत्रों का अवगाहन करता है, इस अपेक्षा से सिद्धों की अवगाहना है।[४]

---

१. (क) वही, गुजराती भाषान्तर भा. २, पत्र ३४०
(ख) उत्तरा. बृहद्वृत्ति, पत्र ६८३
(ग) उत्तरा. टिप्पण (मुनि नथमलजी) पृ. ३१८

२. (क) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर, भा. २, पत्र ३४१
(ख) "क्षेत्र-काल-गति-लिंग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्धबोधित-ज्ञानावगाहनान्तर-संख्याऽल्पबहुत्वतः साध्याः।"
—तत्त्वार्थ. १०।७

३. औपपातिकसूत्र, सू. ४६

४. उत्तरा. टिप्पण (मुनि नथमलजी) पृ. ३१९

सिद्ध : ज्ञानदर्शन रूप—सिद्ध ज्ञान-दर्शन की ही संज्ञा वाले हैं, अर्थात्—ज्ञान और दर्शन के उपयोग बिना उनका दूसरा कोई स्वरूप नहीं है। इस कथन से जो नैयायिक मुक्ति में ज्ञान का नाश मानते हैं, उनके मत का खण्डन किया गया।[1]

सिद्ध : संसार-पार-निस्तीर्ण—'संसार के पार पहुँचे हुए' कहने से जो दार्शनिक 'मुक्ति में जाकर धर्म-तीर्थ के उच्छेद के समय मुक्तों का पुनः संसार में आगमन मानते हैं, उनके मत का निराकरण हो गया।[2]

इह बोंदिं चइत्ताणं—यहाँ पृथ्वी पर शरीर को छोड़ कर वहाँ लोकाग्र में स्थित होते हैं। इसका अभिप्राय इतना ही है कि गतिकाल का सिर्फ एक समय है। अतः पूर्वापरकाल की स्थिति असंभव होने से जिस समय भवक्षय होता है, उसी समय में लोकाग्र तक गति और मोक्ष-स्थिति हो जाती है। निश्चय दृष्टि से तो भवक्षय होते ही यहीं सिद्धत्व भाव प्राप्त हो जाता है।

सिद्धिं वरगइं गया—"(मुक्त) जीव सिद्ध नाम की श्रेष्ठगति में पहुँच गए।" इस कथन से यह बताया गया है कि कर्म का क्षय होने पर भी उत्पत्ति समय में स्वाभाविक रूप से लोक के अग्रभाग तक सिद्ध जीव गमन करता है, अर्थात् वहाँ तक सिद्ध जीव गतिक्रिया सहित भी है। सिद्ध लोकाग्र में स्थित हैं, इसका आशय यही है कि उनकी ऊर्ध्वगमनरूप गति वहीं तक है। आगे अलोक में गति-हेतुक धर्मास्तिकाय का अभाव होने से गति नहीं है।[3]

संसारस्थ जीव

६८. संसारत्था उ जे जीवा दुविहा ते वियाहिया।
तसा य थावरा चेव थावरा तिविहा तहिं॥

[६८] जो संसारस्थ (संसारी) जीव हैं, उनके दो भेद हैं—त्रस और स्थावर। उनमें से स्थावर जीव तीन प्रकार के हैं।

विवेचन—त्रस और स्थावर—(१) त्रस का लक्षण—अपनी रक्षार्थ स्वयं चलने-फिरने की शक्ति वाले जीव, या त्रस्त—भयभीत होकर गति करने वाले या त्रस नामकर्म के उदय वाले जीव।[4]

स्थावर—स्थावर नामकर्म के उदय वाले या एकेन्द्रिय जीव। एकेन्द्रिय को स्थावर जीव इसलिए कहा है कि वह एक मात्र स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा ही जानता, देखता, खाता है, सेवन करता और उसका स्वामित्व करता है। स्थावर नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई विशेषता के कारण पृथ्वीकायिक

---

१. उत्तरा. गुजराती भाषान्तर, भा. २, पत्र ३४३-३४४
२. वही, पत्र ३४४
३. (क) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) पृ. ४७८
 (ख) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर, भा. २, पत्र ३४४
४. (क) जैनेन्द्र सिद्धान्तकोष, भा. २, पृ. ३९७
 (ख) त्रस्यन्ति उद्विजन्ति इति त्रसाः। —राजवार्तिक २।१२।२
 (ग) 'यदुदयाद् द्वीन्द्रियादिषु जन्म तत् त्रसनाम।' —सर्वार्थसिद्धि ८।११।३९१
 (घ) जस्स कम्मस्सुदएण जीवाणं संचरणासंचरणभावो होदि तं कम्मं तसणामं। —धवला १३।५, ५।१०१

आदि पांचों ही स्थावर कहलाते हैं।[1]

प्रस्तुत गाथा में वायुकाय और अग्निकाय को गतित्रस में परिगणित करने के कारण स्थावर जीवों के तीन भेद बताए हैं। स्थावरनामकर्म का उदय होने से वस्तुत: वे स्थावर हैं। उनको एक स्पर्शनेन्द्रिय ही प्राप्त है।

स्थावर जीव और पृथ्वीकाय का निरूपण

६९. पुढवी आउजीवा य तहेव य वणस्सई।
इच्चेए थावरा तिविहा तेसिं भेए सुणेह मे॥

[६९] पृथ्वी, जल और वनस्पति, ये तीन प्रकार के स्थावर हैं। अब उनके भेदों को मुझसे सुनो।

७०. दुविहा पुढवीजीवा उ सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता एवमेए दुहा पुणो॥

[७०] पृथ्वीकाय जीव के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। पुन: दोनों के दो-दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।

७१. बायरा जे उ पज्जत्ता दुविहा ते वियाहिया।
सण्हा खरा य बोद्धव्वा सण्हा सत्तविहा तहिं॥

[७१] बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय भी दो प्रकार के कहे गए हैं—श्लक्षण (मृदु) और खर (कठोर)। इनमें से मृदु के सात भेद हैं, यथा—

७२. किण्हा नीला य रुहिरा य हालिद्दा सुक्किला तहा।
पण्डु-पणगमट्टिया खरा छत्तीसईविहा॥

[७२] कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत, पाण्डु (भूरी) मिट्टी और पनक (अत्यन्त सूक्ष्म रज)। खर (कठोर) पृथ्वी के छत्तीस प्रकार हैं—

७३. पुढवी य सक्करा बालुया य उवले सिला य लोणूसे।
अय-तम्ब-तउय—सीसग-रुप्प-सुवण्णे य वइरे य॥

७४. हरियाले हिंगुलुए मणोसिला सासगंजण-पवाले।
अब्भपडलऽब्भवालुय बायरकाए मणिविहाणा॥

---

१. (क) 'स्थावरनामकर्मोदयवशवर्तिन: स्थावरा:। —सर्वार्थसिद्धि २।१२।१७१
(ख) जाणदि पस्सदि भुंजदि सेवदि पस्सिदिएण एक्केण।
कुणदि य तस्सामित्तं थावरु एकेंदिओ तेण॥ —धवला १।१,१।३३।१३५
(ग) एते पंचापि स्थावरा:, स्थावरनामकर्मोदयजनितविशेषत्वात्। —वही, गा. २६५
(घ) तिष्ठन्तीत्येवं शीला: स्थावरा:। —राजवार्तिक २।१२।१२७

७५. गोमेज्जए य रुयगे अंके फलिहे य लोहियक्खे य ।
मरगय-मसारगल्ले भुयमोयग-इन्दनीले य ॥

७६. चन्दण-गेरुय-हंसगब्भ-पुलए सोगन्धिए य बोद्धव्वे ।
चन्दप्पह-वेरुलिए जलकन्ते सूरकन्ते य ॥

[७३ से ७६] शुद्ध पृथ्वी, शर्करा (कंकड़ वाली), वालू, उपल (पत्थर), शिला (चट्टान), लवण, ऊष (क्षाररूप नौनी मिट्टी), लोहा, ताम्बा, त्रपु (रांगा), शीशा, चांदी, सोना और वज्र (हीरा), हरिताल, हिंगुल (हींगलू), मैनसिल, सस्यक (या सासक धातुविशेष), अंजन, प्रवाल (मूंगा), अभ्रपटल (अभ्रक) अभ्रवालुक (अभ्रक की परतों से मिश्रित वालू और ये निम्नोक्त) विविध मणियाँ भी वादर पृथ्वीकाय में हैं—

गोमेदक, रुचक, लोहिताक्ष, मरकत, मसारगल्ल, भुजमोचक और इन्द्रनील (मणि), चन्दन, गेरुक, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त और सूर्यकान्त ।

७७. एए खरपुढवीए भेया छत्तीसमाहिया ।
एगविहमणाणत्ता सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥

[७७] ये कठोर (खर) पृथ्वीकाय के छत्तीस भेद हैं ।

सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीव एक ही प्रकार के हैं । अतः वे अनाना हैं—भेदों से रहित हैं ।

७८. सुहुमा सव्वलोगम्मि लोगदेसे य वायरा ।
इत्तो कालविभागं तु तेसिं वुच्छं चउव्विहं ॥

[७८] सूक्ष्म पृथ्वीकाय के जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं और वादर पृथ्वीकाय के जीव लोक के एक देश (भाग) में हैं ।

अव चार प्रकार से पृथ्वीकायिक जीवों के कालविभाग का कथन करूँगा ।

७९. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥

[७९] पृथ्वीकायिक जीव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं ।

८०. बावीससहस्साइं वासाणुक्कोसिया भवे ।
आउठिई पुढवीणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

[८०] पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति बाईस हजार वर्ष की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है ।

८१. असंखकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
कायठिई पुढवीणं तं कायं तु अमुंचओ ॥

[८१] पृथ्वीकायिक जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यात काल (असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल) की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। पृथ्वीकाय को न छोड़ कर लगातार पृथ्वीकाय में ही उत्पन्न होते रहना पृथ्वीकायिकों की कायस्थिति कहलाती है।

८२. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए पुढवीजीवाण अन्तरं॥

[८२] पृथ्वीकाय को एक वार छोड़ कर (दूसरे-दूसरे कायों में उत्पन्न होते रहने के पश्चात्) पुनः पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने के वीच का अन्तर-(काल) जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल है।

८३. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वा वि विहाणाइं सहस्ससो॥

[८३] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा (—आदेश) से इन (पृथ्वीकायिकों) के हजारों भेद होते हैं।

विवेचन—पृथ्वीकाय : स्वरूप और भेद-प्रभेद आदि—काठिन्यादिरूपा पृथ्वी ही जिसका शरीर है, उसे पृथ्वीकाय कहते हैं। पृथ्वी में जीव है, इसीलिए यहाँ **'पुढवीजीवा'** कहा गया है। यह देखा गया है कि लवण, या चट्टान आदि खोद कर निकाल लेने के वाद खाली जगह को कचरा आदि से भर देने पर कालान्तर में वहाँ लवण की परतें या चट्टानें वन जाती हैं। इसलिए पृथ्वी में सजीवता अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से सिद्ध है। पृथ्वीकाय जीवों के दो भेद—सूक्ष्म और वादर। फिर दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त दो-दो भेद। वादरपर्याप्त पृथ्वीकाय के दो भेद—मृदु और कठोर। मृदु के सात और कठोर के छत्तीस भेद कहे गए हैं।[1]

पर्याप्त-अपर्याप्त—जिस कर्मदलिक से आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनःपर्याप्ति की उत्पत्ति होती है, वह कर्मदलिक पर्याप्ति कहलाता है। यह कर्मदलिक जिसके उदय में होता है, वे पर्याप्त जीव हैं, अपनी योग्य पर्याप्ति से जो रहित हैं, वे अपर्याप्त जीव हैं।[2]

श्लक्ष्ण एवं खर : विशेषार्थ—चूर्णित लोष्ट के समान जो मृदु पृथ्वी है, वह श्लक्ष्ण और पापाण जैसी कठोर पृथ्वी खर कहलाती है। ऐसे शरीर वाले जीव भी उपचार से क्रमशः श्लक्ष्ण और खर पृथ्वीकायिक जीव कहलाते हैं।[3]

---

१. (क) पृथिव्येव कायो येषां ते पृथ्वीकायिनः। पृथिवी काठिन्यादिलक्षणा प्रतीता, सैव कायः शरीरं येषां ते पृथिवीकायाः।' —प्रज्ञापना पद १ वृत्ति।
(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनी टीका भा. ४, पृ ८२४।

२. वही, प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ८२५

३. '......श्लक्ष्णा चूर्णितलोष्टकल्पा मृदुः पृथिवी, तदात्मका जीवा अप्युपचारात् श्लक्ष्णा उच्यन्ते।' पापाणकल्पा कठिना पृथ्वी खरा, तदात्मका जीवा अप्युपचारात् खरा उच्यन्ते।' —वही, भा. ४, पृ. ८२७

अप्काय–निरूपण

८४. दुविहा आउजीवा उ सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता एवमेए दुहा पुणो ॥

[८४] अप्काय के जीवों के दो भेद हैं—सूक्ष्म तथा बादर। पुनः दोनों के दो-दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त।

८५. बायरा जे उ पज्जत्ता पंचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदए य उस्से हरतणू महिया हिमे ॥

[८५] जो बादर-पर्याप्त अप्काय के जीव हैं, वे पांच प्रकार के कहे गए हैं—(१) शुद्धोदक, (२) ओस (अवश्याय) (३) हरतनु (गीली भूमि से निकला वह जल जो प्रातःकाल तृणाग्र पर बिन्दुरूप में दिखाई देता है।), (४) महिका-(कुहासा—धुम्मस) और (५) हिम (बर्फ)।

८६. एगविहमणाणत्ता सुहुमा तत्थ वियाहिया।
सुहुमा सव्वलोगम्मि लोगदेसे य बायरा ॥

[८६] उनमें से सूक्ष्म अप्काय के जीव एक ही प्रकार के हैं, उनके नाना भेद नहीं है। सूक्ष्म अप्काय के जीव समग्र लोक में और बादर अप्कायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं।

८७. सन्तइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥

[८७] अप्कायिक जीव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

८८. सत्तेव सहस्साइं वासाणुक्कोसिया भवे।
आउट्ठिई आऊणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

[८८] अप्कायिक जीवों की आयु-स्थिति उत्कृष्ट सात हजार वर्ष की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है।

८९. असंखकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया।
कायट्ठिई आऊणं तं कायं तु अमुंचओ ॥

[८९] अप्कायिक जीवों की कायस्थिति उत्कृष्ट असंख्यात काल (असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी) की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। अप्काय को नहीं छोड़ कर लगातार अप्काय में ही उत्पन्न होना, कायस्थिति है।

९०. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए आऊजीवाण अन्तरं ॥

[९०] अप्काय को छोड़ कर पुनः अप्काय में उत्पन्न होने का अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

९१. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रस-फासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ॥

[९१] इन अप्कायिकों के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद होते हैं।

विवेचन—अप्काय—जिनका अप् यानी जल ही काय—शरीर है, वे अप्काय या अप्कायिक कहलाते हैं। अप्काय के आश्रित छोटे-छोटे अन्य जीव सूक्ष्म दर्शकयंत्र से देखे जा सकते हैं। किन्तु अप्-काय के जीव अनुमान आगम आदि प्रमाणों से सिद्ध हैं। अप्काय के मुख्य दो भेद—सूक्ष्म और बादर। पुनः दोनों के दो-दो भेद—पर्याप्त और अपर्याप्त। बादर पर्याप्त अप्काय के शुद्धोदक आदि ५ भेद हैं।

भेदों में अन्तर—उत्तराध्ययन में बादर पर्याप्त अप्काय के ५ भेद बतलाए गए हैं, जबकि प्रज्ञापना में इसी के अवश्याय से लेकर रसोदक तक १७ भेद बताए हैं। यह अन्तर सिर्फ विवक्षाभेद से हैं।[1]

वनस्पतिकाय-निरूपण

९२. दुविहा वणस्सईजीवा सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता एवमेए दुहा पुणो ॥

[९२] वनस्पतिकायिक जीवों के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। दोनों के पुनः पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो-दो भेद हैं।

९३. बायरा जे उ पज्जत्ता दुविहा ते वियाहिया।
साहारणसरीरा य पत्तेगा य तहेव य ॥

[९३] जो बादर पर्याप्त वनस्पतिकाय-जीव हैं, वे दो प्रकार के बताए गए हैं—साधारण-शरीर और प्रत्येकशरीर।

९४. पत्तेगसरीरा उ णेगहा ते पकित्तिया।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य लया वल्ली तणा तहा ॥

[९४] प्रत्येकशरीर वनस्पतिकाय अनेक प्रकार के कहे गए हैं (यथा-) वृक्ष, गुच्छ (बेंगन आदि), गुल्म (नवमालिका आदि), लता (चम्पकलता आदि), वल्ली (भूमि पर फैलने वाली ककड़ी आदि की बेल) और तृण (दूब आदि)।

९५. लयावलय पव्वगा कुहुणा जलरुहा ओसही-तिणा।
हरियकाया य बोद्धव्वा पत्तेया इति आहियां ॥

[९५] लता-वलय (केला आदि), पर्वज (ईख आदि), कुहण (भूमिस्फोट, कुक्कुरमुत्ता आदि), जलरुह (कमल आदि), ओषधि (जौ, चना, गेहूँ आदि धान्य), तृण और हरितकाय (सभी प्रकार की हरी वनस्पति), ये सभी प्रत्येकशरीरी कहे गए हैं, ऐसा जानना चाहिए।

---

१. (क) प्रज्ञापना पद १ वृत्ति, (ख) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर, भा. २, पत्र ३४७

९६. साहारणसरीरा उ णगहा ते पकित्तिया ।
आलुए मूलए चेव सिंगबेरे तहेव य ॥

[९६] साधारणशरीरी वनस्पतिकाय के जीव अनेक प्रकार के हैं—आलु, मूल (मूली आदि), शृंगबेर (अदरक)—

९७. हिरिली सिरिली सिस्सिरिली जावई केय-कन्दली ।
पलंडू-लसणकन्दे य कन्दली य कुडुंबए ॥

९८. लोहि णीहू य थिहू य कुहगा य तहेव य ।
कण्हे य वज्जकन्दे य कन्दे सूरणए तहा ॥

९९. अस्सकण्णी य बोद्धव्वा सीहकण्णी तहेव य ।
मुसुण्ढी य हलिद्दा यऽणेगहा एवमायओ ॥

[९७-९८-९९] हिरिलीकन्द, सिरिलीकन्द, सिस्सिरिलीकन्द, जावईकन्द, केद-कदलीकन्द, पलाण्डु (प्याज), लहसुन, कन्दली, कुस्तुम्बक ।

लोही, स्निहू, कुहक, कृष्ण वज्रकन्द और सूरणकन्द, अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुंडी तथा हरिद्रा (हल्दी) इत्यादि—अनेक प्रकार के जमीकन्द हैं ।

१००. एगविहमणाणत्ता सुहुमा तत्थ वियाहिया ।
सुहुमा सव्वलोगम्मि लोगदेसे य बायरा ॥

[१००] सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव एक ही प्रकार के हैं, उनके अनेक भेद नहीं हैं । सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव समग्र लोक में और बादर वनस्पतिकाय के जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं ।

१०१. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥

[१०१] वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं ।

१०२. दस चेव सहस्साइं वासाणुक्कोसिया भवे ।
वणप्फईण आउं तु अन्तोमुहुत्तं जहन्नगं ॥

[१०२] वनस्पतिकायिक जीवों की (एक भव की) आयु-स्थिति उत्कृष्ट दस हजार वर्ष की और जघन्य अन्तर्मूहूर्त्त की है ।

१०३. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
कायठिई पणगाणं तं कायं तु अमुंचओ ॥

[१०३] वनस्पतिकाय की कायस्थिति उत्कृष्ट अनन्तकाल की और जघन्य अन्तर्मूहूर्त्त की है । वनस्पतिकाय को न छोड़ कर लगातार वनस्पति (पनकोपलक्षित) काय में ही पैदा होते रहना कायस्थिति है ।

१०४. असंखकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढंमि सए काए पणगजीवाणं अन्तरं ।।

[१०४] वनस्पतिकायिक पनक जीवों का स्व-काय (वनस्पति-शरीर) को छोड़ कर पुनः वनस्पति-शरीर में उत्पन्न होने में जो अन्तर होता है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट असंख्यात काल का है ।

१०५. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ।।

[१०५] इन वनस्पतिकायिक (-जीवों) के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद हैं ।

१०६. इच्चेए थावरा तिविहा समासेण वियाहिया ।
इत्तो उ तसे तिविहे वुच्छामि अणुपुव्वसो ।।

[१०६] इस प्रकार संक्षेप से इन तीन प्रकार के स्थावर जीवों का निरूपण किया गया है । अब यहाँ से आगे क्रमशः तीन प्रकार के त्रस जीवों का निरूपण करूंगा ।

विवेचन—वनस्पति में जीव है—पुरुष के अंगों की तरह छेदने से उनमें म्लानता देखी जाती है, कुछ वनस्पतियों में नारी-पदाघात आदि से विकार होता है, इसलिए भी वनस्पति में जीव है ।*

वनस्पति ही जिसका शरीर है, ऐसा जीव, वनस्पतिकाय या वनस्पतिकायिक कहलाता है । इसके मुख्यतः दो रूप हैं—साधारणशरीर और प्रत्येकशरीर । जिन अनन्त जीवों का एक ही शरीर होता है, यहाँ तक कि आहार और श्वासोच्छ्वास भी समान ही होता है, वे साधारणवनस्पति जीव हैं और जिन वनस्पति जीवों का अपना अलग-अलग शरीर होता है, वे प्रत्येकवनस्पति जीव हैं । साधारण शरीर वाले वनस्पति जीव एक शरीर के आश्रित अनन्त रहते हैं, प्रत्येकजीव में एक शरीर के आश्रित एक ही जीव रहता है ।[1]

गुच्छ और गुल्म में अन्तर—गुच्छ वह होता है, जिसमें पत्तियाँ या केवल पतली टहनियाँ फैली हों, वह पौधा । जैसे—बैंगन, तुलसी आदि । तथा गुल्म वह है, जो एक जड़ से कई तनों के रूप में निकले, वह पौधा । जैसे—कटसरैया, कैर आदि ।

लता और वल्ली में अन्तर—लता किसी बड़े पेड़ पर लिपट कर ऊपर को फैलती है, जबकि वल्ली भूमि पर ही फैल कर रह जाती है । जैसे—माधवी, अतिमुक्तक लता आदि, ककड़ी, खरबूजा आदि की बेल (वल्ली) ।[2]

ओषधितृण—अर्थात् एक फसल वाला पौधा । जैसे गेहूँ, जौ आदि ।[3]

'पनक' का अर्थ—इसका सामान्य अर्थ सेवाल, या जल पर की काई है ।

---

* स्याद्वादमंजरी २९।३३०।१०

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ८४३

२. उत्तरा. (टिप्पण) (मुनि नथमल जी), पृ. ३२६

३. वही, पृ. ३३६

त्रसकाय के तीन भेद

१०७. तेऊ वाऊ य बोद्धव्वा उराला य तसा तहा ।
इच्चेए तसा तिविहा तेसिं भेए सुणेह मे ॥

[१०७] तेजस्काय (अग्निकाय), वायुकाय और उदार (एकेन्द्रिय त्रसों की अपेक्षा स्थूल द्वीन्द्रिय आदि) त्रस—ये तीन त्रसकाय के भेद हैं। उनके भेदों को मुझ से सुनो।

विवेचन तेजस्काय एवं वायुकाय : स्थावर या त्रस ?—आगमों में कई जगह तेजस्काय और वायुकाय को पांच स्थावर रूप एकेन्द्रिय जीवों में बताया है, जब कि यहाँ तथा तत्त्वार्थसूत्र में इन दोनों को त्रस में परिगणित किया है, इस अन्तर का क्या कारण है ? पंचास्तिकाय में इसका समाधान करते हुए कहा गया है—पृथ्वी, अप् और वनस्पति, ये तीन तो स्थिरयोगसम्बन्ध के कारण स्थावर कहे जाते हैं, किन्तु अग्निकाय और वायुकाय उन पांच स्थावरों में ऐसे हैं, जिनमें चलनक्रिया देख कर व्यवहार से उन्हें त्रस कह दिया जाता है। त्रस दो प्रकार के हैं—लब्धित्रस और गतित्रस। त्रसनामकर्म के उदय वाले लब्धित्रस कहलाते हैं। किन्तु स्थावर नामकर्म का उदय होने पर भी त्रस जैसी गति होने के कारण जो त्रस कहलाते हैं वे गतित्रस कहलाते हैं। तेजस्कायिक और वायुकायिक उपचारमात्र से त्रस हैं।[1]

अग्निकाय की सजीवता—पुरुष के अंगों की तरह आहार आदि के ग्रहण करने से उसमें वृद्धि होती है, इसलिए अग्नि में जीव है।

वायुकाय की सजीवता—वायु में भी जीव है, क्योंकि वह गाय की तरह दूसरे से प्रेरित हुए विना ही गमन करती है।[2]

तेजस्काय-निरूपण

१०८ दुविहा तेउजीवा उ सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता एवमेए दुहा पुणो ॥

[१०८] तेजस् (अग्नि) काय के जीवों के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। पुनः इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त, ये दो-दो भेद हैं।

१०९. बायरा जे उ पज्जत्ता णेगहा ते वियाहिया ।
इंगाले मुम्मुरे अगणी अच्चि जाला तहेव य ॥

---

१. (क) पंचास्तिकाय मूल, ता. वृत्ति, १११ गा.
(ख) 'पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः' तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः। —तत्त्वार्थसूत्र २।१३-१४
(ग) तत्त्वार्थसूत्र (पं. सुखलाल जी) पृ. ५५

२. (क) तेजोऽपि सात्मकम्, आहारोपादानेन वृद्ध्यादिविकारोपलम्भात् पुरुषांगवत्।
(ख) 'वायुरपि सात्मकः अपरप्रेरितत्वे तिर्यग्गतिमत्त्वाद् गोवत्।' —स्याद्वादमंजरी २१।३३०।१०

[१०९] जो बादर पर्याप्त तेजस्काय हैं, वे अनेक प्रकार के कहे गए हैं। जैसे—अंगार, मुर्मु र (भस्ममिश्रित अग्निकण), अग्नि, अर्चि (—दीपशिखा आदि) ज्वाला और—

११०. उक्का विज्जू य बोद्धव्वा णेगहा एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता सुहुमा ते वियाहिया॥

[११०] उल्का, विद्युत् इत्यादि। सूक्ष्म तेजस्काय के जीव एक ही प्रकार के हैं; उनके नाना प्रकार नहीं हैं।

१११. सुहुमा सव्वलोगम्मि लोगदेसे य बायरा।
इत्तो कालविभागं तु तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥

[१११] सूक्ष्म तेजस्काय के जीव समग्र लोक में और बादर तेजस्काय के जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। इससे आगे उन तेजस्कायिक जोवों के चार प्रकार से कालविभाग का कथन करूंगा।

११२. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥

[११२] वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं, और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

११३. तिण्णेव अहोरत्ता उक्कोसेण वियाहिया।
आउट्ठिई तेऊणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

[११३] तेजस्काय की आयुस्थिति उत्कृष्ट तीन अहोरात्र (दिनरात) की है और जघन्य अन्तर्मु हूर्त्त की है।

११४. असंखकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
कायट्ठिई तेऊणं तं कायं तु अमुंचओ॥

[११४] तेजस्काय की कायस्थिति उत्कृष्ट असंख्यातकाल की है और जघन्य अन्तर्मु हूर्त्त की है। तेजस्काय को छोड़ कर लगातार तेजस्काय में ही उत्पन्न होते रहना कायस्थिति है।

११५. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए तेउजीवाण अन्तरं॥

[११५] तेजस्काय को छोड़ कर (अन्य कायों में उत्पन्न होकर) पुनः तेजस्काय में उत्पन्न होने में जो अन्तर है, वह जघन्य अन्तर्मु हूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

११६. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो॥

[११६] इनके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से अनेक भेद हैं।

विवेचन—तेजस्काय के भेद-प्रभेद : अंगारे—अंगार—धूमरहित जलता हुआ कोयला। मुम्मुरे-मुर्मुर—राख मिले हुए अग्निकण, चिनगारियाँ। अगणी—शुद्ध अग्नि या लोहपिण्ड में प्रविष्ट अग्नि। अच्ची—अर्चि—जलते हुए काष्ठ के साथ रही हुई ज्वाला। जाला—ज्वाला—प्रदीप्त अग्नि से विच्छिन्न अग्निशिखा, आग की लपटें। उक्का—उल्कापात, आकाशीय अग्नि। और विज्जु—विद्युत्-आकाशीय विद्युत्—विजली। प्रज्ञापना में इनके अतिरिक्त अलात, अशनि, निर्घात, संघर्ष-समुत्थित, एवं सूर्यकान्तमणि-निःसृत को भी तेजस्काय में गिनाया है।[1]

वायु-निरूपण

११७. दुविहा वाउजीवा उ सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता एवमेए दुहा पुणो॥

[११७] वायुकाय जीवों के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर। पुनः उन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त, इस प्रकार दो-दो भेद हैं।

११८. बायरा जे उ पज्जत्ता पंचहा ते पकित्तिया।
उक्कलिया-मण्डलिया घण-गुंजा सुद्धवाया य॥

११९. संवट्टगवाते य ऽणेगविहा एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता सुहुमा ते वियाहिया॥

[११८-११९] बादर पर्याप्त वायुकाय जीवों के पांच भेद हैं—उत्कलिका, मण्डलिका, घनवात, गुंजावात शुद्धवात और संवर्तक वात, इत्यादि और भी अनेक भेद हैं। सूक्ष्म वायुकाय के जीव एक ही प्रकार के हैं, उनके अनेक भेद नहीं हैं।

१२०. सुहुमा सव्वलोगम्मि लोगदेसे य बायरा।
इत्तो कालविभागं तु तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥

[१२०] सूक्ष्म वायुकाय के जीव सम्पूर्ण लोक में, और बादर वायुकाय के जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। इससे आगे अब वायुकायिक जीवों के कालविभाग का कथन चार प्रकार से करूंगा।

१२१. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥

[१२१] वायुकाय के जीव प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं, और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१२२. तिण्णेव सहस्साइं वासाणुक्कोसिया भवे।
आउट्ठिई वाऊणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

---

१. (क) उत्तरा. गुज. भाषान्तर भा. २, पत्र ३५१ (ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ८५६
(ग) प्रज्ञापना पद १, पृ. ४५ आगमप्रकाशन-समिति, ब्यावर

[१२२] वायुकायिक जीवों की आयु-स्थिति उत्कृष्ट तीन हजार वर्ष की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है।

१२३. असंखकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
कायट्ठिई वाऊणं तं कायं तु अमुंचओ॥

[१२३] वायुकायिक जीवों की कायस्थिति उत्कृष्ट असंख्यातकाल की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। वायुकाय को न छोड़ कर लगातार वायु-शरीर में ही उत्पन्न होना कायस्थिति है।

१२४. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए वाउजीवाण अन्तरं॥

[१२४] वायुकाय को छोड़ कर पुनः वायुकाय में उत्पन्न होने में जो अन्तर (काल का व्यवधान) है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

१२५. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो॥

[१२५] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से वायुकाय के हजारों भेद होते हैं।

विवेचन—वायुकायिक प्रभेदों के विशेषार्थ—उत्कलिकावात—ठहर-ठहर कर चलने वाला वायु, अथवा घूमता हुआ ऊँचा जाने वाला पवन। **मण्डलिकावात**—धूल आदि के गोटे सहित गोलाकार घूमने वाला पवन, अथवा पृथ्वी में लगता हुआ चक्कर वाला पवन। **घनवात**—घनोदधिवात—रत्नप्रभा आदि भूमियों के अधोवर्ती घनोदधियों का वायु। **गुंजावात**—गूंजता हुआ चलने वाला पवन। **संवर्तकवात**—जो वायु तृणादि को उड़ा कर अन्यत्र ले जाए, वह।[1]

उन्नीस प्रकार के वात—प्रज्ञापना में १९ प्रकार के वात बताए गए हैं—चार दिशाओं के चार, चार ऊर्ध्व अधो तिर्यक् विदिक् वायु, (९) वातोद्भ्राम (अनियमित) (१०) वातोत्कलिका (तूफानीपवन) (११) वातमण्डली, (अनिर्धारित वायु) (१२) उत्कलिकावात, (१३) मण्डलिकावात, (१४) गुंजावात, (१५) झंझावात, (वर्षायुक्त पवन) (१६) संवर्त्तकवात, (१७) घनवात, (१८) तनुवात, (१९) शुद्धवात।[2]

उदार-त्रसकाय-निरूपण

१२६. ओराला तसा जे उ चउहा ते पकित्तिया।
बेइन्दिय—तेइन्दिय चउरो-पंचिन्दिया चेव॥

[१२६] उदार त्रस चार प्रकार के कहे हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

---

१. (क) मूलाराधना २१२ गा. :
"वादुब्भामो उक्कलिमंडलिगुंजा महाघणु-तणु य। ते जाण वाउजीवा, जाणित्ता परिहरेदव्वा॥"
(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ८६०-८६१

२. प्रज्ञापना पद १

विवेचन—उदारत्रस—उदार का अर्थ स्थूल है, जो सामान्य जनता के द्वारा मान्य और प्रत्यक्ष हों, जिनको त्रसनाम कर्म का उदय हो।

द्वीन्द्रिय त्रस

१२७. बेइन्दिया उ जे जीवा दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता तेसिं भेए सुणेह मे॥

[१२७] द्वीन्द्रिय जीवों के दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेदों का वर्णन मुझ से सुनो।

१२८. किमिणो सोमंगला चेव अलसा माइवाहया।
वासीमुहा य सिप्पीया संखा संखणगा तहा॥

[१२८] कृमि, सौमंगल, अलस, मातृवाहक, वासीमुख, सीप, शंख, शंखनक—

१२९. पल्लोयाणुल्लया चेव तहेव य वराडगा।
जलूगा जालगा चेव चन्दणा य तहेव य॥

[१२९] पल्लका, अणुल्लक, वराटक, जौंक, जालक और चन्दनक—

१३०. इइ बेइन्दिया एए णेगहा एवमायओ।
लोगेगदेसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया॥

[१३०] इत्यादि अनेक प्रकार के ये द्वीन्द्रिय जीव हैं। वे लोक के एक भाग में व्याप्त हैं सम्पूर्ण लोक में नहीं।

१३१. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥

[१३१] प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१३२. वासाइं बारसे व उ उक्कोसेण वियाहिया।
बेन्दियआउठिई अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

[१३२] द्वीन्द्रिय जीवों की आयुस्थिति उत्कृष्ट बारह वर्ष की और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है।

१३३. संखिज्जकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
बेइन्दियकायठिई तं कायं तु अमुंचओ॥

[१३३] द्वीन्द्रिय जीवों की कायस्थिति उत्कृष्ट संख्यातकाल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। द्वीन्द्रियकाय (द्वीन्द्रियपर्याय) को न छोड़ कर लगातार उसी में उत्पन्न होते रहना द्वीन्द्रियकाय-स्थिति है।

१३४. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
वेइन्दियजीवाणं अन्तरेयं वियाहियं ॥

[१३४] द्वीन्द्रिय के शरीर को छोड़ कर पुन: द्वीन्द्रियशरीर में उत्पन्न होने में जो अन्तर है, वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है ।

१३५. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ॥

[१३५] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से इनके हजारों भेद होते हैं ।

विवेचन—कृमि आदि शब्दों के विशेपार्थ—कृमि—गंदगी में पैदा होने वाले कीट या कीटाणु । सौमंगल—सौमंगल नामक जीवविशेष । अलस—अलसिया या केंचुआ । मातृवाहक—चूड़ेल जाति के द्वीन्द्रिय जीव । वासीमुख—वसूले की आकृति वाले द्वीन्द्रिय जीव । शंखनक—छोटे-छोटे शंख (शंखोलिया) । पल्लोय—काष्ठ-भक्षण करने वाले । अणुल्लक—छोटे पल्लुका । वराटक—कौड़ी, जलीक—जोंक । जालक—जालक जाति के द्वीन्द्रिय जीव । चन्दनक—अक्ष (चाँदनीये) ।[1]

त्रीन्द्रिय त्रस

१३६. तेइन्दिया उ जे जीवा दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता तेसिं भेए सुणेह मे ॥

[१३६] त्रीन्द्रिय जीवों के दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त । उनके भेदों को मुझ के सुनो ।

१३७. कुन्थु-पिवीलि-उड्डंसा उक्कलुद्देहिया तहा ।
तणहार-कट्ठहारा मालुगा पत्तहारगा ॥

[१३७] कुन्थु, चींटी, उद्देश (खटमल), उक्कल (मकड़ी). उपदेहिका (दीमक—उद्दई), तृणाहारक, काष्ठाहारक (घुन), मालुक तथा पत्राहारक—

१३८. कप्पासऽट्ठिमिजा य तिंदुगा तउसमिंजगा ।
सदावरी य गुम्मी य बोद्धव्वा इन्दकाइया ॥

[१३८] कर्पासास्थिमिजक, तिन्दुक, त्रपुषमिंजक, शतावरी (सदावरी), गुल्मी (कानखजूरा) और इन्द्रकायिक, (ये सब त्रीन्द्रिय) समझने चाहिए ।

१३९. इन्दगोवगमाईया णेगहा एवमायओ ।
लोएगदेसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया ॥

[१३९] (तथा) इन्द्रगोपक (वीरवहूटी), इत्यादि त्रीन्द्रिय जीव अनेक प्रकार के कहे गए हैं । वे सब लोक के एक भाग में व्याप्त हैं, सम्पूर्ण लोक में नहीं ।

---

१. (क) उत्तरा. गुजराती भापान्तर, भा. २, पत्र ३५२
(ख) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ८६६-८६७

१४०. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥

[१४०] प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त हैं किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१४१. एगूणपण्णऽहोरत्ता उक्कोसेण वियाहिया।
तेइन्दियआउठिई अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

[१४१] उनकी आयुस्थिति उत्कृष्टतः उनचास दिनों की और जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त की है।

१४२. संखिज्जकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
तेइन्दियकायठिई तं कायं तु अमुंचओ ॥

[१४२] उनकी कायस्थिति उत्कृष्ट संख्यातकाल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। त्रीन्द्रियकाय को न छोड़ कर लगातार त्रीन्द्रियकाय में ही उत्पन्न होने का काल कायस्थितिकाल है।

१४३. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
तेइन्दियजीवाणं अन्तरेयं वियाहियं ॥

[१४३] त्रीन्द्रियकाय को छोड़ने के बाद पुनः त्रीन्द्रियकाय में उत्पन्न होने में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का अन्तर होता है।

१४४. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ॥

[१४४] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से इन जीवों के हजारों भेद हैं।

विवेचन—कर्पासास्थिमिजक : विशेषार्थ—बिनौलों (कपासियों) में उत्पन्न होने वाले त्रीन्द्रिय जीव।[1]

चतुरिन्द्रिय त्रस

१४५. चउरिन्दिया उ जे जीवा दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता तेसिं भेए सुणेह मे ॥

[१४५] जो चतुरिन्द्रिय जीव हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके भेद मुझ से सुनो।

१४६. अन्धिया पोत्तिया चेव मच्छिया मसगा तहा।
भमरे कीड-पयंगे य ढिंकुणे कुंकुणे तहा ॥

[१४६] अन्धिका, पोत्तिका, मक्षिका, मशक (मच्छर), भ्रमर, कीट (टीड-टिड्डी), पतंगा, ढिंकुण (पिस्सू) कुंकुण—

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३५३

१४७. कुक्कुडे सिंगिरीडी य नन्दावत्त य विंछिए ।
डोले भिंगारी य विरली अच्छिवेहए ॥

[१४७] कुक्कुड, शृंगिरीटी, नन्दावर्त्त, बिच्छू, डोल, भृंगरीटक (झींगुर या भ्रमरी), विरली, अक्षिवेधक—

१४८. अच्छिले माहए अच्छिरोडए विचित्ते चित्तपत्तए ।
ओहिंजलिया जलकारी य नीया तन्तवगाविया ॥

[१४८] अक्षिल, मागध, अक्षिरोडक, विचित्र, चित्र-पत्रक, ओहिंजलिया, जलकारी, नीचक और तन्तवक—

१४९. इइ चउरिन्दिया एए ऽणेगहा एवमायओ ।
लोगस्स एगदेसम्मि ते सव्वे परिकित्तिया ॥

[१४९] इत्यादि चतुरिन्द्रिय के अनेक प्रकार हैं। वे सब लोक के एक भाग में व्याप्त हैं, किन्तु सम्पूर्ण लोक में व्याप्त नहीं हैं।

१५०. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥

[१५०] प्रवाह की अपेक्षा से वे सब अनादि-अनन्त हैं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१५१. छच्चेव य मासा उ उक्कोसेण वियाहिया ।
चउरिन्दियआउठिई अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

[१५१] चतुरिन्द्रिय जीवों की आयुस्थिति उत्कृष्ट छह महीने की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है।

१५२. संखिज्जकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
चउरिन्दियकायठिई तं कायं तु अमुंचओ ॥

[१५२] उनकी कायस्थिति उत्कृष्ट संख्यातकाल की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। चतुरिन्द्रिय पर्याय को न छोड़ कर लगातार चतुरिन्द्रिय-शरीर में उत्पन्न होते रहना कायस्थिति है।

१५३. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढंमि सए काए अन्तरेयं वियाहियं ॥

[१५३] चतुरिन्द्रिय-शरीर को छोड़ने पर पुनः चतुरिन्द्रिय-शरीर में उत्पन्न होने में अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का कहा गया है।

१५४. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ॥

[१२४] इनके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं संस्थान की अपेक्षा से हजारों भेद हैं।

विवेचन—यहाँ जो चतुरिन्द्रिय जीवों के नाम गिनाए गए हैं, उनमें से कई तो अप्रसिद्ध हैं, कई जीव भिन्न-भिन्न देशों में तथा कुछ सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।[1]

पंचेन्द्रियत्रस-निरूपण

१५५. पंचिन्दिया उ जे जीवा चउव्विहा ते वियाहिया।
नेरइया तिरिक्खा य मणुया देवा य आहिया॥

[१५५] जो पंचेन्द्रिय जीव हैं, वे चार प्रकार के कहे गए हैं—नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव।

विवेचन—पंचेन्द्रियजीवों का जन्म और निवास—प्रस्तुत गाथा में जो चार प्रकार के पंचेन्द्रियजीव बताए गए हैं, उनका जन्म और निवास प्रायः इस प्रकार है—नैरयिकों का जन्म एवं निवास अधोलोकस्थित सात नरकभूमियों में होता है। मनुष्यों का मध्य (तिर्यक्) लोक में, और तिर्यञ्चों का जन्म एवं निवास प्रायः तिर्यक् लोक में होता है, किन्तु देवों में से वैमानिक देवों का ऊर्ध्वलोक में, ज्योतिष्कदेवों का मध्यलोक के अन्त तक, और भवनपति तथा व्यन्तर देवों का जन्म एवं निवास प्रायः तिर्यग्लोक में एवं अधोलोक के प्रारम्भ में होता है।

नारकजीव

१५६. नेरइया सत्तविहा पुढवीसु सत्तसू भवे।
रयणाभ—सक्कराभा वालुयाभा य आहिया॥
१५७. पंकाभा धूमाभा तमा तमतमा तहा।
इइ नेरइया एए सत्तहा परिकित्तिया॥

[१५६-१५७] नैरयिक जीव सात प्रकार के हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा तथा तमस्तमःप्रभा, इस प्रकार इन सात पृथ्वियों में उत्पन्न होने वाले नैरयिक सात प्रकार के कहे गए हैं।

१५८. लोगस्स एगदेसम्मि ते सव्वे उ वियाहिया।
एत्तो कालविभागं तु वुच्छं तेसिं चउव्विहं॥

[१५८] वे सब नैरयिक लोक के एक देश में रहते हैं, (समग्र लोक में नहीं।) इससे आगे उनके (नैरयिकों के) चार प्रकार से कालविभाग का कथन करूंगा।

१५९. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥

[१५९] वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ८७५

१६०. सागरोवममेगं तु उक्कोसेण वियाहिया।
पढमाए जहन्नेणं दसवाससहस्सिया॥

[१६०] पहली रत्नप्रभा पृथ्वी में नैरयिक जीवों की आयुस्थिति जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट एक सागरोपम की है।

१६१. तिण्णेव सागरा ऊ उक्कोसेण वियाहिया।
दोच्चाए जहन्नेणं एगं तु सागरोवमं॥

[१६१] दूसरी पृथ्वी में नैरयिक जीवों की आयु-स्थिति जघन्य एक सागरोपम की और उत्कृष्ट तीन सागरोपम की है।

१६२. सत्तेव सागरा ऊ उक्कोसेण वियाहिया।
तइयाए जहन्नेणं तिण्णेव उ सागरोवमा॥

[१६२] तीसरी पृथ्वी में नैरयिक जीवों की आयु-स्थिति जघन्य तीन सागरोपम की और उत्कृष्ट सात सागरोपम की है।

१६३. दस सागरोवमा ऊ उक्कोसेण वियाहिया।
चउत्थीए जहन्नेणं सत्तेव उ सागरोवमा॥

[१६३] चौथी पृथ्वी में नैरयिक जीवों की आयु-स्थिति जघन्य सात सागरोपम की और उत्कृष्ट दस सागरोपम की है।

१६४. सत्तरस सागरा ऊ उक्कोसेण वियाहिया।
पंचमाए जहन्नेणं दस चेव उ सागरोवमा॥

[१६४] पांचवीं पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्य दस सागरोपम की और उत्कृष्ट सत्तरह सागरोपम की है।

१६५. बावीस सागरा ऊ उक्कोसेण वियाहिया।
छट्ठीए जहन्नेणं सत्तरस सागरोवमा॥

[१६५] छठी पृथ्वी में नैरयिक जीवों की आयु-स्थिति जघन्य सत्तरह सागरोपम की और उत्कृष्ट बाईस सागरोपम की है।

१६६. तेत्तीस सागरा ऊ उक्कोसेण वियाहिया।
सत्तमाए जहन्नेणं बावीसं सागरोवमा॥

[१६६] सातवीं पृथ्वी में नैरयिक जीवों की आयु-स्थिति जघन्य बाईस सागरोपम की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है।

१६७. जा चेव उ आउठिई नेरइयाणं वियाहिया।
सा तेसिं कायठिई जहन्नुक्कोसिया भवे॥

[१६७] नैरयिक जीवों की जो आयुस्थिति, बताई गई है, वही उनकी जघन्य और उत्कृष्ट कायस्थिति भी है।

१६८. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए नेरइयाणं तु अन्तरं॥

[१६८] नैरयिक शरीर को छोड़ने पर पुनः नैरयिक शरीर में उत्पन्न होने में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का अन्तर है।

१६९. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो॥

[१६९] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से इनके हजारों भेद हैं।

विवेचन—सात नरकपृथ्वियों के अन्वर्थक नाम—रत्नप्रभापृथ्वी में भवनपति देवों के रत्न-निर्मित आवास-स्थान हैं। इनकी प्रभा पृथ्वी में व्याप्त रहती है। इस कारण इस पृथ्वी का नाम **'रत्नप्रभा'** या **'रत्नाभा'** पड़ा है। शर्करा कहते हैं—कंकड़ों को या लघुपाषाणखण्डों को। इनकी आभा के समान दूसरी भूमि की आभा है, इसलिए इसका नाम **'शर्कराभा'** या **'शर्कराप्रभा'** है। रेत के समान जिस भूमि की कान्ति है, उसका नाम **बालुकाप्रभा** है। पंक अर्थात् कीचड़ के समान जिस भूमि की प्रभा है, उसका नाम **पंकप्रभा** है। धूम के सदृश जिस भूमि की प्रभा है, उसे **धूमप्रभा** कहते हैं। धूमप्रभा पृथ्वी में धुएँ के समान पुद्गलों का परिणमन होता रहता है। अन्धकार की प्रभा के समान जिस पृथ्वी की प्रभा है, वह **तमःप्रभा** पृथ्वी है, तथा गाढ़ अन्धकार के समान जिस पृथ्वी की प्रभा है, वह **तमस्तमःप्रभा** पृथ्वी है।[1]

नैरयिकों की कायस्थिति—प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि जिस नैरयिक की जितनी जघन्य और उत्कृष्ट आयुस्थिति है, उसकी कायस्थिति भी उतनी ही जघन्य और उत्कृष्ट होती है, क्योंकि नैरयिक मरने के अनन्तर पुनः नैरयिक नहीं हो सकता। अतः उनकी आयुस्थिति और काय-स्थिति समान है।[2]

अन्तर—गा. १६८ में नरक से निकल कर पुनः नरक में उत्पन्न होने का व्यवधानकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का बताया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि नारक जीव नारक से निकल कर संख्यातवर्षायुष्क गर्भज तिर्यञ्च या मनुष्य में ही जन्म लेता है। वहाँ से अतिक्लिष्ट अध्यवसाय वाला कोई जीव अन्तर्मुहूर्त्त-परिमाण जघन्य आयु भोग कर पुनः नरक में उत्पन्न हो सकता है।[3]

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च त्रस

१७०. पंचिन्दियतिरिक्खाओ दुविहा ते वियाहिया।
सम्मुच्छिमतिरिक्खाओ गब्भवक्कन्तिया तहा॥

[१७०] पंचेन्द्रियतिर्यञ्च जीवों के दो भेद हैं, सम्मूर्च्छिम तिर्यञ्च और गर्भजतिर्यञ्च।

---

१. उत्तराप्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ८८० २. उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा. २, पत्र ३५६
३. उत्तरा. (साध्वी चन्दना) टिप्पण, पृ. ४७९

१७१. दुविहावि ते भवे तिविहा जलयरा थलयरा तहा ।
खहयरा य बोद्धव्वा तेसिं भेए सुणेह मे ॥

[१७१] इन दोनों (गर्भजों और सम्मूर्च्छिमों) के पुनः जलचर, स्थलचर और खेचर; ये तीन-तीन भेद हैं। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

जलचरत्रस

१७२. मच्छा य कच्छभा य गाहा य मगरा तहा ।
सुंसुमारा य बोद्धव्वा पंचहा जलयराहिया ॥

[१७२] जलचर पांच प्रकार के बताए गए हैं—मत्स्य, कच्छप, ग्राह, मकर और सुंसुमार।

१७३. लोएगदेसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया ।
एत्तो कालविभागं तु वुच्छं तेसिं चउव्विहं ॥

[१७३] वे सब लोक के एक भाग में व्याप्त हैं, समग्र लोक में नहीं। इससे आगे अब उनके कालविभाग का चार प्रकार से कथन करूंगा।

१७४. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥

[१७४] वे प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं, और भवस्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१७५. एगा य पुव्वकोडीओ उक्कोसेण वियाहिया ।
आउट्ठिई जलयराणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

[१७५] जलचरों की आयुस्थिति उत्कृष्ट एक करोड़ पूर्व की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है।

१७६. पुव्वकोडीपुहत्तं तु उक्कोसेण वियाहिया ।
कायट्ठिई जलयराणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

[१७६] जलचरों की कायस्थिति उत्कृष्ट पूर्वकोटि-पृथक्त्व की है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है।

१७७. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नियं ।
विजढंमि सए काए जलयराणं तु अन्तरं ॥

[१७७] जलचर के शरीर को छोड़ने पर, पुनः जलचर के शरीर में उत्पन्न होने में अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का है और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

१७८. एएसिं वण्णओ चेव गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वा वि विहाणाइं सहस्ससो ॥

[१७८] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनके हजारों भेद हैं ।

स्थलचर त्रस

१७९. चउप्पया य परिसप्पा दुविहा थलयरा भवे ।
चउप्पया चउविहा ते मे कित्तयओ सुण ॥

[१७९] स्थलचर जीवों के दो भेद हैं—चतुष्पद और परिसर्प । चतुष्पद चार प्रकार के हैं, उनका निरूपण मुझ से सुनो ।

१८०. एगखुरा दुखुरा चेव गण्डपय-सणप्पया ।
हयमाइ-गोणमाइ—गयमाइ-सीहमाइणो ॥

[१८०] एकखुर—अश्व आदि, द्विखुर—बैल आदि, गण्डीपद—हाथी आदि और सनखपद—सिंह आदि हैं ।

१८१. भुओरगपरिसप्पा य परिसप्पा दुविहा भवे ।
गोहाइ अहिमाई य एक्केक्काऽणेगहा भवे ॥

[१८१] परिसर्प दो प्रकार के हैं—भुजपरिसर्प—गोह आदि और उर:परिसर्प—सर्प आदि । इन दोनों के अनेक प्रकार हैं ।

१८२. लोएगदेसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया ।
एत्तो कालविभागं तु वुच्छं तेसिं चउव्विहं ॥

[१८२] वे लोक के एक भाग में व्याप्त हैं, सम्पूर्ण लोक में नहीं । इसके आगे अब चार प्रकार से स्थलचर जीवों के कालविभाग का कथन करूँगा ।

१८३. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥

[१८३] प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त हैं, किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं ।

१८४. पलिओवमाउ तिण्णि उ उक्कोसेण वियाहिया ।
आउट्ठिई थलयराणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

[१८४] उनकी आयुस्थिति उत्कृष्ट तीन पल्योपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है ।

१८५. पलिओवमाउ तिण्णि उ उक्कोसेण तु साहिया ।
पुव्वकोडीपुहत्तेणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

१८६. कायट्ठिई थलयराणं अन्तरं तेसिमं भवे ।
कालमणन्तमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ॥

[१८५] स्थलचर जीवों की कायस्थिति उत्कृष्टत: पूर्वकोटि-पृथक्त्व-अधिक तीन पल्योपम की और जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त्त की है।

और उनका अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

१८७. एएसिं वण्णओ चेव गंधओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो॥

[१८७] वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श तथा संस्थान की अपेक्षा से स्थलचरों के हजारों भेद हैं।

खेचर त्रस

१८८. चम्मे उ लोमपक्खी य तइया समुग्गपक्खिया।
वियपक्खी य बोद्धव्वा पक्खिणो य चउव्विहा॥

[१८८] खेचर (आकाशचारी पक्षी) चार प्रकार के हैं—चर्मपक्षी, रोमपक्षी, तीसरे समुद्ग-पक्षी और (चौथे) विततपक्षी।

१८९. लोगेगदेसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया।
इत्तो कालविभागं तु वुच्छं तेसिं चउव्विहं॥

[१८९] वे लोक के एक भाग में होते हैं, सम्पूर्ण लोक में नहीं। इससे आगे खेचर जीवों के चार प्रकार से कालविभाग का कथन करूँगा।

१९०. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥

[१९०] प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त हैं। किन्तु स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१९१. पलिओवमस्स भागो असंखेज्जइमो भवे।
आउट्ठिई खहयराणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

[१९१] उनकी आयुस्थिति उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की है और जघन्य अन्त-र्मुहूर्त्त की है।

१९२. असंखभागो पलियस्स उक्कोसेण उ साहिओ।
पुव्वकोडीपुहत्तेणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

१९३. कायठिई खहयराणं अन्तरं तेसिमं भवे।
कालं अणन्तमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं॥

[१९२-१९३] खेचर जीवों की कायस्थिति उत्कृष्टत: कोटिपूर्व-पृथक्त्व अधिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग की और जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त्त की है।

और उनका अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का है और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

१९४. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो॥

[१९४] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से इनके हजारों भेद हैं।

विवेचन—सम्मूर्च्छिम और गर्भज : सम्मूर्च्छिम—माता-पिता के संयोग के विना ही उत्पत्ति-स्थान में स्थित औदारिक पुद्गलों को पहले-पहल शरीर रूप में परिणत कर लेना समूर्च्छन-जन्म है।

गर्भज—माता-पिता के संयोग से उत्पत्तिस्थान में स्थित शुक्र-शोणित के पुद्गलों को पहले-पहल शरीर के लिए ग्रहण करना गर्भ जन्म है। गर्भ से जिसकी उत्पत्ति (जन्म) होती है, उसे गर्भ-व्युत्क्रान्तिक (गर्भोत्पत्तिक) या गर्भज कहते हैं।[1]

जलचर, स्थलचर, खेचर—जल में विचरण करने और रहने वाले प्राणी (मत्स्य आदि) **जलचर** कहलाते हैं। स्थल (जमीन) पर विचरण करने वाले प्राणी **स्थलचर** या **भूचर** कहलाते हैं। इनके मुख्य दो प्रकार है—चतुष्पद (चौपाये) और परिसर्प (रेंग कर चलने वाले)। तथा **खेचर** उसे कहते हैं, जो आकाश में उड़ कर चलता हो, जैसे—बाज आदि पक्षी।[2]

एकखुर आदि पदों के अर्थ—एकखुर—जिनका खुर एक—अखण्ड हो, फटा हुआ न हो वे, जैसे—घोड़ा आदि। **द्विखुर**—जिनके खुर फटे हुए होने से दो अंशों में विभक्त हों, जैसे—गाय आदि। **गण्डीपद**—गण्डी अर्थात् कमलकर्णिका के समान जिसके पैर वृत्ताकार गोल हों, जैसे—हाथी आदि। **सनखपद**—नखसहित पैर वाले। जैसे—सिंह आदि। **भुजपरिसर्प**—भुजाओं से गमन करने वाले नकुल, मूषक आदि। **उरःपरिसर्प**—वक्ष—छाती से गमन करने वाले सर्प आदि। **चर्मपक्षी**—चर्म (चमड़ी) की पांखों वाले चमगादड़ आदि। **रोमपक्षी**—रोम—रोंए की पंखों वाले हंस आदि। **समुद्गपक्षी**—समुद्ग अर्थात्—डिब्बे के समान सदैव बंद पंखों वाले। **विततपक्षी**—सदैव फैली हुई पंखों वाले।[3]

स्थलचरों की उत्कृष्ट कायस्थिति—गाथा १८५ में पूर्वकोटि पृथक्त्व (दो से नौ पूर्वकोटि) अधिक तीन पल्योपम की बताई गई है, उसका अभिप्राय यह है कि पल्योपम की आयु वाले तो मर कर पुनः पल्योपम की स्थिति वाले स्थलचर होते नहीं हैं, किन्तु वे देवलोक में जाते हैं। पूर्वकोटि आयु वाले अवश्य ही इतनी स्थिति वाले के रूप में पुनः उत्पन्न हो सकते हैं। वे भी ७-८ भव से अधिक नहीं। अतः पूर्वकोटि आयु के पृथक्त्व भव ग्रहण करके अन्त में पल्योपम आयु पाने वाले स्थलचर जीवों की अपेक्षा से यह उत्कृष्ट कायस्थिति बताई गई है।[4]

जलचरों की उत्कृष्ट कायस्थिति—गाथा १७६ में पूर्वकोटि पृथक्त्व की, अर्थात् ८ पूर्वकोटि की कही गई है। उसका आशय यह है कि पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च—जलचर अन्तररहित उत्कृष्टतः आठ भव करते हैं, उन आठों भवों का कुल आयुष्य मिला कर आठ पूर्वकोटि ही होता है। जलचर मर कर युगलिया नहीं होते, इसलिए युगलिया का भव नहीं आता। इस तरह उत्कृष्ट स्थिति के उक्त परिमाण में कोई विरोध नहीं आता।[5]

---

१. (क) उत्तरा. (साध्वी चन्दना) टिप्पण पृ. ४७९-४९०
   (ख) तत्त्वार्थसूत्र २।३२ (पं. सुखलाल जी) पृ. ६७

२. उत्तरा. गुजराती भाषान्तर, भा. २, पत्र

३. उत्तरा. (साध्वी चन्दना) टिप्पण पृ. ४७९-४८०

४. वही, टिप्पण पृ. ४८०

५. उत्तरा. गुजराती भाषान्तर भा. २, पत्र ३५७

मनुष्य-निरूपण

१९५. मणुया दुविहभेया उ ते मे कित्तयओ सुण।
संमुच्छिमा य मणुया गब्भवक्कन्तिया तहा॥

[१९५] मनुष्य दो प्रकार के हैं—सम्मूर्च्छिम और गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भोत्पन्न) मनुष्य।

१९६. गब्भवक्कन्तिया जे उ तिविहा ते वियाहिया।
अकम्म-कम्मभूमा य अन्तरद्दीवया तहा॥

[१९६] जो गर्भ से उत्पन्न मनुष्य हैं, वे तीन प्रकार के कहे गए हैं—अकर्मभूमिक, कर्मभूमिक और अन्तर्द्वीपक।

१९७. पन्नरस-तीसइ-विहा भेया अट्ठवीसइं।
संखा उ कमसो तेसिं इइ एसा वियाहिया॥

[१९७] कर्मभूमिक मनुष्यों के पन्द्रह, अकर्मभूमिक मनुष्यों के तीस और अन्तर्द्वीपक मनुष्यों के २८ भेद हैं।

१९८. संमुच्छिमाण एसेव भेओ होइ आहिओ।
लोगस्स एगदेसम्मि ते सव्वे वि वियाहिया॥

[१९८] सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के भेद भी इसी प्रकार हैं। वे सब भी लोक के एक भाग में होते हैं, समग्र लोक में व्याप्त नहीं।

१९९. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥

[१९९] (उक्त सभी प्रकार के मनुष्य) प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

२००. पलिओवमाइं तिण्णि उ उक्कोसेण वियाहिया।
आउट्ठिई मणुयाणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

[२००] मनुष्यों की आयुस्थिति उत्कृष्ट तीन पल्योपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है।

२०१. पलिओवमाइं तिण्ण उ उक्कोसेण वियाहिया।
पुव्वकोडीपुहत्तेणं अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

२०२. कायट्ठिई मणुयाणं अन्तरं तेसिमं भवे।
अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं॥

[२०१-२०२] उत्कृष्टतः पूर्वकोटिपृथक्त्व-अधिक तीन पल्योपम की और जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त की मनुष्यों की कायस्थिति है।

उनका अन्तरकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का है।

२०३. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि विहाणाइं सहस्ससो ॥

[२०३] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से इनके हजारों भेद हैं।

विवेचन—अकर्मभूमिक, कर्मभूमिक और अन्तर्द्वीपक मनुष्य : अकर्मभूमिक—अकर्मभूमि (—भोगभूमि) में उत्पन्न, अर्थात्—यौगलिक मानव। **कर्मभूमिक**—कर्मभूमि में अर्थात् भरतादि क्षेत्र में उत्पन्न। **अन्तर्द्वीपक**—छप्पन अन्तर्द्वीपों में उत्पन्न।[1]

कर्मभूमिक : पन्द्रह भेद—पांच भरत, पांच ऐरवत और पांच महाविदेह, ये कुल मिला कर १५ कर्मभूमियाँ हैं, इनमें उत्पन्न होने वाले कर्मभूमिक मनुष्य भी १५ प्रकार के हैं।[2]

अकर्मभूमिक : तीस भेद—५ हैमवत, ५ हैरण्यवत, ५ हरिवर्ष, ५ रम्यकवर्ष, ५ देवकुरु और ५ उत्तरकुरु, ये कुल मिलाकर ३० भेद अकर्मभूमि के हैं। इनमें उत्पन्न होने वाले अकर्मभूमिक भी ३० प्रकार के हैं।[3]

अन्तर्द्वीपक : छप्पन भेद—वैताढ्य पर्वत के पूर्व और पश्चिम के सिरे पर जम्बूद्वीप की वेदिका के बाहर दो-दो दाढाएँ विदिशा की ओर निकली हुई हैं। उनमें से पूर्व की दो दाढों में से एक ईशान की ओर और दूसरी आग्नेय (अग्निकोण) की ओर लम्बी चली जाती है। पश्चिम की दो दाढों में से एक नैऋत्य की ओर और दूसरी वायव्यकोण की ओर जाती है। उन प्रत्येक दाढा पर जगती के कोट से तीन-तीन सौ योजन आगे जाने पर ३ योजन लम्बे-चौड़े कुल चार अन्तर्द्वीप आते हैं। फिर वहाँ से ४००-४०० योजन आगे जाने पर ४ योजन लम्बे-चौड़े दूसरे ४ अन्तर्द्वीप आते हैं। इस प्रकार सौ-सौ योजन आगे क्रमशः बढ़ते जाने पर उतने ही योजन के लम्बे और चौड़े, चार-चार अन्तर्द्वीप आते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक दाढा पर ७-७ अन्तर्द्वीप होने से चारों दाढाओं के कुल २८ अन्तर्द्वीप हैं। उनके नाम क्रम से इस प्रकार हैं—**प्रथम चतुष्क में चार**—(१) एकोरुक, (२) आभाषिक, (३) वैषाणिक और (४) लांगुलिक। **द्वितीय चतुष्क में चार**—(५) हयकर्ण, (६) गजकर्ण, (७) गोकर्ण और (८) शष्कुलीकर्ण। **तृतीय चतुष्क में चार**—(९) आदर्शमुख, (१०) मेषमुख, (११) हयमुख और (१२) गजमुख। **चतुर्थ चतुष्क में चार**—(१३) अश्वमुख, (१४) हस्तिमुख, (१५) सिंहमुख और (१६) व्याघ्रमुख। **पंचम चतुष्क में चार**—(१७) अश्वकर्ण, (१८) सिंहकर्ण, (१९) गजकर्ण और (२०) कर्णप्रावरण,। **छठे चतुष्क में चार**—(२१) उल्कामुख, (२२) विद्युन्मुख, (२३) जिह्वामुख, (२४) मेघमुख। सप्तम चतुष्क में चार—(२५) घनदन्त, (२६) गूढदन्त, (२७) श्रेष्ठदन्त और (२८) शुद्धदन्त। इन सब अन्तर्दीपों में द्वीप के सदृश नाम वाले युगलिया रहते हैं। इसी प्रकार इन्हीं नाम वाले शिखरी पर्वत के भी अन्य अट्ठाईस अन्तर्द्वीप हैं। वे सब पूर्ववर्ती अट्ठाईस नामों के सदृश नाम आदि वाले होने से अभेद की विवक्षा से पृथक् कथन नहीं किया गया है। अतः सूत्र में अट्ठाईस भेद ही कहे गए हैं। कुल मिलाकर ५६ भेद हुए।[4]

---

१. उत्तरा. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३६०,
२. वही, पत्र ३६०, ३. वही, पत्र ३६०
४. वही, पत्र ३६०-३६१

देव-निरूपण

२०४. देवा चउव्विहा वुत्ता ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमिज्ज-वाणमन्तर-जोइस-वेमाणिया तहा ॥

[२०४] देव चार प्रकार के कहे गए हैं – भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक । मैं उनके विषय में कहता हूँ, सुनो ।

२०५. दसहा उ भवणवासी अट्ठहा वणचारिणो ।
पंचविहा जोइसिया दुविहा वेमाणिया तहा ॥

[२०५] भवनवासी देव दस प्रकार के हैं, वाणव्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं, ज्योतिष्क देव पांच प्रकार के हैं और वैमानिक देव दो प्रकार के हैं ।

२०६. असुरा नाग-सुवण्णा विज्जू अग्गी य आहिया ।
दीवोदहि-दिसा वाया थणिया भवणवासिणो ॥

[२०६] असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधि-कुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार, ये दस भवनवासी देव हैं ।

२०७. पिसाय-भूय-जक्खा य रक्खसा किन्नरा य किंपुरिसा ।
महोरगा य गन्धव्वा अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥

[२०७] पिशाच, भूत यक्ष राक्षस किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व, ये आठ प्रकार के वाणव्यन्तर देव हैं ।

२०८. चन्दा सूरा य नक्खत्ता गहा तारागणा तहा ।
दिसाविचारिणो चेव पंचहा जोइसालया ॥

[२०८] चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह और तारागण, ये पांच प्रकार के ज्योतिष्क देव हैं । ये पांच दिशाविचारी (अर्थात्—मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए भ्रमण करने वाले) ज्योतिष्क देव हैं ।

२०९. वेमाणिया उ जे देवा दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोद्धव्वा कप्पाईया तहेव य ॥

[२०९] वैमानिक देव दो प्रकार के कहे गए हैं—कल्पोपग (कल्प-सहित—इन्द्रादि के रूप में कल्प अर्थात् आचार-मर्यादा एवं शासन-व्यवस्था वाले) और कल्पातीत (पूर्वोक्त कल्पमर्यादाओं से रहित) ।

२१०. कप्पोवगा बारसहा सोहम्मीसाणगा तहा ।
सणंकुमार-माहिन्दा बम्भलोगा य लन्तगा ॥
२११. महासुक्का सहस्सारा आणया पाणया तहा ।
आरणा अच्चुया चेव इइ कप्पोवगा सुरा ॥

[२१०-२११] कल्पोपग देवों के बारह प्रकार हैं—सौधर्म, ईशानक, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक एवं लान्तक;

महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत—ये कल्पोपग देव हैं।

२१२. कप्पाईया उ जे देवा दुविहा ते वियाहिया।
गेविज्जाऽणुत्तरा चेव गेविज्जा नवविहा तहिं ॥

[२१२] कल्पातीत देवों के दो भेद हैं—ग्रैवेयकवासी और अनुत्तरविमानवासी। उनमें से ग्रैवेयक देव नौ प्रकार के हैं।

२१३. हेट्ठिमा-हेट्ठिमा चेव हेट्ठिमा-मज्झिमा तहा।
हेट्ठिमा-उवरिमा चेव मज्झिमा-हेट्ठिमा तहा ॥

२१४. मज्झिमा-मज्झिमा चेव मज्झिमा-उवरिमा तहा।
उवरिमा-हेट्ठिमा चेव उवरिमा-मज्झिमा तहा ॥

२१५. उवरिमा-उवरिमा चेव इय गेविज्जया सुरा।
विजया वेजयन्ता य जयन्ता अपराजिया ॥

२१६. सव्वट्ठसिद्धगा चेव पंचहाऽणुत्तरा सुरा।
इइ वेमाणिया देवा णेगहा एवमायओ ॥

[२१३-२१४-२१५-२१६] (१) अधस्तन-अधस्तन (२) अधस्तन-मध्यम, (३) अधस्तन-उपरितन, (४) मध्यम-अधस्तन—(५) मध्यम-मध्यम, (६) मध्यम-उपरितन, (७) उपरितन-अधस्तन, (८) उपरितन-मध्यम और (९) उपरितन-उपरितन—ये नौ ग्रैवेयक हैं।

विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धक, ये पांच प्रकार के अनुत्तर देव हैं। इस प्रकार वैमानिक देव अनेक प्रकार के हैं।

२१७. लोगस्स एगदेसम्मि ते सव्वे परिकित्तिया।
इत्तो कालविभागं तु वुच्छं तेसिं चउव्विहं ॥

[२१७] ये सभी लोक के एक भाग में स्थित रहते हैं, समग्र लोक में नहीं। इससे आगे उनके कालविभाग का चार प्रकार से कथन करूंगा।

२१८. संतइं पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य ॥

[२१८] ये प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

२१९. साहियं सागरं एक्कं उक्कोसेणं ठिई भवे।
भोमेज्जाणं जहन्नेणं दसवाससहस्सिया ॥

[२१९] भवनवासीदेवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति किंचित् अधिक एक सागरोपम की और जघन्य दस हजार वर्ष की है।

२२०. पलिओवममेगं तु उक्कोसेण ठिई भवे।
वन्तराणं जहन्नेणं दसवाससहस्सिया ॥

[२२०] व्यन्तरदेवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति एक पल्योपम की और जघन्य दस हजार वर्ष की है।

२२१. [पलिओवमं एगं तु वासलक्खेण साहियं।
पलिओवमऽट्ठभागो जोइसेसु जहन्निया ॥

[२२१] ज्योतिष्कदेवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की और जघन्य पल्योपम का आठवाँ भाग है।

२२२. दो चेव सागराइं उक्कोसेण वियाहिया।
सोहम्मंमि जहन्नेणं एगं च पलिओवमं ॥

[२२२] सौधर्म-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति दो सागरोपम की और जघन्य एक पल्योपम की है।

२२३. सागरा साहिया दुन्नि उक्कोसेण वियाहिया।
ईसाणम्मि जहन्नेणं साहियं पलिओवमं ॥

[२२३] ईशान-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति किञ्चित् अधिक दो सागरोपम और जघन्य किञ्चित् अधिक एक पल्योपम है।

२२४. सागराणि य सत्तेव उक्कोसेण ठिई भवे।
सणंकुमारे जहन्नेणं दुन्नि ऊ सागरोवमा ॥

[२२४] सनत्कुमार-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति सात सागरोपम की और जघन्य दो सागरोपम की है।

२२५. साहिया सागरा सत्त उक्कोसेण ठिई भवे।
माहिन्दम्मि जहन्नेणं साहिया दुन्नि सागरा ॥

[२२५] माहेन्द्रकुमार-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति किञ्चित् अधिक सात सागरोपम की और जघन्य किञ्चित् अधिक दो सागरोपम की है।

२२६. दस चेव सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
बम्भलोए जहन्नेणं सत्त ऊ सागरोवमा ॥

[२२६] ब्रह्मलोक-देवों की आयुस्थिति उत्कृष्ट दस सागरोपम की और जघन्य सात सागरोपम की है।

२२७. चउद्दस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
लन्तगम्मि जहन्नेणं दस ऊ सागरोवमा ॥

[२२७] लान्तक-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति चौदह सागरोपम की और जघन्य दस सागरोपम की है।

२२८. सत्तरस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
महासुक्के जहन्नेणं चउद्दस सागरोवमा॥

[२२८] महाशुक्र-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति सत्तरह सागरोपम की और जघन्य चौदह सागरोपम की है।

२२९. अट्ठारस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
सहस्सारे जहन्नेणं सत्तरस सागरोवमा॥

[२२९[सहस्रार-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति अठारह सागरोपम की और जघन्य सत्तरह सागरोपम की है।

२३०. सागरा अउणवीसं तु उक्कोसेण ठिई भवे।
आणयम्मि जहन्नेणं अट्ठारस सागरोवमा॥

[२३०] आनत-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति उन्नीस सागरोपम की और जघन्य अठारह सागरोपम की है।

२३१. वीसं तु सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
पाणयम्मि जहन्नेणं सागरा अउणवीसई॥

[२३१] प्राणत-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति वीस सागरोपम की और जघन्य उन्नीस साग-रोपम की है।

२३२. सागरा इक्कवीसं तु उक्कोसेण ठिई भवे।
आरणम्मि जहन्नेणं वीसई सागरोवमा॥

[२३२] आरण-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति इक्कीस सागरोपम की है और जघन्य वीस सागरोपम की है।

२३३. बावीसं सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
अच्चुयम्मि जहन्नेणं सागरा इक्कवीसई॥

[२३३] अच्युत-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति बाईस सागरोपम की और जघन्य इक्कीस सागरोपम की है।

२३४. तेवीस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
पढमम्मि जहन्नेणं बावीसं सागरोवमा॥

[२३४] प्रथम ग्रैवेयक-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति तेईस सागरोपम की, जघन्य बाईस साग-रोपम की है।

२३५. चउवीस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
बिइयम्मि जहन्नेणं तेवीसं सागरोवमा॥

[२३५] द्वितीय ग्रैवेयक-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति चौवीस सागरोपम की, जघन्य तेईस सागरोपम की है।

२३६. पणवीस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
तइयम्मि जहन्नेणं चउवीसं सागरोवमा॥

[२३६] तृतीय ग्रैवेयक-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति पच्चीस सागरोपम की और जघन्य चौवीस सागरोपम की है।

२३७. छव्वीस सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
चउत्थम्मि जहन्नेणं सागरा पणुवीसई॥

[२३७] चतुर्थ ग्रैवेयक-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति छब्बीस सागरोपम की और जघन्य पच्चीस सागरोपम की है

२३८. सागरा सत्तवीसं तु उक्कोसेण ठिई भवे।
पंचमम्मि जहन्नेणं सागरा उ छवीसई॥

[२३८] पंचम ग्रैवेयक-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति सत्ताईस सागरोपम की और जघन्य छब्बीस सागरोपम की है।

२३९. सागरा अट्ठवीसं तु उक्कोसेण ठिई भवे।
छट्ठम्मि जहन्नेणं सागरा सत्तवीसई॥

[२३९] छठे ग्रैवेयक-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति अट्ठाईस सागरोपम की और जघन्य सत्ताईस सागरोपम की है।

२४०. सागरा अउणतीसं तु उक्कोसेण ठिई भवे।
सत्तमम्मि जहन्नेणं सागरा अट्ठवीसई॥

[२४०] सप्तम ग्रैवेयक-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति उनतीस सागरोपम की और जघन्य अट्ठाईस सागरोपम की है।

२४१. तीसं तु सागराइं उक्कोसेण ठिई भवे।
अट्ठमम्मि जहन्नेणं सागरा अउणतीसई॥

[२४१] अष्टम ग्रैवेयक-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति तीस सागरोपम की और जघन्य उनतीस सागरोपम की है।

२४२. सागरा इक्कतीसं तु उक्कोसेण ठिई भवे।
नवमम्मि जहन्नेणं तीसई सागरोवमा॥

[२४२] नवम ग्रैवेयक-देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति इकतीस सागरोपम की और जघन्य तीस सागरोपम की है।

२४३. तेत्तीस सागरा उ उक्कोसेण ठिई भवे।
चउसुं पि विजयाईसुं जहन्नेणेक्कतीसई ॥

[२४३] विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवों की उत्कृष्ट आयुस्थिति तेतीस सागरोपम की और जघन्य इकतीस सागरोपम की है।

२४४. अजहन्नमणुक्कोसा तेत्तीसं सागरोवमा।
महाविमाण—सव्वट्ठे ठिई एसा वियाहिया ॥

[२४४] महाविमान सर्वार्थसिद्ध के देवों की अजघन्य-अनुत्कृष्ट (न जघन्य और न उत्कृष्ट—सब की एक जैसी) आयुस्थिति तेतीस सागरोपम की है।

२४५. जा चेव उ आउठिई देवाणं तु वियाहिया।
सा तेसिं कायठिई जहन्नुक्कोसिया भवे ॥

[२४५] समस्त देवों की जो पूर्वकथित आयुस्थिति है, वही उनकी जघन्य और उत्कृष्ट कायस्थिति है।

२४६. अणन्तकालमुक्कोसं अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए देवाणं हुज्ज अन्तरं ॥

[२४६] देवशरीर (स्वकाय) को छोड़ने पर पुनः देव-शरीर में उत्पन्न होने में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का अन्तर होता है।

२४७. एएसिं वण्णओ चेव गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वा वि विहाणाइं सहस्सओ ॥

[२४७] वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से इनके हजारों भेद होते हैं।

विवेचन—भवनवासी आदि की व्याख्या—भवनवासी देव—जो प्रायः भवनों में रहते हैं, वे भवनवासी या भवनपति देव कहलाते हैं। केवल असुरकुमार विशेषतया आवासों में रहते हैं, इनके आवास नाना रत्नों की प्रभा वाले चंदेवों से युक्त होते हैं। उनके आवास इनके शरीर की अवगाहना के अनुसार ही लम्बे, चौड़े तथा ऊँचे होते हैं। शेष नागकुमार आदि नौ प्रकार के भवनपति देव भवनों में रहते हैं, आवासों में नहीं। ये भवन बाहर से गोल और अन्दर से चौकोर होते हैं, इनके नीचे का भाग कमलकर्णिका के आकार-सा होता है। इन्हें कुमार इसलिए कहा गया है कि ये कुमारों (बालकों) जैसे ही रूप एवं आकार-प्रकार के होते हैं, देखने वालों को प्रिय लगते हैं, बड़े ही सुकुमार होते हैं, मृदु, मधुर एवं ललित भाषा में बोलते हैं। कुमारों की-सी ही इनकी वेषभूषा होती है। वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर कुमारों सरीखी चेष्टा करते हैं।

वाणव्यन्तर देव—ये अधिकतर वनों में, वृक्षों में, प्राकृतिक सौन्दर्य वाले स्थानों में या गुफा आदि के अन्तराल में रहते हैं, इस कारण वाणव्यन्तर कहलाते हैं। अणपन्नी, पणपन्नी आदि नाम के व्यन्तर देवों के जो अन्य आठ प्रकार कहे जाते हैं, उनका समावेश इन्हीं आठों में हो जाता है।

ज्योतिष्क—ये सभी तिर्यग्लोक को अपनी ज्योति से प्रकाशित करते हैं, इसलिए ज्योतिष्क देव कहलाते हैं। ये अढाई द्वीप में गतिशील हैं, अढाई द्वीप से बाहर स्थिर हैं। ये निरन्तर सुमेरु-पर्वत की प्रदक्षिणा किया करते हैं। मेरुपर्वत के ११२१ योजन को छोड़ कर इन के विमान चारों दिशाओं से उसकी सतत प्रदक्षिणा करते रहते हैं।

वैमानिकदेव—ये विमानों में ही निवास करते हैं, इसलिए वैमानिक या विमानवासी देव कहलाते हैं। जिन वैमानिक देवों में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि दस प्रकार के देवों का कल्प (अर्थात् मर्यादा या आचार-व्यवहार) हो, वे देव 'कल्पोपग' या 'कल्पोपपन्न' कहलाते हैं, इसके विपरीत जिन देवलोकों में इन्द्रादि की भेद-मर्यादा नहीं होती, वहाँ के देव 'कल्पातीत' (अहमिन्द्र—स्वामी-सेवकभावरहित) कहलाते हैं। सौधर्म से लेकर अच्युत देवलोक (कल्प) तक के देव 'कल्पोपपन्न' और इनसे ऊपर नौ ग्रैवेयक एवं पंच अनुत्तर विमानवासी देव 'कल्पातीत' कहलाते हैं। जिस-जिस नाम के कल्प (देवलोक) में जो देव उत्पन्न होता है, वह उसी नाम से पुकारा जाता है।

ग्रैवेयकदेव—लोक का संस्थान पुरुषाकार है, उसमें ग्रीवा (गर्दन) के स्थानापन्न नौ ग्रैवेयक देव कहलाते हैं। जिस प्रकार ग्रीवा में आभरणविशेष होता है, उसी प्रकार लोकरूप पुरुष के ये नौ ग्रैवेय-आभरण स्वरूप हैं। इन विमानों में जो देव रहते हैं, वे ग्रैवेयक कहलाते हैं। ग्रैवेयकों में तीन-तीन त्रिक हैं—(१) अधस्तन-अधस्तन, (२) अधस्तन-मध्यम और (३) अधस्तन-उपरितन; (१) मध्यम-अधस्तन, (२) मध्यम-मध्यम और (३) मध्यम-उपरितन और (१) उपरितन-अधस्तन, (२) उपरितन-मध्यम और (३) उपरितन-उपरितन।

अनुत्तरविमानवासी देव—ये देव सबसे उत्कृष्ट तथा सबसे ऊँचे एवं अन्तिम विमानों में रहते हैं, इसलिए अनुत्तरविमानवासी कहलाते हैं। ये विजय, वैजयन्त आदि नाम के पांच देव हैं।[1]

देवों की कायस्थिति—जिन देवों की जो जघन्य-उत्कृष्ट आयुस्थिति कही गई है, वही उनकी जघन्य-उत्कृष्ट कायस्थिति है। इसका अभिप्राय यह है कि देव मर कर अनन्तर (भव में) देव नहीं हो सकता, इस कारण देवों की जितनी आयुस्थिति है, उतनी ही उनकी कायस्थिति है।[2]

अन्तरकाल—देवपर्याय से च्यव कर पुनः देवपर्याय में देवरूप में उत्पन्न होने का उत्कृष्ट-अन्तर (व्यवधान) अनन्तकाल का बताया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि कोई देव यदि देवशरीर का परित्याग कर अन्यान्य योनियों में जन्म लेता हुआ, फिर वहाँ से मर कर पुनः देवयोनि में जन्म ले तो अधिक से अधिक अन्तर अनन्तकाल का और कम से कम अन्तर एक अन्तर्मुहूर्त्त का पड़ेगा।[3]

उपसंहार

२४८. संसारत्था य सिद्धा य इइ जीवा वियाहिया।
रूविणो चेवऽरूवी य अजीवा दुविहा वि य॥

---

१. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ९११-९१२
(ख) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर, भा. २, पत्र ३६२ से ३६५ तक

२. उत्तराध्ययन. (गुजराती भाषान्तर) भा. २, पत्र ३६६

३. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ९३८

[२४८] इस प्रकार संसारस्थ और सिद्ध जीवों का व्याख्यान किया गया। रूपी और अरूपी के भेद से, दो प्रकार के अजीव का व्याख्यान भी हो गया।

२४९. इइ जीवमजीवे य सोच्चा सद्दहिऊण य।
सव्वनयाण अणुमए रमेज्जा संजमे मुणी ॥

[२४९] इस प्रकार जीव और अजीव के व्याख्यान को सुन कर और उस पर श्रद्धा करके (ज्ञान एवं क्रिया आदि) सभी नयों से अनुमत संयम में मुनि रमण करे।

विवेचन—जीवाजीवविभक्ति : श्रवण, श्रद्धा एवं आचरण में परिणति—प्रस्तुत गाथा २४९ में बताया गया है कि जीव और अजीव के विभाग को सम्यक् प्रकार से सुने, तत्पश्चात् उस पर श्रद्धा करे कि—'भगवान् ने जैसा कहा है, वह सब सत्य है—यथार्थ है।' इस प्रकार से उसे श्रद्धा का विषय बनाए। श्रद्धा सम्यक् होने से जीवाजीव का ज्ञान भी सम्यक् होगा। किन्तु इतने मात्र से ही साधक अपने को कृतार्थ न मान ले, इसलिए कहा गया है—**'रमेज्ज संजमे मुणी'**। इसका फलितार्थ यह है कि मुनि जीवाजीव पर सम्यक् श्रद्धा करे, सम्यक् ज्ञान प्राप्त करे और तत्पश्चात् ज्ञाननय और क्रियानय के अन्तर्गत रहे हुए नैगमादि सर्वनयसम्मत संयम—अर्थात्—चारित्र में रमण करे, उक्त ज्ञान और श्रद्धा को क्रियारूप में परिणत करे।[1]

अन्तिम आराधना : संलेखना का विधि-विधान

२५०. तओ बहूणि वासाणि सामण्णमणुपालिया।
इमेण कमजोगेण अप्पाणं संलिहे मुणी ॥

[२५०] तदनन्तर अनेक वर्षों तक श्रामण्य का पालन करके मुनि इस (आगे बतलाए गए) क्रम से आत्मा की संलेखना (विकारों से क्षीणता) करे।

२५१. बारसेव उ वासाइं संलेहुक्कोसिया भवे।
संवच्छरं मज्झिमिया छम्मासा य जहन्निया ॥

[२५१] उत्कृष्ट संलेखना बारह वर्ष की होती है, मध्यम एक वर्ष की और जघन्य (कम से कम) छह महीने की होती है।

२५२. पढमे वासचउक्कम्मि विगईनिज्जूहणं करे।
बिइए वासचउक्कम्मि विचित्तं तु तवं चरे ॥

[२५२] प्रथम चार वर्षों में दूध आदि विकृतियों (विग्गइयों—विकृतिकारक वस्तुओं) का निर्यूहण (त्याग) करे। दूसरे चार वर्षों तक विविध प्रकार का तप करे।

२५३. एगन्तरमायामं कट्टु संवच्छरे दुवे।
तओ संवच्छरद्धं तु नाइविगिट्ठं तवं चरे ॥

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ९३६

[२५३] तत्पश्चात् दो वर्षों तक एकान्तर तप (एक दिन उपवास और एक दिन पारणा) करे। पारणा के दिन आयाम (अर्थात्—आचाम्ल—आयंबिल) करे। उसके वाद ग्यारहवें वर्ष में पहले छह महीनों तक कोई भी अतिविकृष्ट (तेला, चोला आदि) तप न करे।

२५४. तओ संवच्छरद्धं तु विगिट्ठं तु तवं चरे।
परिमियं चेव आयामं तंमि संवच्छरे करे॥

[२५४] तदनन्तर छह महीने तक विकृष्ट तप (तेला, चोला आदि उत्कट तप) करे। इस पूरे वर्ष में परिमित (पारणा के दिन) आचाम्ल करे।

२५५. कोडीसहियमायामं कट्टु संवच्छरे मुणी।
मासद्धमासिएणं तु आहारेण तवं चरे॥

[२५५] वारहवें वर्ष में एक वर्ष तक कोटि-सहित अर्थात्—निरन्तर आचाम्ल करके, फिर वह मुनि पक्ष या एक मास के आहार से तप-अनशन करे।

विवेचन—संलेखना : स्वरूप—द्रव्य से शरीर को (तपस्या द्वारा) और भाव से कषायों को कृश (पतले) करना 'संलेखना' है।[1]

संलेखना-धारणा कब और क्यों ?—जब शरीर अत्यन्त अशक्त, दुर्बल और रुग्ण हो गया हो, धर्मपालन करना दूभर हो गया हो, या ऐसा आभास हो गया हो कि अब यह शरीर दीर्घकाल तक नहीं टिकेगा, तब संलेखना करना चाहिए। प्रव्रज्या ग्रहण करते ही या शरीर सशक्त एवं धर्मपालन में सक्षम हो तो संलेखना ग्रहण नहीं करना चाहिए। इसी अभिप्राय से शास्त्रकार ने गाथा २५० में संकेत किया है—

'तओ बहूणि वासाणि सामण्णमणुपालिया'। किन्तु शरीर अशक्त, अत्यन्त दुर्बल एवं धर्मपालन करने में असमर्थ होने पर भी संलेखना-ग्रहण करने के प्रति उपेक्षा या उदासीनता रखना उचित नहीं है। एक आचार्य ने कहा है—"मैंने चिरकाल तक मुनिपर्याय का पालन किया है तथा मैं दीक्षित शिष्यों को वाचना भी दे चुका हूँ; मेरी शिष्यसम्पदा भी यथायोग्य बढ़ चुकी है, अतः अब मेरा कर्त्तव्य है कि मैं अन्तिम आराधना करके अपना भी श्रेय (कल्याण) करूं।" अर्थात्—साधु को पिछली अवस्था में संघ, शिष्य-शिष्या, उपकरण आदि के प्रति मोह-ममत्व का परित्याग करके संलेखना अंगीकार करना चाहिए।[2]

संलेखना की विधि—संलेखना उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य तीन प्रकार की है। उत्कृष्ट संलेखना १२ वर्ष की होती है; जिसके तीन विभाग करने चाहिए। प्रत्येक विभाग में चार-चार वर्ष आते हैं। प्रथम चार वर्षों में दूध, दही, घी, मीठा और तेल आदि विगइयों (विकृतियों) का त्याग

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ९३९

२. (क) उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ९३७
   (ख) **"परिपालिओ य दीहो, परियाओ, वायणा तहा दिण्णा।**
   णिप्फाइया य सीसा, सेयं मे अप्पणो काउं॥"

करे, दूसरे चार वर्षों में उपवास, बेला, तेला आदि तप करे। पारणे के दिन सभी कल्पनीय वस्तुएँ ले सकता है। तृतीय वर्षचतुष्क में दो वर्ष तक एकान्तर तप करे, पारणा में आयम्बिल (आचाम्ल) करे। तत्पश्चात् यानी ११ वें वर्ष में वह ६ महीने तक तेला, चौला, पंचौला आदि कठोर (उत्कट) तप न करे। फिर दूसरे ५ महीने में वह नियम से तेला, चौला आदि उत्कट तप करे। इस ग्यारहवें वर्ष में वह परिमित—थोड़े ही आयम्बिल (आचाम्ल) करे। बारहवें वर्ष में तो लगातार ही आयम्बिल करे, जो कि कोटिसंहित हों। तत्पश्चात् एक मास या पन्द्रह दिन पहले से ही भक्तप्रत्याख्यान (चतुर्विध आहार त्याग—संथारा) करे अर्थात् अन्त में आरम्भादि त्याग कर सबसे क्षमायाचना कर अन्तिम आराधना करे।[1]

मरणविराधना—मरणआराधना : भावनाएँ—

२५६. कन्दप्पमाभिओगं किब्बिसियं मोहमासुरत्तं च।
एयाओ दुग्गईओ मरणम्मि विराहिया होन्ति॥

[२५६] कान्दर्पी, आभियोगी, किल्विषिकी, मोही और आसुरी भावनाएँ दुर्गति में ले जाने वाली हैं। मृत्यु के समय में ये संयम की विराधना करती हैं।

२५७. मिच्छादंसणरत्ता सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरन्ति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही॥

[२५७] जो जीव (अन्तिम समय में) मिथ्यादर्शन में अनुरक्त, निदान से युक्त और हिंसक होकर मरते हैं, उन्हें बोधि बहुत दुर्लभ होती है।

२५८. सम्मद्दंसणरत्ता अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा सुलहा तेसिं भवे बोही॥

[२५८] (अन्तिम समय में) जो जीव सम्यग्दर्शन में अनुरक्त, निदान से रहित और शुक्ल-लेश्या में अवगाढ (प्रविष्ट) होकर मरते हैं, उन्हें बोधि सुलभ होती है।

२५९. मिच्छादंसणरत्ता सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा तेसिं पुण दुल्लहा बोही॥

[२५९] जो जीव (अन्तिम समय में) मिथ्यादर्शन में अनुरक्त, निदान-सहित और कृष्ण-लेश्या में अवगाढ (प्रविष्ट) होकर मरते हैं, उन्हें बोधि बहुत दुर्लभ होती है।

२६०. जिणवयणे अणुरत्ता जिणवयणं जे करेन्ति भावेण।
अमला असंकिलिट्ठा ते होन्ति परित्तसंसारी॥

[२६०] जो (अन्तिम समय तक) जिनवचन में अनुरक्त हैं और जिनवचनों का भावपूर्वक आचरण करते हैं; वे निर्मल और रागादि से असंक्लिष्ट होकर परीत-संसारी (परिमित संसार वाले) होते हैं।

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका. भा. ४, पृ. ९४०–९४२

२६१. बालमरणाणि बहुसो अकाममरणाणि चेव य बहूणि ।
मरिहिन्ति ते वराया जिणवयणं जे न जाणन्ति ।।

[२६१] जो जीव जिन वचनों से अनभिज्ञ हैं, वे बेचारे अनेक बार बाल-मरण तथा अनेक बार अकाममरण से मरते हैं—मरेंगे ।

२६२. बहूआगमविन्नाणा समाहिउप्पायगा गुणगाही ।
एएण कारणेणं अरिहा आलोयणं सोउं ।।

[२६२] जो अनेक शास्त्रों के वेत्ता हैं, (आलोचना करने वालों को) समाधि (चित्त में स्वस्थता) उत्पन्न करने वाले और गुणग्राही होते हैं; इन गुणों के कारण वे आलोचना सुनने के योग्य होते हैं ।

विवेचन—समाधिमरण में बाधक : अशुभभावनाएँ आदि—समाधिमरण के लिए संलेखना-पूर्वक भक्तप्रत्याख्यान(संथारा) किये हुए मुनि के लिए कान्दर्पी, आभियोगिकी, किल्विषिकी, मोही एवं आसुरी, ये पांच अप्रशस्त भावनाएँ बाधक हैं, क्योंकि ये पांचों भावनाएँ सम्यग्दर्शन आदि की नाशक हैं । इसीलिए ये मरणकाल में रत्नत्रय की विराधक हैं और दुर्गति में ले जाने वाली हैं । अतएव इनका विशेषतः त्याग करना आवश्यक है । मरणकाल में इन भावनाओं का त्याग इसलिए आवश्यक कहा गया है कि व्यवहारतः चारित्र की सत्ता होने पर भी जीव को ये दुर्गति में ले जाती हैं ।

मृत्यु के समय साधक के लिए चार दोष समाधिमरण में बाधक हैं । जिनमें ये चार दोष (मिथ्यादर्शन, निदान, हिंसा और कृष्णलेश्या) हैं, उन्हें अगले जन्म में बोधि भी दुर्लभ होती है । इसके अतिरिक्त जो जिनवचन के प्रति अश्रद्धालु और उनसे अपरिचित होते हैं एवं तदनुसार आचरण नहीं करते, वे भी समाधिमरण से वंचित रहते हैं, बल्कि वे बेचारे बार-बार अकाममरण एवं बालमरण से मरते हैं ।[1]

समाधिमरण में साधक—पूर्वोक्त गाथाओं से एक बात फलित होती है कि मरण के पहले किसी जीव में कदाचित् ये अशुभ भावनाएँ रही हों, किन्तु मृत्युकाल में वे नष्ट हो जाएँ और शुभ भावनाओं का सद्भाव हो जाए तो वे सद्भावनाएँ समाधिमरण एवं सुगतिप्राप्ति में साधक हो सकती हैं । मृत्यु के समय साधक के लिए समाधिमरण में छह बातें साधक हैं—(१) सम्यग्दर्शन में अनुराग, (२) अनिदानता, (३) शुक्ललेश्या में लीनता, (४) जिनवचन में अनुरक्तता, (५) जिनवचनों को भावपूर्वक जीवन में उतारना एवं (६) आलोचनादि द्वारा आत्मशुद्धि । इन बातों को अपनाने से समाधिपूर्वक मरण तो होता ही है, फलस्वरूप उसे आगामी जन्म में बोधि भी सुलभ होती है । वह मिथ्यात्व आदि भाव-मल से तथा रागादि संक्लेशों से रहित होकर परीतसंसारी बन जाता है, अर्थात्—वह मोक्ष की ओर तीव्रता से गति करता है ।

समाधिमरण के लिए अन्तिम समय में गुरुजनों के समक्ष अपनी आलोचना (निन्दना, गर्हणा, प्रतिक्रमणा, क्षमापणा एवं प्रायश्चित्त) द्वारा आत्मशुद्धि करना आवश्यक है । अतः आलोचनादि

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ९४३ से ९४५

समाधिमरण के लिए साधक हैं। आलोचना से व्रतनियमों की शुद्धि हो जाती है, जिनवचनों की निरतिचार आराधना हो जाती है।

प्रस्तुत गा. २६२ में आलोचना को श्रवण के योग्य गुरु आदि कौन हो सकते हैं ? इसका भी निरूपण किया गया है—(१) जो अंग-उपांग आदि आगमों का विशिष्ट ज्ञाता हो, (२) देश, काल, आशय आदि के विशिष्ट ज्ञान से जो आलोचना करने वाले के चित्त में मधुरभाषणादि द्वारा समाधि उत्पन्न करने वाला हो और जो (३) गुणग्राही हो, वही गंभीराशय साधक आलोचनाश्रवण के योग्य है।[1]

मिथ्यादर्शनरक्त, सनिदान आदि शब्दों के विशेषार्थ—मिथ्यादर्शनरक्त—मोहनीयकर्म के उदय से जनित विपरीत ज्ञान तथा अतत्त्व में तत्त्व का अभिनिवेश या तत्त्व में अतत्त्व का अभिनिवेश मिथ्यादर्शन है, जो आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, अनाभोगिक और सांशयिक के भेद से पांच प्रकार का है। ऐसे मिथ्यादर्शन में जिनकी बुद्धि आसक्त है, वे मिथ्यादर्शनरक्त हैं। कामभोगासक्तिपूर्वक परभवसम्बन्धी भोगों की वांछा करना **निदान** है। जो निदान से युक्त हैं, वे सनिदान हैं। **बोधि**—जिनधर्म की प्राप्ति। **आलोचना**—शुद्धभाव से गुरु आदि योग्य जनों के समक्ष अपने दोष—अपराध या भूल प्रकट करना आलोचना है।[2]

कान्दर्पी आदि अप्रशस्त भावनाएँ

२६३. कन्दप्प-कोक्कुयाइं तह सील-सहाव-हास-विगहाहिं।
विम्हावेन्तो य परं कन्दप्पं भावणं कुणइ॥

[२६३] जो कन्दर्प (कामकथा) करता है, कौत्कुच्य (हास्योत्पादक कुचेष्टाएँ) करता है तथा शील, स्वभाव, हास्य और विकथा से दूसरों को विस्मित करता (हंसाता) है, वह कान्दर्पी भावना का आचरण करता है।

२६४. मन्ता-जोगं काउं भूईकम्मं च जे पउंजन्ति।
साय-रस-इड्ढिहेउं अभिओगं भावणं कुणइ॥

[२६४] जो (वैषयिक) सुख के लिए रस (घृतादि रस) और समृद्धि के लिए मंत्र, योग (तंत्र) और भूति (भस्म आदि मंत्रित करके देने का) कर्म का प्रयोग करता है, वह आभियोगी भावना का आचरण करता है।

२६५. नाणस्स केवलीणं धम्मायरियस्स संघ-साहूणं।
माई अवण्णवाई किब्बिसियं भावणं कुणइ॥

[२६५] जो ज्ञान की, केवलज्ञानी की, धर्माचार्य की, संघ की तथा साधुओं की निन्दा (अवर्णवाद) करता है, वह मायाचारी किल्विषिकी भावना का सेवन करता है।

---

१. उत्तरा. प्रियदर्शिनीटीका, भा. ४, पृ. ९४५, ९५२–९५३
२. वही, भा. ४, पृ. ९४६, ९५२–९५३

२६६. अणुबद्धरोसपसरो तह य निमित्तंमि होइ पडिसेवी ।
एएहि कारणेहिं आसुरियं भावणं कुणइ ॥

[२६६] जो सतत क्रोध की परम्परा को फैलाता रहता है तथा जो निमित्त-(ज्योतिष आदि) विद्या का प्रयोग करता है, वह इन कारणों से आसुरी भावना का आचरण करता है ।

२६७. सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं च जलप्पवेसो य ।
अणायार—भण्डसेवा जम्मण-मरणाणि बन्धन्ति ॥

[२६७] जो खड्ग आदि शस्त्र के प्रयोग से, विषभक्षण से तथा पानी में डूब कर आत्म-हत्या करता है; जो साध्वाचार-विरुद्ध भाण्ड-उपकरण रखता है, वह (मोही भावना का आचरण करता हुआ) अनेक जन्ममरणों का वन्धन करता है ।

विवेचन—पांच अप्रशस्त भावनाएँ—गाथा २५६ में कान्दर्पी आदि पांच भावनाएँ मृत्यु के समय संयम की विराधना करने वाली वतायी गई हैं। प्रस्तुत पांच (गा. २६३ से २६७ तक) गाथाओं में उनमें से प्रत्येक का लक्षण वताया गया है। मूलाराधना एवं प्रवचनसारोद्धार में भी इन्हीं पांच भावनाओं तथा इनके प्रकारों का उल्लेख मिलता है ।[1]

कान्दर्पी भावना—कन्दर्प के वृहद्वृत्तिकार ने पांच लक्षण वतलाए हैं—(१) अट्टहासपूर्वक हँसना, (२) गुरु आदि के साथ व्यंग्य में या निष्ठुर वक्रोक्तिपूर्वक बोलना, (३) कामकथा करना, (४) काम का उपदेश देना और (५) काम की प्रशंसा करना । यह कन्दर्प से जनित भावना कान्दर्पी भावना है। कौत्कुच्य भावना का अर्थ है—कायकौत्कुच्य (भौंह, आंख, मुंह आदि अंगों को इस प्रकार वनाना, जिससे दूसरे हँस पड़ें और वाक्कौत्कुच्य—विविध जीव-जन्तुओं की बोली बोलना, सीटी वजाना, जिससे दूसरे लोगों को हँसी आ जाए ।[2]

आभियोगी भावना--अभियोग का अर्थ है—मंत्र, तंत्र, चूर्ण, भस्म आदि का प्रयोग करना । प्रस्तुत गा. २६४ में आभियोगी भावना के तीन हेतुओं या तीन प्रकारों का उल्लेख किया गया है—(१) मंत्र, (२) योग और (३) भूतिकर्म । कुछ परिवर्तन-परिवर्द्धन के साथ ये ही प्रकार मूलाराधना और प्रवचनसारोद्धार में वताए गए हैं। योग के बदले वहाँ 'कौतुक' बताया गया है तथा प्रश्न (दूसरों के लाभालाभ सम्वन्धी प्रश्न का समाधान करना) । प्रश्नाप्रश्न (स्वप्न में विद्या द्वारा कथित शुभाशुभ वृत्तान्त दूसरों को वताना) तथा निमित्त—प्रयोग, इन तीनों का समावेश 'निमित्त' में हो जाता है ।[3]

---

१. (क) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर, भा. २, पत्र ३६८-३६९
(ख) मूलाराधना ३।१७९ (ग) प्रवचनसारोद्धार, गा. ६४१

२. (क) कन्दर्प—अट्टहासहसनम्, अनिभृतालापश्च गुर्वादिनाऽपि सह निष्ठुरवक्रोक्त्यादिरूपाः कामकथोपदेश-प्रशंसाश्च कन्दर्पः । —बृहद्वृत्ति, पत्र ७०९
(ख) प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, पत्र १८० (ग) मूलाराधना ३९८ पृ. वृत्ति ।
(घ) कौकुच्यं द्विधा कायकौकुच्यंवाक् कौकुच्यं च । —वृहद्वृत्ति, पत्र ७०९

३. (क) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर, भा. २, पत्र ३७०
(ख) मंताभिओगकोदुग भूदियम्मं पउंजदे जो हु ।
इड्ढिरससादहेदुं, अभिओगं भावणं कुणइ ॥ —मूलाराधना ३।१८२
(ग) कोउय-भूइकम्मे, पसिणेहिं तह य पसिणपसिणेहिं ।
तह य निमित्तेणं चिय पंचवियप्पा भवे सा य ॥ —प्रवचनसारोद्धार गा. ६४४
(घ) बृहद्वृत्ति, पत्र ७१० (ङ) प्रवचनसारोद्धारवृत्ति, पत्र १८१-१८२

किल्विषिकी भावना—किल्विष का यहाँ अर्थ है दोष केवली, संघ, श्रुत (ज्ञान), धर्माचार्य एवं सर्व साधुओं की निन्दा, चुगली या वंचना या ठगी करना। अवगुण देखना और उनका ढिंढोरा पीटना आदि सभी चेष्टाएँ किल्विषिकी भावना के रूप हैं। इन्हें ही इस भावना के प्रकार कहा गया है।[1]

आसुरी भावना—जो असुरों (परमाधार्मिक देवों) की तरह क्रूरता, उग्र क्रोध, कठोरता एवं कलह आदि से ओतप्रोत हो, उसे आसुरी भावना कहा जा सकता है। आसुरी भावना के प्रस्तुत गा. २६६ में संक्षेप करके केवल दो ही हेतु या प्रकार बताए गए हैं; जबकि मूलाराधना एवं प्रवचन-सारोद्धार में अनुबद्धरोषप्रसर एवं निमित्तप्रतिसेवन, इन दो के अतिरिक्त निष्कृपता, निरनुताप तथा संसक्त तप, ये तीन कारण या प्रकार बताये हैं। **अनुबद्धरोषप्रसर** के बृहद्वृत्तिकार ने चार अर्थ बताए हैं—(१) निरन्तर क्रोध बढ़ाना, (२) सदैव विरोध करते रहना, (३) कलह आदि हो जाने पर भी पश्चात्ताप न करना, दूसरे द्वारा क्षमायाचना कर लेने पर भी प्रसन्न न होना। अतः इसी शब्द के अन्तर्गत मूलाराधना में बताए गए निष्कृपता, निरनुताप, अनुबद्धरोष-विग्रह आदि आसुरी भावना के प्रकारों का समावेश हो जाता है।[2]

सम्मोहा भावना—मोह (मिथ्यात्वमोह) वश उन्मार्ग में विश्वास, उपदेश, मार्ग-दोष या शरीरादि पर मोह रखना सम्मोहा (मोही) भावना है। सम्मोहा भावना के हेतुओं में यहाँ गा. २६७ में शस्त्रग्रहणादि पांच प्रकार या कारण बताए हैं, जबकि प्रवचनसारोद्धार और मूलाराधना में अन्य प्रकार बताए गए हैं। इन दोनों में उन्मार्गदेशना, मार्गदूषण (मार्ग और दूषण) एवं मार्गविप्रतिप्रत्ति, ये तीन प्रकार तो समान हैं। शेष दो—मोह और मोहजनन, ये दो 'मूलाराधना' में नहीं हैं।

शस्त्रग्रहण आदि कार्यों से उन्मार्ग की प्राप्ति और मार्ग की हानि होती है, इसलिए इसे सम्मोहा भावना कहा गया है। मार्गविप्रतिपत्ति का अर्थ है—सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग नहीं, ऐसा मानना या इनके प्रतिकूल आचरण करना। मोह का अर्थ है—गूढतम तत्त्वों में मूढ़ हो जाना या चारित्रशून्य तीर्थिकों का आडम्बर एवं वैभव देखकर ललचाना। मोहजनना—कपटवश अन्य लोगों में मोह उत्पन्न करना।[3]

---

१. (क) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर, भा. २, पत्र ३७० (ख) मूलाराधना ३।१८१
(ग) प्रवचनसारोद्धार गा. ६४३

२. (क) उत्तरा. गुजराती भाषान्तर, भा. २, पत्र ३७०
(ख) अणुबंध-रोस-विग्गहसंसत्ततवो णिमित्तपडिसेवी।
णिक्किव-णिरणुतावी, आसुरिअं भावणं कुणदि॥ —मूलाराधना ३।१८३
(ग) सइविग्गहसीलत्तं संसत्ततवो निमित्तकहणं च।
निक्किवया वि अवरा, पंचमगं निरणुकंपत्तं॥ —प्रवचनसारोद्धार, गा. ६४५
(ङ) बृहद्वृत्ति, पत्र ७११

३. (क) संक्लेशजनकत्वेन शस्त्रग्रहणादीनामनन्तभवहेतुत्वात् अनेन चोन्मार्गप्रतिपत्त्या, मार्गविप्रतिपत्तिराक्षिप्ता तथा चार्थतो मोहीभावनोक्ता। —बृहद्वृत्ति, पत्र ७११
(ख) उम्मग्गदेसणो मग्गदूसणो मग्गविपडिवणी य।
मोहेण य मोहिंतो सम्मोहं भावणं कुणई॥ —मूलाराधना ३।१८४
(ग) उमग्गदेसणा मग्गदूसणं मग्गविपडिवत्ती य।
मोहो य मोहजणणं एवं सा हवइ पंचविहा॥ —प्रवचनसारोद्धार, गा. ६४६, प्र. सा. वृत्ति, पत्र १८३

उपसंहार

२६८. इह पाउकरे बुद्धे नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए भवसिद्धीयसंमए॥
—त्ति बेमि

[२६८] इस प्रकार भवसिद्धिक (-भव्य) जीवों को अभिप्रेत (सम्मत) छत्तीस उत्तराध्ययनों (-उत्तम अध्यायों) को प्रकट करके बुद्ध (समग्र पदार्थों के ज्ञाता) ज्ञातृवंशीय भगवान् महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए। —ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ जीवाजीवविभक्ति : छत्तीसवाँ अध्ययन समाप्त ॥

॥ उत्तराध्ययनसूत्र समाप्त ॥

परिशिष्ट १

उत्तराध्ययन की कतिपय सूक्तियाँ

आणानिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ॥१।२॥

जो गुरुजनों की आज्ञाओं का यथोचित् पालन करता है, उनके निकट सम्पर्क में रहता है एवं उनके हर संकेत व चेष्टा के प्रति सजग रहता है वह विनीत कहलाता है।

जहा सुणी पूइकन्नी, निक्कसिज्जई सव्वसो।
एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥१।४॥

जिस प्रकार सड़े कानों वाली कुतिया जहां भी जाती है, निकाल दी जाती है; उसी प्रकार दु:शील उद्दण्ड और वाचाल मनुष्य भी धक्के देकर निकाल दिया जाता है।

कणकुंडगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥१।५॥

जिस प्रकार चावलों का स्वादिष्ट भोजन छोड़कर शूकर विष्टा खाता है, उसी प्रकार पशुवत् जीवन बिताने वाला अज्ञानी, शील-सदाचार को त्याग कर दुराचार को पसन्द करता है।

विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो ॥१।६॥

अपना हित चाहने वाला साधक स्वयं को विनय-सदाचार में स्थिर करे।

अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए ॥१।८॥

अर्थयुक्त (सारभूत) बातें ही ग्रहण कीजिए, निरर्थक बातें छोड़ दीजिए।

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा ॥१।९॥

गुरुजनों के अनुशासन से कुपित—क्षुब्ध नहीं होना चाहिए।

बहुयं मा य आलवे ॥१।१०॥

बहुत नहीं बोलना चाहिए।

आहच्च चंडालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइवि ॥१।११॥

साधक कभी कोई चाण्डालिक—दुष्कर्म कर ले तो फिर उसे छिपाने की चेष्टा न करे।

कडं कडे त्ति भासेज्जा, अकडं नो कडे त्ति य ॥१।११॥

विना किसी छिपाव या दुराव के किये कर्म को किया हुआ कहिए तथा नहीं किये को न किया हुआ कहिए ।

मा गलियस्सेव कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो ॥१।१२॥

वार-वार चाबुक की मार खाने वाले गलिताश्व की तरह कर्त्तव्य-पालन के लिए वार-वार गुरुओं के निर्देश की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए ।

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥१।१५॥

अपने आप पर नियन्त्रण रखना कठिन है । फिर भी अपने आप पर नियन्त्रण रखना चाहिए । अपने पर नियन्त्रण रखने वाला ही इस लोक तथा परलोक में सुखी होता है ।

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माहं परेहि दम्मंतो, बंधणेहि वहेहि य ॥१।१६॥

दूसरे वध और वन्धन आदि से दमन करें, इससे तो अच्छा है कि मैं स्वयं ही संयम और तप के द्वारा अपना दमन कर लूँ ।

हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो ॥१।१८॥

प्रज्ञावान् शिष्य गुरुजनों की जिन शिक्षाओं को हितकर मानता है, दुर्बुद्धि शिष्य को वे ही शिक्षाएँ बुरी लगती हैं ।

काले कालं समायरे ॥१।३१॥

समयोचित कर्त्तव्य समय पर ही करना चाहिए ।

रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए ॥१।३७॥

विनीत बुद्धिमान् शिष्यों को शिक्षा देता हुआ ज्ञानी गुरु उसी प्रकार प्रसन्न होता है जिस प्रकार भद्र अश्व (अच्छे घोड़े) पर सवारी करता हुआ घुड़सवार ।

अप्पाणं पि न कोवए ॥१।४०॥

अपने आप पर भी कभी क्रोध न करे ।

न सिया तोत्तगवेसए ॥१।४०॥

दूसरों के छलछिद्र नहीं देखना चाहिए ।

नच्चा नमइ मेहावी ॥१।४५॥

बुद्धिमान् ज्ञान प्राप्त करके नम्र हो जाता है ।

माइन्ने असणपाणस्स ॥२।३॥

खाने-पीने की मात्रा-मर्यादा का ज्ञान होना चाहिए ।

अदीणमणसो चरे ॥२।३॥

अदीनभाव से जीवनयापन करना चाहिए ।

न य वित्तासए परं ॥२।२०॥

किसी भी प्राणी को त्रास नहीं पहुँचाना चाहिए ।

संकाभीओ न गच्छेज्जा ॥२।२१॥

जीवन में शंकाओं से ग्रस्त—भीत होकर मत चलो ।

नत्थि जीवस्स नासोत्ति ॥२।२७॥

आत्मा का कभी नाश नहीं होता ।

अज्जेवाहं न लब्भामो, अवि लाभो सुए सिया ।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए ॥२।३१॥

'आज नहीं मिला तो क्या हुआ,' कल मिल जाएगा'—जो ऐसा विचार कर लेता है उसे अलाभ पीडित नहीं करता ।

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥३।१॥

इस संसार में प्राणियों को चार परम अंग (उत्तम संयोग) अत्यन्त दुर्लभ हैं—१. मनुष्यता, २. धर्मश्रवण, ३. सम्यक् धर्मश्रद्धा, ४. संयम में पुरुषार्थ ।

सद्धा परमदुल्लहा ॥३।६॥

धर्म में श्रद्धा परम दुर्लभ है ।

सोही उज्जुअभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ॥३।१२॥

सरल आत्मा की विशुद्धि होती है और विशुद्ध आत्मा में ही धर्म टिकता है ।

असंखयं जीविय मा पमायए ॥४।१॥

जीवन का धागा टूटने पर पुनः जुड़ नहीं सकता—वह असंस्कृत है, इसलिए प्रमाद मत करो ।

वेराणुबद्धा नरयं उवेंति ॥४।२॥

जो वैर की परम्परा को लम्बे किये रहते हैं, वे नरक प्राप्त करते हैं ।

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ॥४।३॥

कृत कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नहीं है ।

सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ॥४।३॥

पापात्मा अपने ही कर्मों से पीडित होता है ।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था ॥४।५॥

प्रमत्त मनुष्य धन के द्वारा अपनी रक्षा नहीं सकता, न इस लोक में न परलोक में ।

घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंडपक्खी व चरेऽप्पमत्ते ।।४।६।।

समय भयंकर है और शरीर प्रतिक्षण जीर्ण-शीर्ण हो रहा है। अतः भारंड पक्षी की तरह सदा सावधान होकर विचरण करना चाहिए।

सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी ।।४।७।।

प्रबुद्ध साधक सोये हुए (प्रमत्त मनुष्यों) के बीच भी सदा जागृत अप्रमत्त रहे।

छंदं निरोहेण उवेइ मोक्खं ।।४।८।।

कामनाओं के निरोध से मुक्ति प्राप्त होती है।

कंखे गुणे जाव सरीरभेओ ।।४।१३।।

जब तक जीवन है सद्गुणों की आराधना करते रहना चाहिए।

चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुंडिणं।
एयाणि वि न तायंति, दुस्सीलं परियागयं ।।५।२१।।

चीवर, मृगचर्म, नग्नता, जटाएँ, कन्था और शिरोमुण्डन—यह सभी उपक्रम आचारहीन साधक की (दुर्गति से) रक्षा नहीं कर सकते।

भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं ।।५।२२।।

भिक्षु हो या गृहस्थ, जो सुव्रती है वह देवगति प्राप्त करता है।

गिहिवासे वि सुव्वए ।।५।२४।।

धर्मशिक्षासंपन्न गृहस्थ गृहवास में भी सुव्रती है।

न संतसंति मरणंते, सीलवन्ता बहुस्सुया ।।५।२९।।

ज्ञानी और सदाचारी आत्माएँ मरणकाल में भी त्रस्त अर्थात् भयाक्रांत नहीं होते।

जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा संसारम्मि अणंतए ।।६।१।।

जितने भी अविद्यावान्—तत्त्व-बोध-हीन पुरुष हैं वे दुःखों के पात्र होते हैं। इस अनन्त संसार में वे मूढ प्राणी बार-बार विनाश को प्राप्त होते रहते हैं।

अप्पणा सच्चमेसेज्जा ।।६।२।।

अपनी आत्मा के द्वारा, स्वयं की प्रज्ञा से सत्य का अनुसन्धान करो।

मेत्तिं भूएसु कप्पए ।।६।२।।

समस्त प्राणियों पर मित्रता का भाव रखना चाहिए।

न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ।।६।७।।

जो भय और वैर से उपरत—मुक्त हैं वे किसी प्राणी की हिंसा नहीं करते।

भणंता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो ।

वायावीरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं ।।६।१०।।

जो केवल बोलते हैं करते कुछ नहीं, वे बन्ध और मोक्ष की बातें करने वाले दार्शनिक केवल वाणी के बल पर ही अपने आप को आश्वस्त किए रहते हैं ।

न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं ।।६।११।।

विविध भाषाओं का पाण्डित्य मनुष्य को दुर्गति से नहीं बचा सकता । फिर विद्याओं का अनुशासन—अध्ययन किसी को कैसे बचा सकेगा ?

पुव्वकम्मखयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ।।६।१४।।

पूर्वकृत कर्मों को नष्ट करने के लिए इस देह की सार-सम्भाल रखनी चाहिये ।

आसुरीयं दिसं बाला, गच्छंति अवसा तमं ।।७।१०।।

अज्ञानी जीव विवश हुए अन्धकाराच्छन्न आसुरी गति को प्राप्त होते हैं ।

बहुकम्मलेवलित्ताणं, बोही होई सुदुल्लहा तेसिं ।।८।१५।।

जो आत्माएँ बहुत अधिक कर्मों से लिप्त हैं, उन्हें बोधि प्राप्त होना अति दुर्लभ है ।

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।

तेणावि से ण सन्तुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ।।८।१६।।

मानव की तृष्णा बड़ी दुष्पूर है । धन-धान्य से भरा हुआ यह समग्र विश्व भी यदि किसी एक व्यक्ति को दे दिया जाय, तब भी वह उससे संतुष्ट नहीं हो सकता ।

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई ।

दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ।।८।१७।।

ज्यों-ज्यों लाभ होता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता है । इस प्रकार लाभ से लोभ निरन्तर बढ़ता हो जाता है । दो मात्रा सोने की अभिलाषा करने वाला करोड़ों से भी संतुष्ट नहीं हो पाता ।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे ।

एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ।।९।३४।।

भयंकर युद्ध में लाखों दुर्दान्त शत्रुओं को जीतने की अपेक्षा अपने आपको जीत लेना ही बड़ी विजय है ।

सव्वं अप्पे जिए जियं ।।९।३६।।

एक अपने [विकारों] को जीत लेने पर सभी को जीत लिया जाता है ।

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ।।९।४८।।

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त-अपार हैं ।

कामे पत्थेमाणा अकामा जन्ति दुग्गइं ।।९।५३।।

कामभोगों की लालसा-ही-लालसा में प्राणी एक दिन उन्हें भोगे विना ही दुर्गति में चले जाते हैं ।

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ।।९५४।।

क्रोध से आत्मा नीचे गिरता है। मान से अधम गति प्राप्त करता है। माया से सद्गति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। लोभ से इस लोक और परलोक-दोनों में ही भय-कष्ट होता है।

दुमपत्तए पण्डुयए जहा,
निवडइ राइगणाण अवधए ।
एवं मणुयाण जीवियं,
समयं गोयम ! मा पमायए ।।१०११।।

जिस प्रकार पेड़-वृक्ष के पीले पत्ते समय आने पर भूमि पर गिर पड़ते हैं; उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी आयु के समाप्त होने पर क्षीण हो जाता है। अतएव, गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न करो।

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए,
थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं,
समयं गोयम ! मा पमायए ।।१०१२।।

जैसे कुशा [घास] की नोक पर लटकी हुई ओस की बून्द थोड़े समय तक ही टिक पाती है, ठीक ऐसा ही मनुष्य का जीवन भी क्षणभंगुर है। अतएव हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न करो।

विहुणाहि रयं पुरे कडं ।।१०१३।।

पूर्वसंचित कर्म-रूपी रज को झटक दो।

दुल्लहे खलु माणुसे भवे ।।१०१४।।

मनुष्यजन्म निश्चय ही बड़ा दुर्लभ है।

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते ।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ।।१०२६।।

शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश पक कर सफेद हो गये हैं। शरीर का समस्त बल क्षीण होता जा रहा है, अतएव, गौतम ! क्षण भर भी प्रमाद न कर।

तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ?
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम ! मा पमायए ।।१०३४।।

तू महासमुद्र को पार कर चुका है, अब किनारे आकर क्यों रुक गया ? पार पहुँचने के लिए शीघ्रता कर। हे गौतम ! क्षण भर का भी प्रमाद उचित नहीं है।

अह पंचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई ।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण वा ।।११।३।।

अंहकार, क्रोध, प्रमाद [विषयासक्ति] रोग और आलस्य, इन पाँच कारणों से व्यक्ति शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता ।

न यं पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ।।१२।१२।।

सुशिक्षित व्यक्ति न किसी पर दोषारोपण करता है और न कभी परिचितों पर कुपित होता है । और तो क्या, मित्र से मतभेद होने पर भी परोक्ष में उसकी भलाई की ही बात करता है ।

पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरिहई ।।११।१४।।

प्रियंकर और प्रियवादी व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करने में सफल होता है ।

महप्पसाया इसिणो हवन्ति, न हु मुणी कोवपरा हवन्ति ।।१२।३१।।

ऋषि-मुनि सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं, कभी किसी पर क्रोध नहीं करते ।

सक्खं खु दीसइ, तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई ।।१२।३७।।

तप-त्याग की विशेषता तो प्रत्यक्ष दिखलाई देती है किन्तु जाति की कोई विशेषता नजर नहीं आती है ।.

धम्मे हरए बम्भे सन्तितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ।।१२।४६।।

धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य शान्तितीर्थ है, आत्मा की प्रसन्नलेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहाँ स्नान कर आत्मा कर्ममल से मुक्त हो जाता है ।

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं ।।१३।१०.।।

मनुष्य के सभी सुचरित [सत्कर्म] सफल होते हैं ।

सव्वे कामा दुहावहा ।।१३।१६।।

सभी काम-भोग अन्ततः दुखावह [दुःखद] ही होते हैं ।

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ।।१३।२३।।

कर्म कर्त्ता का अनुसरण करते हैं—उसका पीछा नहीं छोड़ते ।

वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं ! ।।१३।२६।।

राजन् ! जरा मनुष्य की सुन्दरता को समाप्त कर देती है ।

उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति

दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥१३।३१॥

जैसे वृक्ष के फल क्षीण हो जाने पर पक्षी उसे छोड़कर चले जाते हैं, वैसे ही पुरुष का पुण्य क्षीण होने पर भोगसाधन उसे छोड़ देते हैं, उसके हाथ से निकल जाते हैं।

वेया अहीया न हवन्ति ताणं ॥१४।१२॥

अध्ययन कर लेने मात्र से वेद [शास्त्र] रक्षा नहीं कर सकते।

धणेण किं धम्मधुराहिगारे ॥१४।१७॥

धर्म की धुरा को खींचने के लिए धन की क्या आवश्यकता है? [वहाँ तो सदाचार ही अपेक्षित है]

नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा

अमुत्तभावा विय होइ निच्चं ॥१४।१९॥

आत्मा अमूर्त्त तत्त्व होने के कारण इन्द्रियग्राह्य नहीं है और जो भाव अमूर्त्त होते हैं वे अविनाशी होते हैं।

अज्झत्थ हेउं निययस्स बन्धो ॥१४।१९॥

अन्दर के विकार ही वस्तुतः बन्धन के हेतु हैं।

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ ॥ १४।२३॥

जरा से घिरा हुआ यह संसार मृत्यु से पीडित हो रहा है।

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई

धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जान्ति राइओ ॥१४।२५॥

जो रात्रियाँ बीत जाती हैं, वे पुनः लौट कर नहीं आतीं, किन्तु जो धर्म का आचरण करता रहता है, उसकी रात्रियाँ सफल हो जाती हैं।

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं।

जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ॥१४।२७॥

मृत्यु के साथ जिसकी मित्रता हो, जो भाग कर मृत्यु से बच सकता हो अथवा जो यह जानता हो कि मैं कभी मरूंगा ही नहीं, वही कल पर भरोसा कर सकता है।

सद्धा खमं णो विणइत्तु रागं ॥१४।२८॥

धर्म-श्रद्धा हमें राग से-आसक्ति से मुक्त कर सकती है।

जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी ॥१४।३३॥

बूढ़ा हंस प्रतिस्रोत [जलप्रवाह के सम्मुख] में तैरने से डूब जाता है। अर्थात् असमर्थ व्यक्ति समर्थ का प्रतिरोध नहीं कर सकता।

सव्वं जगं जइ तुब्भं, सव्वं वा वि धणं भवे ।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव ।।१४।३९।।

यदि सम्पूर्ण जगत् और जगत् का समस्त धन-वैभव भी तुम्हें दे दिया जाय, तब भी वह तुम्हारे लिए पर्याप्त नहीं होगा। मगर वह तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ नहीं होगा।

एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं,
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ।।१४।४०।।

राजन् ! एक मात्र धर्म ही रक्षा करने वाला है, उसके सिवाय विश्व में मनुष्य का कोई भी त्राता नहीं हैं।

देव-दाणव-गंधव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करन्ति तं ।।१६।१६।।

देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर सभी ब्रह्मचर्य के साधक को नमस्कार करते हैं, क्योंकि वह एक बहुत दुष्कर कार्य करता है।

भुच्चा पिच्चा सुहं सुवई, पावसमणे त्तिं वुच्चई ।।१७।३।।

जो श्रमण खा-पीकर मस्त होकर सो जाता है, धर्माराधना नहीं करता, वह पापश्रमण कहलाता है।

असंविभागी अचियत्ते पावसमणे त्ति वुच्चई ।।१७।११।।

जो असंविभागी है (प्राप्त सामग्री को साथियों में बांटता नहीं है) और परस्पर प्रेमभाव नहीं रखता है वह पापश्रमण कहलाता है।

अणिच्चे जीवलोगम्मि किं हिंसाए पसज्जसि ? १८।११।।

जीवन अनित्य है, क्षणभंगुर है फिर क्यों हिंसा में आसक्त होता है ?

जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचंचलं ।।१८।१३।।

जीवन और रूप-सौन्दर्य विजली की चमक की तरह चंचल हैं।

किरिअं च रोयए धीरो ।।१८।३३।।

धीर पुरुष सदा कर्तव्य में ही रुचि रखते हैं।

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतुणो ।।१९।१६।।

संसार में जन्म का दुःख है, जरा, रोग और मृत्यु का दुःख है, चारों ओर दुःख ही दुःख है; जहां प्राणी निरन्तर कष्ट ही पाते रहते हैं।

भासियव्वं हियं सच्चं ।।१९।२७।।

सदा हितकारी सत्य वचन बोलना चाहिए।

दन्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं ।।१९।२८।।

अचौर्य व्रत का साधक दांत साफ करने के लिए एक तिनका भी स्वामी की अनुमति के बिना ग्रहण नहीं करता ।

बाहाहिं सागरो चेव, तरियव्वो गुणोदही ।।१९।३७।।

सद्गुणों की साधना का कार्य भुजाओं से सागर तैरने जैसा है ।

असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो ।।१९।३८।।

तप का आचरण तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है ।

इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचि वि दुक्करं ।।१९।४५।।

जो व्यक्ति संसार की पिपासा—तृष्णा से रहित है, उसके लिए कुछ भी कठिन नहीं है ।

ममत्तं छिन्दए ताए, महानागोव्व कंचुयं ।।१९।८७।।

आत्मसाधक ममत्व के बन्धन को तोड़ फेंके—जैसे कि सर्प शरीर पर आई हुई केंचुली को उतार फेंकता है ।

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदापसंसासु, समो माणावमाणओ ।।१९।९१।।

जो लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में समभाव रखता है, वही वस्तुतः मुनि है ।

अप्पणा अनाहो संतो, कहं नाहो भविस्ससि ? २०।१२।।

अरे तू स्वयं अनाथ है, दूसरे का नाथ कैसे बन सकता है ?

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं ।।२०।३६।।

आत्मा स्वयं ही वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष के समान दुःखप्रद है और आत्मा ही कामधेनु और नन्दन वन के समान सुखदायी भी है ।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ।।२०।३७।

आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता और भोक्ता है । सदाचार में प्रवृत्त आत्मा मित्र के तुल्य है और दुराचार में प्रवृत्त होने पर वही शत्रु है ।

राढामणी वेरुलियप्पगासे ।
अमहग्घए होइ हु जाणएसु ।।।२०।४२।।

वैडूर्य रत्न के समान चमकने वाले काँच के टुकड़े का जानकार के समक्ष कुछ भी मूल्य नहीं रहता ।

न तं अरी कंठछित्ता करेई।
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ॥२०।४८॥

गर्दन काटने वाला शत्रु भी उतनी हानि नहीं पहुंचा सकता जितनी दुराचार में प्रवृत्त अपनी स्वयं की आत्मा पहुंचा सकती है।

कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे।
बलाबलं जाणिय अप्पणो य ॥२०।१४॥

अपनी शक्ति को ठीक तरह पहचान कर यथावसर यथोचित कर्त्तव्य का पालन करते हुए राष्ट्र में विचरण करिए।

सीहो व सद्देण न सन्तसेज्जा ॥२१।१४॥

सिंह के समान निर्भीक रहिए, शब्दों से न डरिए।

पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा ॥२१।१५॥

प्रिय हो या अप्रिय, सब को समभाव से सहन करना चाहिए।

न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा ॥२१।१५॥

हर कहीं, हर किसी वस्तु में मन को न लगा बैठिए।

अणेगछन्दा इह माणवेहिं ॥२१।१६॥

इस संसार में मनुष्यों के विचार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं।

अणुन्नए नावणए महेसी।
न यावि पूयं गरिहं च संजए ॥२१।२०॥

जो पूजा-प्रशंसा सुनकर कभी अहंकार नहीं करता और निन्दा सुनकर स्वयं को हीन नहीं मानता, वही वस्तुतः महर्षि है।

नाणेणं दंसणेणं च, चरित्तेणं तवेण य।
खंतीए मुत्तीए य, वड्ढमाणो भवाहि य ॥२२।२६॥

ज्ञान दर्शन चारित्र तप क्षमा और निर्लोभता की दिशा में निरन्तर वर्द्धमान—बढ़ते रहिए।

पन्ना समिक्खए धम्मं ॥२३।२५॥

साधक की स्वयं की प्रज्ञा ही धर्म की समीक्षा कर सकती है।

एगप्पा अजिए सत्तू ॥२३।३८॥

अपनी ही अविजित असंयत आत्मा अपना शत्रु है।

भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया ॥२३।४८॥

संसार की तृष्णा भयंकर फल देने वाली विष-बेल है।

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय सील तवो जलं ।।२३।५३।।

कषाय को अग्नि कहा गया है। उसको बुझाने के लिए ज्ञान, शील, सदाचार और तप जल है।

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि धम्मसिक्खाइ कन्थगं ।।२३।५८।।

यह मन बड़ा ही साहसिक, भयंकर एवं दुष्ट घोड़ा है, जो बड़ी तेजी के साथ इधर-उधर दौड़ता रहता है। मैं धर्मशिक्षारूप लगाम से उस घोड़े को भली भांति वश में किए रहता हूँ।

जरामरणवेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ।।२३।६८।।

जरा और मरण के महाप्रवाह में डूबते प्राणिओं के लिए धर्म ही द्वीप है, प्रतिष्ठा-आधार है, गति है और उत्तम शरण है।

जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ।।२३।७१।।

छिद्रों वाली नौका पार नहीं पहुंच सकती, किन्तु जिस नौका में छिद्र नहीं है वही पार पहुंच सकती है।

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरन्ति महेसिणो ।।२३।७३।।

यह शरीर नौका है, जीव-आत्मा उसका नाविक है और संसार समुद्र है। महर्षि इस देह रूप नौका के द्वारा संसार-सागर को तैर जाते हैं।

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ।।२५।२७।।

ब्राह्मण वही है जो संसार में रह कर भी काम-भोगों से निर्लिप्त रहता है। जैसे कमल जल में रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता।

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेणं कुसचीरेण न तावसो ।।२५।३१।

सिर मुंडा लेने मात्र से कोई श्रमण नहीं होता, ओंकार का जाप करने से ही कोई ब्राह्मण नहीं बन जाता। जंगल में रहने मात्र से कोई मुनि नहीं होता और वल्कल वस्त्र धारण करने से कोई तापस नहीं होता।

समयाए समणो होई, बंभचेरेण बंभणो ।
नाणेण य मुणी होई, तवेणं होइ तावसो ।।२५।३२।।

समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस पद प्राप्त होता है।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥२५।३३॥

कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय। कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥२५।४१॥

जो भोगी है, वह कर्मों से लिप्त होता है और जो अभोगी-भोगासक्त नहीं है वह कर्मों से लिप्त नहीं होता। भोगासक्त संसार में परिभ्रमण करता है। भोगों में अनासक्त ही संसार से मुक्त होता है।

विरत्ता हु न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥२५।४३॥

मिट्टी के सूखे गोले के समान विरक्त साधक कहीं भी चिपकता नहीं है अर्थात् आसक्त नहीं होता।

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥२८।२॥

वस्तु स्वरूप को यथार्थ रूप से जानने वाले जिन भगवान् ने ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप को मोक्ष का मार्ग बताया है।

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं ॥२८।२९॥

सम्यग्दर्शन के अभाव में चारित्र सम्यक् नहीं हो सकता।

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं ॥२८।३०॥

सम्यग्दर्शन के अभाव में समीचीन ज्ञान प्राप्त नहीं होता, ज्ञान के अभाव में चारित्र के गुण नहीं होते, गुणों के अभाव में मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के अभाव में निर्वाण—सम्पूर्ण प्रशान्त दशा प्राप्त नहीं होती।

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई ॥२८।३५॥

ज्ञान से भावों का सम्यग् बोध होता है, दर्शन से श्रद्धा होती है चारित्र से कर्मों का निरोध होता है और तप से आत्मा निर्मल होती है।

सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥२९।८॥

सामायिक की साधना से पापकारी प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है।

खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ ॥२९।१७॥

क्षमापणा से आत्मा में प्रसन्नता की अनुभूति होती है।

सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ।।२९।१८।।

स्वाध्याय से ज्ञानावरण (ज्ञान को आच्छादन करने वाले) कर्म का क्षय होता है ।

वेयावच्चेणं तित्थयरं नामगोत्तं कम्मं निबन्धइ ।।२९।४३।।

वैयावृत्य से आत्मा तीर्थंकर होने जैसे उत्कृष्ट पुण्य कर्म का उपार्जन करता है ।

वीयरागयाए णं नेहाणुबन्धणाणि
तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिदइ ।।२९।४५।।

वीतराग भाव की साधना से स्नेह (राग) के बन्धन और तृष्णा के बन्धन कट जाते हैं ।

अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ।।२९।४८।।

दम्भरहित, अविसंवादी आत्मा ही धर्म का सच्चा आराधक होता है ।

करणसच्चे वट्टमाणे जीवे
जहावाई तहाकारी यावि भवइ ।।२९।५१।।

करणसत्य—व्यवहार में स्पष्ट तथा सच्चा रहने वाला आत्मा 'जैसी कथनी वैसी करनी' का आदर्श प्राप्त करता है ।

वयगुत्तयाए णं णिव्विकारत्तं जणयइ ।।२९।५४।।

वचनगुप्ति से निर्विकार स्थिति प्राप्त होती है ।

जहा सूई ससुत्ता, पडियावि न विणस्सइ ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ ।।२९।५९।।

धागे में पिरोई हुई सूई गिर जाने पर भी गुमती नहीं, उसी प्रकार सूत्र-आगमज्ञान से युक्त आत्मा संसार में भटकता नहीं, विनाश को प्राप्त नहीं होता ।

भवकोडी-संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ।।३०।६।।

करोड़ों भवों में संचित कर्म तपश्चर्या द्वारा क्षीण हो जाते हैं ।

असंजमे नियत्तिं च संजमे य पवत्तणं ।।३१।२।।

असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करनी चाहिए ।

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ३२।२।।

ज्ञान के समग्र प्रकाश से, अज्ञान और मोह के विवर्जन से तथा राग एवं द्वेष के क्षय से आत्मा एकान्त सुख-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त करता है ।

जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥३२।६॥

जिस प्रकार बलाका (बगुली) अंडे से उत्पन्न होती है और अण्डा बलाका से, इसी प्रकार मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है और तृष्णा मोह से ।

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥३२।७॥

राग और द्वेष, ये दो कर्म के बीज हैं, कर्म मोह से उत्पन्न होता है । कर्म हीं जन्म-मरण का मूल है और जन्म मरण हो वस्तुतः दुःख है ।

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥३२।८॥

जिसे मोह नहीं होता उसका दुःख नष्ट हो जाता है । जिसे तृष्णा नहीं होती उसका मोह नष्ट हो जाता है । जिसे लोभ नहीं होता उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है और जो अकिंचन (अपरिग्रही) है उसका लोभ नष्ट हो जाता है ।

रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥३२।१०॥

ब्रह्मचारी को घी दूध आदि रसों का अधिक सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि रस प्रायः उद्दीपक होते हैं । उद्दीप्त पुरुष के निकट काम-भावनाएँ वैसे ही चली आती हैं जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष के पास पक्षी चले आते हैं ।

सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स,
कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं ॥३२।१६॥

देवताओं सहित समग्र प्राणियों को जो भी दुःख प्राप्त हैं वे सब कामासक्ति के कारण ही हैं ।

लोभाविले आययई अदत्तं ॥३२।२६॥

जब आत्मा लोभ से कलुषित होता है तो चोरी करने में प्रवृत्त होता है ।

सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि,
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।

शब्द आदि विषयों में अतृप्त और परिग्रह में आसक्त रहने वाला आत्मा कभी संतोष को प्राप्त नहीं होता ।

पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे ।।३२।४६।।

आत्मा प्रदुष्टचित होकर कर्मों का संचय करता है । वे कर्म विपाक में बहुत दुःखदायी होते हैं ।

न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो,
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ।।३२।४७।।

जो आत्मा विषयों के प्रति अनासक्त है, वह संसार में रहता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता जैसे कि पुष्करिणी के जल में रहा हुआ पलाश-कमल.।

एविंदियत्था य मणस्स अत्था,
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं,
न वीयरागस्स करेंति किंचि ।।३२।१००।।

मन एवं इन्द्रियों के विषय रागी जन को ही दुःख के हेतु होते हैं, वीतराग को तो वे किंचित् मात्र भी दुःख नहीं पहुंचा सकते ।

न कामभोगा समयं उवेंति,
न यावि भोगा विगइं उवेंति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसि मोहा विगइं उवेइ ।।३२।१०१।।

कामभोग—शब्दादि विषय न तो स्वयं में समता के कारण होते हैं और न विकृति के ही । किन्तु जो उनमें द्वेष या राग करता है वह उनमें मोह से राग-द्वेष रूप विकार को प्राप्त होता है ।

न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ।।३५।१७।।

साधु स्वाद के लिए नहीं, किन्तु जीवनयात्रा के निर्वाह के लिए भोजन करे । □□

गाथानुक्रमणिका

---

* नौवें अध्ययन में इस प्रकार की गाथा वारंवार दोहराई गई है।

ओ

क

□□

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इन का भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं। जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३. गर्जित—बादलों के गर्जन पर दो प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. विद्युत्—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास में नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वह

गर्जन और विद्युत् प्रायः ऋतु स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात—विना वादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर, या वादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में विजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है, वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जव तक यक्षाकार दीखता रहे तव तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिका-कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जव तक यह धुंध पड़ती रहे, तव तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण का सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जव तक यह गिरती रहे, तव तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज उद्घात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जव तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्वन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ हड्डी मांस और रुधिर—पंचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जव तक वहां से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ तव तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्वन्धी अस्थि, मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। वालक एवं वालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम वारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, वारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो, तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ-पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

□□

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बैताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरडिया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेड़ता सिटी
४. श्री शा० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचंदजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९. श्रीमती सिरेकुंवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचंदजी झामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K.G.F.) जाड़न
११. श्री थानचंदजी मेहता, जोधपुर
१२ श्री भैरुदानजी लाभचंदजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचंदजी बैद, राजनांदगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचंदजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचंदजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९ श्री हरकचंदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचंदजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचंदजी उत्तमचंदजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचंदजी भागचंदजी बोहरा, झूंठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा, डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचंदजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचंदजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरीलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जबरचंदजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचंदजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेड़तासिटी
२. श्री छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचंदजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, चिल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सलेम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री जंवरीलालजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचंदजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचंदजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढ़ा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराज जी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी वोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) ज़ोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, वैंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, वैंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराज जी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखवचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी वोहरा, पीपलिया
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, वैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राज-नांदगाँव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी वाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जंवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठन
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री माँगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया भैरूंदा
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एन्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकन्दचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी
९५. श्री कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगाँव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, भरतपुर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचंदजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराज जी कोठारी, मांगलियावास
१०३. श्री सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी, चोरड़िया भैंरूंदा
१११. श्री माँगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुल्लीचंदजी बोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढ़ा, बम्बई
११७. श्री माँगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बैंगलोर
११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीकमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी संघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीकमचंदजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया, सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, बगड़ीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बैंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़